# हिन्दी

# विश्व-भारती

[ ज्ञान-विज्ञान का कोश ]

हिन्दी

# विश्व-भारती

ज्ञान-विज्ञान का प्रामाणिक कोश


संपादक

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी


खंड

१

ज्ञान-विज्ञान-साहित्य की
प्रमुख प्रकाशन-संस्था

प्रकाशक
राजराजेश्वर प्रसाद
'हिन्दी विश्व-भारती,'
कमलाश्रम, चारबाग, लखनऊ

प्रति खण्ड का मूल्य
तीस रुपये

मुद्रक
नवज्योति प्रेस,
लखनऊ

# : लेखक-मंडल :

डॉ० गोरखप्रसाद, डी०एस-सी० (एडिनबरा), एफ०आर० ए०एस०, भूतपूर्व रीडर, गणित विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, प्राध्यापक, भौतिक विज्ञान, धर्म-समाज कॉलेज, अलीगढ़।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम०एस-सी०, प्रधानाचार्य, कान्य-कुब्ज कॉलेज, लखनऊ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम०ए०, एल-एल०बी०, पी-एच०डी०, आचार्य, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय तथा भूतपूर्व अध्यक्ष, पुरातत्त्व-संग्रहालय, लखनऊ।

श्री० रामनारायण कपूर, बी०एस-सी० (मेटालर्जी)।

डॉ० शिवकण्ठ पाँडे, एम०एस-सी०, डी०एस-सी०, भूतपूर्व अध्यक्ष, वनस्पति-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम०एस-सी, एल-एल०बी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० कॉम०, भूतपूर्व प्राध्यापक, अर्थशास्त्र-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम०ए०,डी०एस-सी० (लंदन), भूतपूर्व उपकुलपति, सागर-विश्वविद्यालय तथा अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

डॉ० राधाकमल मुकर्जी, एम०ए०, पी०एच-डी०, भूतपूर्व उपकुलपति, लखनऊ-विश्वविद्यालय तथा अध्यक्ष, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र - विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम०ए०, भूतपूर्व, उप-प्रधानाचार्य, राजकीय कला-महाविद्यालय, लखनऊ।

डॉ० सत्यनारायण शास्त्री, पी०एच-डी० (हाइडेलवर्ग)।

डॉ० डी०एन० मजूमदार, एम०ए०, पी०एच-डी० (कैंटब), पी०आर०एस०, एफ०आर०ए०आई०, भूतपूर्व अध्यक्ष, मानव-विज्ञान विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्यामसुन्दर द्विवेदी, एम०ए०, एल-एल०बी०।

श्री० रामकृष्ण अवस्थी, एम०ए०।

श्री० रमाकान्त शास्त्री।

श्री० द्वारकाप्रसाद, एम० ए०।

श्री० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०।

श्री० व्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०।

# हिन्दी विश्व-भारती :: क्या और क्यों?

अपनी इस प्रगति की यात्रा में हम मानव आज के दिन उस स्थिति पर आ पहुँचे हैं, जहाँ से भविष्य की ओर कदम बढ़ाने से पहले अपने आसपास की इस दुनिया और स्वयं अपने आप पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेना हमारे लिए नितान्त आवश्यक हो गया है।

° ° ° °

हमें देख लेना है, कितना रास्ता हम तय कर चुके, हमने अब तक क्या कुछ कमाई की, इस समय किस परिस्थिति में हम हैं, और इस जगह से यह दुनिया हमें कैसी दिखाई दे रही है। हमारे लिए यह एक अति आवश्यक कर्त्तव्य है, कारण प्रति क्षण आज ये आशंकाएँ हमारे मन में उठ रही हैं कि अपनी इस तथाकथित प्रगति की चमक-दमक के बावजूद कहीं ऐसा तो नहीं है कि विपथगामी होकर हम अपनी राह से एकदम बहक गए हों और आगे बढ़ने के बजाय दरअसल पीछे ही की ओर ढुलकते चले जा रहे हों !

° ° ° °

मुश्किल से कुछ हजार या संभव है कुछ लाख वर्ष अभी बीत पाए होंगे, जब सहसा अपने हमजोली दूसरे जीवधारियों को पीछे छोड़कर हम एक दिन अपने विकास की इस पगडंडी पर चल पड़े थे। हमारे मन में इस अद्भुत दुनिया को जानने और समझने की एक अजीब उत्कंठा जग उठी थी और भीतर ही भीतर कुछ प्रश्न हमारे दिमाग में खलबली मचाने लगे थे। अपने वे आरंभ के प्रश्न तो किसी न किसी तरह हमने हल कर लिए। पर लाख कोशिश करने पर भी अपनी उस प्रबल ज्ञान की प्यास को हम न दबा पाए। ज्यों-ज्यों पुरानी गुत्थियाँ सुलझती गईं, नए-नए प्रश्न आ-आकर हमारे सामने जुटते गए और आज भी, जब कि अपने पेचीदा यंत्रों से हमने इस दुनिया के रहस्यों की किंचित् झाँकी देख पाने में सफलता पा ली है, अपने इतिहास के प्रभातकाल ही की तरह ज्ञान की एक प्रकाश-रेखा के लिए हम ज्यों-के-त्यों अंधकार में हाथ फटफटाते हुए लगातार पुकार रहे हैं—'तमसो मा ज्योतिर्गमय' (इस अंधकार से हटाकर हमें प्रकाश की ओर ले चल)।

लड़खड़ाते और ठोकरें खाते जब पहले-पहल हम जंगलों से बाहर निकले थे, तब तो यह दुनिया हमारे लिए कोई बहुत बड़ी न थी। साथी-संगी कुछ जानवर, पानी से घिरी थोड़ी-सी धरती और सिर पर चमकते हुए चाँद, सूरज और जुगनू-जैसे कुछ हजार तारे—यही थी हमारी उन दिनों की दुनिया! किन्तु पिछले दो-तीन हजार वर्षों की अवधि ही में हमने अपने औजारों और यंत्रों से मानो फैलाकर इस छोटी-सी दुनिया को कितनी लंबी-चौड़ी बना लिया है! और इसके साथ-ही-साथ स्वयं हमने भी जिस अद्‌भुत नवीन सृष्टि की रचना कर डाली है, वही क्या कम अचरज की वस्तु है! चींटी से मानो हाथी बनकर आज हम न केवल संसार के विकास की धारा में बहते हुए आगे बढ़ रहे हैं, बल्कि अपनी सर्जन-शक्ति द्वारा उसे गति देते हुए किसी अज्ञात लक्ष्य की ओर लगातार मोड़ते भी जा रहे हैं। उस प्रेरक शक्ति का मूल क्या हमारा ज्ञान ही नहीं है?

o o o o

युग-युग की कठोर साध और पराक्रम से उपार्जित यह अनमोल ज्ञान-राशि ही हमारी इस जीवन-संग्राम-यात्रा का एकमात्र संबल है। इसी पर हमारे वर्तमान या भावी विकास का स्वरूप निर्भर है। भारत में तो आज के दिन हमें इस संबल की सब से अधिक आवश्यकता है; क्योंकि यहाँ इस समय हम एक महान् युगान्तर की घड़ियों में से गुजर रहे हैं। सदियों की राजनीतिक पराधीनता की बेड़ियों से पिछले दिनों मुक्ति पा लेनेवाला भारत अभी भी आर्थिक और सामाजिक असमानता की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ है। इन्हीं बेड़ियों से छुटकारा पाने के लिए अब वह एक विकट संघर्ष और संग्राम में प्रवृत्त है। किन्तु क्या उसकी यह साध कभी पूरी हो पायगी, यदि दासता के सब से घोर रूप अविद्या और अज्ञानांधता के चंगुल से वह अपनी मुक्ति न कर पाया? ज्ञान का यह प्राचीन रश्मिकेन्द्र आज अविद्या और कूपमण्डूकता के शाप से ग्रस्त है। उसका समाज-तंत्र कुंठित हो गया है—वह पुराना पड़ गया है और घुन ने उसे चाट खाया है। फिर भी मोहवश वह इसी को लेकर जीवित रहने की विडम्बना में फँसा हुआ है! कैसे इस मृत्युरूपी अविद्यापाश से उसका छुटकारा हो?

o o o o

भारत ही के आर्ष ग्रंथों में वर्णित एक मार्मिक प्रसंग में इस प्रश्न का बड़ा महत्वपूर्ण उत्तर निहित है। कहते हैं, एक बार जब असुरों (या अविद्या की शक्तियों) के आतंक से विश्व की रक्षा करने का सामर्थ्य और किसी में न रहा, तब अंत में ज्ञान की अधिष्ठात्री वीणापाणि भारती (विद्या या ज्ञान की शक्ति) ने ही स्वयं रणभूमि में उतरकर संसार की रक्षा की थी। आज भी, जब कि अपने ही पैदा किए हुए अपने मस्तिष्क के जालों के कारण हमारी विवेक-बुद्धि धुँधली पड़ गई है और विचारों में एक अजीब संकीर्णता छा गई है; जब कि व्यक्तिगत स्वार्थपरता ही हमारा एकमात्र व्यवसाय हो गया है और उसके कारण यह दुनिया कोटि-कोटि जनों के लिए दु.ख-दैन्य का आगार बन गई है; जब कि ज्ञान-विज्ञान का भी उपयोग मुख्यतया मानव द्वारा मानव के शोषण के लिए ही किया जाने लगा है और एक दृष्टि से मानव-जाति फिर से बर्बरावस्था की ओर अग्रसर होते दिखाई देने लगी है—पारस्परिक संघर्ष और सांस्कृतिक पतन की इस घड़ी में हम सिवा उसी अविद्यानाशिनी

ज्ञानमूर्ति भारती के किसका आह्वान करें ? हमारी यह जड़ता और अज्ञानांधता ही तो हमारे इस समस्त दुःख-दैन्य और संघर्ष की जड़ है। इससे छुटकारा पा जाने पर क्या फिर हमें इस बात को समझना कठिन होगा कि सारा मानव परिवार एक है और सब के हित ही में प्रत्येक का सच्चा कल्याण है?

० ० ० ०

यही है वह पृष्ठभूमि, जिससे 'हिन्दी विश्व-भारती' का प्रादुर्भाव हुआ है। 'हिन्दी विश्व-भारती' कोरा एक ग्रंथ ही नहीं, यह युग-परिवर्तन की घड़ियों में से गुजर रहे हम भारतवासियों की अविद्या-जनित कूपमण्डूकता से मुक्ति पाने की एक नई जगी हुई साध है। यह हमारे लिए केवल मानव-जाति के संचित ज्ञान को अपनी ही भाषा में पाने का एक प्रयास मात्र नहीं, वरन् अपने मस्तिष्क में छाए हुए विचारसंकीर्णता के जालों को झाड़-बुहारकर एक नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने और आने-वाली पीढ़ी के लिए रास्ता साफ कर जाने की एक क्रांति है।

० ० ० ०

उस क्रान्ति का नारा यह है कि अब हम कुएँ में मेढक बनकर नहीं रहने के। ये अनंत आकाश में जगमगाते हुए चाँद, सूरज और तारे; ये उमड़-घुमड़कर सिर पर छा जानेवाले बादल और उनमें कौंधती हुई वह बिजली; ये बादलों से भी ऊँचा सिर उठाए हुए हिमान्वित गिरिशिखर और उछल-उछलकर उनसे होड़ करती हुई सागर की ये लहरें; ये पृथ्वी को एक अजायबघर-सा बनाए हुए अनगिनत जानवर और पेड़-पौधे, और इन सब से कहीं अधिक निराला और आश्चर्यजनक बर्बरावस्था के युग से परमाणु-शक्ति और कृत्रिम उपग्रहों के इस युग तक बढ़ा चला आ रहा स्वयं हमारा ही यह अद्भुत जीता-जागता जुलूस, एवं मानव द्वारा अनंत की खोज और आत्मज्ञान की प्राप्ति के प्रयास—आदि-आदि बातें आज अपना रहस्य खोलने को बरबस हमें अपनी ओर खींच रही हैं और उनको जान लेने की प्रबल उत्कंठा हमारे मन में जग उठी है। किन्तु इन सब का ज्ञान क्योंकर हमें सुलभ हो, जब तक अपनी ही भाषा में, अपने ही विश्वसनीय पथ-प्रदर्शकों द्वारा और अपने ही वातावरण के अनुरूप और अनुकूल रूप में इनकी कहानी हमें पढ़ने को न मिल सके ?

० ० ० ०

'हिन्दी विश्व-भारती' उसी मनचाहे रूप में विश्व, पृथ्वी और मनुष्य की संपूर्ण कहानी को पहली बार देश की कोटि-कोटि जनता के द्वार तक लेकर सामने आ रही है।

कृष्णवल्लभ द्विवेदी

यह ज्ञानकोश निम्नलिखित तीन बड़े विभागों और उन्नीस उपविभागों या स्तंभों में विभाजित है। प्रत्येक खंड में इन सभी विभागों और स्तंभों के विषय क्रमशः धारा-वाही रूप से दिए गए हैं:—

## विश्व की कहानी

स्तंभ १—आकाश की बातें ( ज्योतिष-विज्ञान )

स्तंभ २—भौतिक विज्ञान ( भौतिक शास्त्र )

स्तंभ ३—रसायन विज्ञान ( रसायन शास्त्र )

स्तंभ ४—सत्य की खोज ( दर्शनशास्त्र; तत्त्वज्ञान )

## पृथ्वी की कहानी

स्तंभ ५—पृथ्वी की रचना ( भू-विज्ञान )

स्तंभ ६—धरातल की रूपरेखा ( भूगोल )

स्तंभ ७—पेड़-पौधों की दुनिया ( वनस्पति-विज्ञान )

स्तंभ ८—जानवरों की दुनिया ( जंतु-विज्ञान )

## मनुष्य की कहानी

स्तंभ ९—हम और हमारा शरीर (मानवशरीर-विज्ञान; विकासवाद)

स्तंभ १०—हमारा मन ( मनोविज्ञान )

स्तंभ ११—मानव समाज ( समाजविज्ञान; अर्थशास्त्र; राजनीति )

स्तंभ १२—इतिहास की पगडंडी (संसार का इतिहास)

स्तंभ १३—प्रकृति पर विजय ( आविष्कार )

स्तंभ १४—मनुष्य की कलात्मक सृष्टि ( चित्रकला; मूर्तिकला; स्थापत्य; शिल्प; संगीत )

स्तंभ १५ – साहित्य-सृष्टि (विश्व-साहित्य; भाषाविज्ञान)

स्तंभ १६—देश और जातियाँ (नृतत्त्वशास्त्र; देशदर्शन)

स्तंभ १७—भारतभूमि (भारतीय जातिविज्ञान; भारतीय पुरातत्त्व)

स्तंभ १८—मानव विभूतियाँ ( जीवन-चरित्र )

स्तंभ १९—अमर कथाएँ ( बलिदान, साहस और त्याग की सच्ची कहानियाँ )

( विशेष विवरण अगले पृष्ठ पर देखिए। )

## आकाश की बातें

**हमारी आँखों के सामने फैले हुए इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे व्यापक रूप—अनंत आकाश और उसमें एक दूसरे से लाखों-करोड़ों मील की दूरी पर शून्य में चक्कर काटते हुए ग्रहों और नक्षत्रों की अचरज भरी कहानी**—यह दुनिया क्या है, कितनी लंबी-चौड़ी है ? सूर्य, चंद्र और ग्रह नक्षत्र क्या हैं, वह कौन-सी शक्ति है, जिसके नियंत्रण में ये सब बिना एक दूसरे से टकराये नियत कक्षा में घूम रहे हैं ? सूर्य गरम क्यों है. जब कि चंद्रमा ठंडा दिखाई पड़ता है ? ग्रह क्या हैं, क्या पृथ्वी के अलावा और किसी ग्रह पर भी प्राणी हैं ? पुच्छल तारे क्या हैं ? आकाश-गंगा का क्या रहस्य है ? नीहारिकाएँ क्या है ? वह कौन-से यंत्र हैं जिनके द्वारा मनुष्य ने आज दिन उन सुदूर नक्षत्रों और इतर ब्रह्माण्डों की भी एक झलक देखने में सफलता पा ली है, जो इतनी दूरी पर है कि लाखों मील प्रति सैकंड की गति से चलनेवाली प्रकाशकिरणों को भी वहाँ से पृथ्वी तक पहुँचने में लाखों वर्ष लगते है और जिनके परिमाण की तुलना मे हमारी यह इतनी बड़ी पृथ्वी राई के बराबर भी नही है ? आदि, आदि ।

## भौतिक विज्ञान

**उन तत्वों और प्राकृतिक शक्तियों की कहानी जिनसे इस विशाल विश्व की रचना हुई है और जिनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सृष्टि का संचालन होता है**—वह कौन-सी वस्तु है जिससे एक रज-कण से लेकर बड़े-बड़े ग्रहों और नक्षत्रों तक का निर्माण हुआ है ? क्या शून्य नाम की भी कोई वस्तु है ? तौल, परिमाण, गति, घनत्व आदि का क्या रहस्य है ? ताप, प्रकाश, ध्वनि, चुंबक-शक्ति और विद्युत् क्या हैं ? क्या मूल मे यह सारा जगत् केवल चेतन-शक्तिरूप ही है और जड़ द्रव्य उसका विकारमात्र है ? क्या प्रकट रूप में सृष्टि की सब क्रियाओं में दिखाई पड़नेवाले कार्य-कारण के नियम केवल एक भ्रान्ति है ? आइन्स्टाइन का सापेक्षिकतावाद का सिद्धान्त क्या है ? आदि, आदि ।

## रसायन विज्ञान

**द्रव्य के विभिन्न रूपों, उनके एक-दूसरे से भिन्न गुणों और उनकी एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होनेवाली रासायनिक क्रियाओं की विवेचना**—क्या द्रव्य एक ही है ? तब फिर उसके ये भिन्न-भिन्न रूप क्यों दिखाई देते हैं ? मूल तत्त्व या पदार्थ कितने है ? उनके गुणों मे क्या अंतर है ? पानी क्या है ? ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, हाइ-ड्रोजन आदि का क्या रहस्य है ? जबकि नमक पानी मे घुल जाता है, कोयला उसमे क्यों नहीं घुलता ? आग ऑक्सिजन नामक गैस हवा ही मे क्यो जलती है ? जब हम दियासलाई रगड़ते हैं, तब वह कौन-सी क्रिया होती है जिससे आग भडक उठती है ? आदि, आदि ।

## सत्य की खोज

**एक अद्भुत पहेली की तरह हजारों वर्षो से मनुष्य के मस्तिष्क को उलझन में डाले हुए इस अचरज-भरे सृष्टि-प्रपंच के वास्तविक रहस्य के सम्बन्ध में अब तक के संचित तत्त्व-ज्ञान का विवेचन**—मै क्या हूँ ? यह जगत् क्या वस्तु है ? क्या इस सारे प्रपंच का कोई रचनेवाला भी है ? यदि है तो उसका रूप कैसा है ? क्या आत्मा नामक कोई वस्तु भी है ? जड़ और चेतन क्या है ? काल का क्या रहस्य है ? क्या इस सृष्टि-प्रपंच की जड़-मूल में कोई निश्चित

उद्देश्य या लक्ष्य छिपा है ? यह विश्व हमें जिस रूप मे दिखाई दे रहा है यही क्या उसका वास्तविक रूप है, अथवा यह केवल हमारी एक मानसिक विडम्बना है ? यह विश्व अनन्त है या सान्त ? वह कौन-सी वस्तु है, जो त्रिकाल में सत्य है, जिसका कभी क्षय नहीं होता, जो सब तत्त्वों का मूल है ? हमारे प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इस संबंध में क्या खोज की है ? क्या अब भी मनुष्य सत्य को जान पाया है ? आदि, आदि।

## पृथ्वी की रचना

**उस ग्रह की कहानी, जिसके साथ हमारा जन्म-मरण का संबंध है, जो हमारे इस भौतिक जीवन का आधार है और जिस पर पैदा होते, मरते, खेलते-कूदते और तरह-तरह के खिलौने बनाते-बिगाड़ते हुए, हम इस ब्रह्माण्ड में अनंत शून्य की यात्रा कर रहे हैं**—यह पृथ्वी क्या है, किस प्रकार से इसकी रचना हुई है ? क्या इसकी भी कोई जीवन-कथा है ? प्राचीन लोग इसके बारे में क्या सोचते रहे ? इसके गर्भ में क्या छिपा है ? कैसे पृथ्वी निरंतर अपना रूप बदलती जा रही है ? चट्टानें कितने प्रकार की होती हैं ? उनमें पृथ्वी की आत्मकथा किस प्रकार लिखी गई है ? भूकंप और ज्वालामुखी किस कहानी को सुनाते हैं। आदि, आदि।

## धरातल की रूपरेखा

**पृथ्वी की सतह पर के जल और स्थल के उस विशाल क्षेत्र के व्यापक भौगोलिक रूप का दिग्दर्शन, जिसे हम अपनी 'दुनिया' कह कर पुकारते हैं और जिसे हमारे नकशों में दो गोलार्द्धों के रूप में चित्रित किया जाता है**—इस पृथ्वी के धरातल पर कितने भिन्न-भिन्न रूप-रंग और आकार-प्रकार के प्रदेश है ? कही बर्फ ही बर्फ है, तो कही घने वन-प्रांत ; कहीं केवल घास के मीलों लंबे मैदान है, तो कहीं बालू के डरावने रेगिस्तान ; कही उपजाऊ ठंडी घाटियाँ हैं, तो कहीं भीषण गरमी और वर्षावाले प्रदेश । एशिया और योरप, अफ्रीका और अमेरिका, मैदान और पर्वत-मालाएँ, नदियाँ और झीलें, रेगिस्तान और पठार, जंगल और बस्तियाँ—सभी की मनोरंजक कहानी इस विभाग मे हमें एक ही जगह पढ़ने को मिल सकती है।

## पेड़-पौधों की दुनिया

**जिनके बिना हमारी यह पृथ्वी इस ओर से उस ओर तक फैले हुए एक विशाल मरुप्रदेश के समान होती और हमारा ही क्या, किसी भी प्राणी का उस पर पैदा होना या जीवित रहना असंभव-जैसा होता ; जो हमारी अब तक की जानकारी में सारे विश्व में केवल हमारे ही इस ग्रह को मिली हुई विशेष देन है, उन अचरज-भरे पेड़-पौधों की मनोरंजक कहानी**—सजीव और निर्जीव सृष्टि में क्या भेद है ? क्या वनस्पति सजीव कहे जा सकते है ? आज से हजारों-लाखों वर्ष पहले भी पृथ्वी पर क्या आज ही जैसे पेड़-पौधे मौजूद थे ? पेड़-पौधों का विकास किस प्रकार हुआ ? कितनी जाति के वनस्पति पाये जाते है ? पौधा किस प्रकार उपजता और विकसित होता है ? फूलो का क्या रहस्य है ? वनस्पति अपने आपको किस प्रकार परिस्थिति के अनुकूल बना लेते है ! क्या वनस्पतियों में भी जानवरों की तरह सुख-दुःख की भावना होती है ? जंतुओं के लिए, विशेषकर मनुष्य के लिए, वनस्पतियो की क्या उपयोगिता है ? क्या पृथ्वी पर ऐसे भी पौधे हैं, जो मांसाहारी है, एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते हैं, और बिल्कुल जीवधारियों जैसा आचरण करते है ? आदि, आदि।

## जानवरों की दुनिया

**हम किसी जंतुशाला में जाकर तरह-तरह के पशु-पक्षियों को देख-देखकर अचरज से दांतों तले उँगली दबाते हैं, किन्तु क्या हमें उस अनोखी और विस्मयजनक प्रकृति की अद्भुत जंतुशाला का भी पता है, जिसे उसने सदियों से पृथ्वी पर खोल रक्खा है ? कैसी विचित्र और व्यापक है यह महान् जंतुशाला ! चींटी से लेकर हाथी तक और**

तितली से लेकर गिद्ध तक कितने विभिन्न रंग-रूप और आकार-प्रकार के प्राणी प्रकृति ने इस जंतुशाला में जुटाए हैं ! यहाँ आपको ह्वेल और हाथी जैसे भीमकाय, सिंह और भेड़िये जैसे खूँख्वार, जिराफ और ऊँट जैसे ऊँची गर्दन-वाले, घोड़े या गाय जैसे उपयोगी, कँगारू या प्लेटीपस की तरह निराले, मूँगे या एनीमोन जैसे अद्भुत, मोर या अन्य पक्षियों की तरह सुन्दर, साँप की तरह रेंगनेवाले, गिरगिट जैसे रंग वदलनेवाले और न जाने कितने विभिन्न जाति और भेद के जीवधारियों का चित्र-विचित्र जुलूस एक साथ ही एक ही स्थान में देखने को मिलेगा।

## हम और हमारा शरीर

विश्व और पृथ्वी तथा पृथ्वी पर दिखाई दे रही निर्जीव और सजीव सृष्टि का सामान्य रूप से अध्ययन करने के वाद स्वभावतया हमारी आँखें स्वयं अपने आप ही की ओर मुड़ती हैं, क्योंकि सृष्टि की सारी महिमा, उसका सारा महत्व ही इस वात में है कि हम उसके प्रधान खिलाड़ी हैं। यह विभाग हमारी अपनी उस कहानी का प्रथम अध्याय है। अपना यह अध्ययन आरंभ करने पर स्वभावतया सर्वप्रथम हमारा ध्यान जिस पहलू पर जाता है, वह है हमारा अपना स्थूल भौतिक स्वरूप अर्थात् जंतु-जगत् में हमारा स्थान, हममें और जंतुओं से विशेषता, हमारी शरीर-रचना और उसके विकास का इतिहास, हमारे शरीर के अवयव या भाग, उनमें होनेवाले रोग और उनका निदान, हमारा शारीरिक स्वास्थ्य स्थिर रखने और नस्ल सुधारने के साधन, हमारी प्रजनन या संतानोत्पत्ति क्रिया का रहस्य, हमारा भविष्य आदि, आदि। इस विभाग में इन्ही महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन आप पायेंगे।

## हमारा मस्तिष्क

मनुष्य के शरीर का अध्ययन करने के वाद जिस वस्तु पर हमारी निगाह जाती है, वह है उसका अद्भुत मस्तिष्क, जिसकी वदौलत वह आज दिन अन्य जीवधारियों को पीछे ढकेलकर पृथ्वी का एकमात्र स्वामी वन वैठा है। वास्तव में मस्तिष्क की विशेषता ही के कारण मनुष्य अन्य जानवरों से भिन्न है। रेल, हवाई जहाज, विजली, पुलें, इमारतें, नगर, गाँव, खेती, कल-कारखाने, व्यापार, उद्योग, साहित्य व कला, सव कुछ मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है, उसी की करामात हैं। सच पूछिए तो मनुष्य के मस्तिष्क से अधिक आश्चर्यजनक वस्तु दुनिया में और कोई नहीं है। यह मस्तिष्क क्या है ? विचार क्या है ? स्मृति किसे कहते हैं ? किस प्रकार हम घर-वैठे ही भूत, भविष्य, वर्तमान की वातों का चित्र अपने मन में खड़ा कर लेते हैं ? स्वप्नों का क्या रहस्य है ? क्रोध, शोक, करुणा आदि क्या हैं ? आदि, आदि, मानसिक क्रिया-प्रक्रियाओं-संवंधी हजारों अद्भुत और गूढ वातों का विवेचन इस विभाग में आपको मिलेगा।

## मानव समाज

व्यक्ति के रूप में मनुष्य के मुख्य दो पहलू—शरीर और मस्तिष्क—का अध्ययन हम पिछले दो स्तम्भों में कर चुके। अव इस विभाग में हमें उसके सामूहिक रूप का दिग्दर्शन करना है, क्योंकि मूल रूप में मनुष्य एक सामाजिक जीव है। आज दिन हम सव सामूहिक रूप से एक-दूसरे की आवश्यकता-पूर्ति में लगे हैं—हमारे कल-कारखाने, वाजार, रेल और जहाज, सड़कें, नगर, म्यूनिसिपैलटियाँ, शासन-सत्ताएँ आदि हमारे इस जटिल आर्थिक जीवन के भिन्न-भिन्न रूप हैं। वह कौन-सी अद्भुत व्यवस्था है जिसके अधीन रोज सुवह दूधवाला हमारे यहाँ दूध, अखवारवाला अखबार, डाकिया चिट्ठी-पत्री और फेरीवाला खाने-पीने का सामान दे जाता है ? किस व्यवस्था के अनुसार माता-पिता अपने वालकों को पालते-पोसते मजदूर हजारों की संख्या में जुटकर तरह-तरह की चीजें कल-कारखानों और खेतों में पैदा करते, और वे चीजें संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक मानो जादू की लकड़ी घुमाते ही पहुँच जाती हैं ? समाज क्या है, किस तरह मनुष्य के सामाजिक जीवन का विकास हुआ ? परिवार क्या वस्तु है ? स्त्री और पुरुष का क्या संवंध है ? रीति-रिवाज और सामाजिक रूढ़ियों का कैसे जन्म हुआ ? किस प्रकार राज्यों और शासन-तंत्रों का विकास हुआ ? साम्राज्यवाद और पूँजीवाद क्या हैं ? समाजवाद के क्या मानी हैं ? आदि, आदि, महत्वपूर्ण वातों का विवेचन आप इस स्तंभ में पायेंगे।

## इतिहास की पगडंडी

मनुष्य का इतिहास उसकी यात्रा का इतिहास है। आज जब हम युगों और महाकल्पों को लाँघकर चली आ रही अपने इतिहास की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी को घूमकर देखते हैं, तो कुछ ही हजार साल पीछे तक नजर दौड़ा पाते हैं। उसके बाद वह पगडंडी निरंतर क्षीण होते-होते प्रागैतिहासिक युग में धुँधलेपन में लीन हो जाती है। किंतु इससे क्या हमारी यात्रा का आरम्भ तो निस्संदेह आज से लाखों वर्ष पहले हुआ होगा। आनादि काल से जिस पगडंडी पर हम चलते चले आ रहे हैं, और उसके किनारे-किनारे के हमारे युग-युग के पड़ावों के जो थोड़े-बहुत ध्वंसावशेष आज दिन हमे मुड़कर देखने पर कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं, वे हमारी इस यात्रा के पिछले कुछ हजार वर्षो ही के स्मृति-चिन्ह है ; किंतु यही बचे खुचे खण्डहर हमे उन विगत युगों की कैसी अद्‌भुत कहानी सुना रहे हैं ! किस तरह पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागो में हमारी भिन्न-भिन्न जातियाँ समय-समय पर उठीं और नई-नई सभ्यताएँ पैदा कर अंत में सदा के लिए भूतकाल के गर्त्त में ठंडी हो गई—मनुष्य के उत्थान और पतन के ये सारे चित्र इस स्तंभ में मूर्तिमान् होकर आपके सामने थिरकने लगेंगे।

## प्रकृति पर विजय

हमने ईश्वर और प्रकृति की बनाई हुई अद्‌भुत सृष्टि की, जिसका कि मनुष्य भी एक अंग है, अचरज-भरी कहानी पिछले स्तंभों में पढ़ी; किन्तु क्या उससे किसी भी बात मे कम आश्चर्यजनक है स्वयं मनुष्य द्वारा ही रची गई उस दूसरी अनोखी सृष्टि की कहानी, जिसका निर्माण करके मनुष्य दूसरा विधाता बनने जा रहा है ? मुट्ठी-भर हड्डियों का पुतला यह मानव देखते-देखते प्रकृति का भी स्वामी बन बैठा है और आज दिन आग, पानी, हवा और बिजली उसकी टहल-चाकरी के लिए मानो हाथ जोड़े उसके सामने खड़े रहते हैं। किस प्रकार मनुष्य ने प्रकृति को इस तरह अपनी दासी बना लिया ? अन्य जानवरों के मुकाबले अपनी शारीरिक रक्षा करने में भी असमर्थ यह सामान्य जीवधारी आज हाथी, बैल और घोड़े पर सवारी गाँठता है, शेर को भी चाबुक की मार से नचाता है और हवा में उड़कर पक्षियों को भी मात करता है। पृथ्वी को इसने अपने एक खेल का मैदान-सा बना डाला है और रेल, मोटर, जहाज आदि दौड़ा-दौड़ाकर एक से दूसरे कोने तक यह उसे रात-दिन रौंद रहा है। पहलेपहल मनुष्य ने जिस दिन पत्थरों को तोड़कर उनसे औजार बनाना सीखा, उस दिन से हवाई जहाज, रेडियो और टेलीवीजन के इस युग तक की उसकी प्रकृति पर विजय पाने तथा एक नई सृष्टि रच डालने की यही कहानी इस स्तंभ मे आप के लिए फिर से शुरू से दोहराई जा रही है।

## मनुष्य की कलात्मक सृष्टि

मनुष्य की जिस नवीन सृष्टि का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उसका उद्देश्य केवल उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति ही रहा है। किन्तु इसके अतिरिक्त हम मनुष्य को एक और अद्‌भुत सृष्टि के निर्माता के रूप में देखते हैं, जो उसकी आध्यात्मिक भूख का परिणाम है, जिसकी तृप्ति के लिए वह अपने इतिहास के प्रभातकाल ही से बेचैन रहा है। उसकी यह पिपासा उसके बनाये हुए चित्रों, मूर्त्तियों, कारीगरी की वस्तुओं, इमारतों, गीतों तथा नृत्य के हाव-भावों के रूप में प्रति युग में प्रकाशित होती रही है। इस स्तंभ में मनुष्य की जीवनी के इसी विशेष अध्याय—उसकी कलात्मक सृष्टि—की कहानी है।

## साहित्य-सृष्टि

मनुष्य की सभ्यता और उन्नति का चरम विकास और उसका सब से अद्‌भुत आविष्कार न तो रेल और हवाई जहाज ही है, न पेचीदा यंत्रों से भरे हुए उसके वे कल-कारखाने ही जिनका हाल आप ऊपर वर्णित स्तंभों में पढ़ चुके है। उसकी सब से अद्‌भुत सृष्टि वास्तव में उसकी साहित्य सृष्टि है। कितनी अचरज-भरी है उसकी यह सृष्टि ! वह कौन-सा साधन है जिसकी बदौलत आज आपको हजारों वर्ष पूर्व या हजारों मील दूर की बातों या घटनाओं का

हाल घर बैठे मालूम हो जाता है ? इसी समय आप इस पुस्तक द्वारा मानव-जाति के अब तक के संचित ज्ञान की जो झलक पाने जा रहे हैं वह मनुष्य के भाषा और अक्षरों के अद्‌भुत आविष्कार ही का फल है। सचमुच ही मनुष्य की सारी सृष्टि में पुस्तकों से अधिक अचरज में डालनेवाली दूसरी वस्तु नहीं है। ज्यों-ज्यों हम इन पुस्तकों के पन्ने उलटते हैं, वर्तमान और भूतकाल के एक-से-एक बढ़कर गंभीर विचारक--**वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ और बरनार्ड शा, सभी को पुस्तकों में मूर्त्तिमान होकर हमें अपने साथ कल्पना के मधुर लोक की सैर करने के लिए तत्पर पाते हैं। यह विभाग इन्हीं सब साहित्यकारों और रचनाओं का चित्रपट है।**

## देश और जातियाँ

पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में बिखरी हुई भिन्न-भिन्न विशेषताओं से युक्त मनुष्य की विभिन्न जातियों का दिग्दर्शन --बरफीले ध्रुवप्रदेश मे बसनेवाले समूदी, बलुए रेगिस्तानों के निवासी खानाबदोश अरब, अफ्रीका के जंगलों में विचरनेवाले जंगली पिगमी और हबशी तथा चीनी, जापानी, माबरी, तिब्बती, बरमी, तुर्क, अफगान, ईरानी, मिस्री, यूनानी, इटैलियन, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, अंग्रेज, अमेरिकन आदि-आदि सभी जातियों के लोगों की रहन-सहन, सभ्यता, भाषा, उद्योग-व्यवसाय, रीति-रिवाज, आदि की कहानी यहाँ आपको सुनने को मिलेगी।

## भारतभूमि

पिछले स्तंभ मे जहाँ संसार के अन्य देशों की कथा दी जायगी, वहाँ इस स्तंभ में विशेष रूप से भारतभूमि और उसके निवासियों की ही वर्तमान अवस्था का चित्र रहेगा। हमारा अपना देश क्या है, उसकी क्या विशेषताएँ हैं, यहाँ कौन-कौन सी नदियाँ और पहाड़ है, कैसे-कैसे दृश्य यहाँ देखने को मिलते हैं, कितने प्रकार के लोग यहाँ पाये जाते हैं, उनकी रहन-सहन रीति-रिवाज, संस्कृति, भाषा, उद्योग-व्यवसाय आदि में कितनी समानता और विभिन्नता है-- **संक्षेप में यह जीते-जागते ३५ करोड़ भारतियों के जाग्रत राष्ट्र का सजीव चित्र होगा।**

## मानव विभूतियाँ

इस स्तंभ में हमें मनुष्य-जाति के उन सुदृढ आधारस्तंभों का परिचय मिलता है, जिन्होंने हमारी इस सभ्यता की इमारत मे समय-समय पर टेक लगाकर इसे असमय ही ढह पड़ने से बचाया और इसको ऊँचा चढ़ाया है। **भगवान् श्रीकृष्ण, बादरायण व्यास, महात्मा बुद्ध, हजरत ईसामसीह, तत्त्ववेत्ता सुकरात, श्रीशंकराचार्य, महात्मा गांधी, कार्ल मार्क्स, लेनिन, रवीन्द्रनाथ, सनयात सेन, आइनस्टाइन, आदि आदि महान् धर्म-संस्थापकों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, कलाकारों और क्रान्तिकारी विचारक महापुरुषों का परिचय आपको इस विभाग में मिलेगा।**

## अमर कथाएँ

मनुष्य को सदैव ही कहानी सुनने का बड़ा चाव रहा है, और उन कहानियो म सब से अधिक रोचक, शिक्षाप्रद और दिल दहलानेवाली कहानियाँ **मनुष्य की इस कठोर यात्रा के मार्ग म पड़नेवाले समय-समय के खतरों तथा उस समय उसके द्वारा प्रदर्शित साहस, वीरता, बलिदान, देशप्रेम, उदारता और त्याग की कहानियाँ हैं।** इस विभाग में आपको वही कहानियाँ क्रम से पढ़ने को मिलेंगी, जो सदा के लिए इतिहास के पन्नों मे अमिट अक्षरों में लिख दी गई हैं।

# विषयानुक्रम

## : विश्व की कहानी :

# : पृथ्वी की कहानी :

जीवाणु—स्वयं-जनन में अविश्वास—क्या जीव पहलेपहल पृथ्वी पर किसी दूसरे आकाशपिण्ड से आया—पृथ्वी पर जीव का जन्म कैसे हुआ—वनस्पति जानवरों के अग्रज रहे होंगे—प्राथमिक जीव पृथ्वी पर कब हुए होंगे—पृथ्वी की नोटबुक।

# : मनुष्य की कहानी :

## हम और हमारा शरीर

पृष्ठ १८७-२३८

### हम कौन और क्या हैं—(१) [श्री श्रीचरण वर्मा]

मनुष्य भी जन्तु-जगत् का सदस्य है—मनुष्य एवं अन्य प्राणियों की आत्मा एक है—जन्तु-जगत् में मनुष्य का स्थान—मनुष्य के शरीर के मुख्य स्मारक-चिन्ह—मनुष्य की दुम क्या हुई—मनुष्य एवं अन्य स्तनधारियों की गर्भावस्था—रक्त की बनावट एवं लक्षण में समता व भिन्नता।

### हम कौन और क्या हैं—(२) [श्री श्रीचरण वर्मा]

वानर-कक्षा के विशिष्ट लक्षण—मनुष्य-वंश और वनमानुषों के गुणों की तुलना—शिम्पेंजी की होशियारी—मनुष्य कैसे वनमानुषों से पृथक् हुआ—मानव-मस्तिष्क :: दृष्टि और कल्पना—हमारी और जानवरों की भाषा—बातचीत करनेवाले मधुमक्खी और कुत्ते—मनुष्य और समाज—नेकी और मनुष्य—सत्य और ईमानदारी—मनुष्य की परोपकार-वृत्ति।

### हमारी उत्पत्ति कैसे, कब और कहाँ हुई ? [श्री श्रीचरण वर्मा]

नई दुनिया के वन्दर—पुरानी दुनिया के वन्दर—वानर-वंश से मनुष्य की विकास-धारा अलग है—वृक्षवासी आदिम पुरखे से मनुष्य का विकास—वनमानुष मनुष्य का साथ क्यों न दे सके—मनुष्य कितना पुराना है।

### हमारे अत्यन्त प्राचीन पूर्वज [श्री श्रीचरण वर्मा]

प्रस्तर-विकल्प कैसे बने—प्रस्तर-विकल्पों की आयु का अनुमान—ये चिन्ह बहुत क्यों नहीं मिले—उपमनुष्य की सब से पुरानी खोपड़ी—पिथैकेन्थ्रापस इरैक्टस या खड़ा होकर चलनेवाला सब से पहला वानर-मनुष्य—साइनैनथ्रापस पिकेनैन्सिस—योरप में प्राप्त अवशेष—पेलियनथ्रापस हाइडैलवर्जेसिस—होमो नीएनडरथलैनसिस—होमो रहोडेशियेन्सिस—होमो सोलोएन्सिस—होमो सेपियेन्स की क्रोमैगनन जाति।

में सामाजिकता—आदिम मनुष्य की दुर्बलता और सहकारिता—शिकार का समवेत आयोजन—सामाजिकता और शैशवकाल का प्रसारण—मनुष्य का विद्रोह।

## प्रकृति पर विजय

पृष्ठ २८७-३१८

### एक नई दुनिया का निर्माण
[श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

मनुष्य किस प्रकार आविष्कर्ता बना—वल्कल-वस्त्र से पुतलीघर तक—पहिये का महत्वपूर्ण आविष्कार—कंदराओं से गगनचुम्बी अट्टालिकाओं तक—आविष्कारों ही के बल पर मनुष्य एक-एक इंच सभ्यता के शिखर की ओर बढ़ा है—यंत्र युग का प्रादुर्भाव :: भाँति-भाँति के यंत्र—यंत्र-युग के चमत्कार— कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति—चिकित्सा के क्षेत्र में अद्‌भुत प्रगति—वैज्ञानिकों की अटूट साधना।

### भाप की शक्ति का उपयोग
[श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

हीरो का आदिम वाष्प-इंजिन—आधुनिक वाष्प-इंजिन का पुरखा :: लार्ड वोर्सेस्टर का इंजिन—सेवरी और न्यूकामेन के इंजिन—जेम्स वाट का इंजिन—मर्डक का इंजिन—ट्रेविथिक का इंजिन—रेलवे-इंजिन का महान् आविष्कर्ता :: जार्ज स्टीफेन्सन।

### वाष्प-शक्ति के प्रयोग में क्रान्ति—टरबाइन इंजन का आविर्भाव
[ संपादक ]

वाष्प-शक्ति के इतिहास में युगान्तर—टरबाइन-इंजिन का सिद्धान्त—ब्वॉयलर।

### भाँति-भाँति के ब्वॉयलर
[श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

ब्वॉयलर का सिद्धान्त—ब्वॉयलर की रचना—'कार्निश' और लंकाशायर' ब्वॉयलर—सर गर्नी का प्रयोग—जलनलिकायुक्त ब्वॉयलर—'यरो' ब्वॉयलर—भट्ठी पर हवा का प्रभाव—भट्ठी में ईंधन झोंकने की समस्या।

## मनुष्य की कलात्मक सृष्टि

पृष्ठ ३१९-३३०

### कला का आरम्भ
[श्री वीरेश्वर सेन]

कला की किरणें सर्वप्रथम कब और कहाँ प्रस्फुटित हुईं—सौन्दर्य-दर्शन की स्वाभाविक हूक—चित्र-कला की ओर पहला कदम :: छायाचित्र।

असमर्थ—आखेट का ढंग—भूख के मारे सब-कुछ खाने को तैयार—घोंसलों के निवासी—राक्षसी गोरों द्वारा पिगमियों का शिकार—परिवर्तन इनके लिए घातक—मानव-परिवार की एक अत्यन्त प्राचीन शाखा।

### न्यूगिनी के पापुआन [डॉ० सत्यनारायण]

घने जंगलों के निवासी पापुआन—आकृति, वेषभूषा, रीति-रिवाज आदि—समुद्रतट के पापुआन—रहन-सहन और नृत्य-उत्सव आदि—वातावरण का प्रभाव—परिवर्तन इन्हें स्वीकार नहीं।

### मेलानेशियन [डॉ० सत्यनारायण]

सोलोमन द्वीप के निवासी—प्रकृति के साथ अनवरत संघर्ष—समुद्र के पुजारी—भाँति-भाँति की अंध-धारणाएँ—परलोक में विश्वास—उत्सव और नृत्य—स्त्री-पुरुष के संबंध—युवकों की शिक्षा-दीक्षा और खेल-कूद—विदेशियों द्वारा शोषण।

## भारतभूमि पृष्ठ ३७२-३८०

### 'सुजलां सुफलां....शस्य श्यामलां' [श्री नीलकण्ठ तिवारी]

भौतिक रूप—कृषि तथा वन्य संपत्ति तथा उद्योग-धंधे—वास्तव में भारत गाँवों में बसता है—संसार का सब से अधिक धर्मप्राण देश—सांस्कृतिक विरासत एवं विविधता में एकता का भाव—नगरों की चमक-दमक।

## अमर कथाएँ पृष्ठ ३८१-३९४

### धरती की खोज [श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण']

धरातल के अन्वेषण में प्राचीन भारत का योगदान—प्राचीन युग की एक महान् अन्वेषक जाति : : फीनिशियन—कार्थेज का वीर : : हन्नो—यूनान एवं अरब के प्राचीन अन्वेषक—स्कैंडिनेविया के वाइकिंग नामक जलदस्यु—निकोलो और मार्को पोलो—इब्नबतूता—पुर्तगाली नाविक—बार्थोलोम्यू डियाज—वास्को-दा-गामा—कोलबंस और जान कैबट—पान्से-द-लिओन की अद्भुत कहानी—जल-मार्ग द्वारा प्रथम भूप्रदक्षिणा का प्रयास करनेवाला अदम्य साहसी मैगेलन—मैगेलन का अन्य एक प्रति-स्पर्धी : : द-वाका—हम्बोल्ट—लिविंग्स्टन और स्टैनली—नान्सेन : : उत्तरी ध्रुव प्रदेशों का महान् अन्वेषक—मध्य एशिया के वीरान प्रदेशों के खोजी—स्वेन हेडिन।

महापुरुष श्रीकृष्ण [डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल]

जन्म और बाल-जीवन—राजनीतिक चरित्र—अन्धक-वृष्णि गणराज्य के प्रधान—सोलह कला का अवतार—गीता—भारत के शिरोमणि महापुरुष।

विश्व
की कहानी

पृष्ठ ३९५-४००
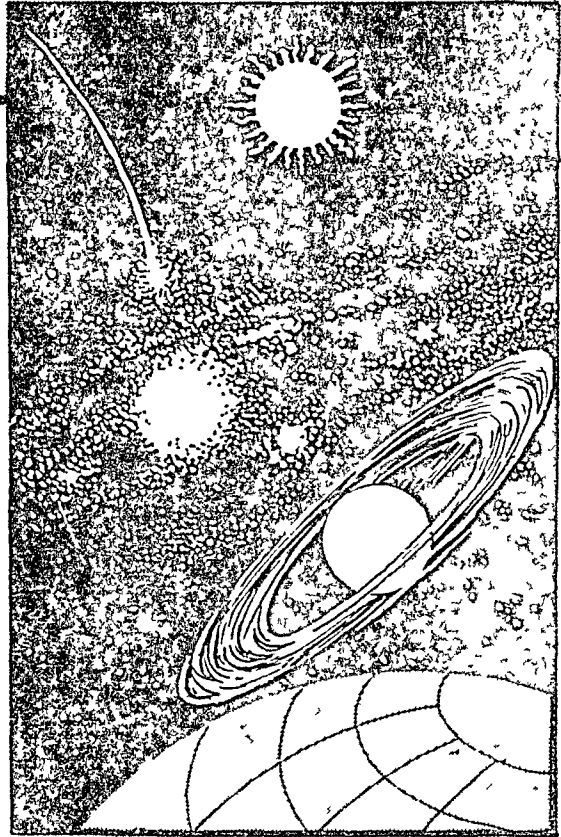
## महापुरुष श्रीकृष्ण

[डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल]

जन्म और बाल-जीवन—राजनीतिक चरित्र—अन्धक-वृष्णि गणराज्य के प्रधान—सोलह कला का अवतार—गीता—भारत के शिरोमणि महापुरुष ।
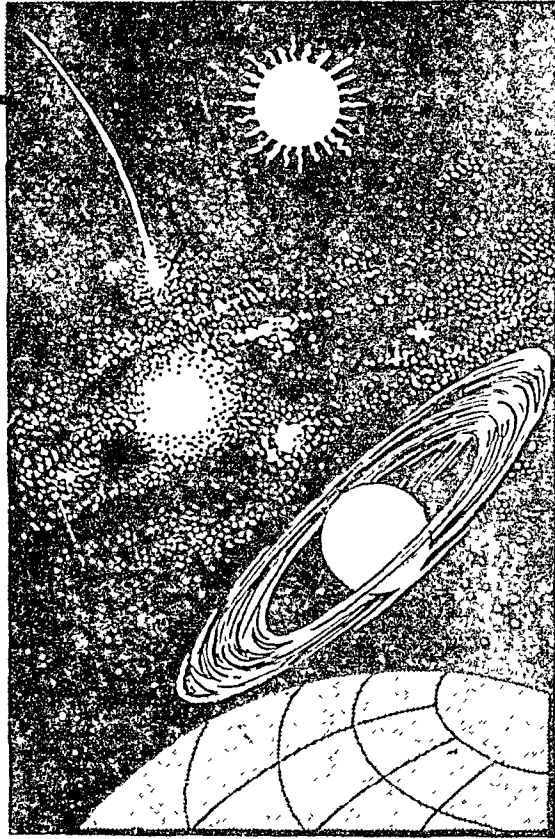
विश्व
की कहानी
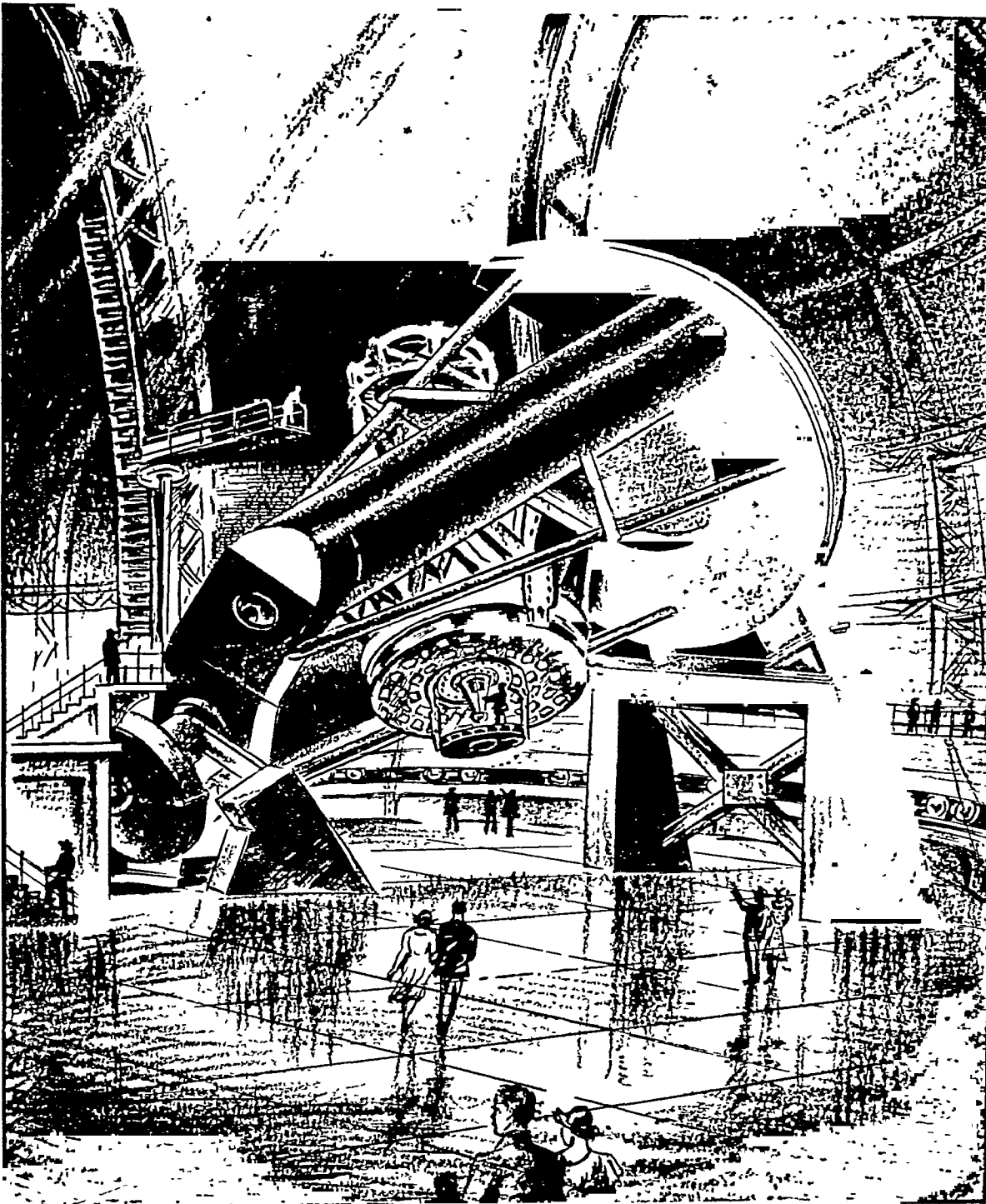
**संसार का सबसे बड़ा दूरदर्शक यंत्र--माउंट पालोमर का २०० इंची यंत्रसम्राट्**
जिसने लाखों-करोड़ों प्रकाशवर्षों की दूरी तक विश्व-ब्रह्माण्ड के विस्तार-क्षेत्र को हमारी दृष्टि-परिधि में लाकर ज्योतिष-विज्ञान की सीमाओं को कल्पनातीत दूरी तक पसार दिया है।

# ज्योतिष—क्या और क्यों ?

**दृश्य जगत् के व्यापक रूप—अनंत आकाश—और उसमें एक-दूसरे से कोटि-कोटि मील की दूरी पर शून्य में चक्कर काटते हुए ग्रह-नक्षत्रों की अद्भुत अनोखी झाँकी को नित-प्रति अपनी दृष्टि के आगे फैली देखकर मनुष्य आदिकाल से विस्मित है। इस संबंध में अब तक वह क्या जान पाया है, इस स्तंभ के अंतर्गत क्रमशः पढ़िए !**

सूर्य और चन्द्रग्रहण, पुच्छल तारे या चमकती हुई उल्काएँ—ये सब हमें आश्चर्य में डाल देते हैं। हम सोचने लगते हैं कि तारे क्यों टूटकर गिरते हैं, पुच्छल तारे क्या हैं, उनमें क्यों लंबी-सी पूँछ होती है, सभी तारों में पूँछें क्यों नहीं होतीं, पुच्छल तारे कुछ दिनों में अन्तर्धान क्यों हो जाते हैं, कैसे लोग पहले से ही बतला सकते हैं कि ग्रहण किस दिन लगेगा, इत्यादि।

## ज्योतिषिक जिज्ञासा

परंतु ज्योतिष-संबंधी साधारण बातें भी कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं हैं। किसी भी स्वच्छ अँधेरी रात में तारों को देखो। कैसा सुंदर दृश्य आँखों के सामने प्रस्तुत होता है! फिर विचार करो कि इन्हीं तारों के समान अन्य अनेक तारे पृथ्वी के अगल-बगल और नीचे भी हैं और उन्हीं के बीच तुम पृथ्वी पर सवार होकर बड़ी तेजी से उड़े चले जा रहे हो। असली बात यही है, पृथ्वी तारों के बीच आकाश में प्रचंड गति से सदा दौड़ रही है और तुम उस पर सवार हो! पृथ्वी हमें कितनी बड़ी जान पड़ती है, परन्तु इन तारों के सामने वह धूल के एक कण से भी छोटी है!

पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों द्वारा साधारण जनता तक में ज्ञान का प्रसार हो जाने के कारण अब कई बातों पर हमें आश्चर्य नहीं होता, परन्तु प्राचीन मनुष्यों को तो ऐसी बातें भी अत्यंत रहस्यमयी जान पड़ती थीं जैसे कि सूर्य का प्रति दिन पूर्व में उदय होना या ऋतुओं का क्रमानुसार नियमपूर्वक आते रहना! एक वर्ष में कितने दिन होते हैं—कितने दिनों बाद वर्षा ऋतु फिर आएगी—ऐसी मोटी बातों का पता लगाने में भी हमारे पूर्वजों को आरंभ में अत्यंत कठिनाई पड़ी थी। आधुनिक विज्ञान ने क्रमशः अनेक बातों का पता लगा लिया है, परन्तु साथ ही अनेक नवीन समस्याएँ भी उपस्थित हो गई हैं, जिनमें वैज्ञानिक भी आश्चर्यसागर में डुबकियाँ खा रहे हैं। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है

**अनंत आकाश में दौड़ती हुई पृथ्वी वस्तुतः एक विशाल गोला है !**
यह महान तथ्य मनुष्य को कुछ सौ वर्ष पूर्व ही ज्ञात हो सका है, जब कि ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधियों से तो हजारों साल पहले से वह परिचित है।

जानना चाहता है—क्यो ? कैसे ? क्या हो रहा है ? क्या होगा ? आदि, आदि। जिससे प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है, उसकी तो बात ही दूसरी है, परतु जिससे प्रत्यक्ष मे कोई लाभ होने की संभावना नही है, उसे जानने के लिए भी मनुष्य उत्सुक रहता है । सत्य क्या है, इसके जानने पर जो आनद मिलता है, जो तृप्ति मिलती है, वही खोज के सारे परिश्रम का पुरस्कार है । इस स्वार्थ-सीमित ससार मे ज्ञान की खोज मनुष्य को ऊपर उठाती है और इस सवध मे ज्योतिष के अध्ययन से बढकर कोई दूसरा ध्येय क्या हो सकता है !

## प्राचीन युग में ज्योतिष की अभिवृद्धि

ज्योतिष का अध्ययन हमारे पूर्वजो के लिए वाछित ही नही, आवश्यक भी था । पूजा-पाठ, खेती-बारी, वही-खाता, इन सभी के लिए ज्योतिष की मोटी-मोटी बातो का जानना आवश्यक था । परतु ज्योतिष की बाते किसी-न-किसी को प्रकृति से ही सीखना था और जो लोग इन विषयो की खोज करते थे वे ऋषि और ज्ञानी कहलाते थे, उनका सर्वत्र आदर होता था । ज्योतिष का उल्लेख वेदो तक मे है, जो हजारो साल पुराने है । धीरे-धीरे सहिताएँ और सिद्धात बने, जिनके सहारे ग्रहण जैसी टेढी बातो तक की भविष्यद्वाणी की जा सकती थी। संसार के अन्य देशो मे भी इसी प्रकार मे ज्योतिष के ज्ञान की वृद्धि हुई । अति प्राचीन काल में वाणिज्य खूब वढा-चढा था । लोग व्यापार के लिए दूर-दूर की यात्रा करते थे और इस प्रकार ज्ञान भी एक देश से दूसरे देश तक पहुँच जाता था । भारतवर्ष के अतिरिक्त प्राचीन बैबिलोनिया, चीन और मिस्र में भी ज्योतिष का ज्ञान उच्च कोटि का था । इसके बाद यूनानियो ने इस विद्या में बडी उन्नति की और कहते है कि वहाँ का ज्ञान भारतवर्ष मे भी फैल गया ।

## दूरदर्शक से ज्योतिष के क्षेत्र में क्रान्ति

सोलहवी शताब्दी मे गैलीलियो ने दूरदर्शक का आविष्कार किया । तब से ज्योतिष मे एक नवीन प्रकार का अध्ययन भी होने लगा । पहले सूर्य, चद्रमा और ग्रह कैसे चलते है, किस समय उनकी स्थिति आकाश मे कहाँ होगी, ग्रहण कब लगेगा, इत्यादि बातो का ही अध्ययन होता था । पर दूरदर्शक के आविष्कार के बाद यह भी देखना सभव हो गया कि सूर्य और चद्रमा का आकार क्या है, उनके पृष्ठों पर क्या-क्या है, कौन-सा ग्रह किस आकार का है, इत्यादि। धीरे-धीरे उनकी नाप-तौल का भी ज्ञान प्राप्त हुआ । कई आश्चर्यजनक बातो का पता चला, जैसे शनि के चारो ओर एक वलय (छल्ला) है; शुक्र मे वैसी ही कलाएँ दिखलाई पडती है जैसी कि चद्रमा मे; मगल मे धारियाँ दिखलाई पडती है, जो शायद नहरे है, सभव है, ये कृत्रिम हो और वहाँ जीवधारी भी हो, इत्यादि ।

**ज्योतिष-विषयक मानवीय जिज्ञासा का एक प्राचीन स्मारक**

यह तेरहवीं शताब्दी में चीनी सम्राट् कुबलाई खा द्वारा निर्मित पेकिङ् के नगर-प्राचीर पर स्थित एक प्राचीन वेधशाला का चित्र है। अद्भुत आकार-प्रकार के इसके कासे और पत्थर के ज्योतिष-यंत्र सत्रहवीं शताब्दी के है ।

गत सत्तर-अस्सी वर्षों मे ज्योतिष-संबधी अनुसधान ने दूसरा ही मार्ग पकडा है। अब आकाशीय पिंडो की रासायनिक बनावट की भी जांच होने लगी है। जिस यंत्र से इन आश्चर्यजनक आविष्कारो का होना सभव हुआ, उसका आधार वह छोटा-सा शीशे का टुकडा है, जो झाड-फानूसो मे सजावट के लिए लगा रहता

**ज्योतिष के क्षेत्र में भारतीय साधना का एक ज्वलन्त स्मारक**

यह सवाई जयसिंह द्वारा प्रस्थापित दिल्ली की 'जंतर-मंतर' नामक प्रसिद्ध ज्योतिषिक वेधशाला का विहंगम दृश्य है। सत्रहवीं शताब्दी के इस स्मारक के पीछे वस्तुतः भारतीय ज्योतिष की विगत हजारों साल की साधना की पृष्ठभूमि रही है। जयसिंह ने उज्जैन, जयपुर, काशी और मथुरा में भी ऐसी वेधशालाएं स्थापित की थीं।
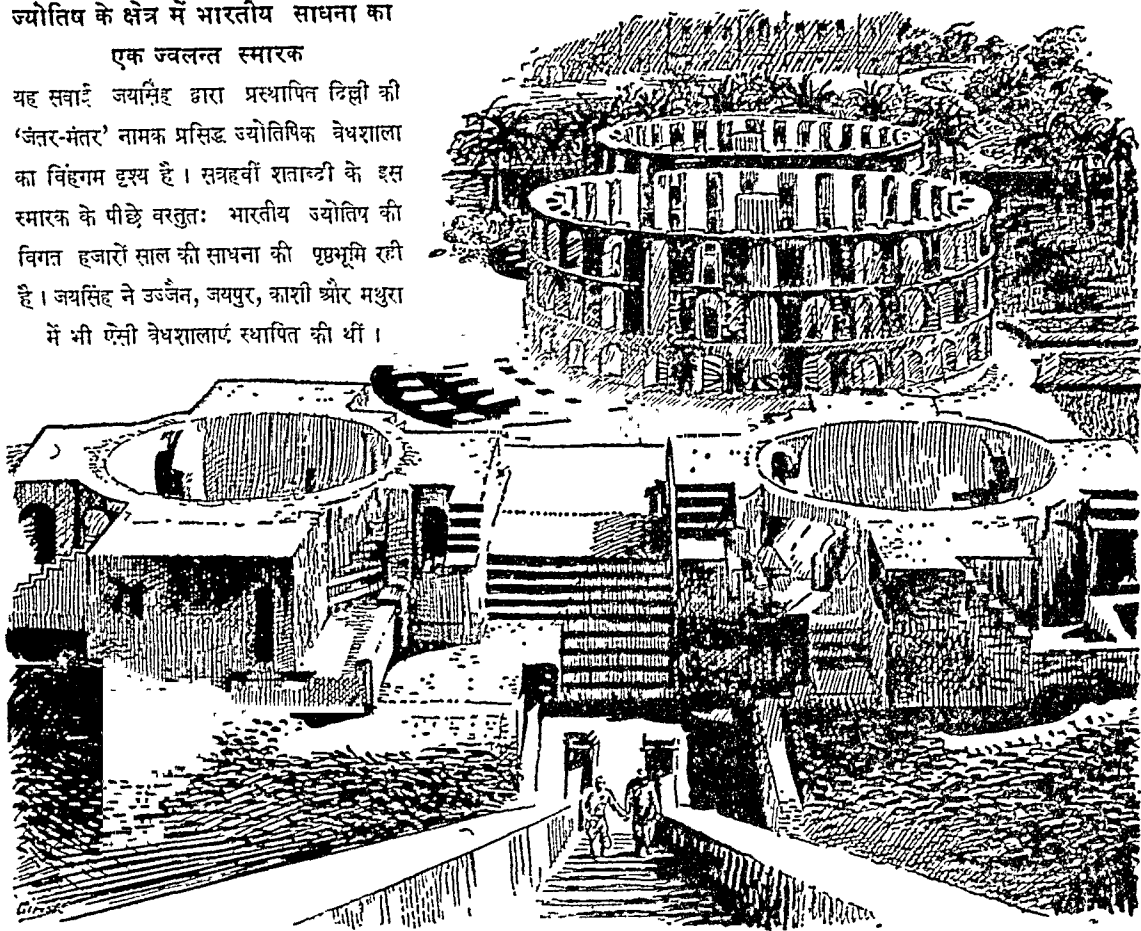
है। इसमें तीन पहल होती है और इसीलिए यह 'त्रिपार्श्व' कहलाता है। इसके द्वारा देखने से चीजें रंग-बिरंगी दिखलाई पडती है और इन्हीं रंगों को देखने से आकाशीय पिंडों की रासायनिक बनावट, तापक्रम इत्यादि का पता चला है। इन अनुसंधानों मे फोटोग्राफी से भी पूरी सहायता ली जाती है। आगे इस संबंध में आपको अधिक बातें ज्ञात होंगी।

## आधुनिक सिद्धियाँ

पिछले पचास वर्षो में तारों पर विशेष ध्यान दिया गया है। तारे ज्योतिषियो की दृष्टि मे पहले केवल बिन्दु-सरीखे थे। परंतु अब ज्योतिषिक यंत्र इतने शक्तिशाली होते है, साथ ही गणित, भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र का ज्ञान भी अब इतना बढ़ा-चढा है कि ऐसे रोचक प्रश्नों का भी उत्तर मिल गया है, जैसे कि तारे गिनती में कितने हैं; वे कितनी दूर हैं; वे कितने बड़े हैं; कितने भारी है; उनकी भौतिक और रासायनिक बनावट क्या है; वे किस प्रकार जन्म लेते, युवा होते और मरते है; तथा हमारी पृथ्वी और सूर्य का जन्म संभवतः कैसे हुआ होगा, इत्यादि। इनमें से प्राय: सभी प्रश्नो का उत्तर अत्यंत आश्चर्य-जनक है। पता चला है कि कुछ काफी चमकीले तारे भी इतनी अधिक दूर है कि वहाँ से पृथ्वी तक प्रकाश के आने में लाखों वर्ष लगते है—यद्यपि प्रकाश इतना शीघ्रगामी है कि वह केवल एक सेकंड में १,८६,००० मील चल लेता है! ज्येष्ठा तारा इतना बड़ा है कि उसमें ७,००,००,००,००,००,००० पृथ्वियां समा जायँगी! कुछ तारे इतने हलके द्रव्य के बने है कि वे गुब्बारों में भरी जानेवाली गैसों से भी कही अधिक हलके है। इसके विपरीत कुछ तारे इतने ठोस है कि यदि कोई अपनी अँगूठी में नग के बदले उनका एक टुकड़ा जड़वा ले तो अँगूठी तौल में आठ मन की हो जायगी!

प्रसिद्ध हास्यरस के लेखक मार्क ट्वेन ने अपनी कहानी 'कप्टेन स्टॉर्मफील्ड की आकाश-यात्रा' में एक घटना लिखी है, जिसमें अवश्य ही लेखक ने यथाशक्ति अपनी कल्पना को

अतिशयोक्ति से रँगा है। एक देवदूत गुब्बारे पर चढकर विश्व का नक्शा देखने गया, जो नाप में रूहोड द्वीप ( लगभग १००० वर्गमील ) के बराबर था। अभिप्राय था सूर्य और इसके ग्रहो की स्थिति जानना। लौटने पर दूत ने कहा कि शायद नक्शा मे सौर जगत् था तो, पर उसे संदेह यह हो रहा था कि कही वह किसी मक्खी का चिह्न न रहा हो!

परतु सच पूछिए तो इस अतिशयोक्ति में कहने में वस्तुतः कुछ कमी ही रह गई। कारण, आधुनिक अनुसधानो के आधार पर बने सारे भारतवर्ष के बराबर विश्व के मानचित्र मे भी हमारा सौर जगत् केवल सुई की नोक के बराबर ही होगा! मार्क ट्वेन के दूत को इस मानचित्र मे हमारे सौर जगत् का देख पाना भी कठिन होगा। परतु यदि वह कही इस चित्र मे पृथ्वी को देखना चाहे तो इतने बडे पैमाने पर भी पृथ्वी इतनी नन्ही होगी कि आजकल के बडे-से-बडे सूक्ष्मदर्शक यत्र को साधने पर भी वह उसे न देख सकेगा!

## ज्योतिष—अन्य विज्ञानों का पिता

निस्सदेह ज्योतिष अन्य विज्ञानो का पिता है। सूर्य, चंद्रमा और नक्षत्रो के नियमित उदयास्त से, चद्रमा के विधियुवत घटने-बढने से और जाड़ा, गरमी, बरसात आदि विभिन्न ऋतुओ के नियमानुसार बारबार लौटने से ही पहलेपहल मनुष्यों ने यह सीखा होगा कि इस परिवर्तनशील संसार में कोई नियम भी है और नियमो का ज्ञान करना ही विज्ञान की उत्पत्ति का मूल कारण है। इसके अतिरिक्त जैसे तुच्छ धातुओं से सुवर्ण बनाने की खोज मे रसायनशास्त्र की और रोगों से मुक्ति पाने की चेष्टा में वैद्यकशास्त्र की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार ज्योतिष के प्रश्नों को हल करने मे गणितशास्त्र के अनेक अंगों की उत्पत्ति हुई और आजकल भी ज्योतिष के कारण गणित और भौतिक विज्ञान में उन्नति हो रही है।

क्या ज्योतिष के अभाव में कोलंबस कभी यह समझ सकता था कि योरप से पश्चिम जाने पर भारतवर्ष या अन्य कोई देश अवश्य मिलेगा? कदापि नही। उसने बार-बार तारों, सूर्य और चद्रमा को पूर्व मे उदय होकर पश्चिम मे अस्त होते देखा था। इससे उसने निश्चय किया कि वह भी यदि पश्चिम की ओर बढता चला जाय तो अवश्य कभी-न-कभी भारत पहुँच जायगा, यद्यपि यह देश वस्तुतः योरप से पूर्व दिशा में है।

**गगनमंडल की ओर पहलेपहल दूरदर्शक साधनेवाला महान् ज्योतिषी गैलीलियो**

जिसने चन्द्रमा के पहाड, सूर्य-कलक, बृहस्पति के उपग्रह, शनि के वलय, आदि का पता पहलेपहल हमें दिया।

कोलबस की बात तो पुरानी है। आज भी जहाज के कप्तानो को नित्य ज्योतिष की आवश्यकता पडा करती है। ज्योतिष के ही द्वारा समुद्र में जहाज की स्थिति का पता लगता है और इसके बिना लंबी समुद्रयात्रा सफल हो ही नही सकती। स्थल-भाग पर और वायु मे यात्रा करनेवाले को भी ज्योतिष-शास्त्र का यथेष्ट ज्ञान अवश्य होना चाहिए। नए देशों और रेगिस्तानों में रास्ता निकालने के लिए ज्योतिष की विशेष आवश्यकता पडती है। फिर, जब किसी देश की पैमायश करनी पडती है, तब भी ज्योतिष ही की शरण लेनी पड़ती है। समय का शुद्ध ज्ञान भी ज्योतिष के यंत्रो से ही होता है।

इतिहास को भी ज्योतिष शास्त्र ने बडी सहायता पहुँचाई है। कई एक तिथियों का, जिनका कि ठीक पता अन्य किसी भी प्रकार से नही चल सकता था, ज्योतिष ने ही निर्णय किया है। प्राचीन और मध्यकालीन युग के कई एक सूर्य और चंद्रग्रहणों की चर्चा पुराने ग्रथों में मिलती है। इन सब पर अन्य ऐतिहासिक सामग्री के साथ विचार करने से

**ज्योतिपिक उत्कंठा जगानेवाला सूर्य के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण आकाशीय पिण्ड—चंद्रमा**

इसमें संदेह नहीं कि सूर्य की तरह चन्द्रमा ने भी मनुष्य का ध्यान आदिकाल से ही अपनी ओर खींच रक्खा है। परन्तु उसके संबंध में वैज्ञानिक जानकारी हमें पिछले कुछ सौ वर्षों की अवधि ही में प्राप्त हो सकी है। यह वरदान उस महान् आविष्कार दूरदर्शक की बदौलत हमें मिला है, जिसे पहलेपहल चन्द्रमा की ओर साधकर गैलीलियो ने यह पता लगाया कि उसके पृष्ठ पर दिखाई देनेवाले व्रण जैसे चिह्न एवं अन्य धब्बे उसके पहाड़ों, ठंडे पड़े हुए ज्वालामुखों, आदि के सूचक हैं। [ फोटो—'लिक वेधशाला' की कृपा से प्राप्त ]

इतिहास की तिथियों को शुद्ध करने के लिए अमूल्य सामग्री मिलती है। ग्रहणों के आधार पर ही अति प्राचीन काल की तिथियाँ थोड़ी-बहुत निश्चित रूप से श्रेणीबद्ध की जा सकी हैं। इतिहास के क्षेत्र में ज्योतिष का यह अमूल्य योग है। ज्योतिष के अध्ययन से न केवल मानसिक विकास ही होता है, बल्कि अध्ययनकर्त्ता को आनंद भी मिलता है। हमारे

( बाईं ओर का चित्र )

**ध्रुवतारा और सप्तर्षि-मंडल**

सूर्य और चन्द्रमा की तरह नक्षत्रों के प्रति भी आदिकाल ही से मनुष्य का ध्यान आकर्षित रहा है, जिनमें सबसे अधिक परिचित उत्तर दिशा में एक ही स्थान पर सदैव अटल देख पड़नेवाला ध्रुवतारा एवं उसके आसपास परिक्रमा करते से जान पड़नेवाले 'सप्तर्षि' नामक सात तारे हैं।

( नीचे का चित्र )

**आकाशीय उत्पात के प्रतीक उल्का और धूमकेतु**

यह एक जानी हुई बात है कि मनुष्य सूर्य, चन्द्रमा और तारों से कभी भयभीत होते नहीं देखा गया। बल्कि उन आकाशीय पिण्डों से वह सदैव मंत्रमुग्ध ही होता रहा है। इसके प्रतिकूल कतिपय आकाशीय चमत्कार सदैव ही उसके मन में भय का संचार करते पाये गए हैं, यहां तक कि वे उसके लिए महाविपत्ति और अनिष्ट के प्रतीक बन गए हैं। इनमें प्रमुख स्थान आसमान में यत्र-तत्र अपनी झांकी दरसानेवाले धूमकेतु या पुच्छल तारों और उल्काओं को प्राप्त है। उल्काओं के उत्पात का तो मनुष्य को प्रायः प्रत्यक्ष अनुभव मिलता रहा है, कारण उनके प्रकोप के फलस्वरूप मनों वजन के ऐसे भारी उल्कापिण्ड कभी-कभी धरती पर आसमान से गिरते देखे गए हैं, जैसा कि एक पिण्ड चित्र की दाहिनी बाजू में दिग्दर्शित है।

प्राचीन ऋषियों ने ज्योतिष की बड़ी प्रशंसा की है। ज्योतिष वेदांग के ग्रंथकार ने लिखा है—

**यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।**
**तद्वद्वेदांगशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम्॥**

जैसे मोरों के मस्तक पर शिखा या साँपों के मस्तक पर मणि, उसी प्रकार वेदांगशास्त्रों के मस्तक पर ज्योतिष स्थित है।

सूर्यसिद्धांत ने ज्योतिष को सब वेदांगों में श्रेष्ठ, परम पवित्र और रहस्यमय बतलाया है। भास्कराचार्य ने भी लिखा है कि शब्दशास्त्र वेद भगवान् का मुख है, ज्योतिष आँख है, निरुक्त कान है, कल्प हाथ है, शिक्षा नासिका है, छंद पाँव है। इसलिए जैसे सब अंगों में आँख श्रेष्ठ होती है, वैसे ही सब वेदांगों में ज्योतिष शास्त्र श्रेष्ठ है।

### वैज्ञानिक और फलित ज्योतिष

कुछ लोग ज्योतिष शब्द से सदा फलित ज्योतिष समझते हैं। उनके विचार में ज्योतिष वह विद्या है, जिसके आधार पर बतलाया जा सकता है कि किसी के भाग्य में क्या है, विवाह आदि के लिए शुभ मुहूर्त्त क्या है, आदि। परन्तु ज्योतिष का अर्थ अति प्राचीन काल में कुछ दूसरा ही था। इसमें संदेह नहीं है कि वेद और ब्राह्मणों के काल में ज्योतिष से गणित ज्योतिष—वैज्ञानिक ज्योतिष—का ही बोध होता था। उस समय ज्योतिष का तात्पर्य उस विद्या से था, जिसमें सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की गति एवं स्थिति का अध्ययन किया जाता था। फलित ज्योतिष उस समय कोई जानता ही न था। कदाचित् यह कहना कि उस समय के ऋषि सूर्य आदि की स्थिति और मनुष्य के भाग्य में कोई संबंध जोड़ना अनुचित समझते थे, अधिक उपयुक्त

**आकाश में पुच्छल तारे का अद्भुत दृश्य**

पुच्छल तारा वह अनोखा आकाशीय पिण्ड होता है, जो एक निश्चित दौर के बाद यदा-कदा आसमान में एकाएक प्रकट होकर और कुछ दिनों तक अपनी झाँकी दिखाकर पुनः शून्य के गर्भ में अंतर्धान हो जाता है। उसकी विशेषता होती है झाड़ू जैसी उसकी रोशनी की पूँछ! प्रस्तुत चित्र सुप्रसिद्ध हेली-धूमकेतु का है, जो मई १९१० में अंतिम बार दिखाई दिया था। [फ़ोटो—'लिक वेधशाला' की कृपा से प्राप्त]

उन सभी अंगों पर विचार किया गया है, जो सर्वसाधारण के समझने योग्य है। चित्रों को अधिक संख्या में देकर पाठको के पास दूरदर्शक या ज्योतिष-संबंधी अन्य यंत्र न रहने की असुविधा को भी बहुत-कुछ मिटाने का प्रयत्न किया गया है। इन चित्रों मे से कई महत्त्वपूर्ण फोटोग्राफ सयुक्त राज्य ( अमेरिका ) की 'माउण्ट विल्सन वेधशाला', 'लिक वेधशाला' और 'यर्किज वेधशाला', ग्रेट ब्रिटेन की 'राजकीय ग्रीनिच वेधशाला', एवं हमारे अपने देश की प्रसिद्ध 'कोदाईकनाल वेधशाला' आदि से कृपापूर्वक प्राप्त हुए है। उनके हम हृदय से आभारी है।

# दूरदर्शक के आविष्कार और विकास की कहानी

## एवं कुछ प्रसिद्ध दूरदर्शक

**इसके पहले कि हम सूर्य, चंद्र और ग्रह-नक्षत्रों का विधिवत् और विस्तृत अध्ययन आरंभ करें, यह नितान्त आवश्यक है कि उस अद्भुत ज्योतिषिक यंत्र 'दूरदर्शक' की रचना, कार्य-विधि और उपयोगिता का परिचय पा लें, जिसने हमारी ज्ञान-परिधि की सीमा को इस दृश्य जगत् के अनजान कोनों तक पहुँचा दिया है। जटायु के समान दूर दृष्टिवाले इस चमत्कारिक यंत्र ही की बदौलत ज्योतिष आज की इस ऊँचाई तक ऊपर उठ सका है। तो फिर आइए, पहले उसकी रचना, आविष्कार और विकास की कथा सुनाएँ, तदुपरान्त संसार के कुछ महान् दूरदर्शकों का भी परिचय आपको दें।**

उस यंत्र को, जिसकी सहायता से ज्योतिषी दूरस्थ वस्तुओं को स्पष्ट और प्रवर्द्धित आकार का देखता है, दूरदर्शक या दूरबीन कहते है। चंद्रमा के पहाड़, शुक्र की कलाएँ, मंगल की धारियाँ, बृहस्पति के उपग्रह, शनि के वलय, नीहारिका, आदि का ज्ञान इसी यंत्र से हमें प्राप्त हो सका है।

### दूरदर्शक का सिद्धान्त—प्रधान ताल

दूरदर्शक अपेक्षाकृत अत्यंत सरल यंत्र है। उचित नाप की एक नली के दोनो सिरों पर ताल (लेन्स) लगे रहते है, एक ओर बड़ा, एक ओर छोटा। बस यही दूरदर्शक की बनावट है। जिस किसी ने फोटोग्राफी के कैमरे की जाँच की होगी, वह जानता होगा कि कैमरे के ताल से एक प्रतिबिंब बनता है, जिसमें विषय का प्रत्येक ब्योरा बड़ी सचाई से अंकित रहता है।

दूरदर्शक के बड़े ताल का भी काम यही है कि वह आकाशीय पिण्ड का सच्चा प्रतिबिंब बनाए। यह प्रतिबिंब आकाशीय पिण्ड से बहुत छोटा तो अवश्य होता है, परंतु इस प्रतिबिंब को हम निकट से देख सकते हैं। इसलिए साधारणत. हमें प्रतिबिंब की जाँच से उस पिण्ड का अधिक ज्ञान हो सकता है; बिना इस ताल के आकाशीय पिण्ड को कोरी आँख से देखने पर हमें इतने ब्योरे कभी नहीं दिखलाई पड़ सकते। उदाहरणतः यदि हम १०० इंच नाभ्यंतर का कोई बढ़िया ताल लें तो इससे चंद्रमा का प्रतिबिंब लगभग एक इंच व्यास का बनेगा। इस प्रतिबिंब को हम ९ इंच की दूरी से देख सकते हैं। इतनी कम दूरी से देखने पर इसमें जितने ब्योरे दिखलाई पड़ेंगे उतने बिना ताल के कभी न दिखलाई पड़ेंगे। एक दूसरे उदाहरण से संभवत. यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी। यदि हम इस पुस्तक के एक पृष्ठ को २० फीट पर रख दें तो हम इसके किसी भी अक्षर को स्पष्ट न देख पायेंगे, परन्तु यदि हम बीच में १०० इंच वाले ताल को रखकर उससे बनी मूर्ति की जाँच करें तो हमें पृष्ठ के स्पष्ट रूप से पढ़ लेने में कुछ भी कठिनाई न पड़ेगी। हाँ, एक असुविधा यह होगी कि प्रतिबिंब उल्टा बनेगा। चित्रों के प्रतिबिंब में सिर नीचे रहेंगे और टाँगें ऊपर। दूरदर्शक से भी आकाशीय पिण्ड इसी प्रकार उल्टे दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु उनमें सिर और टाँग का भेद-भाव न होने के कारण ज्योतिषियो को कोई अड़चन नही पड़ती।

### चक्षुताल

इस प्रकार हम देखते है कि दूरदर्शक के बड़े ताल से (जिसे 'प्रधान ताल' कहते हैं) दूरस्थ वस्तुएँ हमे स्पष्ट और बड़ी दिखलाई पड़ती है। परन्तु दूरदर्शक को प्रवर्द्धन-शक्ति अकेले प्रधान ताल से ही नही मिलती। इसके छोटे ताल से भी बड़ी सहायता मिलती है। इस छोटे ताल को 'चक्षुताल' कहते हैं, क्योंकि आँख इधर ही लगाई जाती है। चक्षुताल का नाभ्यंतर अत्यंत छोटा रक्खा जाता है, एक-चौथाई इंच या इससे भी कम। सभी ने देखा होगा कि आतिशी शीशे या बूढ़े व्यक्तियों के चश्मे के तालों
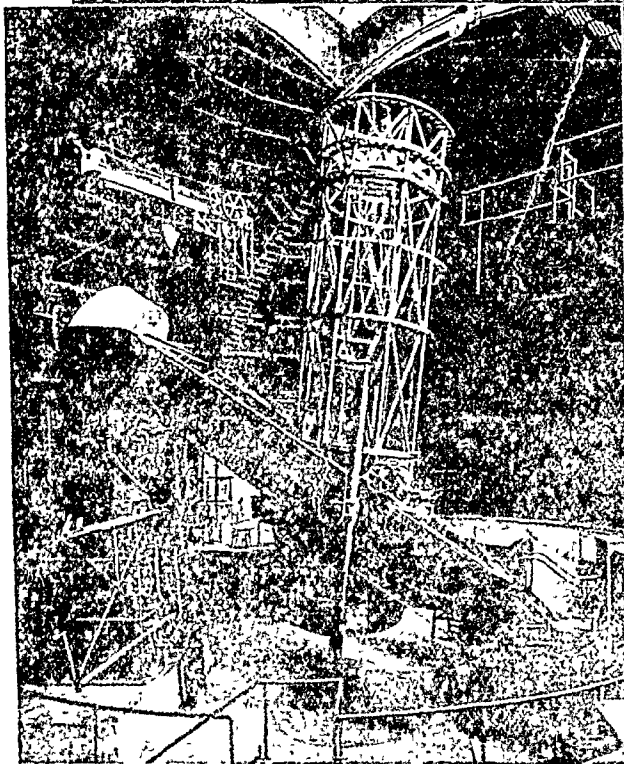
**कोटि-कोटि नक्षत्रों से खचित गगनमंडल**

हमें कोरी आंखों से तीन-चार हजार से अधिक तारे एक बार में नहीं दिखाई देते। परन्तु दूरदर्शक के नेत्र हमारे दृष्टिक्षेत्र को परिवर्द्धित कर कोटि-कोटि नक्षत्रों की झांकी एक साथ हमें दिखाने में समर्थ हैं। बाईं ओर 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' का १०० इंची महान् दूरदर्शक प्रदर्शित है और दाहिनी ओर उसके द्वारा लिया गया आकाशगंगा के एक भाग का फोटो। [ फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त ]

द्वारा अक्षर या अन्य समीपस्थ वस्तुएँ बड़ी दिखलाई पड़ती है। ऐसे ताल बीच में मोटे और चारों ओर पतले अर्थात् उन्नतोदर होते है। वस्तुओ को बड़े आकार की दिखलाने के कारण इनको प्रवर्द्धक ताल भी कहते हैं। दूरदर्शक का चक्षुताल वस्तुत. एक प्रवर्द्धक ताल ही है। इसके द्वारा देखने पर प्रधान ताल से बना प्रतिबिंब और भी बडा दिखलाई पडता है।

इस प्रकार प्रधान ताल और चक्षुताल दोनो ही प्रवर्द्धन-शक्ति के बढाने मे सहायता देते हैं। प्रधान ताल का नाभ्यतर जितना ही अधिक होगा और चक्षुताल का नाभ्यतर जितना ही कम होगा, अतिम प्रवर्द्धन-शक्ति उतनी ही अधिक होगी। परतु क्रियात्मक रूप से इस नियम का उपयोग केवल एक सीमा तक ही हो सकता है। प्रवर्द्धन-शक्ति की सीमा प्रधान ताल की सचाई और उसके व्यास पर निर्भर है। प्रधान ताल के व्यास की नाप इचो मे जानकर उसे १०० से गुणा करने पर दूरदर्शक की महत्तम प्रवर्द्धन-शक्ति ज्ञात हो सकती हैं। उदाहरणत, यदि किसी दूरदर्शक का व्यास २० इंच है तो इसमे न्यूनाधिक नाभ्यंतर का चक्षुताल लगाकर प्रवर्द्धन-शक्ति न्यूनाधिक की जा सकती है, परतु इसे २०×१०० अर्थात् २,००० से अधिक करने से कुछ लाभ न होगा। सो भी इतने छोटे नाभ्यतर का चक्षुताल कि प्रवर्द्धन-शक्ति २००० हो जाय केवल उसी दिन लगाया जा सकता है जिस दिन वायुमडल अत्यन्त स्वच्छ और स्थिर हो। अन्यथा इतनी अधिक प्रवर्द्धन-शक्ति के उपयोग का परिणाम केवल यही होगा कि वाह्य आकार तो बढ जायगा, परंतु ब्योरे भद्दे हो जायँगे; यहाँ तक कि लीपा-पोती-सी हो जायगी और सूक्ष्म ब्योरे सब मिट जायँगे। फल बहुत-कुछ वैसा ही होगा जैसा तब जबकि पृष्ठ का आकार बड़ा कर दिया जाय, अक्षर भी बड़े-बड़े हो जायँ, परन्तु रोशनाई इतनी फैल जाय कि अक्षर सब एक दूसरे पर चढ जाएँ और इसलिए कोई भी अक्षर न पढा जाय। साधारण परिस्थितियों में दूरदर्शक के प्रधान ताल के व्यास की इचों में नाप की २० गुनी प्रवर्द्धन-शक्ति मे ही संतोष करना पड़ता है।

**आज के दूरदर्शकों के आदि पुरखे**
(बाईं ओर) गैलीलियो द्वारा निर्मित दो तालयुक्त दूरदर्शक। (ऊपर) न्यूटन द्वारा बनाया गया दर्पणयुक्त दूरदर्शक।

## रंग-दोष आदि
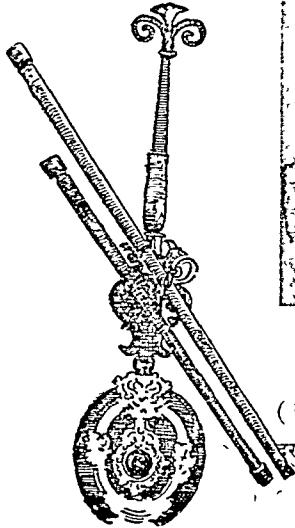
अधिक प्रवर्द्धन-शक्ति के उपयोग मे एक बाधा यह भी है कि प्रधान ताल पूर्णतया दोष-रहित नहीं रहता। यदि किसी तारे के प्रतिबिंब की सूक्ष्म जाँच की जाय तो पता चलेगा कि प्रतिबिंब के चारों ओर एक रंगीन झालर सी है, बहुत-कुछ वैसी ही जैसी त्रिपार्श्व द्वारा वस्तुओ को देखने पर दिखलाई पड़ती है। वैज्ञानिको ने बहुत चेष्टा की है कि यह 'रंग-दोष' मिट जाय। फोटोग्राफी के लिए बने लेन्सो में तो उनको इस विषय में प्रायः पूर्ण सफलता मिली है। उन्होंने तीन, चार, या इससे भी अधिक ऐसे सरल तालों के उपयोग से, जो विभिन्न रासायनिक बनावट के शीशों से बने रहते हैं और जिनमे से कुछ नतोदर रहते हैं तो कुछ उन्नतोदर, रंग-दोष पर विजय पा ली है। परंतु जब उन्हें दूरदर्शक के लिए तीस-चालीस इच के व्यास का ताल बनाना पडता है तब इन सिद्धान्तो को कार्यरूप में परिणत करने में तरह-तरह की कठिनाइयाँ पड़ती हैं। बड़े दूरदर्शकों में से किसी के प्रधान ताल में दो से अधिक सरल ताल नहीं हैं। कुछ ऐसे दूरदर्शक अवश्य बनाए गए है, जिनके प्रधान ताल मे तीन सरल ताल है, परंतु ऐसे दूरदर्शक बहुत बड़े नाप के नही बनाए जा सकते हैं।

जिस प्रकार प्रधान ताल दो या तीन सरल तालो के सयोग से बनाया जाता है उसी प्रकार चक्षुताल भी वस्तुत. कई सरल तालो से बना रहता है। चित्रो के देखने से अच्छे चक्षुताल की बनावट का पता चल जायगा।

## दर्पणयुक्त दूरदर्शक

**मध्ययुग का एक विशाल दूरदर्शक**

आज की भांति यंत्र-विज्ञान का विकास न होने के कारण मध्ययुग में ज्योतिषियों को अपने बड़े दूरदर्शकों के आरोपण में बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था।

हम जानते है कि प्रतिबिंब दर्पण में भी बनता है। साधारण दर्पण में जो प्रतिबिंब बनता है वह दर्पण के उस पार बनता है और दर्पण से उतनी ही दूरी पर रहता है जितनी दूरी पर असली पिण्ड। उदाहरणत, यदि हम चद्रमा का प्रतिबिंब साधारण दर्पण में देखे तो पता चलेगा कि वह प्रतिबिंब दर्पण में उतनी ही दूर है जितना चद्रमा। परन्तु यदि हम साधारण सपाट दर्पण के बदले तवे की तरह नतोदर दर्पण लें तो उसमें प्रतिबिंब दर्पण के उस पार बनने के बदले दर्शक की ओर बनेगा, जिसका सूक्ष्म निरीक्षण कोरी आँख से या चक्षुताल से किया जा सकेगा। इस प्रकार नतोदर दर्पण और चक्षुताल के संयोग से बने दूरदर्शकों को दर्पणयुक्त दूरदर्शक कहते हैं। आजकल के बड़े-से-बड़े दूरदर्शक सब दर्पणयुक्त ही होते हैं, क्योंकि बहुत बड़े प्रधान ताल बन नहीं सकते। संसार का सबसे बड़ा तालयुक्त दूरदर्शक ४० इंच व्यास का है। सबसे बड़ा दर्पणयुक्त दूरदर्शक २०० इंच व्यास का है।

## आश्चर्यजनक सूक्ष्मता

इन दर्पणों के बनाने में भी अत्यधिक सूक्ष्मता की आवश्यकता पड़ती है। यदि गणित-सिद्ध आकार से दर्पण का पृष्ठ कहीं भी नाममात्र ऊँचा या नीचा रहे तो प्रतिबिंब सच्चा न बनेगा और ब्योरे मिट जाएँगे। हद दर्जे की सूक्ष्मता का वर्णन करने के लिए लोग कहते हैं कि बाल-बराबर भी अंतर नहीं है, परन्तु दूरदर्शकों के बनाने में बाल से बराबर अंतर तो बहुत हो जायगा। यहाँ बाल की मुटाई के हजारवें भाग का अंतर भी नहीं पड़ना चाहिए। जैसा सभी विज्ञान-प्रेमी जानते है, गरमी पाने पर सभी चीजें
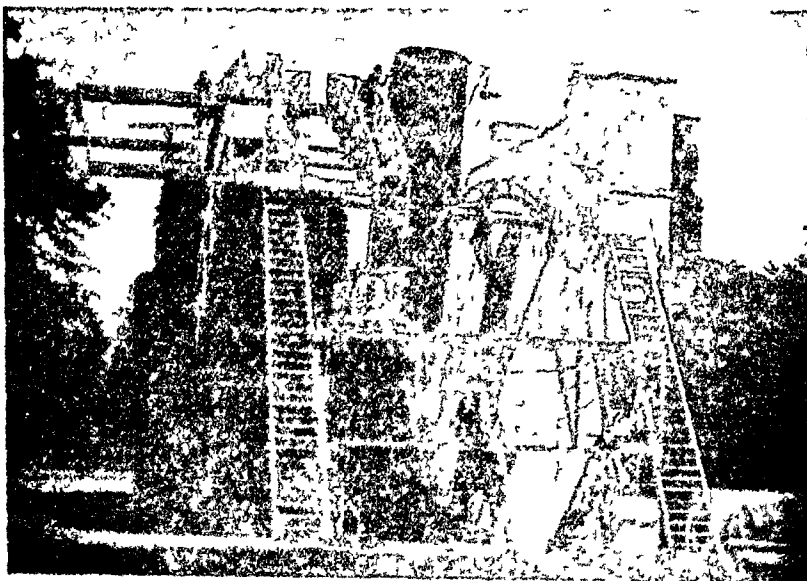
**रॉस द्वारा प्रस्थापित छः फीट व्यास का महान् दर्पणयुक्त दूरदर्शक**

यह दूरदर्शक आयर्लैंड के बर नामक स्थान में १८४५ ई० में स्थापित किया गया था। सर्पिल नीहारिकाओं का पता पहले-पहल इसी दूरदर्शक द्वारा लगा था।

कुछ बड़ी हो जाती है। शीशा भी इसी प्रकार ताप से बढ़ जाता है। यदि १०० इंच व्यासवाले दर्पण को जाड़े के दिनों में कोई अपनी अँगुली से छू दे तो अँगुली की उस गरमी से भी वहाँ की सतह नाममात्र को उभड़ आएगी—कितनी कम उभड़ेगी इसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते होंगे! परंतु प्रतिबिंब की सुस्पष्टता नष्ट करने के लिए इतना ही पर्याप्त है! २०० इंच व्यास के दर्पण बनाने में विशेष डर इसी बात का था कि लाख प्रयत्न करने पर भी इसकी सतह के ३१,००० वर्गइंचो को सदा एक ही तापक्रम पर न रक्खा जा सकेगा। लोगो का विश्वास था कि इतना बड़ा दर्पण तापक्रम की विभिन्नताओं के कारण १०० इंच व्यासवाले दर्पण से किसी प्रकार अच्छा न होगा। परंतु ज्योतिषियों की सहायता रसायनज्ञो ने की। यह भीमकाय दर्पण 'पाइरेक्स' नाम के विशेष शीशे से बनाया गया है, जो ताप के कारण इतना कम बढता है कि आग से निकाले गये तमतमाते लाल शीशे पर ठंढा पानी छोड़ने पर भी वह नही टूटता। साधारण शीशा ऐसी दशा में चूर-चूर हो जायगा, क्योंकि ठंडा पानी पड़ते ही ऊपरी सतह एकाएक इतनी संकुचित हो जायगी कि यह सतह चिथडे की तरह फट जायगी।

**दूरदर्शकों का महान् निर्माता—ऐलवन क्लार्क**
जिसे 'लिक वेधशाला' के ३६ इंची दूरदर्शक जैसे कई विशाल तालयुक्त दूरदर्शक बनाने का श्रेय प्राप्त है।

नतोदर दर्पण की सतह बहुत छिछली रहती है; परतु इसे एक विशेष आकार का होना चाहिए। गेंद की तरह गोल वस्तु की सतह नतोदर दर्पण की सतह को सर्वत्र कभी भी नही छू सकती, चाहे उस गोले का व्यास कितना ही कम या कितना ही अधिक रक्खा जाय। वस्तुत नतोदर दर्पण की सतह 'परवलयाकार' होती है, जो गोलाकार सतह से थोड़ी-सी ही भिन्न होती है। दर्पण को प्रस्तरचूर्ण से रगड़-रगड़कर और बार-बार परीक्षा करके उसे सच्चा परवलयाकार बनाया जाता है। अंत में इस पर कलई कर दी जाती है।

### आरोपण

मनुष्य का दृष्टिक्षेत्र परिमित है। यदि चंद्रमा को हम १,००,००० गुना बड़ा करके देखना चाहें—और हमारे बड़े दूरदर्शको से ऐसा करना संभव भी है—तो हम समूचे चंद्रमा को एक बार में ही न देख पायेंगे। वस्तुतः हम इसके एक छोटे-से अंश ही को अत्यंत प्रवर्द्धित पैमाने पर देखेंगे। परंतु सभी आकाशीय पिण्ड बराबर पूर्व से पश्चिम की ओर चला करते है, जिसका कारण यह है कि पृथ्वी अपने अक्ष पर २४ घंटे में एक बार के हिसाब से घूमती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि चंद्रमा या अन्य किसी भी आकाशीय पिण्ड का वह नन्हा-सा भाग, जो दूरदर्शक में हमें किसी क्षण दिखलाई पड़ता है, दूसरे ही क्षण दृष्टिक्षेत्र के बाहर चला जाता है। प्रवर्द्धन-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतने ही अधिक वेग मे आकाशीय पिण्ड भागते दिखलाई पड़ेंगे। इसलिए स्थिर दूरदर्शकों से आकाशीय पिण्डों का सूक्ष्म निरीक्षण असंभव सा है। इसका प्रतिकार इस भाँति किया जाता है कि दूरदर्शक को भी यंत्र द्वारा चलाकर बराबर आकाशीय पिण्ड के एक ही अंग की ओर रक्खा जाता है।

इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए दूरदर्शक की नली को इस प्रकार आरोपित किया जाता है कि वह भू-अक्ष के समानांतर अक्ष के बल घूम सके। फिर बहुत सच्ची घड़ी लगाकर दूरदर्शक को ठीक उसी वेग से चलाया जाता है, जिस वेग से पृथ्वी घूमती है। परंतु सब कुछ करने पर भी घड़ी के वेग और भू-वेग में थोड़ा-बहुत आकस्मिक अन्तर रह ही जाता है। इसके परिशोध के लिए बड़े दूरदर्शकों में एक दूसरा सहायक दूरदर्शक बँधा रहता है। जब प्रधान दूरदर्शक से फोटो लिया जाता है और यह आवश्यक रहता है कि कुछ समय तक दूरदर्शक एकदम ठीक वेग से चले तो ज्योतिषी सहायक दूरदर्शक द्वारा बराबर देखता रहता है। लेशमात्र भी अंतर दृष्टिगोचर होते ही वह बिजली के बटनों को दबाकर दूरदर्शक की दिशा मे इच्छानुसार सूक्ष्म परिवर्तन कर सकता है। इस प्रकार अत्यंत तीक्ष्ण और स्पष्ट फोटो उतारे जा सकते है। यदि फोटो न उतारना हो, केवल आकाशीय पिण्डों को देखना मात्र अभीष्ट हो, तो एक बार पिण्ड को दूरदर्शक के केंद्र में लाकर घड़ी चला देने पर वह पिण्ड घंटों तक दूरदर्शक में दिखलाई पड़ता रहेगा।

विभिन्न पिण्डों को देखने के लिए दूरदर्शक उत्तर-दक्षिण दिशा में भी चलाया जा सकता है। एक बार पिण्ड की ओर दूरदर्शक को घुमाकर पेंच कस देने पर तब तक उसे हटाना नहीं पड़ता जब तक किसी दूसरी वस्तु को न देखना हो।

सूर्य को छोड़ अन्य आकाशीय पिण्डों में इतना अधिक प्रकाश नहीं रहता कि उनके प्रकाश-मार्ग में एक-दो दर्पण रखकर उनके प्रकाश की दिशा सुविधानुसार दिशा में मोड़ ली जाय। दर्पणों के प्रयोग से उनके प्रकाश में जितना क्षय होगा वह उपेक्षा-योग्य न होगा। सौभाग्य से सूर्य के लिए बात ऐसी नहीं है। सर्व-सूर्य-ग्रहण देखने के लिए ज्योतिषियों को अनेक बीहड़ स्थानों में जाना पड़ता है और वहाँ कुछ दिनों के लिए अस्थायी वेधशाला बना लेनी पड़ती है। ऐसी परिस्थितियों में सुविधा इसी में होती है कि दूरदर्शक को स्थिर रक्खा जाय और इसके सामने घड़ी-संचालित समतल दर्पण रक्खा जाय। यह दर्पण इस प्रकार आरोपित रहता है कि भू-अक्ष के समानान्तर अक्ष पर घूम सके। ऐसे दर्पण को 'परावर्त्तनीय स्थापक' या 'सीलोस्टैट' कहते हैं।

**दूरदर्शक द्वारा आकाशीय पिण्डों का निरीक्षण**

दूरदर्शक की यांत्रिक घड़ी को चालू कर देने पर वे ही पिण्ड घंटों दिखलाई पड़ते हैं।

अमेरिका की प्रसिद्ध 'माउण्ट विलसन वेधशाला' में एक अट्टालिका दूरदर्शक भी है। वस्तुतः यह लोहे की धरनों का बना स्तंभ-सा है, जिसके ऊपर परावर्त्तनीय स्थापक रक्खा है। सूर्यप्रकाश इस यंत्र के दर्पण से मुड़कर नीचे आता है और ऊर्ध्वाधर स्थिर दूरदर्शक में जाता है। वायु के झकोरों के कारण अट्टालिका की थरथराहट से कोई गड़बड़ी न हो इसी अभिप्राय से अट्टालिका की प्रत्येक धरन खोखली नली में बंद है, जो धरन को कहीं नहीं छूती। इस युक्तिपूर्ण प्रबन्ध से वेग के तूफान में भी भीतरी स्तंभ में कोई थरथराहट नहीं उत्पन्न हो पाती।

## गुम्बद

यदि कभी भी आपको किसी वेधशाला के देखने का अवसर मिला होगा, तो आपका ध्यान उसके अर्द्धगोलाकार गुंबदों की ओर अवश्य आकर्षित हुआ होगा। इन गुंबदों के भीतर वेधशाला के बड़े दूरदर्शक रहते हैं। बड़े दूरदर्शक खुले मैदान में आरोपित नहीं किये जा सकते, क्योंकि वे वहाँ धूप और पानी से शीघ्र खराब हो जायँगे। यदि वे साधारण घरों के भीतर रक्खे जायँ तो उनसे आकाशीय पिण्ड भला कैसे देखे जाएँ? वे इतने छोटे या हल्के यंत्र तो होते नहीं कि जब चाहें तब उन्हें घर के बाहर निकाल ले और जब चाहे तब उनको फिर घर में लाकर रख दे। इसलिए उनके ऊपर धातुपत्र का बना, इस्पात की धरनों से सुदृढ़ किया गुंबद रहता है। इस गुंबद में शीर्ष से मूल तक एक पतला-सा झरोखा कटा रहता है, जिसे एक खिसकनेवाले पल्ले को बगल में हटाकर खोला जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुल गुंबद भी घूम सकता है। इससे यह झरोखा इच्छानुसार किसी भी दिशा में लाया जा सकता है। इस प्रबंध से ज्योतिषी गुंबद के नीचे बैठे-बैठे ही झरोखा खोल और गुंबद को आवश्यक दिशा में घुमाकर आकाश के किसी भी भाग को अपने दूरदर्शक से देख सकता है। गुंबद के कारण ओस, शीत और वायु से भी वह सुरक्षित रहता है। काम हो जाने पर झरोखा बंद कर देने से यंत्र की समुचित रक्षा होती है।

## उपयोगिता

दूरदर्शक की उपयोगिता केवल यही नहीं है कि उससे आकाशीय पिंड प्रवर्द्धित आकार के और अधिक स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। दूरदर्शक से बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी भी दिखलाई पड़ती हैं जो अत्यंत छोटी या मंद प्रकाश की

होने के कारण कोरी आँख से दिखलाई ही नही पड़ती। कारण यह है कि दूरदर्शक का प्रधान ताल आँख की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा होता है और इसलिए अत्यधिक मात्रा में प्रकाश को एकत्रित करता है। उदाहरणतः, ४० इंचवाले दूरदर्शक से तारे कोरी आँख की अपेक्षा ३५,००० गुने अधिक चमकीले दिखलाई पड़ते हैं। इसलिए उससे ऐसे भी तारे दिखलाई पड़ते है, जिनसे कोरी आँख से दिखलाई पड़नेवाले मंदतम तारे की अपेक्षा केवल ३५ हजारवें अंश में ही प्रकाश आता है। फोटोग्राफी का सहयोग पाकर दूरदर्शक ने इनसे भी मंद प्रकाश के आकाशीय पिण्डों को हमारी दृष्टिक्षेत्र मे ला दिया है। बात यह है कि प्रकाश के अत्यंत मंद होने पर हम वस्तु को नही देख सकते, चाहे घंटों घूरते रहें। परतु फोटोग्राफी के प्लेट पर मंद प्रकाश का प्रभाव एकत्रित होता चलता है। कई घटे का प्रकाश-दर्शन (एक्सपोजर) देकर हम ऐसे पिण्डो का भी स्पष्ट चित्र प्राप्त कर सकते हैं, जो उसी दूरदर्शक में आँख लगाने पर एकदम नही दिखलाई पड़ते। अवांतर ग्रहो के आविष्कार मे फोटोग्राफी की प्लेट के इस गुण से पूरा लाभ उठाया गया है। अनेक नीहारिकाओ के पूरे विस्तार का सच्चा ज्ञान हमें फोटोग्राफी से ही मिल सका है।

दूरदर्शक से फोटो लेने के लिए साधारणतः चक्षुताल हटा दिया जाता है और प्रतिबिंब के धरातल मे फोटो की प्लेट लगादी जाती है। फोटो लेने मे समय की भी बड़ी बचत होती है। जिन ब्योरों के देखने या नापने में घंटों तक दूरदर्शक फँसा रहता वे अब दो-चार सेकंड का प्रकाश-दर्शन देकर फोटो मे अंकित कर लिये जा सकते है। तब इन फोटोग्राफो का अध्ययन या नाप-जोख सुविधानुसार घंटों तक किया जा सकता है। इस प्रकार एक ही दूरदर्शक से कई ज्योतिषी काम कर सकते हैं।

सतह के ब्योरे, विभिन्न अंगों या पिण्डों के बीच की दूरी, आदि की नाप के अतिरिक्त दूरदर्शक से एकत्रित प्रकाश को रश्मिविश्लेपक यत्र मे डालकर पिण्डों की रासायनिक

**दूरदर्शक का चक्षुताल**

चक्षुताल के ही निकट आँख लगाकर दूरदर्शक में देखा जाता है। दूरदर्शक की प्रवर्द्धन-शक्ति और उसमें रंगदोष का न रहना बहुत-कुछ चक्षुताल पर ही निर्भर रहता है।

बनावट भी जानी जाती है। तारों की चमक की जानकारी भी दूरदर्शक यंत्र से लिये गए फोटोग्राफों का अध्ययन करके प्राप्त करते हैं। वस्तुतः दूरदर्शक ही आधुनिक ज्योतिषी का प्रधान यंत्र है। यही उसकी आँख है। आकाश-सम्बन्धी अधिकांश ज्ञान इसी की सहायता से हम प्राप्त हुआ है।

## दर्पण क्यों?

दर्पणों में एक अवगुण यह होता है कि कलई कुछ ही महीनो में मंद पड़ जाती है और इसलिए उन पर बार-बार कलई करनी पड़ती है। इसी कारण छोटे दूरदर्शक बराबर तालयुक्त ही बनाये जाते हैं। परंतु बड़े दूरदर्शक सब दर्पणयुक्त ही बनते है, क्योंकि एक तो बहुत बड़े तालयुक्त दूरदर्शक बन नही सकते, और जो बन भी सकते है वे उसी शक्ति के दर्पणयुक्त दूरदर्शक की तुलना मे बहुत मँहगे पड़ते है। ४० इंचवाले यर्किज के तालयुक्त दूरदर्शक से बड़ा इसी जाति का दूसरा कोई दूरदर्शक बना सकने की संभावना वर्तमान समय मे नही जान पड़ रही है। इसका ताल अपने ही बोझ से थोड़ा-सा लच जाता है। वस्तुतः यह बहुत ही थोड़ा लचता है, पर सूक्ष्म निरीक्षणों में इतने की भी उपेक्षा नही की जा सकती। अधिक बड़े तालों में इस कारण और भी कठिनाई पड़ेगी। फिर ताल जितना ही बड़ा होता है वह उतना ही मोटा भी होता है और मोटे ताल में से गुजरने में बहुत-सा प्रकाश नष्ट हो जाता है।

दर्पणों में रंग-दोष नही होता। वे इच्छानुसार मोटे बनाये जा सकते है। उनके सहारे के लिए उनके पीछे इच्छानुसार टेक आदि भी लगाये जा सकते हैं। उनमें केवल एक ही पृष्ठ को सच्चा करना पड़ता है। उनमे ये अनेक गुण है। अब चाँदी की कलई के बदले अल्युमिनियम की कलई करने की रीति का आविष्कार कर लिया गया है और यह कलई कई वर्ष तक टिकी रहती है। इसलिए बार-बार कलई करने का भी झंझट अब उतना असुविधा-

जनक नहीं रह गया है। इन्हीं सब कारणों से वैज्ञानिकों का ध्यान बड़े दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाने की ओर लगा है।

## दूरदर्शक-निर्माण का इतिहास

आज अमेरिका में दो सौ इंच व्यास का संसार का सबसे महान् दर्पणयुक्त दूरदर्शक प्रस्थापित हो चुका है, जो आकाशीय पिंडों को लगभग १०,००० गुना बड़ा करके दिखाता है। परंतु वैज्ञानिक यंत्र-निर्माण के इस विजय-शिखर तक चढ़ पाने में मनुष्य को वस्तुतः सैकड़ों वर्ष लगे हैं। दूरदर्शक-निर्माण के इतिहास का आरंभ यों तो अंधकार में ही छिपा हुआ है, क्योंकि कोई ठीक-ठीक नहीं जानता कि पहलेपहल सरल दूरदर्शक किसने बनाया, परंतु इसमें संदेह नहीं कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलियो ने ही दूरदर्शक में पहलेपहल ज्योतिषीय अनुसंधान किए।

## गैलीलियो और उसका दूरदर्शक

कहानी इस प्रकार है। कहते हैं, जब गैलीलियो मई १६०९ ई० में संयोग-वश वेनिस गया तो उसने सुना कि बेल्जियम के किसी व्यक्ति ने ऐसा यंत्र बनाया है जिससे दूरस्थ वस्तुएँ निकट और बड़ी दिखलाई पड़ती हैं। गैलीलियो पैडुआ नगर में प्रोफेसर था। उपर्युक्त समाचार पाते ही विज्ञान की अपनी जानकारी के कारण उसने अनुमान लगा लिया कि ऐसा यंत्र कैसे बना होगा। पैडुआ लौटते ही उसने अपना पहला दूरदर्शक बनाया। इसके लिए उसने सीसा धातु की नली के एक सिरे पर एक उन्नतोदर ताल लगाया और दूसरे पर नतोदर ताल। कुछ ही दिनों में इससे भी अच्छा दूरदर्शक उसने बना लिया और उसे लेकर वह वेनिस पहुँचा। वहाँ उसने इसे जनता में प्रदर्शित किया और अंत में उसे वेनिस के शासक को अर्पित कर दिया। उसी समय वहाँ की शासन-सभा की बैठक हो रही थी। गैलीलियो के इस आविष्कार के लिए सभा ने उसकी प्रोफेसरी जन्म भर के लिए पक्की कर दी और उसका वेतन दुगुना कर दिया।

रूस की पुलकोवा-वेधशाला का ३० इंची दूरदर्शक
*संसार के तालयुक्त दूरदर्शकों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।*

## गैलीलियो मरते-मरते बचा

कहते हैं, गैलीलियो के प्रथम दूरदर्शक से कुल तीन गुना ही बड़ा दिखलाई पड़ता था, परंतु बाद में उसने ऐसे दूरदर्शक भी बनाए, जिनसे बत्तीस गुना तक बड़ा दिखलाई पड़ता था। अपने दूरदर्शकों से उसने चंद्रमा के पहाड़, सूर्य के कलंक, बृहस्पति के उपग्रह, शनि के वलय, इत्यादि का पता चलाया। उसके इन तथा अन्य महत्व-पूर्ण आविष्कारों के कारण लोग उस व्यक्ति को प्रायः भूल ही गए, जिसने वस्तुतः दूरदर्शक का आविष्कार किया था। परंतु अंत में अपने आविष्कारों के कारण गैलीलियो को मिला कारा-वास का दंड और उसे मृत्यु-दंड मिलते-मिलते ही रह गया। बात यह हुई कि बृहस्पति के उपग्रहों को उसके चारों ओर चक्कर लगाते देख गैलीलियो को दृढ़ विश्वास हो गया कि कोपरनिकस का ही सिद्धांत ठीक है, जिसके अनुसार सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों ओर चक्कर लगाती है। अंत में उसने एक पुस्तक लिखी, जिसमें बड़ी निर्भी-कता से और अत्यंत प्रभावशाली भाषा में अपने विचारों को उसने प्रकट किया। वैज्ञानिकों के बीच इस पुस्तक का बहुत आदर हुआ, परंतु उस समय के धर्मगुरु पोप ने गैलीलियो के सिद्धांतों को ईसाई धर्म के विरुद्ध ठहराया और उसको दंड देने के लिए उसे अपने दरबार में बुलाया। केवल मित्रों के विशेष आग्रह ही से बूढ़े गैलीलियो ने—जिसकी आयु उस समय लगभग ७० वर्ष की थी—अपने
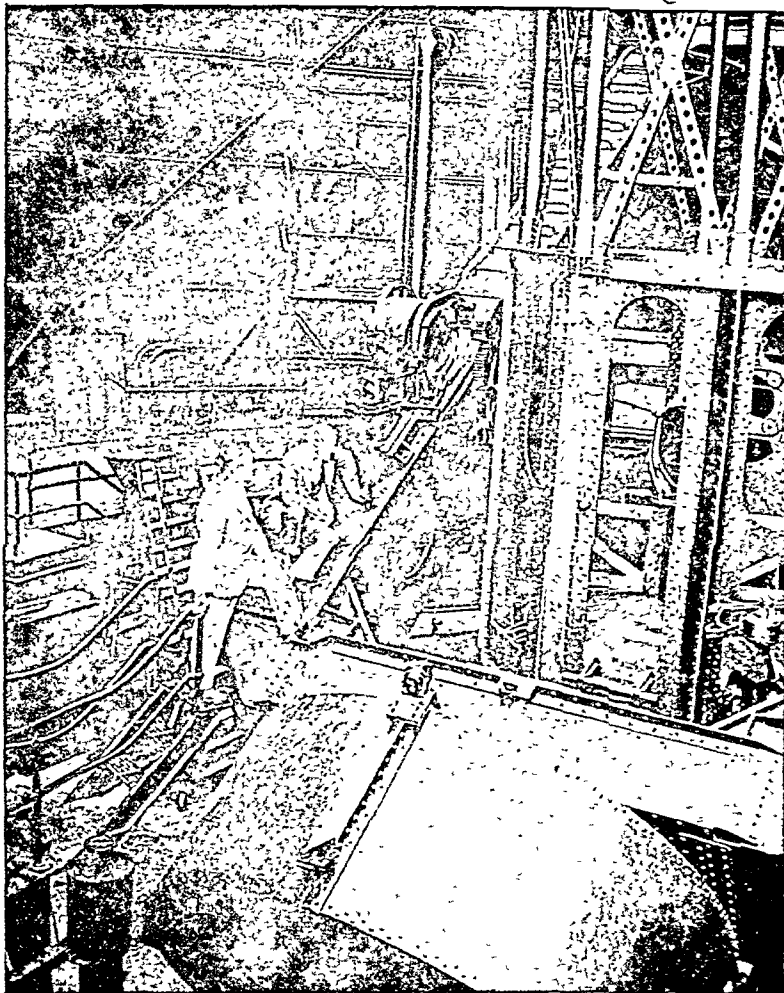
**माउण्ट विल्सन वेधशाला के १०० इंची दर्पणयुक्त दूरदर्शक का निम्न भाग**

बाईं ओर वेधशाला के अध्यक्ष के साथ महान् ज्योतिविद् सर जेम्स जीन्स खड़े हैं।

चारों ओर रंगीन झालर-सी दिखलाई पड़ती थी। इसके प्रतिकार के लिए लंबे दूरदर्शकों का उपयोग किया जाने लगा—हॉयगेन्स का एक दूरदर्शक तो १२५ फीट लंबा था। परंतु ये लंबे दूरदर्शक काम में लाते समय अत्यंत असुविधाजनक साबित हुए।

### दर्पणयुक्त दूरदर्शक

रंग-दोष के कारण ही लोगों का ध्यान दर्पणयुक्त दूरदर्शकों के बनाने की ओर आकर्षित हुआ। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने सन् १६६७ में एक छोटा-सा दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया था। तब दूसरों ने भी ऐसे दूरदर्शक बनाए और वे इन्हें न्यूटन के दूरदर्शक से कहीं अधिक बड़ा बना सके। चक्षुताल की स्थिति में और चक्षुताल तक प्रकाश पहुँचाने की रीति में भी परिवर्तन किया गया, परंतु अधिक अच्छा दूरदर्शक इन दिनों नहीं बन पाया। कारण यह था कि प्रधान दर्पण को लोग शुद्ध परवलयाकार आकृति का नहीं बना पाते थे। इस कार्य में वास्तविक उन्नति तब हुई जब प्रसिद्ध ज्योतिषी विलियम हरशेल ने अपने विशाल दूरदर्शक बनाए। किस प्रकार हरशेल ने अपने एक दूरदर्शक से नवीन ग्रह यूरेनस का पता लगाया इसकी कथा इस ग्रंथ के अगले एक खंड में बतलायी गई है। इस महत्त्वपूर्ण आविष्कार के कारण ही वह राज-ज्योतिषी बना दिया गया। अंत में उसने चार फीट व्यास का एक दूरदर्शक बनाया, जिससे उसने शनि के दो नए उपग्रहों की खोज की। परंतु इतने भारी दूरदर्शक के आरोपण का वह अच्छा प्रबंध न कर सका और तापक्रम के घटने-बढ़ने के कारण भी बहुधा इससे आकाशीय पिंड अतीक्ष्ण दिखलाई पड़ते थे। इसलिए इसका अधिक उपयोग नहीं किया जा सका। हरशेल की रीतियों से अर्ल रॉस ने सन् १८४५ में ६ फीट व्यास का एक

वैज्ञानिक आविष्कारो को पोप के सामने झूठा मान लिया और इस प्रकार उसकी जान बच गई!

### दूरदर्शक के निर्माण में प्रगति

गैलीलियो के दूरदर्शक में प्रधान ताल उन्नतोदर (बीच में मोटा, किनारे पर पतला) अवश्य था, जैसा सभी तालयुक्त दूरदर्शकों मे रहता है, परंतु चक्षुताल नतोदर था। इस सिद्धांत पर अब भी सस्ते मेल के छोटे दूरदर्शक बनते है। परंतु अब साधारणतः उस चक्षुताल का उपयोग होता है, जिसका आविष्कार हॉयगेन्स ने लगभग ७० वर्ष पीछे किया। गैलीलियो और हॉयगेन्स दोनों के दूरदर्शकों में विशेष त्रुटि यह थी कि उनमें रंग-दोष था—किसी श्वेत तारे को देखने पर वह श्वेत नही दिखलाई पड़ता था; उसके

दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया, जिसमें कई-एक सुधार किए गए थे। इस दूरदर्शक से ही सर्पिल नीहारिकाएँ पहले-पहल देखी गई थी।

हरशेल और रॉस के दूरदर्शकों के दर्पण फूल धातु के बने थे। इस धातु को हरशेल तीन भाग ताँबा और एक भाग राँगा तथा बहुत थोड़ा-सा संखिया इन तीनों को गलाकर बनाया करता था। संखिया के डालने से फूल अधिक श्वेत बनता है। पर धातु के बने दर्पणों में विशेष दोष यह होता है कि वे कुछ समय में विवर्ण हो जाते हैं। तब उन पर फिर पॉलिश करने की आवश्यकता होती है। इस तरह पॉलिश करने में उनकी कुछ आकृति बदल जाती है और उन्हें फिर सच्ची वलयाकार आकृति का करने में प्राय. उतना ही समय लगता है जितना पहली बार। इसके प्रतिकूल अब दर्पण शीशे के बनते हैं और उन पर चाँदी या अल्युमिनियम की कलई कर दी जाती है। जब वे विवर्ण हो जाते है तो कलई को तेजाब से हटा दिया जाता है और तब दूसरी कलई कर दी जाती है। इस प्रकार दर्पण की आकृति को एक बार ठीक कर देने पर बार-बार आकृति ठीक करने की असुविधा नहीं रहती। परन्तु हरशेल के समय में शीशे का दर्पण बनाना किसी को सूझा ही न था; और सूझता भी कैसे—उस समय बड़े व्यास की शीशे की सिल्लियाँ बनाना कोई जानता भी तो न था!

### रंग-दोष-रहित ताल बनाने का प्रयास

इधर एक ओर तो दर्पणयुक्त दूरदर्शक ने इतनी उन्नति कर ली थी, दूसरी ओर तालयुक्त दूरदर्शक का भी विकास धीरे-धीरे हो रहा था। १७३३ में इंगलैंड के एक उत्साही व्यक्ति चेस्टर मूर हॉल ने रंग-दोष-रहित ताल बनाने में सफलता पाई। उसने सोचा कि मनुष्य की आँख में जो प्रतिबिंब बनता है, वह रंग-दोष-रहित होता है और संभवतः इसका कारण यही है कि आँख में ताल के साथ
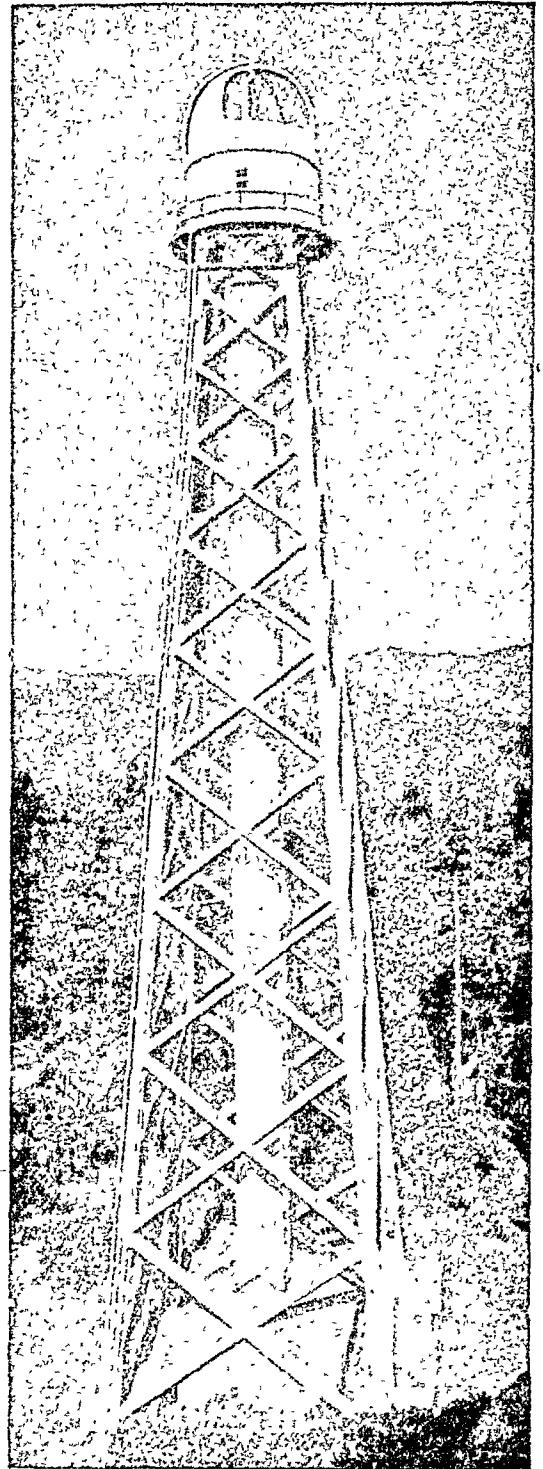
**माउण्ट विल्सन का प्रसिद्ध अट्टालिका दूरदर्शक**

इस दूरदर्शक का उपयोग सूर्य की फोटोग्राफी में होता है। लोहे की धरनों से बने स्तंभ के ऊपर एक गुम्बद में यह स्थिर रखा रहता है। भू-अक्ष के समानांतर अक्ष पर घूम सकनेवाले एक घड़ी-संचालित समतल दर्पण की सहायता से इसके द्वारा एक ही दृश्य को देरी तक देखा जा सकता है। अट्टालिका की प्रत्येक धरन खोखली नली में बन्द है, जो उसे कहीं नहीं छूती। इससे हवा के झकोरों से दूरदर्शक में कोई थरथराहट नहीं हो पाती। अट्टालिका दूरदर्शक में लगे हुए समतल दर्पण को 'सीलोस्टैट' कहते हैं। [पृष्ठ ५८ पर उसका चित्र देखिए। फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से]

द्रवपूर्ण कोष्ठ भी रहते हैं। इससे वह इस परिणाम पर पहुँचा कि संभवतः विविध बनावटों के तालों के मेल से रंग-दोष-रहित ताल बन सकेगा। प्रयोग करके उसने देखा कि वस्तुतः विभिन्न रासायनिक बनावटों के उन्नतोदर और नतोदर तालों को सटाकर रखने से रंग-दोष-रहित ताल बन जाता है। पचीस वर्ष बाद इसी बात का आविष्कार डॉलैंड ने स्वतंत्र रूप से किया। परंतु तब भी बड़े ताल-युक्त दूरदर्शकों का बनना इसलिए संभव नहीं था कि उस समय ३ इंच से बड़े नाप के स्वच्छ शीशे ढल नहीं पाते थे। जिस समय हरशेल अपना प्रथम दूरदर्शक बना रहा था ठीक उसी समय के लगभग स्विट्जरलैंड के एक कारीगर गुनैंड ने चश्मा बनाने का एक कारखाना खोला। बाद में वह दूरदर्शक भी बनाने लगा, परंतु अच्छे शीशे न मिलने से उसे ऐसी असुविधा होने लगी कि वह स्वयं शीशा बनाने का काम करने लगा। सात वर्ष तक लगातार परिश्रम करने पर भी वह इसमें विशेष सफल नहीं हुआ। तो भी हिम्मत न हारकर वह तत्परता से इसमें जुटा रहा, यहाँ तक कि शहर छोड़कर वह इस काम के लिए देहात चला गया। वहाँ उसने एक बहुत बड़ी भट्ठी बनाई। वह घंटा ढालकर जीविका-निर्वाह तथा अनुसंधान के लिए धनोपार्जन करता था और बड़ी मितव्ययता से रहकर अनेक प्रकार का कष्ट सहते हुए अपनी सारी बचत शीशा बनाने में लगाता था। अंत में उसको अपनी कठिन तपस्या का फल मिल गया। वह ६ इंच का शीशा बनाने में सफल हुआ और मरते समय तक तो (१८२३ ई० में) उसने १८ इंची शीशा बना डाला। गुनैंड के बने शीशों से १० और १४ इंच के तालयुक्त दूरदर्शक बने और उनसे कई एक अनुसंधान किए गए। गुनैंड के लड़के से अच्छा शीशा बनाने का भेद इंगलैंड के एक कारखाने ने सीखा और तब कुछ समय पश्चात् अन्यत्र भी बड़े आकार के शीशे ढलने लगे।
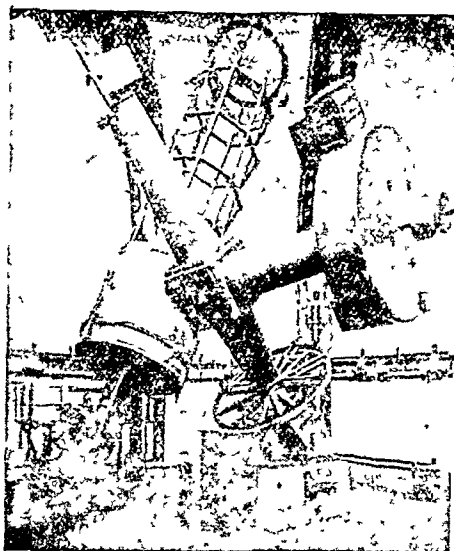
**कनाडा का ७२ इंचवाला दर्पणयुक्त दूरदर्शक**

दुनिया के महान् दर्पणयुक्त दूरदर्शकों में इसका तीसरा स्थान है। इसके धुराधार और आरोपण के ढंग पर ध्यान दीजिये।

## फ्राउनहोफर

जिन दिनों गुनैंड शीशा बनाने में व्यस्त था, उन्हीं दिनों जगत्-प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक फ्राउनहोफर चश्मा बनाने का व्यवसाय करता था। जोजेफ फ्राउनहोफर को तरुणावस्था में ही एक अति भयंकर दुर्घटना का शिकार होना पड़ा था। वह चौदह वर्ष की अवस्था में गरीबी के कारण म्युनिख शहर की एक गली के एक टूटे-फूटे मकान में रहता था। एक दिन मकान गिर पड़ा और उसके अन्दर रहनेवाले सब लोग दब गए। इस दुर्घटना में दूसरे सब तो मर गए, परंतु जब फ्राउनहोफर ईंट-पत्थर के नीचे से निकाला गया तो उसमें थोड़ा-सा जीवन शेष रह गया था। उसे चोट बड़ी गहरी लगी थी। तरस खाकर वहाँ के शासक ने फ्राउनहोफर को १८ डूकाट (लगभग सवा सौ रुपए) दिए। इस रकम में से कुछ रुपयों से तो उसने पुस्तकें और शीशे पर शान चढ़ाने की एक चक्की खरीदी, और शेष सारी रकम उसे दासत्व से मुक्ति पाने के लिए अपने मालिक को दे देना पड़ी। उसका स्वामी बड़ा ही निष्ठुर था। फ्राउनहोफर के माँ-बाप के मर जाने पर उसने उसे अपने यहाँ दर्पण बनाने के कारखाने में नौकर रख लिया था और उसके साथ बड़ी बुरी तरह का बर्ताव करता था।

इस हत्यारे से पिंड छुड़ाने पर बहुत समय तक फ्राउनहोफर को जगह-जगह ठोकरें खानी पड़ीं। इस बीच वह बराबर पुस्तकों के अध्ययन से अपना ज्ञान भी बढ़ाता रहा। पाँच वर्ष बाद उसे चश्मा, दूरदर्शक आदि बनाने के एक कारखाने में जगह मिल गई। अब वह रंग-दोष-रहित दूरदर्शक बनाने में जी-जान से भिड़ गया। ग्यारह वर्ष के परिश्रम के बाद वह ९॥ इंच व्यास का दूरदर्शक बना सका, जो उस समय के लिए एक अत्यंत अद्भुत वस्तु थी और जिससे उसका नाम सारे वैज्ञानिक संसार में फैल गया। पीछे फ्राउनहोफर ने अन्य कई वैज्ञानिक तथ्यों का
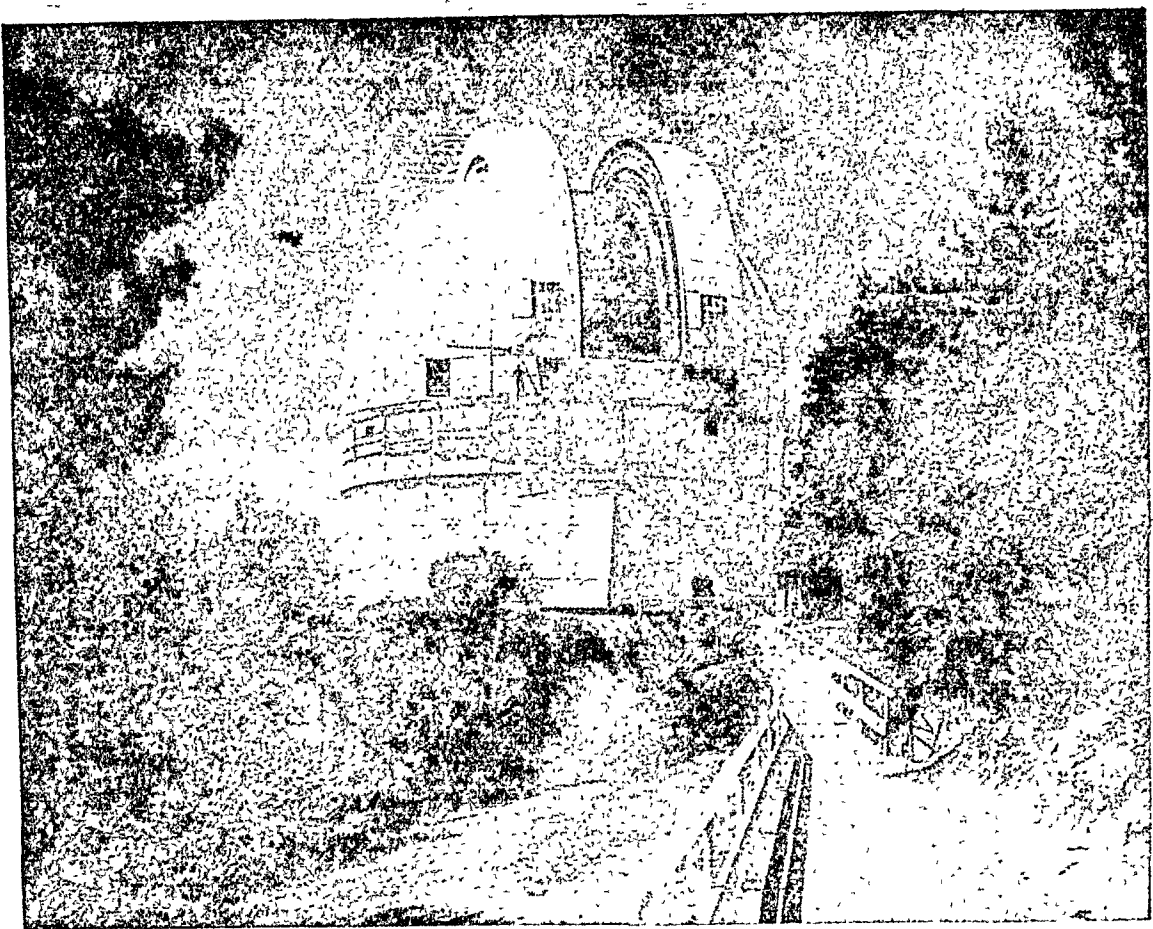
**माउण्ट विल्सन की संसारप्रसिद्ध वेधशाला का मुख्य भवन**

जिसमें १०० इञ्च व्यास के शीशेवाला दूरदर्शक रखा हुआ है । हमारा आज का ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान ऐसी ही वेधशालाओं में काम करनेवाले ज्योतिषियों के अनवरत परिश्रम का फल है । [ फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त ]

आविष्कार किया । सूर्य के वर्णपट की काली रेखाएँ आज भी उसके नाम पर 'फ्राउनहोफर रेखाएँ' कहलाती हैं, जिनके संबंध में आप आगे विशेष हाल पढ़ेंगे ।

### अमेरिका में निर्मित महान् तालयुक्त दूरदर्शक

फ्राउनहोफर के मरने के पश्चात् उसके कारखाने में दो १५ इंच व्यास के दूरदर्शक बने, जो उस समय भारी आश्चर्य की वस्तु समझे जाते थे । इनमें से एक को रूस की पुलकोवा-वेधशाला ने खरीद लिया और दूसरे को बोस्टन (अमेरिका) के नगर-निवासियों ने खरीदकर हारवर्ड-विश्वविद्यालय को दे दिया ।

इसके लगभग ३० वर्ष बाद अमेरिका में ऐलवन क्लार्क ने त्रुटिरहित दूरदर्शकों के बनाने में बड़ा नाम पैदा किया। सन् १८६० ईस्वी में क्लार्क को मिसिसिपी-विश्वविद्यालय से एक १८ इंची दूरदर्शक बनाने का काम मिला । यह दूरदर्शक कारखाने से बाहर निकलने के पहले ही प्रसिद्ध हो गया, क्योंकि इसी से पता चला कि आकाश का सबसे अधिक चमकीला तारा सिरियस या लुब्धक इकहरा नहीं बल्कि युग्म-तारा है ।

इस घटना के दस वर्ष के अन्दर ही इंगलैंड में टॉमस कुक ने २५ इंच व्यास का दूरदर्शक बनाया । कुक मोची का लड़का था और उसने दूरदर्शक बनाने का काम स्वयं ही बिना उस्ताद के सीखा था । यह दूरदर्शक आज भी केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय में काम कर रहा है । इसके थोड़े ही दिनों के भीतर ऐलवन क्लार्क ने २६ इंच व्यास का दूरदर्शक
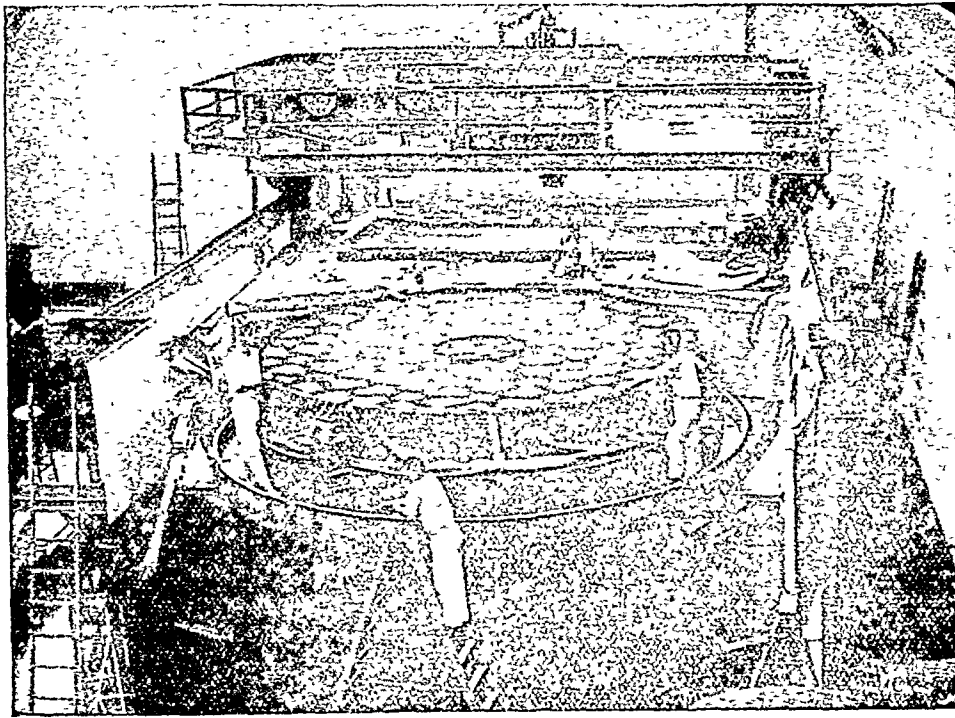
**पासाडेना के केलिफोर्नियन इंस्टीटयूट के कारखाने में विशेष यंत्रों द्वारा २०० इंच व्यास की वृहत् सिल्ली की घिसाई की जा रही है**

इस कार्य के लिये 'कार्बोरंडम पाउडर' नामक एक बुकनी काम में लाई जाती है, जो प्रायः एक पाउण्ड शीशे की घिसाई मे लगभग पाउण्ड भर खर्च होती है।

कनाडा के २७ इंची दूरदर्शक में धुरी के नाचने के लिए छर्रे लगे है, जैसे कि साइकिल या मोटर के पहियो मे होते है। साधारणतः ज्योतिषियों को इस प्रकार के बॉल बेयरिंग मे विश्वास नही होता, क्योंकि यद्यपि ऐसा प्रबंध बहुत टिकाऊ होता है और इससे दूरदर्शक भी बहुत हलका चलता है, तो भी ज्योतिषी को खटका लगा रहता है कि वह कल्पनातीत सूक्ष्म रेखा जो दूरदर्शक के घुमाने पर निश्चल रह जाती है और जो ही वस्तुत यंत्र की धुरी है, कही छर्रो की सूक्ष्म असमानता के कारण थोड़ी-बहुत विचलित न हो जाय। यही कारण है कि ज्योतिषी छर्रो का प्रयोग न करके साधारण छेदो में पड़ी बेलनाकार धुरी को अधिक पसद करते है। हाँ, यदि बोझ इतना अधिक हो कि दूरदर्शक के भारी चलने का या धुरी के शीघ्र घिस जाने का डर हो तो वे बोझ को किसी प्रकार का सहारा अवश्य दे देगे।

है, जिसकी मजबूती उसी प्रकार की गई है जिस प्रकार पुलो की की जाती है। दूरदर्शक के सब अग इतने दृढ़ है कि इसके सिरे पर आदमी भी चढ़ जाय तो लेशमात्र भी लचक न आएगी। वस्तुत. यह यत्र इतना सच्चा चलता है कि इच्छा हो तो यह एक अश (डिग्री) के १०,००० वे भाग तक सही-सही घुमाया जा सकता है! जिस चौकी पर ज्योतिषी खड़ा होता है वह भी बिजली की मोटर से ऊँची-नीची की जा सकती है। यरकिज के ४० इचवाले तालयुक्त दूरदर्शक के लिए इससे भी अच्छा प्रबंध है। वहाँ तो समूची फर्श ही ऊपर-नीचे खिसकती है और इस प्रकार ज्योतिषी सदा बडी निश्चितता के साथ अपने वेध कर सकता है। माउट विल्सन के १०० इंचवाले दूरदर्शक की गोलाकार छत १०० फीट व्यास की है। इस दूरदर्शक के निर्माण तथा इसके आरोपण, गृह-निर्माण आदि में लगभग १६ लाख रुपए खर्च हुए थे।

१०० इंचवाले दूरदर्शक में पारे मे तैरते हुए ढोलो का जैसा प्रबंध है, वैसा अन्य किसी दूरदर्शक में नहीं है।

## संसार का सबसे बड़ा दर्पणयुक्त दूरदर्शक—माउंट पालोमर का २०० इंची महान् यंत्र

वर्षो से लोग संसार के सबसे बड़े नवीन दूरदर्शक की चर्चा समाचारपत्रों में पढ़ते आ रहे थे। आखिरकार यह पूर्णतया तैयार होकर चालू हो गया। यह इतना बड़ा है कि इसके दर्पण का व्यास २०० इंच है, जो माउण्ट विल्सन के प्रसिद्ध दूरदर्शक के दर्पण से व्यास में दुगना है। आरंभ में
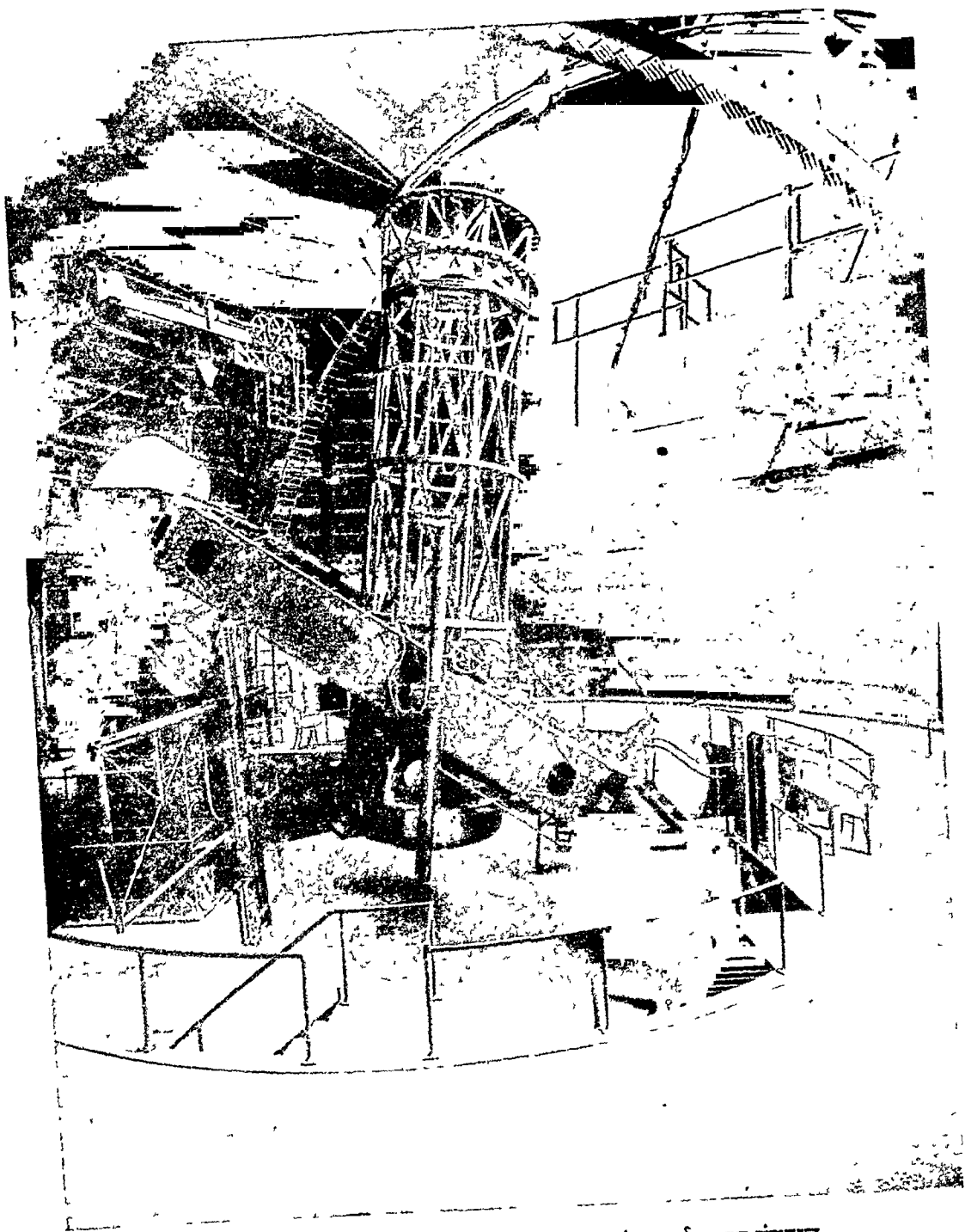
**एक महान् दूरदर्शक :: 'माउण्ट विलसन वेधशाला' का दर्पणयुक्त यंत्रराज**

यह संसार का द्वितीय सब से बड़ा दूरदर्शक है। इसके दर्पण का व्यास १०० इंच और मोटाई लगभग १२ इंच है। इससे भी बड़ा दूरदर्शक 'माउण्ट पालोमर' पर स्थापित २०० इंची विशाल यंत्र है, जिसका चित्र इस विभाग के आरंभ में मुखचित्र के रूप में दिया गया है। [फो०—'माउण्ट विलसन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त]।
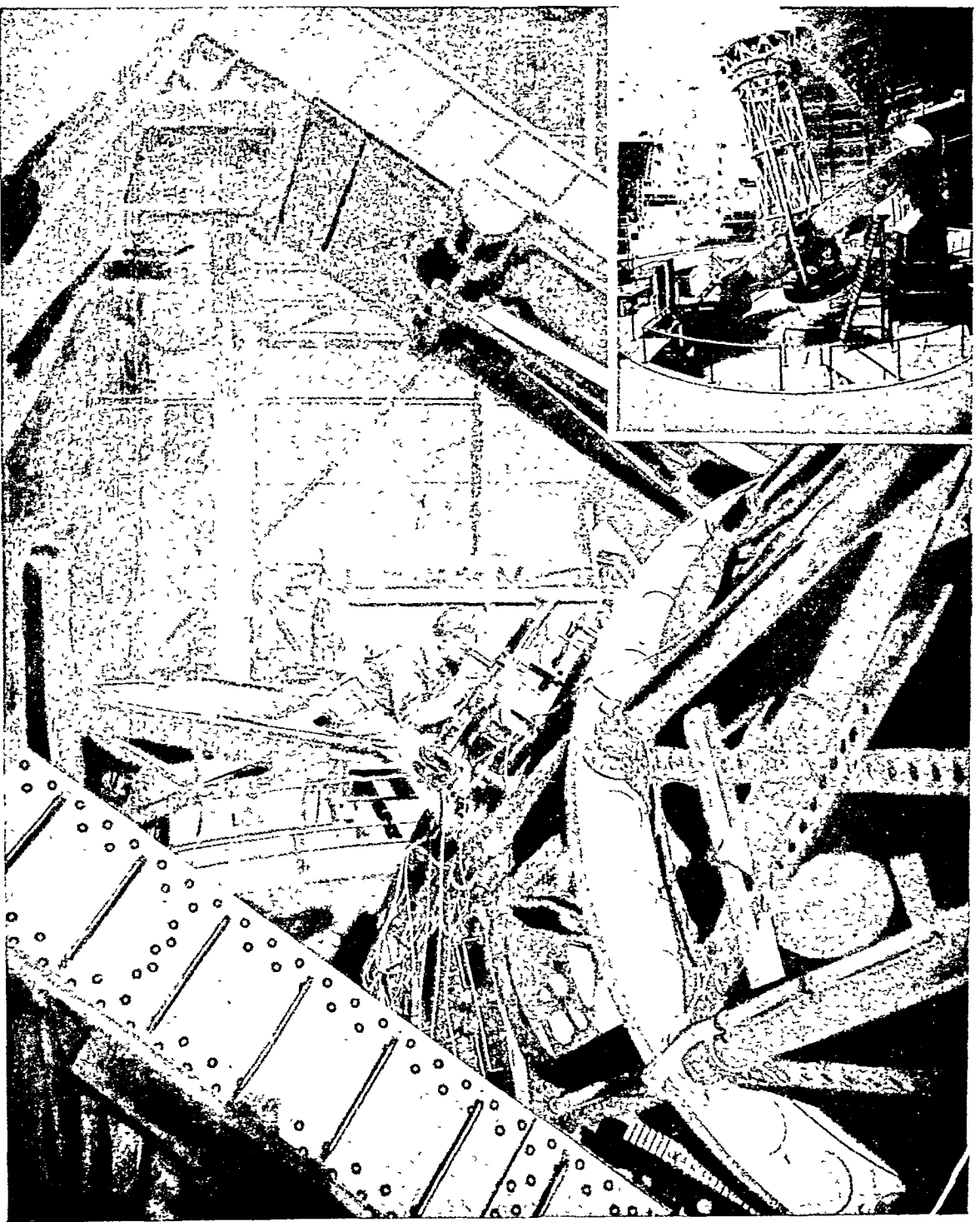
**'माउण्ट विल्सन वेधशाला' के १०० इंच व्यास के दूरदर्शक की एक निकटवर्त्ती झाँकी**

इस भीमकाय यंत्र के प्रधान दर्पण का व्यास १०० इंच, मुटाई १३ इंच और तौल सवा सौ मन है। तीन वर्ष में यह दर्पण ढाला जा सका और सात वर्ष उसकी पालिश करने में लगे। ऊपर के कोने में इस यंत्र का संपूर्ण चित्र दिया गया है। निचले भाग में उसके निम्न सिरे का समीप से दिखाई पड़नेवाला दृश्य है। देखिए, एक ज्योतिषी उसकी सहायता से वेध कर रहा है।
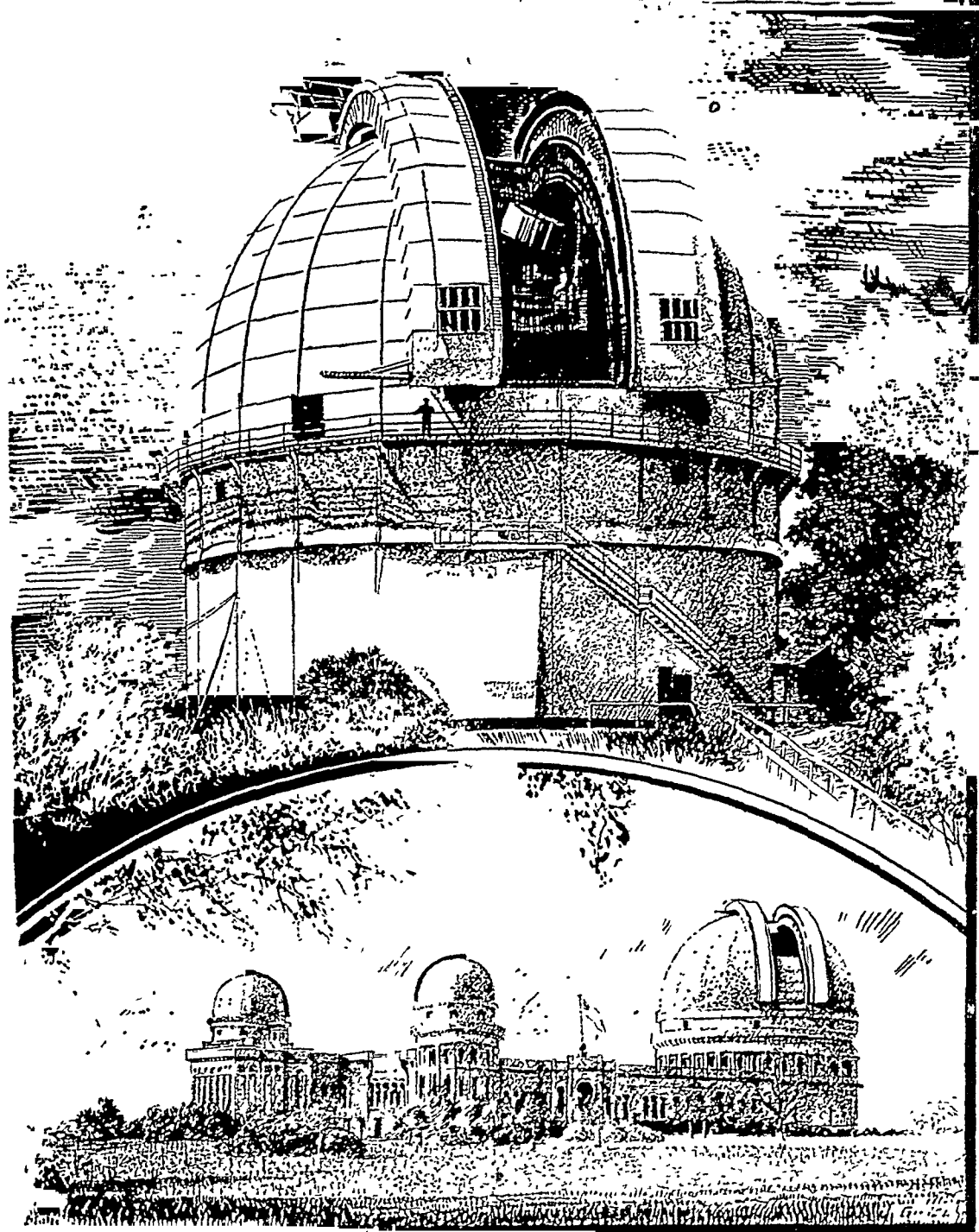
**ज्योतिषिक अनुसंधान के दो महान् केन्द्र**

(ऊपर) 'माउण्ट विल्सनवे धशाला', जहाँ संसार का द्वितीय सव से वड़ा दर्पणयुक्त दूरदर्शक स्थापित है :: इसकी एक झाँकी पृष्ठ ४७ पर भी देखिए। (नीचे) 'र्यकिज-वेधशाला', जहाँ दुनिया का सत्र से वड़ा तालयुक्त दूरदर्शक लगा है।
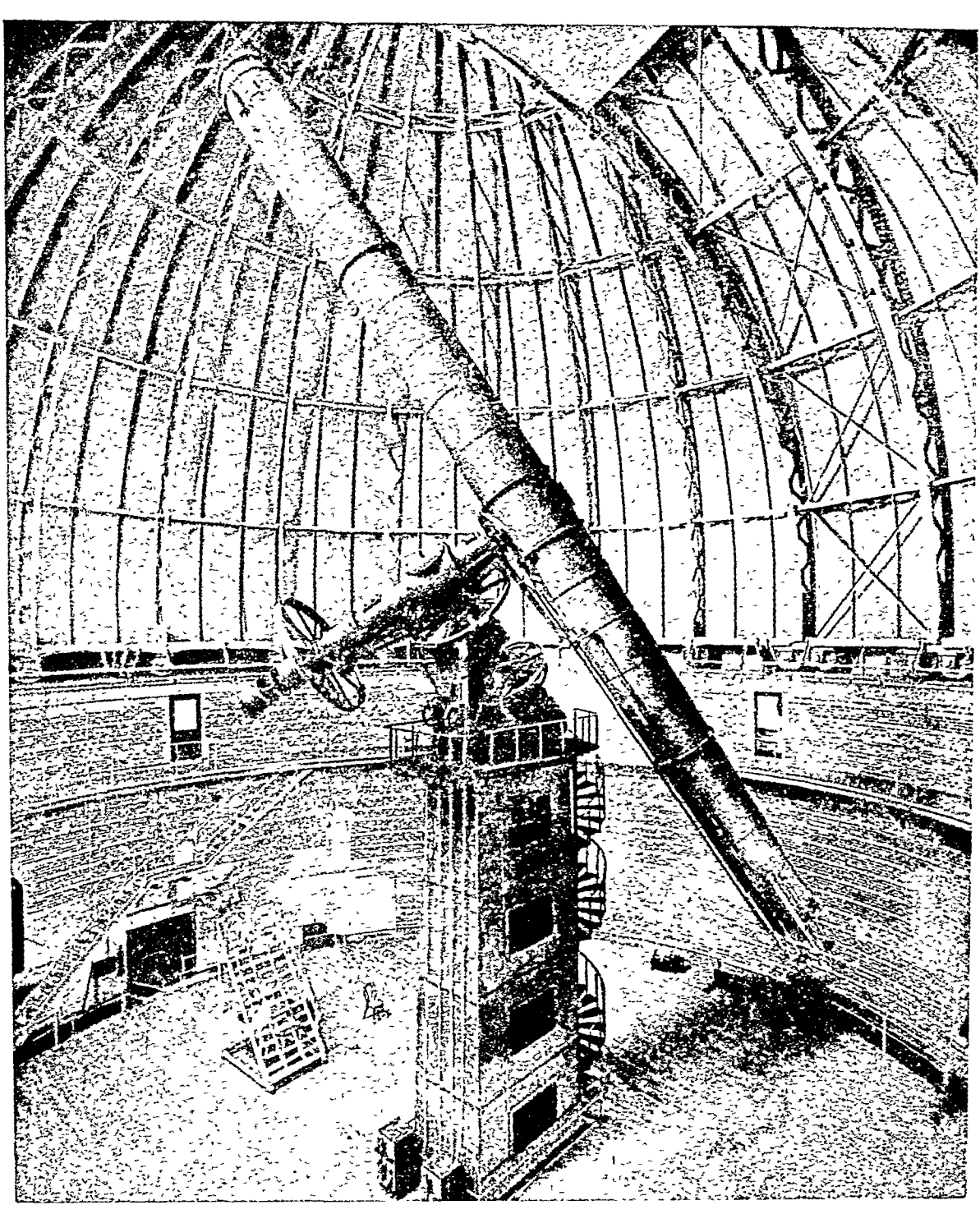
**यर्किज-वेधशाला में प्रस्थापित ४० इंच व्यास का संसार का सब से महान् तालुक्त दूरदर्शक**

आधुनिक ज्योतिष-संबन्धी ज्ञान-संपादन के कार्य में इस दूरदर्शक ने बहुत ही महत्वपूर्ण भाग लिया है। जिस प्रकार माउण्ट विल्सन के १०० इंचवाले दर्पणयुक्त दूरदर्शक के भवन का ऊपरी गुम्बद वेध करनेवाले की इच्छा के अनुसार अत्यंत सरलता तथा बारीकी के साथ घुमाया जा सकता है, उसी तरह यर्किज-वेधशाला के इस यंत्र के भवन की सारी फर्श ही इच्छानुसार ऊँची-नीची की जा सकती है। इस प्रकार ज्योतिषी आकाश में मनचाहे बिन्दु पर दृष्टि साध सकता है।

बहुत-से वैज्ञानिकों को सदेह था कि इतना बड़ा दूरदर्शक बन भी सकेगा या नही। वस्तुतः, इस दूरदर्शक के बनाने की कठिनाइयो पर गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन और इंजीनियरिंग, इन सभी के विशेषज्ञो के पूर्ण सहयोग से ही विजय मिल सकी है। केवल रुपये की ही बात यह नही रही है। सत्य यह है कि आज कोई चाहे कि ३०० या ४०० इंच व्यास का दूरदर्शक बने तो वह नहीं बन सकेगा—वास्तव में यह हमारे बस की बात नही है। माउंट विल्सन के १०० इंचवाले दूरदर्शक से इतनी नई बातो का पता चला था कि ज्योतिषियो का विश्व-सम्बन्धी सिद्धात ही बदल गया। तो भी सभी ज्योतिषियो की लालसा थी कि कोई और भी शक्तिशाली दूरदर्शक बने, जिससे आज की उलझी हुई गुत्थियाँ भी सुलझ जायँ। डाक्टर हेल ने १९२७ में ज्योतिष पर एक लोकप्रिय लेख लिखा था जिसमें यह आशा हृदयग्राही रूप से प्रकट की गई थी। परिणामस्वरूप 'रॉकफेलर जनरल एजुकेशन बोर्ड' के सभापति ने इस कार्य के लिए ६० लाख डॉलर (लगभग दो करोड़ रुपया) दिया। इसी धनराशि से २०० इंच व्यास के दूरदर्शक का निर्माण हुआ।

## इस महान् यंत्र के निर्माण संबंधी कठिनाइयाँ

इस महान् दूरदर्शक का निर्माण करते समय सबसे अधिक कठिनाई तो इस बात में पड़ी कि इतना बड़ा शीशा कैसे ढाला जाय! जैसा हम पीछे कह चुके है, पुराने समय में दर्पण फूल (धातु) के बनते थे, परतु पीछे कई विशेष गुणों के कारण शीशे के ही दर्पण बनने लगे। परंतु शीशा ताप का अच्छा संचालक नही है, इसलिए विभिन्न भागों के तापक्रम में अंतर रहने पर शीशे के दर्पण की आकृति ही बदल जाती है। इतना ही नही, गरम शीशे को बहुत धीरे-धीरे ठंढा करना पड़ता है, नहीं तो वह तड़क जाता है। १०० इंचवाले दूरदर्शक के दर्पण को ठंढा करने में कई महीने लगे थे, परंतु उसकी तौल कुल ५ टन थी। यदि २०० इंच व्यास के दर्पण को उसी पदार्थ का बनाया जाता और मोटाई भी उसी अनुपात मे रखी जाती तो शीशे की तौल ४० टन (लगभग १००० मन) होती और इसे ठढा करने में ९ वर्ष लगते! इससे कम समय में ठढा करने में इसके तड़कने का भय रहता।

यदि दर्पण को शीशे का न बनाया जाय तो किसका बनाया जाय, इस प्रश्न पर अच्छी तरह विचार हुआ। मुरचा न खानेवाला (स्टेनलेस) इस्पात, अन्य प्रकार के इस्पात, इस्पात पर चिपकाया गया शीशा तथा और कई एक वैकल्पिक रीतियों पर विचार हुआ, परतु अंतिम निर्णय यही हुआ कि केवल स्फटिक (क्वार्ट्ज) से ही कुछ आशा की जा सकती है। परतु इसमे कठिनाई यह पड़ती कि
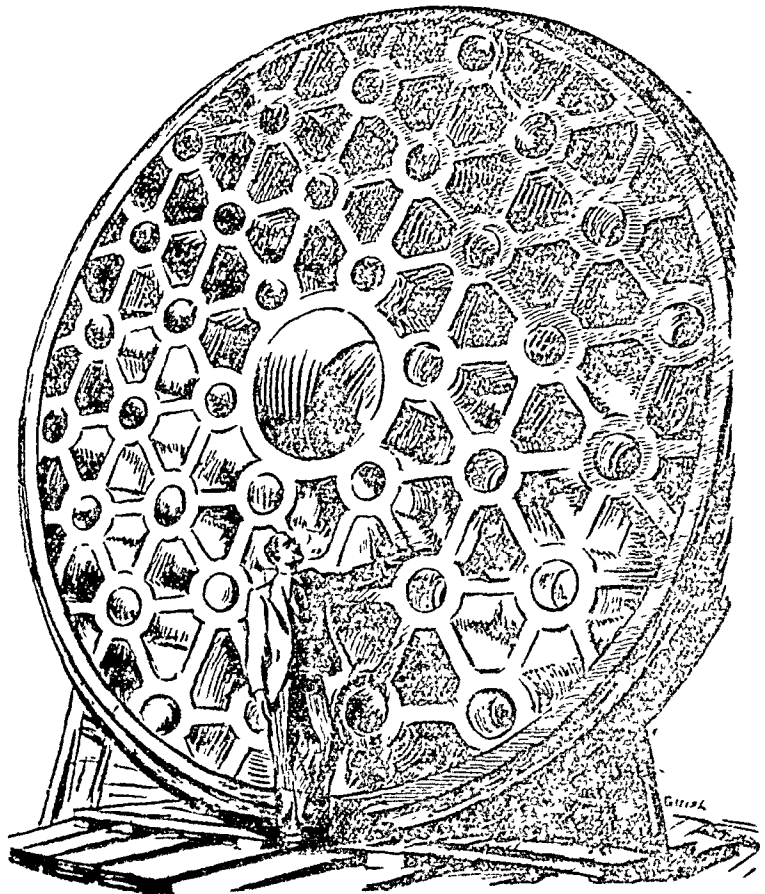
ढाले जाने के बाद २०० इंची दूरदर्शक की भीमकाय दर्पण-सिल्ली

यह सिल्ली के पेंदे या पीठ की सतह का दृश्य है, जिस ओर कि पुरजे बने हैं।

२०० इंच व्यासवाले दर्पण की सिल्ली की पीठ के खाली पुश्ते
ऊपर बैठे हुए आदमियों की आकृति से तुलना करके सिल्ली के बृहत् आकार का कुछ-कुछ अंदाज लगाया जा सकता है।

इसे गलाने के लिए प्रचंड ताप की आवश्यकता अनिवार्य थी। ये सब कठिनाइयाँ सन्मुख थी तो भी विशेष रीतियो के उपयोग से २० इंच व्यास तक की स्फटिक (क्वार्ट्ज) की एक सिल्ली बना ली गई और ऐसा संभव जान पड़ने लगा कि कदाचित् इसी पदार्थ से सफलतापूर्वक २०० इंच व्यास की सिल्ली भी बन जायगी। परंतु जब खर्च का परता बैठाया गया तो पता चला कि कुल प्राप्त धन का अधिकांश ऐसी सिल्ली बनाने में ही लग जायगा!

इसलिए स्फटिक का विचार छोड़कर इसे 'पाइरेक्स' नामक शीशे का बनाना ही ठीक समझा गया। इसमें स्फटिक की अपेक्षा तापजनित प्रसार चौगुना होता है, यद्यपि शीशे की अपेक्षा एक-तिहाई ही होता है। विशेष पाइरेक्स में साधारण पाइरेक्स की अपेक्षा कुछ कम ही प्रसार होता है। अतएव अंत में २०० इंचवाले दर्पण के लिए इसी विशेष पाइरेक्स का उपयोग किया गया।

## ढलाई और घिसाई

दर्पण को हलका बनाने के लिए यह निश्चय किया गया कि पीठ को सपाट न रखकर उस पर पुश्ते ढाल दिए जायँ। ऐसा करने पर अधिक पतली सिल्ली से काम चल जाता है और बोझ आधा हो जाता है। इस विशाल सिल्ली को ढालने का बीड़ा 'कॉर्निंग ग्लास कंपनी' नामक कारखाने ने उठाया। पाइरेक्स बहुत जल्द जमकर कड़ा हो जाता है, इसलिए बड़ी भट्ठी में साँचे को रखकर इस साँचे में पिघला हुआ पाइरेक्स डालना उचित समझा गया। पुश्तों के बनाने के लिए साँचे में ११४ ढोकों का लगाना आवश्यक था। इन्हीं से शीशे में पुश्तों के बीच का गड्ढा बनता। आरंभ में कई एक जाँचें की गई कि इन ढोकों को कैसे स्थिर रक्खा जाय, क्योंकि शीशा ढालने पर ये उखड़ आते थे। अंत में उन्हें इस्पात के मोटे-मोटे बोल्टुओं से कसने पर कुछ सफलता मिली और १२० इंच व्यास की सिल्ली ढालकर देख ली गई कि यह रीति ठीक है। परंतु जब मार्च, १९३४, मे पहली बार २०० इंच की सिल्ली ढाली गई तो भीषण ताप के कारण बोल्टुओं का इस्पात भी पिघल गया! हाँ, परीक्षा के लिए इस सिल्ली को गणित-सिद्ध वेग से दसगुने वेग से ठंढा किया गया, तो भी वह नहीं तड़की। इससे बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ।

दूसरी बार सिल्ली ढालने के लिए क्रोमियम और निकल-मिश्रित इस्पात के बोल्टुओं से ढोके कसे गए। ये बिल्कुल ठीक रहे। सिल्ली दस महीने में धीरे-धीरे ठंढी की गई और ठीक निकली। अब प्रश्न यह था कि इस सिल्ली को पासाडेना तक कैसे पहुँचाया जाय! क्योंकि पासाडेना मे ही इस पर घिसाई और पालिश हो सकती थी—वहीं माउंट विल्सन वेधशाला वाले घिसने, पालिश और कलई करने के यंत्र थे। उधर रास्ते की खड़खड़ाहट से शीशे के टूट जाने की भी आशंका थी। अंत में शीशे को विशेष रूप से पैक करके और खड़ी स्थिति में रखकर रेल से पासाडेना

**२०० इंची दूरदर्शक का विशेष विवरण**

(१) दूरदर्शक की बृहत् नली का निचला सिरा। यहीं एक लटकते हुए मंच पर वेध करनेवाले के बैठने का स्थान है। (२) दूरदर्शक के विविध भागों को घुमाने-फिरानेवाला यंत्र यहीं एक स्थान पर खड़े-खड़े केवल बटन दबाकर अपना कार्य करता रहता है। (३) दूरदर्शक की बृहत् नली का ऊपरी सिरा, जिसमें फोटो-प्लेट का नियंत्रण करनेवाले ज्योतिषी के लिए स्थान है। आने-जाने का रास्ता गुंबद की दीवार से नली के सिरे तक एक पुल के द्वारा है।
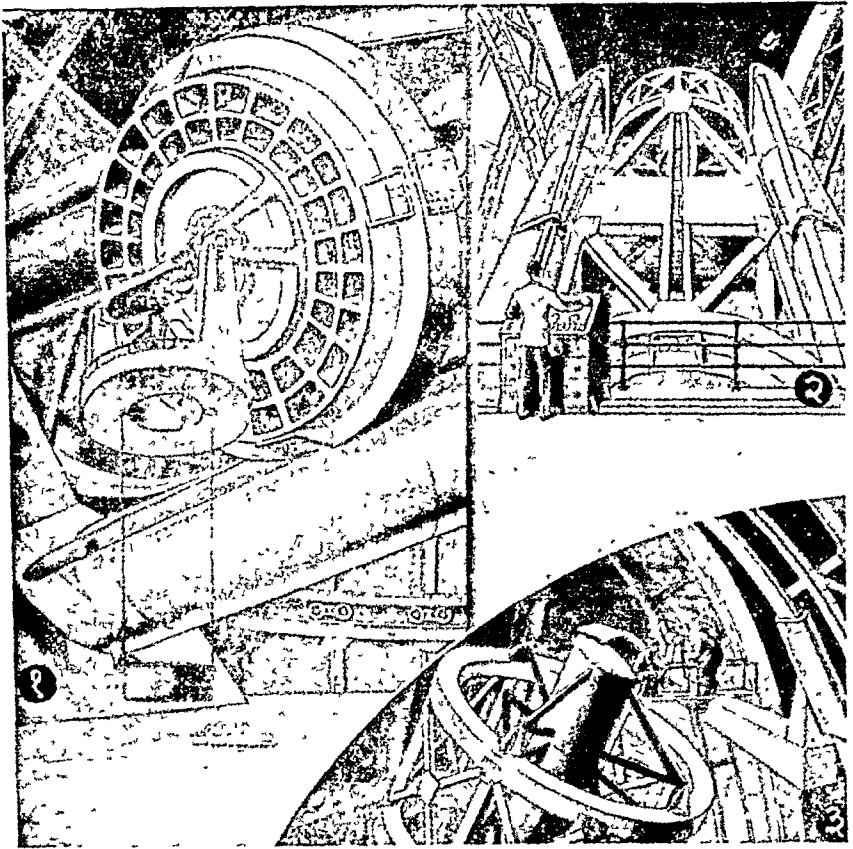
पहुँचाया गया। मार्ग बहुत सोच-विचार कर चुनना पड़ा, क्योंकि कहीं-कहीं तो ऐसी सुरंगें या पुलें पड़ती थीं जिनके भीतर से जाने में केवल एक-दो इंच की ही जगह बचती थी।

वस्तुतः यह सिल्ली ठीक २०० इंच की नहीं, बल्कि २०१ इंच व्यास की है। इसकी एक महीने की घिसाई में एक टन शीशा निकल गया, परन्तु शेष सेर भर शीशे की घिसाई में वर्षों समय लगा!

अंतिम घिसाई और पालिश में बड़ी सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है। कहीं भी शुद्ध परवलयाकार रूप से इंच के लाखवें भाग से अधिक अंतर नहीं रहना चाहिए! यह काम ऐसे मकान में किया गया, जहाँ का तापक्रम बराबर रक्खा जा सकता था। कोई भी व्यक्ति शीशे के बहुत पास नहीं जाता था, क्योंकि शरीर की गरमी से दर्पण के किसी एक भाग के तापक्रम के बढ़ने की आशंका थी, जिससे आकार में अंतर आ सकता था!

आकृति ठीक हो जाने के बाद यह सिल्ली कुल चार इंच मोटी रह गई। इसमें पुश्तों की मोटाई सम्मिलित नहीं थी। इसके मुकाबले में माउंट विल्सन के १०० इंच व्यास वाले दूरदर्शक का दर्पण १३ इंच मोटा है। इस २०० इंची दर्पण के पतला होने के कारण उस पर असम तापक्रमों का प्रभाव कम पड़ेगा। पीठ पर मधुमक्खियों के छत्ते के समान दिखलाई पड़नेवाले पुश्तों से केवल यही लाभ नहीं था कि दर्पण सुदृढ़ रहेगा, बल्कि पीछे के कोष्ठों में इस्पात की अँगुलियाँ रहेंगी, जो दर्पण को कई स्थानों से थोड़ा-थोड़ा सहारा देकर उठाए रहेंगी।

अंत में दर्पण पर अल्युमिनियम की कलई की गई। इसके लिए इसे भीमकाय वायुशून्य कोठे में रखा गया। सब हवा निकाल लेने के बाद बिजली से कोठे के भीतर थोड़ी-सी अल्युमिनियम को इतना गरम किया गया कि वह वाष्प हो गई और सिल्ली पर उसकी बहुत पतली तह चढ़ गई। यह चाँदी की कलई से अधिक चमकीली और स्थाई सिद्ध होगी।

## आरोपण

इधर तो दर्पण की आकृति ठीक की जा रही थी, उधर उसका आरोपण भी तैयार हो रहा था। दूरदर्शक की

नली और उसके गुंबद को छोटा रखने के विचार से दर्पण का नाभ्यंतर (फोकस) अपेक्षाकृत छोटा ही रक्खा गया है। इससे मंद प्रकाश की नीहारिकाओं के फोटो लेने में सहायता होगी। फोटोग्राफी जाननेवाले इस बात को अच्छी तरह समझ सकेंगे। छोटे नाभ्यंतर के कारण इस दर्पण का अपर्चर (छिद्र) फ ३.५ है; जबकि १०० इंचवाले दूरदर्शक का अपर्चर फ ५ है। १०० इंचवाले दूरदर्शक के आरोपण में यह अवगुण है कि उसमें ध्रुव के पास के तारे नहीं देखे जा सकते। परन्तु २०० इंचवाले दूरदर्शक में यह त्रुटि नहीं है, क्योंकि उत्तरी ध्रुव की ओर वाला धुराधार घोड़े की नाल के आकार का बनाया गया है और इस प्रकार बीच के रिक्त स्थान में दूरदर्शक को लाकर ध्रुवतारा भी देखा जा सकता है। निरीक्षण करने वाले ज्योतिषी के लिए इस दूरदर्शक में किसी चौकी की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आरोपण इतना दृढ़ बनाया गया है कि ज्योतिषी बराबर दूरदर्शक में ही बैठा रह सकता है। इसके लिए नली के सिरे पर एक खोखला बेलनाकार गृह बना है। अवश्य ही इससे कुछ प्रकाश रुक जाता है। परंतु यदि यहाँ कोई दर्पण रखा जाता, जैसा अन्य दूरदर्शक में रहता है, तो उससे भी इतना ही प्रकाश कटता।

दूरदर्शक की नली दोनों सिरों पर गोल परंतु बीच में चौकोर है। बीच का भाग २२ फीट × २२ फीट की नाप का है और लंबाई ४४ फीट है। यह बड़े पुलों की तरह इस्पात की धरनों और पत्तरों से बना है। इसका तौल २००० मन है और यह अत्यंत दृढ़ है।

आरोपण का सबसे बड़ा अवयव वह 'धुराधार' है, जो नाल की आकृति का है। इसका व्यास ४६ फीट है और मोटाई है करीब ४ फीट! मशीनों के उस भाग को, जिस पर किसी धुरी का सिरा टिका रहता है 'धुराधार' कहते हैं।
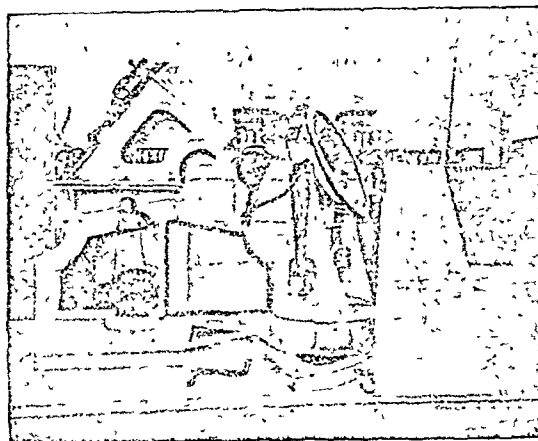
**अट्टालिका-दूरदर्शक का 'सीलोस्टैट' नामक भाग**

पृष्ठ ४५ पर 'अट्टालिका-दूरदर्शक' नामक एक विशेष प्रकार के दूरदर्शक का चित्र दिया गया है, जो सूर्य का अध्ययन करने में सहायक होता है। प्रस्तुत चित्र में उस यंत्र का 'सीलोस्टैट' नामक भाग दिग्दर्शित है।

संसार भर की किसी भी मशीन में इतना बड़ा धुराधार नहीं लगा है, जितना यहाँ! सारी दुनिया में केवल एक ही मशीन थी, जिस पर इतने बड़े धुराधार को चढ़ाकर खरादा और चिकना किया जा सकता था और वह थी पिट्सबरा नामक स्थान में। वहीं पर यह भाग बना। इसकी सतह गणित-सिद्ध आकार से कहीं भी ०.०००३ इंच से अधिक अशुद्ध नहीं है। यह अशुद्धि इतनी न्यून है कि बिना अच्छे सूक्ष्मदर्शक यंत्र के इसका पता ही नहीं चल सकता। ऐसी सच्चाई केवल अच्छी घड़ियों में ही देखने में आती है!

दूरदर्शक के चल भाग का तौल लगभग १२००० मन है, इसलिए उसको सचाई से चलाने के लिए यह अत्यंत आवश्यक था कि किसी प्रकार घर्षण की मात्रा बहुत कम कर दी जाय। बहुत अनुसंधान के बाद यही निश्चय हुआ कि बॉल-बेयरिंग या पारे में तैरते हुए ढोलों का उपयोग न करके तेल की गद्दियों का उपयोग किया जाय। इस योजना के अनुसार प्रत्येक गद्दी के बीच में एक छेद रक्खा गया है। इस छेद से लगभग २५० पाउंड प्रति वर्ग इंच के चाप (दबाव) से तेल बराबर निकला करता है। इस प्रकार वस्तुतः दूरदर्शक का अधिकांश बोझ तेल पर उठा रहता है। फलतः यह इतनी सुगमता से घूम सकता है कि नली को पकड़कर घुमाने में कुल उतना ही बल लगता है जितना २ सेर बोझ उठाने में! यदि बॉल-बेयरिंग का उपयोग किया जाता तो इससे लगभग साढ़े चार सौ गुना बल लगाना पड़ता।

## चालक घड़ी और सहायक यंत्र

साधारण दूरदर्शकों को चलाने के लिए घड़ियाँ लगी रहती हैं, परंतु २०० इंच वाला दूरदर्शक बिजली की मोटर से चलता है, जिसके वेग का शासन स्फटिक के 'क्रिस्टल आसिलेटर' नामक यंत्र से होता है। उसमें एक सेकंड में ५०,००० बार दोलन होता है। पृथ्वी के वायुमंडल के कारण उत्पन्न विचलनों
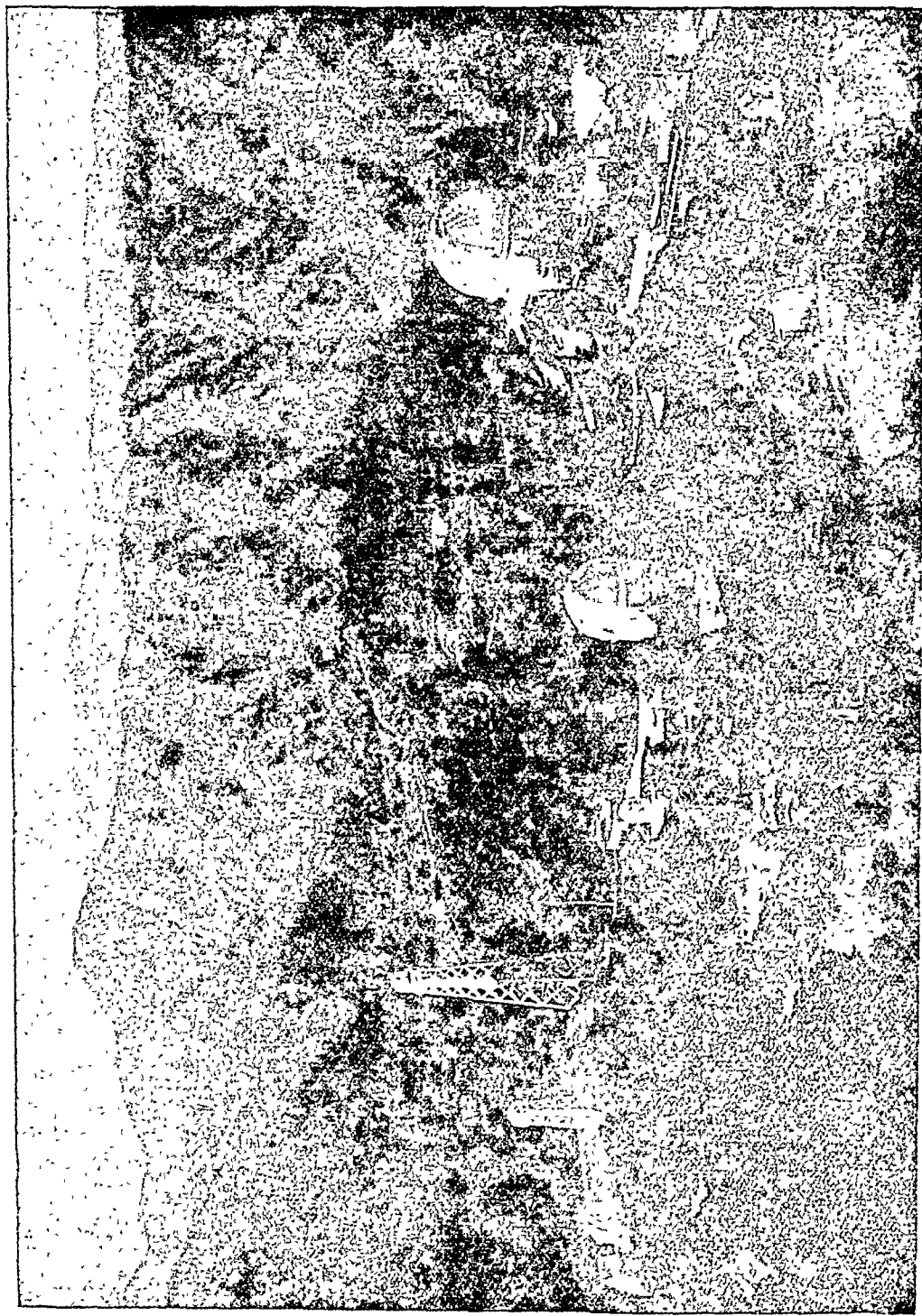
अमेरिका की प्रसिद्ध 'माउंट विल्सन वेधशाला' का विहंगम दृश्य

दाहिनी ओर के विशाल गुंबदवाले भवन मे महान् १०० इंची दूरदर्शक प्रस्थापित है। बाईं ओर लंबी मीनारा जैसे अट्टालिका-दूरदर्शक है।

और अन्य दोषों के निवारण के लिए एक अत्यंत आश्चर्य-जनक यंत्र बनाया गया है, जो आपसे आप वेग को आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक कर देता है। गुंबद भी उचित वेग से घूमता हुआ चलता है। दूरदर्शक की सहायता के लिए तरह-तरह के युक्तिपूर्ण यंत्र बनाये गए हैं, पर उनका वर्णन यहाँ संभव नहीं हैं। केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इन यंत्रो में विद्युत्-संचालन के लिए कुल १०० मील लंबा तार लगा है!

सहायक दर्पणों के उपयोग से प्रधान दर्पण का नाभ्यंतर तीन गुना और नौ गुना तक बढ़ाया जा सकता है। इसके लिए प्रधान दर्पण के बीच में ४० इंच व्यास का छेद कर दिया गया है। प्रधान दर्पण पर पड़नेवाला प्रकाश ऊपर जाकर नली के सिरे पर रखे उन्नतोदर दर्पण पर पडता है। वहाँ से वह प्रकाश फिर प्रधान दर्पण की ओर लौटता है और बीचवाले छेद के मार्ग से बाहर निकल आता है। वही आकाशीय पिंड का प्रतिबिंब बनता है। तीव्र प्रकाशवाले आकाशीय पिंडों का फोटो खीचने के लिए यही प्रबंध अधिक उत्तम पड़ता है। वर्णपट-चित्रण के लिए प्रकाश को गौण दर्पणों की सहायता से खोखली धुरी के भीतर से निकाल लाते है। ये दर्पण ऐसी स्थितियों में रहते है कि अंत मे प्रकाश बराबर एक ही दिशा से आता है, चाहे पिंड आकाश के किसी कोने में हो।

सब नवीन डिजाइनों की जाँच पहले से ही कर ली गई थी, इसके लिए पहले दशमांश पैमाने पर दूरदर्शक का एक नमूना भी बना लिया गया था और उसके अनुभव के आधार पर सोचे गए डिजाइनों में कई एक परिवर्तन करने पडे थे। पृष्ठ ४६ पर उसका चित्र दिया गया है।

## दूरदर्शक-गृह

बड़े दूरदर्शक के संस्थापन के लिए उचित स्थान को बड़ी सावधानी से चुनना पड़ता है। निर्वाचित स्थान का वायुमंडल बारहो मास अत्यंत स्वच्छ रहना चाहिए। बादलों से भी कोई रुकावट नही पड़नी चाहिए। तापक्रम में, दिन और रात, या जाड़े और गरमी में, विशेष अंतर नही पड़ना चाहिए। पास में कोई ऐसा शहर नही रहना चाहिए जिसके प्रकाश से रात्रि के समय मंदतम तारों के देखने मे कोई असुविधा हो। साथ ही, यह गृह ऐसे बीहड़ स्थान में भी नही होना चाहिए जहाँ आवश्यक सामग्री के पहुँचने में कठिनाई हो। यह स्थान भूमध्य-रेखा से बहुत दूर नही रहना चाहिए, क्योंकि बहुत उत्तर या दक्षिण के स्थानों से विपरीत गोलार्द्ध के तारों का अधिकांश दिखलाई नही पड़ता। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए पाँच वर्षों की खोज के बाद माउंट पालोमर नामक स्थान इस महान् यंत्र की प्रस्थापना के लिए चुना गया। यह स्थान समुद्र से ५,६०० फीट की ऊँचाई पर है और पासाडेना से १२५ मील की दूरी पर स्थित है।

इस दूरदर्शक-गृह का गुंबद चौदह मंजिले मकान के बराबर ऊँचा है। गरदी-गरमी से विशेष रक्षा करने की शक्ति प्रदान करने के लिए गुंबद दोहरा बनाने की योजना की गई है। इन दोनों गुंबदों के बीच ४ फीट की जगह है। दोनों गुंबद अल्युमिनियम के रंग से रंगे गये हैं, जिसमें वे धूप से अधिक गरम न हो पायें। गुंबद की तौल लगभग २५ हजार मन कूती गई है। तो भी यह इतनी आसानी से घूमता है कि उसमें जरा भी थरथराहट नहीं उत्पन्न होती। यह मोटर-लारियों की तरह चार-चार पहिए-वाली ३२ गाड़ियों पर आश्रित है। ये गाड़ियाँ पूर्णतया समतल पटरियों पर चलती है। इनको चलाने के लिए नवीन ढंग का उपयोग किया गया है। साढ़े सात-सात अश्वबल की चार मोटरें हवा-भरे रबड़ के पहिए चलाती हैं। ये पहिए गुंबद को दबाए रहते हैं और जब पहिए घूमते हैं तो गुंबद भी घूमता है। इस प्रकार गुंबद इतनी सुगमता और शांति से घूमता है कि बिना सूक्ष्म जाँच के पता ही नहीं चलता कि वह चल रहा है या नहीं।

दूरदर्शक-गृह की निर्माण-योजना में दर्शक जनता का भी ध्यान रखा गया है। इस हेतु गुंबद के भीतर शीशे से बंद एक दरवाजा लगाने की योजना की गई है, जिसके भीतर से लोग दूरदर्शक और इसके कार्य को प्रायः हर घड़ी देख सकते हैं। भीतरी दीवारो पर ऐसे चित्र बने हैं, जिनसे लोग समझ सकते है कि वहाँ कैसे और क्या काम होता है।

इतिहास में हमे मिस्र के पिरामिड, बैबिलान के गगन-चुंबी उद्यान आदि प्राचीन युग के सप्त आश्चर्यो का उल्लेख मिलता है। वे आश्चर्य जब रहे होंगे तब रहे होंगे, परन्तु यदि आज के युग के महान् आश्चर्यो की कोई तालिका बनाई जाय तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि माउंट पालोमर के इस महान् यंत्र का स्थान उसमें सुनिश्चित रहेगा। निस्संदेह यह दूरदर्शक आधुनिक विज्ञान की महान् शक्ति का द्योतक है। इससे चंद्रमा इतना बड़ा दिखलाई देता है, मानों वह २४ मील पर हो! इससे अरबों-खरबों नए तारे दिखलाई पड़ेंगे और लाखों नवीन नीहारिकाएँ मनुष्य की दृष्टि-परिधि में आ सकेगी। कौन कह सकता है कि अन्त में इससे क्या-क्या नवीन परिणाम निकलेंगे।
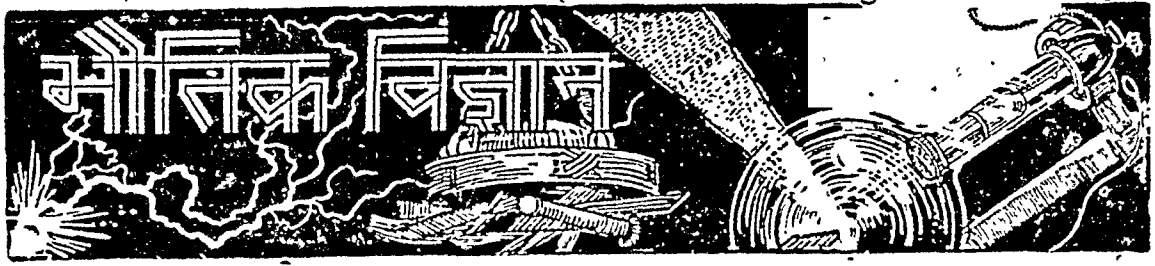
# रहस्यमय जगत्

**उन प्राकृतिक शक्तियों का विवेचन, जिनसे इस विशाल विश्व की रचना हुई है और जिनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सृष्टि का संचालन होता है।**

नित्य ही तरह-तरह की घटनाएँ हमें चारों ओर देखने को मिलती हैं। कभी आसमान में बादल छा जाते हैं, तो कभी बिजली कौंधती है। कभी तो इतनी गर्मी पड़ती है कि पंखे के नीचे भी चैन नहीं मिलता, तो कभी इतनी ठंडक कि लिहाफ के भीतर भी हमारे दाँत कटकटाते हैं। तो ये बादल आते कहाँ से हैं? क्या सचमुच इन्द्रदेव इन्हें हमारे पास पुरस्कार-स्वरूप भेजते हैं? वर्षा एक खास ऋतु में ही क्यों होती है? बिजली क्या इसीलिए कौंधती है कि देवराज इन्द्र क्रुद्ध होकर वज्र-प्रहार करते हैं? निस्संदेह प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के मन में इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं। स्वभावतः हम जानना चाहते हैं कि क्यों जेठ की धूप में रक्खी हुई लोहे की कुर्सी इतनी तपने लगती है कि उस पर बैठना असंभव हो जाता है, जब कि उसी की बाजू में रक्खी हुई लकड़ी की तिपाई गर्म नहीं हो पाती? क्यों गर्म चाय डालने से शीशे की गिलास टूट जाती है, जब कि काँसे की गिलास में ठंडी-गर्म हर प्रकार की वस्तुएँ पी जा सकती हैं? नंगे पैरों बिजली के तार छूने पर हमें जोर का झटका क्यों लगता है, जबकि लकड़ी की खड़ाऊँ पहनकर उस तार को हम निरापद छू सकते हैं? गर्मी के दिनों में कंघी करने समय बालों से चिनगारियाँ क्यों निकलने लगती हैं?
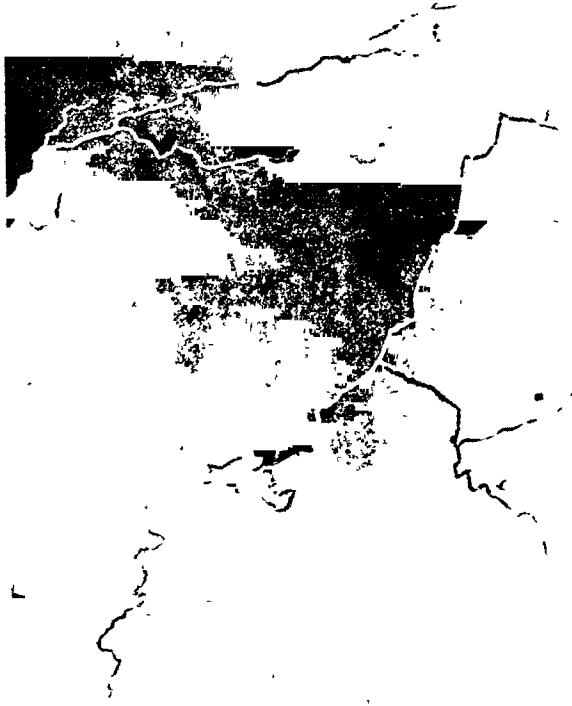
**आकाश में विद्युत् की चमक**

क्या सचमुच बिजली इसलिए कौंधती है कि इन्द्र क्रोधित होकर वज्र-प्रहार करते हैं? पौराणिक दंतकथाएँ और लोक-विश्वास इस प्रश्न का उत्तर चाहे जो भी दें, इसका समाधान वस्तुतः भौतिक विज्ञान के ही पास है।

## विविध परिस्थितियों में पदार्थों का विविध प्रकार का वर्त्ताव

इस प्रकार के सैकड़ों प्रश्न हमारे मन में उठते हैं और हजारों वर्षों से लोग इन प्रश्नों का समाधान ढूंढने का यत्न कर रहे हैं। बाह्य जगत् की अनोखी समस्याओं के प्रति मनुष्य ने प्राचीन काल से ही गहरी अभिरुचि दिखाई है। वह देखता है कि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ एक सी ही परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्त्ताव करती

है। मेज पर बर्फ रख दीजिए, तो गलने के पहले तक वह ज्यों-की-त्यों मेज ही पर पड़ी रहेगी। किन्तु पानी मेज पर डालिए, तो वह समूची मेज पर फैलकर नीचे जा गिरेगा। और पानी की भाप तो और भी हमारे बस में नहीं आती। खौलते हुए पानी की देगची का ढक्कन उठा लीजिए। तुरन्त ही भाप कमरे में चारों ओर फैलने लगेगी। फिर भी आप जानते हैं कि बर्फ, पानी और भाप वास्तव में एक ही चीज के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसी तरह जाड़े के दिनों में घी जमकर पत्थर-जैसा कड़ा हो जाता है, किन्तु धूप दिखाने पर वही पिघलकर पानी जैसा बन जाता है और आग पर चढ़ा देने पर तो वाष्परूप में भी परिवर्तित होने लगता है। तो क्या संसार की सभी वस्तुएँ पानी ही की तरह अनिवार्य रूप से तीनों रूप—ठोस, द्रव और वाष्परूप—धारण कर सकती हैं ? श्वास लेने के लिए हम हवा का प्रयोग करते हैं, तो क्या हवा भी समुचित परिस्थितियों में पानी की तरह द्रव रूप धारण कर बोतलों में से उँडेली जा सकती है ? तब तो हमारा यह कहना कि लोहा ठोस पदार्थ है और पारा द्रव, एक प्रकार से सही नहीं है, क्योंकि वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि दुनिया के सभी ठोस पदार्थ गर्म किये जाने पर द्रव या वाष्परूप में परिणत किये जा सकते हैं। किसी भी द्रव पदार्थ को लीजिए, उसमें थोड़ी ठंडक पहुँचाइए और उस पर जरा दबाव डालिए, बस, फौरन् ही वह ठोस बन जायगा। उदाहरण के लिए, आप दूध को आइसक्रीम की मशीन में डालते हैं, दूध के डिब्बे के चारों ओर बर्फ भरी रहती है। मशीन घुमाने पर बर्फ की ठंडक दूध में पहुँचती है और फौरन् आपकी आइसक्रीम जम जाती है।

## पदार्थों का रहस्य जानने की उत्कंठा

निस्सन्देह हम अपने आसपास की चीजों में तरह-तरह का आश्चर्य भरा हुआ पाते हैं। प्रयोगशालाओं के भीतर अनूठे यंत्रों की सहायता से वैज्ञानिक लोग बाह्य जगत् के इसी रहस्य का अध्ययन करते हैं। मनुष्य वास्तव में यह जानना चाहता है कि सैकड़ों-हजारों तरह की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ जो हमें संसार में दिखाई देती हैं, आखिर उनके पीछे मूल तत्त्व क्या है ? चाकू, कलम, घड़ी, मोटर-कार आदि को मनुष्य ने कारखानों में बनाया है, किन्तु लोहा, लकड़ी, पानी, वायु आदि का निर्माण कैसे हुआ ? क्या उनके मूल तत्त्वों में किसी प्रकार की समानता है ? प्राकृतिक रूप में जितनी वस्तुएँ पाई जाती हैं, क्या वे अलग-अलग मसाले से बनी हैं या एक ही मूल तत्त्व से ?

## पौराणिक कहानियाँ

आज से हजारों वर्ष पहले भी, जब मानव समाज अपनी शैशवावस्था से होकर गुजर रहा था, मनुष्य ने इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने का यथाशक्ति प्रयत्न किया था। शायद तभी विज्ञान की नींव पड़ चुकी थी। उन दिनों लोगों के पास यंत्र न थे, इसलिए केवल अपनी इंद्रियों की सहायता से ही उन्हें प्रकृति का अध्ययन करना पड़ता था। अमुक वस्तु गर्म है या ठंडी, यह जानने के लिए उन्हें उस चीज को हाथ से छूना पड़ता था, क्योंकि तब उनके पास आधुनिक युग के तापमापक यंत्र न थे। यही कारण है कि उनका प्रकृतिज्ञान प्रायः अधूरा और गलत होता था। अनेक बातें उनकी समझ में ही नहीं आती थीं, फलस्वरूप वे मान बैठे थे कि प्रकृति रहस्यमय है। इस रहस्य को समझाने के लिए प्राचीन काल के विद्वानों ने तरह-तरह की पौराणिक कहानियों की रचना कर डाली। पृथ्वी कहाँ पर कैसे टिकी हुई है इसका ठीक-ठीक जब वे पता न लगा सके, तो उन्होंने कल्पना की कि एक विशाल नाग—शेषनाग—के फण पर वह रक्खी हुई है और जब कभी शेषनाग अपने फण हिलाते हैं तब वह हिल उठती है, जिससे भूचाल आता है। किंतु इन पौराणिक कहानियों को सच मानकर लोगों ने संतोष कर लिया हो, यह बात भी नहीं थी। प्रकृति के रहस्योद्‌घाटन का कार्य निरंतर जारी ही रहा। लोगों ने एक-एक करके पौराणिक कहानियों की निस्सारता देखी। कालांतर में वैज्ञानिकों ने कल्पना की ऊँची उड़ानें न उड़कर वास्तविकता की कठोर भूमि पर चलना सीखा। भौतिक विज्ञान का नवीन युग इसी जमाने से आरंभ होता है।

## विज्ञान का जन्म

हर एक नया प्रश्न, हर एक नई समस्या अब प्रयोग की कसौटी पर कसी जाने लगी। इस प्रकार कोरे अनुमान के दलदल से विज्ञान बाहर निकला। प्रयोग और शुद्ध तर्क इन दोनों की सहायता से विज्ञान ने दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक्की की। प्रकृति का प्रत्येक कार्य नियमित सिद्धांतों के अनुसार होता है, इस अखंड सत्य का आभास मनुष्य को मिला। अतः प्रकृति के नियमों की उसने पूरी जान-कारी प्राप्त की और इस जानकारी से पूरा लाभ उठाया। इन नियमों के आधार पर उसने तरह-तरह के यंत्र बनाये और अपनी इंद्रियों की शक्ति बढ़ाने में इनका प्रयोग किया। नेत्र की जहाँ पहुँच नहीं थी, वहाँ के लिए सूक्ष्मदर्शक और दूरदर्शक यंत्रों का निर्माण किया। कान जिन शब्दों को

ग्रहण नहीं कर पाते थे, उनको सुनने के लिए भी बढ़िया यंत्र बनाये। इस प्रकार अपनी निरीक्षण-शक्ति बढ़ाकर वैज्ञानिकों ने प्रकृति से घना संसर्ग पैदा किया। प्रकृति का भेद जान लेने के उपरान्त उन्होंने उसे अपने वश में करने का भी सफल प्रयत्न किया। ऊँचे-ऊँचे झरनों से उन्होंने बिजली उत्पन्न की और उसे अपने घर में लाकर उससे दिया-बत्ती का काम लिया, चूल्हा गर्म कराया, यहाँ तक कि घर की चक्की भी उसी से चलवाई।

## भौतिक और रसायन विज्ञान

पदार्थ-जगत् इतना विस्तृत है कि इसकी वैज्ञानिक मीमांसा करने के लिए विद्वानों को इसे दो विभागों में बाँटना पड़ा है। पदार्थ के बहिर्देश में जितने परिवर्तन होते हैं उनका—रूप, ताप, रंग, भारीपन तथा अन्य बातों का, जिनका ज्ञान हम इंद्रियों अथवा यंत्रों द्वारा कर सकते हैं—अध्ययन करना भौतिक विज्ञान के जिम्मे है। उधर पदार्थ के मूल तत्त्व क्या है, एक पदार्थ एकदम दूसरे पदार्थ में कैसे परिवर्तित हो जाता है, क्या हजारों-लाखों चीजें, जो हमें संसार में दिखाई पड़ती हैं, सभी वास्तव में भिन्न-भिन्न पदार्थों से बनी हैं, अथवा संसार में केवल सौ-पचास ही मूल पदार्थ हैं, जिनके आपस के हेर-फेर से हम तरह-तरह की अनगिनत चीजें बना लेते हैं—इनका उत्तर रसायन विज्ञान देता है।

**द्रव्य के तीन रूप**

वायुरूपी बादल, शिलारूपी बर्फ और लहराते जल के रूप में एक ही पदार्थ के वायव्य, ठोस और तरल ये तीन भिन्न रूप हमें प्रकृति ही में देखने को मिल सकते हैं।

इस प्रकार मनुष्य के मन में एक नये आत्म-विश्वास का आविर्भाव हुआ। अज्ञानवश जिन वस्तुओं को वह समझ नहीं पाता था, जिनसे वह डरता था, उन्हीं को पूर्णतया उसने अपने वश में कर लिया। प्रकृति के सामने वह नगण्य नहीं है, इस बात का अनुभव वह अब करने लग गया।

वैज्ञानिक अनुसंधान के रास्ते में खोज करनेवाले को एकाग्र मन और शक्ति से काम करना होता है। प्रयोगशालाओं के भीतर वह रात-रात भर जागता है। यंत्रों की खुटखुट में उसे खाने-पीने तक की सुध नहीं रहती। उसे ओस की परवा नहीं होती और शायद ठंड भी उसे नहीं लगती। ऐसी अद्भुत लगन अन्यत्र आपको शायद ही मिलेगी। वैज्ञानिक की यह कठिन तपस्या सदैव सफल ही होती हो यह बात भी नहीं है। अनुसंधान के क्रम में वैज्ञानिकों ने भूलें भी की हैं, और इस कारण कभी-कभी उन्हें पीछे भी हटना पड़ा है। किन्तु वे हताश कभी भी नहीं हुए।

परन्तु इस वर्गीकरण से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि विज्ञान की ये दो शाखाएँ परस्पर-विरोधी हैं। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। भौतिक और रसायन विज्ञान दोनों ही पदार्थ का निरीक्षण करते हैं, केवल उनके दृष्टिकोण में अंतर है। एक का संबंध बाह्य रूपरंग से है, दूसरा पदार्थ के भीतर की बातों का पता लगाता है। अतः भौतिक और रसायन विज्ञान वास्तव में दो भिन्न-भिन्न विद्याएँ नहीं हैं।

ये दोनों शास्त्र बहुत दूर तक अलग-अलग नहीं चलते। आगे बढ़ने पर दोनों ही प्रकृति के मूल सिद्धांतों पर आ पहुँचते हैं, और तब भौतिक और रसायन विज्ञान के बीच की विभाजक रेखा मिट-सी जाती है। सच तो यह है कि प्रकृति के रहस्योद्घाटन के लिए दोनों ही हाथ में हाथ मिलाकर अनुसंधान के पथ पर चलते हैं। रसायन विज्ञान हमें बताता है कि कुल १०१ मूल तत्त्व इस संसार में पाये जाते हैं। इन्हीं में से कुछ को लेकर मनुष्य, पेड़-पौधे, आसमान के तारे, सूर्य, चंद्रमा, नदी, तालाब और हमारे काम की सभी चीजें बनी हैं। और भौतिक विज्ञान बताता है कि इन १०१ मूल तत्त्वों का पारस्परिक संबंध क्या है। किस प्रकार ये गरम और ठंडे होते हैं? उनमें से कुछ यदि हल्के हैं तो कुछ भारी क्यों जान पड़ते हैं? प्रकाश क्या वस्तु है? उसके संचालन के क्या नियम हैं? लोहे में चुम्बकीय शक्ति कहाँ से आ गई? इन मौलिक पदार्थों का वजन, उनका आकार कैसा है? क्या मौलिक पदार्थों के अवयव में आकर्षण-शक्ति मौजूद है? विद्युत् और चुम्बकीय शक्तियों का इन अवयवों पर कैसा प्रभाव पड़ता है? आदि, आदि।

## अणु-परमाणुओं की रहस्यमय दुनिया

वैज्ञानिकों का कथन है कि मूल तत्त्वों के अवयव गेंद की भाँति ठोस नहीं होते, वरन् उनके भीतर अधिकांश भाग एकदम खोखला रहता है। जिस प्रकार सूर्य के आस-पास पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति आदि ग्रह चक्कर लगाते हैं, उसी तरह अवयवों के भीतर भी एक केंद्रीय नाभिक के चारों ओर इलेक्ट्रान चक्कर लगाया करते हैं। इन इलेक्ट्रान की गति भी अत्यंत तीव्र होती है। पदार्थों के अवयवों के खोखलेपन का यह हाल है कि यदि समूचे संसार के पदार्थों को मींजकर हम इस तरह इन अणु-परमाणुओं को एक दूसरे से मिला दें कि सूक्ष्म से सूक्ष्म खाली जगह भी उनमें शेष न रहे तो अंत में उस समूचे घनीभूत पदार्थ से आकार में हमें मात्र एक छोटी-सी नारंगी के बराबर का ही पिण्ड मिलेगा!

अणु-परमाणुओं की दुनिया में प्रवेश किये हुए अभी वैज्ञानिकों को सौ वर्ष भी नहीं हो पाये हैं, किंतु इतने अल्पकाल में ही आश्चर्यजनक रहस्यों का पता उन्होंने लगा लिया है। आज जहाँ दूरदर्शक के द्वारा इस सृष्टि के व्यापक महान् रूप के अनंतत्व का आभास उन्होंने पा लिया है, वहाँ
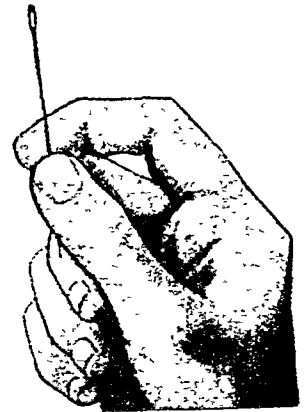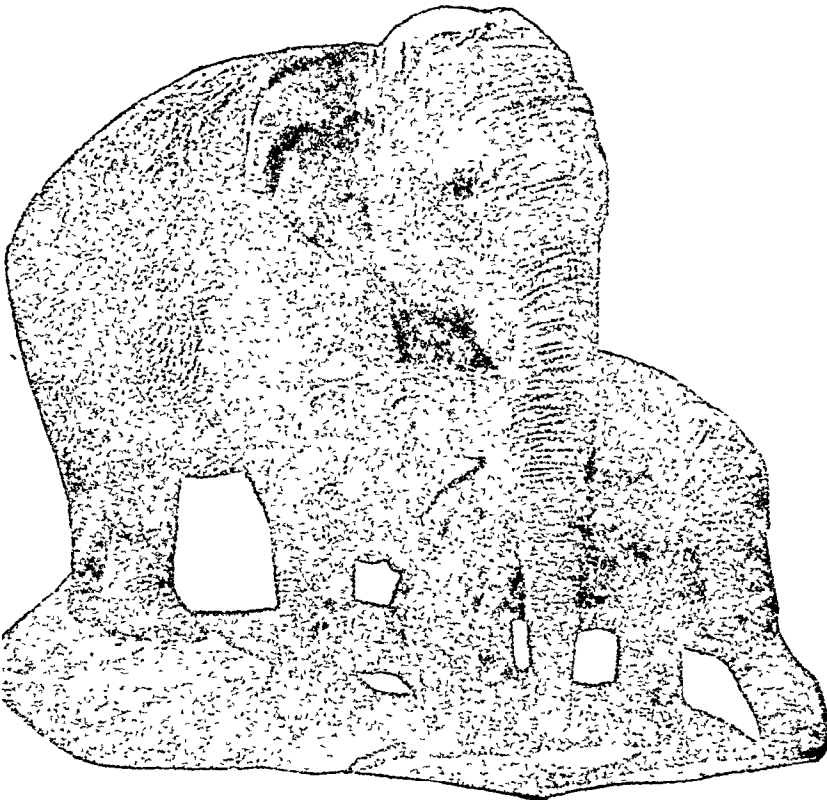
**द्रव्य का खोखलापन**

पदार्थों के अवयवों के खोखलेपन का यह हाल है कि यदि इस हाथी और उसके बच्चे के शरीर के परमाणुओं को सम्पूर्णतया मींजकर एक दूसरे में मिला दिया जा सके तो केवल इतना द्रव्य रहेगा जो एक सुई के छेद में से निकाला जा सकेगा!

सूक्ष्मदर्शक द्वारा इस अद्भुत् विश्व के सूक्ष्म रूप अणु-परमाणुओं के अनंतत्व की एक झलक दिखाकर वे हमें चक्कर मे डाल रहे है। यही नहीं, अणु-परमाणुओं के उस रहस्यलोक में प्रविष्ट हो मनुष्य प्रकृति के अगाध शक्ति-भंडार को हथियाने के अपने चिरसंचित स्वप्नो को भी आज सच बनाने जा रहा है। उसके हाथ मानों पारस पत्थर लग गया है। अब उसे पूर्ण आशा है कि निकट भविष्य ही मे वह सभी मूल तत्त्वों को एक दूसरे में परिणत कर सकेगा।

# गुरुत्वाकर्षण-शक्ति

**उस अद्भुत रहस्यमय शक्ति का परिचय, जिसके पाश में साधारण अणु-परमाणु से लेकर विशाल ग्रह-नक्षत्र तक विश्व की सभी वस्तुएँ बँधी हुई है।**

हम सब इस बात का अनुभव करते है कि पृथ्वी से हम मानों बँधे हुए है। पृथ्वी पर हम चारो ओर घूम सकते है। पहाड़ों पर भी ऊँचे चढ सकते है। गुब्बारों की सहायता से मीलों ऊपर आकाश मे हम जा सकते है। किंतु स्वयं पृथ्वी मे नाता तोड़कर हम दूर भाग नहीं सकते। जमीन से ऊपर ५-६ फीट तक हम कूद सकते है। पर फिर नीचे आ गिरते है। गुब्बारे और हवाई जहाज में बैठकर आकाश में दो-चार मील ऊपर तक हम चढते है। किंतु हमें फिर बरबस जमीन पर ही आना पडता है।

### पृथ्वी के साथ हमारा अनोखा बंधन

जीवधारी ही नही, वरन् निर्जीव पदार्थो की भी यही दशा है। जोर लगाकर ढेला आसमान में फेंका जाय तो कुछ दूर जाकर वह भी नीचे ही को गिरता है। तोप से गोला छूटने पर आकाश में मीलों ऊपर पहुँच जाता है, किंतु वह भी जमीन ही पर वापस आ गिरता है। कोई भी वस्तु पृथ्वी के बंधन को तोड़कर भाग नहीं सकती। रस्सी में लोहे का टुकड़ा बाँधकर मेज पर से नीचे खिसका दीजिए। लोहा एकदम नीचे आ गिरेगा, साथ ही रस्सी भी तन उठेगी, मानों जमीन के अंदर से कोई शक्ति उस लोहे के टुकडे को अपनी ओर खीच रही हो। रबर की गेटिस को जोर से खींचिए, तो बढकर वह लंबी हो जायगी। अब पुन: उसके एक सिरे पर ढेला बाँधकर लटकाइए। इस अवस्था में भी रबड़ की गेटिस बढ़ जाती है, मानों कोई अदृश्य शक्ति इसे भी नीचे पृथ्वी की ओर खीच रही है! यदि आप सीधे ऊपर को गेंद उछालें तो वह ज्यों-ज्यों ऊपर जायगी, उसकी गति कम होती जायगी। यहाँ तक कि एक विशेष ऊँचाई पर उसकी गति एकदम शून्य हो जायगी, और अब इसके उपरांत गेंद सीधे नीचे की ओर लंबवत् गिरने लगेगी, मानो किसी अदृश्य लचकीली डोर द्वारा कोई उसे पृथ्वी पर से खीच रहा हो!

यह आकर्षण-शक्ति पृथ्वी के धरातल की वस्तुओ तक ही सीमित नही है, वरन् हजारो मील दूर के चद्रमा पर भी यह शक्ति काम करती है। पृथ्वी के चारों ओर चंद्रमा २,२८७ मील प्रति घटा की गति से परिक्रमा कर रहा है। अत. जिस तरह रस्सी में ढेला बाँधकर घुमाने से ढेला रस्सी को तुड़ाकर दूर भागने की कोशिश करता है, उसी तरह चंद्रमा भी तीव्र गति से घूमने के कारण दूर भागना चाहता है, किंतु पृथ्वी उसे अपनी जबर्दस्त आकर्षण-शक्ति की सहायता से बाँधे हुए है। गणितज्ञों ने हिसाब लगाया है कि आज यदि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति दैवयोग से लुप्त हो जाय तो पूर्ववत् पृथ्वी के चारो ओर परिक्रमा कराने के लिए चंद्रमा को पृथ्वी से ३७० मील चौड़े लोहे के डंडे द्वारा बाँधना होगा! केवल पृथ्वी ही चंद्रमा को अपनी ओर खीचती हो, सो बात नही है। उधर चंद्रमा भी पृथ्वी को अपनी ओर खीचता है। ज्वार-भाटा इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह आकर्षण-शक्ति पृथ्वी और चंद्रमा तक ही सीमित नही है, वरन् सभी आकाशीय पिण्डो और पदार्थों में यह शक्ति मौजूद है। इस सर्वव्यापी आकर्षण-शक्ति को 'गुरुत्वाकर्षण' कहते है। सूर्य और पृथ्वी के बीच भी यही आकर्षण-शक्ति काम करती है।

वास्तव मे यह आकर्षण-शक्ति है क्या, इस गूढ प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन है। वैज्ञानिकों ने अनुसंधान करके इसका पता तो लगा लिया है कि यह रहस्यमय शक्ति किन विशेष नियमों से आबद्ध है; किंतु इस शक्ति के मूल में कारण क्या है, इसका उत्तर वे अभी तक नही ढूँढ़ पाये हैं। कदाचित् भविष्य में वैज्ञानिक इसका भेद पा लें।

## न्यूटन की युगान्तरकारी खोज

दो वस्तुओं के बीच की दूरी चाहे एक-आध इंच हो या दो-चार लाख मील, हर हालत में उनके बीच आकर्षण-शक्ति काम करेगी। हाँ, दूरी के बढ जाने से यह आकर्षण-शक्ति कम अवश्य हो जाती है। परस्पर का यह आकर्षण वस्तुओं के भार और उनके बीच की दूरी पर निर्भर रहता है। यूनानी दार्शनिकों ने पदार्थों के परस्पर के आकर्षण की कुछ थोड़ी-बहुत कल्पना तो की थी, किंतु उनके विचार कल्पना के जगत् से आगे न बढ सके। तब केप्लर नामक वैज्ञानिक सौर परिवार के ग्रहों की गति का विश्लेषण करने के उपरात इस नतीजे पर पहुँचा कि सूर्य अपने सभी ग्रहों को अपनी ओर खीचता है। विज्ञान के क्षेत्र में पहली बार इस आकर्षण-शक्ति की व्यापकता को पहचानने का श्रेय वस्तुत: सर आइजक न्यूटन को प्राप्त है। बगीचे में पेड़ पर से फल को नीचे गिरते देखकर सहसा न्यूटन के मन में जिज्ञासा उठ खड़ी हुई कि ऐसा क्यों होता है ? क्यों फल पेड़ ही पर टिका नही रह जाता ? वह कौन-सी शक्ति है, जो उसे खींचकर जमीन पर गिरा देती है ? यही नहीं, सभी चीजें इसी तरह खिचकर जमीन की ओर क्यों गिरती है ? क्या पृथ्वी ही इन सब वस्तुओं को अपनी ओर खीचती रहती है ? इन्ही प्रश्नों की उधेड़बुन में न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के उस महान् सिद्धान्त की खोज की, जिसके फलस्वरूप विज्ञान के क्षेत्र में एक नवीन युगान्तर हो गया। वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित इस गुरुत्वाकर्षण-शक्ति की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की जा सकती है— "विश्व का प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे को अपनी ओर खीचता है। यह आकर्षण-शक्ति पदार्थों के द्रव्य की मात्रा के अनुपात में बढती है और उनके बीच की दूरी के वर्ग के अनुपात में कम होती है।"

**महान् वैज्ञानिक न्यूटन**

जिसने पेड़ पर से फल को गिरते देखकर गुरुत्वाकर्षण के महान् सिद्धान्त की सर्वप्रथम खोज की।

उपरोक्त नियम की सत्यता की जाँच अच्छी तरह की गई है। मनुष्य की प्रयोगशालाओं से लेकर प्रकृति की प्रयोगशाला तक सब कही यह नियम लागू होता है। सूर्य के चारों ओर भिन्न-भिन्न ग्रह अपनी कक्षा में इसी शक्ति के भरोसे टिके हैं। सौर परिवार के सदस्य ही नहीं, वरन् आकाश के अन्य पिण्ड और नक्षत्र भी एक दूसरे से आकर्षण-शक्ति द्वारा आबद्ध हैं। थोड़े में हम कह सकते हैं कि हमारे ब्रह्माण्ड को यही शक्ति सँभाले हुए है।

## भार क्या चीज है ?

इसी नियम के अनुसार आम पेड़ पर से टूटते ही जमीन पर आ गिरता है। यदि ध्यानपूर्वक हम देखे तो पायेंगे कि पदार्थों के भार का मूल कारण भी पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति ही है। जिस वस्तु में द्रव्य की मात्रा अधिक होती है, उसका भार भी अधिक होता है; क्योंकि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति द्रव्य की मात्रा के अनुसार बढ जाती है। इसी कारण भार की परिभाषा में हम कहते हैं कि किसी वस्तु का भार वह आकर्षण-शक्ति है, जिसके द्वारा पृथ्वी उस वस्तु को अपनी ओर खींचती है। यदि उस वस्तु में द्रव्य की मात्रा दूनी कर दी जाय तो पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति भी तुरन्त दुगुनी हो जायगी। अतः उसका भार भी दूना हो जायगा।

पृथ्वी से दूर हटने पर उसकी आकर्षण-शक्ति कम होती जाती है। गुरुत्वाकर्षण इसी के वर्ग के अनुपात में घटता है। धरातल पर पृथ्वी के केन्द्र से हम ४००० मील की ऊँचाई पर हैं। यदि किसी तरह हम आसमान में ४००० मील की ऊँचाई तक पहुँच जाएँ, तो पहले की अपेक्षा पृथ्वी के केन्द्र से हमारी दूरी दुगुनी हो जायगी। अतः हमारा वजन भी पहले से चार गुना कम हो जायगा। यदि जमीन पर हमारा वजन १ मन २० सेर है, तो ४००० मील ऊपर आकाश मे हमारा वजन केवल १५ सेर ही उतरेगा !

इस रहस्यमय शक्ति में आप किसी प्रकार का फेरबदल नही कर सकते। लोहा, लकड़ी, शीशा, पीतल, आदि दुनिया की कोई भी चीज इस अद्भुत शक्ति के काम मे

**पृथ्वी का प्रवल पाश**

हम धरती से कुछ फीट ऊँचे उछलते, हवाई जहाज में कुछ मील ऊपर जाते, तोप से काफी ऊँचाई तक गोला फेंक सकते हैं, पर अन्त में सभी को वापस धरती पर आना पड़ता है। हम ही नहीं, पृथ्वी से लाखों मील दूर चन्द्रमा भी हमारी ही तरह पृथ्वी से बंधा हुआ है। यह कैसा विचित्र पाश है? पेड़ से फल धरती पर क्यों गिर पड़ता है? फुटबाल ऊपर उछलकर भी क्यों वापस जमीन पर आ गिरता है?

दखल नहीं दे सकती। सब ठौर आपका वजन एक समान ही होगा। गर्मी-सर्दी का प्रभाव भी इस आकर्षण-शक्ति पर नहीं पड़ता, और न रासायनिक क्रियाओं का ही कोई असर इस पर होता है।

किसी भी साधन से आप इस गुरुत्वाकर्षण को अपने वश में नहीं कर सकते। यदि किसी तरह हम इस शक्ति को मिटा या रोक सकते तो वायुयान को आकाश में उड़ने के लिए पेट्रोल और इंजिन की जरूरत ही न पड़ती। तब तो आसमान में हम ढेला फेंकते और वह रास्ते में कभी रुके बिना बारबर ऊपर को बढ़ता चला जाता। किंतु पृथ्वी की यह आकर्षण-शक्ति यदि आज लुप्त हो जाय, तो सचमुच विपत्ति आ जायगी। आपने देखा होगा कि साइकिल के पहिए की कीचड़ तेज गति से घुमाने पर पहिए से दूर छिटककर गिरती है। अब चूंकि पृथ्वी भी अपनी कीली पर तेजी के साथ घूम रही है, अत. इसके धरातल पर की वस्तुएँ भी—

**गुरुत्वाकर्षण-शक्ति की खोज और उसका सिद्धान्त**

ऊपर के चित्र में दिखाया गया है कि किस प्रकार बगीचे में बैठे हुए न्यूटन ने सेब के पेड़ पर से फल को गिरते देखकर गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का पता पहले-पहल लगाया। दाहिनी ओर यह दिखाया गया है कि हम धरती से ऊपर तभी उछल पाते हैं जबकि पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति से अधिक जोर लगाते हैं।

अर्थात् हमारे मकान, स्वयं हम और हमारी कुरसी-मेज आदि सब-कुछ—उसी तरह जमीन पर से अलग छिटक जाना चाहेंगी। यह केवल पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति ही है जो उन्हें ऐसा करने से रोके हुए है। जिस घड़ी पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति न रहेगी, उस पर टिकी हुई सभी वस्तुएँ जमीन से अलग छिटककर शून्य में जा गिरेंगी!

पृथ्वी नारंगी की तरह ध्रुवों पर चिपटी है। अतः उसके केंद्र से विषुवत्-रेखा पर स्थित स्थान ध्रुवों की अपेक्षा अधिक दूर है। इसी कारण उसकी आकर्षण-शक्ति ध्रुवों पर ज्यादा और विषुवत्-रेखा पर कम होती है। किंतु ऐसा होने का एक और भी कारण है। पृथ्वी की काल्पनिक धुरी, जिस पर वह घूमती है, ध्रुवों से होकर गुजरती है। अतः विषुवत्-रेखा पर के स्थान ध्रुवों की अपेक्षा ज्यादा तेजी से घूमते हैं। विषुवत्-रेखा की परिधि लगभग २५००० मील है। अत. २४ घंटे में विषुवत्-रेखा पर स्थित स्थानों को करीब २५००० मील का रास्ता तय करना पड़ता है, जब कि ध्रुव के निकट के स्थानों को चलकर पूरा करने में कम ही दूरी तय करनी होती है। विषुवत्-रेखा पर के स्थानों की गति लगभग १००० मील प्रति घंटा है। अतः विषुवत्-रेखा के समीप के पदार्थों में ध्रुवों की अपेक्षा बाहर की ओर के लिए खिंचाव (सेंट्रीफ्यूगल फोर्स) अधिक पैदा होता है। अतः इस कारण भी इन पदार्थों पर काम करनेवाली पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति कम पड़ जाती है।

### गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र

किसी भी चीज को आप लें, उसके हर एक अणु को पृथ्वी अपने केंद्र की ओर खींचती है। यदि आप किसी पुस्तक को मेज के किनारे रखें—इस तरह कि पुस्तक का कुछ हिस्सा मेज से बाहर निकला हुआ हो—तो वह पुस्तक मेज पर से गिरती नहीं है। परन्तु अब आप उस पुस्तक को और बाहर की ओर खिसकाइये।—ज्योंही पुस्तक का आधे से ज्यादा हिस्सा मेज से बाहर आया कि वह एकदम जमीन पर आ गिरेगी! ऐसा क्यों होता है? पुस्तक का कुछ भाग तो अब भी मेज पर ही है। तो फिर वह क्यों नीचे को लुढ़क गई? ऐसा जान पड़ता है कि पृथ्वी की आकर्षण-

शक्ति, जो कि पुस्तक के अणु-अणु पर काम कर रही है, मिलकर पुस्तक के बीचोबीच के बिंदु पर काम कर रही है। जब तक वह बिंदु मेज पर था, मेज ने पुस्तक को नीचे गिरने से रोका। किंतु ज्योंही वह बिंदु मेज के बाहर पहुँचा, पृथ्वी ने समूची पुस्तक को फौरन् नीचे खींच लिया। इस बिंदु को, जिस पर पृथ्वी की संपूर्ण आकर्षण-शक्ति काम करती है, 'गुरुत्वाकर्षण-केंद्र' कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि ऐसा जान पड़ता है, मानों उस वस्तु का समस्त द्रव्य उसी बिंदु पर आकर केंद्रित हो गया हो। आयताकार वस्तुओं का केंद्र आसानी से मालूम किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, गोल सुडौल डंडे का केंद्र मध्य भाग में एवं आयताकार वस्तुओं का उस बिंदु पर होगा, जहाँ उनके कर्ण एक-दूसरे को काटते हैं (चित्र में सं० १ से १२)।

ऐसे पदार्थों का केंद्र, जिनका आकार ज्यामिति की आकृतियों जैसा नहीं होता, गणित द्वारा आसानी से नहीं निकाला जा सकता। उसे प्रयोग करके देखना पड़ता है। ऐसा करने के लिए उस चीज को एक किनारे में धागा बाँध कर लटकाइए। चूंकि कुल आकर्षण-शक्ति एक केंद्र से होकर गुजरती है और धागे की सीध में लम्बवत् नीचे की ओर पृथ्वी उस चीज को खींच रही है, इसलिए गुरुत्वाकर्षण-केंद्र भी अवश्य उस धागे की सीध में ही स्थित होगा। अतः धागे की सीध में उस वस्तु पर आप एक सीधी रेखा खीच दीजिए। उस वस्तु का केंद्र उसी रेखा
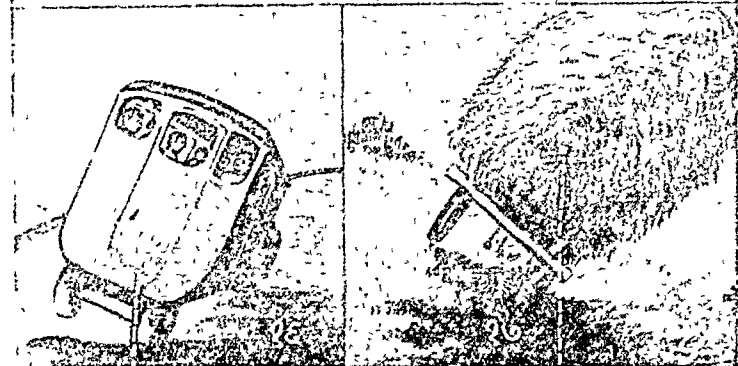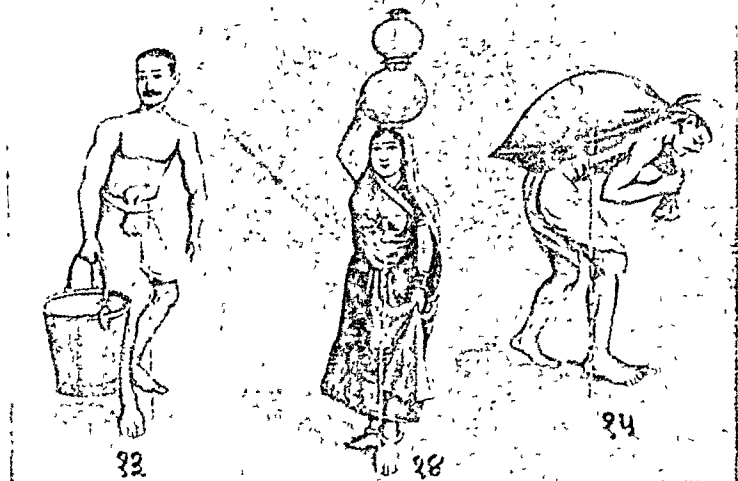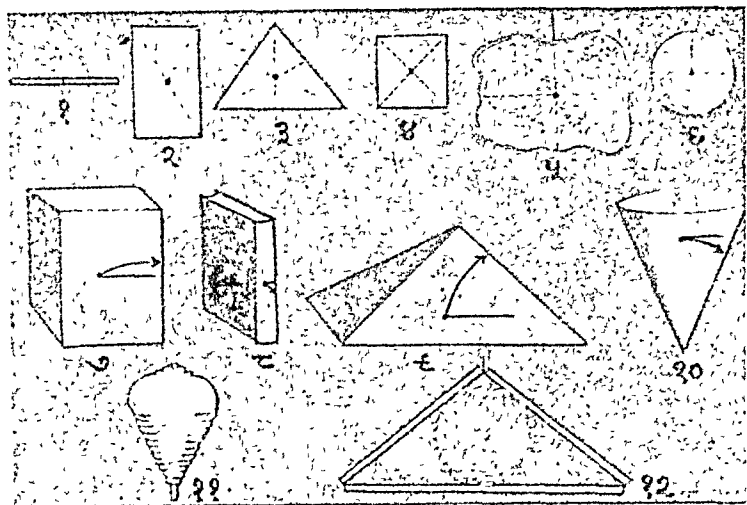
**विभिन्न वस्तुओं के गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र**

ऊपर सं० १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १२ मे क्रमशः गोल डंडा, चतुर्भुज, त्रिभुज, आदि विभिन्न आकृतियों के गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र विन्दु द्वारा दिखाये गए हैं। सं० १३, १४, १५ में दैनिक जीवन में गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र के प्रयोग के उदाहरण हैं और १६, १७ में अत्यधिक झुकाव की हालत में गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र के पहियों से बाहर निकलते ही गाड़ी का लुढ़कना दिखाया गया है।

पर कहीं स्थित है। फिर धागे को दूसरे किनारे पर बाँधिए और उसे पूर्ववत् लटकाइए। इस बार भी धागे की सीध में ही उस वस्तु पर रेखा खींचिए। गुरुत्वाकर्षण-केंद्र इस रेखा पर भी है। अतः यह रेखा पहली रेखा को जिस बिंदु पर काटेगी, वही उस वस्तु का गुरुत्वाकर्षण-केंद्र होगा।

वस्तुओं के संतुलन के लिए उनके गुरुत्वाकर्षण-केंद्र की जानकारी रखना नितांत आवश्यक है। मान लीजिए कि यात्रियों से भरी हुई एक मोटर-लारी एक ढलुवे रास्ते पर जा रही है। ढाल पर लारी एक ओर को झुकी हुई है। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति मोटर के गुरुत्वाकर्षण-केंद्र को लंबवत् नीचे की ओर खींच रही है। किंतु जब तक मोटर-लारी एक तरफ को इतनी नहीं झुक जाती कि उसके गुरुत्वाकर्षण-केंद्र से खींची गई लंबवत् रेखा लारी के दोनों पहियों के नीचे से बाहर नहीं निकल जाती, तब तक लारी के उलटने का तनिक भी डर नहीं है (देखिए पिछले पृष्ठ के चित्र में सं० १६)। गुरुत्वाकर्षण-केंद्र से खींची गई लंबवत् रेखा जब तक उस वस्तु के आधार (जिस पर वह टिकी हुई है) के अंदर रहती है, उस वस्तु का संतुलन स्थिर रहता है। किंतु ज्योंही लंब रेखा आधार से बाहर गई, वह चीज फौरन् लुढ़क पड़ती है।

ट्रामगाड़ी तथा मोटर-लारी का निचला भाग इंजिन के कारण बहुत भारी होता है। अतः उसका गुरुत्वाकर्षण-केंद्र भी जमीन की सतह से अधिक ऊपर नहीं होता। फल यह होता है कि अगर गाड़ी एक ओर काफी झुक भी जाय तो गुरुत्वाकर्षण-केंद्र से खींची गई सीधी लंबवत् रेखा पहियों के बीच से बाहर नहीं जाने पाती। अतः ऐसी हालत में भी गाड़ी का संतुलन स्थिर रहता है। किंतु उसके प्रतिकूल हमारी देहाती बैलगाड़ी के निचले हिस्से में कोई खास भारी चीज नहीं रहती। नतीजा यह होता है कि पुरसों ऊँचे तक पुआल लाद लेने पर गाड़ी का गुरुत्वाकर्षण-केंद्र काफी ऊँचाई पर पहुँच जाता है। ऊँची-नीची सड़क पर तनिक-सा भी झुकाव उसे मिला नहीं कि ऐसा हो सकता है कि गाड़ीवान के साथ ही समूची गाड़ी उलट गई (देखिए पिछले पृष्ठ के चित्र में सं० १७)।

# घनत्व और भार

**प्रत्येक पदार्थ का कुछ-न-कुछ आयतन और वजन अवश्य होता है, और किसी भी वस्तु-विशेष के आयतन की कमी-बेशी के अनुपात में उसके वजन में भी कमी-बेशी हो जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि समान आयतनवाली दो वस्तुओं का भार भी समान ही हो। इसका क्या कारण है? एक घनफीट लकड़ी का वजन एक घनफीट लोहे जितना क्यों नहीं होता? इस प्रकरण में इसी का विवेचन किया गया है।**

हमने देखा है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को पृथ्वी भिन्न-भिन्न परिमाण में अपनी ओर खींचती है। जिस वस्तु में पदार्थ की मात्रा अधिक होती है, उसके लिए पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति भी बढ़ जाती है। ऐसे पदार्थों का भार ज्यादा होता है। समान आकार के दो टुकड़े लीजिए, एक लकड़ी का, दूसरा लोहे का। लोहे का टुकड़ा भारी जँचता है। निस्सन्देह लोहे के अन्दर पदार्थ की मात्रा लकड़ी की अपेक्षा अधिक है—लोहे के अन्दर के पदार्थ-कण मानो कसकर घने बिठलाये गये हैं। किन्तु लकड़ी के अन्दर का पदार्थ उतना घना नहीं है। दूसरे शब्दों में लोहे का 'घनत्व' लकड़ी के 'घनत्व' से ज्यादा है। किसी वस्तु के एक नियत आयतन में पदार्थ की मात्रा जितनी है, इसे विज्ञान की परिमार्जित भाषा में 'घनत्व' कहते हैं।

किन्तु हम देख चुके हैं कि पदार्थ की मात्रा के अनुपात में ही वस्तुओं का भार भी होता है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि किसी वस्तु का घनत्व उस वस्तु के एक नियत आयतन का भार है।

### घनत्व और भार अन्योन्याश्रित हैं

आयतन की नाप ब्रिटिश प्रणाली के अनुसार हम घनफुट से करते हैं, तथा भार या वजन की नाप पाउण्ड से। सुविधा के लिए आयतन के लिए १ घनफुट की इकाई लेते हैं, और तब उसका भार पाउण्ड के तौल में निकालते हैं। एक घनफुट लोहे का भार लगभग ४६० पाउण्ड होता है। अतः लोहे का भार ४६० पाउण्ड प्रति घनफुट हुआ। दाशमिक प्रणाली में आयतन की नाप 'घन-सेन्टीमीटर' और भार की नाप 'ग्राम' से करते हैं। एक घन-सेन्टीमीटर लोहे का भार ७.२ ग्राम होता है। इस तरह लोहे का घनत्व ७.२ ग्राम प्रति घन-सेन्टीमीटर हुआ।

वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में हम वास्तव में किसी वस्तु का ठीक एक घनफुट या एक घन-सेन्टीमीटर आयतन नहीं

लेते, वरन् समूची वस्तु का आयतन पहले मालूम कर लेते हैं। फिर उसे तौलकर मालूम करते हैं कि प्रति घन-सेन्टीमीटर उस वस्तु का भार कितने ग्राम हुआ या प्रति घन-फुट उस वस्तु में कितने पाउण्ड हैं।

घनत्व प्रकट करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भार और आयतन की नाप भी लिखी जाय, अन्यथा बडी गडबड़ी की सम्भावना हो सकती है। उदाहरण के लिए पाउण्ड और घनफीट में लोहे का घनत्व ४६० निकलता है, तो ग्राम और घन-सेन्टीमीटर का प्रयोग करने पर उस अनुपात में उसका घनत्व केवल ७·२ आता है।

घनत्व की जानकारी की आवश्यकता आए दिन पड़ा करती है। पानी पर एक चीज तैरती है, तो दूसरी उसमें डूब जाती है। इसका मूल कारण उनका घनत्व है। गर्म पानी का घनत्व ठंडे पानी मे कम होता है, अतः जब गर्म पानी हौज मे डाला जाता है तो यह ऊपर ही रह जाता है। किन्तु यदि उसमें ठंडा पानी डाला जाय, तो वह एकदम पेंदे तक पहुँच जाता है। तेल पानी से भी हलका है, वह पानी के ऊपर तैरता है। गैसों का घनत्व बहुत ही कम होता है। फिर भी विभिन्न गैसों के घनत्व में अन्तर है। हाइड्रोजन सब गैसों से हलकी है। गुब्बारे और जैप्लीन में हाइड्रोजन ही भरी रहती है। इसी कारण ये आकाश में उड़ सकते हैं। लोहे की कील पानी में डूब जाती है, किन्तु लोहे का ही बना पीपा बड़े-बड़े पुलों का बोझा लिये तैरा करता है। यह सब घनत्व की ही करामात है।

अर्कमिदीज (२८७–२१२ ई० पू०)
जिसने सर्वप्रथम 'आपेक्षिक घनत्व' सम्बन्धी सिद्धांत का अनुसंधान और प्रतिपादन किया था।

## आपेक्षिक घनत्व

नित्य के काम के लिए हमें भिन्न-भिन्न वस्तुओं के घनत्व की तुलना करने की भी आवश्यकता होती है। रुपया पानी में डूब जाता है, किन्तु पारे के हौज में वह आसानी से तैरता रहता है; क्योंकि चाँदी का घनत्व पानी के घनत्व से तो ज्यादा, किन्तु पारे के घनत्व से कम है।

तुलना के लिए हम पानी की शरण लेते हैं, क्योंकि पानी सब कहीं मिल सकता है और अधिकांश ठोस तथा द्रव पदार्थों के घनत्व से पानी का घनत्व कम है। एक और बात यह है कि पानी का घनत्व दाशमिक में १ ग्राम प्रति घन-सेन्टीमीटर होता है। अतः घनत्व की तुलना के लिए पानी का घनत्व इकाई का काम देता है। पानी के घनत्व से अन्य पदार्थों का घनत्व कितने गुना ज्यादा या कम है, इस अनुपात को 'आपेक्षिक घनत्व' कहते हैं। अतएव आपेक्षिक घनत्व निरी संख्या होती है। इस संख्या के साथ पाउण्ड प्रति घनफुट या ग्राम प्रति घन-सेन्टीमीटर लिखने की जरूरत नहीं, क्योंकि यह संख्या भिन्न-भिन्न चीजों के घनत्व के बीच का अनुपात बनाती है। यह अनुपात सदैव एक-सा रहेगा, चाहे घनत्व ब्रिटिश प्रणाली से निकाला जाय या दाशमिक (मेट्रिक) प्रणाली से।

किन्तु आपेक्षिक घनत्व सम्बन्धी प्रयोग करने के लिए पानी चुनने मे विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है। पानी मे प्रायः विजातीय वस्तुएँ घुली रहती है, जिसके कारण उसका घनत्व बढ़ जाता है। फिलिस्तीन की 'मृत सागर' झील के पानी मे नमक इतनी अधिक मात्रा मे घुला हुआ है कि उसमे नहानेवाले लोग जल्दी डूबते ही नहीं। वहाँ पानी का घनत्व इतना अधिक रहता है कि मनुष्य का शरीर निष्प्रयास ही उसकी सतह पर तैरा करता है। इसीलिए आपेक्षिक घनत्व के लिए शुद्ध पानी लिया जाता है। फिर घनत्व पर तापक्रम का भी प्रभाव पड़ता है। गर्मी पाकर चीजें फैलती हैं, अतः वजन तो वही रहता है, पर उनका आयतन बढ़ जाता है। इस तरह तापक्रम बढने पर चीजों का घनत्व कम हो जाता है। पानी का भी यही हाल है। प्रयोग करने से हम जानते है कि पानी का घनत्व सबसे अधिक ४ डिग्री शताश ताप पर होता है। अतः विभिन्न पदार्थों के घनत्व की तुलना के लिए इसी ताप का पानी लेते है। अत्यन्त कम तापक्रम पर जमकर पानी जब बर्फ में परिणत हो जाता है तो उसका घनत्व बहुत कम हो जाता है। यही कारण है कि मीलों लंबे बर्फ के पहाड़ सागर में तैरते देखे पड़ते हैं। समुद्र में तैरते हुए ऐसे एक हिम-पर्वत का चित्र पृष्ठ ७३ पर दिया गया है।

कुछ ठोस और द्रव पदार्थो का आपेक्षिक घनत्व नीचे लिखे अनुसार है—

| ठोस पदार्थ | | द्रव पदार्थ | |
|---|---|---|---|
| प्लैटिनम | २२·० | पारा | १३· ६ |
| सोना | १९·३ | रुधिर | १·०६ |
| सीसा | ११·४ | दूध | १·०३ |
| चाँदी | १०·४ | समुद्रजल | १·०२ |
| लोहा | ७ २ | टर्पेन्टाइन | ०·८७ |
| वर्फ | ० ६ | अल्कोहॉल | ०·७९ |
| कार्क | ०·२ | | |

गैसे पानी की अपेक्षा वहुत ही हलकी होती हैं, अत: गैसों के घनत्व की तुलना हवा के घनत्व से करते हैं। हवा के घनत्व को पैमाना मानने पर अन्य गैसों का आपेक्षिक घनत्व निम्नलिखित तालिका के अनुसार आता है—

| | |
|---|---|
| कार्वन डाइआक्साइड | १ ५ |
| आक्सिजन | १·१ |
| नाइट्रोजन | ०·९७ |
| अमोनिया गैस | ०·६२ |
| हाइड्रोजन | ०·०६९ |

ज्यामिति की किसी नियत आकृतिवाले ठोस पदार्थ का आपेक्षिक घनत्व निकालना आसान है, क्योंकि ज्यामिति के सिद्धान्तो से हम विना प्रयोग के उसका आयतन निकाल सकते है और तराजू पर उसका भार भी निकाल सकते है। फिर उतने ही आयतनवाले पानी का भार मालूम करके उस ठोस पदार्थ के भार को पानी के भार से भाग देकर आपेक्षिक घनत्व की संख्या हम जान सकते है। इसमे केवल गणित की मदद चाहिए।

## वेडौल वस्तुओं का आयतन

किन्तु अनेक वस्तुएँ वेडौल आकार की हुआ करती है। ज्यामिति की मदद से उनका आयतन आसानी से नहीं निकाला जा सकता। ऐसी दशा में एक विशेप प्रकार के वड़े गिलास 'ग्रेजुएटेड जार' में पानी भर लेते है। इस गिलास की दीवाल पर निशान वने हुए होते है, जो भीतर का आयतन वताते है। तव उस चीज को इस पानी में डुवो देते हैं। ऐसा करने से पानी ऊपर चढ़ आता है। अव इस नए आयतन में से पहले का आयतन घटा देने पर उस चीज का आयतन निकल आता है। इस सम्वन्ध मे एक मनोरंजक घटना का उल्लेख हम यहाँ कर देते है।

प्रसिद्ध आविष्कारकर्त्ता एडिसन ने एक वार एक इंजीनियर से पूछा कि अमुक विजली के वल्व के भीतर का आयतन कितना है? वेचारा इंजीनियर तीन-चार दिन तक वल्व का आकार नापने और गुणा-भाग करने में लगा रहा। फिर भी वह ठीक आयतन न निकाल पाया। एडिसन ने फौरन् उसके हाथ से वल्व लिया और उसमें पानी भर दिया। फिर पानी को एक नापने के गिलास में उँडेल दिया और पानी का आयतन उस गिलास में लगे निशान की मदद से पढ़ लिया! कैसा सरल उपाय था।

द्रव पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए अधिकतर घनत्ववाली वोतल का प्रयोग करते हैं। इस प्रयोग में आयतन नापने की जरूरत नहीं पड़ती। तराजू पर पहले खाली वोतल तौल लेते है। फिर दिये हुए द्रव पदार्थ को उसमें मुँहा-मुँह भरकर तौलते हैं। इस भार में से वोतल का भार घटा देने से द्रव पदार्थ का भार निकल आता है। अव वोतल को खाली करके और

**घनत्व और आयतन का पारस्परिक संवंध**

विभिन्न घनत्ववाली दो वस्तुओं को यदि समान वजन में लिया जाय तो उनका आयतन समान न होगा। इसका सवसे सरल उदाहरण रुई और उतने ही वजन का लोहे का वटखरा है। समान वजन के होकर भी घनत्व की असमानता के कारण दोनों के आयतन में कितना अंतर है।
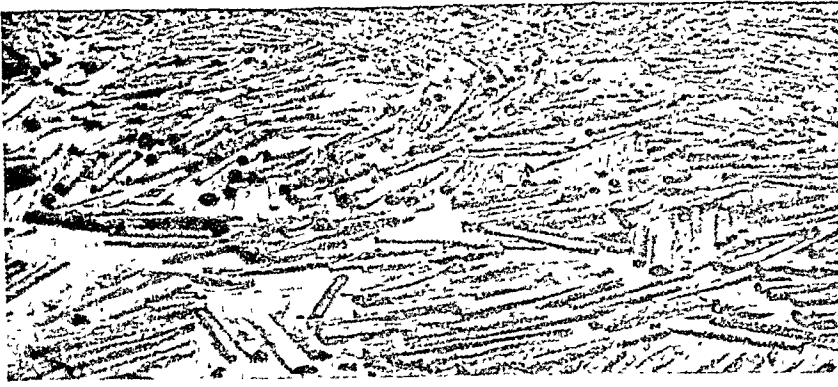
**नदी पर तैरते हुए लट्ठे**

लकड़ी का घनत्व पानी से कम है। यही कारण है कि इन हजारों लट्ठों को यहां नदी में तैरते हुए हम देख रहे हैं। कनाडा, नारवे, बर्मा आदि देशों में पहाड़ों से लकड़ी की शहतीरें काट-काटकर इसी प्रकार नदियों द्वारा मैदानों में पहुंचाई जाती है।

**तैरता हुआ बर्फ का पहाड़**

पानी जब बर्फ में परिणत हो जाता है, तब उसका घनत्व कम हो जाता है। यही कारण है कि मीलों लम्बे और हजारों फीट ऊंचे बर्फ के पहाड़ इस प्रकार समुद्र में तैरते रहते हैं। इन पहाड़ों का केवल दसवां भाग बाहर दिखाई देता है, शेष जल में डूबा रहता है।
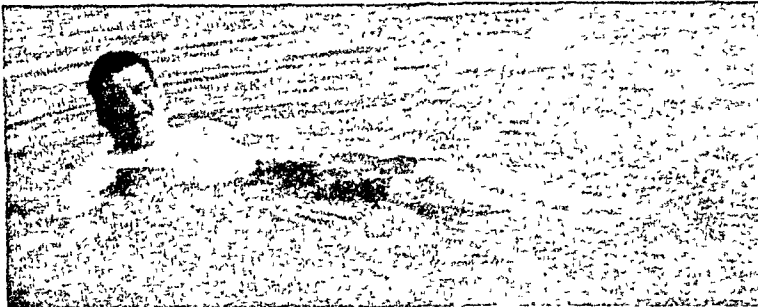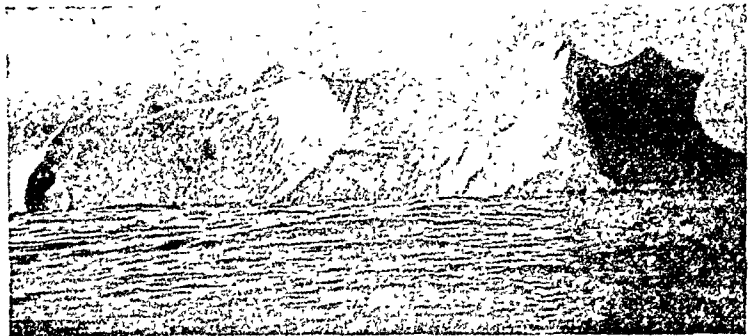
**'मृत सागर' में तैरता हुआ आदमी**

फिलिस्तीन की 'मृत सागर' नामक झील के पानी का घनत्व, बहुत अधिक नमक की मिलावट के कारण, इतना अधिक है कि मनुष्य का शरीर उसमें जल्दी डूबता नहीं। आदमी उसमें बिना प्रयास तैरता रहता है।

**हवा में उड़ता हुआ वायुपोत**

हाइड्रोजन और हीलियम गैसों का घनत्व साधारण हवा से इतना कम होता है कि उनसे भरे जाने पर सैकड़ों टन वजन के बड़े-बड़े वायुपोत बिना किसी यंत्र की सहायता के आकाश में ऊंचे उठकर उड़ सकते हैं। यह घनत्व की असमानता ही की करामात है।

**असम घनत्व के कुछ विशिष्ट उदाहरण**

पानी से भर कर फिर उसका भार लेते हैं। पानी से भरी बोतल में से खाली बोतल का भार घटाकर पानी का भार मालूम कर लेते हैं। इस तरह प्राप्त समान आयतनवाले पानी और द्रव दोनों के भार का अनुपात ही उसका आपेक्षिक घनत्व हुआ।

नन्हें-नन्हे कणों या बुकनी वगैरह का आपेक्षिक घनत्व भी इस बोतल की सहायता से मालूम किया जा सकता है। पहले बोतल को जल से लबालब भर लो—अब जल से भरी हुई बोतल और उन नन्हें-नन्हें छर्रों को तराजू के पलड़े पर एक ही साथ रख दो और उनका भार निकाल लो। फिर बोतल को उठाकर मेज पर रक्खो, और उन छर्रों को बोतल के भीतर डालो। ठीक छर्रे के आयतन के बराबर पानी अब बोतल के बाहर बहकर गिर जायगा। बोतल को अब फिर तौलो। निस्सन्देह पहले की अपेक्षा अब भार कम होगा। यह कमी उस पानी के भार के बराबर होगी, जिसका आयतन छर्रे के बराबर है। छर्रे का भार हमे मालूम ही है, अत. इसका आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए इसके भार में समान आयतन वाले पानी के भार से भाग देते हैं।

## आर्कमिदीज का प्रयोग

किन्तु कुछ अनियमित आकार की नन्ही वस्तुएँ (जैसे अँगूठी) भी होती हैं, जो न घनत्ववाली बोतल मे आ सकती है, न नापने के गिलास में ही पानी की सतह को अधिक ऊँचा उठा सकती हैं। इनका आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए आर्कमिदीज के सिद्धान्त की सहायता ली जाती है। आर्कमिदीज की कहानी भी बड़ी रोचक है। लगभग २२० ई० पूर्व सीराकूज के राजा ने अपना मुकुट बनाने के लिए एक सुनार को सोना दिया। जब मुकुट बनकर आया तो राजा को सन्देह हुआ कि सुनार ने कुछ सोना चुरा लिया है और उसकी जगह कोई दूसरी सस्ती धातु मुकुट में मिला दी है। किन्तु मुकुट का भार दिये हुए सोने के बराबर ही था। इसलिए चोरी फौरन् पकड़ी न जा सकी। निदान राजा ने आर्कमिदीज को यह पता लगाने का भार दिया कि सुनार ने सचमुच राजा को ठगा है या नहीं। किन्तु साथ-ही-साथ शर्त थी कि मुकुट किसी प्रकार खराब न होने पाये। आर्कमिदीज बड़ी देर तक सोचता रहा कि इस टेढ़ी समस्या को कैसे हल करें! दूसरे दिन स्नान करने के लिए तत्कालीन टब या हौज में वह उतरा। हौज में पानी लबालब भरा हुआ था। जब वह उसमें घुसा तो कुछ पानी फर्श पर गिर गया। किन्तु अब भी पानी हौज के मुँहामुँह था। जब वह बाहर आया तो पानी की सतह बहुत नीचे चली गई। फौरन् उसके मन मे प्रेरणा हुई कि ठीक उतना ही पानी हौज से बाहर गिरा है, जितना उसके शरीर का आयतन था। साथ ही उसने यह भी देखा कि पानी मे घुसते समय उसे ऐसा लगा, मानों उसे नीचे से ऊपर की ओर कोई उछाल रहा है—मानों पानी में उसका भार कुछ हलका पड़ गया था। उसने देखा कि इस नई जानकारी की मदद से तो मुकुटवाली समस्या भी हल की जा सकती है। बस, खुशी मे पागल होकर वह बिना कपड़ा वगैरह पहने ही राजा के पास नगा दौड़ा गया! रास्ते भर वह चिल्लाता जा रहा था—"युरेका, युरेका" (अर्थात् मैंने जान लिया, मैंने जान लिया)!
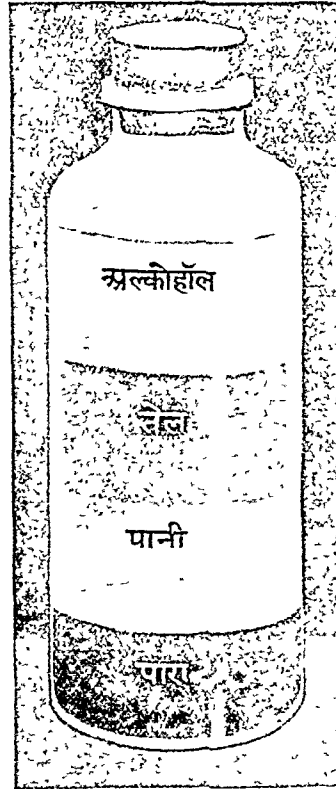
**द्रव पदार्थों का असम घनत्व**

यदि एक ही बोतल में पारा, पानी, तेल और अल्कोहॉल भरे जाएं तो अपने-अपने आपेक्षिक घनत्व के अनुसार वे इसी तरह ऊपर-नीचे हो जायँगे।

उसने शीघ्र ही एक तो चाँदी की और दूसरी सोने की ईंट बनवाई और दोनो का भार ठीक मुकुट के बराबर रक्खा। तब एक चौड़े मुँह के बर्त्तन में उसने लबालब पानी भरा और तीनों को उसमें बारी-बारी से डाला। इस प्रयोग में मुकुट के कारण जितना पानी बाहर गिरा, उसका आयतन चाँदी की ईंट द्वारा स्थानान्तरित हुए पानी के आयतन से तो ज्यादा था, किन्तु सोने की ईंट द्वारा स्थानान्तरित हुए पानी के आयतन से कम। फौरन् उसने इस बात की घोषणा की कि मुकुट विशुद्ध सोने का नहीं बना है। तदुपरान्त

बड़े मनोयोगपूर्वक काम करके उसने सिद्ध किया कि जब किसी ठोस पदार्थ का कुल या थोड़ा-सा हिस्सा किसी द्रव के अन्दर रहता है, तो उस ठोस पदार्थ का भार कम पड़ जाता है। यह कमी उस पदार्थ द्वारा स्थानान्तरित हुए द्रव के भार के बराबर होती है। उस महान् अन्वेषक ने इस प्रकार अनायास ही भौतिक विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण खोज कर डाली। आज यही सिद्धान्त 'अर्कमिदीज के सिद्धान्त' के नाम से पुकारा जाता है।

## अर्कमिदीज के सिद्धांत का उपयोग

आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए इसी अर्कमिदीज के सिद्धांत की मदद ली जाती है। पहले उस ठोस पदार्थ को वही पलड़े पर रखकर तौल लेते हैं। फिर उसे पलड़े से धागे द्वारा इस तरह लटकाते हैं कि तौलते समय भी वह पदार्थ बर्त्तन में रक्खे हुए पानी में डूबा रहे। उस पदार्थ के इन दोनों भारों का अन्तर निकाल लेते हैं। अर्कमिदीज के सिद्धांत के अनुसार यही समान आयतन वाले पानी का भार हुआ। इसके बाद पहले की तरह उसका आपेक्षिक घनत्व अनुपात लगाकर मालूम कर लेते हैं।

अर्कमिदीज की रीति से ऐसे पदार्थों का भी आपेक्षिक घनत्व हम मालूम कर सकते हैं, जो हलके होने के कारण पानी में डूबते ही नहीं। मान लीजिए, कार्क का आपेक्षिक घनत्व निकालना है। इस प्रयोग में हमें लोहे का एक टुकड़ा लंगर की तरह काम में लाना पड़ता है। पहले लोहे के टुकड़े को हम हवा में और पानी में तौलकर मालूम कर लेते हैं कि पानी के अन्दर उसका भार कितना घटता है। अब कार्क और लंगर को एक ही साथ बाँध लेते हैं और इन दोनों को एक बार हवा में और एक बार पानी के अन्दर तौल लेते हैं। इस तरह यह मालूम कर लेते हैं कि पानी के अन्दर तौलने पर कार्क और लंगर के संयुक्त भार में कितनी कमी हुई। कार्क का भार हवा में मालूम ही है, अतः उसका आपेक्षिक घनत्व भी हम पूर्ववत् निकाल सकते हैं।

## हाइड्रोमीटर या द्रव-घनत्व मापी

द्रव पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व निकालने की एक सरल रीति भी लभ्य है। इसके लिए एक यंत्र का उपयोग किया जाता है, जिसे 'हाइड्रोमीटर' कहते हैं। इसकी सहायता से किसी भी द्रव पदार्थ का आपेक्षिक घनत्व आप आसानी से मालूम कर सकते हैं। यह यंत्र एक शीशे की नली का बना होता है। इसका निचला भाग भारी होता है। पानी या किसी अन्य द्रव पदार्थ में डालने पर यह डूबता नहीं, वरन् इसका कुछ हिस्सा उस द्रव पदार्थ के अन्दर रहता है और कुछ बाहर। इसी हालत में वह उस द्रव में तैरता रहता है। भिन्न-भिन्न घनत्ववाले द्रवों में यह यंत्र भिन्न-भिन्न ऊँचाई तक डूबता है। इसमें निशान बने रहते हैं। एक निशान, जो मोटी लकीर का बना होता है, यह सूचित करता है कि यहाँ तक यह यंत्र पानी में डूबता है। पानी से भारी द्रवों में हाइड्रोमीटर कम डूबता है, अतः पानीवाला निशान उस द्रव के बाहर रहता है। किन्तु पानी से हलके द्रवों में हाइड्रोमीटर काफी नीचे तक डूब जाता है। पानी वाला निशान द्रव के अन्दर चला जाता है। यंत्र को बनाते समय प्रयोगशाला में जाँच करके प्रत्येक निशान के सामने निम्न देते
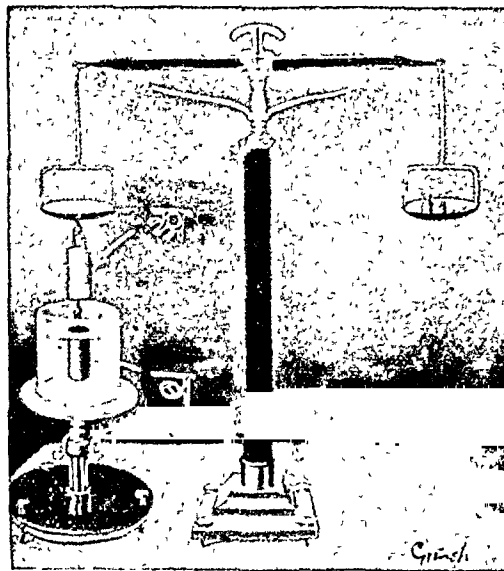
**अर्कमिदीज के सिद्धान्त का प्रयोग**

इस विशेष प्रकार की तराजू में एक पलड़े में बटखरे रखे जाते हैं और दूसरे में एक के नीचे दूसरा दो धातुदण्ड लटकते रहते हैं— ऊपरी 'अ' खोखला और नीचे का 'ब' ठोस। 'ब' का आकार ऐसा होता है कि वह 'अ' में ठीक समा जाय। पहले ये दोनों दण्ड खाली हवा में एक साथ बटखरों से तौल लिये जाते हैं। इसके बाद एक जलभरे पात्र को नीचे लाकर नीचेवाला दण्ड उसमें पूरा डुबो दिया जाता है। ऐसा करने पर उसका वजन मानों घट जाता है, क्योंकि पलड़ा ऊपर उठने लगता है। तब ऊपर के खोखले दण्ड में पानी भरकर फिर तराजू का तौल ठीक किया जाता है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि पानी में डुबोने पर नीचे के दण्ड का जितना भार घटा, वह ऊपर के दण्ड में भरे गये पानी अर्थात् डूबी हुई वस्तु के आयतन के बराबर के पानी के भार के बराबर था।

है कि इस निशान तक यंत्र डूबेगा तो आपेक्षिक घनत्व इतना होगा। आबकारी-विभाग के निरीक्षक हाइड्रोमीटर की मदद से शराब की दूकानों पर जाँच करते हैं कि कहीं ठेकेदार शराब में नियम के विरुद्ध ज्यादा पानी मिलाकर धोखा तो नहीं दे रहा है। दूध में पानी की मिलावट की जाँच के लिए भी लोग हाइड्रोमीटर का प्रयोग करते हैं।

**साधारण हाइड्रोमीटर और ग्रेजुएटेड जार**

बाईं ओर, एक जार में भरे हुए पानी में तैरता हुआ जो यंत्र दिखाया गया है, वही 'हाइड्रोमीटर' या द्रव-घनत्वमापी यंत्र है। दाहिनी ओर, एक साधारण 'ग्रेजुएटेड जार' है।

### गैसों का आपेक्षिक घनत्व कैसे जाना जाता है?

गैस का आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए शीशे के विशालकाय पीपे में बारी-बारी से साधारण हवा और दी हुई गैसों को तौल लेते हैं। इस क्रिया में इस बात की पूरी सावधानी रक्खी जाती है कि तौलने समय दी हुई गैस और हवा दोनों का दबाव और ताप एक-सा रहे। फिर हवा के भार से उस गैस के भार में भाग देने से हमें आपेक्षिक घनत्व की संख्या मालूम हो जाती है। पिछली शताब्दी में इस डर से कि खान के अन्दर कहीं विषैली गैसें न हों, लोग अपने साथ कुत्ते ले जाते थे। विषैली गैसें भारी होने से जमीन की सतह के पास छायी रहती थीं। अतः बेचारा कुत्ता उनका शिकार बन जाता और लोग तुरत सतर्क हो जाते थे।

पृष्ठ ७२ पर कुछ प्रसिद्ध गैसों के आपेक्षिक घनत्व के आँकड़ों की एक तालिका दी जा चुकी है। यहाँ कुछ और गैसों के भी आपेक्षिक घनत्व के आँकड़े जानकारी के लिए हम दे रहे हैं। उदाहरणार्थ, जल-वाष्प या भाप का आपेक्षिक घनत्व (२१२° फारनहाइट ताप-क्रम पर) ०.४८८, कार्बन-मानोक्साइड नामक गैस का ०.९६, मीथेन गैस का ०.५६ और एथीलीन का ०.९७ है। ये सब गैसें साधारण हवा से अपेक्षाकृत हलकी होने के कारण ही ऊँची उठकर हवा में तैरती हैं।

हम मछलियों को कभी-कभी पानी में चाहे जिस स्तर पर बिना हिलेडुले एक ही जगह पर खड़े रहते देखते हैं। उसका भेद क्या है? वे उस निश्चेष्ट अवस्था में क्यों नीचे डूबने या ऊपर उतराते नहीं पाई जातीं? इसका रहस्य इस प्राकृतिक व्यवस्था में छिपा है कि इन जीवधारियों के शरीर का आपेक्षिक घनत्व लगभग उतना ही है जितना कि पानी का!

आपेक्षिक घनत्व के सिद्धान्त को समझने के लिए खिलौने जैसा एक मनोरंजक उपकरण बनाया गया है, जिसे 'कार्टिजीयन पन-डुब्बा' कहते हैं। यह पानी से भरा एक जार होता है, जिसका मुँह चमड़े से ऐसा कसकर मढ़ दिया जाता है कि उसमें हवा न प्रवेश कर सके। इस जार के भीतर पोर्सलेन की एक मानवाकृति शीशे की एक खोखली गेंद के साथ जुड़ी रहती है, जिसमें कुछ हवा और कुछ पानी भरा रहता है। इस गेंद के तले में एक सूराख होता है, जिसमें से पानी चाहे तो भीतर पहुँच सकता है या बाहर भी निकल सकता है। तमाशा यह होता है कि जब जार के मुँह पर मढ़े गये चमड़े को उँगली से दबाया जाता है तो उसके दबाव के फलस्वरूप गेंद में कुछ पानी छिद्र के रास्ते प्रविष्ट हो जाता है। फलतः उसका भार बढ़ जाता है और वह अपने साथ के खिलौने को लिये हुए जार के तले की ओर डूबने लगता है। परन्तु ज्योंही उँगली का दबाव कम पड़ा नहीं कि गेंद में का अतिरिक्त पानी बाहर निकल आता है और उसका भार पुनः कम हो जाता है। फलतः उचककर वापस वह ऊपर की ओर लौट आती है। इस सादी क्रिया में दर्शक को ऐसा भ्रम होता है मानो पनडुब्बे की वह मानवाकृति डुबकी लगा रही हो।
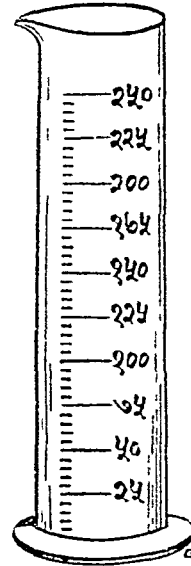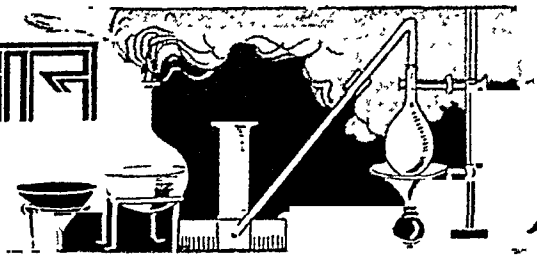
# रसायन क्या है ?

**इस अद्भुत विश्व की रचना करनेवाले मूल द्रव्य के विभिन्न रूपों, गुणों और क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होनेवाले रासायनिक परिवर्तनों का विवेचन।**

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो हमें इस बात का अनायास ही अनुभव हो सकता है कि सारी सृष्टि का निर्माण दो वस्तुओं से हुआ है। एक तो अनंत आकाश या अंतरिक्ष और दूसरे उसमें स्थित वह वस्तु, जिसका अनुभव हम अपनी ज्ञानेंद्रियों से कर सकते है, जो जगह घेरती है और जिसका भार हम तौलकर निकाल सकते हैं। इस दूसरी वस्तु को हम 'द्रव्य' कहते हैं। पत्थर, पानी, लकड़ी, हवा, लोहा, कोयला, हमारा शरीर आदि सभी द्रव्य से बने हैं, क्योंकि इनमें द्रव्य के सभी गुण पाये जाते हैं। लेकिन जब हम इस द्रव्य को परखते हैं तो हमें उसमें सहस्रों प्रकार के रंग, रूप और गुण दृष्टिगोचर होते हैं। कोई लाल है तो कोई पीला; कोई चमकदार है तो कोई धुंधला; कोई ठोस है तो कोई तरल, या वाष्परूप; कोई मीठा है तो कोई खट्टा; कोई भारी है तो कोई हलका; किसी में गर्मी और बिजली दौड़ती है तो किसी में नहीं; किसी में एक ही प्रकार का द्रव्य पाया जाता है तो किसी में द्रव्य के विभिन्न प्रकारो का संयोग; किसी में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है तो किसी में किसी प्रकार का।

## भेदानुसार पदार्थों का वर्गीकरण

मनुष्य सदा से ही द्रव्य के इन विभिन्न गुणों का निरीक्षण करता रहा है और इन गुणों और अपनी बुद्धि के अनुसार द्रव्य के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण भी। किसी प्रकार के द्रव्य को उसने ठोस कहा तो किसी को तरल; किसी को धातु कहा तो किसी को अधातु; किसी को अम्ल कहा तो किसी को क्षार। जो वस्तु द्रव्य के दो या अधिक प्रकारों में पृथक् न हो सकी और जिसमें एक ही प्रकार का द्रव्य पाया गया, उसका नाम 'मूल तत्त्व' (element) पड़ा; और जो पदार्थ द्रव्य के दो या अधिक प्रकारों में पृथक् हो सका, अथवा जो द्रव्य के दो या अधिक प्रकारों से बना हुआ पाया गया, वह 'यौगिक' (compound) कहलाया। द्रव्य के नये-नये प्रकारो के आविष्कार और उनके गुणों के निरीक्षण के साथ उनका वर्गीकरण भी होता जा रहा है। मनुष्य द्वारा द्रव्य के वर्गीकरण का यह प्रयास रसायन-शास्त्र का एक अंग है।

परन्तु इस निरीक्षणात्मक परीक्षा के बाद इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि आखिर द्रव्य मे इस विभिन्नता का कारण है क्या? क्या बात है कि हवा पानी मे, शकर नमक से, लकड़ी लोहे से, पत्थर हीरे से, तथा सोना कोयले से इतना अधिक विभिन्न है? इस जिज्ञासा ने मनुष्य की बुद्धि को द्रव्य की रचना की ओर आकर्षित किया। आज प्रारंभिक रसायन के जाननेवालो को भी यह ज्ञात है कि हवा मुख्यत: दो मूल गैसों—'नाइट्रोजन' और 'आक्सिजन'—का मिश्रण है। पानी दो अदृश्य मूल गैसों—'आक्सिजन' और 'हाइड्रोजन'—के रासायनिक संयोग से बना है। शकर, मैदा और रुई, ये तीनों वस्तुएँ पानी के अवयवों ('हाइड्रोजन' और 'आक्सिजन') और 'कार्बन' (कोयले का मूल तत्त्व) के संयोग से बनी है। नमक (जो हमारे दैनिक जीवन की एक साधारण वस्तु है) दो ऐसे मूल पदार्थो से बना हुआ है, जिनसे साधारण लोग नितांत अपरिचित रहते हैं—यानी पहला 'सोडियम', जो एक विचित्र धातु है, जो हवा और पानी मे रखने से इतनी शीघ्रता के साथ अन्य संयुक्त पदार्थों में परिणत हो जाती है कि उसे मिट्टी के तेल में रक्खा जाता है, और दूसरा 'क्लोरीन', जो पीलापन लिये हुए हलके हरे रंग की गैस होती है, जो सूंघने में कर्कश और विषाक्त होती है। लकड़ी में भी

मुख्यतया कोयला और पानी के तत्त्व ('कार्बन', 'हाइड्रोजन' और 'आक्सिजन') ही रहते है। परंतु लोहा और सोना स्वय मूल धातु हैं, जिनसे दो या अधिक वस्तुएँ नही निकाली जा सकती। संगमरमर पत्थर तीन मूल पदार्थों के संघात से बना है—अर्थात् 'कैल्शियम' धातु (जो चूने में रहती है), 'कार्बन' और 'आक्सिजन' गैस। किंतु हीरा शुद्ध कोयले ('कार्बन') का ही एक दूसरा रूप है। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं के रचना-ज्ञान को प्राप्त करने का मानव प्रयास रसायन विज्ञान का दूसरा अंग है।

### सृष्टि की अनवरत परिवर्तनशीलता

हमारा निरीक्षण केवल द्रव्य के रूप-रंग और गुणों ही तक सीमित नही रह सकता था। हम देखते हैं कि सारी द्रव्यमय सृष्टि भाँति-भाँति के परिवर्तनो द्वारा परिचालित और स्फुरित हो रही है। सृष्टि के सारे कार्यों का समावेश हम परिवर्तन मे ही पाते है। स्वयं हमारा जन्म, जीवन और मृत्यु अविरत परिवर्तन के ही उदाहरण है। हमारे शरीर का निर्माण होता है, बचपन से यौवन और यौवन से वृद्धावस्था आती है, और फिर मृत्यु के बाद शरीर मिट्टी मे मिल जाता है। इसी प्रकार पेड और पौधे उगते है, फूल खिलते है और फिर सूखकर अथवा मुरझाकर धूल मे मिल जाते है। वास्तव मे संसार की कोई भी वस्तु सदा के लिए अपरिवर्तित नही रह सकती। लकड़ी, कोयला तथा अनेक अन्य वस्तुएँ जलने से भस्म हो जाती है। लोहा खुले मे छोड़ देने से मोर्चे में बदल जाता है। दूध रख देने से दही में परिणत हो जाता है। हवा हमारे फेफड़ो में पहुँचकर परिवर्तित रूप मे बाहर निकलती है। भोजन के रूप में ग्रहण की जानेवाली वस्तुएँ शरीर के अंदर पचकर रक्त, मांस और हड्डियों में बदलती है। तदुपरान्त विसर्जित मल हवा, पानी और खाद के परिवर्तनमय संयोग से पेड़-पौधो का कलेवर बन जाता है।

**क्या द्रव्य का विनाश होता है ?**

जब लकड़ी या कोयला जलता है, तो केवल थोड़ी राख बच रहती है। तो बाकी का अंश कहाँ चला गया ? वैज्ञानिक तथ्य यह है कि द्रव्य का नाश कभी नहीं होता। लकड़ी या कोयले के जलने में एक विशेष रासायनिक क्रिया मात्र होती है, जिससे उसका कुछ अंश ऐसे गैसीय पदार्थ मे परिणत हो जाता है, जिसे हम हवा में मिलते हुए देख नही सकते। शेष अंश राख आदि के रूप में बच रहता है।

इस परिवर्तनशीलता पर दार्शनिक एवं साहित्यिक उद्गार प्रकट करने के बाद मनुष्य मे उसके वैज्ञानिक कारणो को जानने की जिज्ञासा पैदा हुई और बड़ी कठिनाइयो एवं असफलताओं के बाद वह इन परिवर्तनो के भेद का ठीक-ठीक वैज्ञानिक उद्घाटन कर सका। इसके फलस्वरूप अब हम
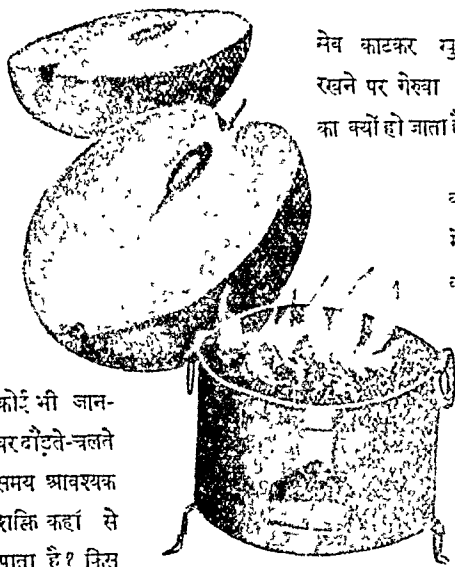
नित्य हमारे आस-पास होनेवाली रासायनिक क्रियाओं के कुछ उदाहरण

जानते है कि प्रत्येक मूल तत्त्व, जिससे भाँति-भाँति के द्रव्य बनते है, बहुत ही छोटे-छोटे कणों के समूहों से बना है। ये कण इतने छोटे होते हैं कि तेज से तेज सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा भी हम उन्हें नहीं देख सकते। संसार के अनेकानेक परिवर्तन इन्हीं परमाणुओं की विभिन्न क्रियाओं, संयोग अथवा वियोग द्वारा हुआ करते है। कुछ उदाहरण लीजिए। कोयला जलता है तो कहाँ चला जाता है ? वह गायब नहीं होता और न उसका नाश ही होता है। वैज्ञानिक तथ्य तो यह है कि द्रव्य का नाश होता ही नही। वह कोयला तो ऐसे एक गैसीय पदार्थ में परिणत हो जाता है, जिसको हवा में मिलते हुए हम देख नहीं सकते। इस गैस का नाम है 'कार्बन डाइआक्साइड'। 'कार्बन' नामक मूल तत्त्व के एक परमाणु और हवा के 'आक्सिजन' नामक मूल तत्त्व के दो परमाणुओं के संयुक्त होने से यह गैस बनती है। इस प्रतिक्रिया में गर्मी के रूप में इतनी शक्ति की उत्पत्ति होती है, जिससे कि हम पानी उबाल सकते हैं, खाना पका सकते है, या मशीन चला सकते है। कोयले में जो न जल सकनेवाली चीजें रहती हैं, वही राख के रूप में शेष रह जाती है।

### क्रिया-प्रतिक्रियाओं का अनोखा चक्र

हमारे कुछ पाठको को यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि ठीक इसी प्रकार से हमारे शरीर को गर्मी और काम करने की शक्ति मिलती है। ऊपर यह बताया जा चुका है कि खाद्य पदार्थों ( जैसे आटा और शक्कर ) मे 'कार्बन' रहता है। यह 'कार्बन' हमारे रुधिर में संयुक्त होकर हमारे फेफडो मे पहुँचता है। फेफडे में साँस लेने से हवा पहुँचती है और उसकी 'आक्सिजन' 'कार्बन' से मिलकर 'कार्बन डाइआक्साइड' बना देती है, जो साँस छोडने पर बाहर निकल आती है। इस प्रतिक्रिया मे

गर्मी पैदा होती है। वही हमारे शरीर को गर्म रखती है और हमें इंजिन की तरह काम करने की शक्ति देती है। जिस प्रकार इंजिन को परिचालित करने के लिए कोयले और पानी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शरीर को जीवित रखने के लिए ऐसे खाद्य पदार्थों की जरूरत होती है, जिनमें कोयला ( कार्वन ) और पानी के संयोग से वने हुए पदार्थ रहते हैं। चावल, आटा, शकर, आलू, साबूदाना, मक्खन आदि में मुख्यतः 'कार्वन' और पानी ही संयुक्त रूप में रहते हैं। अंतर केवल यही होता है कि मशीनों के पुर्जे कारीगर लोग बदलते रहते हैं, लेकिन शरीर के इस अभाव की पूर्ति स्वयं भोजन ही प्रोटीन आदि अन्य अंशों द्वारा किया करता है। इस प्रकार अपने आप उसकी मरम्मत होती रहती है।

लकड़ी के जलने की क्रिया उतनी सादी नहीं है, जितनी कोयले की। लकड़ी में जो 'कार्वन' होता है, वह 'कार्वन डाइ-आक्साइड' में परिणत होकर हवा में मिल जाता है। उसका पानी भाप के रूप में परिवर्तित होकर उड़ जाता है और उसकी 'हाइड्रोजन' भी हवा की 'आक्सिजन' से मिलकर जल-वाष्प में बदल जाती है। लकड़ी यदि थोड़ी हवा देकर ही जलाई जाती है तो वह कोयले में बदल जाती है; क्योंकि इस कोयले को जलाने के लिए पर्याप्त 'आक्सिजन' नहीं मिलती। पृथ्वी के अंदर कोयले की खानों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है। अंतर केवल इतना ही है कि पहला परिवर्तन शीघ्रता से होता है, किन्तु दूसरा 'आक्सिजन' और गर्मी की कमी के कारण युगों में समाप्त होता है।

इस प्रकार मनुष्य और अन्य जंतुओं के फेफड़ों से और कोयला, लकड़ी आदि जलाने से जो 'कार्वन डाइआक्साइड' गैस निकलती है, वही वनस्पतिवर्ग का भोजन हो जाती है। पेड़ अपनी पत्तियों के छिद्रों से साँस लेते हैं और जो 'कार्वन डाइआक्साइड' हवा के साथ मिलकर उनकी हरी पत्तियों में पहुँचती है, उसका कार्वन तो वे ले लेते हैं तथा 'आक्सिजन' को बाहर निकाल देते हैं। इस कार्य को करने के लिए शक्ति उन्हें सूर्य की किरणों से मिलती है और जिस यंत्र द्वारा यह कार्य होता है, वह पत्तियों का हरा पदार्थ 'क्लोरोफिल' है। इस 'कार्वन' का संयोग पेड़ों की जड़ द्वारा आये हुए पानी से होता है, जिससे पेड़ों में पाये जानेवाले पदार्थ—मैदा ( माँड़ी ), शकर, रेशे आदि वन जाते हैं। जड़ों द्वारा पानी के साथ-साथ जिस खाद का शोषण वृक्ष करते हैं, उससे उनके कलेवर के 'प्रोटीन', लवण आदि बनते हैं।

अब कुछ छोटे-छोटे परिवर्तनों को लीजिए। लोहा हवा और पानी में छोड़ देने से एक भूरे-लाल मोर्चे में बदल जाता है। इसका कारण यह है कि लोहे का एक परमाणु हवा और नमी के संपर्क से 'आक्सिजन' के तीन परमाणुओं से संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार जो संयुक्त पदार्थ बनता है, उसी को लोहे का मोर्चा अथवा 'फेरिक आक्साइड' कहते हैं।

'मैग्नेशियम' धातु के रिवन के एक टुकड़े को लीजिए और चिमटी से पकड़कर जलाइए। वह चकाचौंध करनेवाले उजाले और सफेद धुएँ के साथ जल उठता है और 'मैग्नेशियम' की जगह पर एक सफेद बुकनी बन जाती है। यह परिवर्तन कैसे हुआ और यह कौन-सी वस्तु बन गई? यह सिद्ध है कि यह परिवर्तन 'मैग्नेशियम' धातु और 'आक्सिजन' गैस के योग से होता है। 'मैग्नेशियम' का एक परमाणु 'आक्सिजन' के परमाणु से संयुक्त होता है और 'मैग्नेशियम आक्साइड' का एक कण बन जाता है। इस प्रकार के यौगिकों—'कार्वन डाइआक्साइड', पानी, 'फेरिक आक्साइड', 'मैग्नेशियम आक्साइड'—के कणों को 'अणु' कहते हैं। मूल तत्त्वों के भी अणु होते हैं। जैसे, आक्सिजन गैस के प्रत्येक अणु में दो परमाणु संयुक्त रूप में रहते हैं। साधारण दशाओं में 'आक्सिजन' गैस का अस्तित्व इन्हीं अणुओं में होता है।

यहाँ कुछ उदाहरणों द्वारा हमने यह संक्षेप में बता दिया है कि वैज्ञानिकों ने किस प्रकार सफलता के साथ पदार्थों के परिवर्तन के रहस्यों का उद्घाटन किया है। हम देखते हैं कि इस प्रकार के परिवर्तन द्रव्य के विभिन्न प्रकारों के संपर्क अथवा पृथक् होने से हुआ करते हैं। अतः रसायन विज्ञान का तीसरा कार्य द्रव्य की इन क्रियाओं अथवा पारस्परिक प्रतिक्रियाओं पर प्रकाश डालना है।

### रसायन विज्ञान का महत्त्व

अतः रसायन मनुष्य का वह वैज्ञानिक प्रयास है, जो द्रव्य के विभिन्न प्रकारों के वर्गीकरण, उनकी रचना, तथा उनकी क्रियाओं और पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से सम्बन्ध रखता है।

इस युग में रसायनशास्त्र विज्ञान का एक बहुत महत्त्व-पूर्ण अंग है। विभिन्न धातुओं, मशीनों और यंत्रों का बनाना इसी विज्ञान के प्रयोग से सम्भव है। सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, प्लैटिनम, रेडियम, अलुमीनियम, राँगा आदि बहु-मूल्य धातुएँ; शीशा, साबुन, रंग, रासायनिक खादें, शकर, औषधियाँ, सीमेंट, चूना आदि अनेकानेक उपयोगी चीजें; मनुष्य के लिए नितान्त उपयोगी, किन्तु साथ ही साथ

मानव-युद्ध को भीषण रूप देनेवाले विस्फोटक पदार्थ आदि, इस युग की सहस्रों वस्तुएँ इसी विज्ञान के द्वारा मनुष्य को उपलब्ध हो सकी हैं। मनुष्य का ऐसा कोई निर्माण-कारी कार्य नहीं है, जिसमें इस विज्ञान का प्रयोग न होता हो। यदि इस विज्ञान का विकास न हुआ होता तो मनुष्य, वास्तव में, अब भी पत्थर के युग में ही पड़ा होता।

# पदार्थों के भौतिक और रासायनिक गुण

**भिन्न-भिन्न पदार्थों की ठीक-ठीक परख, उनके उपयोग तथा वर्गीकरण की पहली सीढ़ी उनके गुणों की जानकारी है, जिनके कारण वे एक दूसरे से भिन्न दिखाई देते हैं। इस अध्याय में उन्हीं का दिग्दर्शन कराया गया है।**

किसी भी पदार्थ के रसायन का अध्ययन करने के लिए हमें क्रमशः निम्न बातों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है—(१) उस पदार्थ के आविष्कार, नामकरण आदि का इतिहास, (२) वे स्थान अथवा वस्तुएँ जिनमें वह पदार्थ पाया जाता है, (३) उस पदार्थ के उत्पादन और निर्माण की विभिन्न रीतियाँ, (४) उसके गुण, (५) उसके परखने की रीतियाँ, (६) उसके उपयोग, तथा (७) उसकी अणु-रचना का निर्धारण। यहाँ पर हमें अन्य बातों के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, केवल यह जानना है कि पदार्थों के गुण कितने प्रकार के और कौन-कौन होते हैं, और उनका अध्ययन किस प्रकार किया जाता है।

### भौतिक और रासायनिक गुण एवं परिवर्तन

किसी भी पदार्थ के गुण दो प्रकारों में विभक्त किये जा सकते हैं—भौतिक गुण और रासायनिक गुण। जब हम कहते हैं कि सिंदूर लाल है, शीशा पारदर्शी है, पानी तरल है, शकर मीठी है, लोहा भारी है, नमक घुलनशील है, ताँबा गर्मी और बिजली का अच्छा संचालक है, गंधक गर्म करने पर पिघल जाता है, तो हम इन विभिन्न वस्तुओं के एक-न-एक ऐसे किसी गुण का उल्लेख करते हैं, जिसका सम्बन्ध उन वस्तुओं के बाहरी रंगरूप अथवा आचरण से है और जिससे हमें उन वस्तुओं के अणुओं की बनावट अथवा उनमें हो सकनेवाले किसी परिवर्तन का कुछ भी बोध नहीं होता। ऐसे गुणों को हम 'भौतिक गुण' कहते हैं, क्योंकि ये गुण पदार्थों की भौतिक अवस्थाओं के ही परिचायक होते हैं। किन्तु यदि हम कहें कि लोहे में मोर्चा लगने का गुण है; कोयले में जल जाने का गुण है, अथवा कार्बन डाइआक्साइड गैस में चूने के पानी को सफेद कर देने का गुण है, तो हम उनके कुछ ऐसे गुणों का वर्णन करते हैं, जिनमें हमें उन वस्तुओं के अणुओं में होनेवाले परिवर्तनों का बोध होता है। अतएव इन गुणों को हम 'रासायनिक गुण' कहते हैं।

इसी प्रकार, हम किसी पदार्थ में हो सकनेवाले सारे परिवर्तनों को भी दो प्रकारों में विभाजित करते हैं—भौतिक परिवर्तन और रासायनिक परिवर्तन। अगर हम ताँबे की एक छड़ को लचाएँ तो वह लच जायगी, पानी को खूब ठंढा करें तो वह जमकर ठोस बर्फ हो जायगा, प्लैटिनम के तार को गर्म करें तो लाल होकर वह चमकने लगेगा और शकर को पानी में डालें तो वह घुल जायगी। इन सब बातों में कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य होता है, लेकिन किसी में भी ऐसा नहीं होता कि वह पदार्थ ही किसी बिलकुल नये प्रकार के पदार्थ में परिणत हो जाय, अर्थात् उस पदार्थ के अणु ही किसी दूसरे पदार्थ के अणुओं मे परिवर्तित हो जायँ। जिस शक्ति अथवा कारण द्वारा यह परिवर्तन हुए है, यदि हम उसे हटा लें अथवा विपरीत दिशा में उस शक्ति का उपयोग करें, तो हमें प्रथम रूप में ही वह वस्तु फिर मिल जायगी। ताँबा दूसरी ओर झुकाकर फिर सीधा किया जा सकता है, बर्फ गर्म करके पानी में फिर बदली जा सकती है, प्लैटिनम का तार ठंढा करके फिर अपनी हालत में लाया जा सकता है और पानी को सुखाकर फिर वही शकर निकाली जा सकती है। स्पष्टतः, ये सारे परिवर्तन अधिक अस्थाई होते हैं। इन परिवर्तनों को, जिनमें द्रव्य वही बना रहता है, अर्थात् वह किसी अन्य प्रकार के द्रव्य में परिणत नहीं होता, 'भौतिक परिवर्तन' कहते हैं। इनको भौतिक इसलिए कहते हैं कि ये परिवर्तन पदार्थों की भौतिक अवस्थाओं में ही होते हैं।

लेकिन कोयले अथवा गंधक के जलने, सोडियम धातु और पानी में प्रतिक्रिया होने अथवा कार्बन डाइआक्साइड गैस द्वारा चूने के पानी के सफेद हो जाने में हमें कुछ ऐसे परिवर्तनों के उदाहरण मिलते हैं, जिनमें एक प्रकार का

द्रव्य बदलकर किसी दूसरे प्रकार के द्रव्य में परिणत हो जाता है—एक पदार्थ के अणु किसी दूसरे ही पदार्थ के अणुओं मे बदल जाते है। ऐसे परिवर्तनों को हम 'रासायनिक परिवर्तन' कहते है। ये परिवर्तन अधिक स्थाई होते है और विना किसी विशेष रासायनिक रीति के हम नई वनी हुई वस्तुओं से मूल वस्तुओं को नहीं निकाल सकते। कोयला जलकर एक विलकुल भिन्न पदार्थ कार्वन डाइआक्साइड गैस में परिणत हो जाता है, लेकिन कार्वन डाइआक्साइड गैस को ठंढा करने से हमें कोयला (कार्वन) कदापि न मिलेगा, उससे कार्वन निकालने के लिए हमें रासायनिक रीतियों का ही सहारा लेना पड़ेगा।

## वैज्ञानिक किस प्रकार पदार्थों का अध्ययन करता है

किसी वस्तु के रसायन का अध्ययन करने में हमें उसके भौतिक और रासायनिक दोनो ही गुणों की परीक्षा करनी पड़ती है। भौतिक गुणो के अध्ययन के विना न पदार्थ ही आसानी से पहचाने जा सकते है, न उनका वर्गीकरण ही हो सकता है, और न ठीक-ठीक उपयोग ही। अतएव उनका अध्ययन करना आवश्यक है। भौतिक गुणो की परीक्षा एक स्वाभाविक क्रमवद्ध रीति से ही की जाती है। जव कोई अपरिचित पदार्थ हमारे ध्यान को आकर्पित करता है तो हम अपनी ज्ञानेन्द्रियो द्वारा उसके साधारण भौतिक गुण जानने का प्रयत्न करते है—हम स्वभावतः पहले उसे देखते है, फिर प्रायः उसे सूंघते है अथवा यदि चखने योग्य हुआ तो चखते हैं, फिर झुकाते, मरोड़ते या तोड़ते है, और फिर अपने दैनिक जीवन की साधारणतम वस्तुओ, अर्थात् पानी, आग (गर्मी), हवा, विजली आदि के संसर्ग में उसे लाते और इनका उस पदार्थ पर प्रभाव देखते है। पदार्थो के साधारण गुणों का अध्ययन अथवा उनका वर्णन हम इसी क्रम के अनुसार करते है। कुछ विशेष भौतिक गुणों को निर्धारित करने के लिए हमें विशेष प्रकार के उपकरणो की भी सहायता लेनी होती है और कुछ विशेष प्रकार के प्रयोग भी करने पड़ते है। किसी भी वस्तु को केवल देखकर हम उसके रंग, चमक, अवस्था, पारदर्शित्व और आकार इन सव गुणो से परिचित हो जाते है।
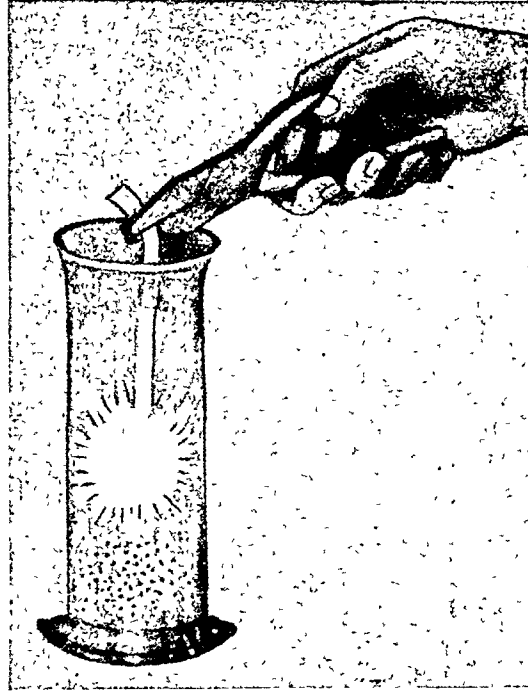
रासायनिक परिवर्तन का एक उदाहरण
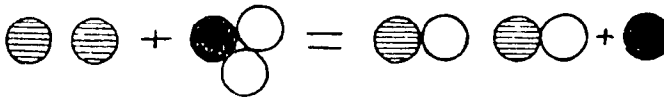
अगर हम कार्वन डाइआक्साइड में मैग्नेशियम को जलाएँ तो इस रासायनिक क्रिया द्वारा कार्वन के छोटे-छोटे टुकडे निकल आते है और मैग्नेशियम कार्वन डाइआक्साइड की आक्सिजन से मिलकर मैग्नेशियम आक्साइड वन जाता है। इस प्रकार रासायनिक क्रिया द्वारा ही कार्वन डाइआक्साइड से कार्वन निकल सकता है, किसी भौतिक परिवर्तन द्वारा नही।

## ठोस, द्रव और गैस

द्रव्य का अस्तित्व तीन अवस्थाओं में होता है—ठोस द्रव और गैस। जो वस्तु किसी जगह रखने पर अपने आयतन और रूप को नहीं वदलती अर्थात् जिसका अपना ही आयतन और रूप होता है, उसे 'ठोस' कहते है। हमारे चारो ओर ज्यादेतर ठोस वस्तुएँ ही दिखाई देती है। पत्थर, लोहा, कोयला आदि वस्तुएँ साधारण दशाओं मे ही होती है। लेकिन पानी, दूध, तेल, पारा आदि वस्तुएँ जिस वर्तन में डाली जाती है, उसी के रूप की हो जाती है, किंतु तव भी उनके आयतन में कोई अतर नही आता। ऐसे पदार्थो को 'द्रव' कहते है। तीसरी अवस्थावाले पदार्थ अर्थात् गैसो का न तो आयतन ही निश्चित होता है और न रूप ही, वे जिस पात्र में रहते है उसी आयतन और रूप के हो जाते है।
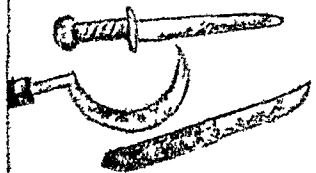
## रासायनिक परिवर्तनों के कुछ उदाहरण
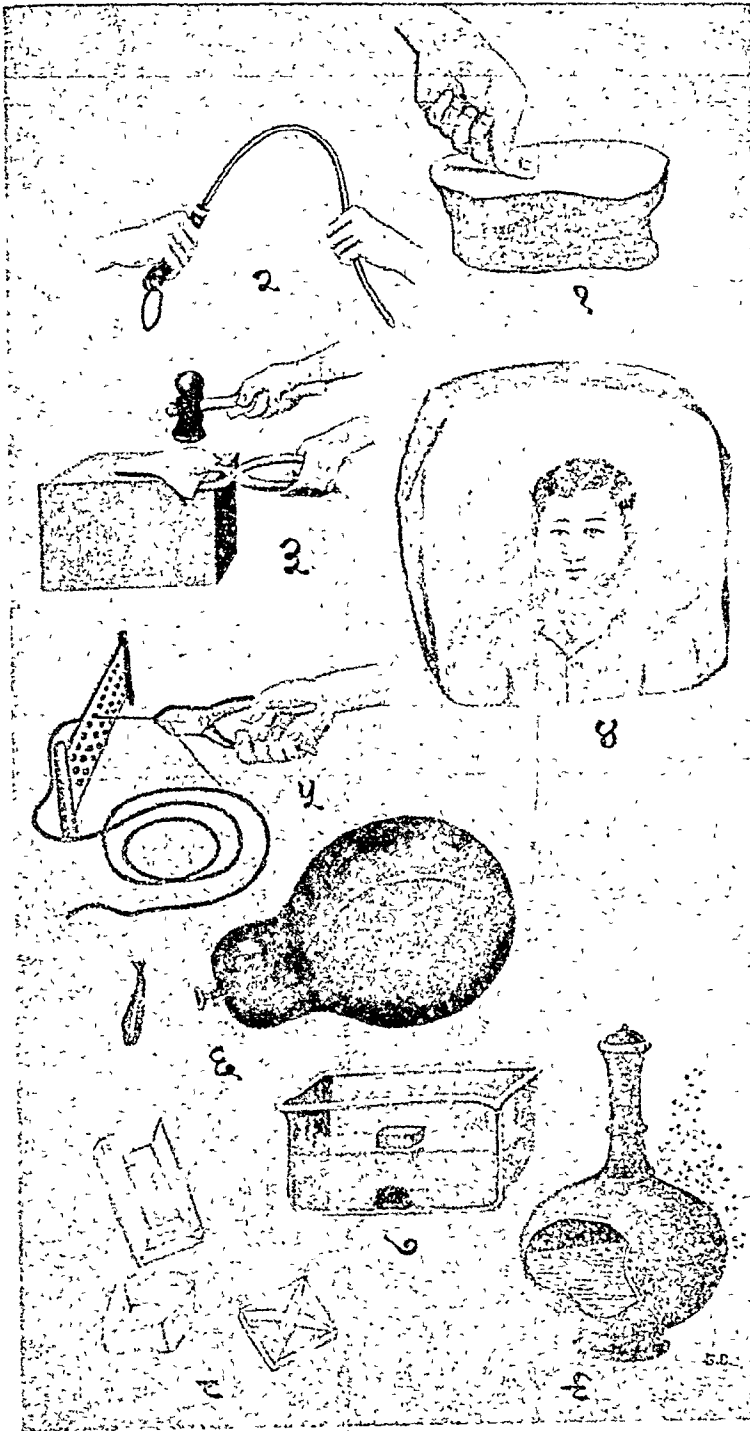
रबर के गुब्बारे मे भरी हुई हाइड्रोजन गैस अथवा साइकिल या मोटर के टायर में भरी हुई हवा उन्ही के आयतन और रूप की हो जाती है। अगर हम थोड़ी-सी कोई गंधानेवाली गैस, जैसे क्लोरीन गैस या हाइड्रोजन सल्फाइड गैस, किसी कमरे में छोड दे तो उसकी गंध सारे कमरे मे फैल जायगी, यह इसलिए कि वह फैलकर सारे कमरे के आयतन और आकार की हो जाती है। यहां पर यह कहना असगत न होगा कि कोई भी वस्तु अपने तापक्रम और दवाव की दशाओं के अनुसार तीनो अवस्थाओ मे रह सकती है। प्रकृति में इस सिद्वात का प्रदर्शन नित्यप्रति पानी द्वारा होता है। मनुष्य इसकी तीनों अवस्थाओं—वर्फ, जल और वाष्प से सुपरिचित है।

### पारदर्शी, अल्पपारदर्शी और निष्पारदर्शी

इसी प्रकार, पारदर्शित्व के अनुसार भी हम पदार्थो को तीन वर्गो में विभक्त कर सकते है। शीशा, हवा, पानी आदि को हम 'पारदर्शी' कहते है, क्योकि इनके भीतर से प्रकाश

**पदार्थों के कुछ भौतिक गुण**

(नं० १) कठोरता; (नं० २) लचकीलापन; (नं० ३) आघातवर्द्धनीयता; (नं० ४) पारदर्शित्व (यह शीशे का टुकडा लगभग फीट भर मोटा है, फिर भी उसके उस पार बैठे हुए लड़के का चेहरा साफ दिखाई देता है); (नं० ५) तातवना; (नं० ६) स्थितिस्थापकता (गुब्बारा फुलाने से रबड़ बढ़कर दूसरे आकार का हो जाता है, लेकिन हवा के निकल जाने पर फिर उसी रूप मे आ जाता है); (नं० ७) घनत्व (पानी मे लकडी तैर रही है, पर लोहा तले में बैठ गया है); (नं० ८) कुछ स्फटिक रूप (ये नमक, सोडा, फिटकरी के रवों के रूप हैं); (नं० ९) छिद्रमयता (पानी सुराही के ऊपर आकर वाष्प के रूप मे उड़ रहा है)।

आ-जा सकता है और इनमें से हम दूसरी वस्तुओं को स्पष्ट देख सकते हैं। कुछ वस्तुएँ, जैसे घिसा शीशा, तेलिया कागज आदि, ऐसी होती हैं, जिनमें से थोड़ा-सा ही प्रकाश आ-जा सकता है और जिनके पार की वस्तुओं को हम धुँधला ही देख सकते हैं। ऐसी वस्तुओं को 'अल्प-पारदर्शी' कहते है। तीसरे प्रकार की वस्तुओं, जैसे लोहा, लकड़ी, पत्थर आदि के पार हम बिल्कुल नहीं देख सकते; कारण, उनमें प्रकाश की किरणें बिल्कुल प्रविष्ट नहीं हो सकतीं। ऐसी वस्तुओं को 'निष्पारदर्शी' कहते है।

### रवादार और बेरवादार

आकार की दृष्टि से पदार्थ दो प्रकारों में विभाजित होते है। कुछ पदार्थ, जैसे नमक, शकर, फिटकरी आदि, ऐसे होते हैं जिनके कण अथवा टुकड़े एक नियत आकार के और जिनके तल सीधी रेखाओं से घिरे होते है। ऐसे कणों अथवा टुकड़ो को 'रवा' अथवा 'स्फटिक' कहते है, और जो वस्तु इस रूप मे रहती है उसे रवादार अथवा स्फटिक-रूप कहते है। इसके विपरीत कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं, जिनके कणों में कोई नियत रूप नही रहता। कोयला, शीशा, चूना, मैदा आदि वस्तुएँ इसी प्रकार की होती है। इन वस्तुओं को बेरवादार कहते है।

### पदार्थों के गुण-धर्म के अन्य प्रकार

सूँघने अथवा चखने से हम वस्तुओं की गंध और स्वाद को जान लेते है और फिर स्पर्श द्वारा यह ज्ञात करते है कि वह वस्तु खुरदरी है या समतल अथवा कठोर है या कोमल। इसके बाद हम उस वस्तु को तोड़ने, मरोड़ने, झुकाने अथवा खींचने का प्रयत्न करते है। जो वस्तुएँ हथौड़े आदि द्वारा पीटने से टुकडे-टुकडे हो जाती है, उन्हे 'भंजनशील' कहते है, किन्तु जो वस्तुएँ टूटती नही वरन् बढ़कर फैल जाती है, उन्हे 'आघातवर्द्धनीय' कहते है। नमक, खड़िया और शीशा भंजनशील है, किंतु सोना, चाँदी और ताँबा आघातवर्द्धनीय है। कुछ वस्तुएँ, विशेषतः सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुएँ, ऐसी होती है जिनके हम तार खींच सकते है; ऐसी वस्तुओं को हम 'तातव' कहते है। कुछ वस्तुएँ झुकाने से झुक जाती है, किन्तु छोड़ देने पर वे फिर अपनी पहली दशा और रूप में आ जाती है। ऐसी वस्तुओं को 'लचकीली' अथवा 'लचकदार' कहते है। बेंत, घडी की कमानी, तलवार का फल आदि वस्तुएँ लचकदार होती है। परंतु कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो झुकाने से तो झुक जाती हैं, लेकिन छोड़ देने पर झुकी ही बनी रहती है, पहले
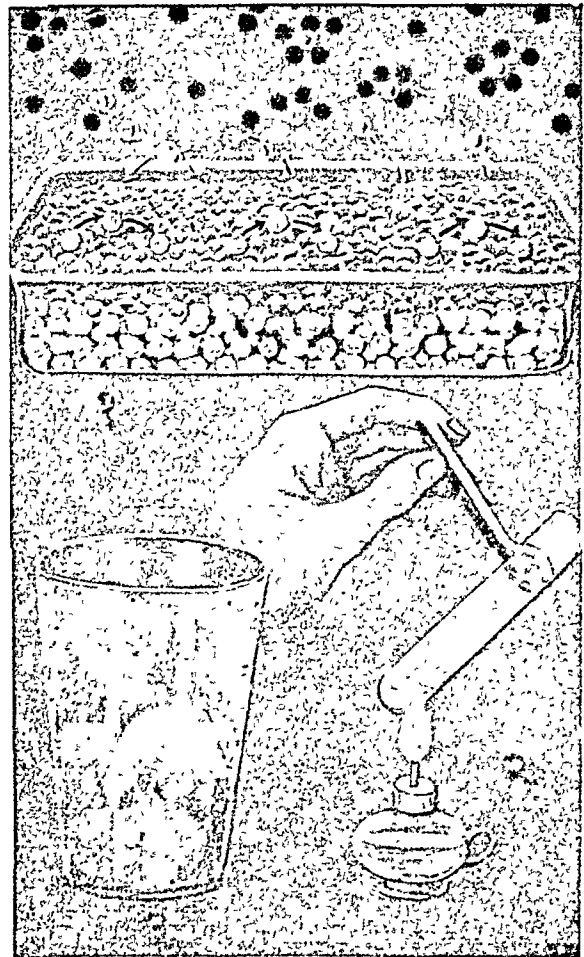
**कुछ भौतिक परिवर्तन**

( नं० १) **वाष्पीकरण**—द्रव के अणु बराबर गति में रहते हैं और इस प्रकार तल के कुछ अणु हवा के अणुओं में जा मिलते है। बहाव में यह भीगी हुई हवा हटती जाती है और दूसरी शुष्क हवा वही कार्य करने के लिए उसके स्थान में आ जाती है। पर हम देखते है कि इससे पानी के अणुओं में कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं होता। ( नं० २ ) **उर्ध्वपातन**—अगर हम एक परोचानली में थोड़ा-सा नौसादर (अमोनियम क्लोराइड) लेकर गर्म करें तो वह बिना पिघले ही वाष्परूप में परिणत हो जायगा और ऊपर ठंढी सतह पर फिर जम जायगा। ( नं० ३ ) **घनीकरण**—अगर हम किसी धातु या शीशे के बर्तन में बर्फ भरकर रख दें तो थोड़ी ही देर में हम देखेंगे कि बर्तन की बाहरी सतह भीग जाती है और उस पर पानी की बूँदें दिखाई पड़ने लगती हैं। ये बूँदें हवा में मिली हुई जलवाष्प के घनीकरण द्वारा उत्पन्न होती है। यह भी केवल एक भौतिक परिवर्तन का उदाहरण है।

आकार मे नही आती। ऐसी वस्तुओ को 'नम्य' कहते है। सोना, चाँदी, सीसा आदि धातुओ के तारो एवं पत्रो मे यही गुण होता है। वे वस्तुएँ जो खींची, झुकाई अथवा बढाई जा सकती है, लेकिन छोड देने पर तुरत सिकुड़कर अपना प्रथम रूप और आकार ले लेती है, 'स्थितिस्थापक' अथवा 'इलास्टिक' कहलाती है। कुछ रबडो में यह गुण मिलता है और कुछ फीतो को इलास्टिक इसीलिए कहते है कि उनमे यह बढने-घटने का गुण रहता है।
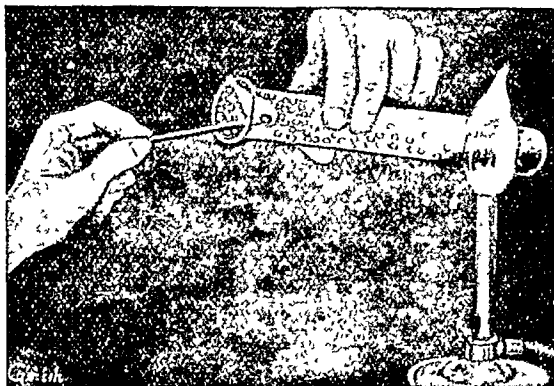
**रासायनिक विच्छेदन**

यदि हम परीक्षानली में पारद आक्साइड को गर्म करे तो आक्सिजन गैस बाहर निकलने लगती है और पारद के छोटे-छोटे गोल कण परीक्षानली की ठंडी सतह पर घनीभूत हो जाते है। यदि हम सुलगती दियासलाई नली के मुह के पास ले जाए तो वह भक से जल उठती है। प्रकट है कि निकलती हुई गैस आक्सिजन ही है।

जो पदार्थ सरलता से किसी भी रूप मे ढाला अथवा परिणत किया जा सके और वही रूप वह बनाये भी रक्खे उसे 'ढलनशील' या 'प्लास्टिक' कहते है। प्लास्टर और पानी मिली चिकनी मिट्टी इसके उदाहरण हैं।

किसी वस्तु को पानी मे डालने से हमे यह पता चलता है कि वह वस्तु पानी सोखती है अथवा नही, अर्थात् वह 'छिद्रमय' है अथवा 'छिद्रहीन'। वह वस्तु पानी मे तैरती है अथवा नीचे बैठ जाती है, इस बात से हमे पानी की अपेक्षा उसके हलकेपन अथवा भारीपन का पता चलता है। यदि हम चाहे तो भौतिक रीतियो से यह भी निकाल सकते है कि कोई वस्तु पानी से कितनी गुनी भारी है। जिस सख्या मे यह प्रकट होता है, उसे 'आपेक्षिक घनत्व' कहते हैं। गैसो के घनत्व की तुलना हम पानी के घनत्व से नही, वरन् हाइड्रोजन अथवा हवा के घनत्व से करते है। इसके अलावा, पानी मे छोड़ने से हमें यह भी पता चलता है कि वह वस्तु पानी में घुलती है अथवा नही, अर्थात् 'घुलनशील' है अथवा 'अघुलनशील'। भौतिक रीतियो द्वारा हम यह भी जान सकते है कि कौन वस्तु किस द्रव में कितनी घुलती है।

किसी वस्तु को गर्म करने मे हमें यह मालूम होता है कि वह वस्तु गर्मी की अच्छी सचालक है अथवा बुरी। इसके अतिरिक्त, उसे गर्म अथवा ठडा करने से हमें उसके पिघलने, उबलने, जमने आदि के विषय में भी ज्ञान प्राप्त होता है। जिस तापक्रम पर कोई ठोस पिघलता है, उसे उस पदार्थ का 'द्रवणांक' कहते ह; और ठंडा करने से जिस तापक्रम पर कोई द्रव जम जाता है उसे उस द्रव का 'हिमांक' कहते है। एक ही पदार्थ का द्रवणांक और हिमांक एक ही होता है। बर्फ $0^{\circ}C$ पर पिघलती है और पानी उसी तापक्रम पर जमता है। जिस तापक्रम पर कोई द्रव उबलता है, उसे उस द्रव का 'क्वथनाक' कहते है। उबलने की क्रिया में द्रव शीघ्रता से वाष्परूप मे परिणत होता रहता है। जब कोई गैस काफी ठडी की जाती है अथवा उस पर काफी दबाव डाला जाता है तो वह द्रव रूप में परिणत हो जाती है। इस परिवर्तन को 'द्रवीकरण' कहते है। द्रवीकरण का तापक्रम भी निकाला जा सकता है। हाइड्रोजन गैस साधारण दबाव मे २५३°C के नीचे द्रव रूप मे रहती है। इसी प्रकार किसी वाष्प के द्रवरूप मे परिवर्तित होने को 'घनीकरण' कहते

**प्रपुष्पण**

रवादार धोनेवाला सोडा जब हवा में खुला छोड़ दिया जाता है तो उसका पानी धीरे-धीरे उड़ जाता है और सोडा खिलकर पाउडर का रूप ग्रहण कर लेता है।

है। प्रायः सभी द्रव साधारण दशाओं में भी अपने तल से धीरे-धीरे वाष्परूप में परिणत होते रहते हैं। इस परिवर्तन को 'वाष्पीकरण' कहते हैं। कुछ द्रव, जैसे स्पिरिट और ईथर, शीघ्रता से वाष्परूप में उड़ जाते हैं। ऐसे द्रवों को 'उड़नेवाले द्रव' कहते हैं। नौसादर और आयडीन जैसे कुछ ठोस द्रव्य गर्म करने पर द्रवित नहीं होते, किन्तु सीधे वाष्परूप में बदल जाते हैं और ठंडक पाने पर वह वाष्प फिर सीधे ठोस रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार के परिवर्तन को 'ऊर्ध्वपातन' कहते हैं। कुछ वस्तुएँ, जैसे नमक, गर्म करने पर चटचटाने की आवाज करके छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाती हैं। इसको 'चटखना' कहते हैं।

इसके बाद हम उस वस्तु पर हवा का प्रभाव देखते हैं। हवा में रखने से कुछ वस्तुएँ पानी सोखती हैं। ऐसी वस्तुओं को 'जलग्राही' कहते हैं। कास्टिक सोडा अथवा कैल्शियम क्लोराइड के एक टुकड़े को खुली हवा में यदि हम छोड़ रखें तो वह इतना पानी सोखेगा कि स्वयं ही उसमें घुल-सा जायगा।

**रवों का पानी**

जब नीला तूतिया परीक्षानली में गर्म किया जाता है तो उसके रवों का पानी निकल जाता है और एक सफेद पाउडर बच रहता है। पानी की बूँदें परीक्षानली की ठंडी सतह पर घनीभूत हो जाती हैं और नीचे गिराकर इकट्ठा की जा सकती हैं। यदि इस बचे हुए सफेद पाउडर में हम फिर पानी डालें तो वह फिर से नीला हो जाता है।

इस प्रकार, भौतिक गुणों का अध्ययन करने के बाद हम पदार्थों के रासायनिक गुणों का अध्ययन करते हैं। रासायनिक गुणों का अध्ययन करने में भी हम पहले उन रासायनिक परिवर्तनों को देखते हैं जो उस वस्तु में हमारी दैनिक जीवन की साधारणतम वस्तुओं—आग (गर्मी), हवा, पानी आदि—के संसर्ग से होते हैं। जो वस्तु लौ में गर्म करने से जल उठती है, उसे 'ज्वलनशील' कहते हैं। जल जाने पर हम यह देखते हैं कि कौन-सी नई वस्तु बन गई। जो वस्तुएँ नहीं जलती, उन्हें 'अज्वलनशील' कहते हैं। कुछ पदार्थों को गर्म करने से वे दो या अधिक प्रकार की नई वस्तुओं में पृथक् हो जाते हैं। इसको 'विच्छेदन' कहते हैं; जैसे, पारद आक्साइड को गर्म करने से आक्सिजन गैस निकलती है और एक नया पदार्थ पारद धातु बन जाता है। कुछ वस्तुओं में केवल हवा में रखने से ही रासायनिक परिवर्तन हुआ करते हैं; जैसे लोहा, ताँबा आदि धातुओं में मोर्चा लगता है, चूना बहुत दिन रखने पर खड़िया में परिवर्तित हो जाता है, और तूतिया, सोडा सरीखे कुछ स्फटिक पदार्थों के रवों का पानी उड़ जाता है, जिसके कारण ये वस्तुएँ बेरवादार रूप में रह जाती हैं। इस प्रकार रवों के बेरवादार हो जाने को उनका खिल जाना अथवा 'प्रपुष्पण' कहते हैं। पानी के संसर्ग से भी बहुत-सी वस्तुओं में रासायनिक परिवर्तन होते हैं। चूना पानी में डालने से उससे संयुक्त होता है और 'बुझ' जाता है और इस रासायनिक क्रिया में इतनी गर्मी की उत्पत्ति होती है कि पानी बहुधा उबलने तक लगता है। शुष्क तूतिया जैसे कुछ बेरवादार पदार्थ पानी से संयुक्त होकर अपने रवे बनाते हैं, और सोडियम धातु की पानी के साथ ऐसी प्रतिक्रिया होती है, जिसमें हाइड्रोजन गैस निकलती है और कास्टिक सोडा बन जाता है।

आइए, अब देखिए कि वैज्ञानिक जब किसी भी द्रव्य या पदार्थ का वर्णन करते हैं तो किस प्रकार उसके विविध भौतिक और रासायनिक गुणों का विवरण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए, सुप्रसिद्ध मूल तत्व 'आक्सिजन' का परिचय सुनिए, जो कि हमारे वायुमंडल का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके भौतिक गुण यह कहकर बखाने जाते हैं कि यह एक रंगरहित, गंधरहित, स्वादरहित गैस है, जो वायु से भारी और जल में कुछ-कुछ घुलनशील है। यह गैस शून्य से ११८.८° नीचे तापक्रम पर द्रव में परिणत

होजाती है और शून्य से २१९° नीचे तापक्रम पर बर्फ के समान ठोस रूप ग्रहण कर लेती है। उस समय उसका रंग कुछ पिलौहे नीले वर्ण का हो जाता है। इसके रासायनिक गुणो का बखान यह कहकर होता है कि यह स्वतः तो अप्रज्वलनशील है, किन्तु प्रज्वलन की क्रिया में अत्यधिक सहायक है। यह एक अत्यन्त क्रियाशील तत्व है, जो अनेक पदार्थों के साथ मिल जाने को सदैव तत्पर रहता है।

इन साधारणतम वातों का अध्ययन करने के बाद हम पदार्थो पर अन्य वस्तुओ की रासायनिक क्रियाओ अथवा प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करते है।

# मूल तत्त्व—वे पाँच और ये एक सौ एक

**द्रव्य जगत् का निर्माण करनेवाले मूल तत्वों के संबंध में किस प्रकार भिन्न-भिन्न युगों तथा विभिन्न देशों में मनुष्य की धारणाएँ निरंतर बदलती रहीं और अंत में किस प्रकार वह अपने इतिहास के शैशव-काल के मूढ़ विश्वासों एवं भ्रान्त धारणाओं से मुक्त होकर वैज्ञानिक सत्य तक पहुँचा, इसका विवरण इस प्रकरण में सुनिए।**

मानव ज्ञान का इतिहास तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम युग अथवा ज्ञान की शैशवावस्था मे मनुष्य मूढ विश्वासों से घिरा था। वह वैज्ञानिक सत्य से बहुत दूर था। वह अपने चारों ओर होती हुई प्राकृतिक घटनाओं का निरीक्षण तो करता था, किन्तु उनके सच्चे कारणों को समझ लेने मे वह सर्वथा असमर्थ था। जो बात मनुष्य की बुद्धि के परे होती है, उसे वह बहुधा अलौकिक अथवा ईश्वरीय समझने लगता है; अतएव उस काल के मनुष्य के लिए यह समझ लेना स्वाभाविक ही था कि प्राकृतिक घटनाएँ विभिन्न अलौकिक शक्तियों द्वारा ही प्रेरित होती है। आँधी और पानी, बिजली-बादल, बाढ और भूकम्प, ग्रहण और उल्कापात, आदि बड़ी से-बड़ी प्राकृतिक घटनाओ से लेकर छोटी-से-छोटी भौतिक-रासायनिक घटनाओं को भी वह दैवी अथवा अलौकिक शक्तियों द्वारा प्रेरित समझता था। इन्ही धारणाओं के आधार पर मनुष्य ने अज्ञानवश देवो और दैत्यों, भूतो और पिशाचों, चुड़ैलों और डाइनो, शकुनों और अपशकुनो, जादू और टोनो, मत्रो और तंत्रो, इन्द्रजालों और अभिचारो, आदि की सैकड़ों मिथ्या कल्पनाएँ गढ़ डाली। उदाहरणार्थ, सूर्य और चन्द्रग्रहण के सत्य को न समझ पाने के कारण उसने राहु की कल्पना की और जल-वर्षा के रहस्यो को न

**प्राचीन अंध धारणाओं के दो उदाहरण**

(ऊपर) यह माना जाता था कि ग्रहण के समय राहु नामक राक्षस सूर्य या चंद्रमा को डस लेता है और वर्षा तथा बिजली इंद्र के वज्र-प्रहार के कारण होते है। (दाहिनी ओर) अम्लराज में घुलते हुए सोने का सिंह द्वारा हडपे जाते हुए सूर्य के प्रतीक द्वारा और रसपुष्प के रसकर्पूर में परिवर्तन होने की क्रिया का अपनी पूँछ हड़पते हुए अजगर के प्रतीक द्वारा प्रतिदर्शन।

सुलभा सकने के कारण उसने इन्द्र के अस्तित्व को माना। संसार के सभी भागों में प्राचीन काल में इस प्रकार की अलौकिक धारणाओं का बोलबाला रहा है। इनका प्रभाव अब तक जनसाधारण पर देखा जा सकता है।

## प्राचीन मनुष्य की अंध धारणाएँ

इस युग का मनुष्य पदार्थों की रचना तथा उनमें होने-वाले परिवर्तनों की वास्तविकता से भी नितांत अनभिज्ञ था। पत्थर के युग को पार करके वह लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी, सीसा, पारा आदि धातुओं तथा शीशा, रंग आदि अनेक रासायनिक पदार्थों का निर्माण तथा उपयोग कर लेने लगा; लेकिन दुर्भाग्यवश तब भी वह उनकी वैज्ञानिकता से वंचित रहा। उसको यह सारा कार्य सिखानेवाला अनुभव था, तर्क नहीं—उसकी कारीगरी कलात्मक थी, वैज्ञानिक नहीं। नीचे दिए हुए उद्धरणों से उस समय के मानव मस्तिष्क की अवस्था का कुछ परिचय मिलेगा। अथर्ववेद के मुक्ता-सम्बन्धी एक मंत्र का कुछ अंग इस प्रकार है,—"देवताओं की अस्थि मोती में परिणत हो गई, जो सजीव होकर सागर में निवास करती है।" रसार्णव नामक तंत्र में हर गौरी से कहते है,—"अभ्रक तेरा बीज है और पारद मेरा। दोनों का संयोग, हे देवि, मृत्यु और दरिद्रता का संहार कर देता है।" रसपुष्प (पारा से बना हुआ 'पारदिक क्लोराइड' नामक एक विषाक्त यौगिक) जब पारे के साथ गर्म किया जाता है तो वह रसकर्पूर (पारदिक क्लोराइड) में परिणत हो जाता है। इस रासायनिक घटना का वर्णन योरप का एक प्राचीन रासायनिक इस प्रकार करता है—"भयानक अजगर वशीभूत होकर ऐसा अधीन हो जाता है कि वह स्वयं अपनी ही पूंछ को हड़प लेने के लिए बाध्य होता है।" एक अन्य प्राचीन पाश्चात्य पुस्तक में अम्लराज (अर्थात् हाइड्रोक्लोरिक और नाइट्रिक अम्लों के मिश्रण) में घुलते हुए सोने को सिंह द्वारा हड़पे जाते हुए सूर्य के चित्र से प्रतिदर्शित किया है। पाठकों ने देखा होगा कि ये सारे कथन वैज्ञानिक दृष्टि से नितान्त उपहासास्पद अथवा अर्थहीन हैं।

**प्राचीन जातियों द्वारा उद्योग-धंदों में रसायन का प्रयोग**

(क) प्राचीन चीनी लोग जस्ता धातु निकाल रहे हैं; (ख) प्राचीन यूनानियों के जल स्रवण आदि के यंत्र; (ग और घ) प्राचीन मिस्री स्वर्णकार सुवर्ण को गलाकर धो और तौल रहे हैं।

## दार्शनिक युग में प्रवेश

कुछ ही हजार वर्ष पहले समस्त मानव जाति ज्ञान की इसी अवस्था में जीवन-यापन कर रही थी; और इस युग का अन्त अब भी हो गया है, यह कहना ठीक नहीं होगा। दुर्भाग्यवश आज भी मानव जाति का एक बहुत बड़ा भाग इसी प्रथम युग का प्रतिनिधि है। अतः ज्ञान के तीनों युग, वास्तव में, एक दूसरे से पृथक् नहीं, बल्कि सम्मिश्रित हैं।

ज्ञान के दूसरे युग में अथवा यों कहिए कि ज्ञान की बाल्यावस्था में मनुष्य की मानसिक चेष्टा केवल मूढ़ विश्वासों तक ही सीमित नहीं रह गई। उसे

इनके औचित्य में कुछ-कुछ संदेह होने लगा और वह सत्य की खोज के लिए व्याकुल हो उठा। लेकिन दुर्भाग्यवश अब भी वह इस खोज के लिए वैज्ञानिक सामर्थ्य एवं साधन उपलब्ध न कर सका। अतएव तर्क-वितर्क द्वारा गहरे विचारों में लीन होकर सत्य तक पहुँचने की चेष्टा वह करने लगा। इस प्रकार इस युग में आकर मनुष्य दार्शनिक मे परिणत हो गया। इस युग को इसीलिए दार्शनिक युग कहते हैं। कपिल और कणाद, प्लैटो और अरिस्टॉट्ल, आदि महापुरुष इस युग के महान् प्रतिनिधि हैं। इस काल का प्रारम्भ लगभग तीन हजार वर्ष पहले हुआ था। जो कुछ वैज्ञानिक अथवा आधिभौतिक सत्य मनुष्य इस युग में उपलब्ध कर सका, वह सब था अपने निरीक्षण तथा दार्शनिक तर्क-वितर्कों के बल पर ही, अन्य किसी वैज्ञानिक साधन के सहारे नहीं। इसका यह अर्थ नही कि मनुष्य केवल दार्शनिक ही था। वह महान् कलाकार भी था। लेकिन उसकी कलाएँ अब भी ... विश्वासो से बुरी ... मिश्रित थी। वह ... से ...

...के कुछ रासायनिक यंत्र
...कर आयुर्वेद और चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में ...चय प्राप्त किया था और वे इसके लिए ... यत्रो का प्रयोग किया करते थे।

## पंच तत्त्व

इस दार्शनिक युग में आकर जब मनुष्य के दार्शनिक चक्षु विधिवत् सृष्टि के प्रति खुले तो उसे सृष्टि के द्रव्यों में भौतिक गुणो की विभिन्नता का अनुभव हुआ। इस अनुभव के फलस्वरूप उसके समक्ष पाँच विभिन्न वस्तुएँ अपने महान् अस्तित्व का विज्ञापन करने लगीं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश। उसने देखा कि सारी सृष्टि का निर्माण इन्ही पाँच प्रकार की वस्तुओं से हुआ है, अतएव ये पाँचों सृष्टि के मूल तत्त्व कहलाए। पृथ्वी ठोस वस्तुओं का मूल तत्त्व समझी गई, जल तरल पदार्थों का, वायु गैसीय वस्तुओ का, अग्नि शक्ति का और आकाश उस शून्य का मूल तत्त्व समझा गया, जिसमे सारी सृष्टि विस्तृत है। सृष्टि के सारे द्रव्य का अस्तित्व तीन अवस्थाओं—ठोस, द्रव अथवा गैस—में होता है; इसके अतिरिक्त उसमें जो कुछ है वह या तो शक्ति के रूप मे है अथवा 'ईथर' के रूप मे शून्य में विस्तृत है। अतएव भौतिक दृष्टि से हमारे पुरातन पुरुषों का यह वर्गीकरण वैज्ञानिक एवं महत्वपूर्ण है। कपिल के सांख्य दर्शन में इन मूल तत्त्वो का वर्णन विस्तारपूर्वक मिलता है। ...के अरिस्टॉट्ल और उसके पहले के दार्शनिक केवल प्रथम ... मूल तत्त्वों को ही मानते थे और चीन के दार्शनिक ... मूल तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, काष्ठ और धातु—...प्ति में ही विश्वास करते थे। अत. यह स्पष्ट है ...तिक दृष्टि से भारतीयों का वर्गीकरण सबसे बढ़ा-...। किंतु रासायनिक दृष्टि से इन सारी मूल तत्त्व

संबंधी कल्पनाओं का कोई आधार ही न था। ईसा के कई सौ वर्ष पहले से ही मूल तत्त्व संबंधी यही धारणाएँ ज्ञानियों में प्रचलित थीं; और यद्यपि आज विज्ञान-जगत् में ये मूल तत्त्व केवल ऐतिहासिक महत्व के रह गए हैं, तथापि कवियों और कलाविदों में अब भी उनके प्रति आदर है। तुलसी आदि पुराने कवियों से लेकर हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं तक में पंच तत्त्व की कल्पना का उपयोग हुआ है। इसी प्रकार अंग्रेजी में भी 'the fury of the elements' आदि कथन अब भी प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि इनका उपयोग विज्ञान के प्रचार के साथ-साथ कम होता जा रहा है।

अपनी विचार-शक्ति द्वारा भारत के प्राचीन दार्शनिक केवल पंच तत्त्वों तक ही नहीं, अणुओं और परमाणुओं तक भी पहुँच गए थे। कणाद के हजारों वर्ष पहले के अणु और परमाणु संबंधी विचार हमें आज भी आश्चर्यान्वित करते हैं। योरप में तो परमाणुवाद का संदेश केवल लगभग डेढ सौ वर्ष पहले सन् १८०८ ई० में जॉन डाल्टन ने दिया था। हाँ, जॉन डाल्टन के परमाणु संबंधी सिद्धांत कणाद से अधिक परिपक्व अवश्य थे।

## वैज्ञानिक दिशा में आरंभिक कदम

यह सब कुछ होते हुए भी, केवल दार्शनिक शक्तियों के बल पर विज्ञान का क्रमबद्ध विकास भला कैसे संभव हो सकता था! यह असंभव था कि दर्शन ही अकेला सारी प्राकृतिक घटनाओं के रहस्यों का उद्घाटन कर सकता। अतएव सत्य के अन्वेषण के लिए इस बार मनुष्य की वैज्ञानिक वृत्तियाँ भी चिन्तित हो उठीं। इस प्रारंभिक वैज्ञानिक चेष्टा का श्रेय योरपवालों को ही प्राप्त है। इन चेष्टाओं के साथ-ही-साथ मनुष्य के ज्ञान की प्रौढावस्था अर्थात् उसके वैज्ञानिक युग का उद्घाटन होता है। इस युग का प्रारंभ सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से होता है, अर्थात् इसको शुरू हुए तीन सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए। इसके पहले योरप में लोग रासायनिक विधियों द्वारा पारस पत्थर अथवा अमृत को ढूंढ निकालने के प्रयत्न में लगे हुए थे। इस युग का पहला महान् रासायनिक अग्रदूत रावर्ट ब्वॉयल था, जिसने पहले पहल इन ध्येयों का तिरस्कार किया। उसने रसायन का अध्ययन केवल सत्य के अन्वेषण के लिए किया, और विज्ञान-जगत् को प्रयोगों के महत्व का संदेश दिया। रावर्ट ब्वॉयल ने ही सबसे पहले यह दिखलाया कि रासायनिक दृष्टि से पंच तत्त्व का सिद्धांत निराधार है। उसने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि सुवर्ण अन्य वस्तुओं से संयुक्त होकर विभिन्न यौगिकों में तो परिणत हो सकता है, लेकिन स्वयं उससे कोई अन्य पदार्थ नहीं निकल सकता; अर्थात् सुवर्ण एक ऐसा द्रव्य है, जो दो या अधिक सरलतर पदार्थों में कदापि विच्छेदित नहीं हो सकता। किसी भी विधि द्वारा वह सुवर्ण से पंच तत्त्वों को न निकाल सका, अतएव उसने साहस के साथ पंच तत्त्वों के सिद्धांत को अस्वीकृत कर दिया और स्वयं सुवर्ण को ही एक मूल तत्त्व उसने माना। इसी प्रकार अन्य अनेक धातुएँ भी मूल तत्त्व सिद्ध हुईं। आज दिन भी, ब्वॉयल के अनुसार, मूल तत्त्व द्रव्य के किसी ऐसे प्रकार को कहते हैं, जो दो या अधिक सरलतर पदार्थों में विच्छेदित नहीं हो सकता हो, अर्थात्

**रावर्ट ब्वॉयल**

जिसने रसायन का अध्ययन केवल सत्य के अन्वेषण के लिए स्थापित कर आधुनिक रसायन विज्ञान की नींव डाली।

इनके औचित्य में कुछ-कुछ संदेह होने लगा और वह सत्य की खोज के लिए व्याकुल हो उठा। लेकिन दुर्भाग्यवश अब भी वह इस खोज के लिए वैज्ञानिक सामर्थ्य एवं साधन उपलब्ध न कर सका। अतएव तर्क-वितर्क द्वारा गहरे विचारों में लीन होकर सत्य तक पहुँचने की चेष्टा वह करने लगा। इस प्रकार इस युग में आकर मनुष्य दार्शनिक में परिणत हो गया। इस युग को इसीलिए दार्शनिक युग कहते है। कपिल और कणाद, प्लैटो और अरिस्टॉट्ल, आदि महापुरुष इस युग के महान् प्रतिनिधि है। इस काल का प्रारम्भ लगभग तीन हजार वर्ष पहले हुआ था। जो कुछ वैज्ञानिक अथवा आधिभौतिक सत्य मनुष्य इस युग में उपलब्ध कर सका, वह सब था अपने निरीक्षण तथा दार्शनिक तर्क-वितर्कों के बल पर ही, अन्य किसी वैज्ञानिक साधन के सहारे नहीं। इसका यह अर्थ नही कि मनुष्य केवल दार्शनिक ही था। वह महान् कलाकार भी था। लेकिन उसकी कलाएँ अब भी अन्ध-विश्वासों से बुरी तरह मिश्रित थी। वह यौगिकों से अनेक धातुएँ निकाल सकता था और इन धातुओ से न केवल आभूषण, अस्त्र, आदि वरन् अनेक उपयोगी रस, लवण आदि यौगिको को भी तैयार कर सकता था। भारतवर्ष के चरक, सुश्रुत, नागार्जुन, वाग्भट्ट जैसे महापुरुष तथा अरब के जबीर और ईरान के अलरजी इन रासायनिक कलाकारो के कुछ उदाहरण है। इन्हे यद्यपि आज जैसे रसायनवेत्ताओ की श्रेणी में नही रक्खा जा सकता, फिर भी उनकी साधना का ऐतिहासिक महत्त्व कम नही है।

**प्राचीन भारतवासियों के कुछ रासायनिक यंत्र**

प्राचीन भारतवासियों ने विशेषकर आयुर्वेद और चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में विभिन्न रासायनिक क्रियाओं से परिचय प्राप्त किया था और वे इसके लिए ऊपर प्रदर्शित उपकरणों जैसे तरह-तरह के यन्त्रो का प्रयोग किया करते थे।

## पंच तत्त्व

इस दार्शनिक युग मे आकर जब मनुष्य के दार्शनिक चक्षु विधिवत् सृष्टि के प्रति खुले तो उसे सृष्टि के द्रव्यों में भौतिक गुणो की विभिन्नता का अनुभव हुआ। इस अनुभव के फलस्वरूप उसके समक्ष पाँच विभिन्न वस्तुएँ अपने महान् अस्तित्व का विज्ञापन करने लगी—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश। उसने देखा कि सारी सृष्टि का निर्माण इन्ही पाँच प्रकार की वस्तुओं से हुआ है, अतएव ये पाँचों सृष्टि के मूल तत्त्व कहलाए। पृथ्वी ठोस वस्तुओं का मूल तत्त्व समझी गई, जल तरल पदार्थो का, वायु गैसीय वस्तुओ का, अग्नि शक्ति का और आकाश उस शून्य का मूल तत्त्व समझा गया, जिसमे सारी सृष्टि विस्तृत है। सृष्टि के सारे द्रव्य का अस्तित्व तीन अवस्थाओ—ठोस, द्रव अथवा गैस—मे होता है; इसके अतिरिक्त उसमे जो कुछ है वह या तो शक्ति के रूप में है अथवा 'ईथर' के रूप मे शून्य में विस्तृत है। अतएव भौतिक दृष्टि से हमारे पुरातन पुरुषों का यह वर्गीकरण वैज्ञानिक एवं महत्वपूर्ण है। कपिल के साख्य दर्शन में इन मूलतत्त्वो का वर्णन विस्तारपूर्वक मिलता है। ग्रीस के अरिस्टॉट्ल और उसके पहले के दार्शनिक केवल प्रथम चार मूल तत्त्वों को ही मानते थे और चीन के दार्शनिक पॉच मूल तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, काष्ठ और धातु—की व्याप्ति में ही विश्वास करते थे। अत यह स्पष्ट है कि भौतिक दृष्टि से भारतीयों का वर्गीकरण सबसे बढ़ा-चढ़ा था। किंतु रासायनिक दृष्टि से इन सारी मूल तत्त्व

संबंधी कल्पनाओं का कोई आधार ही न था। ईसा के कई सौ वर्ष पहले से ही मूल तत्त्व संबंधी यही धारणाएँ ज्ञानियों में प्रचलित थीं; और यद्यपि आज विज्ञान-जगत् में ये मूल तत्त्व केवल ऐतिहासिक महत्व के रह गए है, तथापि कवियों और कलाविदों में अब भी उनके प्रति आदर है। तुलसी आदि पुराने कवियों से लेकर हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं तक में पंच तत्त्व की कल्पना का उपयोग हुआ है। इसी प्रकार अंग्रेजी में भी 'the fury of the elements' आदि कथन अब भी प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि इनका उपयोग विज्ञान के प्रचार के साथ-साथ कम होता जा रहा है।

अपनी विचार-शक्ति द्वारा भारत के प्राचीन दार्शनिक केवल पंच तत्त्वों तक ही नहीं, अणुओं और परमाणुओं तक भी पहुँच गए थे। कणाद के हजारों वर्ष पहले के अणु और परमाणु संबंधी विचार हमें आज भी आश्चर्यान्वित करते है। योरप में तो परमाणुवाद का संदेश केवल लगभग डेढ सौ वर्ष पहले सन् १८०८ ई० मे जॉन डाल्टन ने दिया था। हाँ, जॉन डाल्टन के परमाणु संबंधी सिद्धांत कणाद से अधिक परिपक्व अवश्य थे।

## वैज्ञानिक दिशा में आरंभिक कदम

यह सब कुछ होते हुए भी, केवल दार्शनिक शक्तियो के बल पर विज्ञान का क्रमबद्ध विकास भला कैसे संभव हो सकता था! यह असंभव था कि दर्शन ही अकेला सारी प्राकृतिक घटनाओं के रहस्यों का उद्घाटन कर सकता। अतएव सत्य के अन्वेषण के लिए इस बार मनुष्य की वैज्ञानिक वृत्तियां भी विचलित हो उठीं। इस प्रारंभिक वैज्ञानिक चेष्टा का श्रेय योरपवालों को ही प्राप्त है। इन चेष्टाओं के साथ-ही-साथ मनुष्य के ज्ञान की प्रौढावस्था अर्थात् उनके वैज्ञानिक युग का उद्घाटन होता है। इस युग का प्रारंभ सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से होता है, अर्थात् इसको शुरू हुए तीन सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए। इसके पहले योरप में लोग रासायनिक विधियो द्वारा पारस पत्थर अथवा अमृत को ढूंढ निकालने के प्रयत्न मे लगे हुए थे। इस युग का पहला महान् रासायनिक अग्रदूत रावर्ट ब्वॉयल था, जिसने पहले पहल इन ध्येयों का तिरस्कार किया। उसने रसायन का अध्ययन केवल सत्य के अन्वेषण के लिए किया, और विज्ञान-जगत् को प्रयोगो के महत्व का संदेश दिया। रावर्ट ब्वॉयल ने ही सबसे पहले यह दिखलाया कि रासायनिक दृष्टि से पंच तत्त्व का सिद्धान्त निराधार है। उसने प्रयोगो द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि सुवर्ण अन्य वस्तुओ से संयुक्त होकर विभिन्न यौगिकों में तो परिणत हो सकता है, लेकिन स्वयं उससे कोई अन्य पदार्थ नहीं निकल सकता; अर्थात् सुवर्ण एक ऐसा द्रव्य है, जो दो या अधिक सरलतर पदार्थो में कदापि विच्छेदित नही हो सकता। किसी भी विधि द्वारा वह सुवर्ण से पंच तत्त्वो को न निकाल सका, अतएव उसने साहस के साथ पंच तत्त्वो के सिद्धांत को अस्वीकृत कर दिया और स्वयं सुवर्ण को ही एक मूल तत्त्व उसने माना। इसी प्रकार अन्य अनेक धातुएँ भी मूल तत्त्व सिद्ध हुई। आज दिन भी, ब्वॉयल के अनुसार, मूल तत्त्व द्रव्य के किसी ऐसे प्रकार को कहते है, जो दो या अधिक सरलतर पदार्थो मे विच्छेदित नहीं हो सकता हो, अर्थात्

रावर्ट ब्वॉयल

जिसने रसायन का अध्ययन केवल सत्य के अन्वेषण के लिए स्थापित कर आधुनिक रसायन विज्ञान की नींव डाली।

जिसमें एक ही प्रकार के पदार्थ का अस्तित्व हो। रावर्ट व्वॉयल के समय मे ही इंग्लैंड, फ्रास और जर्मनी में वैज्ञानिक सभाएँ खुली और लगभग इसी समय में गैलीलियो, न्यूटन आदि महान् वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कारों द्वारा भौतिक विज्ञान को भी आगे बढाया। फलत: वैज्ञानिक अनुसंधान का कार्य अब उत्साहपूर्वक होने लगा। किंतु इस समय मे विज्ञान की उन्नति मे एक बहुत बड़ी बाधा 'फ्लोजिस्टनवाद' नामक धारणा से पड़ी। इसका परिचय आगे ऑक्सिजन के अध्याय में दिया गया है। इस फ्लोजिस्टनवाद ने लगभग सवा सौ वर्ष तक रसायन विज्ञान की क्रमबद्ध उन्नति को रोके रक्खा। अंत मे सन् १७७३ से सन् १७७७ तक की अवधि मे लवॉयसियर और प्रीस्टली ने इस फ्लोजिस्टन का भंडाफोड़ कर डाला। इन दोनो महान् वैज्ञानिक वीरों के अनुसंधानो के बाद रसायन विज्ञान की यथार्थत: क्रमबद्ध उन्नति हो चली।

### तब जो पॉच थे, वे आज एक सौ एक हैं

व्वॉयल के समय से आज तक ससार में एक सौ एक मूल तत्त्वो का अस्तित्व सिद्ध हो चुका है, जिनमें से लगभग सभी तत्त्व विभिन्न पदार्थो से निकाले जा चुके हैं और उनके भौतिक और रासायनिक गुणों तथा उनकी उपयोगिता की परीक्षा भी हो चुकी है। इनमे से कई मूल तत्त्वो से हमारे प्राचीन रासायनिक भी परिचित थे, लेकिन उन्हे इनका मूल तत्त्व होना ज्ञात न था। नवान्वेपित मूल तत्त्वो मे हाइड्रोजन, पोटैशियम, मैग्नेशियम, फॉस्फोरस ऐसे प्रज्वलनशील तथा मनोरंजक, हीलियम, नियन और आर्गन ऐसे निष्क्रिय; अलुमीनियम, क्रोमियम और प्लैटिनम ऐसे मोर्चा न लगनेवाले; टंग्सटन और टैंटलम ऐसे ऊँचे द्रवांकवाले धातु; आक्सिजन, क्लोरीन और आयँडीन ऐसे औपधोपयोगी; रेडियम, थोरियम, यूरेनियम, प्लूटोनियम ऐसे नवकिरणोत्पादक (रेडियो-एक्टिव) तथा दूसरे मूल तत्त्वों में परिवर्तित होते रहने वाले; और सीरियम, लैंथनम और स्कैंडियम ऐसे विरल मूल तत्त्वों का आविष्कार हुआ है।

### पृथ्वी में कौन मूल तत्त्व किस मात्रा में विद्यमान है

हमारी पृथ्वी मे कौन मूल तत्त्व कितने परिमाण में है, इसका अध्ययन मनोरंजक है। वायु और जलमंडलों को साथ लेकर चौबीस मील गहराई तक का पार्थिव चिप्पड़ मुख्यत. (९९ प्रतिशत) केवल १२ मूल तत्त्वों से बना है। उसके भार का लगभग आधा तो आक्सिजन ही है और लगभग एक चौथाई सिलिकन है। शेप चौथाई भाग में दस मूल तत्त्व हैं। इन बारह मूल तत्त्वों के नाम और इनके प्रतिशतांक इस प्रकार हैं—
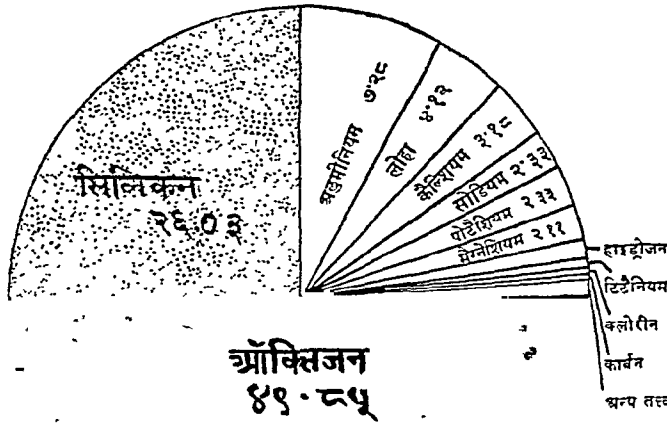
**हमारी पृथ्वी में कौन तत्त्व कितने परिमाण में है**

ऊपर के मानचित्र द्वारा आपको पृथ्वी और उसके वायुमण्डल की रचना करनेवाले विभिन्न मूल तत्त्वों के परिमाण का कुछ अंदाज लग सकता है। प्रतिशत प्रत्येक तत्त्व कितना है, यह अंकों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि पृथ्वी का निर्माण करने वाले द्रव्य का लगभग आधा भाग ऑक्सिजन तत्त्व है और शेप में अन्य सब तत्त्व हैं।

| | |
|---|---|
| आक्सिजन .... ... | ४९.८५ |
| सिलिकन ... .... | २६.०३ |
| अलुमीनियम .... .... | ७.२८ |
| लोहा ... ... | ४.१२ |
| कैल्शियम .... ... | ३.१८ |
| सोडियम .... .... | २.३३ |
| पोटैशियम .... .... | २.३३ |
| मैग्नेशियम .... .... | २.११ |
| हाइड्रोजन .... .... | ०.९७ |

| | |
|---|---|
| टिटैनियम .... .... | ०·४१ |
| क्लोरीन .... .... | ०·२० |
| कार्बन .... .... | ०·१९ |
| | ९९·०० |
| शेष ८० मूल तत्त्व | १·०० |
| | १००·०० |

एक मनोरंजक बात यह है कि यद्यपि कार्बन सारे जगत् में व्याप्त है, तथापि उसका अंश पृथ्वी की रचना में कितना कम है ! टिटैनियम नामक दुष्प्राप्य मूल तत्त्व का अंश भी कार्बन से अधिक है ! एक दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि पृथ्वी के चिप्पड मे अलुमीनियम धातु का परिमाण लोहे से लगभग दुगुना है, यद्यपि लोहे का उपयोग मनुष्य द्वारा अधिक होने के कारण अलुमीनियम व्यवहार मे कम दिखाई देता है ।

**मूल तत्त्वों का वर्गीकरण**

मूल तत्त्वों के गुणों के आधार पर वैज्ञानिको ने उनका कई दृष्टियो से वर्गीकरण भी किया है । उदाहरणार्थ, जो मूल तत्त्व प्राय. चमकदार, ठोस, आघातवर्धनीय, तातव, भारी, गर्मी और बिजली के अच्छे संचालक, तथा आक्सिजन के संयोग से क्षारीय ( जल से संयुक्त होकर क्षार में परिवर्तित होने वाले ) ऑक्साइडो के उत्पादक होते है, और घोल में जिनके 'आयन' ( विद्युन्मय अणुभाग ) धन विद्युत् से आविष्ट होते है, उन्हें 'धातु' कहते है । तांबा, चाँदी, सोना, सोडियम, पोटैशियम, पारा, लोहा, प्लैटिनम, आदि मूल तत्व सभी 'धातु' है । जिन मूल तत्त्वो में उपर्युक्त भौतिक गुण प्रायः नही होते, जो आक्सिजन से संयुक्त होकर आम्लिक (अर्थात् जल से सयुक्त होकर अम्ल में परिणत होनेवाले) आक्साइडो मे बदल जाते है और जिनके 'आयन' ऋण विद्युत् मे आविष्ट होते है, उन्हें 'अधातु' कहते है । कुछ मूल तत्त्वो के गुण धातुओ और अधातुओ के गुणो के बीच के होते है, और वे कभी धातुओ के और कभी अधातुओ के गुण प्रदर्शित करते रहते है । ऐसे मूल तत्त्वो को 'उपधातु' ( metalloids ) कहते है । आर्सेनिक और ऐंटिमनी मूल तत्त्व उपधातुओ के उदाहरण है । यह वर्गीकरण, वास्तव में, अस्पष्ट है । कारण, यह आवश्यक नही कि किसी धातु अथवा अधातु मे उसके उपर्युक्त सभी गुण मिले । अत. एक दूसरे वर्गीकरण मे मूल तत्त्व भौतिक और रासायनिक गुणो के आधार पर कौटुबिक वर्गो में विभक्त कर दिए गए हैं । इस विभाजन को 'आवर्त्त सविभाग' ( Periodic Classification) कहते है । यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि इससे सारे रसायन विज्ञान के रूप मे उलट-फेर है, जिससे उसका अध्ययन बहुत सुगम हो गया है । इसका वर्णन आगे के एक खंड में है । मनुष्य ने वैज्ञानिक युग के प्रथम ढाई-तीन सौ वर्षो मे ही सृष्टि के एक सौ एक मूल तत्त्वो का अनुसधान कर डाला है । यही नही, इन मूल तत्त्वो तथा उनके यौगिको के निर्माण की विधियो तथा उनके गुणो को ढूंढ निकालकर उन्हे मानव-जीवन के विभिन्न विभागो मे लाभपूर्वक प्रयुक्त भी किया है । कहाँ वे तीन सौ वर्ष पहले के दार्शनिक पंच तत्त्व और कहाँ ये आजकल के एक सौ एक वैज्ञानिक मूल तत्त्व कितना अतर है !
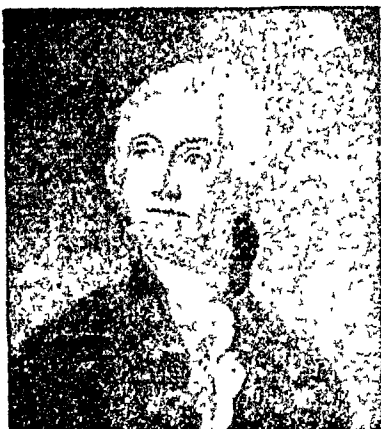
**रसायन विज्ञान के दो महान् अग्रदूत लवॉयसियर और प्रीस्टली**

जिन्होंने 'फ्लोजिस्टनवाद' के भूत का भंडाफोड़ कर आधुनिक रसायन को मजबूत नीव पर स्थापित किया । न्यायल की तरह इन दोनों वैज्ञानिकों का नाम भी रसायन विज्ञान के इतिहास में अमर रहेगा ।

पिछले कुछ वर्षो में पहले के बानवे मूल तत्त्वो मे एक सौ एक की सख्या तक की जो अभिवृद्धि हुई है, उसका एकमात्र श्रेय परमाणुशक्ति के विकास सम्बन्धी हाल की सिद्धियो को है । कौन जानता है, आगे चलकर १०१ मूल तत्त्वो का यह परिवार और अधिक बढ जाय ।

**मानवीय जिज्ञासा का अमर प्रतीक—नचिकेता**

इस बात मे संदेह है कि संसार के दार्शनिक इतिहास में अन्य किसी भी देश में जिज्ञासा के महत्त्व और स्वरूप को समझने का ऐसा सुन्दर प्रयत्न किया गया हो, जैसा कि हमारे दार्शनिक साहित्य में कठ उपनिषद् के नचिकेता-उपाख्यान मे मिलता है। वास्तव मे, यह एक रूपक है। *'नचिकेता' शब्द यथार्थ जिज्ञासु का सूचक है और यह जिज्ञासावृत्ति* मनुष्य में प्रायः मृत्यु (यम) के सन्निकट होने अर्थात् मृत्यु का भय उपस्थित होने पर जागरूक हो उठती है। महाजिज्ञासु बालक नचिकेता ने यम द्वारा प्रदत्त समस्त भौतिक सुखों के प्रलोभनों को ठुकराकर एकमात्र नित्य तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने की अपनी उत्कण्ठा के समाधान ही की याचना की थी।

# जिज्ञासा

**एक अद्भुत पहेली की तरह हजारों वर्षों से मनुष्य के मस्तिष्क को उलझन में डाले हुए इस अचरजभरे सृष्टि प्रपंच के वास्तविक रहस्य को जानने की उत्कंठा ही दर्शन की जननी है। परन्तु 'दर्शन' यथार्थतः है क्या ? आइए, देखें।**

मैं कौन हूँ ? यह सृष्टि क्या है ? इसका बनानेवाला कौन है ? यह कब बनी और कब इसका अन्त होगा ? मै स्वयं भविष्य में रहूँगा या नही ? इससे पूर्व मेरा अस्तित्व था या नही ? मैं सुखी क्यो हूँ ? प्राणी दुखी क्यों है ? उनके कर्मों का फल होता है या नहीं ? सच्चा सुख क्या है ? मनुष्य का प्रकृति के साथ क्या सम्बन्ध है ? इंद्रियो मे होनेवाला ज्ञान विश्वास के योग्य है या नही ? इस प्रकार के असंख्य प्रश्नों की जिज्ञासा से दार्शनिक विचार का जन्म होता है। मनुष्य को जब से अपने इतिहास का ज्ञान है, तब से आज तक कोई भी ऐसा समय नही हुआ, जब उसकी मननात्मक प्रवृत्ति ने उसे चैन से बैठने दिया हो। विचारो का बवंडर न केवल संसार के दुःखों से पीड़ित प्राणी को ही झकझोरता है, वरन् कभी-कभी सब प्रकार से सुखी मनुष्य के मन में भी वह उथल-पुथल मचा डालता है। यह आँधी जितनी बलवती होती है, उतनी ही गहराई से मनुष्य विचार करने पर विवश होता है। 'कस्त्वं कोऽहम्' की मीमांसा मनुष्य के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी कि अन्नवस्त्रादिक के द्वारा उसकी सामान्य रहन-सहन। गौतम बुद्ध के जीवन से हम इस नियम की सत्यता को समझ सकते हैं। एकछत्र राज्य का अपरिमित वैभव जिस विलास की सामग्री को उपस्थित कर सकता है, उसके बीच सुकुमारता से पले हुए राजकुमार सिद्धार्थ को कोई भी प्रलोभन विषयोपभोग के बंधन में बाँधकर नहीं रख सका। जिस समय मनुष्य के मन में ऊपर कहे हुए विचारो का चक्र चलता है, विषयों का मधुर आस्वाद उसे विष के समान जान पड़ता है। विचारो की वह झंझावात ही सच्ची जिज्ञासा है। इस प्रकार की जिज्ञासा ही दर्शन की जननी है। यह जिज्ञासा दिव्य अग्नि के समान है। इससे दग्ध मनुष्य का हृदय ही सत्य की प्राप्ति का एक मात्र पुण्यस्थल है।

## जिज्ञासावृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण—नचिकेता

भारतीय दर्शन का सूत्रपात करनेवाले मनीषियों ने जिज्ञासा को बड़ा महत्व दिया है। 'जिज्ञासु' पद हमारे यहाँ एक विशेष अधिकार को सूचित करता है। जो जिज्ञासु नहीं है, जिसमे 'जानने' की भूख नही है, वह दार्शनिक ज्ञान का अधिकारी नहीं माना जा सकता। बहुधा जब हम अपने सम्बन्ध से अथवा अन्य किसी के सम्बन्ध से मृत्यु के नाटक के अति सन्निकट होते है, तब हमारी जिज्ञासा-वृत्ति जागरूक हो उठती है और उस समय 'कस्त्वं कोऽहम्' के प्रश्न हमें सच्चे और आवश्यक जान पड़ते है। हमारे साहित्य में जिज्ञासा-वृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण नचिकेता* है। उसकी जिज्ञासा का उदय भी यम के सान्निध्य में होता है। नचिकेता (न + चिकेतस्) शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसके अंदर जानने की उत्कट इच्छा हो, परंतु जो जानता न हो। जिज्ञासा के वर को नचिकेता सर्वश्रेष्ठ समझता है.—

**नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्** (कठ उपनिषद् १।२२)

*इसका उपाख्यान कठ उपनिषद में है। यह वाजश्रवा ऋषि का पुत्र था। एक बार ऋषि ने दक्षिणा में अपना सर्वस्व दे डाला। तब पिता से यह बार-बार पूछने लगा कि 'मुझे किसको दे रहे है ?' पिता ने रोष मे कह दिया कि 'मै तुम्हें मृत्यु को अर्पित करता हूं।' इस पर नचिकेता यम (मृत्यु) के पास चला गया। यम से उसने 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। यम ने तरह-तरह के प्रलोभन देकर इस जिज्ञासा को छोड़ देने के लिए उसे फुसलाया, किन्तु नचिकेता ने अपनी टेक न छोड़ी और तीन दिन तक निराहार रहकर कठोर सत्याग्रह किया। अन्त में यम ने उसे 'ब्रह्मज्ञान' का उपदेश दिया।

अर्थात् मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व है या नहीं, प्राणी का स्वरूप क्षणभंगुर है अथवा नित्य तत्त्ववाला है—इस प्रश्न के समान अन्य कोई प्रश्न नही है, इसलिए इस शंका के समाधान का वरदान ही सर्वातीत है। नचिकेता के प्रलोभन के लिए यमराज उसके सामने अनेक कामनाएँ रखते हैं—'चिरजीवी पुत्र-पौत्र, बहुत-से पशु-सवारियाँ, अमित धन-राशि, पृथ्वी का राज्य, सुन्दर स्त्रियाँ, कल्पांत आयु—जितने भी मर्त्यलोक के दुर्लभ काम हैं, हे जिज्ञासु, उनको इच्छानुसार तुम चुन सकते हो।' यही सारा वैभव तो गौतम बुद्ध के सामने भी था। परन्तु दार्शनिक प्रश्नों की मीमांसा इस लौकिक सामग्री से कभी संभव नही। नचिकेता ने जो उत्तर दिया था, वह उत्तर दार्शनिक संसार के प्रमुख तोरणद्वार पर आज भी अमिट अक्षरों मे लिखा हुआ है—'यदि मनुष्य का मरण ध्रुव है, तो उसके लिए ये अनित्य पदार्थ किस काम के हैं? इनसे इंद्रियों का तेज क्रमश. क्षीण होता रहता है। जीवन की अवधि स्वल्प है, इसमें नृत्य-गीत के लिए स्थान कहाँ? चाँदी और सोने के रुपहले-सुनहले टुकड़ों से कब मनुष्य का पेट भरा है? सुनहरी दलदल में पड़ने से पहले ही उस प्रश्न का समाधान ढूँढने का प्रयत्न करना उचित है।'

## दर्शन—क्या और क्यों?

यह मन:स्थिति ही सच्ची जिज्ञासा है। हमारे दार्शनिक साहित्य मे कठ उपनिषद् का नचिकेता उपाख्यान इसीलिए महत्वपूर्ण है। जितने ज्वलंत रूप में दार्शनिक जिज्ञासा का परिचय हमें यहाँ मिलता है, उतना अन्यत्र कही नही। इस बात में संदेह है कि संसार के दार्शनिक इतिहास में अन्य किसी भी देश में जिज्ञासा के महत्व और स्वरूप को समझने का ऐसा सुन्दर प्रयत्न किया गया हो। जिज्ञासा के साथ दार्शनिक विचारो की उद्भावना व्योमविहारी पक्षिराज गरुड़ की उड़ान के सदृश है। बिना सच्ची जिज्ञासा के तत्त्वज्ञान की उधेड़-बुन बुद्धि का कुतूहल-मात्र रह जाता है। दिमाग की पैंतरेबाजी से जिस दर्शन का जन्म होता है, उसे भारतीय परिभाषा के अनुसार 'दर्शन' कह सकना कठिन है। हम यह नहीं कहते कि इस प्रकार दिमाग पर जोर डालकर दर्शन की सृष्टि यहाँ कभी नहीं की गई। हमारा आशय तो इतना ही है कि जिज्ञासा के बाद जो तत्त्व-ज्ञान की मीमांसा की जाती है, उसके और शुष्क दर्शन के भेद को ठीक तरह समझ लिया जाय।

यदि उपरोक्त दो प्रकार की परिस्थिति में पनपनेवाली दार्शनिक विचारधाराओं के भेद की गहरी छानबीन की जाय तो हम दो परिणामों पर पहुँचते हैं। पहला भेद तो दर्शन की परिभाषा से सम्बन्ध रखता है और दूसरा उसके फल से। यहाँ पर हमको दर्शन के लिए जो अंगरेजी शब्द है, उसके साथ भी परिचय प्राप्त करना चाहिए। अंगरेजी में दर्शन को 'फिलासफी' कहते हैं। पश्चिम की अन्य भाषाओं में भी प्राय: यही शब्द व्यवहृत होता है। जिस प्रकार पाश्चात्य दर्शन का आरंभ सर्वसम्मति से यूनान में हुआ, उसी प्रकार 'फिलासफी' शब्द भी यूनानी भाषा ही से लिया गया है। यूनानी शब्द 'फिलो-सोफिया' का अर्थ है ज्ञान का प्रेम। ज्ञान का तात्पर्य बुद्धिकृत मीमांसा से है। तत्संबंधी रुचि ही 'फिलासफी' है। इसके विपरीत भारतीय शब्द है 'दर्शन', जिसका अर्थ है 'देखना', अर्थात् तत्त्व का साक्षात्कार करना। ज्ञान के जिस विवेचन में सत्य या तत्त्व को स्वयं न देखा जाय, उसे 'दर्शन' कहना कठिन है। वही तत्त्व सत्य है, जिसके संबंध में हम यह कह सकें कि वह हमारा साक्षात्कृत है, यह हमारे अनुभव का विषय है अर्थात् यह हमारा 'दर्शन' है।

कहते हैं, बुद्ध भगवान् अपने उपदेशो मे इस बात पर बहुत जोर दिया करते थे कि मैं जिस मार्ग का शास्ता हूँ, मैंने उसे स्वयं देख लिया है। जब तक किसी उपदेष्टा या ज्ञानी की ऐसी विश्वस्त स्थिति न हो, तब तक वह मानव जीवन के लिए असंदिग्ध या महत्वपूर्ण तत्त्व का व्याख्यान नही कर सकता। दर्शन का संबंध जीवन के साथ अति घना है। जीवन में आत्मकृत अनुभव के बिना तेजस्वी दर्शन का जन्म नही होता। इस देश में तो जिस समय भी दर्शन की पहली ज्ञानरश्मियाँ प्रस्फुटित हुई थीं, उसी समय यह बात जान ली गई थी कि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है। हमारी परिभाषा में प्राचीनतम ज्ञानियों का नाम 'ऋषि' है। संस्कृत-भाषा मे जो अद्भुत निरुक्त-शास्त्र की सामर्थ्य है, उसके द्वारा 'ऋषि' शब्द 'दार्शनिक' के अभिप्राय को यथार्थ रूप से प्रकट कर देता है। यास्काचार्य ने लिखा है :—

ऋषिर्दर्शनात् (निरुक्त २।११)

अर्थात् 'ऋषि' शब्द का अर्थ है द्रष्टा या देखनेवाला। शुष्क ऊहापोह करनेवाला तार्किक भारतीय अर्थ में 'दार्शनिक' की पदवी का अधिकारी नहीं बनता। दार्शनिक बनने के लिए 'दर्शन' होना चाहिए, अथवा और भी पवित्र शब्दों मे कहे तो 'ऋषित्व' होना आवश्यक है। इस देश की परिपाटी के अनुसार जो व्यक्ति अपने आपको ज्ञान का अधिकारी कहे, उसे यह कहने का सामर्थ्य पहले होना

चाहिए कि 'मैंने ऐसा देखा है।' यजुर्वेद के शब्दों में सच्चा दार्शनिक वही है, जो यह कह सके—'**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्**' अर्थात् 'मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ, जो आदित्य के समान भास्वर और तम से अतीत है।' '**एवं मयाश्रुतं**' कहनेवाले के पास स्वयं अपने दर्शन का अभाव है। जीवन तो आत्मानुभव का नाम है। दूसरे के दर्शन से अपनी तृप्ति त्रिकाल में भी संभव नहीं।

## 'फिलासफी' और 'आन्वीक्षिकी' का अर्थ-भेद

हमारे साहित्य में दर्शन के लिए प्राचीन शब्द 'आन्वीक्षिकी' प्रतीत होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विद्याओं का वर्गीकरण करते समय आन्वीक्षिकी पद का ही प्रयोग किया है। आन्वीक्षिकी शब्द में भी (अनु+ईक्ष) ईक्षण या देखने का भाव है। डॉ० बैटी हाइमान ने भारतीय विचार-प्रणाली की विशेषता का अध्ययन करते हुए इन परिभाषात्मक शब्दों के विषय में ठीक ही लिखा है—

"यदि हम पाश्चात्य शब्द 'फिलासफी' और उसके संस्कृत पर्याय पर विचार करें तो दोनों का मौलिक भेद तुरत प्रकट हो जाता है। यूनानी शब्द 'फिलोसोफिया' का शब्दार्थ है 'ज्ञान का प्रेम'। इसके प्रतिकूल संस्कृत शब्द 'आन्वीक्षिकी' का तात्पर्य है पदार्थों का ईक्षण, अर्थात् सृष्टि के समस्त पदार्थों में तत्त्व वस्तु की खोज या तत्त्व निदिध्यासन। संसार के पदार्थ हमारे ईक्षण का विषय इसलिए बनते हैं कि हम उनके द्वारा तत्त्व का ध्यान कर सकें, केवल पदार्थों की छानबीन हमारा ध्येय नहीं।"

**चिन्तनशील मानव—उसकी जिज्ञासा की प्यास क्या कभी बुझ पायगी?**

महान् फ्रेंच शिल्पी रोदाँ ने इस कलाकृति द्वारा मानवीय ललाट पर अंकित उस चिर महान् प्रश्नचिह्न को मानों मूर्त रूप प्रदान कर दिया है, जिसका पूर्ण समाधान कदाचित् कभी भी न हो सकेगा।

## निरा बुद्धि-कुतूहल दर्शन नहीं

सच्ची जिज्ञासा के कारण जो 'कस्त्वं कोऽहम्' प्रश्नों की मीमांसा की जाती है, उसके अनुसार 'दर्शन' शब्द की परिभाषा का ऊपर स्पष्टीकरण किया गया है। दर्शन का मानव जीवन पर जो परिणाम या फल होता है, उसका भी जिज्ञासा के साथ गहरा संबंध है। जिज्ञासु के लिए दर्शन बुद्धि का कुतूहल नहीं। वह कमरे के भीतर बंद होकर कुर्सी पर बैठा हुआ अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझता। उपनिषद् में जो यह कहा है कि यह आत्मतत्त्व केवल 'मेधा' या बहुत विद्या पढ़ने (बहुश्रुत होने) से नहीं मिलता, वह जिज्ञासु-मनोवृत्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए है। महाकवि जायसी ने इसी बात को सीधेसादे शब्दों में यों कहा है—

**का भा जोग-कथनि के कथे।**
**निकसै घिउ न बिना दधिमथे॥**

अर्थात् योग की कथा कहने-सुनने से क्या फल है? बिना दही को मथे घी नहीं निकल सकता। इसलिए भारतीय परम्परा के अनुसार दर्शन या साक्षात्कार की विधि ऐसी ही है, जैसे स्वयं दही मथकर घी निकालना। इस उक्ति से एक जीवन-क्रम का परिचय मिलता है। दूसरे शब्दों में दर्शन का फल 'साधना' है। साधना के ही नामान्तर 'तप' या 'व्रत' या 'दीक्षा' है। इसीलिए उपनिषदों ने कहा है—

**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा**
**सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।**

अर्थात् सत्य, तप, सात्विक ज्ञान और नित्य निर्विकार रहने से ही आत्मतत्त्व का दर्शन हो सकता है।

ये बातें साधना की ओर संकेत करती हैं। जीवन में दर्शन का फल है साधना का उदय। साधना की भावना से सात्विकी श्रद्धा का जन्म होता है। प्रश्नात्मक जिज्ञासा को अश्रद्धा या श्रद्धा का अभाव नहीं समझना चाहिए। जिज्ञासा का अभाव अश्रद्धा है। जिज्ञास्य विषय को अपने अध्यवसाय की क्षमता से अनुभव का विषय बना सकना यही श्रद्धा का लक्षण है। आत्मविश्वास ही श्रद्धा है। जिज्ञासु को अपनी दृढ़ता में विश्वास होता है। यही उसका पाथेय है।

अपने में अविश्वास का होना यह अश्रद्धा का रूप है। प्रश्नों का उत्पन्न न होना तो तम या मूर्च्छा है। संदेह या प्रश्नों को परास्त करने की शक्ति ही जिज्ञासु की श्रद्धा कहलाती है। जिज्ञासा उत्पन्न हो जाने पर यदि जीवन के क्रम में परिवर्तन नहीं होता तो मानो जिज्ञासु 'दर्शन' या साक्षात्कार के साथ अपना सीधा संबंध जोड़ने से बचना चाहता है। इस दृष्टि से दार्शनिक का जीवन एकान्ततः नैतिक बन जाता है।

दार्शनिक कैंट ने एक स्थान पर कहा है:—

'नीतिमय जीवन का प्रारंभ होने के लिए विचारक्रम में परिवर्तन तथा आचार का ग्रहण आवश्यक है।'

भारतीय परिभाषा में इस प्रकार के जीवनक्रम की संज्ञा तप है। इसीलिए तो यहाँ का प्रत्येक दार्शनिक संप्रदाय जीवन की एक-न-एक साधना की शिक्षा देता है। ज्ञान, कर्म, उपासना अथवा वेदांत, सांख्य, योग सबके साथ एक जीवन-मार्ग का घना संबंध है। इसी कारण भारतवर्ष में जीवन से विरहित कोई दर्शन नहीं पनप सका। जिस दर्शन का जीवन के साथ सबसे निकट का संबंध था, वही विचार यहाँ सबसे अधिक फूला-फला।

# एक ही तत्त्व का अनेक तरह से बखान*

**जानने की भूख जागरूक होने पर जब हम अंधकार के पर्दे के उस पार हाथ बढ़ाकर तत्त्ववस्तु को टटोलने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे दृष्टिकोण की विविधता के अनुसार हमें उस वस्तु के स्वरूप की विविध अनुभूतियाँ होती हैं। किन्तु इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। वास्तव में उस मूल वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। तभी तो तत्त्वदर्शी विद्वानों ने उस एक ही तत्त्व का अनेक तरह से बखान किया है।**

ऊपर कहा जा चुका है कि दर्शन का उद्देश्य तत्त्व का साक्षात्कार करना है। साक्षात्कार या अनुभव का स्वरूप साक्षात्कर्त्ता की जिज्ञासा और साधना पर निर्भर है। इसको एक उदाहरण से देखना चाहिए। मेघ को देखकर एक ऐतिहासिक या पुराणकार के मन में जो भाव उठता है वह यह है—

**जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्।**

(मेघदूत)

अर्थात् पुष्कर और आवर्तक नामक मेघों के विशाल वंश में इस सामने देख पड़नेवाले मेघखण्ड का जन्म हुआ है। इस प्रतिक्रिया में प्रत्यक्ष वस्तु के पूर्व अतीत को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति है। परन्तु एक कृषक, जिसने अपने जीवन के अस्तित्व के लिए प्रकृति के वरदानों के प्रति कृतज्ञ होना सीखा है, सोचता है—

**त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति।** (मेघदूत)

अर्थात् यह जो लहलहाती हुई सस्य सम्पत्ति है, हे मेघ, इसका श्रेय तुम्हारे वरद जलकणों को ही है।

प्रकृति के रहस्य को तत्त्वों की शल्य-प्रक्रिया के द्वारा जो जानना चाहते हैं, उन वैज्ञानिकों से यदि आप पूछिए कि मेघ क्या है, तो उनका उत्तर कुछ इस प्रकार होगा—

**धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः—क्व मेघः**

(मेघदूत)

अर्थात् धुआँ, आग, पानी और हवा—इन्हीं के जमघट का नाम मेघ है। यह भी ज्ञान का एक मार्ग है, जिसमें मस्तिष्क की ऊहापोह प्रधान है। इस मार्ग के द्वारा सृष्टि की चीर-फाड़ करके कुछ विशिष्ट पदार्थों में इसका बँटवारा करके मानव-मस्तिष्क अपने आपको सन्तोष देना चाहता है। यह भी एक साधना है। परन्तु वैज्ञानिक का अनुभव कवि की दृष्टि में बहुत निकृष्ट कोटि का है। इसीलिए 'धूमज्योति. सलिल मरुतां सन्निपात:'—इस परिभाषा के सामने उसने 'क्व मेघ.' ये दो पद रक्खे हैं, अर्थात् इस प्रकार धुएँ, आग, पानी और हवा का जमघट जो मेघ है,

---

* गीता में कहा गया है कि 'ऋषिभिर्बहुधा गीत छन्दोभिर्विविधै पृथक्'। अर्थात् विविध छंदों में पृथक्-पृथक् ऋषियों ने एक ही तत्त्व का अनेक तरह से बखान किया है। इसी महान् सत्य को वेद 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इस श्रुति वाक्य द्वारा प्रकट करते हैं।

वह हमारे किस काम का ? कहाँ एक ओर मेघ का यह निकृष्ट स्वरूप, और कहाँ दूसरी ओर कवियों की कल्पना से प्रसूत मेघ का उदात्त रूप ! कवि की भी एक साधना और स्वतन्त्र जिज्ञासा है। उसके अनुसार कल्पना के पंख पर बैठकर जब वह मेघ के स्वरूप का अनुभव करता है, तब वह सोचता है—

**जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः**

(मेघदूत)

अर्थात् 'हे मेघ, मैं यथार्थतः तुम्हारे स्वरूप को जानता हूँ, तुम इस प्रकृति के कामरूप पुरुष हो।' इस प्रकार का कामरूप पुरुष प्रकृति में जब यक्ष को मिलता है, तभी वह उसके हृदय की सूक्ष्म व्यञ्जनाओं को समझने के योग्य होता है।

## एक ही सत्य का बहुविध साक्षात्कार

साक्षात्कार या अनुभव की पृथक्ता या वैचित्र्य को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने के लिए हमने जान-बूझकर ऊपर भारतीय महाकवि कालिदास की काव्यगत मीमांसा का अवतरण दिया है। कालिदास के मेघदूत के ये सारगर्भित वाक्य इस देश के दर्शनशास्त्र के एक महान् तत्त्व को प्रकट करते हैं। दृश्य वस्तु का स्वरूप देखनेवाले के दृष्टिकोण पर निर्भर है, अतएव उस अनुभव में विविधता का होना अनिवार्य है। उन अनुभवों में कौन सच है और कौन मिथ्या, यह प्रश्न मस्तिष्क की उधेड़बुन के लिए भले ही महत्वपूर्ण हो, अनुभवकर्त्ता की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है।

यदि जिज्ञासु की साधना सच्ची है, तो उसके साक्षात्कार का ध्रुवबिन्दु भी अटल है। समस्त ब्रह्माण्ड भी यदि उसका प्रतिपक्षी हो, तब भी उसके अनुभव की सत्यात्मक प्रतीति टस से मस नहीं की जा सकती। वैरागी राजकुमार सिद्धार्थ से कौन इस बात में सहमत था कि राजकीय प्रासाद का देवभोग्य वैभव त्यागने योग्य है ? पर गौतम अपने अनुभव से तिल भर भी नहीं डिग सके। अथवा जोगी रतनसेन की माता का एक ओर यह कहना—

**'बिनवै रतनसेन कै माया।**
**माथे छात, पाट निति पाया॥**
**बिलसहु नौ लख लच्छि पियारी।**
**राज छाँड़ि जिन होहु भिखारी॥'**

(पद्मावत)

और दूसरी ओर रतनसेन का यह वाक्य—

**'मोहि यह लोभ सुनाव न माया।**
**काकर सुख, काकर यह काया ?**
**जो निआन तन होइहि छारा।**
**माटिहि पोख मरै को मारा ?'**

(पद्मावत)

दोनों बराबर महत्त्व रखते हैं। रतनसेन की साधना ने तत्त्व का दर्शन इसी रूप में किया था। एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या मानना बुद्धि का लड़कपन है।

दार्शनिक विमर्श के पनपने के लिए अनुकूल क्षेत्र की तैयारी इसी बात पर निर्भर है कि हम अपनी विचारशैली में ऊपर दिखाये हुए दृष्टिकोण को कहाँ तक आदर के योग्य समझते हैं। यदि तत्त्व को जानने के लिए यह आवश्यक है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं जिज्ञासु बनकर साधना करे, तो साथ ही यह भी आवश्यक हो जाता है कि उस जिज्ञासा के अन्त में हम जिस परिणाम पर पहुँचें उसको 'प्रतिष्ठित' माना जाय। 'प्रतिष्ठित' का तात्पर्य यह है कि ज्ञान-प्राप्ति का जो सर्वसम्मत मार्ग है वही उस अनुभव का भी आधार या प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार अनेक ऋषियों के अनुभव सब प्रतिष्ठित हैं। ऋषि वह है जिसने स्वयं तत्त्व का अनुभव किया है। जिसने स्वयं तत्त्व को मथा है, वही दर्शन का अधिकारी है। भगवान् बुद्ध कहा करते थे कि गन्तव्य स्थान तक जो स्वयं नहीं गया, जिसने मार्ग को केवल दूसरों से सुनकर घोख रक्खा है, उसका वचन प्रमाण के योग्य नहीं है।

## ऋतंभरा प्रज्ञा

भारतीय विचारकों ने अपने वाङ्मय के उषःकाल से ही इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को समझकर उसका प्रचार किया है। ज्ञान-सिद्ध ऋषि-महर्षियों का जो साक्षात्कार था, उसको उन्होंने 'श्रुति' कहा है। श्रुति का जन्म 'प्रज्ञा' से होता है। 'प्रज्ञा' ज्ञान-प्राप्ति का सबसे सूक्ष्म और मूल्यवान् साधन है। योग-समाधि के द्वारा चित्त को संस्कृत करने का फल हमारे ज्ञान-यंत्र के लिए पतञ्जलि ने निम्नलिखित सूत्र में बताया है—

**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा**

अर्थात् अध्यात्म दर्शन की उच्चतम अवस्था में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है। ऋत जिसमें भरता हो, ऐसी बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा है। मस्तिष्क के तर्क-वितर्क द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान 'सत्य' है। हृदय की अनुभूति या तत्त्व-साक्षात्कार से मिलनेवाला अनुभव 'ऋत' है। योगी की प्रज्ञा ऋतात्मक ज्ञान का भरण करती है। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी की बुद्धि प्रमाणों के ऊहापोह से तत्त्व-विनिश्चय का प्रयास करती है। पिछले प्रकार के आयोजन से उत्तर-

कालीन भारतीय दर्शनों का जन्म हुआ है, जिनकी गणना शास्त्रकोटि मे की जाती है। भारत में मस्तिष्क के तर्क की पराकाष्ठा नव्य न्याय के रूप मे हुई, जिसके परिष्कारों की अवेच्छेदकावच्छिन्न रूपी तीक्ष्ण धार के आगे टिक सकना दिग्गज विपक्षियों के लिए भी कठिन हो गया। इस शास्त्र के सामने मस्तिष्क की हार अवश्य होती है, हृदय की नही। इससे ठीक उलटी प्रज्ञा की कोटि है। ऋतम्भरा प्रज्ञा से जिस दर्शन का जन्म हुआ, वह उपनिषद् और वैदिक मत्रों मे उपनिबद्ध है। यहाँ दर्शन ने काव्य का रूप धारण किया है। ऋपि को वेदो में 'विप्र' (ज्ञानी) की पदवी के साथ-साथ 'कवि' भी कहा है। ऋपियो के अनुभव जिन श्रुतियो में है, वे दैवी काव्य है, जो कभी जीर्ण और मृत नहीं होते—

**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।**

श्रुतियों मे कही भी नियमबद्ध विवेचन करने का आयोजन नही है। प्रज्ञा की वायु मलयानिल की तरह स्वच्छन्द होकर जिधर चाहती है, बहती है। इसी कारण उपनिपदों के उद्‌गार नव्य नवनीत की भाँति आज भी ताजा मालूम होते है। उनके सगीत में बासीपन या मृत्यु की जड़ता का सस्पर्श कभी नहीं होता, जो प्रमाण-प्रमेयों के चौखटे में कसे हुए तथाकथित दार्शनिक विमर्शो का अभिशाप है। भारतीय दर्शनकारो ने श्रुति और शास्त्र की प्रामाणिकता मे सदा अन्तर किया है। शास्त्र को प्रमाणकोटि मे लाने के लिए बुद्धि पर कसना पड़ता है। श्रुति तो ज्ञान और अनुभव का मथा हुआ घृत है। शकर आदि दार्शनिक श्रुति के सामने नतमस्तक होकर श्रद्धा-ञ्जलि अर्पित करते है। जब उन्हे ऋपिअनुभूत ज्ञान का नवनीत मिल जाता है, तब वे तर्क के पचड़े मे नही पड़ते। इस प्रकार का दृष्टिकोण केवल तर्कसम्मत पैंतरो के बल चलनेवालो को भले ही अखरनेवाला मालूम पड़े, पर जिनके लिए दर्शन जीवनमरण की पहेली को सुलझाने के लिए है, उन्हे ऋतम्भरा प्रज्ञा से पनपनेवाला अध्यात्म अनुभव बड़ा मूल्यवान् प्रतीत होता है। कोरा बुद्धिवाद मनुष्य को राजा नृग की तरह अन्धकार के गर्त में ले जाकर छोड़ देता है। वही प्रज्ञा के साथ मिलकर न केवल 'ऊर्ध्वमूलमध.शाखं' अश्वत्थ की तरह युग-युगान्तर तक टिक सकता है, बल्कि पक्षिराज गरुड़ की भाँति व्योम में सूर्य से आलोकित प्रदेशों का साक्षात् दर्शन भी कर सकता है।

इस विवेचन से इस बात का कुछ आभास मिलता है कि सत्य और श्रद्धा के साथ जीवन की बाजी लगाकर तत्त्ववस्तु को टटोलने की पद्धति को इस देश में कितना मूल्यवान् माना गया है। अध्यात्म-ज्ञान के पनपने की यही उर्वरा भूमि रही है, जिसके लिए भारतीय दर्शन आज भी जगत् में विख्यात है।

## विचार की बहुविधता—भारतीय चिंतन की विशेषता

भारतीय चिंतन के क्षेत्र की एक विशेपता रही है—विचार की बहुविधता। विचार की सहस्रमुखी प्रवृत्ति के द्वारा ही भारतीय दर्शन ने वैदिक काल से लेकर आज तक अपने पनपने के लिए विशेष अनुकूल परिस्थिति का निर्माण किया है। प्रज्ञा कभी नियमजटित शिकजों के भीतर फूल-फल नही सकती, उसको स्वाधीन विहार के लिए अनन्त क्षेत्र चाहिए। भारतीय मस्तिष्क की विशेपता का अध्ययन करते हुए डा० बैटी हाइमान ने ठीक ही लिखा है कि 'सक्षेप में हम यह कह सकते है कि विचार करने का जो सर्वोत्तम क्रमबद्ध विधान है, उसका पूर्ण विकास करने मे पश्चिमी विद्वान् सफल हुए है। किन्तु भारतवर्ष के मनी-पियों ने जो ध्येय अपने सामने रक्खा, वह यह था कि मनन करने की स्वाभाविक सरणि या प्रणाली सदा ऐसी लचीली बनी रहे कि उसमें सब प्रकार के भूत और भावी विचारों के पनपने की गुजाइश हो।'

मनन के आदि युग में ही मेधावी ऋपि ने घोपणा की थी—

**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**

(ऋग्वेद १।१६४।४६)

अर्थात् प्रज्ञावान् मनीपी लोग एक सद्वस्तु का अनेक प्रकार से बखान करते है।

ये अमर अक्षर आज भी भारतीय ज्ञान-मंदिर के तोरणद्वार पर लिखे हुए है। उनका कल्याणप्रद आश्वासन इस ज्ञान-मंदिर के भक्तो का अमोघ स्वातन्त्र्य पद है। वेदो का व्यास करनेवाले भगवान् द्वैपायन कृष्ण ने इसी सत्य को अनेक स्थानों पर दुहराया है—

**एकधा च द्विधा चैव बहुधा स एव हि।**
**शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रशः॥**

(महाभारत अनुशासन० १६०।४३)

भगवान् देवकीपुत्र कृष्ण ने काव्यमय ढंग से इसी बात का समर्थन किया है—

**ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।**

(गीता)

अर्थात् विविध छन्दो में पृथक्-पृथक् ऋपियो ने एक ही तत्त्व का बहुधा बखान किया है। सर्वत्र 'बहुधा' पद

महत्त्वपूर्ण है। अनेक ऋषियों को अनेक प्रकार से तत्त्व का अनुभव हुआ है। सबने अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार उसका वर्णन किया है—

**भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए।**
(रामचरितमानस)

उस अज्ञेय रहस्य को 'ठीक ऐसा है' कहना कठिन है—

**इदमित्थं कहि जाइ न सोई।**

अथवा कवि ने यह कितनी सुन्दर कल्पना की है कि ज्ञानरूपी महान् अश्वत्थ की दिग्दिगन्तव्यापिनी शाखा-प्रशाखाओं पर आश्रित सहस्रों पक्षी अपने-अपने संघों में रात-दिन अमृततत्त्व का गान करते रहते हैं। वही ज्ञान विश्वभुवन का पालक है। उसी का एक पक्वकण आज हमारे अन्दर प्रविष्ट हुआ है।* काव्यमय ढंग से उन पक्षियों को 'मध्वद' अर्थात् शहद का चखनेवाला कहा गया है। क्या सत्य ज्ञान के अन्वेषक विश्व के समस्त ज्ञानियों की गिनती इसी प्रकार के मध्वद सुपर्णों में नहीं है? अनन्त काल से ये पक्षी विशाल ज्ञान-अश्वत्थ की शाखाओं पर बैठते आये हैं; आज भी अपने-अपने स्वर में उनका गान जारी है, और आगे भी चलता रहेगा। उनके स्वरों की बहुविधता ही इस संगीत का वास्तविक भूषण है। उसकी सुन्दरता को पहचानने के लिए दृष्टिकोण ठीक होना चाहिए। कितने व्यक्ति हैं, जो इस संगीत की नीचे लिखी विशेषता को श्रद्धा के साथ मानते हैं—

**सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।**

कवि और विप्रों के वचनों में, चाहे वे इस देश के हों चाहे विदेश के, एक तत्त्व की बहुधा कल्पना सर्वत्र उपलब्ध होती है। इसमें विरोध देखना दृष्टिदोष है। श्रुतियों का 'बहुधा' पद उनके मौलिक समन्वय की ओर हमारा ध्यान खींचता है। इस विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक एक महती प्राणधारा (मधुकण) ओत-प्रोत है। उसी का विकास यह सब कुछ है, उसी के स्वरूप का अध्ययन वैज्ञानिक लोग करते हैं, एवं उसी के रहस्य की मीमांसा ज्ञानी करते हैं। जब उसका ही चरित अनेक प्रकार का है, तब ज्ञानियों का अनुभव भी अनेक प्रकार का हो, इसमें कौन-सा आश्चर्य है। वे जैसा समझ पाते हैं, वैसा प्रकट करते हैं—

**पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां**
**पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमानाः।**

अर्थात् अनेक प्रकार से मीमांसा करते हुए ज्ञानी विश्व में उसके व्यापार की विचित्रता का दर्शन करते हैं। यम ने नचिकेता से कहा है कि अनेक प्रकार से चिन्त्यमान वह तत्त्व अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिए बड़ा दुर्ज्ञेय है। सत्यधृति लोग ही उसका अनुभव कर पाते हैं।

## वृत्त और केन्द्र की-सी पहेली

यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या श्रुतियों की और शास्त्रों की बहुविध मीमांसा बुद्धि का कौशलमात्र नहीं है? इस प्रकार के विभ्रम से क्या कभी कोई परिणाम निकल सकता है? इसके उत्तर में वृत्त और केन्द्र के प्रसिद्ध उदाहरण की कल्पना कीजिए। केन्द्र ही वृत्त और विश्व की समस्त आकृतियों का मूल है। अथवा यों कहें कि यद्यपि नामरूप की दृष्टि से केन्द्र की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, फिर भी यथारुचि उससे त्रिभुज, चतुर्भुज, पंचभुज आदि आकृतियाँ बनती रहती हैं। यही तो 'एकं सन्त बहुधा कल्पयन्ति' वाली प्रक्रिया है। सृष्टि की रचना में ही इसका मूल अन्तर्निहित है। 'एकं बीज बहुधा यः करोति'—अर्थात् सृष्टिकर्त्ता ने एक मूल बीज से बहुविध प्रपञ्च का विस्तार किया है। जब मूल वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, तो मानव बेचारा उसमें क्या हस्तक्षेप करे? श्रुतियों में स्पष्ट कहा है कि प्रजापति सृष्टि के गर्भ में रम रहा है। उसके उस स्वरूप को, जो केन्द्र की ही तरह है, ज्ञानी लोग देखते हैं। वही बहुत प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है। उसी में समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं—

**प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।**
**तस्ययोनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।**
(यजुर्वेद ३१।१९)

## विविधता में एकता

आर्य श्रुति-ज्ञान अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुभव-वाक्यों के अतिरिक्त अर्वाचीन विज्ञान की साक्षी भी इसी ओर है। प्रकृति के एक सौ एक तत्त्वों का पार्थक्य आज परमाणु के न्यूट्रान, प्रोट्रान, इलेक्ट्रान आदि अणोरणीयान् विद्युत्-अंशों की खोज के कारण विलीन होता जा रहा है। सहस्रांशु सूर्य की असंख्य किरणों और उनके रंग-विरंगे चमत्कारों का आपसी भेद भी केवल गणित की कृपा पर अवलम्बित माना जा रहा है। निदान यह कि दृश्यमान जगत् के पीछे एक ही मूल बीज या प्रेरणा काम कर रही है। वही अनेक रूपों में प्रकट हो रही है। 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' नियम के अधीन वैज्ञानिक की भी सृष्टि है। जिन ऋत्विजों ने कहा था—'एकं वा इदं विबभूव

---

* यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनः विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥
(ऋ० १।१६४।२१)

अर्थात् इस सृष्टि के रहस्य को कौन जान पाया है, और कौन कह सका है ? जो इस सारे प्रदर्शन का अध्यक्ष परमपद में प्रतिष्ठित है, वह भी इसे जानता है या नही, इसमे संदेह है ? यह है भारतीय ज्ञान की चुनौती, जिसकी सत्यता आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सहस्रमुखी प्रयत्नो द्वारा भी खण्डित नही हो सकी है। विज्ञान ने भूतसृष्टि के अपरिमित विश्लेषणों द्वारा प्रोटान, इलेक्ट्रान, न्यूट्रान, पाजीट्रान आदि रहस्यमय पदार्थो को हमारे सामने लाकर खड़ा कर दिया है, जिनका अवलोकन कर प्राचीन देवो का स्मरण हो आता है। परन्तु विश्व का रहस्य कही इन सबके पीछे छिपा हुआ है। और जिस प्रकार ऋग्वेद के ऋषि ने कहा है कि देवगण बाद मे जनमे है, अतएव उन्हें कर्त्ता के आद्य रहस्य का ज्ञान नही, उसी प्रकार हम भी कह सकते है कि आधुनिक विज्ञान के ये 'अर्वाचीन देवता' शक्ति के आद्य कारण का पता लगाने में बिल्कुल अशक्त हैं—

**न तं विदाथ य इमा जजान।** (ऋ० १०।८२।७)

'वे उसे नही जानते, जिसने इस सबको उत्पन्न किया है।' विज्ञान के चमत्कार स्तुत्य है, परन्तु किं, कथ, कुतः इन मौलिक प्रश्नो की उद्भावना जहाँ पहले थी, आज भी वहीं है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का काव्यमय संगीत आज भी अमर है और नये अर्थो से भरा हुआ है।

दर्शन के उषःकाल में जब भारतवर्ष के ऋषियो ने इस प्रकार अपने अनुभवों को व्यक्त किया था, उसके बाद से आज तक विश्वनियन्ता के रहस्य के विषय में हम क्या जान सके है ? मेटरलिक ने 'सुप्रीम लॉ' नामक अपने ग्रंथ मे प्राचीन और नवीन दोनों की तुलना करते हुए लिखा है—

"तब से हमारे ज्ञान ने क्या प्रगति की है ? एडिंगटन का वचन है कि 'कही पर कोई कुछ कर रहा है।' परन्तु क्या विज्ञान की यह अन्तिम स्वीकृति कि 'हमें कुछ नहीं मालूम' इन महान् ओजस्वी वचनो की, जिन्हें सामवेद के ऋषि ने परब्रह्म के विषय मे कहा है, एक अति तुच्छ और बोदी प्रतिध्वनि जैसी नही जान पड़ती—

**यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।**
**अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥**
(सामवेदीय केन उपनिषद्)

अर्थात् जो मानता है कि मै ब्रह्म को नही जानता, वह उसे जानता है; और जो यह मानता है कि मै जानता हूँ, वह कुछ नहीं जानता। जो उसके जाननेवाले है, वे उसे अनजाना हुआ समझते है, और जो कुछ नही जानते. वे समझते है कि हमने ब्रह्म को सर्वथा जान लिया।"

ब्रह्म या अन्तिम रहस्यात्मक तत्त्व की यही अनिर्वचनीयता है, जिसके कारण उसके आगे सदा के लिए एक दुर्धर्ष प्रश्नवाची चिन्ह लगा हुआ है*। इसी से मुग्ध होकर ऋग्वेद के ऋषि ने उस रहस्य का एक नाम 'संप्रश्न' कहा है। यह ऐसा विराट् प्रश्न है, जिसकी कुक्षि मे विश्व का समस्त ज्ञान समाया हुआ है, जो भूतभुवनभविष्यत् से गर्भित होकर भी अनन्त अवकाश को लिये हुए है—

**यो देवानां नामधा एक एव**
**तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।** (ऋ० १०।८२।३)

अर्थात् अनेक देवो के नामों के पीछे जो एक ही समाविष्ट है, उस 'संप्रश्न' नामक देव में ही सब भुवनों का पर्यवसान है।

क्या यह कभी सम्भव है कि इस प्रकार के रहस्यमय देव ने जिस रहस्यमय जगत् को उत्पन्न किया है, उसके एक परमाणु का भी सम्पूर्ण रहस्य हमे कभी मिल पायगा ? मेटरलिक ने कहा है कि मै अपने शत्रु के लिए भी इस प्रकार की कामना न करूँगा कि उसे ऐसे संसार में रहना पड़े, जिसके एक अणु का भी सारा भेद पूर्णतया खुल गया हो। क्योकि फिर वहाँ मनुष्य के लिए कुतूहल और आनन्द का क्या सामान बच रहेगा! अपनी समस्त तर्कणाशक्ति, बुद्धि, धैर्ययुक्त परिश्रम और आविष्कृत वैज्ञानिक साधनों से निरन्तर अध्ययन के बाद भी हमारा ज्ञान अधिकाधिक अ+ज्ञान में परिणत हो रहा है। जितना हम प्रकाश को ढूँढते है, हमारे परिचय का अभाव उतना ही अधिक हमें खटकता है। क्या मनुष्य के प्रयत्नो का पर्यवसान इसीलिए है ? परन्तु इससे हम निराश न हों। 'संप्रश्न' के साथ टक्कर मारकर जिस अज्ञान की अनुभूति होती है, वह उस थोथे पाण्डित्य से भली है, जिसमें जिज्ञासा और संशय का उदय ही नही होता। उस रहस्य को जानने की जो सनातनी पद्धति है, उससे कम-से-कम उस तत्त्व का माहात्म्य तो प्रकट होता ही है :—

**प्रभु प्रताप महिमा उद्घाटी।**
**प्रगटी धनु-विघटन-परिपाटी।**

उस अज्ञेय रहस्य-रूपी शिवधनु के विघटन के लिए एक के बाद एक होनेवाले असफल प्रयत्न उस शक्ति की अनन्त और अचिन्त्य महिमा को अवश्य व्यक्त करते है। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'—मै उस महान् पुरुष को जानता हूँ, इस प्रकार कह सकनेवाले विरले धीर पुरुष ही उस कठोर संप्रश्न-रूपी पिनाक को अधिज्य करने में समर्थ हो पाते है।

*मैटरलिंक, 'सुप्रीम ला' पृ० ६७।

पृथ्वी
की कहानी

अर्थात् इस सृष्टि के रहस्य को कौन जान पाया है, और कौन कह सका है ? जो इस सारे प्रदर्शन का अध्यक्ष परम-पद में प्रतिष्ठित है, वह भी इसे जानता है या नहीं, इसमे संदेह है ? यह है भारतीय ज्ञान की चुनौती, जिसकी सत्यता आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सहस्रमुखी प्रयत्नों द्वारा भी खण्डित नहीं हो सकी है। विज्ञान ने भूतसृष्टि के अपरिमित विश्लेषणों द्वारा प्रोटान, इलेक्ट्रान, न्यूट्रान, पाजीट्रान आदि रहस्यमय पदार्थों को हमारे सामने लाकर खड़ा कर दिया है, जिनका अवलोकन कर प्राचीन देवों का स्मरण हो आता है। परन्तु विश्व का रहस्य कहीं इन सबके पीछे छिपा हुआ है। और जिस प्रकार ऋग्वेद के ऋषि ने कहा है कि देवगण बाद मे जनमे हैं, अतएव उन्हें कर्त्ता के आद्य रहस्य का ज्ञान नहीं, उसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान के ये 'अर्वाचीन देवता' शक्ति के आद्य कारण का पता लगाने में बिल्कुल अशक्त हैं—

**न तं विदाथ य इमा जजान।** (ऋ० १०।८२।७)

'वे उसे नहीं जानते, जिसने इस सबको उत्पन्न किया है।' विज्ञान के चमत्कार स्तुत्य हैं, परन्तु किं, कथं, कुतः इन मौलिक प्रश्नों की उद्भावना जहाँ पहले थी, आज भी वहीं है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का काव्यमय सगीत आज भी अमर है और नये अर्थों से भरा हुआ है।

दर्शन के उषःकाल में जब भारतवर्ष के ऋषियों ने इस प्रकार अपने अनुभवों को व्यक्त किया था, उसके बाद से आज तक विश्वनियन्ता के रहस्य के विषय में हम क्या जान सके हैं ? मेटरलिंक ने 'सुप्रीम लॉ' नामक अपने ग्रंथ में प्राचीन और नवीन दोनों की तुलना करते हुए लिखा है—

"तब से हमारे ज्ञान ने क्या प्रगति की है ? एडिंगटन का वचन है कि 'कहीं पर कोई कुछ कर रहा है।' परन्तु क्या विज्ञान की यह अन्तिम स्वीकृति कि 'हमें कुछ नहीं मालूम' इन महान् ओजस्वी वचनों की, जिन्हें सामवेद के ऋषि ने परब्रह्म के विषय में कहा है, एक अति तुच्छ और बोदी प्रतिध्वनि जैसी नहीं जान पड़ती—

**यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।**
**अविज्ञातं विजानताम् विज्ञातमविजानताम्॥**
(सामवेदीय केन उपनिषद्)

अर्थात् जो मानता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता, वह उसे जानता है; और जो यह मानता है कि मैं जानता हूँ, वह कुछ नहीं जानता। जो उसके जाननेवाले हैं, वे उसे अनजाना हुआ समझते हैं, और जो कुछ नहीं जानते. वे समझते हैं कि हमने ब्रह्म को सर्वथा जान लिया।"

ब्रह्म या अन्तिम रहस्यात्मक तत्त्व की यही अनिर्वचनीयता है, जिसके कारण उसके आगे सदा के लिए एक दुर्धर्ष प्रश्नवाचक चिन्ह लगा हुआ है*। इसी से मुग्ध होकर ऋग्वेद के ऋषि ने उस रहस्य का एक नाम 'संप्रश्न' कहा है। यह ऐसा विराट् प्रश्न है, जिसकी कुक्षि में विश्व का समस्त ज्ञान समाया हुआ है, जो भूतभुवनभविष्यत् से गर्भित होकर भी अनन्त अवकाश को लिये हुए है—

**यो देवानां नामधा एक एव**
**तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।** (ऋ० १०।८२।३)

अर्थात् अनेक देवों के नामों के पीछे जो एक ही समाविष्ट है, उस 'संप्रश्न' नामक देव में ही सब भुवनों का पर्यवसान है।

क्या यह कभी सम्भव है कि इस प्रकार के रहस्यमय देव ने जिस रहस्यमय जगत् को उत्पन्न किया है, उसके एक परमाणु का भी सम्पूर्ण रहस्य हमे कभी मिल पायगा ? मेटरलिक ने कहा है कि मैं अपने शत्रु के लिए भी इस प्रकार की कामना न करूँगा कि उसे ऐसे संसार में रहना पड़े, जिसके एक अणु का भी सारा भेद पूर्णतया खुल गया हो। क्योंकि फिर वहाँ मनुष्य के लिए कुतूहल और आनन्द का क्या सामान बच रहेगा ! अपनी समस्त तर्कणाशक्ति, बुद्धि, धैर्ययुक्त परिश्रम और आविष्कृत वैज्ञानिक साधनों से निरन्तर अध्ययन के बाद भी हमारा ज्ञान अधिकाधिक अ+ज्ञान में परिणत हो रहा है। जितना हम प्रकाश को ढूँढ़ते हैं, हमारे परिचय का अभाव उतना ही अधिक हमें खटकता है। क्या मनुष्य के प्रयत्नों का पर्यवसान इसीलिए है ? परन्तु इससे हम निराश न हों। 'संप्रश्न' के साथ टक्कर मारकर जिस अज्ञान की अनुभूति होती है, वह उस थोथे पाण्डित्य से भली है, जिसमें जिज्ञासा और संशय का उदय ही नहीं होता। उस रहस्य को जानने की जो सनातनी पद्धति है, उससे कम-से-कम उस तत्त्व का माहात्म्य तो प्रकट होता ही है :—

**प्रभु प्रताप महिमा उद्घाटी।**
**प्रगटी धनु-विघटन-परिपाटी।**

उस अज्ञेय रहस्य-रूपी शिवधनु के विघटन के लिए एक के बाद एक होनेवाले असफल प्रयत्न उस शक्ति की अनन्त और अचिन्त्य महिमा को अवश्य व्यक्त करते हैं। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'—मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ, इस प्रकार कह सकनेवाले विरले धीर पुरुष ही उस कठोर संप्रश्न-रूपी पिनाक को अधिज्य करने में समर्थ हो पाते हैं।

*मैटरलिंक, 'सुप्रीम ला' पृ० ६७।

पृथ्वी
की कहानी

**पृथ्वी का जन्म**

सुदूर अतीत में किसी नक्षत्र के आकर्षण से सूर्य में से बहुत-सा उत्तप्त वायव्य अंश टूटकर अलग हो गया था । इसी नीहारिका जैसे जलते वायव्य पदार्थ ने चक्कर लगाते-लगाते विभिन्न पिण्डों का रूप ग्रहण कर लिया। हमारी पृथ्वी इन्हीं में से एक थी। इस चित्र में उन दिनों की लपटों से घिरी पृथ्वी के रोमांचकारी रूप की एक झलक है। नीचे तत्कालीन सूर्य का कुछ अंश दिग्दर्शित है।

# पृथ्वी के आधार और आकार का दर्शन

**जिस धरती पर जीवनयापन करते हुए हम इस विश्व-ब्रह्माण्ड की यात्रा कर रहे हैं, क्या उसका भी कोई इतिहास है? हमारे पुरखे इसके बारे में क्या सोचते थे और वैज्ञानिक इसकी क्या गाथा सुनाते हैं? आइए, इसका समाधान यहाँ ढूँढें।**

अपनी क्रीड़ाभूमि पृथ्वी के संबंध में मनुष्य सदैव ही से कुतूहलपूर्ण प्रश्न करता आया है। पृथ्वी कितनी लंबी और चौड़ी है? उसका धरातल कितना गहरा है और उसके भीतर क्या है? पृथ्वी कहाँ और किस प्रकार टिकी हुई है? वह कब और कैसे उत्पन्न हुई? उसके जन्म-काल से लेकर आज तक उसमें क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं? आकाश, तारे और नक्षत्र क्या हैं? सूर्य और चन्द्रमा तथा अन्य नक्षत्रों के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? ऐसे प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए मनुष्य अपनी स्वाभाविक जिज्ञासा-वृत्ति के कारण आदि काल ही से प्रयत्नशील रहा है। प्रकृति की लीलाओं के अध्ययन के फल-स्वरूप मनुष्य का उपरोक्त विषयों संबंधी ज्ञान नित-प्रति बढ़ता गया और धीरे-धीरे वह स्वयं ही अपनी अनेक शंकाओं का समाधान करने योग्य हो गया। परन्तु उसकी शंकाओं का कभी अन्त न होने आया। जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ा जिज्ञासा भी बढ़ती गई।

## भू-विज्ञान—जन्म और विकास

पृथ्वी के सम्बन्ध में मनुष्य ने जो ज्ञान प्राप्त किया उसे हम 'भू-विज्ञान' के नाम से पुकारते हैं। इस विज्ञान का जन्म मनुष्य की पृथ्वी-सम्बन्धी जिज्ञासा के फलस्वरूप हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि पौराणिक काल के विद्वानों ने इस विज्ञान के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का निर्माण किया और पृथ्वी-सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किये। परन्तु भू-विज्ञान के आधुनिक स्वरूप और सिद्धांतों का विकास प्रारम्भ हुए अभी थोड़ा ही समय व्यतीत हुआ है। सम्बन्धी
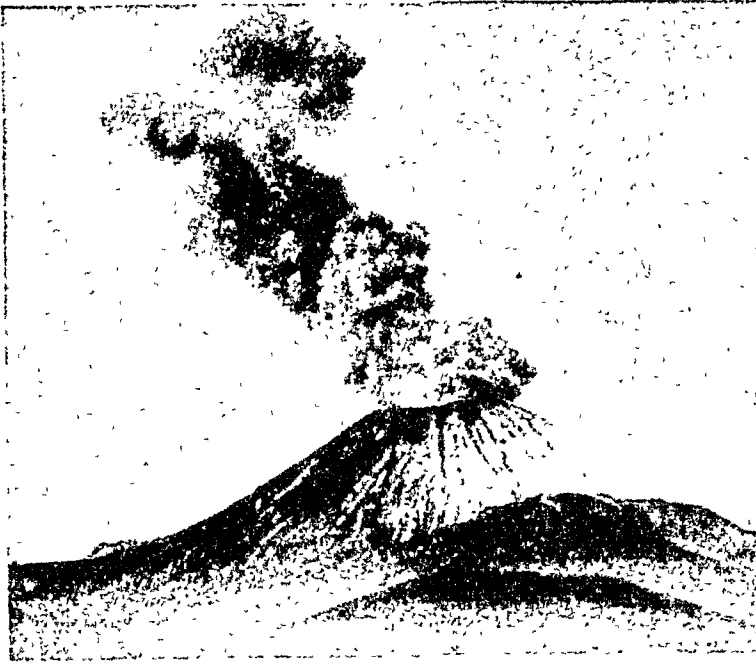
**पृथ्वी की जाग्रतावस्था का परिचायक—एक जाग्रत ज्वालामुखी**

ऐसे अग्निमुख पर्वतों ने ही वैज्ञानिकों के मन में यह कल्पना जगाई कि पृथ्वी भीतर से एक तप्त पिंड है।

बातों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसी विज्ञान की सहायता ली जाती है। आधुनिक विज्ञान के जन्म और विकास के साथ-ही-साथ इस शास्त्र का भी विकास हुआ है, और इसका महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है।

भू-विज्ञान को अन्य विज्ञानों से तो सहायता मिली ही है, परन्तु सबसे बड़ी सहायता उसे मिली वस्तुतः खानों की खुदाई से। जिस प्रकार खानों की खुदाई से भू-विज्ञान को सहायता पहुँची है, उसी प्रकार मनुष्य को भू-विज्ञान ने सहायता पहुँचाई है। मनुष्य ने इस विज्ञान की बदौलत इस 'रत्नगर्भा' पृथ्वी से जो सम्पत्ति प्राप्त की है, वह अतुल और अनमोल है। आधुनिक विज्ञान को भी भू-विज्ञान ने यथेष्ट सहायता पहुँचाई है और सभ्यता के विकास में तो उसका प्रधान हाथ रहा है, क्योंकि हमारी आज की सभ्यता का आधार लोहा, कोयला आदि खनिज पदार्थों तथा धातुओं पर किस प्रकार निर्भर है, यह हम सब भली भाँति जानते हैं। हमारे पैरों के नीचे, पृथ्वी के भीतर क्या है, इसी का उत्तर खोजने की धुन में मनुष्य ने इस अपार धनराशि को पाया है। यदि यह कहा जाय कि मानवीय सभ्यता का जन्म पृथ्वी-सम्बन्धी जिज्ञासा तथा भू-विज्ञान के जन्म और विकास के साथ-ही-साथ हुआ, तो असंगत न होगा।

यद्यपि मनुष्य ने पृथ्वी के सम्बन्ध में छानबीन अति प्राचीन काल से ही आरम्भ की, तथापि उसका ज्ञान पृथ्वी की थोड़ी-सी गहराई तक ही सीमित है। गहरी-से-गहरी खान जो मनुष्य खोद पाया है एक या डेढ़ मील से अधिक गहरी नहीं है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य का ज्ञान पृथ्वी की इस नगण्य गहराई तक ही सीमित है। वह आज भी यह नहीं जान पाया है कि पृथ्वी के भीतर इस गहराई के बाद क्या है? हाँ, उसने गहराई तक पहुँचने और वहाँ कार्य करने के जो प्रयत्न किये हैं, उनसे उसको यह ज्ञान अवश्य हो गया है कि पृथ्वी का पिण्ड किस पदार्थ का बना है। गहराई में जाने पर इस पदार्थ में किस प्रकार परिवर्तन होता जाता है, यह भी उसने सीखा और इसी आधार पर उसने पृथ्वी के गर्भ में क्या हो सकता है, इसकी कल्पना की है।

**पृथ्वी के गर्भ की ओर**

खनिजों की खोज में मनुष्य ने खानें आदि खोदने का जो प्रयत्न किया, उससे उसे पृथ्वी के भीतर की रचना के सम्बन्ध में काफी ज्ञान प्राप्त हुआ है।

## धरातल की झाँकी

आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार पृथ्वी का पिण्ड ७९०० मील व्यास के एक विशाल गोले के रूप में है, जिसके नीचे और ऊपर के सिरे चपटे हैं। इस पृथ्वी-पिण्ड के चारों ओर वायुमण्डल का लगभग २०० मील गहरा पर्त चढ़ा हुआ है। पृथ्वी का क्षेत्रफल लगभग उन्नीस करोड़ सत्तर लाख वर्ग मील है। इसका ७१ प्रतिशत भाग महासागर, समुद्र आदि के रूप में जलमग्न है। शेष भाग स्थलभाग है। धरातल का स्थल भाग कई प्रकार के पदार्थों से मिलकर बना है। इन पदार्थों में से कुछ तो सर्वत्र पाये जाते हैं और कुछ किसी विशेष स्थान पर ही। मुख्यतः तीन प्रकार के पदार्थ हैं, जो धरातल को बनाते हैं। एक तो वे जो पर्वत-श्रेणियों में पाये जाते हैं। हिमालय आदि पर्वत की चट्टानें परतीले शिलाखण्डों की बनी हैं। इन शिलाओं के पर्तों पर कहीं-कहीं ऐसे चिह्न पाये जाते हैं, जिन्हें देखकर अनुमान होता है कि ये प्रस्तरखण्ड किसी समय जल के भीतर रहे होंगे। ये शिलाखण्ड मिट्टी तथा बजरी-जैसे पदार्थ के बने हैं और जमकर गर्मी के दबाव अथवा अन्य किसी कारण से कठोर हो गए हैं। वे पदार्थ, जो इन्हें बनाने में लगाये गये हैं, वही हैं जो आग्नेय चट्टानों के रूप में कहीं-कहीं पाये जाते हैं। दक्षिण भारत का पठार इसी प्रकार की चट्टानों से बना है। इन चट्टानों के देखने से यह प्रतीत होता है कि किसी समय ये शिलाएँ द्रव पदार्थ के रूप में थीं।
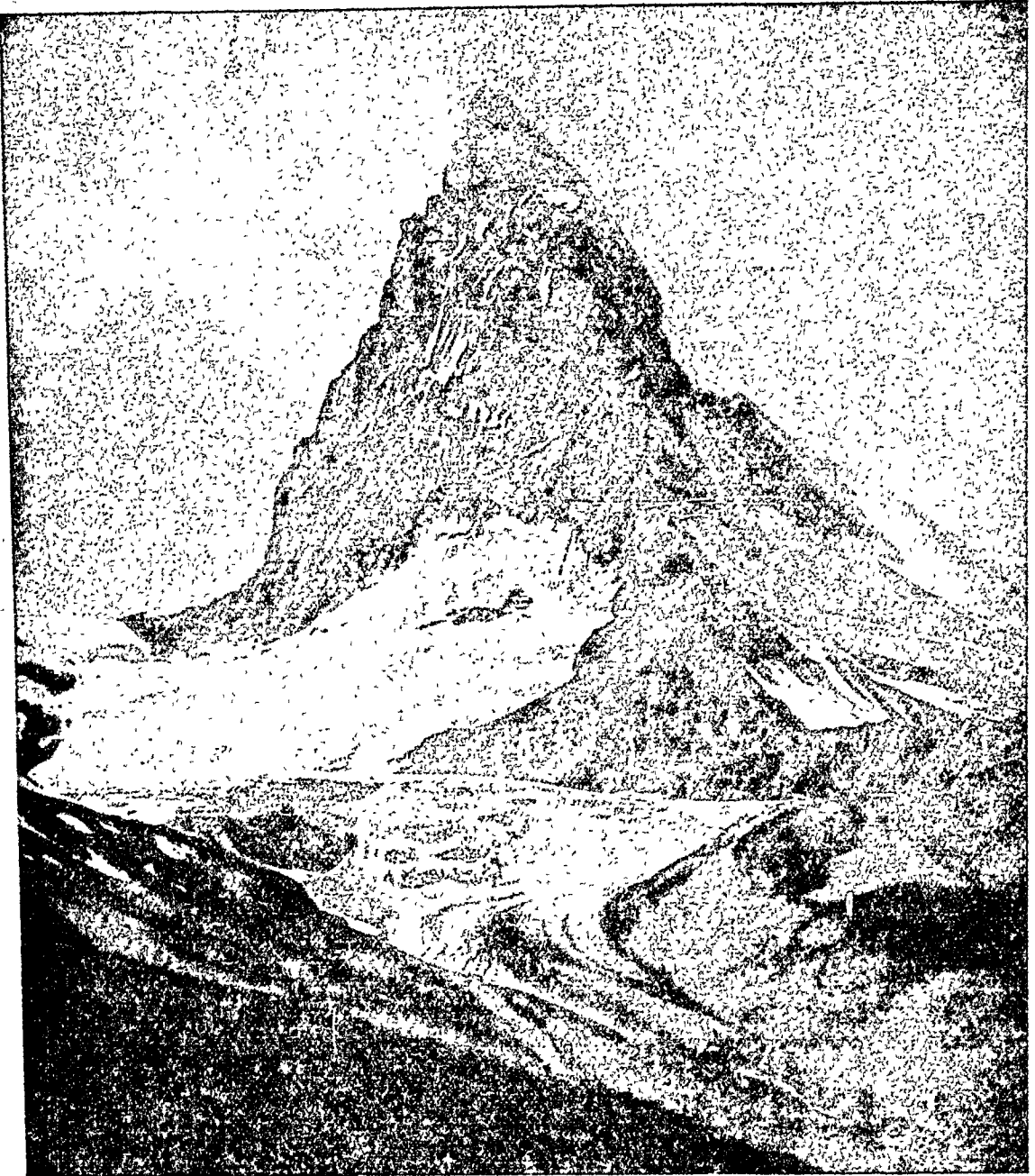
**धरातल की शोभा में चार चाँद लगा देनेवाला एक उत्तुङ्ग शैल-शिखर**

यह आल्प्स-पर्वतमाला के 'मेटरहार्न' नामक प्रख्यात शिखर का चित्र है। कहना अनावश्यक है कि यदि हमारी क्रीडाभूमि पृथ्वी इन गिरिशृंखलाओं और उनके भव्य शिखरों से अलंकृत न होती तो उसका सौंदर्य कितना घट जाता !

कालान्तर में वे जमकर कठोर हो गई। तीसरे प्रकार के पदार्थ मिट्टी, बालू, कंकड़ आदि हैं, जो लगभग सारे धरातल पर बिछे पाये जाते हैं। इस सामग्री से निर्मित होने के कारण पृथ्वी अद्भुत वेशभूषा से अलंकृत हो गई है।

धरती को खोदने में भी हमें विचित्र प्रकार के अनुभव होते हैं। कहीं तो चट्टानें इतनी कठोर हैं कि उन्हें साधारण औजारों की मदद से खोदना असम्भव हो जाता है और विस्फोटक पदार्थों द्वारा उनको तोड़कर खोदना पड़ता है।

कही पर चट्टाने बहुत ही नरम है। कही मीलो की गहराई तक पानी का पता नही और कही पर थोडा खोदते ही जल निकलने लगता है। कुछ भागो मे खोदने पर केवल मिट्टी-ही-मिट्टी निकलती है और कही पर कोयला तथा लोहा-जैसा काला पत्थर, स्फटिक की शिलाएँ, गन्धक-मिश्रित जल और मिट्टी का तेल आदि द्रव पदार्थ मिलते है।

पृथ्वी के धरातल पर भी विचित्र दृश्य देखने मे आते है। कही तो हिमालय-जैसी गगनचुम्बी पर्वत-श्रेणियाँ है, तो कही गगा-जमुना के मैदान के सदृश समतल भाग। कही सहारा-सा मरुस्थल, है तो कही दक्षिण भारत-सी कठोर भूमि। कभी भूतल से किसी स्थान पर गरम पानी की धाराएँ वह निकलती है, तो कभी हरा-भरा मैदान मरुभूमि मे परिणत हो जाता है। कभी विशालकाय भूमिखण्ड समुद्र के गर्भ मे विलीन हो जाते है, तो कभी धराखण्ड समुद्र से निकलकर पर्वतो का रूप धारण कर लेते है। कभी ज्वालामुखी पर्वत आग्नेय उद्गार से पृथ्वी-मण्डल को कँपा डालते है, तो कभी भूचाल मनुष्य-निर्मित नगरो को तहस-नहस कर देते है। कही पर्वत-श्रेणियाँ ऊपर उठती है, तो कही नदियो द्वारा कट-कटकर वे मिट्टी मे मिलती जाती है। इसी तरह नदियाँ कही तो नर्मदा की भाँति सैकडो फीट गहरी घाटियो मे वहती है, और कही मैदानो मे सरकते देखी जाती है।

## पृथ्वी का निरन्तर रूप-परिवर्त्तन हो रहा है

इस प्रकार हम देखते है कि प्रकृति की लीलाओ द्वारा पृथ्वी का रूप निरन्तर वदलता रहता है। कितने युगो से पृथ्वी का रूप वदलता आया है और उसका प्रारम्भिक रूप कैसा था, यह किसी ने नही देखा। आज जो शक्तियाँ उसके रूप को बनाती-विगाडती है, वे भी आदि युग मे इसी प्रकार कार्यशील थी अथवा नही, इसका भी हमे पता नही है। आदि मानव ने पृथ्वी का जो रूप देखा था, वह कैसा था, इसका भी हमे कुछ ज्ञान नही है। इन्ही वातो को जानने का प्रयत्न भू-विज्ञान की सहायता से किया जाता है। जिस प्रकार मनुष्य अपना सामाजिक तथा राजनीतिक इतिहास जानने के लिए मानवीय सभ्यता के चिह्नो को एकत्रित करता है और उनका तात्पर्य समझने की चेष्टा
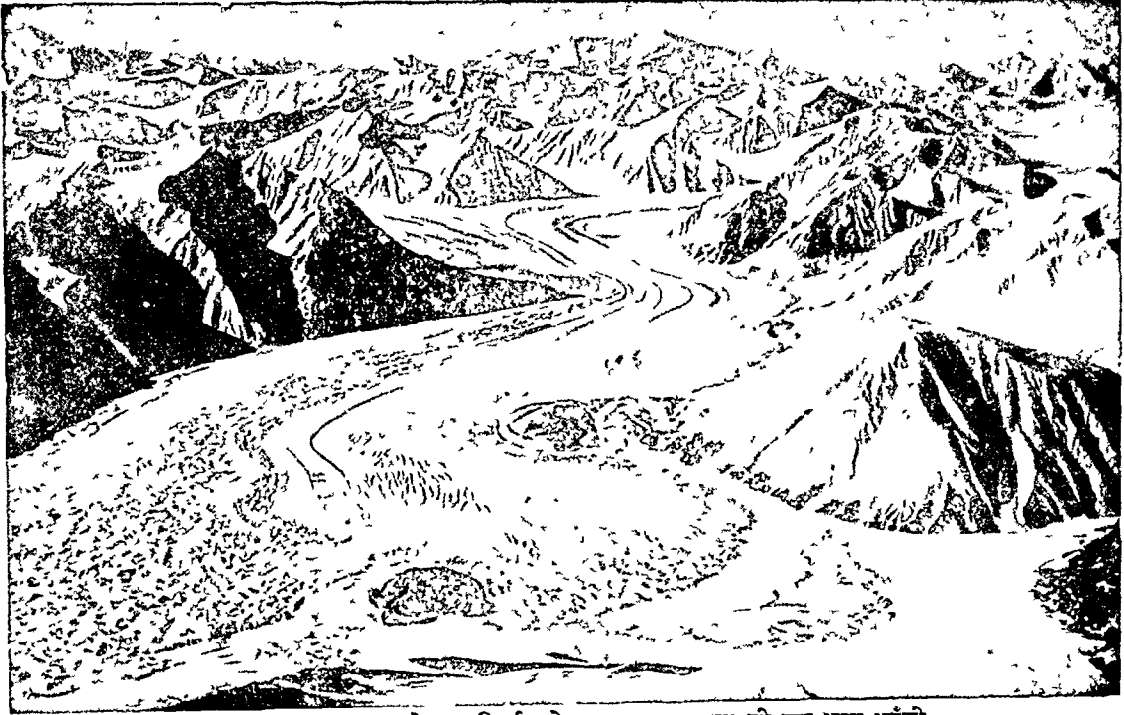
**प्रकृति द्वारा धरातल के रूप-निर्माण के अनवरत अनुष्ठान की एक भव्य झाँकी**

यह सोचना गलत होगा कि पृथ्वी का जो कुछ रूप वनना या विगडना था वह भूतकाल में हो चुका। नही, दरअसल आज भी उसके निर्माण एव विध्वस का क्रम निरन्तर जारी है, जिसकी प्रत्यक्ष झाकियाँ हमें यहाँ-वहा देखने को मिलती है। प्रस्तुत चित्र में अलास्का का एक महान् ग्लेशियर या हिमानी का भव्य दृश्य है। जैसा कि आगे चलकर आपको ज्ञात होगा, हिमश्रृंखलाओं मे उद्भूत होकर धीरे-धीरे सरकती रहनेवाली इन हिम-नदियो का धरातल के रूप-निर्माण में गहरा हाथ है।

**गिरि-समूह को भेदकर अपने प्रवाह-मार्ग पर दौड़ती चली जा रही एक महान् जलधारा का दृश्य**

पर्वत जहां हमारी इस क्रीड़ाभूमि की शोभा में गौरव और भव्यता के प्रतीक हैं, वहां नदियां तो मानो उसकी प्राणधारा ही हैं। प्रस्तुत चित्र में गिरिराज हिमालय के अपने हिमसदन से उतरकर मैदानों की ओर बढ़ती हुई पुण्यशीला गंगा नदी की एक मनमोहक झांकी है।

**धरती की रामकहानी उसके अनवरत परिवर्तन की गाथा है**

हमें पृथ्वी की ऊपरी सतह पर ऐसे अनेक चिन्ह देखने को मिलते हैं, जो प्रकृति द्वारा उसके निरन्तर रूप-परिवर्तन की गाथा सुनाते हैं। शिलाखंडों के क्षय से निर्मित इन प्राकृतिक सेतुओं पर गौर कीजिए।

करता है, उसी प्रकार भू-विज्ञानवेत्ता पृथ्वी के इतिहास को जानने के लिए उन साधनों का आश्रय लेता है, जो प्रकृति ने उसके लिए पृथ्वी पर अंकित कर रक्खे हैं। प्रकृति ने पृथ्वी के प्रत्येक अंग पर उसका इतिहास स्वयं उसी से लिखाया है। नदी-तट के बालू के कणों से लेकर विशाल पर्वत-श्रेणियाँ तक अपनी कहानी सुनाने को तैयार हैं। समुद्र गरज-गरजकर अपनी गहराई और भीतर बनने-वाले पर्वतों के जन्म का हाल सुनाने को तैयार है। ज्वाला-मुखी का उद्गार बताना चाहता है कि भूगर्भ में क्या छिपा है। भूचाल पृथ्वी की न जाने किस आन्तरिक उथल-पुथल का परिचय देता है। इस प्रकार इनमें से प्रत्येक पृथ्वी की आत्मकथा का एक-एक अध्याय छिपाये हुए है। जो कोई भी इनके पास पहुँचता है, उसी को अपने पृष्ठ खोल-कर दिखाने के लिए ये तत्पर हैं। इस महान् आत्मकथा को पढ़ने के लिए आवश्यकता है कि हम उसके प्रत्येक अंग को ध्यानपूर्वक देखें और फिर उसका मनन करें तथा आज जो घटनाएँ हो रही हैं, उन्हीं की सहायता से उसके इतिहास की खोज करें। वर्तमान ही के पास भूत-काल की कोठरी की कुंजी है—इसी सिद्धान्त पर भू-विज्ञान का अध्ययन निर्भर है।

पृथ्वी के विकास के इतिहास का अध्ययन मनुष्य ने आदि युग से ही आरम्भ किया था। यद्यपि हमारी आज की धारणाएँ हमारे पूर्वजों से सर्वथा भिन्न हैं तथापि हमें भी यह कहने का साहस नहीं हो सकता कि हमारी ही बात सबसे अन्तिम है। मनुष्य का ज्ञान जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, उसका मत भी बदलता जाता है। पृथ्वी के सम्बन्ध में मनुष्य के विचार समयानुकूल किस प्रकार बदलते रहे हैं, इसका इतिहास बहुत ही मनोरंजक है।

## पृथ्वी के संबंध में प्राचीन धारणाएँ

सभ्यता के आदि युग में जब लोगों का विचरण पृथ्वी के थोड़े-से भाग तक ही सीमित था, उनका विश्वास था कि पृथ्वी चौरस है और इसकी गहराई अनन्त है। पृथ्वी की सीमित लम्बाई-चौड़ाई की कल्पना उन लोगों ने नहीं की परन्तु जब उनके पर्यटन का क्षेत्र बढ़ा और वे समुद्र के किनारे तक पहुँचने लगे, तब पृथ्वी के बारे में उनका विचार बदलने लगा। वे पृथ्वी को समुद्र में तैरनेवाली एक विशालकाय वस्तु समझने लगे। अनन्त जलसागर में

तैरनेवाली विशालकाय पृथ्वी जब उन्हे तनिक भी हिलती-डुलती न प्रतीत हुई, तब उनका विचार हुआ कि पृथ्वी तैरती नही है, वरन् अचल है। वह एक वृक्ष की भाँति है, जिसकी जड़ें अनन्त जलराशि के नीचे तक चली गई है।

यह विचार अधिक काल तक स्थिर न रह सका और लोगों के विचारों में फिर परिवर्तन हुआ। उन्होंने पृथ्वी के आधार की खोज करना आरम्भ की और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पृथ्वी एक बड़ी चौरस छत की भाँति है, जो बारह खम्भो पर स्थित है। ये खम्भे किस आधार पर टिके है, इस सम्बन्ध मे वे चुप रहे। परन्तु कुछ लोगों ने यह सिद्धान्त फैलाना आरम्भ किया कि यज्ञ, हवन, बलिदान आदि धार्मिक कृत्यो के बल पर ये खम्भे स्थित है। यदि पृथ्वी पर धार्मिक कृत्य बन्द हो जायँ, तो ये खम्भे एक दिन भी स्थिर न रह सकेंगे और पृथ्वी गिरकर अनन्त पाताल के गर्भ में विलीन हो जायगी। इसी कल्पना के आधार पर भूकम्प का सिद्धान्त ठहराया गया। अर्थात् जब धार्मिक कृत्यो में कमी हो जाती है, तब इन खम्भों की शक्ति क्षीण हो जाती है और फलतः पृथ्वी डगमगा जाती है। कई कैथोलिक ईसाई मतावलम्बी तो अब भी पृथ्वी को चपटी मानते है। इसी विश्वास के आधार पर योरप में मध्ययुग में कई ऐसे विद्वानो को जीवित जला दिया गया था, जो पृथ्वी को गोल कहने का साहस करते थे।

भारतवर्ष में पृथ्वी के सम्बन्ध में विभिन्न कालो में विभिन्न मत प्रचलित रहे है। हमारे शास्त्रों में पृथ्वी को अचला, अनन्ता, स्थिरा आदि नामों से पुकारा गया है। इससे पृथ्वी की स्थिति और विस्तार का तो ज्ञान होता है, परन्तु उसके आकार और आधार का पता नही लगता। कुछ लोगों का सिद्धान्त था कि पृथ्वी गोल छिलके की भाँति है और वह चार हाथियों की पीठ पर अवस्थित है, ये हाथी एक विशाल कच्छप की पीठ पर खड़े हैं। इसी कारण सम्भवतः इसका नाम 'काश्यपी' पड़ा। चीन देश मे भी इसी प्रकार का कुछ विश्वास प्रचलित था। तिब्बत

**प्रकृति ने पृथ्वी से अपनी आत्मकथा स्वयं अपने ही हाथों से अपने ही कलेवर पर लिखवाई है**

यह एक उल्लेखनीय बात है कि शैशवकाल से आज तक के पृथ्वी के विकास की विविध मंजिलों का लेखा-जोखा बहुत-कुछ उसके ही अपने संग्रहालय में हमें ढूंढने पर मिल जाता है। इस संग्रहालय का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश एक-दूसरे पर तह पर तह जमी हुई युग-युग की वे चट्टानों की परतें है, जो जल, वायु, सूर्यताप आदि शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा क्षीण होकर कहीं-कहीं अद्भुत रूप-आकार की दिखाई देती है।

के लामा लोग आज भी पृथ्वी को मेढकों पर प्रस्थापित मानते हैं।

भागवत पुराण की वाराह अवतार की कथा के प्रसंग में यह कहा गया है कि भगवान् ने पृथ्वी को रसातल मे खोज निकाला और जल के ऊपर रख दिया और तब से वह वहीं पर रक्खी हुई है। पृथ्वी के आधार के विषय में कहा जाता है कि वह शेपनाग के फन पर रक्खी हुई है। शेपनाग ब्रह्माजी के आदेश से परोपकारार्थ इस 'चल' पृथ्वी को अपने सिर पर बिना परिश्रम के इस प्रकार धारण किये रहते है कि वह तनिक भी हिलती-डुलती नही।

आगे चलकर कुछ विद्वानो ने पृथ्वी की अण्डाकार कल्पना की। इस धारणा के अनुसार भी पृथ्वी आधी समुद्र के भीतर जलमग्न है और शेप पर मनुष्य रहते हैं। भिन्न-भिन्न विद्वानो ने अपनी बुद्धि और तर्क के अनुसार पृथ्वी का भिन्न-भिन्न आकार सिद्ध करने की चेष्टा की। किसी ने पृथ्वी को नल के समान, तो किसी ने छः पहल वाली माना। किसी ने पृथ्वी को खरबूजे के समान माना, तो किसी ने ताम्बूलाकार। कोलम्बस ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि पृथ्वी शंखाकार है।

प्रसिद्ध विद्वान् भास्कराचार्य ने बारहवी शताब्दी मे यह सिद्ध कर दिया था कि पृथ्वी गोल है और उसमें आकर्षण-शक्ति है। पृथ्वी तथा अन्य ग्रहो की परस्पर आकर्षण-शक्ति के कारण ही सब ग्रह निरन्तर निराधार घूमा करते हैं। इस मत की पुष्टि आधुनिक विद्वानो ने भी की है। आधुनिक मतानुसार पृथ्वी नारगी के समान गोल है और उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवो के पास वह चपटी हो गई है। कुछ विद्वानो की गवेषणा तथा खोज के परिणामस्वरूप पृथ्वी का एक नवीन ही आकार माना गया है, जो न पूर्णतया गोल है और न अण्डाकार। इस आकार को 'पृथिव्याकार' कहें तो ठीक है, क्योंकि उसका अपना
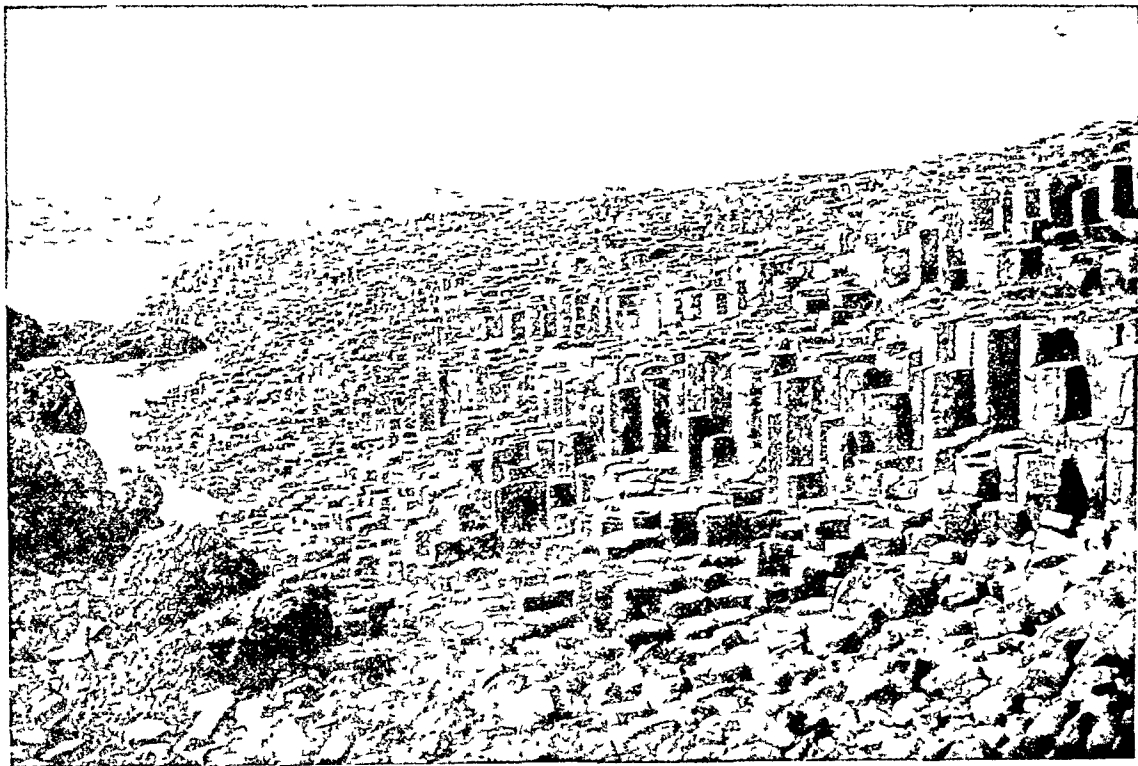
**पृथ्वी की अद्भुत आत्मकथा का एक पृष्ठ**

हम कह चुके है कि पृथ्वी ने अपनी जीवन-कथा स्वयं लिखी है। ऊपर के चित्र में आयर्लैण्ड के उत्तरी समुद्रतट पर प्रकृति द्वारा रची गई खभों के टुकड़ों-जैसी शिलाओं का अद्भुत दृश्य है। ये शिलाएँ लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व किसी समय पिघले हुए पाषाण के एक विशेष रीति से जम जाने से बनी थीं। आज दिन तो ये ऐसी मालूम देती है, मानो किसी विशाल घाट के खण्डहर हों!
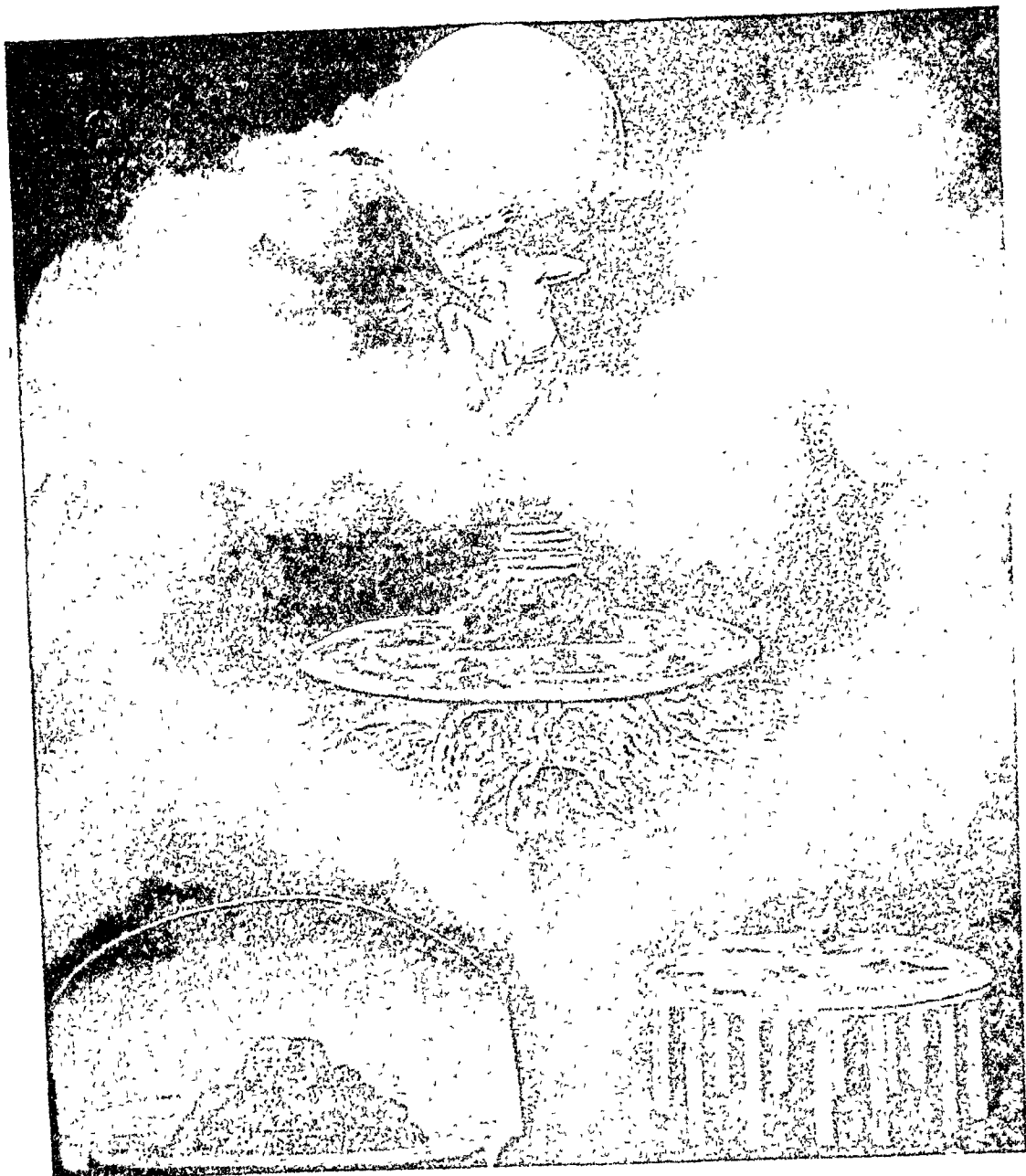
**पृथ्वी के सम्बन्ध में कुछ प्राचीन धारणाएँ**

आरंभ में मनुष्य के पास आज की तरह पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक जाने के साधन तो थे नहीं कि वह इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता। अतएव उसने कल्पना का सहारा लिया और फलतः पृथ्वी के आकार और आधार के सम्बन्ध में तरह-तरह की धारणाएँ प्रचलित हो गईं। प्राचीन भारतवासियों का विश्वास था कि पृथ्वी ईश्वर की कला शेषनाग के मस्तक पर टिकी हुई है और उसके बीचोबीच सुमेरु-नामक कई लाख योजन ऊँचा पर्वत है। इस पर्वत के आस-पास थाली की तरह वलयाकार क्रमशः सात द्वीप और उनको घेरनेवाले सात सागर हैं। उधर यूनानियों का विश्वास था कि पृथ्वी एक बड़ी चपटी छत की भाँति है, जो बारह खंभों पर टिकी हुई है। ये खंभे 'हरक्यूलीज के खंभे' कहलाते थे। एक मत यह भी था कि शाप के वश एटलस-नामक एक दैत्य पृथ्वी को उठाये हुए है। यहूदियों द्वारा पृथ्वी अण्डाकार विश्व का निचला भाग मानी जाती थी। इसी तरह और भी कई मत प्राचीन काल में प्रचलित थे।

निराला ही आकार है। इस आकार की कल्पना इस कारण की गई है कि पृथ्वी का कोई भी अक्षांश—यहाँ तक कि विषुवत् रेखा भी—पूर्ण वृत्त नहीं है।

### भूगर्भ का रूप

पृथ्वी के आकार और आधार के विषय में तो लोगों ने भाँति-भाँति की कल्पना की, परन्तु उसके भीतर क्या है, इसके बारे में प्राचीन लोग बहुत कम जान पाये। कुछ लोगों ने पृथ्वी को खोखला कहा और कुछ ने उसे ठोस माना। मार्शल गार्डनर नामक भूविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् के मतानुसार पृथ्वी एक खोखला पिण्ड है। इसका छिलका ८००मील मोटा है। इसके भीतर भी एक सूर्य है, जो इसे गर्म रखता है। रासायनिक अरीनिउस का कहना है कि धरती धातु से बना हुआ एक भारी गोला है। इस गोले के भीतर उग्र आँच से उत्तप्त पदार्थ भरा है और इसका गर्भ वायव्य रूप में है। उसकी यह कल्पना ज्वालामुखी पर्वतों के उद्गार के आधार पर अवलम्बित है। उसका कहना है कि पृथ्वी के अत्यन्त गहरे भागों में भार के खिंचाव से खिंचकर सोना, चाँदी, प्लेटिनम आदि धातुएँ जमा हो गई हैं। फारसी सभ्यतावालों के मतानुसार कारूँ अपना खजाना लेकर पृथ्वी में धँस गया है और आज भी धँसता जाता है। वह कारूँ का खजाना यही हो सकता है। इस अतुल धनराशि के चारों ओर वायव्य रूप में लोहे की बहुत बड़ी पर्त है। पृथ्वी का लगभग आधा पिण्ड लोहे का है। वायव्य लोहे के इस अनल-मण्डल का व्यास लगभग छ हजार मील है। इसके ऊपर छ सौ मील मोटा चट्टानों के वायव्य का स्तर है। इसके ऊपर १६० मील तक धधकती आँच से सफेद गले हुए पत्थरों की पर्त्त है। इन सबके ऊपर लगभग १०० मील मोटा वह चिप्पड है, जिस पर हम लोग रहते हैं। अरीनिउस के सिद्धान्त को आधुनिक वैज्ञानिक भी अपने मत का आधार मानते हैं।

**प्रस्तरीभूत वृक्षों के तने, जो भू-विज्ञान के महान् आश्चर्यों में हैं**

इस चित्र में पेड के तने जैसी जो आकृतियाँ दिखाई दे रही हैं वे लकड़ी नहीं बल्कि पत्थर की हैं। कभी दरअसल ये लकडी ही के मोटे लट्ठे थे और सचमुच वृक्ष के तने या धड के भाग थे! आज से लाखों-करोडों वर्ष पूर्व के किसी विशाल वृक्ष के धड के ये अवशेष काल के प्रभाव से प्रस्तरीभूत हो गये हैं अर्थात् पाषाण बन गए हैं।

### धरातल का आकार-प्रकार

पृथ्वी-पिण्ड वायुमण्डल से लगभग २०० मील तक घिरा हुआ है। पृथ्वी के सम्पूर्ण ऊपरी पृष्ठ का क्षेत्रफल लगभग १९ करोड ७० लाख वर्गमील है। इसमें से लगभग १४ करोड वर्गमील महासागरों, समुद्रों, और झीलों में व्याप्त है। शेष भाग में यूरेशिया, अफ्रीका, अमेरिका आदि महाद्वीप फैले हैं। प्रशान्त सागर की औसत गहराई लगभग १४००० फीट है। धरातल के किनारों का भाग सागर में शनैः-शनैः डूबता हुआ अचानक अतुल गहराई में विलुप्त हो जाता है। सागर-जल की मात्रा इतनी प्रचुर है कि यदि

पृथ्वी के ऊँचे-नीचे भाग सब बराबर कर दिये जायँ, तो सम्पूर्ण धरातल जलमग्न हो जाय और लगभग ८६०० फीट गहरे जल का वेष्ठन ( पर्त ) उस पर चढ जाय।

सागर की सबसे अधिक गहराई ३५००० फीट से भी अधिक है। उधर भूतल के सर्वोच्च शिखर गौरीशंकर ( एवरेस्ट ) की ऊँचाई २९००० फीट से कुछ अधिक है। इस प्रकार हमारे चिप्पड के ऊपरी पृष्ठ पर कुल १२ मील के लगभग ऊँचाई-निचाई है। पृथ्वी के ७९०० मील लम्बे व्यास की तुलना में १२ मील की ऊँचाई-निचाई नगण्य-सी है। इस प्रकार आधुनिक मनुष्य का ज्ञान पृथ्वी के ऊपरी चिप्पड़ के भी एक छोटे से अंश तक ही सीमित है। पृथ्वी के चिप्पड़ की अपेक्षा मनुष्य को समुद्र के भीतर का ज्ञान अधिक है। समुद्र के भीतर मनुष्य आसानी से कुछ दूर तक जा सका है। पर धरातल की भाँति समुद्रतल भी समतल नहीं है। कहते हैं, धरातल की भाँति समुद्रतल पर भी, नीची-ऊँची भूमि घाटियाँ और पहाड़ियाँ-सी हैं।

# पृथ्वी कहाँ से और कैसे ?

## उसकी आरंभिक रूपरेखा

**पृथ्वी के संबंध में हमारी अब तक क्या-क्या धारणाएँ रही हैं और आज का उसका स्वरूप कैसा है, इसका सामान्य रूप से ऊपर हम विवेचन कर चुके हैं। इस प्रकरण में हमे देखना है कि पृथ्वी कहाँ से और कैसे आई, और उसके शैशवकाल का रूप कैसा रहा।**

हमारी पृथ्वी सौर मण्डल का एक अंश है और सौर मण्डल इस अखिल ब्रह्माण्ड में विचरनेवाले करोडो नक्षत्र-मण्डलों में से एक है। अनन्त ब्रह्माण्ड में हमारे सौर मण्डल के सूर्य-सरीखे और उससे और कई गुना बड़े असंख्य नक्षत्र तो हैं ही, साथ ही पुच्छल तारे, सर्पिल नीहारिकाओं की दूर तक पसरी हुई कुण्डलियाँ तथा बड़े-बड़े उल्कापिण्ड भी निरन्तर उसमे घूमा करते हैं। पृथ्वी सौर मण्डल का ही एक भाग होने के कारण, वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पृथ्वी का जन्म भी सौर मण्डल के जन्म के साथ हुआ। ज्योतिष या खगोलविद्या के अध्ययन करनेवालों का विचार है कि सौर मण्डल का जन्म एक ऐसे वायव्य पिण्ड से हुआ, जो किसी कारण से सूर्य तथा सूर्य से भी बड़े एक विशाल नक्षत्र के परस्पर बहुत अधिक निकट आ जाने से उत्पन्न हो गया था। किस प्रकार इस महापिण्ड से सौर मण्डल की सृष्टि हुई, इसके विषय में वैज्ञानिकों में मतभेद है। लोगों ने कल्पना और तर्क के बल पर अनेकों सिद्धान्त बनाये, परन्तु अभी तक इस संबध में कोई निश्चित् सिद्धान्त ठहराया नही जा सका है। इधर भूगर्भ-विज्ञान द्वारा भी पृथ्वी के विभिन्न स्तरो की बनावट, खानो के भीतर के अनुभव, ज्वालामुखी पर्वतों के विस्फोट, आदि के अध्ययन द्वारा बहुत-से वैज्ञानिकों ने इस पहेली को सुलझाने की चेष्टा की है। परन्तु आधुनिक विद्वान् सहज ही किसी भी सिद्धान्त को ग्रहण करने के लिए तैयार नही है।

अठारहवी शताब्दी में लाप्लास नामक एक फ्रेन्च वैज्ञानिक ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि सौर मण्डल के जन्म से पहले उसके स्थान पर धधकते वायव्य पदार्थ का एक महापिण्ड आकाशमण्डल में वेग से घूमता हुआ चक्कर लगाता था। यह पिण्ड उस समय इतना लंबा-चौडा था कि वर्तमान सौर मण्डल के अत्यत दूरवाले ग्रह नेपचून के परिक्रमाक्षेत्र से भी बाहर तक पसरा हुआ था। वेग से घूमने के कारण इसके ऊपरी भाग की उष्णता आकाशमण्डल मे फैल गई और वह ठंडा होने लगा। ठडा होने के कारण उसका बाहरी वायव्य पदार्थ घनीभूत होने लगा, परन्तु भीतर का पदार्थ अभी उत्तप्त वायव्य अवस्था ही में था। ऊपर का घनीभूत भाग घूमने की गति मे केन्द्रीय भाग का साथ न दे सकने के कारण उससे अलग हो गया और उसके बाहर तेजी से उसकी परिक्रमा करने लगा। कालान्तर में बाहर घूमनेवाली वह वलयाकार कुण्डली एक पिण्ड के रूप में सिमट गई और केन्द्रीय पिण्ड के चारो ओर पूर्वावस्था में परिक्रमा लगाने लगी। इस प्रकार उस महापिण्ड से एक-एक करके नौ पिण्ड अलग हो गए, जो सौर मण्डल के ग्रहो के रूप में— जिसमे हमारी पृथ्वी भी एक है—आज भी केन्द्रीय पिण्ड सूर्य के चारो ओर उसी भाँति परिक्रमा लगा रहे हैं। सूर्य तो अभी तक उत्तप्तावस्था में है, किंतु उसके आसपास चक्कर लगानेवाले ये छोटे पिण्ड या ग्रह अब बहुत ठंडे हो गए हैं।

इस मत के अनुसार पृथ्वी एक वायव्य पिण्ड से घनीभूत होकर, तरलावस्था को पार करके, धीरे-धीरे कठोर हुई है। अब भी यह पूर्णतया ठंडी नहीं हो पाई है, केवल इसके ऊपर का पिण्ड, जिस पर हम लोग रहते है, जमकर कठोर हो गया है। इसके भीतर अभी तक लावा की भाँति पिघला हुआ पदार्थ भरा है, जो धीरे-धीरे सिकुडता हुआ ठडा हो रहा है। इस मत के अनुसार पृथ्वी का पिण्ड आरम्भ मे इतना छोटा न था जितना आज है, वरन् इससे कई गुना बडा—लगभग सूर्य जैसा ही—था।

## उल्काओं की उत्पत्ति

लोगो ने बहुत दिनो तक ऊपर के सिद्धान्त पर विश्वास किया और कुछ लोग अब भी इसको ही ठीक मानते है। परन्तु थोड़े दिनो के बाद वैज्ञानिको ने एक नया सिद्धान्त निकाला। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर नार्मन लाकयर नामक वैज्ञानिक ने किया। इस सिद्धान्त का मूल तत्त्व यह है कि अखिल ब्रह्माण्ड में जितने भी पिण्ड है, वे सब उल्काओ के बने हुए है। अर्थात् आकाश-मण्डल मे दिखाई पडनेवाले ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, धूमकेतु और नीहारिकाएँ आदि सब पिण्ड उसी प्रकार के उल्कापिण्डो तथा उल्काकणों की धूलि से मिलकर बने है, जो नित्य-प्रति हमारी पृथ्वी पर टूटनेवाले तारो के रूप मे गिरते रहते हैं। इस मत के अनुसार सौर मण्डल भी उल्का और नन्हे उल्काकणों के समूह से मिलकर बने हुए एक विशाल पिण्ड से पैदा हुआ है, वायव्य पिण्ड मे नहीं।

**सौर परिवार की उत्पत्ति-संबंधी सिद्धान्तों के दो महान् प्रतिपादक**
*(ऊपर) लाप्लास; (दाहिनी ओर) जीन्स।*

इन उल्काओ की उत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिक यह विश्वास करते है कि आकाशमण्डल के कुछ पिण्डो के परस्पर टकरा जाने से वे छिन्न-भिन्न होकर ब्रह्माण्ड मे इधर-उधर छिटक जाते है। छिटके हुए ये पिण्ड किसी बड़े पिण्ड के आकर्षण से उसके अधिक समीप पहुँचकर उसी मे मिल जाते है। हमारी पृथ्वी के समीप भी जो पिण्ड आ जाते है, वे पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से इतने वेग से इसमें आ मिलते हैं कि मालूम होता है कही से टूटकर गिर रहे है।

इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे सौर मण्डल की उत्पत्ति उल्कापिण्डो से बनी एक नीहारिका से हुई है। दो महापिण्डो के परस्पर टकरा जाने से इतनी भीषण ज्वाला उत्पन्न हुई होगी कि इन महापिण्डो के छिन्न-भिन्न अंगो मे से अधिकांश उसमें गलकर तरल हो गए होगे। कुछ वायव्य रूप मे भी परिणत हो गए होंगे और बादल की भाँति छा गए होगे। परन्तु आकर्षण-शक्ति के वश तरल और वायव्य पदार्थ बड़े-बड़े पिण्डों से अलग नहीं हो सके होंगे, वरन् वायव्य पदार्थ ठोस और पिघले हुए पिण्डो को पूर्णतया मण्डित किये रहा होगा और इस प्रकार पूरा पिण्ड वायव्य के महापिण्ड के रूप मे दिखाई पडता होगा। सहस्रो उल्कापिण्डों के वेग से इधर-उधर परस्पर टकराने से तथा रगड़ने से वेगवती ज्वाला और प्रकाश उत्पन्न होता रहा होगा, जो सारे वायव्य पिण्ड को प्रकाशित किये हुए होगा। इस अवस्था में सहस्रो उल्कापिण्ड आपस मे रगड़कर चूर हो गए होंगे और इस चूरे ने उस बिखरे हुए पदार्थ के लिए वही काम किया होगा, जो ईंटो की जुड़ाई मे चूना करता है, अर्थात् बड़े-बड़े उल्कापिण्डो को एकत्रित करके उसने एक बडे पिण्ड के रूप मे परिणत कर दिया होगा।
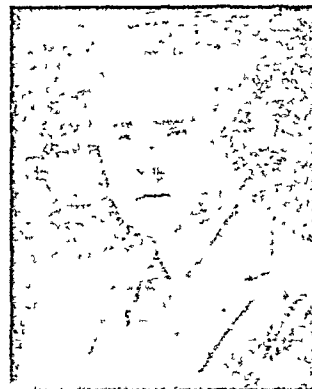
## उल्कापिण्डों की नीहारिका

टक्कर की वेदना से तिलमिलाकर यह महापिण्ड निरन्तर नाचता रहा होगा और कालान्तर मे एक सर्पिल नीहारिका के रूप मे परिणत हो गया होगा। नीहारिका का बाहरी भाग ठंडा होकर एवं केन्द्रीय भाग से अलग होकर एक पिण्ड के रूप मे सिकुड़ गया होगा। कहते है, इस प्रकार धीरे-धीरे नीहारिका से कई पिण्ड अलग हो गए होंगे, जो सौर मण्डल के ग्रहो के रूप में आज केन्द्रीय पिण्ड सूर्य के चारो ओर चक्कर लगाते घूमते है। एक उल्लेखनीय बात यह है कि पृथ्वी

का पिण्ड जिन पदार्थों से मिलकर बना है, वे ही पदार्थ उल्काओं में भी पाये जाते हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि मंगल आदि अन्य ग्रहों पर भी हमारी पृथ्वी की भाँति ही निरन्तर उल्कापात होता रहता है।

प्रोफेसर सी नामक वैज्ञानिक ने यह सिद्धान्त ठहराया है कि अखिल ब्रह्माण्ड उल्काकणों की महीन धूल से निरन्तर छाया हुआ है। कभी-कभी ऐसा होता है कि इस धूल का कुछ अंश एकत्रित होकर एक पिण्ड बन जाता है। यह पिण्ड हमें आकाश में नक्षत्रों के रूप में दिखाई देता है। उल्काओं तथा उल्काकणों की नीहारिकाएँ भी आकाश-मण्डल में बनती रहती हैं। इन नीहारिकाओं में नक्षत्रों-जैसे उल्कापिण्ड भी आकर फँस जाते हैं। इस प्रकार वेग से घूमती हुई नीहारिकाओं में उल्का, उल्काकणों की धूल, इनके परस्पर के घर्षण से उत्पन्न वायव्य पदार्थ तथा नक्षत्र-जैसे बड़े-बड़े उल्का रहते हैं। बड़े-बड़े विशाल पिण्ड अन्य पिण्डों को भी आकर्षित कर लेते हैं। इसी प्रकार हमारे सौर मण्डल के ग्रह सुदूर अतीत में सूर्य की प्रारम्भिक नीहारिका के चक्कर में आकर फँस गए होंगे, वे उसी से उत्पन्न नहीं हुए। तभी से वे आकर्षण के कारण सूर्य की परिक्रमा करते रहते हैं।

## आधुनिक सिद्धान्त

सौर मण्डल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैफरे नामक वैज्ञानिक ने कुछ वर्ष हुए जो सिद्धान्त ठहराया है, वह अन्तिम हो या नहीं, परन्तु उसके अनुसार पृथ्वी का जन्म अन्य ग्रहों के समान अतीत में सूर्य के समीप एक विशाल नक्षत्र के आने और उसकी गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के खिंचाव से उसके (सूर्य के) कुछ अंश के दूर तक छिटक जाने से हुआ। इस घटना के फलस्वरूप सूर्यपिण्ड का बहुत-कुछ अंश आकाश-मण्डल में छिटक गया और पीछे से इस छिटके हुए पदार्थ के अनेक टुकड़े बन गए, जिन से पृथ्वी आदि ग्रहपिण्डों का जन्म हुआ। आरम्भ में ये पिण्ड पिघली हुई दशा में थे और प्रचण्ड अग्नि से तप्त थे। जैफरे के बाद सर जेम्स जीन्स नामक विद्वान् ने गणित द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि सौर मण्डल जिस नीहारिका रूपी पिण्ड से आरम्भ हुआ है, वह घूमते-घूमते एक गिल्ली की-सी शक्ल का हो गया होगा। गिल्ली के अन्य भाग की अपेक्षा नुकीला भाग जल्दी ठंडा हो गया होगा और सिकुड़कर, घना हो जाने के कारण वह मूल भाग का साथ न दे सका होगा, अतः टूटकर अलग हो गया होगा। टूट जाने पर भी यह उस बड़े पिण्ड के साथ-ही-साथ घूमता रहा होगा। क्रमशः बड़ा पिण्ड सिकुड़कर छोटा होता गया और इस प्रकार यह टूटा हुआ पिण्ड उससे दूर हो गया। साथ-ही-साथ बड़े पिण्ड से इस प्रकार के कई और पिण्ड टूटकर अलग हुए। ये ही पिण्ड सौर मण्डल के ग्रह हैं और केन्द्रीय पिण्ड सूर्य है। जो पिण्ड गिल्ली के नुकीले भाग के रूप में टूट गए थे, वे भी आरम्भ में पिघली हुई तप्त अवस्था में थे और बराबर वेग से नाचते हुए केन्द्रीय पिण्ड की परिक्रमा करते थे। कालान्तर में इन पिण्डों की शक्ल नासपाती जैसी हो गई होगी और फिर इनके नुकीले भाग भी टूटकर इनसे अलग हो गए होंगे। ये भाग इन ग्रहों के चन्द्रमा के रूप में हो गए होंगे। हमारी पृथ्वी का भी नुकीला भाग टूटकर इससे अलग हो गया और चन्द्रमा बन गया। इस भाग के टूटने से जो स्थल खाली हुआ, उसमें पृथ्वी के ठंडी हो जाने पर पानी भर गया और वही हमारा आज का गहरा समुद्र बन गया।
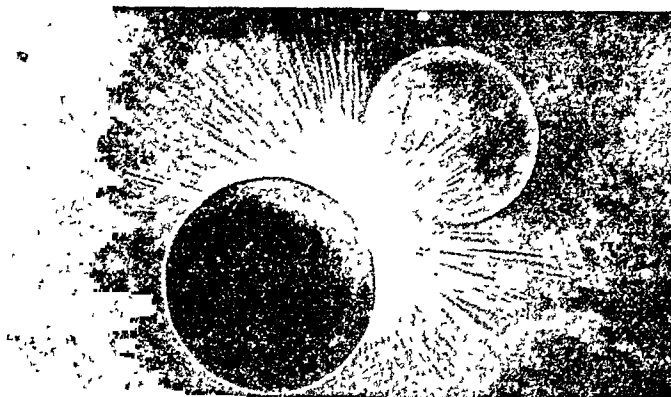
**दो आकाशीय पिंडों की टक्कर से सौर मंडल की उत्पत्ति की कल्पना**

एक मत के अनुसार सौर मंडल की उत्पत्ति अतीत में ऐसे ही दो महापिंडों के आपस में टकरा जाने से उत्पन्न नीहारिका द्वारा हुई होगी।

## भारतीय पौराणिक धारणा

इस सम्बन्ध में हमारी पौराणिक कथा भी बड़ी महत्त्व-पूर्ण है। सृष्टि के आरम्भ में अनन्त भगवान् शेषनाग की कुण्डली पर शयन करते हुए क्षीरसागर में विश्राम करते थे। भगवान् की नाभि से कमल उत्पन्न होता है, जिसके दल चारों ओर फैले हुए हैं। भगवान् के नाभिकमल पर बैठे ब्रह्मा इस विचार में मग्न होते हैं कि मैं कौन हूँ, कहाँ

हूँ और किसलिए आया हूँ? इतने में भगवान् के कानों के मैल से दो विशाल शरीरवाले दानव उत्पन्न होते हैं। ये दोनों दानव आपस में लड़ने लगते हैं और लड़कर दोनों मर जाते हैं। उनके शरीर का मैल उसी क्षीरसागर मे बहता है और उसी से मेदिनी बनती है। कुछ काल पर्यन्त मेदिनी के पुत्र के रूप में मगल नामक ग्रह जन्म लेता है। कालान्तर मे मेदिनी के समुद्र-मन्थन से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मा ने मरीचि और भृगु नामक दो मानसिक पुत्र उत्पन्न किये। इनके द्वारा सूर्य आदि ग्रह उत्पन्न हुए।

## पौराणिक और आधुनिक धारणाओं में साम्य

ऊपर जिन वैज्ञानिक सिद्धान्तो का वर्णन किया गया है, उनमे तथा पौराणिक रूपक मे बहुत-कुछ सामंजस्य है। अनन्त भगवान् को इस अनन्त ब्रह्माण्ड के रूप में माना जा सकता है। क्षीरसागर दूध-सरीखे उस चमकदार पदार्थ को कह सकते है, जो आकाशमण्डल मे नीहारिकाओ और आकाशगंगा मे देख पड़ता है। शेषनाग की कुण्डली अनन्त ब्रह्माण्ड में पसरी हुई नीहारिकाओं की कुण्डली है। कान के मैल से दो दैत्यों का उत्पन्न होना अनन्त देश की किसी गुहा से दो मरे हुए बृहताकार पिण्डों का निकलना हो सकता है। दोनों का टक्कर खाना दोनो का लड़ना है। लड़ते-लड़ते दोनो नष्ट हो जाते हैं और उनके शरीर का मैल एक वायव्य पिण्ड के रूप में परिणत हो जाता है, जिसे मेदिनी के नाम से पुकारा गया है। इस मेदिनी के मंगल ग्रह नामक पुत्र हुआ। कौन जानता है कि जीन्स की गणना के अनुसार मगल ग्रह कदाचित् पृथ्वी की नासपाती-सी शक्ल का टूटा हुआ नुकीला भाग ही हो? चन्द्रमा के सम्बन्ध में तो सभी वैज्ञानिक यह स्वीकार करते है कि वह पृथ्वी से टूटकर अलग हो गया है।

वास्तव में सौर मण्डल की उत्पत्ति कैसे हुई, यह अभी तक कोई प्रामाणिक रूप से सिद्ध करने मे सफल नही हो सका है। सबने अपनी धारणाओं के अनुसार अपने सिद्धान्त बनाये है। हम यह नही कह सकते कि ये सिद्धान्त ठीक नहीं हैं, परन्तु तर्क और वास्तविकता की कसौटी पर अभी तक कोई सिद्धान्त पूर्ण रूप से अन्तिम नही हो पाया है। हमें इस संबंध में यह देखना है कि पृथ्वी की कथा, जो उसकी चट्टानो तथा उसके विभिन्न स्तरो आदि में प्रकृति की कलम द्वारा लिखी हुई है, इस संबंध में क्या कहती है। भू-विज्ञान तो मुख्यत. उसी बात को ग्रहण करने को तैयार होगा, जो उसे धरती स्वयं बताएगी। अतः भू-विज्ञान के खोजियों ने यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि पृथ्वी चाहे जैसे उत्पन्न हुई हो, पर एक समय उसकी दशा उत्तप्त लोहे के समान पिघले हुए पदार्थ की-सी अवश्य रही होगी। पृथ्वी जैसी आज हमें देख पडती है, ऐसी तो आरम्भ में वह कदापि न थी। उस समय न इस पर जीव-जन्तु थे न मनुष्य। वृक्ष आदि का होना भी उस समय असम्भव ही था। पर्वत, समुद्र, मैदान, घाटियाँ आदि का भी पता न था। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जन्म के समय पृथ्वी पिघले हुए पदार्थों का एक पिण्ड मात्र था, जिसको धातु, पत्थर आदि पदार्थो की घनी वाष्प चारो ओर से घेरे हुए थी। इसलिए यह बादल के महापिण्ड के रूप में अनन्त देश मे भयानक वेग से नाचते हुए सूर्य की परिक्रमा करता देख पड़ता होगा। सूर्य के चारो ओर वेग से घूमने के कारण इस पिण्ड की उष्णता ब्रह्माण्ड में फैलती जाती होगी और यह अत्यन्त उत्तप्त धधकता बादल धीरे-धीरे घनीभूत होकर सिमटता जाता होगा।

कहते हैं कि ज्यों-ज्यों इस पिण्ड का पदार्थ घनीभूत होता गया, इसका आकार एक गोले के आकार-सा होता गया। जैसे-जैसे इस उत्तप्त महापिण्ड की आँच अनन्त देश में बिखरती जाती थी, यह ठंडा होता जाता था। पत्थर, धातुएँ आदि, जो गैस के रूप में इस पिण्ड को आच्छादित किये हुए थे, अब द्रव रूप में परिणत होकर इस पर बरसते थे। यह द्रव रबड़ी के समान आधी पिघली धातुओं का मिश्रण था।

## चन्द्रमा का जन्म

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गणितज्ञो ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इस प्रकार से घूमनेवाला पिण्ड धीरे-धीरे नासपाती की-सी शक्ल का हो जायगा। इस नासपाती का नुकीला भाग नाचने की तेजी में शेष भाग का साथ न दे सकने के कारण टूटकर अलग हो जायगा। जिस प्रकार नासपाती के नुकीले भाग के रूप में पृथ्वी सूर्य से अलग हो गई, उसी प्रकार पृथ्वी भी घूमते-घूमते जब नासपाती की-सी शक्ल की हो गई तो इसका नुकीला भाग भी इससे टूटकर अलग हो गया। यही टूटा हुआ भाग चन्द्रमा के रूप में अब भी पृथ्वी से सम्बन्धित है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि चन्द्रमा को पृथ्वी से अलग हुए लगभग एक अरब वर्ष हो गए। पृथ्वी के इतिहास में यह घटना बड़े महत्त्व की हुई। चन्द्रमा पृथ्वी का ही अंग होने के कारण आज भी पृथ्वी के आकर्षण से बँधा हुआ है और स्वयं भी पृथ्वी को अपनी ओर आकर्षित किये रहता है। ज्वार-भाटा इसी का फल है।

जिस समय चन्द्रमा पृथ्वी से अलग हुआ, उस समय पृथ्वी भयानक वेग से घूम रही थी। सूर्य की परिक्रमा भी वह उन दिनों बड़े वेग से लगाती थी। उन दिनों पृथ्वी पर बड़ी-छोटी रातें और दिन होते होंगे। साथ-साथ चन्द्रमा भी पृथ्वी से बँधकर ब्रह्मांड में घूमता फिरता था। चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग हो जाने से पृथ्वीपिण्ड में लगभग २७ मील गहरा गड्ढा हो गया। कहते हैं कि कालान्तर में इसमें जल भरने लगा, जिससे यह गड्ढा गहरे सागर के रूप में परिणत हो गया। चन्द्रमा के आकर्षण से पृथ्वी पर भयानक ज्वार आते थे, कारण पृथ्वीपिण्ड का पदार्थ उस समय तक भी घनीभूत नही हो पाया था। वह अर्द्ध-द्रव धातुओं और पत्थरो का एक भीषण समुद्र-सा था। इस सागर में भयानक वेग से उबाल आते थे और इस उत्तप्त रबड़ी-जैसे पदार्थ को मीलों तक ऊपर उछाल देते थे। चन्द्रमा के कारण जब पृथ्वी पर ज्वार आते थे, तो यह उत्तप्त पदार्थ भीषण लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई की लहरो में विचलित हो जाता था। यही दशा चन्द्रमा की भी रही होगी। परन्तु चन्द्रमा की यह दशा शीघ्र ही समाप्त हो गई। चूंकि उसका पिण्ड छोटा था, इसलिए वह शीघ्र ही ठंडा हो गया था।

चन्द्रमा के अलग हो जाने से पृथ्वी के नाचने के वेग में काफी सुस्ती आ गई। पृथ्वीपिण्ड के पदार्थ मे उस समय भीषण ज्वार आते थे। इसका भी पृथ्वी की नाचने की गति पर प्रभाव पड़ा और उसका वेग धीरे-धीरे कम होने लगा। पृथ्वी का पिण्ड ठंडा होने से पिघले हुए पदार्थ गाढ़े होकर जमने लगे। जिस प्रकार कढाई में धीमी आँच में औटनेवाले दूध पर धीरे-धीरे मलाई पड़ने लगती है और वह धीरे-धीरे गाढ़ी और मोटी होती जाती है, उसी प्रकार पृथ्वीपिण्ड के खौलते पदार्थ के ठंडे होने और गाढ़ा होने से उस पर भी मलाई-सी जमना आरम्भ हुई। यह मलाई की पपड़ी, जैसे-जैसे पृथ्वी ठंडी होती जाती थी, अधिकाधिक मोटी होती जाती थी। परन्तु आँच की भयानकता के कारण यह पपड़ी एकदम जमकर कड़ी नही हो पाई। ऐसा होने के लिए अभी लाखों बरस का समय चाहिए था।
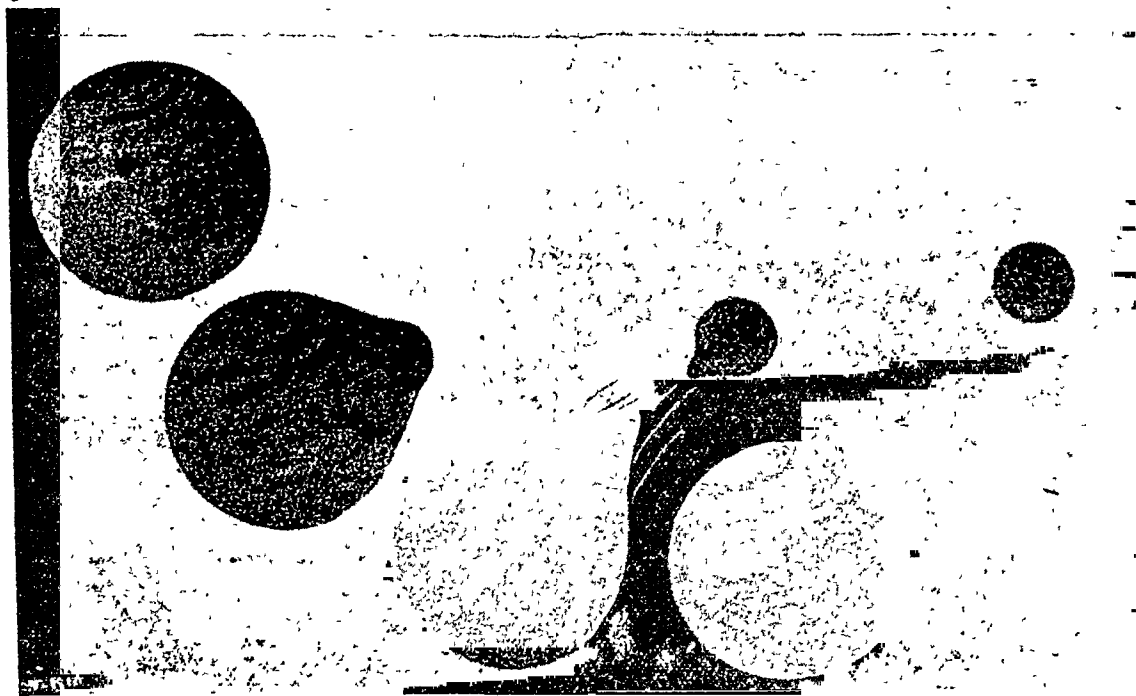
**चन्द्रमा का जन्म**

वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी से ही चन्द्रमा का जन्म हुआ है। लगभग एक अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी का उत्तप्त गोला घूमते-घूमते नासपाती की शक्ल का होने लगा। तभी उसका उभरा हुआ अंश टूटकर अलग हो गया और उसके आसपास चक्कर लगाने लगा। यही हमारा चन्द्रमा है।

## पृथ्वी की आरंभिक दशा

पृथ्वी की आरम्भिक दशा ठीक उसी प्रकार की थी जिस प्रकार इस्पात गलाने की भट्ठी मे इस्पात की होती है। इस्पात जब पिघलकर पानी-सा हो जाता है तो उसमें भीषण उबाल आते है और तब धातु बड़ी उछाल लेने लगती है। धीरे-धीरे यह उबाल आने बन्द होते है और तब ऊपर मैला आने लगता है। मैला हलका होने के कारण ऊपर आकर तैरता रहता है। भट्ठी की आँच इतनी भीषण होती है कि यह मैला भी पिघली हुई दशा में रहता है, परन्तु इस्पात की अपेक्षा इसमे बहने की शक्ति कम होती है। यदि भट्ठी को धीरे-धीरे ठडा किया जाय तो मैला जमकर मलाई के रूप में पिघले हुए इस्पात को ढक लेता है। मैले की वह पपड़ी, जैसे-जैसे भट्ठी ठडी होती जाती है, अधिकाधिक छोटी और घनी होती जाती है। परन्तु भीतर की धातु की गर्मी और दबाव के कारण इस पपड़ी मे दरारें-सी पड़ जाती है और उन दरारो में नीचे से इस्पात आकर भर जाता है। यदि भट्ठी और अधिक ठंडी कर दी जाय तो पिघला हुआ इस्पात धीरे-धीरे ठंडा होकर जमने लगेगा। इस्पात के पूर्व ही मैला जमकर कडा हो जायगा और ठंडा भी हो जायगा। परन्तु मैले की कड़ी पपड़ी के भीतर इस्पात पिघला हुआ होने के कारण यदि कही पपड़ी टूट जाय तो पिघला हुआ इस्पात ऊपर आ जाता है। इस भट्ठी के इस्पात को ठंडा होने और जमने में कई दिन लगेंगे। धीरे-धीरे मैला तो इतना ठंडा हो जायगा कि आप उस पर आसानी से हाथ रख सकते है और उस पर चढ़कर घूम भी सकते है, परन्तु इसको खोदने पर भीतर गर्मी रहेगी और अधिक खोदने पर बहुत सम्भव है कि किसी स्थान पर यदि इस्पात अभी ठडा न हो पाया हो, तो वह अब भी धधकता-सा दीख पड़ेगा।

वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पृथ्वी भी इसी प्रकार धीरे-धीरे ठंडी होकर वर्तमान रूप को प्राप्त हो गई है। आरम्भ मे यह भी पिघली हुई धातुओ और पत्थरो का एक भीषण कड़ाहा-सा था। इस धातुपिण्ड का मैला ऊपर आकर धीरे-धीरे जमकर कठोर हो गया। यही पृथ्वी के चिप्पड के रूप हमें दिखाई देता है। धातुएँ आदि अधिक समय तक पिघली दशा मे रही और इसीलिए उनके ठंडे होने मे देर लगी। पृथ्वी के गर्भ में सम्भवत. अब भी ऐसी दशा हो कि यह पिघला हुआ पदार्थ अभी पूर्णतया ठंडा न हो पाया हो और धीरे-धीरे ठंडा होकर जमकर कठोर बन रहा हो। वैज्ञानिको ने खोज से यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी के चिप्पड़ का घनत्व पृथ्वी के गर्भ के पदार्थ की अपेक्षा कम है, अर्थात् पृथ्वी का चिप्पड गर्भ के पदार्थ से हलका है। इस विषय का पूर्ण विवेचन हम आगे के किसी अध्याय में करेंगे। यहाँ यह कह देना पर्याप्त है कि पृथ्वी के गर्भ का घनत्व बहुत-कुछ लोहा, इस्पात, निकिल, प्लैटिनम आदि धातुओ के समान है और पृथ्वी के चिप्पड़ का घनत्व लगभग उतना ही है, जितना धातुओं के मैले का अधिकाश होता है। एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि पृथ्वी के चिप्पड़ के पदार्थ में जो तत्त्व पाये जाते है, वे अधिकाश में वही है, जो कि धातुओ के गलाने से जो मैला बनता है उनमें पाये जाते है। ये बातें इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है कि आरम्भ में पृथ्वी की दशा किसी बड़ी भट्ठी मे पिघलती हुई धातु के समान ही थी।

## चिप्पड़ का निर्माण

हम ऊपर बता चुके है कि जब धातु के मैले की पपड़ी जम जाती है तो वह एकदम चिकनी सपाट नही होती। भीतर धातु के बराबर खौलने से पपड़ी में जगह-जगह फफोले और दरारे भी पड़ जाती है। ये फफोले और दरारें पपडी के ठंडी होने और कड़ी होने पर बाद में वैसी ही बनी रहती हैं। दरारो के भीतर धातु आकर जम जाती है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पृथ्वी पर जो निचाई-ऊँचाई, पर्वत-घाटियाँ तथा सागर और मैदान दिखाई देते है, ये सब मैले की पपड़ी के फ़फोले और दरारों के समान ही बने होंगे। पृथ्वी का चिप्पड़ बिल्कुल मैले के समान ही धीरे-धीरे जमकर कड़ा हुआ है, इसलिए इसमें भी उसी के समान आरम्भिक फफोले और दरारे बन गई। कालान्तर में ये फफोले बड़े-बड़े पर्वतों के रूप में परिवर्तित हो गए और दरारों मे जल भर गया, जिससे नदियों, झीलो और सागरो तथा महासागरों की उत्पत्ति हुई। परन्तु इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते पृथ्वी पर जो अजीब विपत्तियाँ आई, वे भी उल्लेखनीय है।

जब पृथ्वी का पिण्ड इतना ठडा हो गया कि उसके ऊपरी तल पर १२००° की आँच रह गई, तो ऊपर की पपड़ी जमकर कठोर होना आरम्भ हुई। जब आँच घटते-घटते ३७०° तक पहुँची, तो भयानक दबाव के कारण उस समय के वायुमण्डल के जल की वाष्प कुछ-कुछ घनी होने लगी और पानी बनने लगा। ये दिन बड़े ही भीषण थे। सारी धरती गली हुई धातुओं आदि का एक भीषण महासागर-सा था, जिसकी धधकती हुई आँच आकाश में बहुत ऊँचे तक पहुँचती थी। बिजली कौंध रही थी। बादल

**पृथ्वी के शैशवकाल का प्रलयंकर दृश्य**

जन्म के लाखों वर्ष बाद जब पृथ्वी के ऊपर की पपड़ी जमने लगी, तब उस पर प्रकृति का भीषण ताण्डव आरम्भ हुआ। गली हुई धातुओं के उस धधकते महासागर में ज्वालामुखियों के भयानक उबाल आते थे! ऊपर से पिघली हुई धातुओं और पत्थरों की अग्निवर्षा होती थी!

कड़क रहे थे। धरती काँप रही थी। ज्वालामुखी उबले पड़ते थे। ज्यो-ज्यो आँच घटती जाती थी, त्यों-त्यों धातुओं के बादल द्रव बनकर बरसने लगते थे। उस समय धरती का पदार्थ आधे गले हुए पत्थरों और चट्टानों का बना था और उन्हीं के ऊपर पिघली हुई धातुओं और पत्थरों की भयानक अग्निवर्षा होती थी। तब आँच कुछ नरम होने पर धरती पर जलवर्षा शुरू हुई।

वह जल बरसते ही भाप बन जाता था और उड़ जाता था। धीरे-धीरे चन्द्रमा के स्थान पर जो गड्ढा हो गया था, उसमे जल एकत्र होकर भरने लगा। वह जल भयानक रीति से खौलता था। उसका तापक्रम १५०° से कम न रहा होगा। परन्तु उस समय का वायुमण्डल अत्यन्त घना था और उसके भीषण दबाव के कारण पानी आजकल के १००° के बदले लगभग २००° पर उबलकर भाप बनता था। जल से वह गड्ढा भर जाने पर उसमे खौलते पानी का भीषण सागर लहराने लगा। बढते-बढते इस सागर ने सारी धरती को ढक लिया। यह जल अत्यन्त उत्तप्तावस्था मे था। इधर भीषण उछाल और लहरें खाता हुआ यह जल पृथ्वी को पीड़ित किये था, उधर आसमान मे मेघ निरन्तर छाये रहते थे। लगातार धुँआधार वर्षा होती थी। लाखों वर्ष तक इसी तरह जल के उबलने और बरसते रहने से अंत में आँच धीरे-धीरे घटती गई।

## सागर कैसे बने ?

धरती के ऊपर चारों ओर जल-ही-जल था। यह जल धरती के बहुत-से पदार्थो को अपने में घुलाता जाता था। बहुत-से नए पदार्थ भी जमा होते जाते थे। इस प्रकार धरती के पिण्ड के बहुतेरे भाग का पदार्थ जल में घुल जाने से उनका स्थान खाली हो गया और वहाँ जल भर गया। परन्तु बहुत-सी जगह जल में घुल न सकी, इसलिए वह ऊँची रह गई। उस समय अनन्त देश मे धरती की आँच बड़ी तेजी से बिखरती जाती थी। परन्तु साथ ही सिकुड़ने के कारण धरती के भीतर की आँच प्रचण्ड होती जाती थी। यह क्रिया आज तक जारी है। परन्तु ये दोनो क्रियाएँ उन दिनो की उग्र अवस्था से आज परिमाणतः बहुत घटी हुई है।

इस प्रकार धीरे-धीरे जल के ऊपर थल दिखाई देने लगा। उस समय बादल तो धरती पर निरन्तर छाये ही रहते थे और मूसलाधार वर्षा भी होती थी, साथ ही आँधी और तूफान भी बड़े वेग से चलते थे। भूकम्प और ज्वालामुखी अलग पृथ्वी को पीड़ित करते थे। धीरे-धीरे भूकम्प, ज्वालामुखी और जलवर्षा घटी और सूखी भूमि निकलने लगी और कड़ी पड़ने लगी। धरती के निरन्तर सिकुड़ने और जल में अनेको पदार्थो के घुल जाने से पृथ्वी नीची-ऊँची और ऊबड़-खाबड़ हो गई। दूध पर की मलाई की तरह का चिप्पड़ कुछ मोटा हो गया। उसके भीतर दहकती हुई आग, पिघली हुई चट्टानें और बिल्कुल गर्भ के भीतर की अत्यन्त घनी और उत्तप्त लोहे की वायु भरी हुई रह गई। इसमें अब भी महाभयानक तूफान उठते रहते है, जिनसे धरती का ऊपरी चिप्पड़ कही-कही और कभी-कभी आज-कल भी काँप जाता है।

## जल और स्थल भाग का विभाजन

सूखी धरती धीरे-धीरे बढ़ने लगी। जो भाग जल मे घुल नही सका, वह जमकर कड़ी चट्टानो के रूप में रह गया। इन चट्टानो पर निरन्तर वर्षा होने से जल की धाराएँ बड़े वेग से नीचे की ओर बहती थी और उसी के साथ-साथ चट्टाने कट-कटकर बालू और मिट्टी के रूप मे समुद्र मे पहुँच जाती थी। कालान्तर मे ये मिट्टी और बालू के अंबार फिर कड़ी चट्टानो के रूप में जल के बाहर पर्वत बनकर निकल आते थे। ये क्रियाएँ आज भी जारी है। आगे के प्रकरणों में हम बतायेंगे कि किस प्रकार वायु, नदियाँ, झीलें, सागर, आदि पृथ्वी के चिप्पड़ को निरन्तर बनाने और बिगाड़ने की क्रिया में संलग्न है, जिससे जल-स्थल का उलट-पुलट निरन्तर होता रहता है; भूचाल क्यो आते है तथा ज्वालामुखी पहाड़ क्या है; नदियाँ कब और कैसे बनी तथा वे किस क्रिया में सलग्न है, आदि-आदि। इन बातों का पता भू-विज्ञान की सहायता से इसी सिद्धान्त पर लगाया गया है कि 'जो आज हो रहा है वैसा ही कल भी हो चुका होगा।' इसी सिद्धान्त, कल्पना और तर्क के बल पर मनुष्य ने अपनी पृथ्वी-सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करने की चेष्टा की है। यह आगे चलकर मालूम होगा कि वह सत्य के कितने निकट पहुँच गया है।

धरातल का विकास बहुत धीरे-धीरे और अत्यन्त सुदीर्घ काल में हुआ। वैज्ञानिको का अनुमान है कि पृथ्वी पर एशिया या जम्बूद्वीप ही सबसे प्राचीन महाद्वीप है, जिस पर जीवन की सृष्टि आरम्भ हुई। पृथ्वी की जीवनी की लम्बी कहानी को प्रकृति स्वयं चट्टानों पर अंकित करती जाती है। इसी से हमें उसका कुछ पता लगता है। इन चट्टानों पर अंकित कथा को पढने के लिए उनकी बनावट आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। यही भू-शास्त्र की सबसे पहली सीढ़ी है।

# पुरानी और नई दुनिया

**इस स्तंभ के अंतर्गत पृथ्वी की सतह पर के जल और स्थल के उस विशाल क्षेत्र के भौगोलिक रूप का दिग्दर्शन किया गया है, जिसे हम अपनी 'दुनिया' कहकर पुकारते हैं और जो दो गोलार्द्धों के रूप में चित्रित किया जाता है।**

अपने निवासस्थान भूपृष्ठ अथवा पृथ्वी के धरातल के विषय में मनुष्य ने जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसे 'भूपृष्ठ-विज्ञान' अथवा 'भूगोल' के नाम से पुकारा जाता है। भूगोल के अध्ययन से हमें धरातल की प्राकृतिक बनावट का ज्ञान प्राप्त होता है। इस शास्त्र के अध्ययन से हमें यह ज्ञान होता है कि धरातल का कितना भाग जलमग्न है और कितना सूखा भूखण्ड; भूखण्ड का कौन-सा भाग चौरस मैदान है और कहाँ पर विशाल पर्वत-शृङ्खलाएँ हैं; किस प्रकार ऋतु-परिवर्तन होता है और कैसे वर्षा होती है; कौन-से भाग शीतप्रधान हैं और कहाँ पर भीषण गर्मी पड़ती है; कहाँ पर नदी, भील और हरे-भरे मैदान हैं और कहाँ पर जलविहीन मरुभूमि है। केवल इतना ही नहीं, हम इसके द्वारा यह भी जान सकते हैं कि भूपृष्ठ की प्राकृतिक अवस्था में विभिन्नता क्यों है? सर्वत्र एक ही सी ऋतु, एक ही सी पैदावार, एक-सी वनस्पति तथा एक ही से पशु-पक्षी और मनुष्य क्यों नहीं होते हैं? कहीं पर शीतलता, तो कहीं पर उष्णता की पराकाष्ठा क्यों मिलती है? समस्त भूपृष्ठ पर एक ही सी वायु क्यों नहीं चलती और कहीं पर कम और कहीं पर अधिक वर्षा क्यों होती है?

**पृथ्वी के दो गोलार्द्ध**

जो पुरानी और नई दुनिया के नाम से विख्यात हैं। बाईं ओर पूर्वीय गोलार्द्ध है, जिसमें एशिया, योरप और अफ्रीका महाद्वीप सम्मिलित हैं। दाहिनी ओर पश्चिमी गोलार्द्ध है, जिसमें केवल उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका महाद्वीप हैं।

## पृथ्वी एक विशाल गोला है

भूपृष्ठशास्त्र के अध्ययन करनेवालों ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारी पृथ्वी दरअसल एक बड़ा गोला है। जब हम जल या स्थल पर यात्रा करते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है मानो पृथ्वी चपटी है। पर अब से कई हजार वर्ष पहले ही लोग समझ गए थे कि पृथ्वी चपटी नहीं है। यह हमें चपटी केवल इसलिए मालूम होती है कि हम एक समय में इसका बहुत ही थोड़ा भाग देख सकते हैं। पृथ्वी का व्यास इतना विशाल है कि उस पर हमारी स्थिति दरअसल आधे मील व्यासवाली एक विशाल गेंद पर रेंगनेवाली मक्खी के समान है। ऐसे विशाल गोले का ज्ञान भला मक्खी को कैसे होगा! एक समय था जब लोगों की दृढ़ धारणा थी कि पृथ्वी चपटी है। उन दिनों लोग अपनी धारणाओं पर इतना अधिक विश्वास करते थे कि किसी प्रकार भी वे उनका विरोध सहन नहीं कर सकते थे। जब पृथ्वी के आकार प्रकार के विषय में

कुछ विद्वानों ने प्रचलित मत के विरुद्ध यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि पृथ्वी गोल है, तब लोगों ने उनका बड़ा तिरस्कार किया। कुछ लोगों को इसी कारण बड़ी यन्त्रणाएँ और कष्ट झेलने पड़े। परन्तु धीरे-धीरे लोगों के विश्वास में परिवर्तन हुआ और अंत में उन्हे भी यह विश्वास हो गया कि वास्तव मे पृथ्वी गोल है।

आधुनिक खोज और आविष्कारों के युग में लोगों का ज्ञान उतना परिमित नही है जितना उन दिनो था, जब यात्राओं के साधन नही थे। उन दिनों लोगों का ज्ञान केवल देश के उसी भाग तक सीमित था, जहाँ तक वे आसानी से आ-जा सकते थे। आजकल तो लोगों ने सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर डाली है और यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी का आकार नारंगी से मिलता-जुलता है। ज्योतिष-विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी आकाश के अन्य ग्रहों के समान ही एक ग्रह है और सब ग्रहों की भाँति वह भी गोले के आकार की है। परन्तु इसका आकार

**धरातल के विभिन्न प्राकृतिक प्रदेशों की झाँकियाँ—(१)**

(ऊपर) ध्रुवों के आस-पास का शीतकटिबन्ध का वीरान प्रदेश, जहाँ केवल बर्फ-ही-बर्फ छायी देख पड़ती है। (बीच में) चीड के वनवाला प्रांत, जहाँ जाडों में भीषण सर्दी रहती है। (नीचे) घास के मीलों लंबे मैदान, जहां वृक्ष नाम मात्र को भी नहीं हैं, किन्तु अच्छी खेती होने लगी है।

पूर्णतया गोले के समान नहीं है। इसका कारण यह नहीं है कि उसके धरातल को ऊँचे-ऊँचे पर्वत, गहरी घाटियाँ, सागर आदि ऊबड़-खाबड़ बनाये हुए हैं। पृथ्वी के गोले के विशाल आकार के सामने यह ऊँचाई-नीचाई नगण्य-सी है। इसलिए धरातल की इस ऊँचाई-नीचाई का पृथ्वी के आकार पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। जिस प्रकार नारंगी गोल होते हुए भी ऊपर और नीचे के सिरों पर कुछ चपटी होती है तथा उसके पेटे का भाग कुछ अधिक गोलाई लिये रहता है, उसी प्रकार हमारी पृथ्वी भी नीचे और ऊपर के सिरों पर नारंगी के समान ही कुछ-कुछ चपटी है और उसके पेटे का भाग भी कुछ अधिक गोलाई लिये हुए है। यदि पृथ्वी की परिधि नापी जाय तो पेटे की परिधि शेष भाग की परिधि की अपेक्षा कुछ अधिक और ऊपर-नीचे के चपटे भागों पर नापी गई परिधि शेष परिधि की अपेक्षा कुछ कम होगी। ध्रुवों पर पृथ्वी की परिधि २४,६०२ मील और विषुवत्-रेखा पर वही २४८६० मील है।
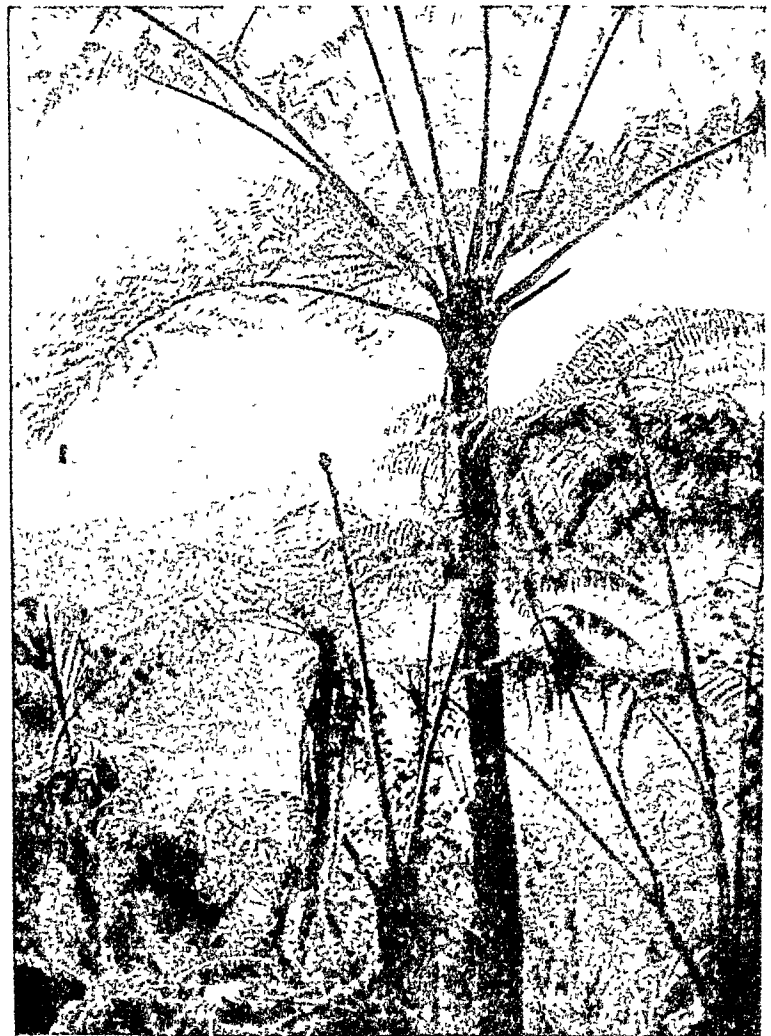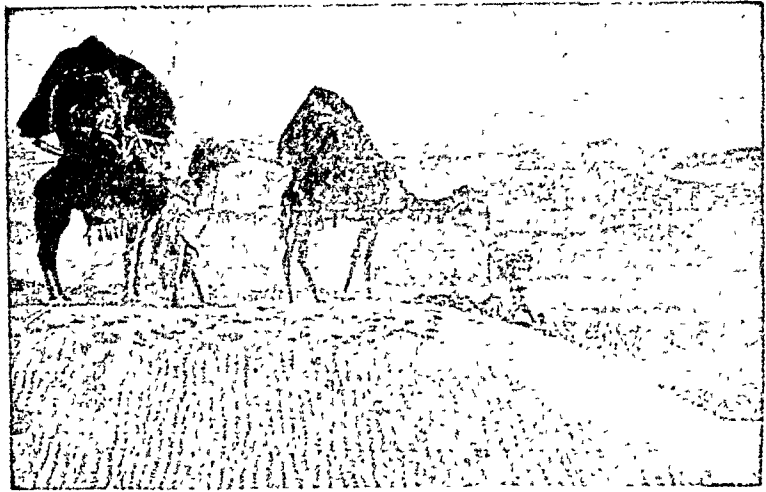
**धरातल के विभिन्न प्राकृतिक प्रदेशों की झाँकियाँ—(२)**

(ऊपर) उजाड़ मरुप्रदेश का दृश्य, जहाँ खजूर के वृक्षों को छोड़कर कोई पेड़-पौधा नहीं होता। आँधी के कारण यहाँ बालू के बड़े-बड़े टीले रोज बनते-बिगड़ते रहते हैं। (नीचे) उष्ण कटिबंध का प्रदेश, जहाँ प्रायः साल भर वर्षा होती है और घने वन पाये जाते हैं।

## पृथ्वी की गोलाई के विविध प्रमाण

पृथ्वी का धरातल चपटा नही है। यह कई प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि हम समुद्र के किनारे पर खड़े होकर सामने की ओर जाते हुए जहाज को देखें तो पता चलेगा कि पहले केवल जहाज का निम्नभाग हमारी आँखों से ओझल होने लगता है। तलभाग के बाद जहाज के बिचले हिस्से की बारी आती है और अन्त में ऊपरी सिरा या मस्तूल भी क्षितिज में मिलकर अदृश्य हो जाता है। यदि पृथ्वी का धरातल गोल न होकर चपटा होता तो पहलेपहल जहाज का तलभाग हमारी नजर से गायब न होना चाहिए था। वैसी हालत में, सबसे पतला हिस्सा होने के कारण पहले जहाज का मस्तूल ही आँखों से ओझल होता और तले की बारी अन्त में आती। जहाज का तलभाग अदृश्य हो जाने के बाद किसी चट्टान या टीले के सिरे पर चढकर देखने से वह फिर दिखाई पड़ता हैं। ये बातें तभी हमारी समझ में ठीक-ठीक आती है, जब कि हम यह मान लेते है कि जहाज को जिस धरातल से होकर गुजरना पड़ता है, उसका स्वरूप सपाट नहीं बल्कि वर्त्तुलाकार है।

पृथ्वी के धरातल के वर्त्तुलाकार होने का दूसरा प्रमाण यह है कि धरातल से हम जितना ही अधिक ऊँचा उठते है, हमारा क्षितिज भी उतना ही अधिक विस्तृत होता जाता है। यदि हम समुद्र के किनारे खड़े होकर अपनी आँखों को पृथ्वी की सतह से ६ फीट की ऊँचाई पर रखते हुए देखे तो हम सामने तीन मील तक देख सकते है, परन्तु यदि हम किसी ऐसे टीले पर चढ़ जाएँ, जो पृथ्वी के धरातल से ६६ फीट की ऊँचाई पर हो तो हमें १० मील तक दिखाई दे सकता है। फिर यदि हम और भी ऊँचे चढ़कर समुद्र के किनारे के धरातल से १८६ फीट ऊँचे किसी प्रकाशस्तम्भ पर खड़े होकर सामने नजर दौड़ाएँ तो क्षितिज की दूरी १५ मील की मालूम होगी। अधिक ऊँचाई पर चढकर देखने से क्षितिज का बढ़ते जाना वर्त्तुलाकार धरातल मे ही सम्भव है, समतल मे नही।

पृथ्वी की सतह के गोलाकार होने का तीसरा प्रमाण हमें जल की सतह पर किए गए निम्नलिखित प्रयोग में मिलता है। तीन खम्भों को आपस में एक-एक मील का अतर देकर जल में एक पंक्ति मे इस प्रकार रखिए कि जल के ऊपर निकले हुए उनके सिरे लम्बाई में बराबर हों। अब यदि एक दूरबीन के सहारे इन्हे इस तरह देखा जाय कि पहले और तीसरे खम्भे के सिरे ठीक एक सीध मे हों तो हमें मालूम होगा कि बीच का खम्भा इन दोनों से बड़ा है। इसका कारण यही है कि पानी की जिस पट्टी पर ये खम्भे खड़े किए गए है, उसका धरातल एकदम समतल नहीं बल्कि वर्त्तुलाकार है। दूसरी कोई बात इस शंका का समाधान नही कर सकती।

पृथ्वी के धरातल की गोलाई का एक सबूत यह भी है कि जब कभी भी चन्द्रग्रहण होता है तो चन्द्रमा के ऊपर पृथ्वी का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह हमेशा गोलाकार होता है। यदि पृथ्वी का आकार गोल न होकर किसी दूसरे ढंग का होता तो चन्द्रमा पर पड़नेवाली उसकी छाया भी गोलाकार न दिखलायी पड़ती।

प्राय: पृथ्वी के गोलाकार होने के सम्बन्ध में यह दलील भी दी जाती है कि कोई आदमी पृथ्वी के किसी भी बिन्दु से रवाना हो और सीधा चलता चला जाय तो वह पृथ्वी की परिक्रमा करता हुआ फिर उसी स्थान-बिन्दु पर पहुँच जायगा। परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि पृथ्वी का धरातल नारंगी की तरह गोल अर्थात् वृत्ताकार है। इससे केवल इतना ही साबित होता है कि यह चपटी न होकर वर्त्तुलाकार है। यदि पृथ्वी को लौकी की शक्ल का मान लें तो भी यह सम्भव है कि एक निश्चित बिन्दु से यात्रा आरम्भ करके सीधे चलता हुआ व्यक्ति फिर निश्चित बिन्दु पर ही लौट आएगा।

पृथ्वी के धरातल के गोल होने का सबसे सरल और सबसे बढ़िया प्रमाण तो यह है कि क्षितिज के धरातल मे हमेशा उतने अंश के कोण का परिवर्तन होता है, जितना कि हमें पृथ्वी के धरातल पर एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा मे लगता है! चाहे हम किसी भी दिशा में या किसी भी स्थान से चलना आरम्भ करें, जितनी दूर हम पृथ्वी की सतह पर चलेंगे क्षितिज में कोण का परिवर्तन ठीक उसी के हिसाब से होगा।

चूँकि तारे हमारी पृथ्वी से बहुत ही अधिक दूरी पर है, इसलिए यदि पृथ्वी गोल न होकर सपाट होती तो हमारे यात्रा करते समय तारे हमेशा एक ही दिशा में बने रहते। पर चाहे जिस किसी दिशा में भी हम यात्रा क्यों न करें, हम देखेंगे कि नये-नये तारे लगातार हमारी आँखों के सामने आएँगे। यह पृथ्वी की गोलाई का श्रेष्ठ प्रमाण है। अंत में रिक्को नामक विद्वान् ने समुद्र पर गोल सूर्य के अण्डाकार प्रतिबिम्ब को देखकर गणित द्वारा अन्तिम रूप से प्रमाणित कर दिया है कि पृथ्वी का धरातल गोल है; क्योंकि ऐसा होना वर्त्तुलाकार धरातल पर ही संभव है।

## पृथ्वी का परिमाण

पृथ्वी की सम्पूर्ण परिक्रमा करने से ही उसकी नाप की जा सकती है। परन्तु प्राचीन काल में पृथ्वी की परिक्रमा करना सर्वथा असम्भव था। इसलिए लोग पृथ्वी के आकार और परिमाण के विषय में बहुत दिनों तक अनभिज्ञ रहे। २००० वर्ष से ऊपर हुए इराटस्थनीज नामक एक यूनानी विद्वान् ने सर्वप्रथम पृथ्वी के परिमाण की गणना की थी। उसकी गणना के अनुसार पृथ्वी की परिधि की लम्बाई ३००० मील आँकी गई थी। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों ने लगभग सम्पूर्ण पृथ्वीतल को कई बार नाप डाला है। उनके अनुसार पृथ्वी की परिधि की लम्बाई लगभग २५,००० मील (ध्रुवों पर २४,८६० तथा विपुवत् रेखा पर २४,६०२ मील) है।

पृथ्वी के दोनों चपटे सिरों का नाम ध्रुव है। ऊपर का सिरा 'उत्तरी ध्रुव' और नीचे का सिरा 'दक्षिणी ध्रुव' कहलाता है। ध्रुवों के बीच पृथ्वी के व्यास की लम्बाई ७८६६ मील है। मध्य में उसकी लपेट पर पूर्व-पश्चिम का व्यास ७६२६ मील के लगभग है। सम्पूर्ण धरातल का क्षेत्रफल १६ करोड़ ७० लाख वर्गमील है। धरातल का दो-तिहाई से अधिक भाग जलवेष्ठित है। शेष स्थलभाग है।

## महाद्वीप और महासागर

आधुनिक काल में धरातल के स्थलभाग को कई विशाल भूखण्डों में विभाजित किया गया है। इन भूखण्डों या महाद्वीपों के नाम और क्षेत्रफल आगे की तालिका से स्पष्ट हैं।

| स्थलखंड | | क्षेत्रफल | |
|---|---|---|---|
| एशिया | | १,६३,६८,५०० | वर्गमील |
| योरप | | ३६,७०,००० | " |
| अफ्रीका | | १,१०,६२,००० | " |
| उत्तरी अमेरिका | | ७६,२३,०५० | " |
| दक्षिणी अमेरिका | | ६८,६१,००० | " |
| आस्ट्रेलिया | | ३०,१४,०५० | " |
| पॉलीनीशिया | लगभग | ५,००,००० | " |
| अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागर के द्वीप | " | २,५०,००० | " |
| ध्रुव-प्रदेश | " | २०,००,००० | " |
| सम्पूर्ण स्थल का क्षेत्रफल | | ५,१३,७८,६०० | वर्गमील |

जिस प्रकार स्थलभाग के विशाल खण्डों का नाम 'महाद्वीप' रख लिया गया है, उसी प्रकार धरातल के जलमण्डित भाग के भी कई महान् खण्ड किए गए हैं और प्रत्येक को 'महासागर' के नाम से पुकारा जाता है। ये पाँच हैं। इनके क्षेत्रफल आदि निम्न तालिका के अनुसार हैं.—

| महासागर | क्षेत्रफल | |
|---|---|---|
| प्रशान्त (पैसिफिक) महासागर | ६,३६,८६,००० | वर्गमील |
| अटलाण्टिक महासागर | ३,१५,३०,००० | " |
| हिन्द महासागर | २,८३,५०,००० | " |
| आर्कटिक या उत्तरी-महासागर | ५५,४१,६०० | " |
| अण्टार्कटिक या दक्षिणी महासागर | २०,००,००० | " |
| सम्पूर्ण क्षेत्रफल | १३,१४,०७,६०० | वर्गमील |
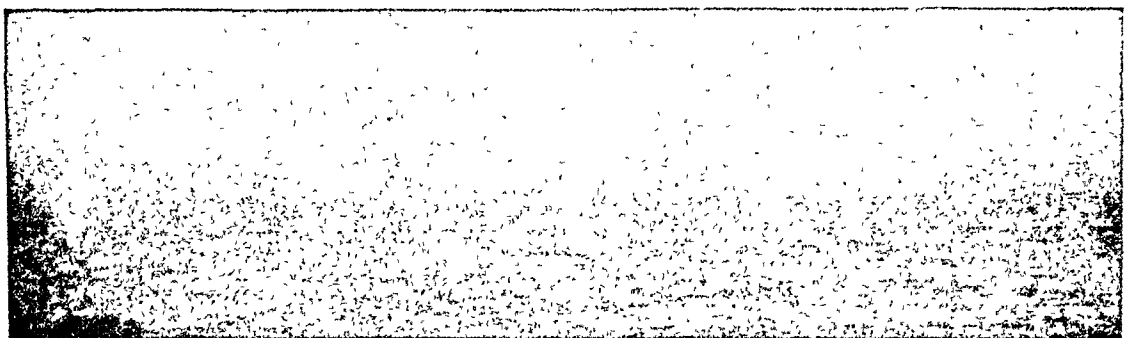
**हमें सूर्य के परिभ्रमण की जो भ्रान्ति होती है, वह केवल इसलिए कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूम रही है**

यह अद्भुत फोटोग्राफ उत्तरी ध्रुवप्रदेश में लिया गया था। फोटो-यन्त्र का रुख दक्खिन की ओर था और चार घंटे तक वह एक ही स्थान में रखा गया था। एक ही निगेटिव प्लेट पर क्रमशः १०, ११, १२, १ और २ बजे दिन को ५ फोटो लिये गए थे। इस फोटो में स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि किस प्रकार सूर्य का उदय हुआ और धीरे-धीरे आकाश में चढ़कर अंत को वह अस्त हो गया। वास्तव में सूर्य एक स्थिर नक्षत्र है। हमें उसके परिभ्रमण का जो भ्रम होता है, वह केवल पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण ही है।

इन विशाल जलखण्डों के अलावा पृथ्वीतल पर 'सागर', 'झील' आदि अनेको छोटे जलखण्ड भी है। इसी प्रकार महाद्वीपों के अतिरिक्त अनेको छोटे स्थलखण्ड भी है, जो 'द्वीप' या 'टापू' के नाम से पुकारे जाते है।

### पूर्वीय और पश्चिमी गोलार्द्ध

सम्पूर्ण भूपृष्ठ अथवा भूमंडल को आज दो भागों मे विभाजित समझा जाता है। एक मे एशिया, योरप, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया है। दूसरे भाग में उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका है। प्रथम विभाग के उत्तर मे उत्तरी हिम-महासागर और दक्षिण मे हिन्द तथा दक्षिणी हिम-महासागर है और पूर्व तथा पश्चिम मे क्रमश प्रशान्त तथा अटलाटिक महासागर है। दूसरे विभाग के पूर्व मे अटलाटिक और पश्चिम में प्रशान्त महासागर है तथा दक्षिण में दक्षिणी हिम-महासागर और उत्तर में उत्तरी हिम-महासागर है। आस्ट्रेलिया के ईशान कोण मे पैसिफिक महासागर के विशाल वक्ष स्थल पर मानचित्र में कई नन्हें-नन्हें टापू देखे जाते है। इन सबके समूह को 'पॉलीनीशिया' कहते है। इसी तरह उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवो पर भी वर्फ से ढका स्थल का बडा विस्तार है।

एक समय था जब पूर्वीय गोलार्द्ध के लोगों का भूगोल-विषयक ज्ञान केवल एशिया, योरप, तथा अफ्रीका महाद्वीपों तक ही सीमित था। अत: इस पूर्वीय गोलार्द्ध के लोगों को जब अमेरिका आदि का ज्ञान हुआ, तब उन्होने उनको 'नई दुनिया' के नाम से पुकारना आरम्भ किया। तब से पूर्वीय गोलार्द्ध 'पुरानी दुनिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पृथ्वी का स्थल और जल के अतिरिक्त एक तीसरा महत्त्वपूर्ण भाग और भी है। इसे हम 'वायुमण्डल' के नाम से पुकारते है। वायुमण्डल पृथ्वी को दो सौ मील की ऊँचाई तक मण्डित किये हुए है। इसका विस्तृत हाल आगे के एक खंड में बताया गया है।

# पृथ्वी का आवर्त्तन और परिभ्रमण

**ऊपर हम इस बात की चर्चा कर चुके है कि पृथ्वी गोल है। अब हम आपको यह महत्त्वपूर्ण तथ्य बतलाना चाहते है कि वह स्थिर नहीं है, बल्कि लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूमते हुए एक नियत कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करती है। भूगोल के अध्ययन के लिए पृथ्वी की इन दोनों प्रकार की गतियों का हाल जानना आवश्यक है।**

हमारी पृथ्वी स्थिर नही है। वह सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण किया करती है। सूर्य की परिक्रमा के साथ-ही-साथ पृथ्वी अपनी काल्पनिक धुरी पर भी सदैव घूमती रहती है। पृथ्वी के लट्टू की तरह घूमने की चाल को 'आवर्त्तन' अथवा उसकी 'दैनिक गति' कहते है। इस प्रकार अपने चारों ओर घूमने मे वह एक दिन और रात का समय लेती है। उसके सूर्य के चारों ओर घूमने की गति को 'परिभ्रमण' या 'वार्षिक गति' कहते है, क्योकि इस परिक्रमा को पूरा करने मे पृथ्वी को एक वर्ष लगता है।

एक समय था, जब कि लोगो का दृढ़ विश्वास था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य तथा आकाश का सारा नक्षत्रमण्डल ही पृथ्वी के चारो ओर घूमता है, इसी कारण रात और दिन होते है। परन्तु धीरे-धीरे लोगों की यह धारणा बदल गई। उनकी समझ में आ गया कि जिस प्रकार चलती हुई रेलगाड़ी में बैठे मनुष्य को रेलगाडी के बदले किनारे की भूमि चलती हुई प्रतीत होती है, उसी प्रकार पृथ्वी के चलते रहने पर भी प्रतीत यही होता है कि सूर्य चलता है। पृथ्वी का घूमना सिद्ध करने के लिए अब 'जायरोस्कोप' नामक अद्भुत यंत्र की सहायता ली जाती है। इस यंत्र की यह विशेषता है कि यदि उसकी कीली किसी तारे की ओर साध दी जाय और उसी की सीध में पृथ्वी के दूसरे पदार्थ रखे जायँ, तो पृथ्वी के घूम जाने से इन पदार्थो की दिशा बदल जायगी, परन्तु कीली बराबर उसी तारे की ओर सधी रहेगी।

### पृथ्वी की धुरी

देखने मे सूर्य पूर्व मे निकलते और पश्चिम में अस्त होते प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में पृथ्वी ही अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है। पृथ्वी की यह धुरी एक काल्पनिक रेखा मानी जाती है, जो पृथ्वी के केन्द्र से होकर उसके उत्तरी और दक्षिणी चपटे सिरो को मिलाती है। पृथ्वी का प्रतीक 'ग्लोब' इसी कल्पित धुरी पर घूमता दिखाया जाता है। पृथ्वी समान गति से इस धुरी पर निरन्तर घूमती है। परन्तु गोलाकार होने के कारण उस के सब भागों के घूमने की गति की तेजी एक-सी नही है। धुरी के निकटवाले भागो की अपेक्षा धुरी से दूरवाले भाग कही अधिक वेग से घूमते है। पृथ्वी के मध्य के धरातल पर घूमने का वेग सबसे अधिक अर्थात् १००० मील प्रति

घण्टे से भी ऊपर है। मध्य के उत्तर या दक्षिण के भागों में यह वेग धीरे-धीरे कम होता जाता है, यहाँ तक कि ठीक उत्तरी और दक्षिणी सिरों पर पृथ्वी स्थिर प्रतीत होती है, क्योंकि उन स्थानों में घूमने का वेग नही के बराबर है। किसी लट्टू अथवा ग्लोब को उसकी धुरी पर घुमाने से उपर्युक्त बातें समझने में सहायता मिलती है।

ग्लोब को देखने से एक विशेष बात यह मालूम होती है कि उसकी धुरी लंबवत् खड़ी नही है, वरन् एक ओर को झुकी हुई है। वास्तव में पृथ्वी की काल्पनिक धुरी भी इसी भाँति एक ओर को झुकी रहती है। पृथ्वी की धुरी का उसके परिक्रमा-पथ से सदैव ६६.२५° कोण का झुकाव रहता है। यदि वह झुकी न होती, तो परिभ्रमण के मार्ग से सदैव समकोण बनाती।

## आवर्त्तन और परिभ्रमण

पृथ्वी और सूर्य का सम्बन्ध बड़े महत्त्व का है। पृथ्वी सूर्य की निरन्तर परिक्रमा किया करती है। पृथ्वी की इस परिक्रमा का मार्ग निश्चित है। इस मार्ग पर पृथ्वी यद्यपि सूर्य के चारों ओर घूमती है तथापि उसकी यात्रा का मार्ग पूर्ण वृत्त नही है। वह एक प्रकार का दीर्घ वृत्त बनाती है। इस पथ की यात्रा पूरी करने में पृथ्वी को ३६५.२५ दिन लगते हैं। इस काल को हम वर्ष कहते हैं। परन्तु वर्ष में ३६५ दिन ही माने जाते हैं। शेष .२५ दिन जोड़कर प्रति चौथे वर्ष में एक दिन बढ़ा दिया जाता है और वह वर्ष ३६६ दिन का माना जाता है। ऐसा वर्ष 'लीप ईयर' कहलाता है।

**यदि पृथ्वी की धुरी झुकी हुई न होती तो क्या होता?**
इस दशा में सूर्य पृथ्वी के अपने सामने पड़नेवाले पृष्ठ, अर्थात् आधे भाग को संपूर्णतया उत्तर से दक्षिणी ध्रुव तक समान रूप से प्रकाशित करता। फलतः पृथ्वी पर सदैव हर स्थान पर दिन-रात बराबर ही होते!

पृथ्वी को गरमी और प्रकाश दोनों सूर्य से ही मिलते हैं। परन्तु उसकी गति और झुकाव के कारण धरातल के विभिन्न भागों मे प्रकाश और गरमी दोनों की परिस्थिति सदैव बदलती रहती है। सूर्य स्थिर है, इसलिए प्रकाश और गरमी का मार्ग भी स्थिर है। परन्तु पृथ्वी के निरन्तर घूमते रहने के कारण धरातल के किसी भी भाग में न तो सदैव प्रकाश रहता है और न सदैव अंधकार। जो भाग सूर्य के सामने आ जाता है, अर्थात् जहाँ सूर्य का प्रकाश पड़ता है, वहाँ तो 'दिन' और जो भाग सूर्य के सामने नहीं होता, वहाँ 'रात' होती है।

पृथ्वी अपनी धुरी पर २४ घंटे में पूरा चक्कर लगा लेती है। इस काल में धरातल के प्रत्येक भाग को एक बार सूर्य के सामने आकर फिर छिप जाना चाहिए अर्थात् धरातल पर एक बार दिन और एक बार रात होगी। रात और दिन दोनों को मिलाकर २४ घंटे का समय होता है। परन्तु रात और दिन सदा बराबर नहीं होते। वे घटते-बढ़ते रहते हैं। हम जानते हैं कि हमारे देश मे जाड़ों मे रात बड़ी और दिन छोटा होता है। फिर जैसे-जैसे गरमी आती जाती है, दिन बढ़ने लगता और रात छोटी होने लगती है। यह क्यों? रात और दिन तो पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण होते हैं, परन्तु उनके घटने-बढ़ने का कारण वस्तुतः पृथ्वी की परिक्रमा और उसकी धुरी का झुकाव ही है। परिक्रमा-मार्ग पूर्ण वृत्त नही है, इसमें इस मार्ग में दो स्थान ऐसे हैं, जहाँ आने पर पृथ्वी सूर्य के सबसे अधिक समीप हो जाती है, और दो स्थान ऐसे हैं, जो सूर्य से परिक्रमा-मार्ग के अन्य स्थानों की अपेक्षा सबसे अधिक दूर हैं। २१ मार्च और २३ सितम्बर को पृथ्वी सूर्य के सबसे निकट तथा २१ जून और २१ दिसम्बर के दिन सबसे अधिक दूर की स्थिति में होती है। अगले पृष्ठ के चित्र से यह स्पष्ट है।

पृथ्वी की इन स्थितियों के फलस्वरूप धरातल पर सूर्य से आनेवाले प्रकाश और गरमी में अन्तर पड़ जाता है। जब पृथ्वी सूर्य के निकटवाली स्थिति में आ जाती है, उस समय (अर्थात् २१ मार्च और २३ सितम्बर को) पृथ्वी का प्रत्येक भाग २४ घंटे में सूर्य के सामने आ जाता है और सूर्य ठीक भूमध्य-रेखा के ऊपर होता है। इन अवस्थाओं में पृथ्वी के प्रत्येक भाग में दिन और रात बराबर होते हैं। इन तिथियों को क्रमशः 'वसंत संपात' और 'शरद् संपात' कहते हैं।

उधर पृथ्वी की परिक्रमा के मार्ग के जो दो स्थान सबसे अधिक दूर हैं, उन पर वह क्रमशः २१ जून और २१

इन विशाल जलखण्डों के अलावा पृथ्वीतल पर 'सागर', 'झील' आदि अनेकों छोटे जलखण्ड भी हैं। इसी प्रकार महाद्वीपों के अतिरिक्त अनेकों छोटे स्थलखण्ड भी हैं, जो 'द्वीप' या 'टापू' के नाम से पुकारे जाते हैं।

### पूर्वीय और पश्चिमी गोलार्द्ध

सम्पूर्ण भूपृष्ठ अथवा भूमंडल को आज दो भागों में विभाजित समझा जाता है। एक में एशिया, योरप, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया हैं। दूसरे भाग में उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका है। प्रथम विभाग के उत्तर में उत्तरी हिम-महासागर और दक्षिण में हिन्द तथा दक्षिणी हिम-महासागर हैं और पूर्व तथा पश्चिम में क्रमशः प्रशान्त तथा अटलांटिक महासागर हैं। दूसरे विभाग के पूर्व में अटलांटिक और पश्चिम में प्रशान्त महासागर है तथा दक्षिण में दक्षिणी हिम-महासागर और उत्तर में उत्तरी हिम-महासागर है। आस्ट्रेलिया के ईशान कोण में पैसिफिक महासागर के विशाल वक्ष:स्थल पर मानचित्र में कई नन्हें-नन्हें टापू देखे जाते हैं। इन सबके समूह को 'पॉलीनीशिया' कहते हैं। इसी तरह उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों पर भी बर्फ से ढका स्थल का बड़ा विस्तार है।

एक समय था जब पूर्वीय गोलार्द्ध के लोगों का भूगोल-विषयक ज्ञान केवल एशिया, योरप, तथा अफ्रीका महाद्वीपों तक ही सीमित था। अत: इस पूर्वीय गोलार्द्ध के लोगों को जब अमेरिका आदि का ज्ञान हुआ, तब उन्होंने उनको 'नई दुनिया' के नाम से पुकारना आरम्भ किया। तब से पूर्वीय गोलार्द्ध 'पुरानी दुनिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पृथ्वी का स्थल और जल के अतिरिक्त एक तीसरा महत्त्वपूर्ण भाग और भी है। इसे हम 'वायुमण्डल' के नाम से पुकारते हैं। वायुमण्डल पृथ्वी को दो सौ मील की ऊँचाई तक मण्डित किये हुए है। इसका विस्तृत हाल आगे के एक खंड में बताया गया है।

# पृथ्वी का आवर्त्तन और परिभ्रमण

**ऊपर हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि पृथ्वी गोल है। अब हम आपको यह महत्वपूर्ण तथ्य बतलाना चाहते हैं कि वह स्थिर नहीं है, बल्कि लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूमते हुए एक नियत कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करती है। भूगोल के अध्ययन के लिए पृथ्वी की इन दोनों प्रकार की गतियों का हाल जानना आवश्यक है।**

हमारी पृथ्वी स्थिर नहीं है। वह सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण किया करती है। सूर्य की परिक्रमा के साथ-ही-साथ पृथ्वी अपनी काल्पनिक धुरी पर भी सदैव घूमती रहती है। पृथ्वी के लट्टू की तरह घूमने की चाल को 'आवर्त्तन' अथवा उसकी 'दैनिक गति' कहते हैं। इस प्रकार अपने चारों ओर घूमने में वह एक दिन और रात का समय लेती है। उसके सूर्य के चारों ओर घूमने की गति को 'परिभ्रमण' या 'वार्षिक गति' कहते हैं, क्योंकि इस परिक्रमा को पूरा करने में पृथ्वी को एक वर्ष लगता है।

एक समय था, जब कि लोगों का दृढ़ विश्वास था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य तथा आकाश का सारा नक्षत्रमण्डल ही पृथ्वी के चारों ओर घूमता है, इसी कारण रात और दिन होते हैं। परन्तु धीरे-धीरे लोगों की यह धारणा बदल गई। उनकी समझ में आ गया कि जिस प्रकार चलती हुई रेलगाड़ी में बैठे मनुष्य को रेलगाड़ी के बदले किनारे की भूमि चलती हुई प्रतीत होती है, उसी प्रकार पृथ्वी के चलते रहने पर भी प्रतीत यही होता है कि सूर्य चलता है। पृथ्वी का घूमना सिद्ध करने के लिए अब 'जायरोस्कोप' नामक अद्भुत यंत्र की सहायता ली जाती है। इस यंत्र की यह विशेषता है कि यदि उसकी कीली किसी तारे की ओर साध दी जाय और उसी की सीध में पृथ्वी के दूसरे पदार्थ रक्खे जायँ, तो पृथ्वी के घूम जाने से इन पदार्थों की दिशा बदल जायगी, परन्तु कीली बराबर उसी तारे की ओर सधी रहेगी।

### पृथ्वी की धुरी

देखने में सूर्य पूर्व से निकलते और पश्चिम में अस्त होते प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में पृथ्वी ही अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है। पृथ्वी की यह धुरी एक काल्पनिक रेखा मानी जाती है, जो पृथ्वी के केन्द्र से होकर उसके उत्तरी और दक्षिणी चपटे सिरों को मिलाती है। पृथ्वी का प्रतीक 'ग्लोब' इसी कल्पित धुरी पर घूमता दिखाया जाता है। पृथ्वी समान गति से इस धुरी पर निरन्तर घूमती है। परन्तु गोलाकार होने के कारण उस के सब भागों के घूमने की गति की तेजी एक-सी नहीं है। धुरी के निकटवाले भागों की अपेक्षा धुरी से दूरवाले भाग कहीं अधिक वेग से घूमते हैं। पृथ्वी के मध्य के धरातल पर घूमने का वेग सबसे अधिक अर्थात् १००० मील प्रति

घण्टे से भी ऊपर है। मध्य के उत्तर या दक्षिण के भागों में यह वेग धीरे-धीरे कम होता जाता है, यहाँ तक कि ठीक उत्तरी और दक्षिणी सिरों पर पृथ्वी स्थिर प्रतीत होती है, क्योंकि उन स्थानों में घूमने का वेग नही के बराबर है। किसी लट्टू अथवा ग्लोब को उसकी धुरी पर घुमाने से उपर्युक्त बातें समझने में सहायता मिलती है।

ग्लोब को देखने से एक विशेष बात यह मालूम होती है कि उसकी धुरी लंबवत् खड़ी नही है, वरन् एक ओर को झुकी हुई है। वास्तव में पृथ्वी की काल्पनिक धुरी भी इसी भाँति एक ओर को झुकी रहती है। पृथ्वी की धुरी का उसके परिक्रमा-पथ से सदैव ६६.२५° कोण का झुकाव रहता है। यदि वह झुकी न होती, तो परिभ्रमण के मार्ग से सदैव समकोण बनाती।

### आवर्त्तन और परिभ्रमण

पृथ्वी और सूर्य का सम्बन्ध बडे महत्त्व का है। पृथ्वी सूर्य की निरन्तर परिक्रमा किया करती है। पृथ्वी की इस परिक्रमा का मार्ग निश्चित है। इस मार्ग पर पृथ्वी यद्यपि सूर्य के चारों ओर घूमती है तथापि उसकी यात्रा का मार्ग पूर्ण वृत्त नही है। वह एक प्रकार का दीर्घ वृत्त बनाती है। इस पथ की यात्रा पूरी करने में पृथ्वी को ३६५.२५ दिन लगते हैं। इस काल को हम वर्ष कहते हैं। परन्तु वर्ष में ३६५ दिन ही माने जाते हैं। शेष .२५ दिन जोडकर प्रति चौथे वर्ष में एक दिन बढ़ा दिया जाता है और वह वर्ष ३६६ दिन का माना जाता है। ऐसा वर्ष 'लीप ईयर' कहलाता है।

पृथ्वी को गरमी और प्रकाश दोनो सूर्य से ही मिलते हैं। परन्तु उसकी गति और झुकाव के कारण धरातल के विभिन्न भागो में प्रकाश और गरमी दोनों की परिस्थिति सदैव बदलती रहती है। सूर्य स्थिर है, इसलिए प्रकाश और गरमी का मार्ग भी स्थिर है। परन्तु पृथ्वी के निरन्तर घूमते रहने के कारण धरातल के किसी भी भाग में न तो सदैव प्रकाश रहता है और न सदैव अंधकार। जो भाग सूर्य के सामने आ जाता है, अर्थात् जहाँ सूर्य का प्रकाश पड़ता है, वहाँ तो 'दिन' और जो भाग सूर्य के सामने नहीं होता, वहाँ 'रात' होती है।

पृथ्वी अपनी धुरी पर २४ घंटे में पूरा चक्कर लगा लेती है। इस काल में धरातल के प्रत्येक भाग को एक बार सूर्य के सामने आकर फिर छिप जाना चाहिए अर्थात् धरातल पर एक बार दिन और एक बार रात होगी। रात और दिन दोनो को मिलाकर २४ घंटे का समय होता है। परन्तु रात और दिन सदा बराबर नही होते। वे घटते-बढ़ते रहते है। हम जानते है कि हमारे देश मे जाडो मे रात बडी और दिन छोटा होता है। फिर जैसे-जैसे गरमी आती जाती है, दिन बढने लगता और रात छोटी होने लगती है। यह क्यों? रात और दिन तो पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण होते है, परन्तु उनके घटने-बढने का कारण वस्तुत. पृथ्वी की परिक्रमा और उसकी धुरी का झुकाव ही है। परिक्रमा-मार्ग पूर्ण वृत्त नही है, इससे इस मार्ग में दो स्थान ऐसे है, जहाँ आने पर पृथ्वी सूर्य के सबसे अधिक समीप हो जाती है, और दो स्थान ऐसे है, जो सूर्य से परिक्रमा-मार्ग के अन्य स्थानों की अपेक्षा सबसे अधिक दूर है। २१ मार्च और २३ सितम्बर को पृथ्वी सूर्य के सबसे निकट तथा २१ जून और २१ दिसम्बर के दिन सबसे अधिक दूर की स्थिति में होती है। अगले पृष्ठ के चित्र से यह स्पष्ट है।

**यदि पृथ्वी की धुरी झुकी हुई न होती तो क्या होता?**
उस दशा में सूर्य पृथ्वी के अपने सामने पडनेवाले पृष्ठ, अर्थात् आधे भाग को संपूर्णतया उत्तर से दक्षिणी ध्रुव तक समान रूप से प्रकाशित करता। फलतः पृथ्वी पर सदैव हर स्थान पर दिन-रात बराबर ही होते!

पृथ्वी की इन स्थितियों के फलस्वरूप धरातल पर सूर्य से आनेवाले प्रकाश और गरमी में अन्तर पड़ जाता है। जब पृथ्वी सूर्य के निकटवाली स्थिति मे आ जाती है, उस समय (अर्थात् २१ मार्च और २३ सितम्बर को) पृथ्वी का प्रत्येक भाग २४ घंटे में सूर्य के सामने आ जाता है और सूर्य ठीक भूमध्य-रेखा के ऊपर होता है। इन अवस्थाओं में पृथ्वी के प्रत्येक भाग में दिन और रात बराबर होते है। इन तिथियो को क्रमशः 'वसंत संपात' और 'शरद् संपात' कहते है।

उधर पृथ्वी की परिक्रमा के मार्ग के जो दो स्थान सबसे अधिक दूर हैं, उन पर वह क्रमशः २१ जून और २१

दिसम्बर को पहुँचती है। ये स्थान ऐसे है कि जहाँ पृथ्वी की धुरी के झुकाव के कारण उसका कुछ भाग तो बराबर २४ घंटे तक सूर्य के प्रकाश में रहता है और कुछ भाग पूर्ण अंधकार मे! उदाहरणार्थ २१ जून को पृथ्वी का उत्तरी सिरा बराबर सूर्य के प्रकाश मे रहता है, इसलिए वहाँ उस समय चौबीसों घंटे दिन रहता है। परन्तु इस दिन पृथ्वी का दूसरा छोर इस प्रकार पीछे की ओर झुका रहता है कि वहाँ पर सूर्य की किरणें पहुँच ही नही पाती। अतः वहाँ पूर्ण अंधकार अर्थात् चौबीसों घंटे रात होती है।

पृथ्वी की इस स्थिति में धरातल के जिन स्थानों पर सूर्य ठीक सिर पर चमकता है, यदि उनको एक रेखा के द्वारा मिलाया जाय, तो जो वृत्त बनेगा उसे 'कर्क-रेखा' का नाम दिया गया है। कर्क-रेखा से पृथ्वी के उत्तरी छोर की ओर ज्यों-ज्यों जाएँ, त्यो-त्यो दिन बड़ा होता जाता है और ठीक छोर पर पहुँचने पर २४ घंटे का दिन होता है। यदि कर्क-रेखा से दक्षिणी छोर की ओर चला जाय, तो दिन छोटा और रात बड़ी होती है। भूमध्य-रेखा पर पहुँचने से रात और दिन बराबर हो जाते है। इस समय अर्थात् २१ जून के लगभग दक्षिणी छोर पर रात २४ घंटे की होती है।

२१ दिसम्बर को पृथ्वी का उत्तरी छोर बिल्कुल अँधेरे में रहता है और वहाँ पर २४ घंटे की रात होती है। इस स्थिति में जिन स्थानों पर सूर्य ठीक ऊपर होता है, उनको मिलानेवाली रेखा को 'मकर-रेखा' कहते हैं। इस समय दक्षिणी छोर पर २४ घंटे का दिन होता है, क्योंकि उस समय वह भाग बराबर सूर्य के सामने रहता है। पृथ्वी की इस दशा मे हम दक्षिणी छोर से जितना ही उत्तर की ओर हटते जायँगे दिन उतना ही छोटा और रात बड़ी होती जाएगी। परन्तु पृथ्वी के मध्यभाग पर इस समय भी दिन और रात बराबर होंगे। २१ दिसम्बर और २१ जून की पृथ्वी की स्थिति को क्रमशः 'शीत-अयन-बिन्दु' तथा 'ग्रीष्म-अयन-बिन्दु' कहते है।

इस प्रकार हम देखते है कि पृथ्वी की धुरी के झुके होने मे रात और दिन छोटे और बड़े होते है। यदि हम आकाश में सूर्य के निकलने और अस्त होने की जगहो को कई दिन तक ध्यान से देखे, तो हमें यही पता चलेगा कि वे जगहें दिन-प्रति-दिन बदलती हैं। ज्यों-ज्यों गरमी की ऋतु आती है और दिन बड़े होने लगते है, त्यों-त्यों सूर्योदय का स्थान धीरे-धीरे उत्तर-पूर्व की ओर हटता जाता है। जाड़े में इसके विपरीत दक्षिण-पूर्व की ओर सूर्योदय होता है। इसका कारण यही है कि पृथ्वी अपना स्थान प्रति दिन बदलती रहती है। जिस स्थान से सूर्य हमें पिछले दिन दिखाई दिया था, दूसरे दिन उस स्थान से पृथ्वी आगे बढ़ जाती है।

पृथ्वी की दैनिक और वार्षिक गति के परिणाम-स्वरूप पृथ्वी पर सूर्य की किरणों द्वारा आनेवाली गरमी में भी हेर-फेर होता है। पृथ्वी की धुरी का झुकाव भी इस हेर-फेर मे सहायता पहुँचाता है।



**सूर्य के आसपास के अपने परिभ्रमण-पथ पर पृथ्वी की विभिन्न स्थितियाँ**

परिक्रमा-मार्ग पर ग्रीष्म एवं शीत-अयन-बिन्दु और वसन्त एवं शरद् संपात की स्थिति दिग्दर्शित है।

जब रात से दिन अधिक बड़ा होता है, तब सूर्य की किरणों से हमें अधिक गरमी मिलती है। उस समय को हम 'ग्रीष्म ऋतु' कहते हैं। इसके विपरीत जब दिन छोटा और रात बड़ी होती है, तब सूर्य से हमें कम गरमी मिलती है और रात में ठंडक होने लगती है। इस समय को हम 'शीत ऋतु' या 'जाड़ा' कहते है।

पृथ्वी के सिरों के निकटवाले स्थानों पर गरमी में दिन अधिक बड़ा और जाड़े में रात अधिक बड़ी होती है। इस-लिए उन स्थानो पर तापमान का बेहद उतार-चढ़ाव होता रहता है।

# सजीव सृष्टि

## वनस्पति-संसार का उसमें क्या स्थान है

**जिनके बिना हमारी यह पृथ्वी एक विशाल मरुप्रदेश के समान होती और किसी भी प्राणी का उस पर पैदा होना या जीवित रहना असंभव होता, उन पेड़-पौधों का प्रारंभिक परिचय।**

संसार मे दो प्रकार के पदार्थ है—एक सजीव और दूसरे निर्जीव। मनुष्य, पशु, पक्षी, पतिंगे, वृक्ष, लता, घास, काई, फफूंद आदि की गणना सजीव सृष्टि में और मिट्टी, पत्थर, सोना, लोहा, अन्य अनेक धातु और उपधातु आदि की निर्जीव मे होती है। इसी प्रकार विश्व में जितनी वस्तुएँ हैं, चाहे वे जिस काल या अवस्था की हों, वे या तो सजीव होंगी या निर्जीव। सम्भव है, इस विषय पर लोगों में कुछ मतभेद भी हो, कारण प्राय: इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान यथार्थ नही होता। हममें से कुछ लोग शायद मनुष्य तथा अन्य साधारण पशुओं को ही जीवधारी समझते हैं और अन्य अनेक छोटे-छोटे जीवो को सजीव सृष्टि में सम्मिलित करने में सहमत नही है। पेड़-पौधों के विषय में तो बहुतो की यही धारणा है। परन्तु यह हमारा भ्रम है। क्योंकि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से पता चलता है कि वृक्षो में केवल प्राण ही नही है, प्रत्युत इनकी भी जीवनी उतनी ही रहस्यपूर्ण है, जितनी हमारी अथवा अन्य किसी भी जीव की। इनमे भी आहार, विहार, तन्द्रा, निद्रा, सतति-संवर्धन आदि की विशेषताएँ मौजूद है। इनके भी शत्रु, मित्र, सहचारी, सहायक आदि होते हैं। इनमे भी अपने जीवन-संग्राम तथा आपदकाल के अनुरूप प्रबंध करने और देशकालानुसार परिवर्तित होने की योग्यता है। ये भी ताप और तुषार का अनुभव करते तथा इनसे बचने का प्रयत्न करते है। इनमें भी हम सबकी भाँति उत्तेजना-शक्ति और प्रतिक्रियाशीलता पाते है। लज्जावती के पौधे से कौन नही परिचित है? 'यथा नाम तथा गुणम्।' इसकी एक पत्ती को स्पर्श करके देखिए। आपका हाथ छू जाने की ही देर है। एक-एक करके अनेकों पत्तियाँ संकुचित हो जाती है। और यदि कहीं आघात कठोर है, तो कई डाले मूर्च्छित हो जायँगी। थोड़ी देर तक इस दशा में रहने के पश्चात् वे पुनः पूर्ववत् दशा को

लज्जावती या छुईमुई का पौधा
स्पर्श से मूर्छित होने की जिसकी विशेषता से सभी परिचित हैं।

प्राप्त हो जायँगी। आप लोगो ने 'चकवड़' नामक एक सामान्य पौधा तो अवश्य ही देखा होगा। यह वर्षा ऋतु मे हमारे बागो तथा खेतों मे उपजता है। पर कदाचित् आपने इसकी विचित्रता की ओर ध्यान न दिया हो। यदि अब कभी अवसर मिले, तो जिस स्थान पर इसके पौधे हो, वहाँ सूर्यास्त होने पर अवश्य जाइए। उस समय यह आपको निद्रित दशा में मिलेगा। इसके पत्रकों को, जो आमने-सामने होते हैं, आप सुषुप्तावस्था मे एक-दूसरे के बाहुपाश मे बद्ध देखेगे। पर प्रातःकाल प्रकाश फैलते ही ये निद्रा छोड पुनः अपनी दिनचर्य्या मे लग जाते है!

कितने ही पौधे तो ऐसे है, जो कपट से शिकारियो की तरह जीवो का आखेट भी करते है। तुबिलता या 'नेपेथिस' नाम की लता, जो भूमध्यरेखा के निकटवर्त्ती जंगलो मे होती है, इनमें से एक है। अगले पृष्ठ पर इसका चित्र दिग्दर्शित है। इस लता की तुबिकाकार बहुरंगी पत्तियो मे एक प्रकार का रस भरा रहता है। बेचारे पतिगें इन पत्तियो के रूप से आकर्षित होकर दुर्भाग्यवश यहाँ आ पहुँचते है और तुबी मे प्रवेश करते ही अपनी जान से हाथ धो बैठते है। इन तुबियों के मुख पर एक प्रकार का ढक्कन होता है और उनके गले में अन्दर की ओर रोये होते है। अंदर की वह दीवार लसलसी होती है, इस कारण पतिगे का बाहर निकलना असम्भव हो जाता है। साथ-ही-साथ ज्यो ही शिकार अंदर पहुँचा कि पत्ती से एक प्रकार के द्रव पदार्थ का संचार होता है, जैसे हमारे मुँह मे किसी स्वादिष्ट पदार्थ के सामने आने पर होता है। यह रस आगंतुक कीड़े को हज्म करके तुबिलता के उदर मे पहुँचाता है। इस प्रकार वह पौधा अपना निर्वाह करता है।

इस प्रकरण में हम पौधो-सम्बन्धी कुछ प्रश्नो पर विचार करेगे। परन्तु इस विषय का उल्लेख करने से पहले सजीव और निर्जीव प्रकृति की विवेचना तथा पौधो और पशुओ के अन्तर तथा उनकी समानता की आलोचना करना भी अत्यत आवश्यक है।
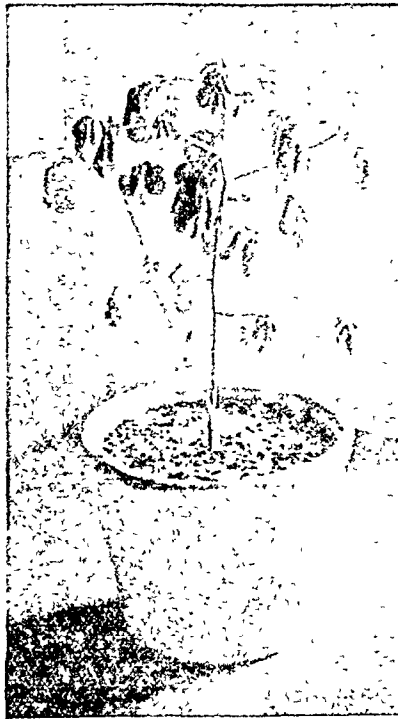
**चकवड़ का पौधा**

( ऊपर ) दिन के समय, जब उसके पत्रक जाग्रत रहते है; ( नीचे ) रात के समय, जब पत्रक निद्रित अवस्था में होते हैं। उस समय आमने-सामने के पत्रक आपस में मानों चिपट-से जाते है!

## सजीव और निर्जीव पदार्थों का अन्तर

जीवन अथवा प्राण क्या है, यह एक ऐसी गूढ़ समस्या है, जिसको आज तक कोई सुलझा नही सका। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसकी ओर मनुष्य का ध्यान परम्परागत चला आता है, परंतु फिर भी इसका यथार्थ उत्तर नही मिल सका। इस प्रश्न के अन्तर्गत

उठनेवाले अनेको वाद-विवाद, कल्पनाओ और सिद्धान्तों पर तभी विचार किया जा सकता है, जब कि हम सजीव पदार्थो की विशेषता अथवा इनकी जीवनी और रहस्य से भली भांति परिचित हों। अतः हमें सर्वप्रथम इसी ओर ध्यान देना चाहिए।

यद्यपि हम प्राण की यथार्थ व्याख्या नही कर सकते, तब भी हमे साधारण सजीव वस्तुओ को निर्जीव वस्तुओ से पृथक् करने मे विशेष कठिनाई नही होती। इसका कारण यह है कि सजीव प्रकृति में कुछ विशेषताएँ है। उसमे कुछ बातें तो ऐसी है, जिनका सादृश्य निर्जीव जगत् मे भी रासायनिक *क्रियाओ द्वारा होता रहता है और कुछ* ऐसी है, जिनका आधार प्रकृति-विज्ञान के नियमो से बद्ध है। परन्तु कुछ ऐसी बाते भी है, जो इन दोनो से पृथक् है।

यदि हम अपने चारो ओर विद्यमान सजीव वस्तुओं पर विचार करे तो सबसे पहले हमारा ध्यान उनके आकार और आकृति की ओर आकर्षित होगा। भाँति-भाँति के पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, कीड़े-मकोड़े, घास आदि, जितनी भी सजीव वस्तुएँ हम देखते है, उन सबका रूप और आकार निश्चित है। बीज बोने के पहले हम जानते है कि गेहूँ का पौधा किस प्रकार का होगा अथवा सारस या मुर्गी किस प्रकार के अंडे देगी और उनमें से किस रूप के बच्चे उत्पन्न होगे। इसी प्रकार हिरन, मोर, बिल्ली, या आम, करौंदा, नीबू, गुलाब, बेला, चमेली आदि के नाम लेते ही आपके सामने इनके चित्र अकित हो जाते है। यही बात तमाम सजीव कृतियों के सबध मे है, चाहे वे पशु हों या वृक्ष। इनके आकार और आकृति सुनिश्चित है। परन्तु निर्जीव वस्तुओ के विषय में ऐसा नही है। 'मिट्टी' कहने से हमें एक वस्तु-विशेष का ज्ञान अवश्य होता है, परन्तु हम इसके आकार या आकृति के विषय में कुछ निश्चय नही कर सकते। सड़क की धूल, पास की दीवाल अथवा कुम्हार के बनाये खिलौने आदि जैसी अनेको वस्तुएँ मिट्टी की है। यही बात पत्थर, चीनी, कांच, तांबा, चांदी, सोना आदि के विषय में भी है। सारांश यह कि रवा, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र जैसी कुछ निर्जीव वस्तुओ को छोड़कर अधिकांश की आकृति या आकार परिवर्तनीय है, परन्तु जीवधारियो के रूप और आकृति अपरिवर्तनीय है।
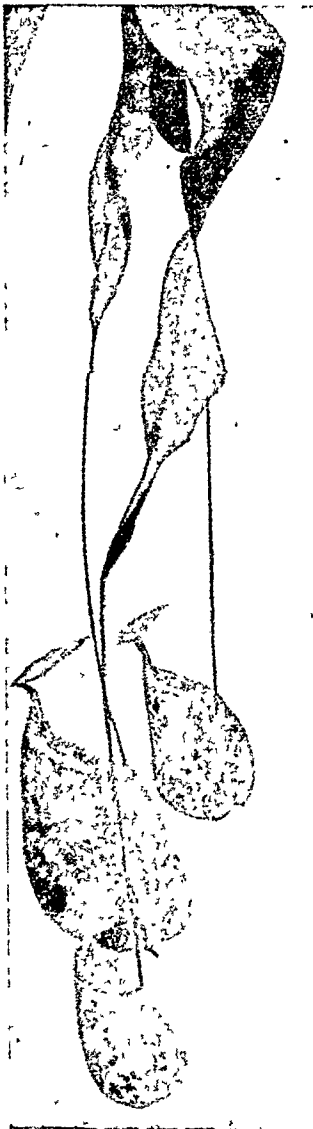
**'नेपेंथिस' या तुंबिलता**
जो एक मांसाहारी पौधा है।

सवर्धन भी जीवधारियो की एक प्रधानता है। एक छोटा-सा बालक हमारे देखते-देखते बढकर पूरे डील-डौल का मनुष्य हो जाता है। उधर आम की गुठली अथवा नीम की निबौरी भी अकुरित होकर विशाल वृक्ष का रूप *धारण करती है। इसी प्रकार* पृथ्वी पर जितने भी जीव है, सब मे एक न एक समय बढने की शक्ति होती है। आप कहेगे कि इस क्रिया की पुनरावृत्ति तो निर्जीव पदार्थों मे भी रासायनिक क्रियाओ द्वारा हो सकती है। यदि हम पोटैशियम डाईक्रोमेट के डले को तूतिया के घोल में रक्खे तो चन्द मिनटो मे ही डले के ऊपर तूतिया का एक छोटा खाल बन जायगा, जो धीरे-धीरे बढकर बडा हो जायगा। यदि यह आवरण किसी प्रकार फट जाय तो स्वय इसकी मरम्मत भी हो जायगी। इसी प्रकार नमक, फिटकरी अथवा अन्य रवे भी बढ़ते है। ऐसी दशा में हम बड़ी अड़चन मे पड़ जाते है। हम भली भाति जानते है कि कृत्रिम खोल अथवा रवे मे जीवन का नाम भी नही, परन्तु फिर भी इनमे बढने और घाव भरने का गुण उपस्थित है। यहाँ तर्क किया जा सकता है कि इस आवरण की बाढ मे आहार की वे पाचन आदि क्रियाएँ, जिनके द्वारा शरीर की रचना और अन्य कार्य करने के लिए शक्ति प्राप्त करना सजीव सृष्टि की प्रधानता है, नही होती। यह बात यथार्थ है कि जीवधारियों के शरीर के अन्दर ऐसी क्रियाएँ होती रहती है, जिनमें खाद्य पदार्थ की खपत होती है और आज से कुछ वर्ष पहले तक यही समझा जाता

था कि ये क्रियाएँ सजीव सृष्टि की विशेषता है। परन्तु प्रेरक रस का पता लगाने से अब हम जानते है कि इनमे से अधिकाश क्रियाएँ शरीर के बाहर भी इन द्रव्यो द्वारा की जा सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि भोजन के पचाने की क्रियाएँ कुछ नियमित अथवा रहस्य-पूर्ण प्राकृतिक तथा रासायनिक नियमो के अनुसार ही होती है। वे सजीव सृष्टि की विशेषता नही कही जा सकती।

आप सुझा सकते है कि जीवो का एक लक्षण संतानोत्पादन की सामर्थ्य है। यह भी सत्य है कि जीवो का एक मुख्य ध्येय सतानोत्पादन ही है। उनमें भाँति-भाँति की विलक्षणता प्रायः वंश-वृद्धि के ही कारण होती है। फूलो का रग-बिरगा होना, उनकी अनोखी आकृति और भाँति-भाँति के परिवर्तन, उनमें धीमी तथा तेज गध का प्रसार अथवा मधु का सचार आदि का अभिप्राय सतान की उत्पत्ति ही है। पौधो की भाँति पशुओ मे भी सतान-वृद्धि के अनेकों साधन वर्तमान है। परन्तु सभी प्राणी तो संतान उत्पन्न नही कर सकते। खच्चर-जैसे कितने ही जीव ऐसे है, जिनमे यह
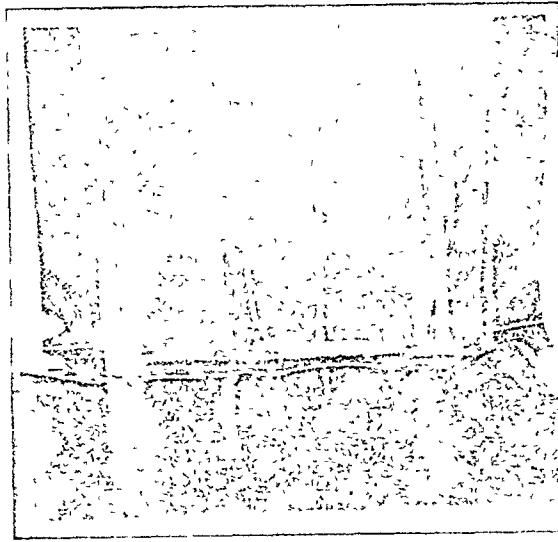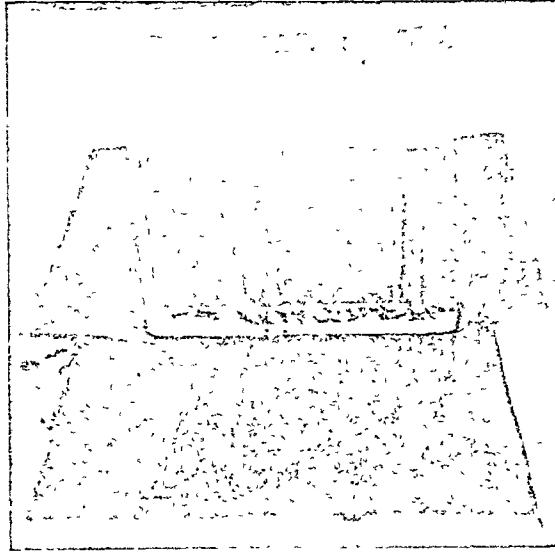
**कृत्रिम उद्भिज**

यह एक प्रकार के रासायनिक घोल में से आप ही आप पैदा कराया गया है। ऊपर का चित्र प्रयोग के दो-तीन मिनट बाद का है। नीचे का चित्र ऊपर ही के चित्र में प्रदर्शित "कृत्रिम उद्भिज" का प्रयोग आरंभ होने से १० मिनट बाद का है। गौर करने की बात है कि कितने शीघ्र यह 'उद्भिज' अपने आप बढ जाता है। फिर भी सजीव पौधे की वृद्धि और इसकी बढती में गहरा अतर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होनेवाली स्वाभाविक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बढ़ता है। इसके विपरीत इन चित्रों में प्रदर्शित जड़ पदार्थ से तैयार किया हुआ उद्भिज बाहरी क्रिया ही का परिणाम है।

सामर्थ्य नही होती, फिर भी इस योग्यता का अभाव उन्हे जीवधारी होने से वंचित नही करता। अतः सतानोत्पादन की क्षमता सजीव वस्तुओ का सार्वभौम लक्षण नहीं माना जा सकता।

प्राणियों में एक और विशेपता है, जिसे हम गति कहते है। आप देखते है कि पशु, पक्षी, मछली, मेंढक, कीड़े-मकोड़े आदि जहाँ चाहते है, स्वच्छन्द विचरते है। आगे चलकर हम देखेंगे कि वृक्षो में भी यह शक्ति किसी सीमा तक वर्तमान है। इसके विपरीत निर्जीव पदार्थ, जैसे कुर्सी, मेज, पलंग, टोपी, पत्थर, आदि मे यह शक्ति नहीं होती। यहाँ आप तर्क कर सकते है कि नदी अथवा समुद्र मे जहाज और नाव, सड़क पर मोटर, आकाश में विमान और बादल आदि भी तो चलते-फिरते है। इसका उत्तर यह है कि इन निर्जीव वस्तुओं और प्राणियो की गति मे बड़ा अतर है। वस्तुत. आकाश मे उड़नेवाली पतग को उड़ानेवाला जिस समय वायु के सहारे उसे इधर-उधर घुमाता है, उस समय हम इसको आकाश मे पक्षी की भाँति मँडलाते अवश्य देखते है, परन्तु यदि डोर चरखी से टूट

जाय अथवा उड़ानेवाले के हाथ से छूट जाय तो पतंग के गिरने को कोई शक्ति नहीं रोक सकती। उसे हवा और पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति जिधर चाहेगी, खींच ले जायगी। परन्तु पतंग के साथ उसी आकाश में उड़नेवाले कबूतर या बाज की यह हालत नहीं होती। इनको आकाश में भ्रमण करने के लिए किसी डोर अथवा उड़ानेवाले की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये हवा के अनुकूल या प्रतिकूल स्वच्छन्द उड़ सकते हैं। यही हाल रेल अथवा वायुयान का भी है। रेलगाड़ी पटरी के सहारे तो इंजिन की शक्ति पर और ड्राइवर की प्रेरणा से तेजी से चली जाती है। पर दुर्भाग्यवश नदी का पुल यदि टूटा है तो एक धड़ाके की आवाज हुई और इंजिन आगे के कई डिब्बों समेत नदी की धारा में जा गिरा! उसके पुर्जे-पुर्जे अलग हो गए। साथ ही अनेकों मनुष्य घायल हो गए और कितने ही के प्राण गए। परन्तु उसी सड़क पर जानेवाले पैदल मुसाफिरों अथवा गाय-बैलों की यह हालत नहीं होती। ये पुल को टूटा देखकर ठहर जाते हैं और उस रास्ते को छोड़ दूसरे मार्ग की शरण लेते हैं। इंजिन में चलने की शक्ति तो अवश्य है, परंतु दूसरे की प्रेरणा से ही है। वह अपने सामने उपस्थित भय को नहीं देख सकता और न उससे बचने का उपाय ही वह सोच सकता है। इसी प्रकार और भी अनेकों उदाहरण हैं। सारांश यह है कि जहाँ जीवधारी अपनी इच्छा और प्रेरणा से चलते हैं, वहाँ निर्जीव वस्तुएँ नितान्त पराधीन होती हैं।

**विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु**

जिन्होंने वनस्पति की चेतनता सम्बन्धी अपनी खोज से संसार के वैज्ञानिकों को चकित कर भारत का गौरव बढ़ाया है।

ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि लज्जावती की पत्तियाँ स्पर्श करते ही मूर्छित हो जाती हैं। आप जानते हैं कि आकाश में विद्युत् का प्रहार होते ही खेतों में चरते हुए मृगों का झुंड भयभीत होकर तितर-बितर हो जाता है। वाटिका में विहार करते हुए पक्षियों में कोलाहल मच जाता है, और खाट पर सोता हुआ अबोध बालक तक चौंक पड़ता है। परंतु खेत की मेड़, वाटिका के फव्वारे अथवा बालक की खाट पर स्पष्टतया इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा क्यों होता है? क्या कभी आपने इस ओर ध्यान दिया है? इन सारी घटनाओं की जड़ में एक ही रहस्य है और वह भी सजीव प्रकृति का एक मुख्य लक्षण है। यह है जीवों की उत्तेजना-शक्ति और प्रतिक्रिया का गुण। यह गुण लज्जावती, हरिण, पक्षी, बालक अथवा अन्य सभी जीवों और पौधों में उपस्थित है। किसी में कम, किसी में अधिक। आघात के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों का भी प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है। आप देखते हैं कि बीज बोते समय बीज चाहे कैसे फेंके जाएँ, फिर भी उनकी जड़ सदैव नीचे और शाखाएँ ऊपर को जाती हैं। इसी प्रकार पत्तियाँ वायु में फैलती हैं। आपने कदाचित् यह भी देखा हो कि खिड़की में रक्खे हुए गमले में लगे हुए पौधे की पत्तियाँ और बाग में पत्थर अथवा अन्य वस्तु के नीचे दबी हुई घास की टहनियाँ बाहर को प्रकाश की ही ओर बढ़ती हैं। इसी प्रकार अनेकों उदाहरण हैं। इस संबंध में भी तर्क किया जा सकता है कि हम सभी यह जानते हैं कि वर्षा ऋतु में शीशी में रक्खा हुआ नमक नम हो जाता है और केल्सियम क्लोराइड भी पिघलकर पानी हो जाता है। सुविख्यात विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु के प्रयोगों द्वारा तो यहाँ तक प्रमाणित हो चुका है कि पत्थर तथा ताँबा, लोहा आदि पदार्थ भी उत्तेजित किये जा सकते हैं; थोड़ी देर तक बराबर उत्तेजित किये जाने के पश्चात् वे थक भी जाते हैं और कुछ काल तक आराम करने के पश्चात् फिर

उत्तेजित किये जा सकते है। फिर भी जीवन का यहाँ तृणवत् भी लगाव नही!

उपर्युक्त वाद-विवाद से आप बड़ी अड़चन मे पडे होगे। वास्तव में जीवो में कोई भी ऐसा लक्षण नही, जिसे हम प्राणि-मात्र की विशेषता कह सकें। क्योकि कोई भी ऐसी प्रधानता नही, जो सभी जीवों मे विद्यमान हो और सभी निर्जीव पदार्थों में न हो, या जिसकी हम प्रकृति-विज्ञान अथवा रसायन-शास्त्र द्वारा व्याख्या न कर सके, अथवा जिसका अनुकरण प्रकृति-विज्ञान अथवा रासायनिक क्रियाओ द्वारा न किया जा सके। हमे सजीव वस्तुओ को निर्जीव पदार्थो से पृथक् करने के लिए वस्तुतः सभी बातो पर ध्यान देना पड़ता है और सभी गुणो का विचार करना पड़ता है।

अत सजीव वस्तु वह कही जा सकती है, जिसका निश्चित आकार और रूप हो; जिसमे बढने की सामर्थ्य हो; जो गतिवान्, उत्तेजनीय और प्रतिक्रियाशील हो; जिसमें संतानोत्पादन की योग्यता हो और जो अपने शरीर की रचना अपने से भिन्न पदार्थों से कर सकती हो, जो परिवर्तनशील हो और अपनी स्थिति को परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तित कर सके। इसके अतिरिक्त आगे चल-कर आप देखेगे कि समस्त प्राणियों के शरीर एक अथवा अनेकों सजीव कोशि-काओं के बने है। ये कोशिकाएँ पूर्ववर्त्ती सजीव कोशिकाओ से ही उत्पन्न हो सकती है, और किसी प्रकार नही। इन कोशि-काओं मे जीव-द्रव्य, जिसे 'प्रोटोप्लाज्म' कहते है, प्रवाहित रहता है, और प्राणियो की सारी विशेषताएँ इस विलक्षण वस्तु के ही गुण है। इस वस्तु का आज तक संश्लेषण नही हो सका और न इसका यथार्थ विश्लेषण ही हो सकता है। परन्तु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि
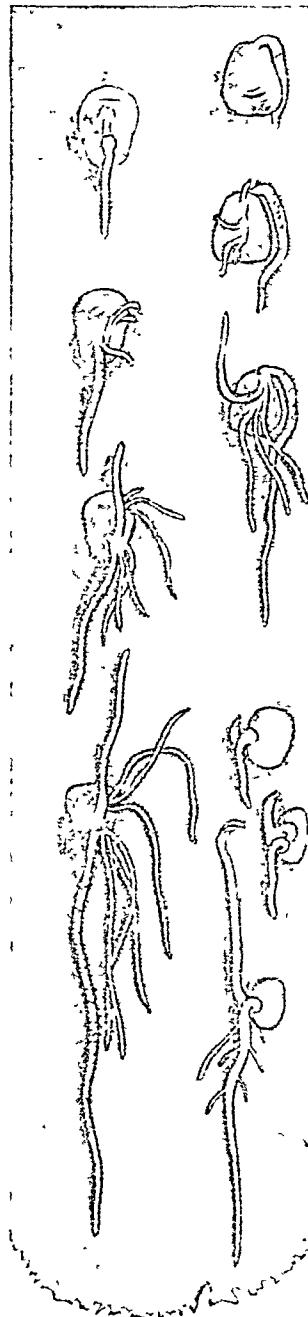
**उगता हुआ बीज**

बाईं ओर मक्का और दाहिनी ओर सेम के बीज है। ये क्रमशः अंकुरित होते दिखाए गए है। गौर कीजिए, इनकी जड़ें किस तरह नीचे ही की ओर जा रही है।

जीव और प्रोटोप्लाज्म अभिन्न है। जीव से प्रथक् प्रोटोप्लाज्म और प्रोटो-प्लाज्म से प्रथक् जीव नही देखे गए।

### वनस्पति-विज्ञान और जन्तु-विज्ञान

शरीर के ज्ञान-विषयक शास्त्र को हम शरीर-तत्त्व-विद्या अथवा 'बायोलाजी' कहते है। प्राणियों के जीवन-संबंधी सभी प्रश्नों पर इसमें विचार किया जाता है। जीवो के भेद, आकृति, आकार, प्रमारण, इनका बाहरी जगत् से संबंध, उद्भव, नाश, विकास आदि सभी बातों का इसमे उल्लेख है। इस शास्त्र के 'वनस्पति-विज्ञान' या 'बॉटनी' और 'जन्तु-विज्ञान' या 'जूलाजी' ये दो अंग है। जन्तु-विज्ञान के अन्तर्गत जानवरों की जीवन-शैली और वनस्पति-विज्ञान के अन्तर्गत पेड़ पौधो-सबंधी बातों का वर्णन है। इन दोनों ही से हमारा अत्यन्त घना संबंध है। पौधे और पशु सजीव सृष्टि के दो भाग है। संसार के सारे प्राणी इन्ही दो भागों में विभाजित है। वैसे तो हम सभी जानते है कि आम वृक्ष है और उसकी शाखाओं पर विचरनेवाले वानर पशु है। परन्तु विश्व की सारी सृष्टि को इस प्रकार पृथक् करना सरल बात नही है। कुछ पौधे ऐसे है, जिनमें पशुओं के गुण विद्यमान है, और इसी प्रकार कुछ पशु ऐसे है, जिनमें पौधे के गुण है। इसी प्रकार की विलक्षण रचनाओं को वनस्पति-वैज्ञानिक पौधों में और जंतु-वैज्ञानिक जानवरों मे सम्मिलित करते है। परन्तु इन जीवो के विषय मे यह निर्णय करना कि ये जानवर है अथवा पौधे, अत्यन्त कठिन है। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसी रचना को तीसरी श्रेणी मे रक्खा जाय और इनके मतानुसार जीवों के तीन भाग है। ये तीन भाग जानवर, वनस्पति और 'प्रोटिस्टा' है। इस तीसरे वर्ग प्रोटिस्टा में ऐसे छोटे-छोटे जीवों

की गणना है, जिनमें जन्तु और वनस्पति दोनों के गुण विद्यमान है। परन्तु ऐसे विधान से भी हमारी कठिनाई का अन्त नहीं होता। जितनी कठिनाई हमें वनस्पतियों को जानवरों से पृथक् करने में होती है, प्रायः उतनी ही कठिनाई हमको प्रोटिस्टा को पौधों से और जीवधारियों से भिन्न करने में भी होती है। इसलिए ऐसा करने से कोई लाभ नहीं। अतः हम सजीव सृष्टि के वनस्पति और जानवर ये दो ही अंग मानकर अब विचार करेंगे। हां, एक बात और है। वह यह कि यद्यपि हम जानते हैं कि सारे जीवधारी एक ही वंशवृक्ष की शाखाएँ है और इस नाते मनुष्य भी एक पशु है, परन्तु हम या आप कोई भी अपने को अन्य पशुओं में सम्मिलित करने में सहमत नहीं होंगे। हम स्वाभिमान और अहंकार के कारण अपने को अन्य पशुओं से पृथक् मानने के लिए विवश है। इसीलिए प्राणियों के तीन भेद हम मानेंगे। इस प्रकरण में हम केवल वनस्पति-सम्बन्धी प्रश्नों पर ही विचार करेंगे।

## जानवरों और पेड़-पौधों में क्या भेद है?

ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि जानवर और पेड़-पौधे दोनों ही सजीव है और इस कारण दोनों ही में समानता है। परन्तु साधारण जीवों और पौधों की ओर ध्यान देने पर हम देखते है कि समानता होते हुए भी उनमें विभिन्नता है और ऐसे वनस्पति एवं जानवरों को हम सुगमता से अलग कर सकते है। सभी जानते है कि आम वृक्ष है और उसकी शाखाओं पर विचरनेवाली गिलहरी जानवर है। दोनों ही में प्राण है। दोनों ही क्रियाशील है। दोनों ही को खाद्य पदार्थों की आवश्यकता है। दोनों ही सांस लेते है। दोनों ही संतान उत्पन्न करते है। सारांश यह कि जितनी भी सजीव सृष्टि की विशेषताएँ है, दोनों ही में वे विद्यमान है। परन्तु फिर भी दोनों में अन्तर है। सबसे प्रथम बात तो यह है कि आम का पेड़ स्थाई है, अर्थात् जिस स्थान पर वह पेड़ उगा है अथवा लगा दिया गया है, वहीं पर उसकी सारी लीलाओं का अन्त होगा। वस्तुतः उसे जहाँ हमने दस वर्ष पूर्व देखा था, आज भी वह वहीं है और जब तक जीवित है, वहीं रहेगा। परन्तु गिलहरी के विषय में यह बात नहीं है। यदि अभी यह इस डाली पर है, तो पल भर में दौड़कर दूसरी डाली पर चली जाएगी। वह आम के पेड़ से जामुन के पेड़ पर और फिर मैदान में अथवा आपके मकान की छत पर भी पहुँच जायगी। यही बात अधिकांश जानवरों और पौधों के विषय में भी है। मनुष्य, घोड़ा, गाय, बैल, सारस, मोर, मछली, तितली, आदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्वयं सुगमता से विचरण करते है। इसके विपरीत आम, जामुन, सन्तरा, अनार, कचनार, चना, मटर, आदि अधिकांश वनस्पति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकते। परन्तु यह बात साधारण जीवों और पौधों के सम्बन्ध में ही कही जा सकती है, सर्वदा वह लागू नहीं होती। कारण कितने ही ऐसे जीव भी है, जो चट्टानों की भांति स्थाई होते है। और इसके विपरीत कुछ ऐसे पौधे है, जो स्वच्छन्द विचरते है। कितने ही छोटे-छोटे उद्भिज, जिन्हें हम सूक्ष्मदर्शक की सहायता बिना नहीं देख सकते, जल में बड़ी कुशलता से तैरते रहते है। इसी प्रकार कुछ ऐसे जानवर भी है, जो चट्टानों से चिपटे हुए समुद्रों और नदियों में पड़े रहते है।

**परोपजीवी अमरबेल**
जो अन्य वृक्षों से आहार ग्रहण कर निर्वाह करती है।

पौधों और जीवों में दूसरी विभिन्नता इनकी भोजन-क्रिया है। दोनों ही को खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। दोनों ही को बाढ़ के लिए अन्य पदार्थों के साथ कार्बन और नाइट्रोजन की भी आवश्यकता होती है। परन्तु इन दोनों तत्त्वों को प्राप्त करने की जानवरों और पौधों की रीतियां पृथक्-पृथक् है।

पौधे वायुमण्डल के कार्बन का उपयोग करते है। इनमें यह विशेषता इनके हरे रंग के कारण है, जो पर्ण-हरिम या 'क्लोरोफिल' नामक पदार्थ की उपस्थिति से

हैं। यह द्रव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी बदौलत पौधों ही की नहीं, वरन् समस्त संसार की स्थिति है। पौधो की अगणित पत्तियो मे करोड़ो कारखानो से भी अधिक उद्योग-धन्दे का फैलाव है। ये नन्ही-नन्ही हरित पत्तियाँ वायुमण्डल के कार्बन और अपनी जडों द्वारा संचित जल से सूर्य के प्रकाश मे समस्त सृष्टि के लिए भोजन तैयार करती है, साथ ही वे वायु को भी शुद्ध करती है। यदि ये हरित वनस्पति न होते तो असम्भव नही कि संसार की जीवन-लीला का लोप हो गया होता।

पौधों की नाइट्रोजन प्राप्त करने की रीति भी जानवरों से विभिन्न है। पौधो की सूत्रवत् जड़े पृथ्वी के अन्दर बहुत दूर तक फैली रहती है। इनके द्वारा ये मिट्टी मे विद्यमान नमको से नाइट्रोजन प्राप्त करते है। परन्तु मनुष्य तथा अन्य जीव सीधे वायु की कार्बन डाइआक्साइड से कार्बन और पृथ्वी के नमको से नाइट्रोजन नहीं प्राप्त कर सकते। ये इन पदार्थो के लिए पेड़-पौधो तथा अन्य पशुओं पर ही निर्भर हैं। इन्हे ये तत्त्व गेहूँ, चना, जौ, मटर आदि अनाजों से अथवा पत्तियो और फलों से या अन्य जीवों के मास, अडा, दूध-जैसे पदार्थो से ही प्राप्त हो सकते हैं। कुछ वनस्पति ऐसे भी है, जो हवा की कार्बन डाइआक्साइड अथवा नमको की नाइट्रोजन का उपभोग नही कर सकते। इनको ये वस्तुएँ उसी रूप मे मिलनी चाहिएँ, जैसे जानवरों को। इनमें से तुविज्ञता के विषय मे ऊपर बताया ही जा चुका है। 'अमरबेल' नामक पौधा भी इन्ही में से एक है। प्रायः आपने इसको अन्य वृक्षो पर अपनी जाल फैलाये देखा होगा। न इसमे जड़ होती है, न पत्तियाँ, फिर भी इसे सब प्रयोजनीय वस्तुएँ मिल जाती है। ये वस्तुएँ इसे अन्य पेड़-पौधो से, जिन पर यह फैली रहती है, मिलती है। इसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा।
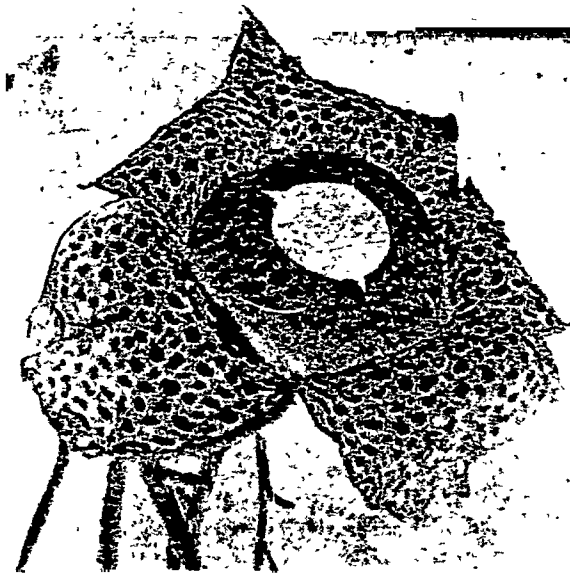
**'रेफलीजिया' नामक पौधे का फूल**

वनस्पति-जगत् में यह सबसे बडा पुष्प है, जिसकी चौड़ाई लगभग गज भर होती है। इस पौधे की विशेषता यह है कि इसके सूत्रवत् अग पडोस के पेड-पौधों से अपने लिए खाद्य पदार्थ चुरा लेते है।

भोजन प्राप्त करने की रीति की विभिन्नता ही जानवरों और पेड़-पौधो के सारे भेदो की जड़ प्रतीत होती है। पौधों को खाद्य पदार्थ वायु और पृथ्वी के नमकों से सीधे प्राप्त होते है, जो उन्हे सर्वत्र सुगमता से मिल सकते हैं। इसलिए इनको भोजन की खोज मे इधर-उधर भ्रमण करने की आवश्यकता नही होती। इनके विपरीत जानवर कार्बनिक पदार्थो का ही उपयोग कर सकते है, जिनकी खोज में इन्हे इधर-उधर जाना पडता है। इसी कारण पेड़-पौधे स्थाई और जानवर भ्रमणशील होते है।

इसी प्रकार जहाँ पौधों को फैलाव की आवश्यकता है, वहाँ जानवरों को नही। खाद्य पदार्थो को प्राप्त करने के लिए ही पृथ्वी के अन्दर पौधों की सूत्रवत् जड़ें और वायुमंडल मे उनकी शाखा, उपशाखा और पत्तियाँ दूर तक फैली रहती हैं। पौधों और जानवरों मे एक और महत्त्वपूर्ण अंतर है, जो इनकी रचना से संबंध रखता है। समस्त जीवो के शरीर एक अथवा अनेक कोशिकाओं के बने होते है। साधारणतः जानवरों के शरीर की कोशिकाएं भित्तिका से घिरी नही होती, परन्तु पौधों की कोशिकाएँ निश्चित घेरे के अंदर होती हैं। परन्तु कुछ ऐसे जीव हैं, जिनमे यद्यपि अधिकांश गुण पौधो के ही होते है, तथापि उनकी शरीर-कोशिकाएँ घेरों से परिवेष्ठित नहीं होतीं।

जानवरों और पौधों की विशेषताओं पर विचार करने से हम भली भाँति देखते है कि यद्यपि अधिकांश जीवों के विषय में यह निर्णय करना कि ये जानवर है या वनस्पति, कठिन नही है; फिर भी इनके बीच में कोई प्राकृतिक सीमान्त नही है। इनमें विभिन्नता से कही अधिक समानता ही है। यही जीवमात्र की एकता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

इस आरम्भिक प्रकरण में हमने सामान्य रूप मे इस पृथ्वी पर विद्यमान सजीव सृष्टि पर—जिसके वनस्पति

और जन्तु ये दो मुख्य अंग हैं—एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयत्न किया है, ताकि इनके सम्बन्ध में पाठकों का दृष्टिकोण विशद हो जाय और वे कुछ अधिक विस्तार के साथ इनका अध्ययन कर सकें। वनस्पति-जगत् का अध्ययन हमारे लिए न केवल अपनी ज्ञान की पिपासा की तृप्ति ही की दृष्टि से, वरन् उपयोगिता की दृष्टि से भी अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। भला कौन ऐसा होगा जिसे उन पेड़-पौधों की रहस्यमय जीवनी के सम्बन्ध में जानने की उत्कंठा न होगी, जो हमें अन्न, फल, फूल, कंद-मूल, रस, पत्तियाँ, लकड़ी, रुई आदि जीवन की अनिवार्य आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कर हमारे जीवन को सरल, सुखप्रद और सुरम्य बनाते हैं ?

# वनस्पति-संसार और उसके मुख्य भाग

## पेड़-पौधों से हमारा संबंध

**पिछले पृष्ठों में वर्णन किया जा चुका है कि दूसरे जीवों की भाँति पेड़-पौधे भी सजीव हैं। इस प्रकरण में आप देखेंगे कि जानवरों की भाँति इनमें भी अनेक जाति-उपजातियाँ हैं—इनमें भी कुटुम्ब और परिवार है।**

पेड़-पौधों की दुनिया का प्रसार अत्यन्त विस्तीर्ण है। पृथ्वी पर करोड़ो वनस्पति है। अब तक हमें लगभग तीन लाख जाति के पेड़-पौधो का पता लग चुका है और दिन पर दिन नए-नए पौधों का पता लगता जाता है। आकृति की समानता और विभिन्नता तथा अपनी-अपनी जीवन-प्रणाली के अनुसार इन्हे अलग-अलग भागों मे पृथक् किया जाता है।

सबसे पहले लोगों का ध्यान साधारण पौधो की ओर ही आकर्षित हुआ। उन्होने देखा कि कितने ही पेड है, जो अत्यन्त दृढ, बहुत ऊँचे और सैकड़ों ही नही, बल्कि हजारों वर्ष तक जीवित रहनेवाले हैं। इसके विपरीत कितने ही पौधे अत्यन्त कोमल, नन्हें और अल्पायु होते है। इसी अन्तर के आधार पर उन्होने पौधों के 'बूटे', 'झाड' और 'वृक्ष' ये तीन भेद माने।

बूटो की शाखाएँ कठीली नही होती और इनका आकार भी बहुधा कुछ इंचों से अधिक नहीं होता। इनमें से अधिक तो एक या दो मौसम के ही मेहमान होते हैं। कोई-कोई तो, जिन्हें 'अल्पायु बूटे' के नाम से पुकारा जाता हैं, मौसम में दो-तीन बार उगने और फूल-फल देने के बाद समूल नष्ट हो जाते है। वे कुछ सप्ताह ही टिकते हैं। कुछ बूटे 'वर्षीय' कहलाते है। ये मौसम मे केवल एक बार उगते है और कई महीने तक जीवित रहने के बाद बीज और फल को छोड़ समाप्त हो जाते है। हमारी खेतीबारी के अनेक पौधे जैसे गेहूँ, चना, तरोई, करेला, तथा बहारी पौधे जैसे 'फ्लाक्स', 'पेटूनिया', गुलमेंहदी ( देखो इसी पृष्ठ का चित्र ) इत्यादि इसी भाँति के हैं। इसी तरह कुछ 'द्विवर्षीय' पौधे कहलाते है और कुछ ऐसे भी है, जो किसी-न-किसी प्रकार कई वर्ष तक जीवित रहते है। ये 'बहुवर्षीय' बूटे है। बहुवर्षीय बूटो की वायुवर्त्ती शाखें कोमल होती है, परन्तु जमीन के अन्दर के भाग, चाहे वे जड़ हो या तने, कठीले होते है। अदरक, हल्दी, कैना, जिमीकन्द या सूरन ( देखो पृष्ठ १४२ का ऊपरी चित्र) आदि की इन्ही मे गणना है।

झाड़ और वृक्ष दोनो ही के तने और शाखें कठीली होती है और इसीलिए ये सर्दी-गर्मी सहन कर सकते है। ऐसे पौधे वर्षो जीवित रहते हैं। झाड़ वृक्षो मे छोटे परन्तु

**गुलमेंहदी**

वर्षाऋतु का फुलवाड़ियों का यह पौधा एक 'वर्षीय' बूटा है। [ फोटो—श्री राजेन्द्र वर्मा शिठोले ]

बूटे से बड़े होते है। चांदनी, सावनी (देखो इसी पृष्ठ का निचला चित्र), गुलाव, अनार, अंगूर, मेहदी जैसो की गिनती झाडो में है।

वृक्षों के सम्बन्ध मे कदाचित् आपको अधिक वताने की आवश्यकता न होगी। आम, जामुन, नीम, सागौन, देवदार, वरगद, सेमर, गुलमोहर या 'गोल्डमोहर' (देखो पृ० १४३ का चित्र) जैसे अनेक पेडों से आप परिचित है। इनमे से कई तो सैकडों फीट ऊँचे और हजारो साल जीनेवाले है। कैलीफोर्निया के 'सिकोया जायजैशिया' के सम्बन्ध में, जो चीड़ और देवदार के भाई-वन्धुओं में है, कहा जाता है कि इस जाति के कुछ पेड चार हजार वर्ष से भी अधिक आयुवाले है। अमेरिका में इसी समूह का 'टैक्जोडियम'-नामक एक पेड है, जिसकी आयु का अनुमान पाँच हजार वर्ष से भी अधिक किया जाता है। इस पेड के तने का घेरा ५० फीट से भी अधिक है। हमारे देश के वृक्षो मे देवदार, वरगद, सेमर और सागौन वहुत आयु-वाले होते है।

(वाईं ओर)

**जिमीकन्द या सूरन**

यह वहुवर्षीय बूटे का एक उत्तम उदाहरण है। वहुवर्षीय बूटो के जमीन के अदर के भाग कठीले होते है। [फोटो—श्री रा० व० शिठोले]

### उद्भिजों के चार मुख्य भाग

पौधो का उपर्युक्त वर्गीकरण सवसे पुराना अवश्य है, परन्तु यह उनकी रचना तथा समानता आदि से कुछ सम्बन्ध नही रखता। इसकी नीव पेड़ो की आयु तथा डीलडौल पर ही है, उनके यथार्थ लक्षणों पर नही। इसलिए जैसे-जैसे वनस्पति-विज्ञान की उन्नति हुई, इस वर्गीकरण मे दोष दिखाई देने लगे। अब दुनिया के तमाम पेड़-पौधों को इन तीन मनमाने खण्डो मे विभक्त करके संतोष नही किया जा सकता था। अतः भाँति-भाँति के पौधों की रचना और जीवन का अध्ययन करके उन्हें नीचे दिए हुए चार मुख्य भागों में अलग किया गया।

### सपुष्पक पौधे—नग्नवीज और गुप्तवीज

सवसे पहली श्रेणी में आम, गुलाव, सेव, मटर, घास, वाँस, चीड, देवदार जैसे हजारो पेड़-पौधे है। इनमे जड, तना, पत्ती, फूल, फल और वीज आदि सभी अंग स्पष्ट है। इन्हे 'सपुष्पक' अथवा फूलवाले पौधे कहते है। फूलो और वीजों का होना इनकी विशेषता है। पौधो के इस वर्ग के नग्नवीज या 'जिम्नोस्पर्म' और गुप्तवीज या छिपे वीज वाले अथवा 'एंजियोस्पर्म' ये दो भाग है। नग्नवीज के फल प्राय शुण्डाकार होते है (देखो पृ० १४४ का ऊपरवाला चित्र)। इनमें वीज खुले हुए रहते है। (देखो उसी पृष्ठ का मध्य का चित्र)। इस समूह के प्रायः सभी पेड-पौधे वहुवर्षीय, सदापत्री तथा कठीले होते है। इनकी लगभग ५०० जातियाँ है। चीड़ (पृष्ठ १४५ का ऊपरी चित्र), देवदार, चिलगोजा, सरो, सिकोया, टैक्जोडियम आदि इन्ही मे है। इस जाति के पौधो से लोवान, तारपीन, लकड़ी आदि अनेक जरूरी चीजें हमे मिलती है। सपुष्पक पौधो

**सावनी**

गुलाबी और सफेद फूलोंवाले इस झाड को प्रायः वगीचो में किनारे-किनारे लगाते है। [फोटो—श्री रा० व० शिठोले]

के गुप्तबीज वर्ग में रजोविन्दु, जो पकने पर बीज हो जाते हैं, गर्भाशय मे बन्द होते हैं (पृष्ठ १४५ का मध्यवर्ती चित्र)। इनमें अनेक प्रकार के पौधे हैं। अब तक लगभग दो लाख जाति के गुप्तबीज पौधो का पता लग चुका है। बनावट और रहन-सहन के अनुसार इनमे कई भेद हैं। निःसन्देह इस जाति के पौधों से ही हमारा अधिक प्रयोजन रहता है। वन, उपवन, खेत, ऊसर, तड़ाग, मैदान, पर्वत, घाटी आदि सभी स्थानों में यही पौधे दिखाई देते हैं।

सच बात तो यह है कि वर्तमान काल में उपयोगिता तथा प्रधानता के विचार से वनस्पति-संसार में सबसे गौरवपूर्ण यही पौधे हैं। इस समूह के पौधो के डील-डौल में बड़ा अन्तर है। कुछ 'वुल्फिया' (पानी में रहनेवाली एक प्रकार की बूटी, जिसे हम 'काई' कहते हैं, और जो वर्षाऋतु मे पोखरो में होती है) जैसे आलपीन के मत्थे से भी छोटे आकार के होते हैं (दे० पृष्ठ १४५ का निचला चित्र); और कुछ बरगद, सेमर, सागौन, यूकैलिप्टस जैसे सैकडों फीट ऊँचे भी होते हैं।
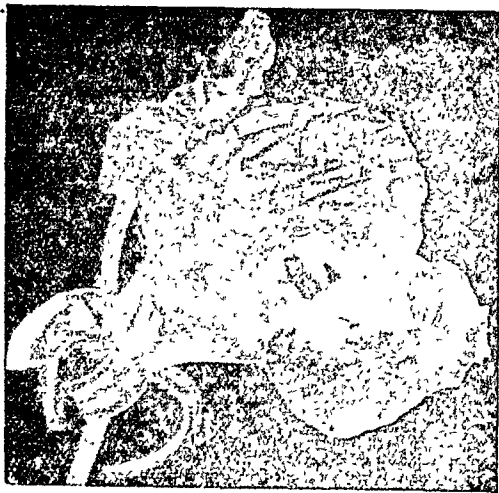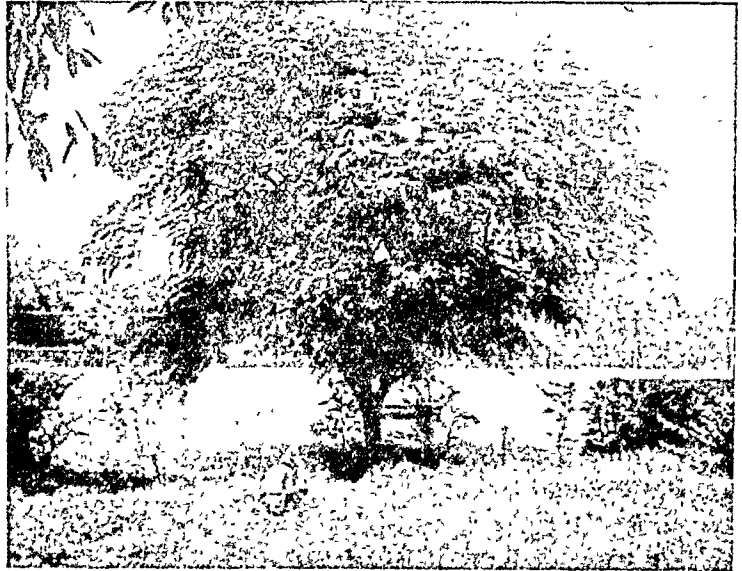
( ऊपर ) गुलमोहर का वृक्ष ( नीचे ) उसका पुष्प

इस वृक्ष में लाल रंग के सुहावने फूल आते हैं। [फोटो—श्री रा० व० शिठोले और वि० सा० शर्मा]

## टेरीडोफायटा, पर्णांग आदि

वनस्पति-जगत् की दूसरी श्रेणी में 'टेरीडोफायटा' वर्ग के पौधे हैं, जिनको आपने कदाचित् फुलवाड़ियो और पहाड़ों पर देखा होगा। इनमें पर्णांग या 'फर्न' ( देखो पृ० १४६ का ऊपरी चित्र) और उनके भाई-बन्धु इक्वीजीटम' 'सिलैजीनेला' (दे०पृ०१४६ का बिचला चित्र), लायकोपाड्स आदि हैं। पर्णांग निःसंदेह आपके बगीचो में होंगे। इनकी पत्तियां बड़ी सुन्दर और मनोहर होती हैं। इसी कारण लोग इन्हें वाटिकाओं में लगाते हैं। ये छाया और तरी के पौधे हैं। हिमालय एवं पश्चिमी घाट और नीलगिरि पर्वतमाला के जगलों में ये अधिकता से होते हैं। दार्जिलिग, शिलाग, नैनीताल और उटकमंड जैसे स्थानों पर तो आपने सैकडो जाति के पर्णांग देखे होंगे। मैदान की लू और गर्मी ये नही सह सकते, इसलिए इन्हें यहां जीवित रखने के लिए इनकी ओर विशेष ध्यान देना पडता है। फलवाले पेड़ो की तरह इनमें भी जड़, तना और पत्ते स्पष्ट होते हैं, परन्तु इनमें फूल, फल या बीज नही होते। सम्भव है, आपको इस बात पर कुछ आश्चर्य हो कि जब इनमें बीज नही होते तो भला बीजों का काम कैसे होता है और इन पौधो की उत्पत्ति कैसे होती है? इस विषय में इन पौधों की जीवन-लीला सचमुच ही अनोखी है। इनमें बीजो का काम रेणु या 'स्पोर' से होता है। अगर आप किसी भी साधारण पर्णांग की पत्तियो को ध्यान से देखे तो एक न एक समय इनकी पीठ पर आपको नन्हे-नन्हे भूरे या हल्के हरे रंग के बहुत-से दाने मिलेंगे

(दे० पृ० १४६ का निचला चित्र)। सूक्ष्म-दर्शक से देखने पर आपको यहाँ पर एक ढक्कन के नीचे छोटी-छोटी अनेक डिबियाँ—'स्पोरेंजिया'—मिलेगी, जिनके अन्दर आपको एक प्रकार की धूल-सी वस्तु मिलेगी। यही धूलिकण या 'स्पोर्स' (दे० पृ० १४७ का चित्र) इन पेडों में बीज का काम देते है। पर्णाङ्गो के अन्य भाई-बन्धुओ मे भी स्पोरेंजिया और स्पोर होते हैं। इस श्रेणी के पौधे वर्तमान काल में डील-डौल में बहुत छोटे होते है और कुछ वृक्ष-पर्णागो को छोड़कर वे प्राय: तीन या चार फीट से अधिक ऊँचे नही होते; परन्तु आज से करोड़ों वर्ष पूर्व डेवोनियन काल में, जब इस जाति के पेड़ों की संख्या अधिक थी, इनमें से कोई-कोई सैकड़ो फीट ऊँचे होते थे। उस समय पृथ्वी पर इन्ही का राज्य था। कार्बन-काल में भी बहुत से पर्णाग थे और साथ-साथ पर्णाग जैसे और भी अनेक पौधे थे, जिनमें बीज होते थे। हमारी खानो में कोयला इन्ही की बदौलत मिलता है। परन्तु अब ये पेड़ कहाँ है? विश्व परिवर्तनशील है। प्रकृति मे दिन प्रतिदिन परिवर्तन होते रहते हैं। करोडो वर्ष की बात है, पृथ्वी पर महान् परिवर्तन हुए। ये पेड़ अपनी रचना को परिस्थिति के अनुकूल न बना सके और इसीलिए जीवन-संग्राम में पराजित होकर असफल रहे। अब इनके केवल प्रस्तरीभूत जीवावशेष ही रानीगंज तथा अन्य स्थानों में रह गए है। 'लायकोपोडियम' और इक्वीजीटम भी एक प्रकार से पतन की ओर ही जा रहे हैं। असम्भव नही कि समय के चक्र में ये भी विलीन हो जाएँ। इन पौधों की कहानी बड़ी रोचक है। आगे चलकर इनके संबध में कुछ साधारण बातों का वर्णन किया जायगा।

**देवदार का शुण्डाकार फल**

यह नग्नबीज पौधों के फल का उदाहरण है [फोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]

## नलिकायुक्त और नलिकाहीन पौधे

आप देखते हैं कि पूर्व-कथित दोनो ही श्रेणी के पौधों में जड, तना और पत्ती स्पष्ट होती है। इनके हर एक हिस्से में नसें अथवा नलिकाएँ है, जिनमें होकर खाद्य-रस का संचार होता है। इन नसों को हम पत्तियों मे सरलता से देख सकते है (पृ० १४६ का चित्र)। यही नलिकाएँ इनको दृढ़ बनाती है और इनमें पशुओं की-सी नसो और ठठरियों का काम देती हैं। इन दोनों श्रेणी के पौधों को 'नलिकायुक्त पौधे' कहते है। इनके अलावा आपने कुछ ऐसे पौधे भी देखे होंगे, जिनमें नसें नही होती। इन्हें हम 'नलिकाहीन' या बिना नसों के पौधे कह सकते हैं। वनस्पति-जगत्

**कुछ नग्नबीजी पौधों के बीज**

इनमें बीज गर्भाशय के अन्दर बन्द नहीं है। चित्र में ऊपर की पंक्ति में बाईं ओर से पहला 'साइकस', दूसरा 'एनसिफैलार्टस' और तीसरा 'जेमिया' है। नीचे के तीन चित्रों में पहले देवदार के कोन-स्केल के साथ बीज दिखाए गए है, दूसरे में आधा कोन-स्केल तोड़ दिया गया है और तीसरे में बीज अलग-से दिखाए गए है।

[फोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]

में इनका वही स्थान है, जो जन्तु-जगत् में अपृष्ठवंशी अर्थात् बिना रीढवाले जन्तुओं का है। शेष के दो समूह—'ब्रायोफायटा' और 'थैलोफायटा'—इसी तरह के हैं। इनकी बनावट बड़ी सरल होती है।

## ब्रायोफायटा—मॉस और लिवरवर्ट

ब्रायोफायटा नामक वर्ग में मॉस (दे० पृष्ठ १४८ का निचला चित्र) और लिवरवर्ट (दे० पृष्ठ १४९ का ऊपरी चित्र) ये दो विभेद हैं। मॉस-समूह के समस्त जाति के पौधों में और कुछ लिवरवर्टों में भी पत्तियां होती हैं और जडों के स्थान पर महीन रोयें होते हैं, परन्तु इनमें और साधारण पौधों की पत्तियों में बड़ा अन्तर होता है। कुछ लिवरवर्टों की बनावट में पत्तियो आदि का अन्तर नही होता। इनके पौधे फीते या पत्ती जैसे इंच दो इंच के या इससे भी छोटे होते हैं। एंजियोस्पर्म्स और टेरीडोफायटा की भांति इस समूह के पौधे भी स्थलवासी होते हैं, परन्तु तरी और छाँह के बडे प्रेमी। पर्णाङ्गों की भांति इनके भी बीज नही होते और बीज का काम स्पोर से ही होता है। हमारे देश में ये बूटे अधिकतर पहाड़ों पर ही उगते हैं। वर्षा के दिनों मे यहां पर ये सोतों और चश्मों के किनारे, पानी की धाराओं के निकट, पेड़ो की डालों एवं चट्टानो पर अधिकता से मिलते हैं। उनमें से कोई-कोई, विशेषकर कुछ मॉस तो इतने घने उगते है कि जिस स्थान पर ये उगते है, उसको अच्छी तरह से ढक लेते हैं। पूर्वीय हिमालय तथा पश्चिमी घाट के कई स्थानों पर, जहां सालमे १०० इच से भी अधिक वर्षा होती है, इस जाति के कुछ पौधे अन्य पेड़ो की पत्तियो पर भी उगते हैं। आर्थिक विचार से इस समूह के पौधे हमारे किसी भी काम के नही है, लेकिन विकासवाद की दृष्टि से या पौधों की गुप्त लीलाओ को जानने के हेतु इनका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। समय आने पर इनके गोपनीय रहस्यों पर प्रकाश डाला जायगा।

**चीड़ का पेड़**

इस चित्र में वृक्ष का सिरा ही दिखाया गया है।

**गुप्तबीज पौधों के कुछ फल**

फल को बीच से फाड़कर साथ-साथ बीज भी दिखला दिए गए है। क्रमश: बाई ओर से दाहिनी ओर को सेम, भिण्डी, मटर और लाल मिर्च तथा उनके बीज दिखाए गए है।

( दाहिनी ओर )

**वुल्फिया**

यह पानी का एक उद्भिज है। यह चित्र सूक्ष्मदर्शक की सहायता से लिया गया है। पौधे का मूल आकार चित्र के अन्दर के सफेद चिन्हों से प्रायः कुछ ही बड़ा होगा।

[ फोटो—श्री वि० सा० शर्मा ]

## थैलोफायटा—शैवाल, फफूँद वर्गीय और बैक्टीरिया

पेड़-पौधों की अन्तिम श्रेणी में 'थैलोफायटा' वर्ग के वनस्पति है। इस समूह के पौधो की बनावट बडी ही सरल होती है। इनमें न जड होती है, न तना, न पत्ती अथवा फूल-फल। इनका कोई भी अंग स्पष्ट नहीं, फिर भी ये खाते-पीते और जीवो की सभी लीलाएँ करते हैं। समुद्री शैवाल या

(बाईं ओर) **नैफ्रोलीपिस** एक जाति का साधारण पर्णाङ्ग, जो प्रायः हमारे बगीचों में देखने को मिलता है। [ फोटो—श्री वि० सा० शर्मा ]

'सी-वीड्स' ( देखो पृष्ठ १५० का ऊपरी चित्र ) तथा काई-वर्ग के अन्य पौधे और 'फफूँद-वर्गीय' या 'फंगस' एवं 'बैक्टीरिया' इसी समूह के हैं।

## शैवाल या काई-वर्ग

आप में से जिन्हें भी कभी समुद्र के किनारे घूमने का अवसर मिला होगा, उन्होंने यदा-कदा लाल, भूरे, हरे रंग के कुछ बूटे पानी के अन्दर चट्टानों से चिपटे अवश्य देखे होंगे। इनमें से अधिकतर शैवाल वर्ग के होते हैं। हमारे पास-पड़ोस के तालावों एवं नदियों तथा नालियों में भी जो आप हरी-नीली जाले-आदि जैसी कितनी ही काइयाँ देखते हैं, वे भी इन्हीं में हैं (देखो पृष्ठ १४९ के निचले चित्र)। वर्षा में तो आसपास की दीवालों, पेड़ों और गुसलखानों व गमलों अथवा सड़कों पर हरे-नीले रंग की अनेक काइयाँ जम जाती हैं। तालावों और पोखरों में कभी-कभी जो हरा पानी हम देखते हैं, वह भी बहुधा इसी जाति के आँख से ओझल बहुत-से छोटे जीवों की उपस्थिति के ही कारण होता है। 'क्लैमाइडोमोनस' नाम का एक उद्भिज् इनमें से एक प्रसिद्ध नमूना है (देखो पृ० १५१ का ऊपरी चित्र)। यह इतना छोटा होता है कि आप
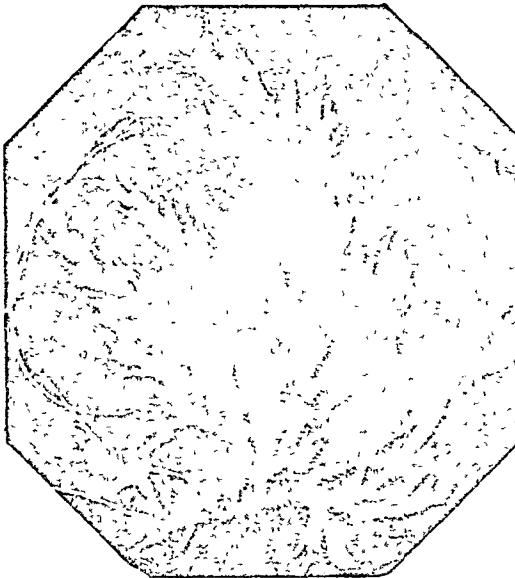
( दाहिनी ओर ) **सिलैजीनेला** 'टेरीडोफायटा' नामक वनस्पति-जगत् की द्वितीय श्रेणी का यह पौधा पर्णाङ्गों का एक नातेदार है। [फोटो—श्री० वि० सा० शर्मा ]

( दाहिनी ओर )
**नेफ्रोलीपिस की पत्रक**

यह फुलवाड़ी के एक साधारण पर्णाङ्ग नेफ्रोलीपिस की पत्रक का पृष्ठ की ओर से लिया गया फोटोग्राफ है। इसमें नन्हें-नन्हें काले दाने स्पोरेंजिया का समूह है, जिनके अंदर ढक्कन से सुरक्षित स्पोरेंजिया होती हैं। बाईं ओर के सबसे नीचे के दाने से ढक्कन हटा दिया गया है। स्पोरेंजिया दिखाई दे रही हैं। पर्णाङ्ग-वर्ग के इन पौधों में ये स्पोर या नन्हें-नन्हें दाने ही बीज का काम करते हैं। इस विषय में निश्चय ही इन पौधों की जीवन-लीला विचित्र है। [ फोटो–श्री वि० सा० शर्मा। ]

आसानी से उसका अनुमान नहीं कर सकते। एक बूंद पानी में ये असंख्य तैरते रहते हैं। कैसी निराली यह रचना है! फिर भी इसकी जीवनकला उतनी ही निपुण है, जितनी किसी अन्य पौधे की। आगे हम इस अनोखी सृष्टि का कुछ अधिक बखान करेंगे।

## फफूंद-वर्ग

ऊपर वर्णित काइयों के अलावा धरती के फूल (देखो पृ० १५० के निचले चित्र), कुकुरमुत्ते, गुच्छी या 'मोरचेला' गगनधूलि, फफूंदी, यीस्ट आदि (जिनकी गिनती 'फंगस' या 'फफूंद-वर्ग' में होती है,) तथा बैक्टीरिया भी थैलोफायटा समूह में है। बरसात में सड़ती हुई लकड़ी, फल एवं अन्य वस्तुओं पर अथवा मल या गोबर, आदि के ढेर पर आपने अनेक फफूंद-वर्गीय देखे होंगे। इस जाति के बूटे बिना किसी के सहारे अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकते, और अन्य वृक्ष, जानवर, अथवा सड़ी-गली चीजों पर ही इनका जीवनाधार है। कितने ही परोपजीवी फफूंद-वर्गीय हमारी खेतीबारी के पौधों पर धावा करते हैं। हमारे गेहूँ का 'पकसिनिया' और बाजरे का 'स्मट' नामक शत्रु इन्हीं में से हैं। पकसिनिया की बदौलत आज हमको अपनी कृषि में लाखों रुपये की हानि पहुँचती है। संयुक्त राज्य, अमेरिका, में अखरोट की व्याधि से, जो एक प्रकार के फफूंद-वर्गीय से होती है, लाखों रुपये का सालाना घाटा होता है। यह व्याधि न्यूयार्क के पास-पड़ोस में सबसे प्रथम १९०४ में शुरू हुई। थोड़े ही दिनों में इसका प्रकोप चारों ओर फैल गया और
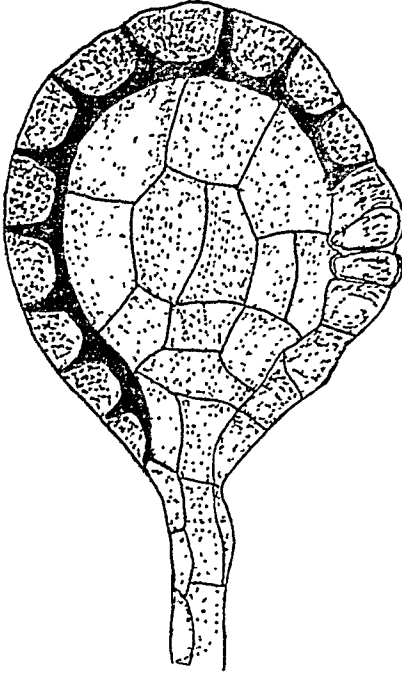
**स्पोरेंजिया और स्पोर्स**
ऊपर परिपक्व स्पोरेंजियम है, जो अभी चिटकी नहीं है। नीचे चिटकी हुई स्पोरेंजियम का चित्र है। स्पोर्स या रेणु दूर-दूर तक बिखर रहे हैं। [चित्र—लेखक द्वारा]

१९०९ तक वहाँ की सरकार के अनुमान के अनुसार इस रोग से लगभग सात करोड़ पचास लाख रुपये का नुकसान पहुँचा। अनेक फफूंद-वर्गीय हमारी लकड़ी को नष्ट कर देते हैं। आप लोगों ने जंगलों में घोड़े की टाप अथवा डबल रोटी जैसे फफूंद-वर्गीय कभी-कभी देखे होंगे (दे० पृ० १५० का निचला बायाँ चित्र)। ये इन पेडों को बड़ी हानि पहुँचाते है। इनका अदृश्य जाल तने और शाखो के अन्दर सारे पेड़ में फैला रहता है, और भीतर-भीतर से उन्हें खोखला और निकम्मा करके सुखा-गलाकर मौत के घाट उतार देता है। परन्तु यही बात नही, सारे फफूंद-वर्गीय हानि पहुँचानेवाले ही नही होते, कुछ उपयोगी भी हैं। कई जाति के धरती के फूल और गुच्छी, जो अधिकतर पंजाब और काश्मीर में होते है, स्वादिष्ट होते हैं। इसके अलावा 'यीस्ट' (दे० पृ० १५१ का मध्य का चित्र) शराब और अल्कोहाल बनाने के काम में आती है। रोटी तथा अन्य चीजें बनाने में जो खमीर काम मे आता है, वह भी यीस्ट ही है।

## बैक्टीरिया

बैक्टीरिया के सम्बन्ध मे तो आज हर एक व्यक्ति कुछ-न-कुछ अवश्य जानता है। ये जीव हमारे चारों
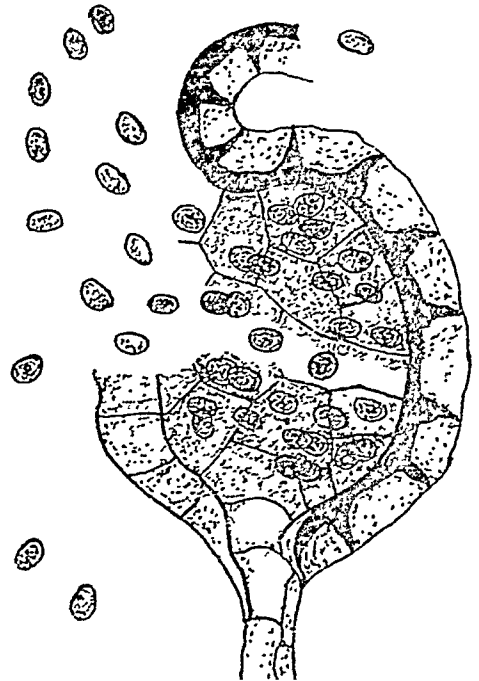
और मौजूद हैं। कोई स्थान नहीं जहाँ इनकी पहुँच न हो। सभी जगह ये अनगिनत और नाना रूप में विराजमान हैं। हमारे पीने के पानी में, हवा में, दूध में, दही में, सभी चीज में ये भरे रहते हैं। साधारण बाजारू दूध के तो एक घन सेंटीमीटर में एक लाख से दस लाख तक बैक्टीरिया हो सकते हैं। सौभाग्यवश ये सभी हानिकारक नहीं होते। हमारे दाँतों के मैल में तो हमें झुंड-के-झुंड बैक्टीरिया मिलेंगे। इन जीवों में सबसे निराली बात तो यह है कि ये पल भर में एक से अनेक हो जाते हैं और साधारण सर्दी-गर्मी का इन पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। ये एककोष्ठी जीव कितने छोटे होते हैं, इसका आप सुगमता से अनुमान भी नहीं कर सकते। इन्हें हम केवल सूक्ष्मदर्शक यंत्र से ही देख सकते हैं, सो भी यदि वह इतना शक्तिशाली हो कि हमारे सिर के बाल जैसी महीन चीज को लट्ठ के समान मोटा कर दिखाए। इनके डील-डौल के विषय में कल्पना करना भी सरल बात नहीं। इनकी पूरी आठ-दस हजार की पल्टन एक इंच लम्बे स्थान में एक ही कतार में आसानी से लम्बी-लम्बी लेट सकती है, फिर भी इनके बीच में आने-जाने के लिए जगह पड़ी रहेगी और यदि कोई इनके सगे-सम्बन्धी आ जाएँ तो उनके ठहरने को भी ठिकाना लग जायगा! परन्तु ये जितने छोटे हैं, उतने ही खोटे भी हैं। इनकी उपस्थिति का पता हमको प्रायः इनकी करतूतों से ही चलता है (देखो पृ० १५१ का निचला चित्र)। बैक्टीरिया संसार में सृष्टि के आदि से ही विद्यमान हैं; परन्तु ढाई सौ वर्ष से कुछ समय पूर्व तक हमें इनका पता भी न था। इस विचित्र सृष्टि का सबसे प्रथम अवलोकन हालैंड-निवासी अनुसंधानकर्ता लीवेनहुक (१६३२-१७२३ई०) ने किया था। संसार में एक-से-एक आश्चर्यजनक अनुसंधान हुए। किसी ने नई दुनिया का पता लगाया, तो किसी ने आकाश में दूरदर्शक की सहायता से ग्रह और तारे ढूँढ निकाले! परन्तु हालैंड के इस बजाज लीवेनहुक के अनुसंधान के सामने इन सब की क्या

**भिण्डी की पत्ती में नस**

इन पत्तियों में नसें साफ दिखाई देती हैं। [ फोटो—श्री रा० व० शिठोले ]

**मॉस**

दाहिनी ओर साधारण मॉस है, जो वर्षा ऋतु में प्रायः पुरानी दीवारों पर उग आती है। बाईं ओर एक विशेष प्रकार की मॉस का चित्र है, जिसके सिरे पर स्पोरेंजियम है। [ फोटो—श्री वि० शा० शर्मा ]

तुलना ! इसने उस अपूर्व सृष्टि का पता लगाया, जिसकी निशस्त्र सेना मानव जाति के संहार में उसके उत्पत्ति-काल से ही निरंतर तत्पर है; जिनकी करतूतों से कितने ही घरो में पानी का देवा नाम का लेवा न रह गया; जिनके प्रकोप से कितने ही गाँव उजड़ गए, कितनी ही बस्तियाँ वीरान हो गईं; जिनके कपट से कितने ही बादशाह तख़्त पर बैठे-बैठे चुपचाप लुढक पड़े; कितने ही पालने में झूलते-झूलते बालकों की कली मुरझा गई; कितने ही राहचलते बटोही मौत की भेंट चढ़ गए। लोवेनहुक ने उन निर्दयी जीवों को खोज निकाला, जो हमारे बीच में आदि काल से ही विद्यमान हैं; जिनमें हमारे कितने ही शत्रु और मित्र हैं, जिनसे कितनी ही बीमारियाँ और संक्रामक रोग, जैसे हैजा आदि का जन्म होता है; जिनका हमारे कितने ही व्यवसायों और धन्धों में हाथ है; जिनकी करामात से ही दही, मट्ठा और पनीर तैयार होते हैं; जिनकी मदद से अल्कोहाल से सिरका तैयार करते हैं और सन को सड़ाते हैं।

**मारकंन्शिया का साधारण पौधा**

यह लिवरवर्ट जाति का पौधा है।

[ फोटो—श्री वि० सा० शर्मा ]

**स्पायरोगायरा**

वर्षाऋतु में तालाबों में पैदा होनेवाला बाल से भी महीन एक शैवाल। दाहिनी ओर के चित्र में इसकी सूक्ष्मदर्शक द्वारा परिवर्द्धित झाँकी देखिए।
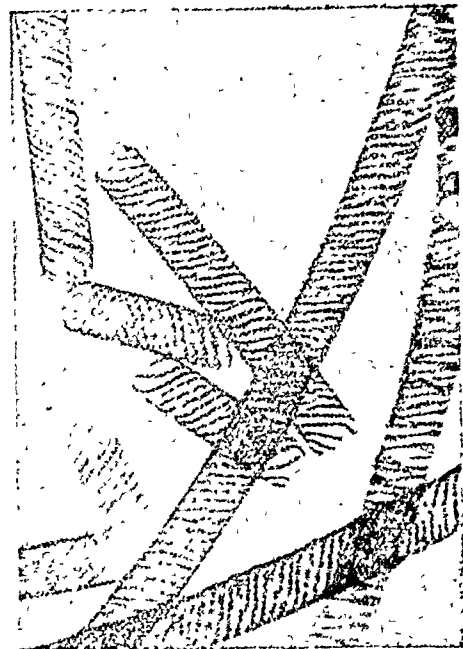
[ फोटो—श्री वि० सा० शर्मा ।]

**स्पायरोगायरा के अंदर की झाँकी**

यह चित्र सूक्ष्मदर्शक की सहायता से लिया गया है। बाईं ओर के चित्र के बाल से भी महीन रेशे यहाँ लट्ठे जैसे देख पड़ते हैं। [ फोटो—श्री० वि० सा० शर्मा ]

### वनस्पतियों से हमारा सम्बन्ध

इस वृहत् वनस्पति-जगत् से हमारा क्या सम्बन्ध है, इसकी शिक्षा विद्यालयो में क्यो दी जाती है, अनेक स्त्री-पुरुष इसकी धुन में क्यो लगे रहते है, आदि स्वाभाविक प्रश्न है, जो आपके हृदय मे उठ रहे होंगे। आदि काल से ही मानव विचारशील है। अमुक बात कैसे और क्यो हुई? ऐसे सवालो को सुलझाने को आज छोटे-छोटे बालक भी उत्सुक रहते है। यथार्थ मे वैज्ञानिक उन्नति की नीव भी इन्हीं प्रश्नो के समुचित उत्तर की खोज पर है। पेड़-पौधो से हमारा बडा घना नाता है। पिछले प्रकरण मे आप पढ चुके है कि पेड़ो की भोजन प्राप्त करने की अनोखी रीति ही है, जिसकी बदौलत वायुमडल में आक्सिजन की मात्रा समान बनी रहती है। अगर ऐसा न होता तो थोडे ही दिनो में जीवो के साँस लेने के कारण हवा दूषित हो जाती और किसी भी जीव का रहना असभव हो जाता। तनिक विचार करने से पता चल जायगा कि जन्तु-जगत् की उत्पत्ति के पहले पेड़-पौधे जरूर रहे होंगे। पौधो के बिना हमारा जीवन कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। यही प्राणि-जीवन का आधार है। यह बात शाकाहारी जीवों के लिए जितनी लागू है, उतनी ही मासाहारियो के लिए भी। कहते है कि सृष्टि के आदि मे, जब कि आदमी जगलों मे विचरते थे, कंद-मूल-फल ही उनके भोजन की सामग्री थी। शीघ्र ही इन्हे जाड़े और धूप से बचने की जरूरत हुई। अत. पेड़-पौधो की पत्तियो तथा छालों से ये काम लेने लगे। इसी समय से मानों हमारे कपड़े बनाने के कारखानों की बुनियाद पड़ी। आज भी कितनी जंगली जातियाँ है, जो छाल व पत्तो से ही वस्त्रों का काम निकालती है। धीरे-धीरे लोगों ने कपडा बुनना सीखा, परन्तु फिर भी वस्त्रों के लिए हम पौधों के ही आश्रित रहे। आप जानते है आज कि हमारे अधिकतर कपड़े रुई

(ऊपर) **सरसैगम** एक प्रकार का भूरी जाति का समुद्री शैवाल। [फोटो—श्री वि० सा० शर्मा]
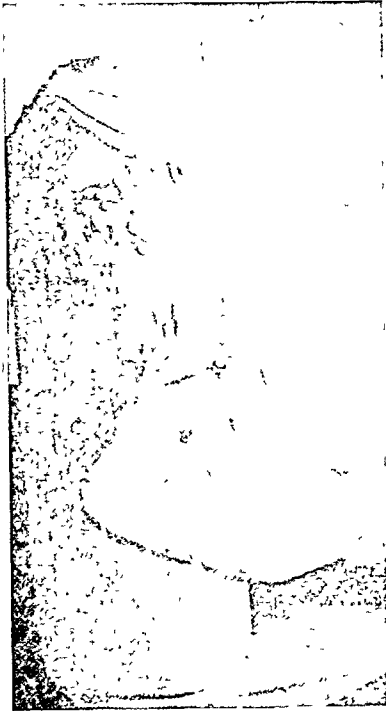
**पालीपोरस**
लकड़ी और पेड़ों पर उगनेवाला एक फफूंद-वर्गीय, जिससे वृक्षो को बड़ी हानि पहुँचती है।
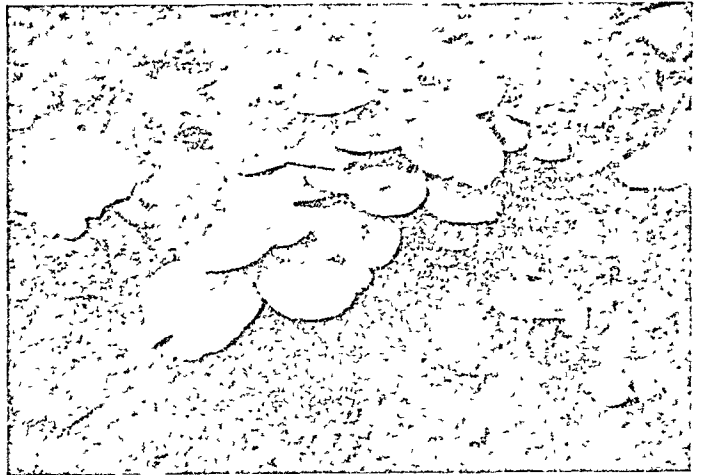
**बगीचे म उगे हुए धरती के फूल**
वनस्पति-जगत् के इन अनोखे सदस्यों को 'कुकुरमुत्ते' 'छत्राक', आदि कई नामों से पुकारा जाता है। [फोटो—श्री रा० व० शिठोले।]

और पाट से बनते हैं और ये दोनों हमें पौधों से ही मिलते हैं। लोगों ने धीरे-धीरे उपयोगी पौधों का लगाना और उनकी रक्षा करना सीखा। यहीं से हमारी खेती और बागवानी की नींव पड़ी। जैसे-जैसे इन में उन्नति हुई बढ़िया से बढ़िया तरकारियाँ, अनाज, फल, फूल उगने लगे। तुख्मी आमों की जगह अब दसहरी, सफेदे और लँगड़े; झरबेरी बेर की जगह पेवदी बेर, और खट्टे नीबू की जगह नागपुर और सिल्हट की नारंगियाँ और संतरे मिलने लगे। आज साधारण गाँव के रहनेवाले भी जानते हैं कि अगर उन्हें गेहूँ, उर्द या दूसरे किसी अनाज की अच्छी फसल तैयार करनी है तो उन्हें अमुक श्रेणी का ही बीज मँगाकर बोना होगा। यह सब कैसे हुआ? वनस्पतियों के अध्ययन और वनस्पति-विज्ञान की उन्नति में आज कितने ही लोग कटिबद्ध हैं। वे साधारण गेहूँ से बड़े दानेवाला, या थोड़े समय में पककर तैयार होनेवाला और दूसरी बातों में बढ़िया गेहूँ उपजाने की कोशिश में लीन हैं। इसी तरह कोई गन्ने को तो कोई धान को सुधारने में जुटा हुआ है।

क्लैमाइडोमोनस

एक एककोष्ठी शैवाल, जो हमारे यहां के तालाबों और पोखरों में होता है।

भोजन और कपड़ों के अलावा पेड़ों से हमें और भी अनेक जरूरी चीजें मिलती हैं। उदाहरणार्थ सब तरह के विटामिन, जिनका हमें पता लग चुका है, या आगे चलकर लगेगा; हमारी जड़ी-बूटियाँ; विभिन्न बीमारियों की सैकड़ों औषधियाँ; कितने ही पौष्टिक पदार्थ; मेवे और मसाले; मधु और मिश्री; कितने ही मादक और प्राणघातक रस इन्हीं से तो मिलते हैं। अगर हम कमरे में बैठे-बैठे चारों ओर निगाह दौड़ाएँ तो देखेंगे कि लगभग सभी चीजें वनस्पति ही से हमें मिलती हैं। हमारी कलम, मेज, कुर्सी, दरवाजे, किवाड़, सभी तो इन्हीं से बने हैं। हमारे लिखने का कागज भी पेड़ों ही से बनता है। जिस समय लोगों ने लिखना सीखा, वे भोजपत्र और ताड़पत्र पर लिखने लगे। यही नहीं, आज कितने वर्ष बीत जाने पर भी हम लिखने के कागज के लिए पेड़-पौधों के ही अधीन हैं। हमारे बढ़िया-से-बढ़िया कागज भी फटे-पुराने चीथड़े और टाट तथा घास-बाँस से ही बनता है। तरह-तरह के रंग, रबर, लाख, तेल, इत्र, सुगंध आदि भी इन्हीं से मिलते हैं। इसके अलावा रस्सी, नकली रेशम, नाइट्रो-सेलुलोज आदि पदार्थ भी पेड़ों से ही मिलते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कितने ही पौधे हैं, जिन से आदमी और दूसरे जानवरों की व्याधियाँ पैदा होती हैं और कितने ही ऐसे हैं, जिनका हाथ हमारे व्यवसायों में है। इसलिए ऐसी वनस्पतियों की जीवनी और रहस्य का जानना हमारे लिए कितना जरूरी है, आप स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं!

यीस्ट

जिन्हें ताड़ी पीनेवाले करोड़ों की संख्या में हर घूट के साथ अपने उदर में पहुंचाते हैं। ये अति सूक्ष्म होते हैं।
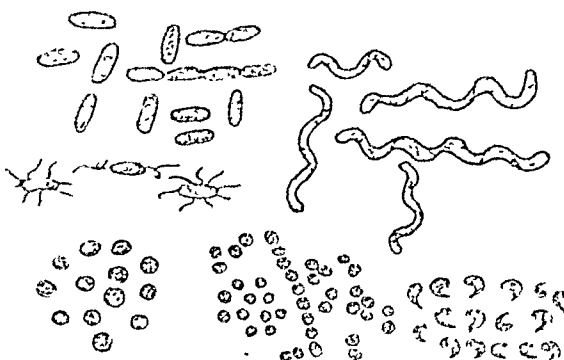
बैक्टीरिया

विविधरूपधारी ये एककोष्ठी अदृश्य जीव सभी जगह करोड़ों की संख्या में रहते हैं।

सजीव श्रौर निर्जीव का भेद

पतंग को हमें उड़ाना पड़ता है, वह पक्षियों की तरह अपनी इच्छा से नहीं उड़ सकती। उधर बिजली की चमक से मृगों का झुंड सहम जाता है, पर पानी आदि पर वैसा असर नहीं होता।

# प्राणि-जगत्

**चींटी से लेकर हाथी तक और तितली से गिद्ध तक विभिन्न रंग-रूप और आकार-प्रकार के कितने प्राणी प्रकृति ने अपने संग्रहालय में जुटाए है ! इस स्तंभ में इन्हीं का चित्र-विचित्र जुलूस आपको क्रमशः देखने को मिलेगा। किन्तु इसके पहले यह समझना जरूरी है कि प्राणी है क्या !**

पिछले स्तंभ में आप यह जान चुके है कि दुनिया मे दो ही तरह की चीजें है—सजीव अथवा निर्जीव। या यों कहा जा सकता है कि दुनिया दो भागो मे बँटी हुई है। इनमें 'सजीव' में पौधे, जानवर और मनुष्य तीनों ही आते है। इनमें से प्रत्येक जीव-जगत् का एक भाग है। परन्तु सुविधा के लिए उनका वर्णन अलग-अलग किया जाता है। पौधों का हाल आपको इसके पूर्व के स्तंभ 'पेड़-पौधों की दुनिया' में और मनुष्य का विवरण इसके आगे के स्तंभ 'हम और हमारा शरीर' में मिलेगा। इस भाग में हम मुख्यतया मनुष्य के अतिरिक्त अन्य सभी प्राणियो के जीवन का वर्णन करेंगे।

## प्राणि-शास्त्र की परिभाषा और उसके विभाग

इस स्तंभ में हमें हर प्रकार के जीवधारियों के विषय मे एक नियमबद्ध प्रणाली से अध्ययन करना है कि वे क्या है, क्या करते हैं, और जो कुछ करते है, उसे किस तरह करते है। यही अध्ययन 'प्राणि-शास्त्र' या 'जीवन-विज्ञान' कहलाता है। इसका उद्देश्य पाठकों के सामने जीवधारियों का एक पूर्ण चित्र उपस्थित करना होता है। यह शास्त्र न केवल प्राणियो के रंग-रूप, उत्पत्ति, आकार-प्रकार, बनावट, आचरण और उनके गुण ही बतलाता है, बल्कि उनके विकास का इतिहास भी बतलाता है। चूँकि पौधों और जानवरो का अलग-अलग विवरण अधिक उपयुक्त और सुविधा-जनक है, इसीलिए प्राणि-शास्त्र दो भागों मे विभक्त कर दिया गया है—(१) वनस्पति-शास्त्र या पेड़-पौधों का विज्ञान, और (२) जन्तु-शास्त्र या जीव-जन्तुओं का विज्ञान, जिसमे सच पूछिए तो मनुष्य भी सम्मिलित है, परतु चूँकि हम साधारणतया पशुओं के साथ स्वभावतः अपनी चर्चा पसन्द नहीं करते और हममें से कई लोग अन्य पशुओं से दूर का सम्बन्ध और निकट समता की बात भी आसानी से मानने को तैयार नही होते, इसीलिए मनुष्य के अध्ययन के लिए प्राणि-शास्त्र के तीसरे विभाग की आवश्यकता होती है।

यह हम सबके लिए वाछनीय है कि अन्य जीवधारियो के विषय में हम कुछ मनोरंजक बाते जाने। वह प्रत्येक व्यक्ति, जो इन पृष्ठों को पढेगा, इन बातो को जानने का इच्छुक होगा कि संसार में कितने प्रकार के जीव होते है, कहाँ-कहाँ वे सब रहते है, किस तरह इस सतत परिवर्तन-शील जगत् में वे रह पाते है और किस प्रकार अपना कर्त्तव्य-पालन करते है ? इस तरह का अध्ययन अधिकतर हमें न केवल जीवधारियो का स्वभाव समझने में ही मदद देता है, बल्कि यह भी देखने में सहायता करता है कि दुनिया में उनकी क्या उपयोगिता है।

भाँति-भाँति के प्राणियो और पेड़-पौधो का अध्ययन, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, मनुष्य-जाति के लिए बीमारियो से लड़ने और फसल की रक्षा करने में भी महान् लाभदायक सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त इस विभाग में दिए गए प्राणि-शास्त्र के साधारण पहलुओं से परिचय प्राप्त करना मानव-स्वभाव और मानव-इतिहास को अच्छी तरह समझने मे भी सहायक होगा, जिसे आप मनुष्य-सबधी अगले विभाग मे पढेगे। पिछले दिनों प्राणि-शास्त्र के अध्ययन को काफी महत्व प्राप्त हुआ है और आज हर विद्यार्थी से इस विषय में कुछ-न-कुछ पढने की आशा की जाती है। इसके सिद्धान्तो से परिचित होने से न केवल सारे जीवधारियों की समानता अनुभव करने में हमें सहायता मिलती है, बल्कि सुखी और सफल जीवन बिताने में भी मदद मिलती है।

## सजीव और निर्जीव का भेद

इसके पहले कि हम प्राणियों के विषय मे लिखें, यह उचित होगा कि साधारणतया जीवधारियो के सामान्य लक्षणो के सम्बन्ध में कुछ कहें और यह बतलाएँ कि निर्जीव की तुलना मे सजीव सृष्टि की क्या विशेषता है।

अगर आपसे पूछा जाय कि क्या आप सजीव और निर्जीव मे भेद कर सकते है, तो तुरन्त ही आप उत्तर देगे 'हाँ'। पर यदि आपसे यह पूछा जाय कि सजीव होता क्या है, तो कदाचित् आप सतोषजनक उत्तर नही दे सकेंगे।

आप कह सकते है कि सजीव पदार्थ का एक निश्चित और विशेष रूप होता है, यानी वह लम्बाई-चौड़ाई में एक निश्चित आकार में सीमाबद्ध होता है और उसकी बनावट में एक प्रकार की निश्चितता होती है। इसके विपरीत निर्जीव वस्तुओं की प्राकृत अवस्था ऐसी नहीं होती। उनका रूप अनिश्चित होता है, जैसे मिट्टी, लकड़ी, सोना, चाँदी आदि का। उदाहरण के लिए, पानी को ही लो। उससे एक बूंद पानी का भी ज्ञान हो सकता है और सारी झील या समुद्र का भी। माना कि कुछ प्राकृतिक चीजें ऐसी भी है, जो निर्जीव होते हुए भी एक निश्चित रूप और आकार की होती है। उदाहरण के लिए, चीनी या नमक के रवे, सूर्य और चन्द्रमा, आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। परन्तु बहुत थोड़े ही से निर्जीव प्राकृतिक पदार्थ इस प्रकार पृथक् रूप से पहचाने जा सकते है।

**सजीव और निर्जीव पदार्थों के वर्धन की तुलना**

(ऊपर) छोटे से बड़ी होनेवाली बिल्ली। (नीचे) लवणमिश्रित घोल में बढ़ती हुई नमक की डली।

आप यह भी कह सकते है कि सजीव पदार्थ बढ़ते हैं और निर्जीव नही बढ़ते। इसके जवाब में कहा जा सकता है कि क्या चीनी का रवा चीनी के सपृक्त घोल मे रखे जाने पर नही बढ़ता? यही बात कुछ शिलाखण्डों के बारे मे भी तो कही जा सकती है, जो कि पृथ्वी के नीचे ही नीचे बढ़कर छोटा या बड़ा आकार ग्रहण कर लेते है। यदि हम आम की गुठली से एक पतली शाखा को निकलते देखते हैं और उसी एक छोटे-से पौधे को अन्त में एक पूरे वृक्ष के रूप में बढ़ते हुए पाते है, अथवा एक पिल्ले को धीरे-धीरे बढ़कर एक दिन पूरे कुत्ते के बराबर हो जाते हुए देखते है तो हमें भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिए। ये दोनों प्रकार के बढाव और चीनी के रवे या पत्थर का बढ़ाव एक समान नही है। वस्तुतः इन दोनो प्रकार की बढ़ती में बहुत अंतर है। याद रहे कि चीनी के रवे की बढ़ती सतह पर अधिकाधिक नए पर्त का जमाव होने की वजह से ही होती है, जबकि छोटे पौधे या पिल्ले अपने शरीर के भीतर खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने पर ही बढ़कर पूरे डील-डौल के हो पाते है। अतएव हम कह सकते हैं कि जन्तुओ और पौधों का बढ़ाव जहाँ भीतर से होता है, वहाँ निर्जीव पदार्थो का बढ़ाव यदि होता है तो बाहर से।

फिर यह भी याद रखने की बात है कि प्रत्येक जीवित प्राणी आकार में जीवन भर नहीं बढ़ता रहता। उसकी बढने की शक्ति एक विशेष डील-डौल या विशेष अवस्था पाने पर समाप्त हो जाती है।

अब आप यह तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि जीवधारी चल-फिर सकते है, जब कि निर्जीव ऐसा नही कर सकते। जब हम घोड़े को सड़क पर दौड़ते हुए, चील को बादलों में मँडलाते हुए, एवं मछली को पानी मे तैरते हुए देखते हैं तो हम कहते है कि वे जीवधारी है। लेकिन जब एक रेलगाड़ी को अपने पास से तेजी से निकलते हुए, पतग को हवा मे ऊपर उड़ते हुए, अथवा नदी को अविरल गति से बहते हुए देखते है तो भला क्षण भर के लिए भी क्यों नहीं सोचते कि उनमें भी जीवन है? केवल इसीलिए न कि जीवित प्राणी और निर्जीव पदार्थों के चलने-फिरने में एक विशेष अन्तर होता है? जब पक्षी उड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है तो वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा ही से ऐसा करता है, लेकिन बादल यदि उड़कर जाते दिखाई देता है तो वह हवा की दिशा विशेष में हवा द्वारा ही संचालित होता है। इसी तरह इंजिन भी अपने रास्ते पर मनुष्य द्वारा संचालित भाप की शक्ति ही से परि-चालित होता है। फलत. हम देखते है कि जहाँ जीवधारी अपने आप चलते-फिरते है, वहाँ निर्जीव पदार्थ अन्य शक्तियों द्वारा ही संचालित होते है।

अन्त में आप कह सकते है कि जीवधारी को बाहरी प्रभाव की अनुभूति होती है, अर्थात् उनमें अनुभव करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए, जब कहीं दूरस्थ स्थान पर भी आकाश में बिजली चमकती है तो हमारी पलकें तुरन्त बन्द हो जाती है। किन्तु निर्जीव वस्तुओं को बन्दूक की तेज आवाज भी कदापि प्रभावित नही कर पाती। पर क्या आपने किसी ऐसे निर्जीव पदार्थ के बारे में नहीं सोच सकते है, जो कि बाहरी शक्तियों से प्रभावित होता हो? क्या आपने अपनी माँ-बहन को बरसात के दिनों में इस बात की शिकायत करते नही सुना है कि नमक गलकर पानी हो गया? चाहे कितना ही सूखा हुआ नमक क्यों न हो, बरसात में खुला हुआ रहने पर वह अपने आप नम हो जाता है, और
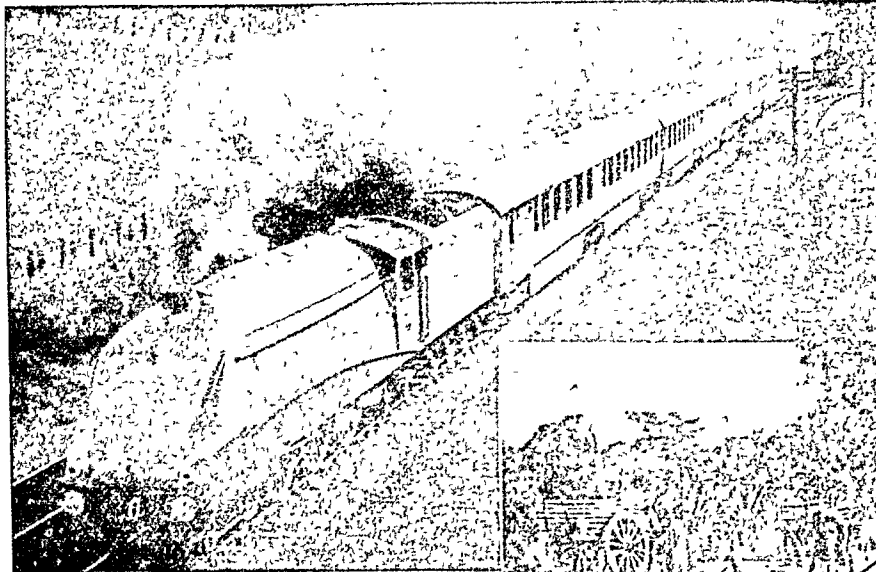
**सजीव और निर्जीव की गतिशीलता की तुलना**

आप इस चित्र के एक भाग में रेलगाड़ी को खींचनेवाले इंजिन और दूसरे में बैलगाड़ी में जुते हुए बैलों को गतिवान देखते है—किन्तु इससे सजीव और निर्जीव वस्तुओं में समानता नहीं सिद्ध होती। रेल का इंजिन यद्यपि दौड़ता है, परंतु वह बैलों की तरह आवश्यकता पड़ने पर अपनी निज की प्रेरणा या इच्छा से दौड़ या रुक नहीं सकता। सजीव और निर्जीव में यह एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है।

धीरे-धीरे गलकर वह लुप्त हो जाता है। ऐसा ही हाल बारूद का है, जो कोयले के एक जलते हुए टुकड़े से छू जाने पर तुरन्त ही भभक उठती है। परन्तु यहाँ पर भी सजीव और निर्जीव पदार्थ की अनुभूतियों में स्पष्ट अन्तर है। हम बिजली की चमक से अपनी आँख बन्द कर लेते हैं तो इसका कारण यह है कि आँखें चोट न खा जाएँ। और यदि हम अकस्मात् अपनी ओर किसी के द्वारा फेंके गए पत्थर को आते देख उसकी राह से हट जाते हैं तो सो भी इसीलिए कि अपने को चोट से बचावें। किन्तु नमक बरसात में खुला होने पर गलकर पानी होने से अपनी रक्षा नहीं कर सकता और न बारूद ही विस्फोटक वस्तु के संसर्ग से अपने को जलकर राख होने से बचा सकने में समर्थ है। वास्तव में वह ज्योंही जला नहीं कि उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

## जीवित पदार्थों में समता

इस तरह सजीव और निर्जीव पदार्थों में स्पष्टतः एक दूसरे से विभिन्नता है। पर साथ ही सजीव सृष्टि में समानता भी है और उसके बीच में जो एक बाँध-सा है, वह ऐसा नहीं है कि कभी टूट सके, चाहे देखने में सब प्राणी कितने ही अलग क्यों न प्रतीत होते हों। वह एक गुण ऐसा है जो संसार के सभी सजीव पदार्थों में मिलता है, परन्तु किसी निर्जीव पदार्थ में वह नहीं पाया जाता। वह गुण यह है कि उनका निर्माण विभिन्न ढंगों से होते हुए भी उनमें अपनी बनावट को जीवन की हर परिस्थिति के अनुसार बना लेने की शक्ति है। उदाहरण के लिए, विभिन्न परिस्थितियों में पैदा होनेवाले पौधों की पत्तियों को लीजिए। रेगिस्तानी पौधों की पत्तियाँ बहुत छोटी होती हैं, ताकि उनकी सतह पर से बहुत कम पानी भाप बनकर उड़ पाए और जो कुछ थोड़ा-बहुत पानी वे सूखी जमीन से पावें, वह भी उनकी भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बचा रहे। ऐसे पौधे जो झीलों के शान्त जल में होते हैं, जैसे कमल, आदि, उनके पत्ते बहुत चौड़े होते हैं और वे प्रायः पानी पर तैरा करते हैं। परन्तु ऐसे पौधे, जो सागर के अशान्त जल में रहते हैं, तेज हवा के झोंके सहनेवाले पेड़ों के पत्तों की तरह कटे हुए पत्तेवाले नहीं होते। वे चमड़े की तरह चीमड़ भी होते हैं, ताकि लहरों के धक्कों से वे आसानी से फट न सकें। पशुओं में तो अपने को परिस्थिति के अनुसार बना लेने के पर्याप्त उदाहरण पाए जाते हैं। मेंढक के बच्चों के (जो पानी में पैदा होते हैं) शुरू में मछलियों की तरह पानी में साँस लेने के लिए गलफड़े होते हैं और तैरने के लिए चौड़ी दुम होती है। किन्तु जब वे बड़े हो जाते हैं और स्थल पर रहने लगते हैं तब उनकी दुम नष्ट हो जाती है और उसके बजाय कूदने के योग्य अंग निकल आते हैं तथा गलफड़े की जगह भी साँस लेने के लिए फेफड़े बन जाते हैं। एक और अच्छा उदाहरण दाँतों का है। गाय, घोड़े, बकरी आदि वनस्पति-भोजी जानवरों के दाँत तो चौड़े होते हैं और उनकी कुचलनेवाली सतह नीची-ऊँची होती है, ताकि मुलायम वनस्पतियों को वे कुचलकर चबा सकें। लेकिन शेर, कुत्ते, बिल्ली आदि मांसाहारी जानवरों के दाँत बहुत मजबूत, पतले और नुकीले होते हैं, जिससे कि वे मांस को सहज में चीर-फाड़ सकें और हड्डियों तक को चबा सकें। इसी तरह के अनेकों उदाहरण पौधों और पशुओं के दिए जा सकते हैं, जिससे प्रकट होता है कि जिन विभिन्न परिस्थितियों में उन्हें रहना होता है, उसी के अनुसार उनकी बनावट भी बदल जाती है। या यों कहिए कि उनमें यह शक्ति पाई जाती है कि वे अपने आपको उसी परिस्थिति के योग्य बना लेते हैं, जहाँ वे रहना चाहें या जहाँ उन्हें रहना पड़े। यह बात किसी निर्जीव पदार्थ के बारे में तो नहीं कही जा सकती।

तो लो, हमने सजीव और निर्जीव की समानता-असमानताओं के बारे में बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त कर ली। और अब केवल सजीव पदार्थों की ओर ही हमें ध्यान देना है और देखना है कि हम वनस्पति, जानवर और मनुष्य में कैसे भेद कर सकते हैं।

## वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं में भेद

हम पहले कह चुके हैं कि पौधे और जानवर दोनों जीवधारी हैं; और एक मुर्दा तथा जिंदा पेड़ या फूल में भेद करना उतना ही आसान है, जितना एक मृत और जीवित पशु में। किन्तु अब देखा जाय कि जीवित पौधे और पशु में भी भेद कर सकना सदा सम्भव है कि नहीं? आप एक आम के पेड़ को देखते हैं और उसे वनस्पति कहते हैं और उसी पेड़ के नीचे चरती हुई भैंस को जब देखते हैं तो उसे पशु कहते हैं। लेकिन जरा हमें यह बताइए कि अपनी शक्ल-सूरत के अतिरिक्त भला वे दोनों और किस तरह से भिन्न हैं? आम का पेड़ जिस प्रकार लम्बाई-चौड़ाई में बढ़ता है, अपने भीतर खाना और पानी खींचता है और बीज पैदा करता है (जिनसे कि उसी की तरह के और पौधे उगते हैं), उसी प्रकार भैंस भी तो अपने आस-पास के पेड़-पत्तों को खाकर बड़ी होती है और सन्तान

उत्पन्न करती है। यदि आप यह कहें कि भैंस चल-फिर सकती है, जब कि पेड़ में यह शक्ति नहीं है तो वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि बहुतेरे पेड़ों में भी चलने की शक्ति होती है। वे प्रकाश और धूप की ओर झुकते हैं या सहारे के चारों ओर घूमते हैं, जैसे कि गुलाब, चमेली या सेम की बेलें। और छुई-मुई या लाजवंती की तरह के पौधे तो एक अर्थ में चेतना और इच्छा भी रखते हैं। फिर भी पौधे जानवरों से भिन्न क्यों माने जाते हैं?

बात यह है कि पौधों की गति अधिकतर पशुओं के चलने-फिरने के समान नहीं होती। मेढक, मछलियाँ, साँप, तोते, ऊँट, बन्दर और आदमी जैसे जीवधारी इच्छा के अनुसार इस जगह से उस जगह अपना स्थान-परिवर्तन किया करते हैं। इसके विपरीत केला, नीम और बरगद जहाँ उपजते हैं, वहीं स्थिर रहते हैं। वे अपनी इच्छा के अनुसार स्थान का परिवर्तन नहीं कर पाते हैं।

**क्या यह कोई फूल-पत्तियों की मनोहर झाँकी है, जिसे गुलदस्ते की तरह पात्र में सजाया गया है?**

जी नहीं, यह वनस्पति-रूपधारी एक कपटी समुद्री जीव है!

किन्तु इससे यह न समझो कि संसार के सभी जीवधारी ऊपर बताए गए प्राणियों की तरह एक जगह से दूसरी जगह आने-जाने में समर्थ हैं। उदाहरणार्थ, समुद्री पिचवके (एनीमोन्स), मूंगे (कोरल्स), स्पंज जैसे प्राणी तथा अन्य कई जंतु हैं, जो चट्टानों पर या पानी के नीचे अन्य पदार्थों में जमे रहकर ही पौधों की तरह अपना जीवन एक जगह बिताते हैं। इसी तरह बहुत-सी छोटी-छोटी वनस्पतियाँ ऐसी भी हैं, जो एक जगह जमी नहीं रहतीं वरन् पानी पर तैरा करती हैं। इसलिए वास्तव में अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि जीव-जन्तुओं का बहुत बड़ा भाग इच्छानुसार चल-फिर सकता है, परन्तु वनस्पतियाँ बहुत कम ऐसी मिलती हैं, जो ऐसा कर सकें। ऊपर उल्लिखित जो स्थाई शाखायुक्त जन्तु देखने में पेड़ों की भाँति प्रतीत होते हैं, वे हमारे देश के संग्रहालयों या प्रयोगशालाओं में प्रायः देखे जा सकते हैं। उनमें से एक जीव 'एनीमोन'
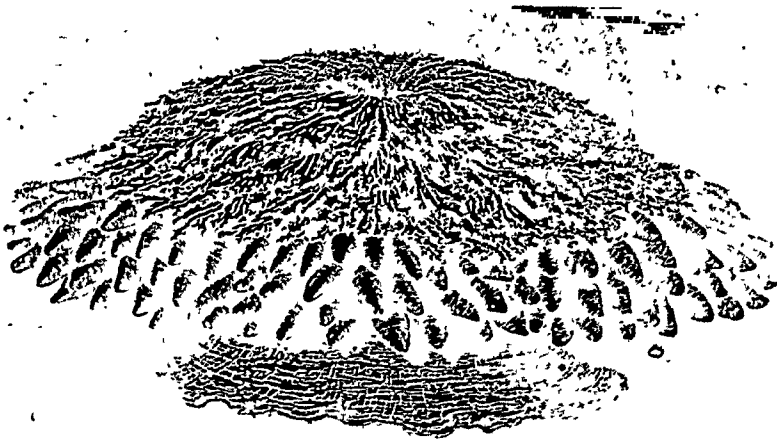
**इसे भी आप कहीं सूरजमुखी का फूल न समझ बैठिएगा!**

यही है 'एनीमोन', जो देखने में पुष्प-जैसा लगने पर भी वस्तुतः एक कपटवेशधारी समुद्री जानवर है!

जो समुद्र के तल में रहता है और वनस्पति की तरह एक स्थान पर स्थिर रहता है, पिछले पृष्ठ पर दिए गए चित्र में प्रदर्शित है। ऊपर जिन वनस्पति जैसे जन्तुओं का उल्लेख किया गया है, वे न केवल पेड़ों की तरह बढ़ते और अपनी शाखाएँ ही फैलाते है, वरन् उनमे से कई नष्ट हुए बिना ही टुकड़ों में काटे भी जा सकते है! ठीक वैसे ही जैसे एक बडे आलू के टुकड़े करके बोने से हर एक टुकड़े से एक नया पौधा उग आता है, जीवित स्पंज के कटे टुकड़े भी यदि समुद्र मे बिखेर दिए जायँ तो बढ़कर वे पूरे स्पंज में विकसित हो जाते है! जैसे कि गुलाब या नीम की डालियों को काटने पर भी उनमे से नई टहनियाँ निकलती रहती है और पौधा बढा करता है, उसी तरह छिपकली की भी दुम कट जाने के बाद प्राय: फिर से बढ़ जाती है! इस तरह हम देखते है कि केवल ऊँची जाति के पशु और पेड़ ही सरलतापूर्वक एक दूसरे से भिन्न करके पहचाने जा सकते है। नीची जातियों मे—जो बिलकुल ही छोटी है या इतनी सूक्ष्म है कि आँखो से देखी भी नही जा सकती—भेद अधिक नही है। और अत्यधिक निम्न कोटि की जातियों में तो यह भेद केवल नाममात्र के लिए ही या नही के बराबर है। उनके बारे में तो यह कहना भी कठिन है कि वे दरअसल वनस्पति है या जंतु!

वनस्पति और जानवरों के भोजन ग्रहण करने के ढगों में भी एक स्पष्ट अन्तर है। दोनो ही को जीने और बढ़ने के लिए कार्बन और नाइट्रोजन नामक तत्त्वों की आवश्यकता होती है, परन्तु वे उसे प्राप्त करते हैं विभिन्न रीतियो से। वनस्पति अपना कार्बन पत्तो से श्वास द्वारा गैस के रूप में हवा में मिली हुई कार्बन डाइआक्साइड से प्राप्त करते है। इसके बाद अपने हरे रंगवाले पदार्थ 'पर्णहरिम' (क्लोरोफिल) की सहायता से सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में वे उसे अपने तन्तुओ में विषम यौगिकों के रूप मे परिवर्तित कर लेते हैं। वनस्पति को नाइट्रोजन की जितनी आवश्यकता होती है, वह पृथ्वी के नाइट्रेट से मिलती है। यह नाइट्रेट पृथ्वी के अन्दर पानी में घुला हुआ रहता है और पेड़-पौधे उसे अपनी जड़ों द्वारा अपने मे खीच लेते हैं। जानवर अपना कार्बन और नाइट्रोजन सीधे पृथ्वी से प्राप्त नही कर सकते। वे उसे शाक या मास के आहार के रूप मे ही पाते है, जो कार्बन और नाइट्रोजन के बने-बनाए यौगिक है। हम लोग या तो गेहूँ, चना, बाजरा जैसे अनाज, या अंगूर, सतरे, केले, आम जैसे फल अथवा भाँति-भाँति के शाक आदि खाते हैं। इन चीजों के लिए हम पौधो पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त दूध या शहद की तरह के पदार्थों के लिए हमें जानवरों पर भी निर्भर होना पड़ता है। इसी भाँति से अन्य पशु भी अपने खाने के लिए पौधों पर या ऐसे जानवरों पर निर्भर है, जो स्वयं वनस्पतियों पर अपना निर्वाह करते है।

## मनुष्य और अन्य जीवों में अन्तर

अब मनुष्य तथा अन्य जीवो के भेद के बारे मे कुछ विचार किया जाय। वस्तुत: मनुष्य और अन्य जानवरो मे भोजन और भोजन करने के ढंग मे वैसा विशेष अन्तर नही है, जैसा कि जानवरों और पेड़-पौधो में पाया जाता है। बन्दर, गाय, कुत्ते और तोते सभी उनमें से अधिकाश चीजो को खा सकते है, जिन्हें हम खाते है। और भी बहुत-सी अन्य बातों में वे हमारे जैसा ही आचरण करते है। यदि वे एक चीज को पसन्द करते है और दूसरी को नापसन्द। वे एक चीज की खोज में, रहते है और दूसरी से बचते रहते है। दूसरे शब्दो मे, मनुष्यों की तरह ही उनमें भी अनुभूति, चेतना और इच्छा होती है। जानवर पालनेवाला प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि वे मूक प्राणी भी सुख-दुःख का अनुभव करते है। ऐसे पक्षी और जानवर, जो स्वतंत्र ही रहना पसन्द करते है, कैद किये जाने पर कभी-कभी दुःख से मर भी जाते है।

तब क्या ऐसी भी कोई चीज मौजूद है, जो हममें और हमारे पशु-साथियों में भेद कर सके? यह सच है कि बहुत-से काम, जो हम कर सकते हैं, पशु नही कर सकते। पर साथ ही यह भी सच है कि कई काम ऐसे भी हैं, जिन्हे वे कर सकते है और हम नहीं कर पाते। चिड़ियाँ बिना किसी यन्त्र की सहायता के कैसे उड़ती है! उनमें से कई तो लगातार घंटो तक उड़ सकती है और थकती ही नहीं! इसके विपरीत हम लोगों का दम इसी ठोस पृथ्वी पर थोड़ी-सी दौड़ लगाने पर ही फूलने लगता है। बन्दर एक छत से दूसरी छत पर, एक डाली से दूसरी डाली पर, आसानी से कूद जाता है। पर मनुष्य यह नही कर सकता। यहाँ तक कि नन्ही मकड़ी तक ऐसा जाला बुन सकती है, जो मनुष्य के आज तक के कौशल द्वारा बनाए हुए किसी भी सूत से बढकर होता है। किन्तु उन बड़े बन्दरो के अतिरिक्त, जो कि आदमी के सम्पर्क में रहते हैं, अन्य बड़े से बड़े जानवर भी इतने विवेकशून्य है कि वे उचित और अनुचित का भेद नही जानते। उनमे चेतना है, पर निर्णयात्मक बुद्धि नहीं। कदाचित् अधिकांश जानवरों और मनुष्य में यही प्रमुख भेद हो।

दूसरा और अंतिम भेद मनुष्य में भाषण-शक्ति का महान् विकास है। सारे जंतु-जगत् में मनुष्य को ही प्रकृति से प्राप्त यह विशेष देन है। यह सच है कि प्रकृति ने पशुओं, पक्षियों, यहाँ तक कि छोटी-छोटी चीटियों को भी अपनी-अपनी बोली दी है। किन्तु मनुष्य की बोली और अन्य पशुओं की बोली में एक विशेष अंतर है। पशुओं को कुछ गिने-चुने स्वर ही प्रकृति से प्राप्त हुए है और वे उन्हें ही बार-बार दोहराया करते हैं। यह कहना कठिन है कि उनकी बोली में कोई अर्थ भी रहता है या नहीं। पर मनुष्य की भाषा का निरंतर विकास होता रहा है और देश-देश में उसका नया-नया रूप प्रस्फुटित हुआ है। इस भाषा के वरदान की ही बदौलत मनुष्य को प्रकृति से अपने विचार व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त हुई है। कदाचित् इसी देन की बदौलत मनुष्य मनुष्य बना है।

# जीवधारियों की मौलिक रचना या जीव-द्रव्य

**प्रकृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बाहरी रूप-रंग में विविधता होते हुए भी उसके समस्त पदार्थों के मूल में एक ही तत्त्व विद्यमान है। इस प्रकरण में हमें देखना है कि वह कौन-सा तत्त्व है, जिसकी नींव पर सारे सजीव पदार्थों की सृष्टि हुई है।**

यह बतलाया जा चुका है कि सजीव वस्तुएँ क्या है और सजीव तथा निर्जीव में क्या भेद है। अब हम आपका ध्यान उन मुख्य पदार्थों की ओर ले जाना चाहते है, जिन पर सभी जीवधारियों की रचनाएँ निर्भर है और जिन्हें हम उनके मूल आधार कह सकते हैं।

## जीव-द्रव्य क्या है

नन्हे से काई के पौधे से लेकर बड़े-से-बड़े वृक्ष तक तथा छोटे-से-छोटे पतिंगे से लेकर हाथी जैसे बड़े जानवरों एवं स्वयं मनुष्य तक के शरीर में एक अनोखा पदार्थ पाया जाता है, जिससे उनका अधिकांश भाग बनता है। इस

**जीवधारियों की कोशिकाओं की रचना का एक उदाहरण**

यदि आप इस बात का प्रत्यक्ष दृश्य देखना चाहते है कि जीवित शरीर में कोशिकाएँ बिना किसी सहारे के किस प्रकार एकत्रित—सब मिली हुई परंतु फिर भी अलग-अलग—रहती है तो एक बर्तन में साबुन का गाढ़ा घोल बनाकर पतली नली से फूँकिए। सारा प्याला झाग के कारण उठे हुए साबुन के गुब्बारों जैसे गोलाकार बुलबुलों से भर जायगा, जिनकी भित्तियाँ एक-दूसरे से कोठरियों की तरह जुड़ी हुई होंगी। शरीर की कोशिकाएँ भी प्रायः इसी प्रकार की होती हैं।
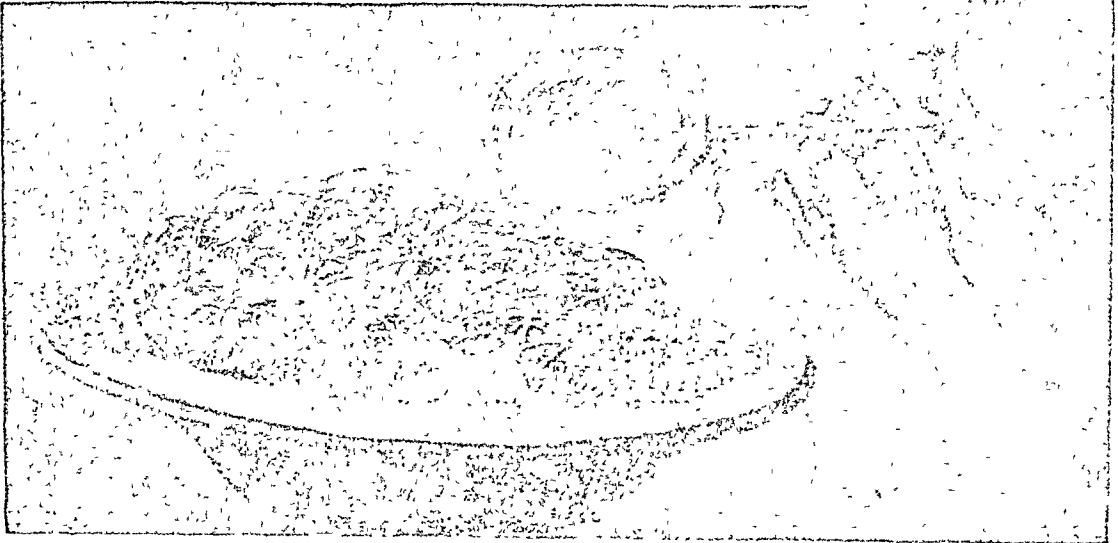
विचित्र पदार्थ में, जिसे **'जीव-द्रव्य'** या 'प्रोटोप्लाज्म' कहा जाता है, जीवित शरीर के सब लक्षण पाये जाते हैं। यही वह तत्व है, जो बढ़ता है। यही वह पदार्थ है, जो हिलता-डोलता है। यही वह द्रव्य है, जो उत्तेजना पैदा करता है। जीवन कभी जीव-द्रव्य से पृथक् नहीं रह सकता और न जीव-द्रव्य जीवन से।

यह पदार्थ किसी भी मामूली सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र से देखे जाने पर लसदार, चिपचिपा, अंडे की सफेदी या शहद की तरह गाढ़ा नजर आता है। किन्तु अधिक शक्तिशाली यन्त्र मे यह पदार्थ दानेदार दिखाई देता है और कभी-कभी उसमे बहुत-से छोटे-छोटे बुलबुले भी दिखलाई पडते हैं या उसमे बहुत महीन एक जाल-सा बना हुआ ज्ञात होता है। ध्यान देने की बात है कि सभी प्राणियो और वनस्पतियो मे यह जीव-द्रव्य हर बात मे बिल्कुल एक ही सा जान पड़ता है और सबमे अत्यंत छोटे-छोटे टुकडों या कणो मे परस्पर भिल्ली या भित्तिकाओ से यह बँटा हुआ रहता है। जीव-द्रव्य के इन झिल्ली से घिरे हुए नन्हे-नन्हे टुकड़ो को 'सेल' या **'कोशिका'** कहते हैं, क्योंकि देखने में ये शहद की मक्खी या बर्र के छत्ते की कोठरियों-सी लगती हैं। प्रत्येक कोशिका स्वयं एक छोटी-सी सजीव वस्तु है। यदि आप इस बात का प्रत्यक्ष दृश्य देखना चाहते हैं कि जीवित शरीर में बहुत-सी कोशिकाएँ या कोठरियाँ बिना किसी सहारे के किस प्रकार एकत्रित—अर्थात् सब एक दूसरे से मिली हुई परन्तु फिर भी अलग-अलग—रहती है, तो एक बर्तन में साबुन का गाढा घोल बनाकर पतली-सी नलिका से उसे फूँकिए। आपको प्याले मे झाग उठते हुए दिखलाई देंगे और सारा प्याला साबुन की छोटी-छोटी गोलाकार कोठरियों से भरा हुआ दृष्टि-गोचर होगा। बस बहुत-कुछ यही झाँकी कोशिकाओं की भी समझिए, यद्यपि उनकी रचना इनसे भिन्न है।
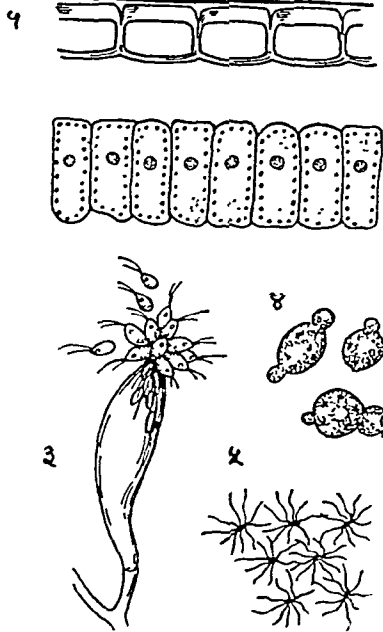
**वनस्पतियों में मिलनेवाली कोशिकाओं में से पाँच प्रकार के नमूने**

(१) पत्ती की त्वचा या ऊपरी खाल की कोशिकाएं। इनकी बाहरी भित्तिकाएँ मोटी होती है। (२) स्तंभाकार कोशिकाएँ, जैसे पत्ती के बीच के भाग में होती हैं। (३) टाइफाइड ज्वर की शलाकाणु कोशिकाएं, जो गति कर सकती हैं। (४) पानी की काई की स्पोर-कोशिकाएं। (५) खमीर बनानेवाली वनस्पति कोशिकाएँ, जिनमें से कोपलें फूटती हुई दिखाई दे रही हैं।

## नाना प्रकार की कोशिकाएँ

कोशिका में जीव-द्रव्य उस सरल रूप से कदापि नहीं भरा होता है जैसे कि प्याले या गिलास में चाशनी, शहद या और कोई गाढा द्रव पदार्थ भरा रहता है। वह तो बड़े विचित्र ढंग से प्रत्येक गोले मे सजा हुआ रहता है और जब तक कि कोशिका में प्राण रहते है, वह उसमे निरंतर गति करता रहता है। हम सहज में सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा कुछ जल मे रहनेवाले वनस्पतियो की कोशिकाओ मे और विशेषकर जल-निवासी एक-कोष्ठी अदृश्य प्राणी अमीबा या पेरामीसियम मे इसका दृश्य देख सकते हैं। इसी तथा अगले पृष्ठ पर जानवरो और पौधो के भिन्न-भिन्न भागो की कोशिकाओं के जो चित्र दिए गए है, उन्हे देखकर आपको ज्ञात हो जायगा कि प्राणियों और वनस्पतियों की सब कोशिकाएँ न तो एक नाप की ही होती है और न एक रूप की ही। यदि कोई सुडौल गोलाकार है तो कोई छः पहलवाली। कोई डिबिया या बक्स के समान लम्बी चौकोर है, तो किसी का आकार टेढ़ा-मेढ़ा और चारों ओर नुकीला है। किसी मे रोयें है तो किसी में नहीं। किसी की भित्ति या त्वचा मोटी है तो किसी की पतली। किसी मे भाँति-भाँति के ठोस पदार्थ भीतर तैरते हुए हमें साफ दिखलाई पडते है, तो किसी मे वे बहुत कम या बिलकुल ही नहीं होते। किसी के द्रव पदार्थ मे बड़े और किसी में छोटे बुलबुले झलकते नजर आते हैं।

अधिकांश कोशिकाओं के बीचो-बीच मे अथवा एक ओर को जीव-द्रव्य का एक छोटा-सा भाग अधिक गाढा और दृढ होता है। इसके चारों ओर अपनी एक अलग ही कोमल झिल्ली मढ़ी रहती है, मानों एक बड़ी-सी गेंद के अन्दर बहुत-सी छोटी-सी गेंदे रखी हुई हों। पारदर्शक होने के कारण कोशिका के इस अंश को शेष जीव-द्रव्य से पहचानना उतना सुगम नहीं। परन्तु जब कोशिका को उचित रंगों से रँगा

जाय तो वह गाढा अंश आस-पास के 'कोशिका-द्रव्य' (साइटोप्लाज्म) से चटक हो जाता है और तब सूक्ष्मदर्शक यंत्र में देखने से उसका साफ पता लग जाता है। इस दृढ अंश को 'नाभिक' (न्यूक्लीअस) कहते हैं। यह कोशिका का राजा है और इसमें पथप्रदर्शन की शक्ति पाई जाती है, मानों यह कोशिका-रूपी कारखाने का कर्त्ता-धर्त्ता हो और जो कुछ उसमें क्रिया-कर्म होते है, उनकी देख-भाल का भार इसी पर हो!

बहुधा वनस्पतियों की कोशिकाभित्ति जानवरों की कोशिकाभित्ति से कुछ-न-कुछ भिन्न होती है। वनस्पति कोशिका-में भित्ति बहुत निश्चित-सी होती है और वह सेलूलोज नामक वस्तु की बनी होती है, जो जीव-द्रव्य से अधिक दृढ होता है। परन्तु उसकी बनावट मे नाइट्रोजन के सिवा सब पदार्थ वे ही है, जो जीव-द्रव्य में पाए जाते हैं। लकड़ी, नारियल के खोपडे, अखरोट के छिलके और बेर की गुठली बहुत मोटी भित्ति की कोशिकाओं से बनी होती है। इनके भीतर-भीतर भी एक समय जीव-द्रव्य भरा था, जो भित्ति को कड़ा और मोटा बनाने में चूक गया। यही कारण है कि देखने में ऐसी सब वस्तुएँ और उनकी कोशिकाएँ ठोस मालूम पड़ती है। अधिकांश जानवरों की कोशिकाओं में सेलूलोज की भित्तियाँ नहीं पाई जाती, किन्तु उनमे उसकी जगह कोशिका-द्रव्य की ऊपरी तह कड़ी हो जाती है और भित्ति का काम देती है। किन्तु कुछ जानवरो में भी कभी ऐसी कोशिकाएँ पाई जाती है, जिनमें सेलूलोज की भित्तियाँ होती है।

**जानवरों की कोशिकाओं के पांच प्रकार के नमूने**

[१] चपटी पहलदार कोशिकाएं, जो पेट के भीतरी अंगों को मढ़नेवाली झिल्ली में पाई जाती है, [२] अस्थि बनानेवाली कोशिकाएं, [३] चर्बी में पाई जानेवाली कोशिकाए, जिनमें बीच में चर्बी का बिन्दु दिखाई पडता है [ ४ ] वायु-प्रणाली की भीतरी दीवार की महीन रोएंदार कोशिकाए, [ ५ ] नाड़ी और मस्तिष्क की नुकीली कोशिकाएं, जिनकी नोकों से लम्बे तार निकले रहते हैं।

यदि जीव-द्रव्य एक प्रकार का अर्द्ध-द्रव पदार्थ है, जो साधारण रीति से महीन झिल्लीवाली कोशिकाओं में भरा होता है, तब क्या यह आश्चर्य की बात नही है कि कैसे बड़े डीलवाले पौधे या जीव सीधे चट्टान की तरह दृढ खड़े रहते है! यह बात आपको असम्भव जान पड़ती होगी, परन्तु आगे चलकर आपकी समझ मे आ जायगा कि ऐसा कैसे होता है। बाजारो में बिकनेवाले रबड के गुब्बारे कोशिकाओं की ही तरह बहुत महीन झिल्ली के बने होने पर भी फूँकने मे फूल जाते है और मुँह बाँध देने पर अपना रूप बनाए रखते है। इनमें से कोई गोल, कोई लौकी जैसे लम्बे, कोई नासपाती के आकार के होते है और जब तक उनमें हवा भरी रहती है, तब तक वे अपना निश्चित आकार बनाये रखते है। भीतर भरी हुई हवा के दबाव के कारण ही इन गुब्बारो की नर्म झिल्ली फूली रहती है और जितनी ही हवा अधिक भरी जाती है, उतना ही गुब्बारा अधिक कड़ा हो जाता है।

इसी प्रकार कोशिकाओ में भरे हुए जीव-द्रव्य के प्रभाव से उनकी भित्तियाँ उचित रूप मे फूली रहती है और वे अपना निश्चित रूप और कड़ापन स्थिर रखती है। जहाँ इसके अतिरिक्त अधिक सहायता की आवश्यकता होती है,

वहाँ शारीरिक कोशिकाएँ स्वयं निर्जीव पदार्थों से अपने लिए यथार्थ सहायक ढाँचा या चौखटा वना लेती हैं।

जब हमारी दृष्टि किसी जीवधारी पर पड़ती है, तो हमें केवल कोशिका-भित्तियाँ ही दिखाई देती हैं, जिनसे कि वह वना है; हमे जीव-द्रव्य नही दिखाई देता। वड़े जानवरो और पौधों मे शरीर के ऊपरी पर्त (जैसे मनुष्य की त्वचा, पेड़ों की छाल और घोडे की खाल) की कोशिकाएँ इस दृष्टि से मृत कही जा सकती है कि उनमें जीव-द्रव्य नही रह जाता, केवल भित्ति ही अवशिष्ट रह जाती है।

### कोशिकाएँ कैसे वढ़ती हैं?

हाथी, साँप, मक्खी, आम, गुलाव के पौधे अथवा अन्य किसी भी वनस्पति या जानवर के शरीर के किसी भी भाग से आप एक पतली फाँक उतार लें और सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से उसे देखें। आप उसे ऐसी ही असंख्य कोशिकाओ से भरा पाएँगे। अतः वे हमारे शरीररूपी मकान की ईंटें और खपड़े-जैसी है अथवा हम उन्हे समस्त जीवित वस्तुओं का आधार कह सकते हैं। हम उन्हे जीवन की इकाई कहे तो अनुचित न होगा। परन्तु शारीरिक कोशिकाओ और मकान की ईंटो मे एक भेद है। वह यह है कि ईंटो और खपड़ों को एक के ऊपर दूसरा जोडने से मकान वनाया जाता है, लेकिन जीवों के शरीर कोशिकाओ को जमा करने से नही वन सकते; यहाँ तो शरीर ही नित्य नई कोशिकाएँ वनाता रहता है। नाना प्रकार का भोजन, जो जीवधारी ग्रहण करते हैं, उनके शरीर में पहुँचकर वदलकर धीरे-धीरे नया जीव-द्रव्य वन जाता है। इस तरह जीव-द्रव्य की मात्रा मे वृद्धि होती है और कोशिका का कलेवर वढ़ता जाता है। यदि यही क्रिया अनवरत चलती रहे, तब तो कोशिका थोडे समय में वहुत वडी हो जायगी। प्रकृति ने ऐसा होना उचित नही समझा। इसलिए जव कोशिका अपना स्वाभाविक नियुक्त डील प्राप्त कर लेती है, तो उसका नाभिक दो भागो में विभाजित होकर अपने आस-पास के जीव-द्रव्य को भी वाँटने लगता है। दोनो के वीच मे एक नई भित्ति वन जाती है और वडी कोशिकाओ से दो छोटी-छोटी कोशिका उत्पन्न हो जाती है। ये नई कोशिकाएँ भी पहले की भाँति वढती है, और अपने समय पर नँट-कर दो-दो हो जाती हैं। इसी प्रकार कोशिकाओ की संख्या और उनका समूह वढने मे जीवो के अग और शरीर क्रमशः वढते चले जाते हैं।

साधारण कोशिका का वढ़ाकर दिखाया गया चित्र जिसमें उसके मुख्य भाग दिग्दर्शित है।

अधिकतर जानवर और पौधे जो हम देखते हैं, उनमे कोशिकाओ की संख्या अनिश्चित होती है। उनकी संख्या प्रत्येक व्यक्ति के डील के अनुसार कम या ज्यादा होती है। परन्तु संसार मे ऐसे भी पेड-पौधे और जीव-जन्तु है, जिनमें कोशिकाएँ वहुत थोड़ी और निश्चित होती है। सवसे सादे प्राणियों के शरीर केवल एक ही कोशिका के वने होते है। ये इतने छोटे होते है कि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता के विना मनुष्य के लिए ये विल्कुल अदृश्य है। परन्तु कुछ ऐसे भी है, जिनका कोरी आँख से पता लग जाता है। ऊँची श्रेणी के समस्त प्राणियो का जीवन दो आधारों पर रचा गया है। प्रत्येक कोशिका अपना अलग-अलग कर्त्तव्य पालन करते हुए भी ऐसा प्रवन्ध करती है कि अन्य कोशिकाओ से हिलमिलकर वे प्राणी के जीवन को स्वस्थ और स्थिर रखती हैं। मनुष्य-जैसे जटिल प्राणी भी अपने जीवन की यात्रा वस्तुतः एक ही कोशिका से आरम्भ करते हैं। अतः हम वेखटके कह सकते
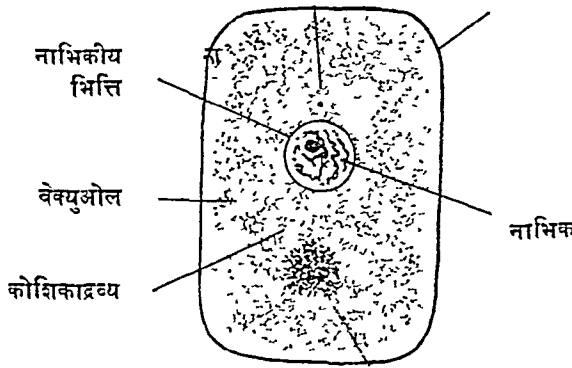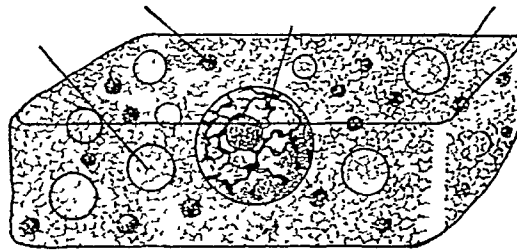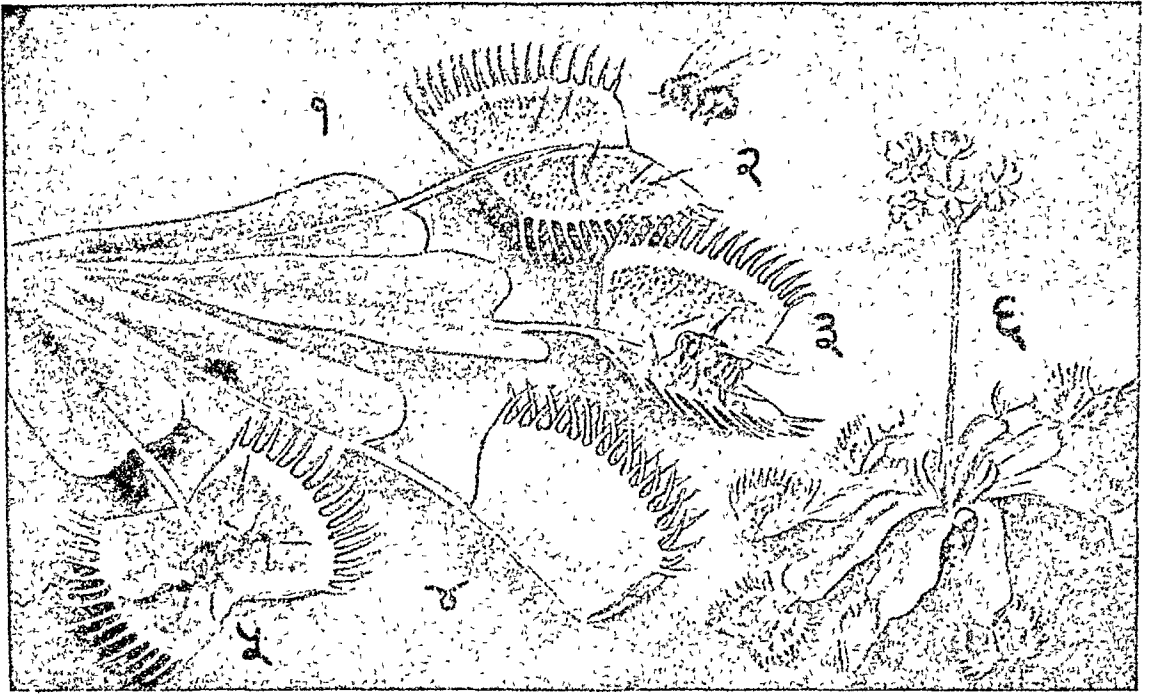
**एक जीवभक्षी पौधा**

'वीनस फ्लाइ ट्रेप' नामक इस पौधे की पंखड़ियों में जुड़े हुए पत्रों की तरह दो भाग होते हैं, जिनके कटावदार किनारों पर रोएं होते हैं। ये पंखड़ियाँ सामान्य दशा में खुली हुई रहती हैं ( दे० नं० १ )। किन्तु ज्योंही कोई मक्खी या पतिंगा इनके समीप पहुँचता है ( दे० नं० २ ) और इनमें से किसी पंखड़ी पर आकर बैठता है ( दे० नं० ३ ), त्योंही ये एकदम बन्द हो जाती हैं और दोनों किनारे के रोएं एक-दूसरे में फंस जाते हैं ( दे० नं० ४ )। फलतः मक्खी उसमें बन्द हो जाती है। जब पौधा अपने विशेष अंगों द्वारा उस मक्खी में से आहार-तत्त्व खींच लेता है, तब पंखड़ियाँ फिर खुल जाती हैं और मक्खी का शव रह जाता है ( दे० नं० ५ )। दाहिनी ओर नं० ६ में पूरा पौधा अलग से दिखाया गया है।

है कि ऐसा कोई भी जीवधारी नहीं है, जो किसी-न-किसी समय एक कोशिका की अवस्था में न रहा हो।

## शरीर में कोशिकाओं का प्रबन्ध

जिस प्रकार हम किसी नगर या बस्ती को एक निश्चित ढंग से मोहल्लों या बाजारों में बांटते हैं, उसी प्रकार प्रकृति ने भी बहुकोष्ठी प्राणियों के शरीरों की कोशिकाओं को भिन्न-भिन्न समूहों में बांट दिया है और उनके कर्त्तव्य अलग-अलग निश्चित कर दिए हैं। उचित ढंग से सजाई हुई प्रदर्शनी और मेले में हम देखते हैं कि एक तरह की चीजें बेचनेवाली दूकानें प्रायः एक ही पंक्ति में या एक ही जगह होती हैं। कपड़े बेचनेवालों की दूकानें एक स्थान में, बिसातियों की दूसरे स्थान में और हलवाई तथा अन्य खाने-पीने की दूकानों का प्रबन्ध तीसरी जगह पर रक्खा जाता है। प्रायः बड़े नगरों में भी एक ही प्रकार की बहुत-सी दूकानें एक ही जगह पर या एक बाजार में रहती हैं; जैसे, सब्जीमण्डी में तरकारी, अनाज की मण्डी में अनाज और ठठेरे बाजार में बर्तन ही बिका करते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर में भी भिन्न-भिन्न काम करनेवाली कोशिकाएँ भिन्न-भिन्न समूहों में एकत्र हैं। हर समूह में अधिकतर एक ही सी कोशिकाएँ होती हैं और उनका एक विशेष काम होता है। ये समूह 'तन्तु' ( टिश्यू ) कहलाते हैं। जिस प्रकार सब कपड़ों की बनावट एक-सी नहीं होती—कोई मोटे सूत के बने और खुरदरे होते हैं, तो कोई महीन सूत के और नर्म; कोई बहुत चिकने और रोएँदार होते हैं, तो किसी को हम मलमल, रेशम अथवा मखमल कहते हैं; इसी प्रकार हमारे शरीर के सब तन्तु भी एक-से नहीं होते। अन्य जन्तुओं की भाँति हमारे भी शरीर में कुछ ढकनेवाले तन्तु हैं, जैसे चर्म और आँतों के भीतर के अस्तर के तन्तु, तो दूसरे सहायक

तंतु है, जैसे हड्डियो के, यकृत या कलेजे के, वृक या गुर्दे के, मस्तिष्क और सुषुम्ना के। इसी प्रकार पौधो में भी ढँकनेवाले तन्तु जड़ों और पत्तियों की खाल में, सहायक तन्तु तने के कठोर भाग में और रस खीचनेवाले तन्तु नर्म गूदे मे पाए जाते है।

### पौधों की तरह उदरपूर्त्ति करनेवाले जानवर और जानवरों की तरह निर्वाह करनेवाले पौधे

समान या भिन्न अगणित कोशिकाओं के जीवधारियो मे इकट्ठे होने से ही शरीर के उन भिन्न-भिन्न भागों का निर्माण हुआ है, जो अंग या इन्द्रियाँ कहलाते है। ऐसे प्रत्येक अंग का एक विशेष कर्त्तव्य होता है। जानवरों मे कई प्रकार की इन्द्रियाँ है, जैसे चलने के लिए टाँगें, देखने के लिए आँखें और सुनने के लिए कान। किन्तु पौधों मे आम तौर से उतने प्रकार के अग और तन्तु नही होते, जितने जानवरो मे; क्योकि इनके कर्त्तव्य उतने बँटे हुए नही है, जितने कि प्राणियों के। जिस प्रकार घर मे कमरे, दालान और आँगन होते है और उसकी दीवारे ईंटों की बनी होती है, जो चूने और गारे से जोड़ी जाती है; इसी प्रकार हमारे शरीर मे भी विविध इन्द्रियाँ है, जो भिन्न-भिन्न तन्तुओ की बनी हुई है। वे तन्तु स्वय अगणित कोशिकाओ द्वारा रचित हैं, जिनका कि मूल 'जीव-द्रव्य' है। यद्यपि जीव-द्रव्य की रचना पौधो और जीव-जन्तुओ में बहुत-कुछ एक-सी है, तो भी ये दोनो बहुत-सी बातों मे एक दूसरे से भिन्न है। इसका क्या कारण है, यह जानना हमारे बस की बात नही है। कदाचित् इसका कारण यह हो सकता है कि दोनों मे जीव-द्रव्य बनाने की रीतियाँ अलग-अलग हों। वनस्पतियाँ अपने जीव-द्रव्य को सीधे पृथ्वी, जल तथा वायु से बना सकती है, तथा प्राणी मुख्यतया ऐसी वस्तुओं को भोजन के रूप मे बनी-बनाई सामग्री मे प्राप्त करते है, जो या तो जीवित है अथवा कभी जीवित रही हो--चाहे वे वनस्पति हों या अन्य जीव-जन्तु। सामान्य नियम तो ऐसा ही है, परन्तु कुछ पौधे और जन्तु ऐसे भी है, जो इन नियमों को खण्डित भी करते है। उदाहरणार्थ, अमरबेल की भाँति के वनस्पति अपना भोजन उन वृक्षो से ग्रहण करते है, जिन पर कि वे उगते है। ऐसी भी वनस्पतियाँ मिलती है, जो कीटाहारी कही जा सकती है, क्योकि वे मक्खी या अन्य पतिंगों को अपने मायारूपी जाल में फँसाकर मार डालती है और उनके शरीर से अपना भोजन उसी प्रकार प्राप्त करती है जैसे कि जानवर। इस प्रकार की एक वनस्पति 'तुबिलता' का हाल आप पिछले एक प्रकरण में पढ़ चुके है। यहाँ हमने एक और मांसाहारी पौधे का चित्र दिया है (दे० पृष्ठ १६३ का चित्र)। दूसरी ओर जानवरो की श्रेणी में भी कुछ ऐसे पानी में रहनेवाले छोटे जीव मिलते है, जो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने से वृक्षों की भाँति हरे दिखाई देते है, क्योंकि उनमें भी पर्णहरिम (क्लोरोफिल) होता है, जिसकी सहायता से वे पानी में घुली हुई अनैन्द्रिक वस्तुओं से अपना जीव-द्रव्य पौधो की तरह बनाते है। यूग्लीना नामक ऐसे ही एक अद्भुत जीव का चित्र पृष्ठ १६५ पर दिया गया है। अतः यदि पेड़-पौधो मे दो-चार ऐसे भी है, जो अपने जीव-द्रव्य को उसी प्रकार बना सकते है, जैसा कि पशुओं का लक्षण है, तो एक-आध जानवर भी ऐसे है, जो अपना जीव-द्रव्य सच्ची वनस्पतियो की भाँति बनाते है। इससे यह भी विदित होता है कि वनस्पति-वर्ग और प्राणि-वर्ग के बीच ऐसी कोई सीमा नही बँधी है, जो पार न की जा सके।

अब तक हमने जीवित पदार्थो की रचना और आचरण का अध्ययन केवल एक जीव-विज्ञानवेत्ता की हैसियत से ही किया है। अब हम रसायनशास्त्रियो की ओर बढे और देखें, कि वे हमे जीव-द्रव्य की बनावट के विषय में क्या बतलाते है।

### जीव-द्रव्य किन पदार्थों का बना है

सबसे पहले हमे स्मरण रखना चाहिए कि जीव-द्रव्य एक अति अस्थिर या चंचल पदार्थ है और जीवित दशा में वह बहुत ही सीमित ताप में रह सकता है—अर्थात् केवल २° श० से ३५° श० तक। यद्यपि बहुत कम दशाओ में यह बात लागू भी नही होती, क्योकि न्यूजीलैंड के गर्म झरनों मे—जिनका ताप ३५° श० से बहुत ज्यादा होता है—कुछ जीवित बैक्टीरिया पाए जाते है। दूसरी बात यह है कि उन पदार्थो या मूल वस्तुओ का पता, जिनसे जीव-द्रव्य बनता है, उनके बनने के बाद ही लगाया जा सकता है। आप प्रश्न कर सकते है कि यह कैसे कहा जा सकता है कि मृत्यु के बाद जो कुछ जाँचा गया, वह जीव-द्रव्य ही था। यह कहना वास्तव मे ही कठिन है कि वह बिल्कुल वही वस्तु है। फिर भी हम यह जानते है कि जीवित पदार्थ जितनी आसानी से जल ग्रहण कर सकते और उसे बाहर निकाल सकते है, उतनी सरलता से और कोई पदार्थ ऐसा नही कर सकता। जल सदा समस्त जीवधारियों के शरीर में बहा करता है और उनके लिए वह बहुत लाभदायक भी है। इसीलिए जीव-द्रव्य मे ७०-९० प्रति सैकड़ा पानी होता है और यह कहा जा सकता है कि वास्तव मे जीव-द्रव्य पानी के घोल में ही रहता है। तो फिर आओ पहले सजीव पदार्थ के इस प्रधान भाग के विषय मे कुछ बातें समझ ले।

## जीव और पानी

पानी संसार की साधारण से साधारण चीजों में से एक है, किन्तु शुद्ध रूप मे पानी कहीं भी नहीं मिलता; क्योंकि वह ऐसा पदार्थ है कि उसमें पृथ्वी और वायु की बहुत-सी वस्तुएँ शीघ्र ही घुल-मिल जाती है। जब हम पानी को गर्म करते है तो बर्तन पानी से जल्द गर्म हो जाता है, क्योंकि पानी का ताप बढ़ाने के लिए अधिक अग्नि की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि गर्मी में झीलो और समुद्रों का जल उतना गर्म नही होता, जितना कि आस-पास की धरती। पानी का यह गुण जीवित पदार्थ के लिए बहुत सहायक है और जीवन के आरम्भ में इससे अवश्य सहायता मिली होगी। इसमें तो तनिक भी सन्देह नही कि जल में रहनेवाले जीवो का जीवन स्थिर रखने के लिए पानी का जल्द अधिक न गर्म होना बहुत ही लाभदायक है।

**वनस्पति-जैसा एक जीव**

यह यूग्लीना नामक एक सूक्ष्म जंतु का (आकार में चार सौ गुना बढ़ाया हुआ) चित्र है। यों तो हर जीवधारी की तरह यह भी मुख द्वारा आहार ग्रहण करके उसे पचाता है, पर साथ ही इसमें पर्णहरिम या क्लोरोफिल नामक तत्त्व भी होता है, जिसके कारण इसके कुछ भाग हरे रंग के होते है। यह हरा पदार्थ वनस्पति-वर्ग की वस्तु है। इसी विशेषता के कारण, यह जंतु वनस्पतियों ही की भांति अपने शरीर के तंतुओं की रचना करता है। चित्र में जो बीच-बीच में लंबे दानों की-सी आकृतियाँ हैं, उन्हीं में क्लोरोफिल का हरा अंश रहता है।

पानी का दूसरा मुख्य स्वभाव यह है कि वह जमने के पहले फैल जाता है, जब कि दूसरे द्रव पदार्थ ज्यों ज्यों ठंडे किये जाते है, त्यों-त्यो घने (भारी) होते जाते है, और तब अन्त में जम जाते है। जल मे भी ऐसा ही होता है, जबकि उसका ताप ४° श० रह जाता है। इससे अधिक ठंडा होने पर वह भारी होने के बदले हल्का हो जाता है। इसलिए जब समुद्र, झील या नदी का पानी ४° श० से विशेष ठंडा होता है तो वह नीचे से ऊपर आ जाता है और नीचे के गर्म और भारी पानी के ऊपर तैरता रहता है। यही कारण है कि बर्फ सदा पानी की ऊपरी तह से नीचे को जमता है। अगर ऐसा न होता तो बर्फ पानी की निचली तह में बनना शुरू होता और शीत ऋतु में महासागरों का सारा पानी जम जाता और तब गर्मी में वह पूरा न गलता। ऐसा होने से पानी में जीवन बिल्कुल असम्भव हो जाता।

यह तो आपको विदित होगा ही कि मामूली ताप मे पानी द्रव बना रहता है; ०° श० तक ठंडा करने पर वह बर्फ हो जाता है और १००° श० तक गर्म करने पर भाप बन जाता है। इसलिए पानी वस्तुतः द्रव्य के तीनों रूप धारण करता है, अर्थात् द्रव, ठोस और गैस। अतः पानी की एक ही बूंद क्रमशः बहुत-से अद्भुत अनुभव कर सकती है। एक समय वह अपार सागर का भाग हो जाती है तो दूसरे समय में भाप बनकर आकाश में उड़ती हुई बादल का अंग हो जाती और वायु में इधर-उधर उड़ते हुए द्रवीभूत होकर फिर पृथ्वी पर पानी की बूंद बनकर गिर पड़ती तथा बहकर किसी नदी, नाले, झील या समुद्र में पुनः जा मिलती है। या वह ओस या कोहरे के रूप में गिरकर किसी वनस्पति के शरीर मे पहुँच जाती या द्रव रूप मे ही कोई जानवर उसे पी जाता है। यह भी हो सकता है कि वह आकाश से किसी ऐसे पहाड़ पर या ठंडे प्रदेश में गिरे और जमकर ऐसे कड़े बर्फ का रूप धारण कर ले कि जीव-जन्तु उसको पैरों तले रौंदे या मनुष्यगण उस पर खेल-कूद करे। वही बूंद फिर धीरे-धीरे भाप बनकर आसमान में उड सकती है और इस प्रकार सदा भूमण्डल में चक्कर लगाती हुई वह अपना चोला बदलती रहती है।

## आक्सिजन और जीव

शुद्ध जल एक यौगिक है, जो दो भाग हाइड्रोजन के साथ एक भाग आक्सिजन के मिलने पर बनता है। आक्सिजन एक तत्त्व है, जिसका वायु के हर पांच भाग में एक भाग होता है। इसका सबसे मुख्य लक्षण, जो जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है, यह है कि वह वस्तुओं के जलने मे सहायक होता है। बहुत-सी चीजें साधारण वायु की अपेक्षा आक्सिजन में बहुत जल्दी और तेजी से जलती है और जो चीजें इसमें जलती है, उनसे मिलकर वह नए यौगिक बना देती है। कभी-कभी उसमें वस्तुएँ धीरे-धीरे भी जलती है, जैसे कि लोहा पड़ा-पड़ा मोर्चा खाने लगता है। मोर्चा लगना एक रीति से लोहे का धीरे-धीरे जलना ही है। वस्तुतः मोर्चा लोहे और आक्सिजन का यौगिक ही है। उधर जब हम अनार या फुलझड़ी छुड़ाते है, तो उसमें भरे हुए लोहे का रेत तेजी से भभक उठता है और चकाचौंध करनेवाली सफेद रोशनी पैदा कर देता है। यह केवल इसलिए कि वह उन

आतिशबाजियों में भरे हुए रासायनिक पदार्थों के साथ आक्सिजन के संयोग से प्रभावित हो उठता है। जिस प्रकार आतिशबाजी की रासायनिक वस्तुओं मे से छटकर आक्सिजन उनमें महान् शक्ति पैदा कर देती है, उसी प्रकार जो भोजन हम ग्रहण करते है, वह भी शरीर मे जलकर शक्ति पैदा करता है। इससे स्पष्ट है कि आक्सिजन जीवधारियों के लिए कैसा आवश्यक तत्त्व है; क्योंकि जीवनभर प्राणियों को सदा किसी-न-किसी प्रकार की क्रिया करनी ही पड़ती है और हर काम के लिए शक्ति चाहिए। यह शक्ति आक्सिजन से ही प्राप्त होती है।

## हाइड्रोजन और जीव

पानी का दूसरा भाग हाइड्रोजन सृष्टि के तत्त्वों में सबसे हलका मूल तत्त्व है। यह हवा से चौदह गुना हल्का होता है। इसी कारण यह गुब्बारों में भरा जाता है, जिससे वे वायुमंडल में ऊपर उड़ते हुए चले जाते हैं। स्वतन्त्र अवस्था मे हाइड्रोजन तत्त्व आम तौर से नहीं पाया जाता, पर मिश्रित रूप मे वह बहुत-सी यौगिक वस्तुओ—जैसे मिश्री, चीनी या चर्वी आदि मे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

**हमारे शरीर के मूल तत्त्व**

मानव शरीर में प्रतिशत ५५ भाग कार्बन, २३ भाग आक्सिजन, १४ भाग नाइट्रोजन, ७ भाग हाइड्रोजन और १ भाग स्फुर, गंधक आदि होते हैं।

## कार्बन और जीव

दूसरा सरल यौगिक कार्बन डाइआक्साइड भी जीव-द्रव्य के लिए पानी की तरह ही आवश्यक है। इस गैस का विचित्र गुण यह है कि पानी और हवा दोनो में यह करीब-करीब एक ही मात्रा में पाई जाती है। इसलिए जीवधारी इसको दोनों ही पदार्थों से प्राप्त करते है। कार्बन डाइआक्साइड पानी मे घुलकर कार्बोनिक एसिड गैस बन जाता है। यह गैस पानी को करीब-करीब अविषम (अर्थात् न अधिक क्षारीय न आम्लिक) रखने में सहायक होती है। यह बड़े महत्त्व की बात है, क्योंकि जब तक पानी अविषम रहता है, वह अपने से संसर्ग में आनेवाली चीजों से न तो संगत करता है और न उन पर कोई प्रभाव दिखाता है। यदि पानी क्षारीय अथवा आम्लिक हो जाय, तो वह रासायनिक दृष्टि से क्रियाशील हो जाता है और तब उसमें जीवन का पनपना असंभव हो जाता है।

यथार्थ में कार्बन ही वह आधारभूत चट्टान है, जिस पर कि जीवन की इमारत खड़ी है। जीवधारियों का आधे से अधिक ठोस अंश इसी तत्त्व के द्वारा बनता है। परन्तु कार्बन शरीर का इतना आवश्यक भाग होते हुए भी किसी भी प्राणी में स्वतन्त्र अवस्था में नही मिलता। सच तो यह है कि यदि शुद्ध कार्बन खा लिया जाय तो जीव-द्रव्य उसको पचा ही नही सकता। अतः इसको खाने से शरीर को कुछ लाभ नही होता। यदि प्राणि और वनस्पति-जीवन की कोई भी वस्तु जलाई जाय, तो पीछे थोड़ी-सी काली राख जरूर ही बच जायगी। इससे यह सिद्ध होता है कि उसमें कार्बन अवश्य है। यह हमारा सौभाग्य है कि प्रकृति ने हमारे लिए ऐसी अनमोल वस्तु को नाना प्रकार के भोजनों में स्वयं मिला दी है।

### नाइट्रोजन और जीव

चौथा महत्त्वपूर्ण तत्त्व, जो प्राणियो के शरीरों में पाया जाता है, नाइट्रोजन है। यह स्वतन्त्र अवस्था मे वायु में पाया जाता है। वायु के हर पाँच भाग में चार भाग नाइट्रोजन होता है। आक्सिजन और कार्बन की भाँति यह तत्त्व भी दूसरे तत्त्वों के साथ आसानी से नही मिलता, तो भी सब प्राणियो के कलेवरों में वह दूसरे तत्त्वों से मिला हुआ पाया जाता है। यदि यह पदार्थ भोजन में न हो, तो कोई वस्तु कदापि बढ़ ही न सके। इसलिए जीवधारियों के लिए यह तत्त्व भी अत्यन्त आवश्यक है।

### अन्य तत्व और जीव

ऊपर वर्णित चारो प्रमुख तत्त्वो के संयोग से बहुत-सी यौगिक वस्तुएँ बनती जाती है, जिनमें से एक है 'प्रोटीन', जो जीवधारियो का एक आवश्यक अंश है। इस तत्त्व में नाइट्रोजन, कार्बन और आक्सिजन के अतिरिक्त और भी तत्त्व होते है, जैसे फास्फोरस और गन्धक। इनकी जटिल बनावट का कुछ ज्ञान आपको इस बात से हो सकता है कि उनके एक अणु मे एक हजार से भी अधिक परमाणु हो सकते हैं। प्रोटीन जीवित पदार्थ का ऐसा लाक्षणिक अंश है कि उसके बिना हम प्राणी की कल्पना भी नहीं कर सकते। फास्फोरस सजीव वस्तुओ में चूना और अन्य चीजों के साथ मिला हुआ होता है। यह हर एक जीवित कोशिका की नाभिक का मुख्य भाग है और इसीलिए जीव के लिए यह सबसे जरूरी वस्तु है। जीवधारी इसको अंडा, दूध, पनीर और बिना छने हुए आटे की रोटी आदि खाद्य पदार्थो से ग्रहण करते है। बहुत-से शाक-पात मे भी फास्फोरस पाया जाता है। गधक भी जीव-द्रव्य में मिलता है, यद्यपि अति सूक्ष्म मात्रा में।

ऊपर गिनाए गए तत्त्व जीव-द्रव्य में निम्नलिखित मात्रा में होते है:—

| | | |
|---|---|---|
| कार्बन | ५५ | भाग |
| आक्सिजन | २३ | ,, |
| नाइट्रोजन | १४ | ,, |
| हाइड्रोजन | ७ | ,, |
| फास्फोरस, गन्धक आदि | १ | ,, |

उपर्युक्त वस्तुओ के अतिरिक्त और भी कुछ पदार्थ हैं, जैसे पोटाश, चूना, सोडा, लोहा इत्यादि, जिनसे प्राणियों के क्रियाशील भाग तो नही बनते, लेकिन जो उनके शरीर में अन्य परिस्थितियों में लाभदायक होते है। पृष्ठ १६६ के चित्र में मानव-शरीर में इन तत्त्वों का परिमाण दिग्दर्शित है।

# जीवन क्या है ?

**जब से मनुष्य के मन में इस अद्भुत सृष्टि के संबंध में जिज्ञासा जगी है, तब से आज तक 'जीवन क्या है' यह प्रश्न एक गूढ़ पहेली के रूप में उसके सामने उपस्थित है। आइए, प्रस्तुत प्रकरण में देखें कि प्राणि-शास्त्र इस संबंध में क्या कहता है!**

पिछले पृष्ठों मे हम यह जान चुके है कि संसार में कितने प्रकार के पदार्थ सजीव है, उनके लक्षण क्या है, वे किन तत्त्वों से बने है और किस प्रकार वे एक-दूसरे से पहचाने जाते हैं। किन्तु क्या अब भी हम यह कह सकते है कि वह कौन-सी वस्तु है, जो सजीव और निर्जीव में भेद करती है ? अथवा कौन-सा वह पदार्थ है, जिसे हम जीवन कहें ? इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न कीजिए, परन्तु हमें आशंका है कि कही आपको भी उसी तरह असफल न होना पड़े, जैसे कि आपसे पहले और भी बहुत-से लोग इसी खोज में असफल हो चुके हैं। यह तो सभी जानते हैं कि जीवित रहना क्या है, परन्तु यह कहना आसान नही है कि जीवन के लक्षण या उपादान क्या है। जब भी मनुष्य या अन्य कोई प्राणी मर जाता है, तब हम कहते हैं कि उसने प्राण त्याग दिए या प्राण उसके बाहर चले गए। परन्तु वह कौन-सी वस्तु है, जो सजीव पदार्थ में है और मृत्यु हो जाने से उसमे से निकल जाती है ? क्या मृत्यु किसी वस्तु का खो जाना या निकलना है, या केवल उस वस्तु का रूप बदल जाना मात्र है, जैसे बर्फ के ढेले के गलकर पानी हो जाने, पानी के भाप बन जाने, चांदी से रुपया बनने और रुपये के गलकर फिर चाँदी बन जाने में होता है ? वास्तव में इसका ठीक-ठीक उत्तर कोई भी नहीं जानता।

### क्या जीवन कोई पदार्थ या शक्ति है ?

हजारों वर्ष पहले से मनुष्य जीवन की प्रकृति पर विचार करता चला आया है, परन्तु वह अभी तक उसके भेदों को नही समझ सका है। फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि जीवन की समस्या ने हमारे पूर्वजों को इतने संकट में नहीं

डाला था, जितना कि हमें। एक समय मनुष्य का यह दृढ विचार था कि जीवन और साँस एक ही हैं; क्योकि वह देखता था कि जब कोई प्राणी मर जाता है, तो उसकी श्वासोच्छ्वास क्रिया भी बन्द हो जाती है। परन्तु आज तो हम कुछ ऐसे जीवो को भी जानते है, जो बिना साँस लिये ही जी सकते है! हमे यह भी मालूम है कि हमारी साँस मे जो गैस रहती है, उसे ठोस या द्रव पदार्थ में भी बदला जा सकता है। अत आज प्राण को साँस कदापि नही कहा जा सकता, न वह कोई पदार्थ ही है। यह भी निश्चय हो चुका है कि आदमी या जानवर के मरने पर उसका भार न तो बढ़ता है, न घटता ही है। यह भी मालूम कर लिया गया है कि मरने से शक्ति मे कोई भी ऐसी कमी नही होती, जो नापी या जानी जा सके। इसी प्रकार मृत शरीर धीरे-धीरे ठडा इसलिए नही हो जाता कि उसमे से कोई नापी जा सकनेवाली वस्तु निकल जाती है, वरन् केवल इसीलिए कि जीवन की क्रियाओ के बन्द हो जाने के उपरान्त शरीर में गर्मी पैदा हो ही नही पाती। अतएव जीवन को शक्ति भी नही कहा जा सकता। वस्तुत. वह न तो शक्ति ही है, न पदार्थ ही।

**क्या जीव एक जटिल यत्र मात्र है?**

वैज्ञानिकों द्वारा तैयार किया गया यह यत्र-नर या 'कल-पुर्जे का आदमी' केवल आपकी आवाज सुनकर जिधर आप कहें उधर सिर या हाथ घुमा सकता है और दूसरे कई कार्य करता है। किन्तु क्या हम इसे जीवधारी की श्रेणी मे रख सकते है? इस मानवसम यत्र और उसके सामने खडे सजीव मनुष्य में एक मौलिक भेद है, अर्थात् इस यत्र में 'व्यक्तित्व', 'संतानोत्पादन-शक्ति', और 'अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाने की शक्ति' का पूर्ण अभाव है, जो जीवधारियों के विशेष लक्षण होते है। इन्ही आधार पर सजीव और निर्जीव पदार्थों में भेद किया जाता है।

### जीवन के कुछ गुण

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जीवधारी खाते, पीते, बढ़ते और अपनी-सी सन्तान उत्पन्न करते है। लेकिन वह कौन-सी रहस्यमय वस्तु है, जिसके कारण जीवधारी इन गुणों को प्राप्त कर लेते है और निर्जीव पदार्थ में ये नही पाए जाते? प्रारम्भ में मनुष्यो का यह विचार था कि आत्मा या जीवनी-शक्ति शरीर मे बाहर से फूँकी जाती है और मरते समय वह शरीर को त्याग देती है। यह बात उतनी ही हास्यास्पद है, जितना ग्रामोफोन और रेडियो का गाना सुनकर यह विचार करना कि जो आवाज सुनाई देती है, वह किसी भूत-प्रेत की आवाज है। कहा जाता है कि जब सर्वप्रथम हमारे यहाँ लोगों ने

रेलगाड़ी देखी, तो उन्हें यह विश्वास हो गया कि इंजिन कालो माई के प्रताप से ही रेल के पीछे के डिब्बों को खींचता है! परन्तु आज तो हम सब जानते हैं कि इंजिन के चलने में कोई ऐसी विचित्रता नहीं है, जो समझ में न आ सके। उसके चलने का कारण वस्तुतः भाप है, किसी देवी का प्रताप नहीं। विज्ञान और मानव-विचारों के विकास के इतिहास में ऐसी बहुत-सी अद्भुत बातों के उदाहरण हमें मिलते हैं, जिनका संबंध किसी समय भूत-प्रेत से जोड़ा जाता था, परन्तु बाद में पता चला कि वे स्वाभाविक कारणों और पहचानने योग्य साधनों द्वारा ही होती हैं। यही बात बहुत-से आविष्कारों तथा प्लेग, हैज़ा, चेचक-जैसे भयंकर रोगों के विषय में भी हुई है। सारे संसार के मनुष्य रोगों को बहुत दिनों तक ईश्वर का दण्ड मानते रहे। हमारे देश में आज भी बहुत-से लोग चेचक को 'माता' तथा 'देवी' के नाम से पुकारते हैं। जब घर में किसी को यह बीमारी हो जाती है, तो घर की स्त्रियाँ यह समझकर कि घर में देवी का प्रवेश हुआ है, जब तक बीमारी रहती है, बहुत सफाई रखती हैं, और देवी की पूजा करती हैं। इस भय से कि कहीं 'माता' रुष्ट न हो जायँ, वे रोगी को कोई दवा नहीं पीने देती। वे यथा-शक्ति ऐसा प्रबन्ध करती हैं कि 'माता' प्रसन्न होकर रोगी को शीघ्र ही अच्छा कर दें और घर से विदा हो जायँ। इसी प्रकार कुछ वर्ष पूर्व जब हमारे देश में प्लेग की बीमारी ज़ोर से फैली थी, तो लोग उसे 'महामारी' कहते थे। देहाती ही नहीं, नागरिक भी उससे बचने के लिए पूजा-पाठ करते और दान-दक्षिणा देते थे। अब तो वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है और हममें से बहुतेरे यह जान गए हैं कि इन रोगों का कारण देवी-देवता अथवा भूत-प्रेत नहीं है, ये केवल कुछ सूक्ष्म कीटाणुओं से होते हैं। ऊपर के विवेचन से ऐसा लगता है कि जीवन की परिभाषा करना बहुत ही कठिन है। इसलिए हमें पहले जीवन का वर्णन करना चाहिए कि वह दरअसल है क्या! इसको अच्छी तरह समझ जाने से जीवन की प्रकृति को समझने में कदाचित् हमें सुविधा होगी।

## वृद्धि

हम पहले लिख ही चुके हैं कि जब शकर का कोई रवा उसी पदार्थ के सम्पूर्ण घोल में लटका दिया जाता है, तो वह धीरे-धीरे बड़ा हो जाता है। परन्तु वही रवा यदि नमक के घोल में रक्खा जाय, तो वह कदापि न बढ़ेगा, क्योंकि वह उस नमक को, जिसके घोल में वह डूबा हुआ है, बदल-कर अपने में नहीं मिला सकता। इसका यह अर्थ है कि रवा अपने-जैसे पदार्थ के घोल में ही बढ़ सकता है। यदि वह अपने से भिन्न किसी वस्तु के घोल में रख दिया जाय, तो वह न तो उसे बदल ही सकता है, और न अपनी वृद्धि ही कर सकता है। पर जीवधारियों में यह बात नहीं होती है। साधारण से साधारण जीव भी किसी अनोखे ढंग से आस-पास की वस्तुओं को बदलकर उनसे लाभ उठा सकते हैं। या यों कहिए कि सभी जीवधारियों में कोई ऐसा पदार्थ है, जो अपने स्पर्श में आनेवाली वस्तु को प्रभावित करके उन भौतिक और रासायनिक क्रियाओं को, जो उस वस्तु पर क्रिया करती हैं और जिन पर कि वह वस्तु प्रतिक्रिया करती है, ऐसे डौल पर ले आता है कि जिससे स्वयं उसका स्वभाव या रूप उत्तरोत्तर सिद्ध या पूर्ण होता जाता है। प्राणहीन पदार्थ ऐसा नहीं कर सकते।

## सर्वकालिक परिवर्तन

एक प्रकार से कहा जा सकता है कि सजीव पदार्थ में सर्वकालिक परिवर्तन की योग्यता होती है। जानवर हर घड़ी हवा में साँस लेते हैं, और आहार ग्रहण करते हैं। शरीर में पहुँचकर साँस द्वारा ली गई हवा और खाए हुए पदार्थ टूट-फूटकर साधारण तत्त्वों में बदल जाते हैं, जो उन तन्तुओं और इन्द्रियों को बनाने में काम आते हैं, जिन्हें हम प्राणी के भिन्न-भिन्न भागों में पाते हैं। सब प्राणियों के पालन-पोषण में यह क्रिया या अवस्था—जिसके द्वारा खाई हुई वस्तुएँ पचकर शरीर का भाग बन जाती हैं—जीवन-क्रियाओं का प्रधान आधार है। इसके बिना जीवन असम्भव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवित पदार्थ के बनने में बल या शक्ति की बहुत आवश्यकता होती है। हमें चलने-फिरने तथा अन्य कामों के करने में बल की ज़रूरत होती है। इस प्रकार दौड़ने-घूमने, लिखने-पढ़ने आदि से जो बल की कमी हममें हो जाती है, अथवा जो तत्त्व क्षीण हो जाता है, उसकी पूर्ति भोजन-सामग्री के शरीर में पहुँचकर जीवनप्रद तत्त्वों में परिणत होने से होती रहती है। इसी क्रिया के फलस्वरूप शरीर में दूषित पदार्थ भी बनते हैं। आहार का जो भाग हम शारीरिक तत्त्वों में नहीं बदल सकते, वही हमें मल और मूत्र के रूप में त्यागना पड़ता है। इस प्रकार सब जीवधारियों में बनने और बिगड़ने की दोहरी क्रियाएँ एक साथ ही होती रहती हैं। बाल्यावस्था में बननेवाली क्रिया बिगड़नेवाली क्रिया से अधिक तेज होती है। इसी कारण उन दिनों जीवों के शरीर और अंग बढ़ते जाते हैं। परन्तु जब शरीर में बननेवाली क्रिया बिगड़नेवाली क्रिया से अधिक प्रबल हो जाती है, तो जीवधारी

वृद्ध होने लगते है और फलत: उनके शरीर भी कमजोर हो जाते है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि **जीवन एक भाँति की भौतिक और रासायनिक क्रिया है, जिसके जटिल मिश्रणों में बनने और बिगड़ने की परिवर्तन-कारी क्रियाएँ निरंतर और साथ-साथ होती रहती है।**

### आत्म-रक्षा

जीवन अथवा जीव-सम्बन्धी क्रियाओं का द्योतक जीवन का एक और मुख्य गुण यह है कि सर्वकालिक परि-वर्तन होते हुए और विविध प्रकार की शक्तियों का प्रभाव पड़ते हुए भी उसमें अपने जातीय रूप और रासायनिक रचना को स्थिर रखने की योग्यता है। इसको हम इस प्रकार कह सकते है कि हर प्राणी एक विशेष प्रकार के रासायनिक मिश्रण का नमूना है और हर प्रकार का जीवन एक रासायनिक परिवर्तन का विशेष नमूना है। एक दूसरे से सम्बन्ध रखनेवाले प्राणियों मे रासायनिक हेर-फेर का रूप बहुत-कुछ एक-सा ही होता है, जैसा कि मनुष्य और वानर में। किन्तु मनुष्य और मछली मे वह बहुत-कुछ पृथक् होता है। और मनुष्य और कुकुरमुत्ते में तो इस सम्बन्ध में और भी अधिक विभिन्नता है। इन सबमे यद्यपि सदा परिवर्तन होता रहता है, फिर भी सभी अपने विशिष्ट रूप और रासायनिक नक्शे को स्थिर बनाए रखते है। उदाहरण के लिए, जब हम अपनी बाँह को घुमाते या हिलाते है तो उसकी पेशियों में कई जटिल रासायनिक क्रियाएँ आरम्भ हो जाती है। इन क्रियाओं में आक्सिजन खर्च होने लगती है, और इस आक्सिजन को पूरा करने के लिए आक्सिजनयुक्त रक्त बाँह की ओर पहले से अधिक मात्रा में दौड़ने लगता है। इस बढे हुए रक्त-सचालन के लिए दिल जल्दी-जल्दी धडकने लगता है तथा साँस भी तीव्र गति से चलने लगती है। बाँह की पेशियाँ आक्सिजन के अतिरिक्त रक्त से शक्कर भी खीचने लगती है, जिसके कारण रक्त में शक्कर की मात्रा घटने लगती है। इसको पूरा करने के लिए यकृत की कोशिकाओ मे एकत्रित शक्कर रक्त में घुलने लगती है। यह सारा कार्य हमारा मस्तिष्क विना हमारे जाने ही नियमानुकूल जारी रखता है। इस प्रकार हमारी शारी-रिक यंत्र-रचना स्वत. ही हमारे शरीर को ठीक और विधिवत् रखती है। अतएव हम कह सकते है कि **जीवन एक प्रकार का स्वयं-प्रवन्धक जटिल रासायनिक परिवर्तन ही है।** इसका जो कुछ भी अभिप्राय हो, इतना स्पष्ट है कि जीवन को बनाए रखना या 'आत्म-रक्षा' उसका एक लक्ष्य है।

### क्या प्राणी एक यंत्र या मशीन है?

पहले लोग कहा करते थे कि जो भी वस्तुएँ अपने आप चलती-फिरती है, वे सब सजीव है। यंत्रो के युग के पहले तो यह परिभाषा बिलकुल ठीक थी। किन्तु इंजिन, मोटरकार, हवाई जहाज, इत्यादि स्वयंचालक कलो के बन जाने पर लोग यह सोचने लगे कि 'क्या कलें भी प्राणी है' अथवा 'क्या मनुष्य भी कोई यंत्र है'? यदि हम इस पर ध्यान दें कि यंत्र क्या है तो यही कहना पड़ेगा कि वह निश्चित कार्य करने का ऐसा प्रवन्ध है, जो अलग-अलग भागो या पुर्जो से बना होता है, जैसा कि हम कपड़ा सीने की मशीन, आटा पीसने की चक्की, लकड़ी काटने के आरे, या साइकिल में देखते है। जब इनका कोई पुर्जा घिस या टूट जाता है, तो उसकी जगह पर ठीक वैसा ही दूसरा पुर्जा लगाने से यंत्र फिर ज्यो-का-त्यों ठीक हो जाता है। कोई भी व्यक्ति जो बाइसिकिल या सीने की मशीन या और कोई मशीन बनाना जानता है, उसके अलग-अलग भागो को इकट्ठा करके पूरी मशीन तैयार कर सकता है, और जब चाहे तब उन भागों को फिर अलग-अलग कर सकता है। हम प्रतिदिन साइकिल की दूकान पर देखते हैं कि एक मशीन का पुर्जा उसी प्रकार की दूसरी मशीन मे लगाया जा सकता है। पर क्या जीवधारियों मे भी हम ऐसा कर सकते हैं? नहीं! उनमें एक प्रकार का निजी व्यक्तित्व पाया जाता है। यह सच है कि सब प्रकार के सजीव प्राणी इस बात मे बिलकुल समान नही होते। अधिकतर पौधे और नीची श्रेणी के जानवर मरते नही, यदि उनके कुछ भाग काट दिए जाएँ अथवा उनके दो टुकड़े भी कर दिए जाएँ। उनका हर एक भाग पृथक् रूप मे जीवित रहता है और बढ़कर पूरा जीव बन जाता है। परन्तु मनुष्य, कुत्ता या बिल्ली के यदि दो भाग कर डाले जाएँ, तो वे तुरन्त ही मर जाते है। अधिकतर पेड़-पौधे और नीची श्रेणी के जीवधारी ही मशीन से ज्यादा मिलते-जुलते है। इसका कारण यह है कि उनमें ऊँची श्रेणी के जन्तुओ से व्यक्तित्व की मात्रा कम होती है।

### शरीर-यंत्र के कुछ आश्चर्यजनक अदल-बदल

हम यह भी देखते है कि आजकल के निपुण माली एक पेड़ की कलम दूसरे पेड़ पर बाँध देते है, या यों कहिए कि एक पौधे का अंग दूसरे पौधे पर उगा लेते है। यही नही, डाक्टर लोग आज एक मनुष्य के शरीर से रक्त लेकर दूसरे मनुष्य के शरीर में डाल देते है। चतुर शल्य-चिकित्सक असली हाथ-पैर के बदले ऐसे बनावटी अंग लगा देते हैं, जो वैसा ही काम कर सकते हैं। इसी तरह और भी

बहुत-से आश्चर्यजनक कार्य डाक्टरो ने कर दिखाए है। उदाहरणार्थ, वाशिंगटन-विश्वविद्यालय मे एक जीवित मछली का हृदय दूसरी जीवित मछली के हृदय के स्थान में लगा दिया गया, फिर भी वह जीती रही ! कहते है, एक वार लंदन में एक आदमी के घायल होने पर उसकी एक आँख निकालने की आवश्यकता पडी। जिस डाक्टर के पास यह मरीज गया, उसका एक और मरीज था, जिसकी अवस्था २१ वर्ष की थी, और जो ३ साल से अन्धा था, क्योकि उसकी आँख की कनीनिका खराव हो गई थी। चतुर डाक्टर ने उस घायल आदमी की एक आँख को निकालकर उसकी कनी-निका का एक भाग उस अन्धे रोगी की आँख में लगा दिया, जिससे कि वह एक आँख से देखने लगा ! उधर न्यूयॉर्क में एक वच्चे की वाईं आँख चेचक से नष्ट हो गई थी। थोड़े दिन वाद उसकी दूसरी आँख भी नष्ट होने को थी। डाक्टरो की सलाह से उसकी माता ने अपनी एक आँख वच्चे की खराव होने-वाली आँख की जगह लगवा दी! यही नही, वियेना नगर के जन्तु-शास्त्र के एक प्रोफेसर ने तो अँखफुट्टों के वच्चों के सिर काटकर एक दूसरे मे वदल दिए ! वे वढ़े और उनके संतान भी पैदा हुई ! उनमे और अन्य अँखफुट्टो में कोई भी अतर न था। इससे सिद्ध होता है कि जानवर भी किसी न किसी वात में मशीन जैसे ही है। पर किसी-किसी वात में उनमे एक विशेष व्यक्तित्व भी है।

यंत्र मे और प्राणी में एक और भी भेद है। जव साइकिल टूट या विगड़ जाती है तो वह अपने आप उसे ठीक नही कर पाती ; किन्तु इनके प्रतिकूल जव हमारे किसी अंग मे चोट लग जाती है, तो घाव अपने आप ही भर जाता है। वस्तुत: सभी जीवधारी इसी तरह अपने शरीर को स्वयं ही ठीक-ठाक कर लेते है। हमारे वाल और नाखून कट जाने पर स्वयं ही फिर से वढ़ जाते है। पेड़-पौधों की डालियाँ भी कलम कर देने पर फिर वढ़ जाती है। पर निर्जीव पदार्थ ऐसा नही कर सकते। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जीवन अपने आप ही अपनी मरम्मत करने की योग्यता वाला यंत्र है। फिर सभी जीवधारी जिस
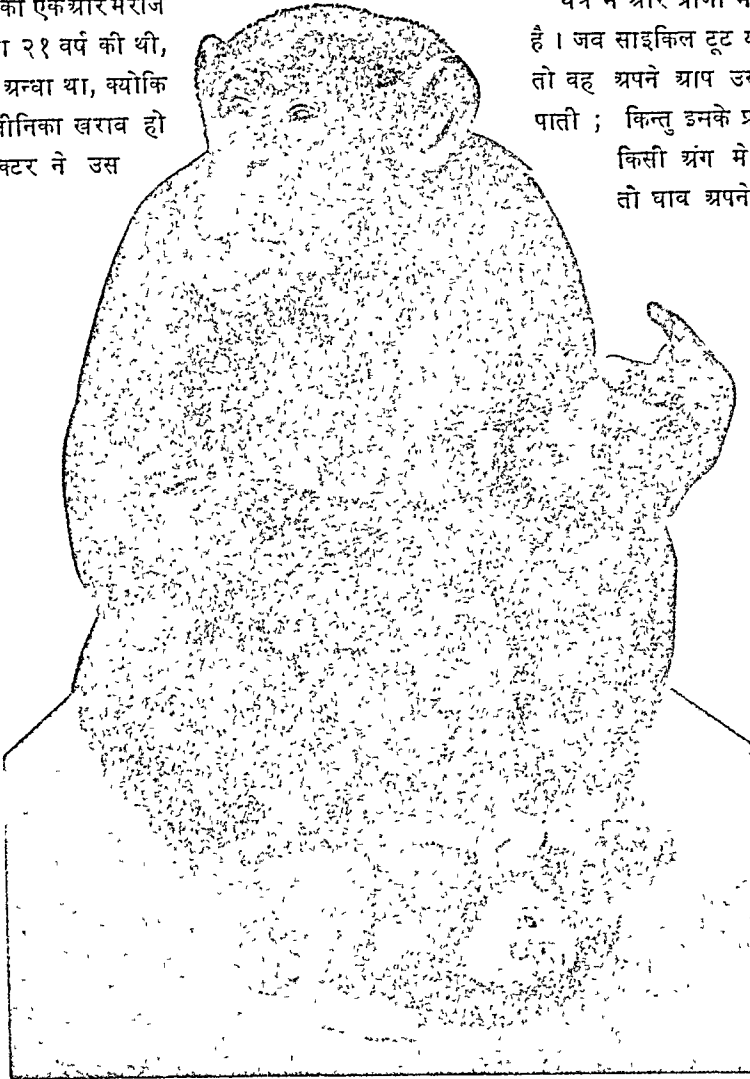
**जीवन क्या हे ?**

इसकी कोई परिभाषा हम नहीं दे सकते, परन्तु किसी भी जीवधारी में हम उसके विशेष लक्षणों को देख सकते है। प्रत्येक जंतु स्वय ही अपना निर्वाह करने, अपने ही अनुरूप संतान उत्पन्न करने, अपनी और उनकी वृद्धि तथा रक्षा करने और अपने आपको वातावरण के लिए अधि-काधिक सिद्ध वनाने में प्रयत्नशील रहता है, जैसा कि कोई भी निर्जीव वस्तु नहीं कर सकती। यह शिम्पैंजी नामक वनमानुष है। किसी निर्जीव पदार्थ में वह व्यक्तित्व कहां, जो इसमें है!

प्रकार अपनी क्रियाओं को अपने अनुकूल बना लेते है, वैसा कोई भी मशीन नही कर सकती। उदाहरण के लिए, तन्दुरुस्ती के लिए हमारे शरीर का तापक्रम लगभग ९८° फारेनहाइट रहना जरूरी है। इससे आठ-दस अंश ताप बढ जाने या पाँच-सात अंश गिर जाने से जान जोखिम में आ जाती है। ऐसी दशा मे किस प्रकार शरीर अपना सतुलन बनाए रखता है? यह यो होता है कि जब हमारा शरीर बहुत गर्म हो जाता है, तब आप ही आप उसमें रक्त का प्रवाह बढ जाता है, जिससे कि उसकी सतह से ज्यादा गर्मी निकल जाय। यदि यह भी काफी नही होता, तो हमे पसीना आने लगता है और फलतः शरीर ठंडा होकर फिर अपने साधारण ताप पर आ जाता है। मनुष्य ने कुछ ऐसी कले भी बनाई है, जो अपने कोई-कोई काम स्वय ही ठीक कर लेती है, जैसे इजिन का 'गवर्नर' या वाल्व आदि। ऐसी कलो के अधिकतर भाग ठोस होते है और वे सदा एक ही डील के रहते है। लेकिन जीवित वस्तुओ मे ऐसा नही होता। उनमे तो हड्डी और नाखून जैसे ठोस भाग भी विकास की अवस्था में रहते है। पूर्ण युवावस्था तक पहुँच जाने पर भी उनमें नए-नए द्रव्य बनते रहते है और साथ-ही-साथ बिगडते भी रहते है। अतएव हम कह सकते है कि **जीवधारी स्वयं मरम्मत करनेवाला एक स्वयं-प्रबन्धक यंत्र है।**

## सन्तानोत्पादन

जीवन का एक और लक्षण यह है कि वह अपने समान और जीवो को उत्पन्न कर सकता है। हम देखते है कि सारी जीव-सृष्टि से संतान की उत्पत्ति होती है, जो अपने माँ-बाप के समान रूप-आकार पाते और कर्त्तव्य करते है। कुछ जीवो में नई सन्तान एक ही प्राणी से जन्म लेती, तो कुछ में माँ-बाप के रूप में दो प्राणी नई सन्तान की रचना में सम भाग लेते है। कोई भी निर्जीव यन्त्र इस प्रकार अपने जैसे यन्त्र नही पैदा कर सकता। ऐसी कलें तो जरूर है, जो एक ही जैसे असंख्य भाग बना सकती है; परन्तु ये पुर्जे अपना निर्माण करनेवाली मशीन से बिलकुल भिन्न होते है और बढ़ने पर वे कभी उसके समान नही हो सकते। सजीव-निर्जीव का एक और भेद यह भी है कि प्राणी नई सन्तान को अपने शरीर या शरीर के ही पदार्थो से उत्पन्न करते है। इसके विपरीत मशीने इन पुर्जो को अपने शरीर के भाग या अंगो से नही बनाती, वरन् उन धातुओं आदि से बनाती है, जो बाहर से उनमे रक्खी या डाली जाती हैं। अब हम जीवधारियों का एक और विशिष्ट लक्षण आपको बतलाते है, जो सभी जीवों में सामान्यत. पाया जाता है। वह यह कि उनकी क्रियाओं और चाल-ढाल का सार यही नही है कि वे अपने शरीर की रक्षा करे, उसके टूटे-फूटे भागों की मरम्मत करें, तथा सन्तान उत्पन्न करे, बल्कि अपने रहन-सहन को इस प्रकार सुधारे जिससे कि वे अपने को उस देश या वातावरण में रहने के लिए अधिक अनुकूल बना सके, जिसमे कि विधाता ने उन्हे पैदा किया है। ठडे देशो के कुत्तो और भालुओ के शरीर पर सर्दी से बचने के लिए जितने लम्बे और घने बाल होते है, गर्म देशो मे उतने लम्बे और घने नही होते। तालो में रहनेवाली सिंघी और सौरी मछलियाँ गर्मी मे ताल का पानी सूख जाने पर धरती मे घुसकर जीवित रहती है, पर नदी की मछलियाँ ऐसा नही करती। मनुष्य को जब गर्मी लगती है, तो उसे पसीना आने लगता है और जब ठडक लगती है, तो वह आग की ओर बढता या गर्म कपडो मे अपने शरीर को लपेट लेता है। रेगिस्तान मे उगनेवाले पेड़ो के पत्ते बहुत कम और बहुत ही छोटे होते है, जिससे कि उनमे पानी भाप बनकर बहुत ज्यादा न उड़ सके। इसके विपरीत स्थिर जल में रहनेवाले पौधो के पत्ते कमल-जैसे चौड़े और बड़े तथा जहाँ हवा बहुत तेजी से चलती है, उन देशों मे पेड़ो के पत्ते चिरे हुए होते है, जिससे हवा के झोकों से फट न जाएँ। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि प्राणी की प्रवृत्ति अपने को वातावरण के अधिकाधिक अनुकूल बनाने की होती है। अन्त मे मशीन से तुलना करते हुए हम यह कह सकते है कि **जीव एक ऐसी मशीन है, जो अपनी रक्षा आप करती है, आप ही अपना प्रबन्ध करती है, आप ही अपनी मरम्मत करती है, आप ही अपने को पैदा करती है, और आप ही अपने को वातावरण के अनुकूल भी बनाती है।**

## जीवन विरोधी गुणों का संयोग है

ऊपर हम जो कुछ लिख आए है, उस पर सरसरी निगाह डालते हुए अब देखना यह है कि हम जीवन की प्रकृति के विषय में क्या कह सकते है। यह तो कहा ही जा चुका है कि जीवन सजीव वस्तु के निरंतर निर्माण की एक प्रकार की अत्यन्त आवश्यक क्रिया है; परन्तु इस बनने की क्रिया के साथ ही उसका टूटना-फूटना या बिगड़ना भी उतने ही आवश्यक रूप मे साथ लगा हुआ है। एक ओर यदि काम की सामग्री बनती रहती है, तो दूसरी ओर बेकार चीजे भी पैदा होती रहती है। हम यह भी जानते है कि सब जीवधारी अपने को इस ससार में कायम रखने की कोशिश करते है, तब भी उनके जीवन में एक अवस्था ऐसी आती

है, जब उनका जीवन ढलने लगता है और समाप्त हो जाता है। यदि जीवों में अपना अन्त करने का यह गुण न होता तो सारे नीची श्रेणी के जन्तु, एक बार जन्म ले चुकने पर, अभी तक जीवित होते तथा हमारे सभी पूर्वज भी आज पृथ्वी पर दिखाई देते ! यदि ऐसा होता तब तो वास्तव में सृष्टि में कोई उन्नति ही न हुई होती। कारण, विचार करने पर हम देखते है कि क्रमानुसार एक के बाद दूसरे वंशों के मरने से ही समाज उन्नति के पथ पर उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है।

यह कहा जा चुका है कि जीवन-यंत्र रचना और व्यक्तित्व जैसी दो विरोधी बातो का सम्मिलन है। ऊँचे दर्जे के प्राणियों में यंत्र के गुणो से व्यक्तित्व अधिक होता है और नीचे प्राणियो में व्यक्तित्व कम तथा यंत्र के गुण अधिक। अतः ऊपर लिखी हुई बहुत-सी बातों में जीवन दो विरुद्ध वस्तुओं का संयोग प्रतीत होता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योकि हर जगह हम विरोधियों का ही मेल पाते हैं। लकड़ी नर्म और कड़ी दोनों ही होती है। लोहा कठोर होते हुए भी लचीला होता है। पालने से चिता तक हमारी जीवन-कहानी भी सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रेम-वैर, सफलता-असफलता से भरी पड़ी है। एक विचारक ने मानव-जीवन के इस विरोधाभास के बारे में ठीक ही लिखा है कि 'जीवन असाधारण विरोधों की गठरी है।'

ऊपर लिखी हुई बातों से स्पष्ट होता है कि जीवन की ऐसी परिभाषा देना सम्भव नहीं है, जो उसके आत्मविरोधी स्वभाव पर लागू हो सके। दार्शनिक उसको समझने तथा उसका अर्थ बतलाने की चेष्टा करता है, प्राणि-शास्त्रवेत्ता भी उसका अध्ययन करने का प्रयत्न करता है। पर दोनों अच्छी तरह जानते है कि वे शायद उसकी जटिलता को भली भांति कभी भी न समझ सकेंगे। हाँ, हम ज्ञान प्राप्त करने में जैसे-जैसे आगे बढते जाते है, उतना ही वह हमारे वश में आता जाता है। इस समय तो हम जो कुछ कह सकते है, वह यही है कि इधर कुछ ही वर्षों मे जीवन के कुछ पहलू भौतिक-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के शब्दो मे समझाए गए है। परन्तु अब भी उसके बारे में हमारा ज्ञान अधूरा ही है। अभी कोई दावे के साथ यह नही कह सकता कि जीवन की पहेली ठीक से समझ मे आ गई है। पर गत कुछ ही वर्षो की आश्चर्यजनक उन्नति को देखते हुए हमें इस बात से निराश भी न हो जाना चाहिए कि हम जीवन की पहेली को कभी बूझ ही न सकेंगे। हाँ, फिलहाल के लिए तो जीवन की अच्छी-से-अच्छी परिभाषा जो हम दे सकते है वह यही है कि **जीवन एक गुण है, जो सजीव प्राणी या ऐन्द्रिक तन्तु के सजीव भागों को मृत या निर्जीव पदार्थो से पृथक् करता है।** किन्तु वह गुण क्या है, यही तो हम नहीं बतला सकते !

# जीवन की प्रकृति और उत्पत्ति
## वह कैसे, कहाँ से और कब आया ?

**जीवन की पहेली अत्यंत कठिन है। किन्तु सूक्ष्मदर्शक-यंत्र के आविष्कार तथा भौतिक, रसायन एवं भूगर्भ-विज्ञान की नवीन खोजों के फलस्वरूप पिछले सौ-डेढ़-सौ वर्षो की कालावधि ही में जीवन की यथार्थ प्रकृति और उसके विकासक्रम के इतिहास के संबंध में बहुत-सी बातें प्रकाश में आई है। यद्यपि अब भी हम दावा नहीं कर सकते कि जीवन का मर्म समझने में हमें सफलता मिल गई है, तथापि आज हम उसके रहस्यों के द्वार पर पहले से अधिक समीप अपने को पाते है। आइए, देखें इस संबंध में आधुनिक विज्ञान क्या कहता है!**

पिछले पृष्ठों में साधारण रूप से यह बताया जा चुका है कि जीवन क्या है और उसकी प्रकृति के बारे में वैज्ञानिकों के क्या विचार है। अब हम आपको जीवन के उदय के विषय में कुछ बताना चाहते है। आइए देखें, इस समस्या पर पहले के विद्वानों का क्या विश्वास था और अब आजकल के विचारकों की इस संबंध में क्या राय है!

### प्राणी और वनस्पति कैसे पैदा होते हैं?

आप में से सभी जानते होंगे और बहुतों ने देखा भी होगा कि बिल्ली के बच्चे, पिल्ले, मेमने और बछड़े अपनी माता से जन्म लेते है। आप यह भी अवश्य जानते ही होंगे कि गेहूँ, मक्का, गाजर, मूली आदि के पौधे उन बीजो से उगाए जाते है, जो पहले उसी जाति के उगे हुए पौधों से इकट्ठा

प्रकार अपनी क्रियाओं को अपने अनुकूल बना लेते है, वैसा कोई भी मशीन नही कर सकती। उदाहरण के लिए, तन्दुरुस्ती के लिए हमारे शरीर का तापक्रम लगभग ९८° फारेनहाइट रहना जरूरी है। इससे आठ-दस अंश ताप बढ़ जाने या पाँच-सात अंश गिर जाने से जान जोखिम मे आ जाती है। ऐसी दशा मे किस प्रकार शरीर अपना संतुलन बनाए रखता है? यह यो होता है कि जब हमारा शरीर बहुत गर्म हो जाता है, तब आप ही आप उसमें रक्त का प्रवाह बढ जाता है, जिससे कि उसकी सतह से ज्यादा गर्मी निकल जाय। यदि यह भी काफी नही होता, तो हमें पसीना आने लगता है और फलतः शरीर ठंडा होकर फिर अपने साधारण ताप पर आ जाता है। मनुष्य ने कुछ ऐसी कले भी बनाई है, जो अपने कोई-कोई काम स्वयं ही ठीक कर लेती है, जैसे इजिन का 'गवर्नर' या वाल्व आदि। ऐसी कलों के अधिकतर भाग ठोस होते है और वे सदा एक ही डील के रहते है। लेकिन जीवित वस्तुओ में ऐसा नहीं होता। उनमें तो हड्डी और नाखून जैसे ठोस भाग भी विकास की अवस्था में रहते हैं। पूर्ण युवावस्था तक पहुँच जाने पर भी उनमे नए-नए द्रव्य बनते रहते है और साथ-ही-साथ बिगड़ते भी रहते है। अतएव हम कह सकते है कि **जीवधारी स्वयं मरम्मत करनेवाला एक स्वयं-प्रबन्धक यंत्र है।**

### सन्तानोत्पादन

जीवन का एक और लक्षण यह है कि वह अपने समान और जीवों को उत्पन्न कर सकता है। हम देखते है कि सारी जीव-सृष्टि से संतान की उत्पत्ति होती है, जो अपने माँ-बाप के समान रूप-आकार पाते और कर्त्तव्य करते है। कुछ जीवो में नई सन्तान एक ही प्राणी से जन्म लेती, तो कुछ में माँ-बाप के रूप मे दो प्राणी नई सन्तान की रचना में सम भाग लेते है। कोई भी निर्जीव यन्त्र इस प्रकार अपने जैसे यन्त्र नही पैदा कर सकता। ऐसी कले तो जरूर है, जो एक ही जैसे असंख्य भाग बना सकती है; परन्तु ये पुर्जे अपना निर्माण करनेवाली मशीन से बिलकुल भिन्न होते हैं और बढ़ने पर वे कभी उसके समान नहीं हो सकते। सजीव-निर्जीव का एक और भेद यह भी है कि प्राणी नई सन्तान को अपने शरीर या शरीर के ही पदार्थो से उत्पन्न करते है। इसके विपरीत मशीनें इन पुर्जो को अपने शरीर के भाग या अंगों से नही बनातीं, वरन् उन धातुओं आदि से बनाती है, जो बाहर से उनमें रक्खी या डाली जाती हैं। अब हम जीवधारियों का एक और विशिष्ट लक्षण आपको बतलाते हैं, जो सभी जीवों में सामान्यतः पाया जाता है। वह यह कि उनकी क्रियाओं और चाल-ढाल का सार यही नही है कि वे अपने शरीर की रक्षा करें, उसके टूटे-फूटे भागो की मरम्मत करे, तथा सन्तान उत्पन्न करें, बल्कि अपने रहन-सहन को इस प्रकार सुधारे जिससे कि वे अपने को उस देश या वातावरण में रहने के लिए अधिक अनुकूल बना सकें, जिसमें कि विधाता ने उन्हें पैदा किया है। ठंडे देशो के कुत्तो और भालुओं के शरीर पर सर्दी से बचने के लिए जितने लम्बे और घने बाल होते हैं, गर्म देशों में उतने लम्बे और घने नही होते। तालों मे रहनेवाली सिंघी और सौरी मछलियाँ गर्मी मे ताल का पानी सूख जाने पर धरती में घुसकर जीवित रहती है, पर नदी की मछलियाँ ऐसा नही करती। मनुष्य को जब गर्मी लगती है, तो उसे पसीना आने लगता है और जब ठंडक लगती है, तो वह आग की ओर बढ़ता या गर्म कपडों में अपने शरीर को लपेट लेता है। रेगिस्तान मे उगनेवाले पेड़ों के पत्ते बहुत कम और बहुत ही छोटे होते है, जिससे कि उनमे पानी भाप बनकर बहुत ज्यादा न उड़ सके। इसके विपरीत स्थिर जल में रहनेवाले पौधों के पत्ते कमल-जैसे चौड़े और बड़े तथा जहाँ हवा बहुत तेजी से चलती है, उन देशों में पेड़ों के पत्ते चिरे हुए होते है, जिससे हवा के झोंकों से फट न जाएँ। दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते है कि प्राणी की प्रवृत्ति अपने को वातावरण के अधिकाधिक अनुकूल बनाने की होती है। अन्त में मशीन से तुलना करते हुए हम यह कह सकते हैं कि **जीव एक ऐसी मशीन है, जो अपनी रक्षा आप करती है, आप ही अपना प्रबन्ध करती है, आप ही अपनी मरम्मत करती है, आप ही अपने को पैदा करती है, और आप ही अपने को वातावरण के अनुकूल भी बनाती है।**

### जीवन विरोधी गुणों का संयोग है

ऊपर हम जो कुछ लिख आए है, उस पर सरसरी निगाह डालते हुए अब देखना यह है कि हम जीवन की प्रकृति के विषय में क्या कह सकते है। यह तो कहा ही जा चुका है कि जीवन सजीव वस्तु के निरंतर निर्माण की एक प्रकार की अत्यन्त आवश्यक क्रिया है; परन्तु इस बनने की क्रिया के साथ ही उसका टूटना-फूटना या बिगड़ना भी उतने ही आवश्यक रूप में साथ लगा हुआ है। एक ओर यदि काम की सामग्री बनती रहती है, तो दूसरी ओर बेकार चीजें भी पैदा होती रहती है। हम यह भी जानते हैं कि सब जीवधारी अपने को इस संसार में कायम रखने की कोशिश करते हैं, तब भी उनके जीवन में एक अवस्था ऐसी आती

है, जब उनका जीवन ढलने लगता है और समाप्त हो जाता है। यदि जीवों में अपना अन्त करने का यह गुण न होता तो सारे नीची श्रेणी के जन्तु, एक बार जन्म ले चुकने पर, अभी तक जीवित होते तथा हमारे सभी पूर्वज भी आज पृथ्वी पर दिखाई देते ! यदि ऐसा होता तब तो वास्तव में सृष्टि मे कोई उन्नति ही न हुई होती। कारण, विचार करने पर हम देखते हैं कि क्रमानुसार एक के बाद दूसरे वंशों के मरने से ही समाज उन्नति के पथ पर उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है।

यह कहा जा चुका है कि जीवन-यंत्र रचना और व्यक्तित्व जैसी दो विरोधी बातों का सम्मिलन है। ऊँचे दर्जे के प्राणियों मे यत्र के गुणों से व्यक्तित्व अधिक होता है और नीचे प्राणियों मे व्यक्तित्व कम तथा यंत्र के गुण अधिक। अतः ऊपर लिखी हुई बहुत-सी बातों में जीवन दो विरुद्ध वस्तुओ का संयोग प्रतीत होता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योंकि हर जगह हम विरोधियों का ही मेल पाते हैं। लकडी नर्म और कड़ी दोनो ही होती है। लोहा कठोर होते हुए भी लचीला होता है। पालने से चिता तक हमारी जीवन-कहानी भी सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रेम-वैर, सफलता-असफलता से भरी पड़ी है। एक विचारक ने मानव-जीवन के इस विरोधाभास के बारे में ठीक ही लिखा है कि 'जीवन असाधारण विरोधों की गठरी है।'

ऊपर लिखी हुई बातों से स्पष्ट होता है कि जीवन की ऐसी परिभाषा देना सम्भव नहीं है, जो उसके आत्मविरोधी स्वभाव पर लागू हो सके। दार्शनिक उसको समझने तथा उसका अर्थ बतलाने की चेष्टा करता है, प्राणि-शास्त्रवेत्ता भी उसका अध्ययन करने का प्रयत्न करता है। पर दोनों अच्छी तरह जानते है कि वे शायद उसकी जटिलता को भली भाँति कभी भी न समझ सकेंगे। हाँ, हम ज्ञान प्राप्त करने में जैसे-जैसे आगे बढते जाते है, उतना ही वह हमारे वश में आता जाता है। इस समय तो हम जो कुछ कह सकते हैं, वह यही है कि इधर कुछ ही वर्षो में जीवन के कुछ पहलू भौतिक-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के शब्दो मे समझाए गए हैं। परन्तु अब भी उसके बारे में हमारा ज्ञान अधूरा ही है। अभी कोई दावे के साथ यह नही कह सकता कि जीवन की पहेली ठीक से समझ में आ गई है। पर गत कुछ ही वर्षो की आश्चर्यजनक उन्नति को देखते हुए हमें इस बात से निराश भी न हो जाना चाहिए कि हम जीवन की पहेली को कभी बूझ ही न सकेंगे। हाँ, फिलहाल के लिए तो जीवन की अच्छी-से-अच्छी परिभाषा जो हम दे सकते है वह यही है कि **जीवन एक गुण है, जो सजीव प्राणी या ऐन्द्रिक तन्तु के सजीव भागों को मृत या निर्जीव पदार्थो से पृथक् करता है।** किन्तु वह गुण क्या है, यही तो हम नहीं बतला सकते !

# जीवन की प्रकृति और उत्पत्ति

## वह कैसे, कहाँ से और कब आया ?

**जीवन की पहेली अत्यंत कठिन है। किन्तु सूक्ष्मदर्शक-यंत्र के आविष्कार तथा भौतिक, रसायन एवं भूगर्भ-विज्ञान की नवीन खोजों के फलस्वरूप पिछले सौ-डेढ़-सौ वर्षो की कालावधि ही में जीवन की यथार्थ प्रकृति और उसके विकासक्रम के इतिहास के संबंध में बहुत-सी बातें प्रकाश में आई है। यद्यपि अब भी हम दावा नहीं कर सकते कि जीवन का मर्म समझने में हमें सफलता मिल गई है, तथापि आज हम उसके रहस्यों के द्वार पर पहले से अधिक समीप अपने को पाते हैं। आइए, देखें इस संबंध में आधुनिक विज्ञान क्या कहता है !**

पिछले पृष्ठों में साधारण रूप से यह बताया जा चुका है कि जीवन क्या है और उसकी प्रकृति के बारे में वैज्ञानिकों के क्या विचार है। अब हम आपको जीवन के उदय के विषय में कुछ बताना चाहते है। आइए देखे, इस समस्या पर पहले के विद्वानों का क्या विश्वास था और अब आजकल के विचारको की इस संबंध में क्या राय है !

### प्राणी और वनस्पति कैसे पैदा होते हैं ?

आप में से सभी जानते होंगे और बहुतों ने देखा भी होगा कि बिल्ली के बच्चे, पिल्ले, मेमने और बछड़े अपनी माता से जन्म लेते है। आप यह भी अवश्य जानते ही होंगे कि गेहूँ, मक्का, गाजर, मूली आदि के पौधे उन बीजों से उगाए जाते है, जो पहले उसी जाति के उगे हुए पौधों से इकट्ठा

किए गए थे। नए जीव और पेड़-पौधे अपने माता-पिता या अपने से पहले के बीज से ही उत्पन्न होते हैं। यही विचार पहले के मनुष्यों का भी था, क्योंकि उन्होंने जानवरों को पालना और खेती करना बहुत पहले ही सीख लिया था। हमारी तरह ही उन्होंने भी पालतू मवेशियों के बच्चे पैदा होते देखे, और पुराने फल और फूलों के बीज से नए पेड़ उगते देखे। परन्तु मक्खी, कीड़े, फफूंदी और खुम्मी या कुकुरमुत्ते में क्या बात है? क्या आप इनके सम्बन्ध में भी उतनी ही सुगमता से कह सकते हैं कि वे अपने माता-पिता द्वारा या बीजों से उत्पन्न होते हैं? वर्षा ऋतु के आते ही सैकड़ों प्रकार के नन्हें-नन्हे कीड़े और भुनगे हमें यहाँ-वहाँ विचरते दिखाई देने लगते हैं। वे रात के समय घर या सड़क के चिरागों को हजारों की संख्या में घेर लेते हैं और हमारे लिए पढ़ना-लिखना तथा और काम करना दुष्कर कर देते हैं। एक ही दो पानी के बाद उन खेतों, बागों और चरागाहों में, जो कुछ ही दिन पहले सूखे पड़े थे, नाना प्रकार की घास और जंगली पौधे एकाएक जादू की तरह उग आते हैं, और पृथ्वी पर हरियाली-ही-हरियाली दिखाई देती है। क्या कभी आपने विचार किया है कि ये असंख्य नन्हे बरसाती कीड़े और बिना बोए ही निकलनेवाली यह घास-पात कहाँ से आई? इनकी उत्पत्ति कैसे हो गई? इसी प्रकार वसन्त ऋतु में झील और तालाबों के पानी में भी बहुत-से जीवाणु दिखाई देने लगते हैं और उनके नीचे की मिट्टी में केंचुए-जैसे कई सूँड़े और कीटाणु बन जाते हैं। किन्तु इन्हीं झीलों और तालाबों में यही जीव अन्य ऋतुओं में नाम-मात्र के लिए भी मुश्किल से दिखाई देते होंगे। वसन्त आते ही ये एकदम कहाँ से पैदा हो जाते हैं? इसी प्रकार मांस के टुकड़े या पके हुए फल यदि सड़ने दिये जायँ, तो उनमें जो सूँड़ियाँ बजबजाने लगती हैं, ये भी उनमें भला कहाँ से आ जाती हैं?

**पानी से भीगने पर सड़ जानेवाली घास-पात और पोखरों के स्थिर जल में पाये जानेवाले कुछ क्षुद्र जीव**

(१) पाँच प्रकार के बैक्टीरिया; (२) अमीबा और उसके मिथ्या पाद; (३) पेरामीसियम या फिसलनेवाला एककोष्ठी जीव; (४-५) दो प्रकार के रोएँदार एककोष्ठी जीव; (६-७) दो प्रकार के सबसे साधारण बहुकोष्ठी चक्रधारी जीव।

वर्षा ऋतु में नजर आनेवाले असंख्य कीड़े-मकोड़े और जंगली पौधे, वसन्त ऋतु में तालाबों में दिखलाई देनेवाले जीवाणु तथा सड़ते हुए पदार्थों में दिखाई देनेवाले कीड़ों की उत्पत्ति हमें वैसी ही सरलता से नहीं दिखलाई पड़ती है, जैसे हम अपने घरेलू मवेशियों और उगाए हुए पेड़-पौधों की उत्पत्ति जान सकते हैं। प्राचीन मनुष्यों ने भी जब इन बातों को देखा और इन पर विचार किया, तो वे इस नतीजे पर पहुँचे कि ये सब अपने आस-पास की वस्तुओं से या उनमें स्वयं ही पैदा होते रहते हैं। उनके पास उस समय न तो आतशी शीशे थे, न सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र, जिनसे वे यह देख सकते कि सूँड़ियाँ सड़ते हुए

मांस से नहीं पैदा होतीं, बल्कि उन सूक्ष्म अंडों से पैदा होती हैं, जो मक्खियाँ वहाँ दे देती हैं। न वे आँखों के लिए अदृश्य इन छोटे-छोटे जानवरों और कीड़ों के अंडों का ज्ञान प्राप्त कर पाए और न पौधों के उन बहुत-से बीजों का ही पता लगा पाए, जो अनजान में ही मिट्टी में दबे रह जाते हैं। अतः उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जीव बहुत-से प्राणियों में अचानक अपने आप अनैन्द्रिक पदार्थों से उत्पन्न हो सकता है। किन्तु अब सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा कोई भी देख सकता है कि वास्तव में ऊपर बताए हुए जीवों में अंडे या बीज होते हैं और नए जीव उन्हीं से पैदा होते हैं। ये अंडे और बीज इतने छोटे होते हैं कि मनुष्य को केवल आँख से वे नहीं दिखाई देते।

## पुराने लोगों का विश्वास

यूनान देश का प्रसिद्ध प्रकृतिवादी अरस्तू, जो करीब ढाई हजार वर्ष पहले हुआ है, यह मानता था कि मेढक और उसकी तरह के काफी ऊँची रचना-वाले जीव भी दल-दलों में एकाएक पैदा हो जाते हैं! इसी तरह रोम के नामी लेखक वर्जिल ने एक जगह शहद की मक्खियों को पैदा करने की विधि बतलाई है! इसी प्रकार कई शताब्दियों तक विद्वानों का यह मत बना रहा है कि बहुत-से जीव जैसे वे दिखाई देते हैं वैसे ही प्रकृति द्वारा गढ़े गए हैं और आप-से-आप ही वे पृथ्वी पर पैदा हो जाते हैं। यह बात उनको ऐसी निर्विवाद सत्य प्रतीत होती थी कि इसके विषय में उनको कभी भ्रम ही नहीं हुआ। यहाँ तक कि १७ वीं शताब्दी के साहित्य में तो गोबर से गुबरीले का पैदा होना, तितली-अँखफुट्टों का घास-फूस या अन्य सड़े-गले पदार्थों से बन जाना, धरती से चूहों का उत्पन्न होना, आदि बातों पर संदेह करनेवालों का लेखक मजाक उड़ाया करते थे!

**सूक्ष्मदर्शक यंत्र**

जिसने प्रकृति के सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करने के लिए वैज्ञानिकों को मानो दिव्य दृष्टि ला दी!

(दाहिनी ओर)

**लीवेनहुक और उसका सूक्ष्मदर्शक**

आपको यह जानकर कुतूहल होगा कि लीवेनहुक का आरंभिक सूक्ष्मदर्शक यंत्र केवल एक आतिशी शीशे जैसा था, जिसे वह चित्र में हाथ में लिये हुए दिखाया गया है।

परन्तु तब से अब मनुष्य का ज्ञान बहुत अधिक आगे चला गया है। आजकल छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ भी अंडों और इल्लों को पालकर स्वयं ही तितली निकालते देखे जाते हैं। वे यह भी जानते हैं कि नन्हे-नन्हे मेढक के बच्चे, जो पहला पानी बरस जाने के बाद खेतों और बगीचों में कूदते दिखाई देने लगते हैं, बिल्कुल कीचड़ या गीली मिट्टी से उत्पन्न नहीं हुए हैं; बल्कि वे मछली-जैसे पानी में तैरनेवाले उन छोटे-छोटे दुमदार बच्चों से बढ़कर और बदलकर बने हैं, जो अपनी माँ के दिए हुए अंडों से निकलते हैं। अंडे से लेकर मेढक बनने तक की सारी अवस्थाएँ अब बड़ी आसानी से प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं। जीव-विज्ञान की शिक्षा देनेवाले लगभग सभी स्कूल-कालेजों के संग्रहालयों में ये अवस्थाएँ हर समय देखी जा सकती हैं। यह सब-कुछ होते हुए भी कितने ही मनुष्य अब भी ऐसे हैं, जो यह समझते हैं कि जब पहले-पहल वर्षा होती है, तो उस वर्षा के साथ ही बीरबहूटी जैसा जीव भी या तो बरसता है या

पानी से भीगने पर सड़ जानेवाली घास-पात और पोखरों के स्थिर जल में पाये जानेवाले कुछ क्षुद्र जीव

( १ ) पाँच प्रकार के बैक्टीरिया ; ( २ ) अमीबा और उसके मिथ्या पाद; ( ३ ) पेरामीसियम या फिसलनेवाला एककोष्ठी जीव; ( ४-५ ) दो प्रकार के रोएदार एककोष्ठी जीव; ( ६-७ ) दो प्रकार के सबसे साधारण बहुकोष्ठी चक्रधारी जीव ।

किए गए थे । नए जीव और पेड़-पौधे अपने माता-पिता या अपने से पहले के बीज से ही उत्पन्न होते हैं । यही विचार पहले के मनुष्यों का भी था, क्योंकि उन्होंने जानवरों को पालना और खेती करना बहुत पहले ही सीख लिया था। हमारी तरह ही उन्होंने भी पालतू मवेशियों के बच्चे पैदा होते देखे, और पुराने फल और फूलों के बीज से नए पेड़ उगते देखे । परन्तु मक्खी, कीड़े, फफूँदी और खुम्मी या कुकुरमुत्ते में क्या बात है ? क्या आप इनके सम्बन्ध में भी उतनी ही सुगमता से कह सकते हैं कि वे अपने माता-पिता द्वारा या बीजों से उत्पन्न होते हैं ? वर्षा ऋतु के आते ही सैकड़ों प्रकार के नन्हें-नन्हे कीड़े और भुनगे हमें यहाँ-वहाँ विचरते दिखाई देने लगते हैं। वे रात के समय घर या सड़क के चिरागों को हजारों की संख्या में घेर लेते हैं और हमारे लिए पढ़ना-लिखना तथा और काम करना दुष्कर कर देते हैं। एक ही दो पानी के बाद उन खेतों, बागों और चरागाहों में, जो कुछ ही दिन पहले सूखे पड़े थे, नाना प्रकार की घास और जंगली पौधे एकाएक जादू की तरह उग आते हैं, और पृथ्वी पर हरियाली-ही-हरियाली दिखाई देती है । क्या कभी आपने विचार किया है कि ये असंख्य नन्हे बरसाती कीड़े और बिना बोए ही निकलनेवाली यह घास-पात कहाँ से आई ? इनकी उत्पत्ति कैसे हो गई ? इसी प्रकार वसन्त ऋतु में झील और तालाबों के पानी में भी बहुत-से जीवाणु दिखाई देने लगते हैं और उनके नीचे की मिट्टी में केंचुए-जैसे कई सूँड़े और कीटाणु बन जाते हैं । किन्तु इन्हीं झीलों और तालाबों में यही जीव अन्य ऋतुओं में नाम-मात्र के लिए भी मुश्किल से दिखाई देते होंगे । वसन्त आते ही ये एकदम कहाँ से पैदा हो जाते हैं ? इसी प्रकार मांस के टुकड़े या पके हुए फल यदि सड़ने दिये जायँ, तो उनमें जो सूँड़ियाँ बजबजाने लगती हैं, ये भी उनमें भला कहाँ से आ जाती हैं ?

वर्षा ऋतु में नजर आनेवाले असंख्य कीड़े-मकोड़े और जंगली पौधे, वसन्त ऋतु में तालाबों में दिखलाई देनेवाले जीवाणु तथा सड़ते हुए पदार्थों में दिखाई देनेवाले कीड़ों की उत्पत्ति हमें वैसी ही सरलता से नहीं दिखलाई पड़ती है, जैसे हम अपने घरेलू मवेशियों और उगाए हुए पेड़-पौधों की उत्पत्ति जान सकते हैं। प्राचीन मनुष्यों ने भी जब इन बातों को देखा और इन पर विचार किया, तो वे इस नतीजे पर पहुँचे कि ये सब अपने आस-पास की वस्तुओं से या उनमें स्वयं ही पैदा होते रहते हैं । उनके पास उस समय न तो आतशी शीशे थे, न सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र, जिनसे वे यह देख सकते कि सूँड़ियाँ सड़ते हुए

मांस से नहीं पैदा होतीं, बल्कि उन सूक्ष्म अंडों से पैदा होती है, जो मक्खियाँ वहाँ दे देती है। न वे आँखों के लिए अदृश्य इन छोटे-छोटे जानवरों और कीड़ों के अंडों का ज्ञान प्राप्त कर पाए और न पौधों के उन बहुत-से बीजों का ही पता लगा पाए, जो अनजान में ही मिट्टी में दबे रह जाते है। अतः उनका यह दृढ विश्वास था कि जीव बहुत-से प्राणियों मे अचानक अपने आप अनैन्द्रिक पदार्थों से उत्पन्न हो सकता है। किन्तु अब सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा कोई भी देख सकता है कि वास्तव में ऊपर बताए हुए जीवों में अंडे या बीज होते है और नए जीव उन्ही से पैदा होते है। ये अंडे और बीज इतने छोटे होते है कि मनुष्य को केवल आँख से वे नही दिखाई देते।

## पुराने लोगों का विश्वास

यूनान देश का प्रसिद्ध प्रकृतिवादी अरस्तू, जो करीब ढाई हजार वर्ष पहले हुआ है, यह मानता था कि मेढक और उसकी तरह के काफी ऊँची रचना-वाले जीव भी दल-दलों में एकाएक पैदा हो जाते है! इसी तरह रोम के नामी लेखक वर्जिल ने एक जगह शहद की मक्खियों को पैदा करने की विधि बतलाई है! इसी प्रकार कई शताब्दियों तक विद्वानो का यह मत बना रहा है कि बहुत-से जीव जैसे वे दिखाई देते है वैसे ही प्रकृति द्वारा गढ़े गए है और आप-से-आप ही वे पृथ्वी पर पैदा हो जाते है। यह बात उनको ऐसी निर्विवाद सत्य प्रतीत होती थी कि इसके विषय में उनको कभी भ्रम ही नहीं हुआ। यहाँ तक कि १७ वीं शताब्दी के साहित्य में तो गोबर से गुबरीले का पैदा होना, तितली-अँखफुट्टो का घास-फूस या अन्य सड़े-गले पदार्थों से बन जाना, धरती से चूहो का उत्पन्न होना, आदि बातों पर संदेह करनेवालों का लेखक मजाक उड़ाया करते थे!

**सूक्ष्मदर्शक यंत्र**

जिसने प्रकृति के सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करने के लिए वैज्ञानिकों को मानों दिव्य दृष्टि ला दी!

(दाहिनी ओर)

**लीवेनहुक और उसका सूक्ष्मदर्शक**

आपको यह जानकर कुतूहल होगा कि लीवेनहुक का आरंभिक सूक्ष्मदर्शक यंत्र केवल एक आतिशी शीशे जैसा था, जिसे वह चित्र में हाथ में लिये हुए दिखाया गया है।

परन्तु तब से अब मनुष्य का ज्ञान बहुत अधिक आगे चला गया है। आजकल छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ भी अंडो और इल्लो को पालकर स्वय ही तितली निकालते देखे जाते है। वे यह भी जानते है कि नन्हे-नन्हे मेढक के बच्चे, जो पहला पानी बरस जाने के बाद खेतो और बगीचों में कूदते दिखाई देने लगते है, बिल्कुल कीचड़ या गीली मिट्टी से उत्पन्न नहीं हुए है; बल्कि वे मछली-जैसे पानी में तैरनेवाले उन छोटे-छोटे दुमदार बच्चों से बढकर और बदलकर बने है, जो अपनी माँ के दिए हुए अंडो से निकलते हैं। अंडे से लेकर मेढक बनने तक की सारी अवस्थाएँ अब बड़ी आसानी से प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। जीव-विज्ञान की शिक्षा देनेवाले लगभग सभी स्कूल-कालेजो के संग्रहालयों में ये अवस्थाएँ हर समय देखी जा सकती है। यह सब-कुछ होते हुए भी कितने ही मनुष्य अब भी ऐसे हैं, जो यह समझते है कि जब पहले-पहल वर्षा होती है, तो उस वर्षा के साथ ही बीरबहूटी जैसा जीव भी या तो बरसता है या

अकस्मात् पैदा हो जाता है ; अथवा बरसात मे रक्खे हुए आटे में सूँड़ियाँ आटे में ही सील से पैदा हो जाती है ; नाबदानो मे रुके हुए पानी में मिट्टी के सड़ने से ही सूँड़े बन जाते है, आदि। इन लोगों का यह विश्वास केवल अज्ञानता के कारण ही है ।

पुराने जमाने में लोगो का यह स्वभाव था कि वे जो कुछ और लोगो से सुनते या पढते थे या जिन बातो पर यकीन करते थे, उनकी जाँच किए बिना ही उन्हे सच मान लेते थे । उनमें आज की तरह वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समावेश नही हुआ और न उन्होने विज्ञान का यह मुख्य पाठ ही सीखा था कि अपने विश्वासों और मतों को स्वयं जाँच लेना चाहिए । इसलिए १७वी शताब्दी के मध्य तक किसी का भी ध्यान इस ओर नही गया की इस बात की परीक्षा कर ली जाय कि सड़े हुए मांस में क्या सचमुच ही सूँड़ियाँ पैदा हो जाती है । इस बात की जाँच करने को पहले-पहल इटली के रेडी नामक प्रकृतिवादी और कवि का ध्यान गया। इसका पता लगाने के लिए उसने एक बहुत ही साधारण-सी परख निकाली । उसने मास के कुछ टुकड़े कई अलग-अलग बर्त्तनों में रक्खे। कुछ को उसने खुला रहने दिया और कुछ को ऐसे कपड़े या जाली से ढक दिया कि उनमें किसी प्रकार की भी मक्खियाँ न जा सके। तब देखा गया कि सूँडियाँ केवल मांस के उन्ही टुकडो मे बनी, जो खुले रक्खे थे और जिन पर मक्खियो के बैठने के लिए कुछ रोक न थी । इसी प्रकार रेडी ही ने पहले-पहल यह भी पता लगाया कि ये सूँड़ियाँ ही बढकर क्रमश: मक्खी बन जाती है । तब उसने और अधिक खोज की और उनके अडे भी देख लिए। इससे उसको पूर्ण विश्वास हो गया कि मक्खियो के दिए हुए अंडो से ही सूँड़ियाँ निकलती है, वे सड़े गोश्त में से नही बनती, जैसा कि उस समय के लोगो का आम तौर पर विश्वास था । इस विषय-संबंधी रेडी के प्रयोगों का पूर्ण विवरण १६६८ ई० में छपा था । इसके बाद दूसरो ने भी इस बात की जाँच की और उसे बिल्कुल सच पाया । उसी समय से सब लोग रेडी के विचारो को मानने लगे ।

**महान् वैज्ञानिक लुई पासच्यर**

जिसने स्वय-जनन की धारणा का भंडाफोड कर यह सिद्ध कर दिखाया कि वस्तुओं के सडने में जो कीटाणु पैदा होते है, वे अपने आप पैदा नही होते, वरन् अन्य कीटाणुओं के उन पदार्थों से संसर्ग से जनमते है ।

उस समय के लोगो का यह विचार था कि वर्षा ऋतु और बसन्त ऋतु में जो छोटे-छोटे जानवर और कीड़े-मकोडे एकदम दिखलाई देने लगते हैं, वे अंडो से नही पैदा होते, बल्कि आसपास की मिट्टी तथा अन्य वस्तुओं के सडने और गलने से अपने आप पैदा हो जाते है । ऊपर लिखी गई बातो के प्रकाश में आने पर उनके इस विश्वास को बहुत धक्का लगा । जिन वैज्ञानिको ने इन जीवो के जीवन एवं उनकी उत्पत्ति का अध्ययन किया, वे स्वयं ही जान गए कि जैसे मेढक, तितलियाँ, सूँड़ियाँ आदि मिट्टी, कीचड़ या सडी-गली वस्तुओं मे बिना अंडों के पैदा नही होते, वैसे वे अन्य जीव भी, जिनका अध्ययन उन्होने किया था, बिना अंडों के उत्पन्न नहीं होते । इससे उन्होने यही परिणाम निकाला कि जिन जीवो की उत्पत्ति का हाल वे ठीक-ठीक नही जानते थे, वे भी बिना अंडों के अपने आप ही पैदा नही होते होंगे । बरसात में अचानक दृष्टिगोचर होनेवाले तरह-तरह के जीवाणुओ के अडे-बच्चे तथा पेड-पौधो के बीज किसी-न-किसी रूप में पृथ्वी मे पहले से मौजूद रहते है, तथा वर्षा होने के कारण वे तेजी से बढने लगते है या उग आते है । इसलिए उनका पहले का यह विचार गलत साबित हुआ कि वे अपने आप ही एकाएक पैदा हो जाते है । सच बात तो यह है कि अन्य मौसमो की अपेक्षा अधिक अनुकूल जलवायु पा जाने के कारण ही ये जंतु इन मौसमों मे बहुत तेजी से बढ़ जाते है । इसी प्रकार ज्यों-ज्यो वैज्ञानिको को दूसरे प्राणियो के जन्म की कहानी भी मालूम होती गई, त्यो-त्यों जीवो के अपने आप पैदा होने का विश्वास उनके मन में से उठता गया ।

## सूक्ष्मदर्शक यन्त्र और सूक्ष्म जीवाणु

रेडी के विचारों के प्रकाशित होने के सात वर्ष वाद लीवेनहुक ने पहले-पहल अपना सूक्ष्मदर्शक यन्त्र बनाया। पृष्ठ १७५ के चित्र में पहले और अब के सूक्ष्मदर्शक यन्त्र दिखाए गए है। इस यन्त्र द्वारा देखने से छोटी वस्तुएँ कई गुना बडी दिखाई देती है। दस-पाँच गुना से लेकर कई हजार गुना बढाकर दिखलानेवाले सूक्ष्मदर्शक यन्त्र आजकल प्रचलित है। इस यन्त्र से मनुष्य की दृष्टि पहले से कहीं अधिक विस्तृत हो गई और बहुत से ऐसे जीवाणु और कीटाणु, जो पहले हमारे लिए नितान्त अदृश्य थे, अब दिखलाई पड़ने लगे। लीवेनहुक तथा अन्य जीव-विज्ञान-वेत्ताओ ने इस यन्त्र के द्वारा छोटे-छोटे कीटाणुओं और जीवाणुओं की एक नई दुनिया हमारे लिए खोज निकाली। इन लोगों ने स्वच्छ जल के दो-एक बूंद इसी यन्त्र में देखे और उनमें कोई जीव नही पाया। परन्तु उसी पानी को कई दिन रक्खे रहने के बाद जब फिर देखा तो उसे उन्होने जीवित सूक्ष्म जीवाणुओं से भरा पाया। ये जीव ऐसे साधारण और नन्हें थे कि वे जीवन की सबसे आरंभिक दशा के प्रतिनिधि जान पडते थे। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में जिस तेजी से ये प्रकट होते थे वैसे ही लुप्त भी हो जाते थे। आज भी आप चाहें तो इनका दृश्य सहज में देख सकते है। पहले आप नल के दो-एक बूंद पानी को लेकर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में देखिए। उसमे आपको कोई भी जीव दृष्टिगोचर न होगा। यदि आप उसी नल के पानी को कांच के प्याले में कुछ सूखी घास के टुकडे डालकर कपड़े से ढककर रख दें और चार-छ: रोज के बाद कपड़ा हटाकर देखे, तो आपको पानी के ऊपर एक मैल की झिल्ली-सी दिखाई देगी। अब इस झिल्ली का जरा-सा टुकड़ा दो-एक बूंद उसी पानी के साथ लेकर फिर इसी यन्त्र में देखिए। आप उसमें लाखों नन्हें-नन्हें बिन्दु और छोटे-छोटे तिनके जैसे या टेढ़े-मेढे लकीर जैसे जीव हिलते-डुलते देखेंगे। ये जीवों में सबसे निम्न कोटि के समझे जाते है, और इन्हीं को हम बैक्टीरिया के नाम से पुकारते है। दो-चार दिनो के पश्चात् उसी पानी और झिल्ली में प्राणियों में सब से सादा अर्थात्

(ऊपर) **घरेलू मक्खियां और** (नीचे) **उन्हीं की एक सूंडी**

दोनों की आकृतिया सामान्य आकार से काफी बढाकर दरशाई गई हैं। मक्खियों के साथ-साथ सूंडियों के ढेर प्रदर्शित है।

**रेडी का प्रयोग**

ढके हुए मांस में सूँडियाँ नहीं पड़ी और खुले में सूँडियाँ पड गई हैं, जो दाहिनी ओर ऊपर के कोने में दिखाई गई है।

एककोष्ठी जीव '**अमीबा**' पैदा हो जाता है। ध्यान से देखने पर आप उसे अपने मिथ्या पादो से धीरे-धीरे चलते-फिरते और बैक्टीरिया आदि को खाते हुए देख सकते है। इसके भी और थोड़े दिनो बाद, अमीबा से बडे और उसको भी खानेवाले अन्य प्रकार के एककोष्ठी जीव उसी पानी मे आपको दिखाई देंगे। और भी आगे चलकर, एक प्रकार के साधारण बहुकोष्ठी जीव, जिनको हम '**रोटीफर**' या चक्रधारी कीटाणु कहते है, नजर आएँगे। इससे आपको ज्ञात हो जायगा कि घास-फूस या पत्तों को स्वच्छ पानी मे भिगोए रहने से नाना प्रकार के साधारण जीव पानी मे उत्पन्न हो जाते हैं। साथ ही आप इस प्रयोग से यह भी जान पाएँगे कि साधारण-से-साधारण जीव से एक के बाद दूसरे जीव किस प्रकार अधिक जटिल होते जाते है। जब अमीबा के आहार के लिए बैक्टीरिया उत्पन्न हो जाते है, तभी अमीबा का जन्म होता है; फिर उसके बाद उसको खानेवाले अन्य जीव बनते है, और तदनन्तर इन जीवो को खानेवाले 'रोटीफर' पैदा होते है।

जब लोगों ने सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा पहलेपहल शुद्ध जल, रुका हुआ जल, घास और पत्तो से मिश्रित जल आदि देखा और यह पाया कि साफ पानी में कुछ दिनों बाद बैक्टीरिया आदि सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते है, तब वे सोचने लगे कि ये आखिर आए कहाँ से ? परन्तु इसका कारण उनकी समझ में नहीं आया और वे पुनः यही कहने लगे कि उनका जन्म अपने आप ही हो जाता है। जिस बात को वे पहले नन्हें-नन्हें जीव, कीड़ो या मकोड़ों पर लागू समझते थे और बाद मे जिसको गलत समझने लगे थे, उसे ही वे फिर उनसे भी बहुत छोटे जीवों पर, जो कि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में ही देखे जा सकते थे, लागू करने लगे। पर थोड़े ही दिनों बाद उनका यह विश्वास भी गलत सिद्ध हो गया।

## स्वयं-जनन में अविश्वास

१८ वी शताब्दी के समाप्त होने के पूर्व १७७५ ई० मे स्पैलेनजानी नामक एक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि सूक्ष्मदर्शक से दिखाई देनेवाले छोटे जीवों का भी जन्म अपने आप नही होता। इसके बाद एक और प्रसिद्ध जीव-तत्वज्ञान-वेत्ता पासच्यर ने प्रयोग द्वारा स्वयं-जनन की इस धारणा की जाँच की। उसने कुछ वर्त्तनों को इतना खौलाया कि उनमें किसी प्रकार के कीटाणुओं, अंडों, बच्चों, आदि का जीवित रहना असंभव हो गया और तब उनके अन्दर मांस तथा अन्य सड़नेवाली वस्तुओ को इस प्रकार बन्द कर दिया कि उनमें बाहर की दूषित वायु न जा सके। ऐसा करने पर उन वस्तुओं में बहुत दिनो तक न तो किसी प्रकार के जीवाणु बने और न वे वस्तुएँ सड़ी ही। इसी प्रकार गर्म किए बर्तनों में स्वच्छ जल को भी रख देने से न तो उसमें बैक्टीरिया ही बने, न कोई और जीव। उसमें फफूंद भी नही आई। उन्होने इस प्रकार के लगातार कई प्रयोग किए और सन् १८६६ में पक्के तौर पर साबित कर दिखाया कि घास-पात को भिगोनेवाले पानी में अथवा मास या फल आदि के सड़ने मे जो जीव उत्पन्न हो जाते है, वे अपने आप नही पैदा होते। हवा के द्वारा उनके अंडे, 'स्पोर' या बीज सड़नेवाली चीजो मे या शुद्ध पानी में पहुँच जाते हैं और भिगोए जानेवाली सूखी घास पर भी इनके स्पोर और बीज अवश्य ही अदृश्य रूप में ऐसे चिपटे रहते है कि उन्हे हम सहज में नहीं देख सकते। इन्ही से ये सब जीव एक के बाद दूसरे अपने-अपने समय पर उत्पन्न होते चले जाते है। भोज्य पदार्थो के बिगड़ने का कारण यह है कि उनमें जीवित कीटाणु पड़ जाते है, जिससे उनमें खमीर उठने लगता है या वे सड़ जाते है। ये जीवाणु तीन जाति के है—फफूंद (भुकड़ी), खमीर और बैक्टीरिया। इनमें से एक या अधिक जातियों के रहने से खाद्य-सामग्री बिगड़ने लगती है। ये करोड़ों की संख्या में सब जगह उपस्थित रहते है। पानी में भी ये हैं, जिसे हम पीते है। हवा में भी है, जिसमे हम साँस लेते है और धरती पर भी ये व्याप्त है, जिस पर हम चलते है। फफूंद को छोड़कर ये सब इतने छोटे है कि बिना सूक्ष्मदर्शक यंत्र के देखे नहीं जा सकते। साधारण पौधो और इन फफूंद, खमीर आदि मे अंतर यह है कि इनमें हरे पौधों की तरह हवा और पृथ्वी से भोजन खीचने की शक्ति नहीं होती। इसलिए वे दूसरे पौधों या जानवरों के मांस से अपना भोजन चूसते है। इन तीनों प्रकार के सड़ानेवाले जीवो मे से कुछ को मारने के लिए थोड़ी ही गर्मी की आवश्यकता होती है। पर कुछ को उनसे ज्यादा गर्मी चाहिए, और कुछ को मारने के लिए तो बहुत ही ज्यादा गर्मी की आवश्यकता होती है। इनमें बैक्टीरिया तथा उनके बीजो को मारने के लिए सबसे अधिक ताप की आवश्यकता होती है। बहुत-से बैक्टीरिया और उनके बीज खौलते पानी के तापक्रम तक गर्म कर देने से नष्ट हो जाते हैं। परन्तु बहुधा ऐसे भी बैक्टीरिया होते है, जिनके बीज खौलते पानी के तापक्रम को भी सहन कर सकते है। उनको नष्ट करने के लिए १५०° फा० तक उन्हे गर्म करना पड़ता है।

इन सूक्ष्म जीवों को गर्म करके मारने या बढ़ने से रोकने की पासच्यर की तरकीब या रीति आजकल व्यापार तथा औषधियों आदि में बहुत काम आती है। इसकी दो रीतियाँ हैं। एक को हम कीटाणु-निश्चेष्टीकरण अर्थात् 'पासच्यराइजेशन' कहते हैं, क्योंकि इसे पहलेपहल पासच्यर ने ही निकाला था। इस रीति का उपयोग दूध, दही, मलाई के संरक्षण के लिए किया जाता है, जिससे वे अधिक समय तक ठहर सकें। दूसरी रीति कीटाणु-नाशन कहलाती है, जिसमें सामग्री इतनी अधिक गर्म की जाती है, जिससे कि उसमें के सब जीव मर जायँ। यदि इस के बाद उसको बर्त्तन में रखकर इस प्रकार बंद किया जाय कि हवा द्वारा नए बैक्टीरिया, फफूँद या खमीर के बीज उसमें न पहुँच सकें, तो वह सामग्री बहुत दिनों तक अच्छी बनी रहती है। फलों तथा शर्बतों आदि के संरक्षण के लिए आजकल यही तरीका काम में लाया जाता है। जितनी ही सावधानी से ये वस्तुएँ कीटाणु-रहित की जायँगी, उतने ही अधिक समय तक अच्छी बनी रहेंगी। ऐसे प्रयोगों से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि यदि कीटाणु-विहीन की हुई खाद्य सामग्री में हम कीटाणु या उनके बीज का पहुँचना असम्भव कर दें, तो फिर नए कीटाणु कदापि उत्पन्न न हो सकेंगे।

**सबसे निम्न कोटि के एककोष्ठी वनस्पति और जीवधारी**

(ऊपर) 'ग्लैओकैप्सा' नामक अतिसूक्ष्म एककोष्ठी शैवाल का फोटो है। (नीचे) 'प्रोटोजोआ' वर्ग का जंतु-जगत् का एक निम्नतम कोटि का प्राणी दिग्दर्शित है। यहाँ जो फोटो दिए गए हैं, वे सूक्ष्मदर्शक द्वारा लिये गए हैं, अतः अत्यधिक परिवर्द्धित हैं।

तब हमें इन सूक्ष्म जीवों में स्वयं-जनन होने का विचार त्यागना ही पड़ता है। सूक्ष्मदर्शक हमें नन्ही चीजों को कई हजार गुना तक बड़ा करके दिखाते हैं, लेकिन फिर भी दुनिया में ऐसे नन्हें जीवाणु हैं, जिन्हें हम सूक्ष्मदर्शक-यन्त्र से भी नहीं देख पाते। चेचक की बीमारी को हम सभी जानते हैं और यह भी मानते हैं कि वह भयंकर छूत की बीमारी है; किन्तु अभी तक काफी जाँच होने पर भी कोई वैज्ञानिक या डाक्टर यह नहीं पता लगा पाया है कि यह रोग किन कीटाणुओं के कारण होता है—यद्यपि यह सब मानते हैं कि उसका कोई विशेष कीटाणु अवश्य ही होगा। कदाचित् चेचक के कीटाणु इतने छोटे हैं कि अभी तक अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने पर भी हम उनको देख नहीं सके हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से यह बात मालूम हुई है कि हैजे के जीवाणु हरिद्वार से उत्तर में गंगा की असली धारा में जीवित नहीं रह सकते। जान पड़ता है कि वहाँ के पानी में हैजे के जीवाणुओं से भी छोटे कोई जीवाणु हैं, जो उनको नष्ट कर देते हैं। कई अमेरिकन तथा अन्य वैज्ञानिकों ने इन जीवाणुओं का पता लगाने की कोशिश की, परंतु वे उसमें सफल न हुए, क्योंकि यदि कोई ऐसे कीटाणु गंगा के उद्गम के निकटवाले जल में हैं तो वे इतने छोटे हैं कि महीन से महीन छन्नों में से भी वे निकल जाते हैं, फिर सूक्ष्मदर्शक से दिखलाई देने की तो बात ही दूर रही। अतः जो कुछ हम ठीक रूप से कह सकते हैं, वह यही है कि हम स्वयंजनन का एक भी उदाहरण नहीं जानते और अभी तक हमें एक भी ऐसा जीवित अथवा

एककोष्ठी जीव '**अमीवा**' पैदा हो जाता है। ध्यान से देखने पर आप उसे अपने मिथ्या पादों से धीरे-धीरे चलते-फिरते और बैक्टीरिया आदि को खाते हुए देख सकते हैं। इसके भी और थोड़े दिनों बाद, अमीवा से बड़े और उसको भी खानेवाले अन्य प्रकार के एककोष्ठी जीव उसी पानी में आपको दिखाई देंगे। और भी आगे चलकर, एक प्रकार के साधारण बहुकोष्ठी जीव, जिनको हम '**रोटीफर**' या चक्रधारी कीटाणु कहते हैं, नजर आएँगे। इससे आपको ज्ञात हो जायगा कि घास-फूस या पत्तों को स्वच्छ पानी में भिगोए रहने से नाना प्रकार के साधारण जीव पानी में उत्पन्न हो जाते हैं। साथ ही आप इस प्रयोग से यह भी जान पाएँगे कि साधारण-से-साधारण जीव से एक के बाद दूसरे जीव किस प्रकार अधिक जटिल होते जाते हैं। जब अमीवा के आहार के लिए बैक्टीरिया उत्पन्न हो जाते हैं, तभी अमीवा का जन्म होता है; फिर उसके बाद उसको खानेवाले अन्य जीव बनते हैं, और तदनन्तर इन जीवों को खानेवाले 'रोटीफर' पैदा होते हैं।

जब लोगों ने सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा पहलेपहल शुद्ध जल, रुका हुआ जल, घास और पत्तों से मिश्रित जल आदि देखा और यह पाया कि साफ पानी में कुछ दिनों बाद बैक्टीरिया आदि सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं, तब वे सोचने लगे कि ये आखिर आए कहाँ से ? परन्तु इसका कारण उनकी समझ में नहीं आया और वे पुनः यही कहने लगे कि उनका जन्म अपने आप ही हो जाता है। जिस बात को वे पहले नन्हे-नन्हे जीव, कीड़ों या मकोड़ों पर लागू समझते थे और बाद में जिसको गलत समझने लगे थे, उसे ही वे फिर उनसे भी बहुत छोटे जीवों पर, जो कि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से ही देखे जा सकते थे, लागू करने लगे। पर थोड़े ही दिनों बाद उनका यह विश्वास भी गलत सिद्ध हो गया।

## स्वयं-जनन में अविश्वास

१८ वीं शताब्दी के समाप्त होने के पूर्व १७७५ ई० में स्पैलेनजानी नामक एक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि सूक्ष्मदर्शक से दिखाई देनेवाले छोटे जीवों का भी जन्म अपने आप नहीं होता। इसके बाद एक और प्रसिद्ध जीव-तत्वज्ञान-वेत्ता पासच्यर ने प्रयोग द्वारा स्वयं-जनन की इस धारणा की जाँच की। उसने कुछ बर्तनों को इतना खौलाया कि उनमें किसी प्रकार के कीटाणुओं, अंडों, बच्चों, आदि का जीवित रहना असंभव हो गया और तब उनके अन्दर मांस तथा अन्य सड़नेवाली वस्तुओं को इस प्रकार बन्द कर दिया कि उनमें बाहर की दूषित वायु न जा सके। ऐसा करने पर उन वस्तुओं में बहुत दिनों तक न तो किसी प्रकार के जीवाणु बने और न वे वस्तुएँ सड़ी ही। इसी प्रकार गर्म किए बर्तनों में स्वच्छ जल को भी रख देने से न तो उसमें बैक्टीरिया ही बने, न कोई और जीव। उसमें फफूँद भी नहीं आई। उन्होंने इस प्रकार के लगातार कई प्रयोग किए और सन् १८६९ में पक्के तौर पर साबित कर दिखाया कि घास-पात को भिगोनेवाले पानी में अथवा मांस या फल आदि के सड़ने में जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं, वे अपने आप नहीं पैदा होते। हवा के द्वारा उनके अंडे, 'स्पोर' या बीज सड़नेवाली चीजों में या शुद्ध पानी में पहुँच जाते हैं और भिगोए जानेवाली सूखी घास पर भी इनके स्पोर और बीज अवश्य ही अदृश्य रूप में ऐसे चिपटे रहते हैं कि उन्हें हम सहज में नहीं देख सकते। इन्हीं से ये सब जीव एक के बाद दूसरे अपने-अपने समय पर उत्पन्न होते चले जाते हैं। भोज्य पदार्थों के बिगड़ने का कारण यह है कि उनमें जीवित कीटाणु पड़ जाते हैं, जिससे उनमें खमीर उठने लगता है या वे सड़ जाते हैं। ये जीवाणु तीन जाति के हैं—फफूँद (भुकड़ी), खमीर और बैक्टीरिया। इनमें से एक या अधिक जातियों के रहने से खाद्य-सामग्री बिगड़ने लगती है। ये करोड़ों की संख्या में सब जगह उपस्थित रहते हैं। पानी में भी ये हैं, जिसे हम पीते हैं। हवा में भी हैं, जिसमें हम साँस लेते हैं और धरती पर भी ये व्याप्त हैं, जिस पर हम चलते हैं। फफूँद को छोड़कर ये सब इतने छोटे हैं कि बिना सूक्ष्मदर्शक यंत्र के देखे नहीं जा सकते। साधारण पौधों और इन फफूँद, खमीर आदि में अंतर यह है कि इनमें हरे पौधों की तरह हवा और पृथ्वी से भोजन खींचने की शक्ति नहीं होती। इसलिए वे दूसरे पौधों या जानवरों के मांस से अपना भोजन चूसते हैं। इन तीनों प्रकार के सड़ानेवाले जीवों में से कुछ को मारने के लिए थोड़ी ही गर्मी की आवश्यकता होती है। पर कुछ को उनसे ज्यादा गर्मी चाहिए, और कुछ को मारने के लिए तो बहुत ही ज्यादा गर्मी की आवश्यकता होती है। इनमें बैक्टीरिया तथा उनके बीजों को मारने के लिए सबसे अधिक ताप की आवश्यकता होती है। बहुत-से बैक्टीरिया और उनके बीज खौलते पानी के तापक्रम तक गर्म कर देने से नष्ट हो जाते हैं। परन्तु बहुधा ऐसे भी बैक्टीरिया होते हैं, जिनके बीज खौलते पानी के तापक्रम को भी सहन कर सकते हैं। उनको नष्ट करने के लिए १५०° फा० तक उन्हें गर्म करना पड़ता है।

इन सूक्ष्म जीवों को गर्म करके मारने या बढ़ने से रोकने की पासच्यर की तरकीब या रीति आजकल व्यापार तथा औषधियों आदि में बहुत काम आती है। इसकी दो रीतियाँ हैं। एक को हम कीटाणु-निश्चेष्टीकरण अर्थात् 'पासच्यराइजेशन' कहते हैं, क्योंकि इसे पहलेपहल पासच्यर ने ही निकाला था। इस रीति का उपयोग दूध, दही, मलाई के संरक्षण के लिए किया जाता है, जिससे वे अधिक समय तक ठहर सकें। दूसरी रीति कीटाणु-नाशन कहलाती है, जिसमें सामग्री इतनी अधिक गर्म की जाती है, जिससे कि उसमें के सब जीव मर जायँ। यदि इस के बाद उसको बर्तन में रखकर इस प्रकार बंद किया जाय कि हवा द्वारा नए बेक्टीरिया, फफूँद या खमीर के बीज उसमें न पहुँच सकें, तो वह सामग्री बहुत दिनों तक अच्छी बनी रहती है। फलों तथा शर्बतों आदि के संरक्षण के लिए आजकल यही तरीका काम में लाया जाता है। जितनी ही साव-धानी से ये वस्तुएँ कीटाणु-रहित की जायँगी, उतने ही अधिक समय तक अच्छी बनी रहेंगी। ऐसे प्रयोगों से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि यदि कीटाणु-विहीन की हुई खाद्य सामग्री में हम कीटाणु या उनके बीज का पहुँचना असम्भव कर दे, तो फिर नए कीटाणु कदापि उत्पन्न न हो सकेंगे।

**सबसे निम्न कोटि के एककोष्ठी वनस्पति और जीवधारी**

(ऊपर) 'ग्लेओकेप्सा' नामक अतिसरल एककोष्ठी शैवाल का फोटो है। (नीचे) 'प्रोटोजोआ' वर्ग का जंतु-जगत् का एक निम्नतम कोटि का प्राणी दिग्दर्शित है। यहाँ जो फोटो दिए गए हैं, वे सूक्ष्मदर्शक द्वारा लिये गए हैं, अतः अत्यधिक परिवर्द्धित हैं।

तब हमें इन सूक्ष्म जीवों में स्वयं-जनन होने का विचार त्यागना ही पड़ता है। सूक्ष्मदर्शक हमें नन्ही चीजों को कई हजार गुना तक बड़ा करके दिखाते हैं, लेकिन फिर भी दुनिया में ऐसे नन्हें जीवाणु हैं, जिन्हें हम सूक्ष्मदर्शक-यन्त्र से भी नहीं देख पाते। चेचक की बीमारी को हम सभी जानते हैं और यह भी मानते हैं कि वह भयंकर छूत की बीमारी है; किन्तु अभी तक काफी जाँच होने पर भी कोई वैज्ञानिक या डाक्टर यह नहीं पता लगा पाया है कि यह रोग किन कीटाणुओं के कारण होता है—यद्यपि यह सब मानते हैं कि उसका कोई विशेष कीटाणु अवश्य ही होगा। कदाचित् चेचक के कीटाणु इतने छोटे हैं कि अभी तक अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने पर भी हम उनको देख नहीं सके हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से यह बात मालूम हुई है कि हैजे के जीवाणु हरिद्वार से उत्तर में गंगा की असली धारा में जीवित नहीं रह सकते। जान पड़ता है कि वहाँ के पानी में हैजे के जीवाणुओं से भी छोटे कोई जीवाणु हैं, जो उनको नष्ट कर देते हैं। कई अमे-रिकन तथा अन्य वैज्ञानिकों ने इन जीवाणुओं का पता लगाने की कोशिश की, परंतु वे उसमें सफल न हुए, क्योंकि यदि कोई ऐसे कीटाणु गंगा के उद्गम के निकटवाले जल में हैं तो वे इतने छोटे हैं कि महीन से महीन छन्नों में से भी वे निकल जाते हैं, फिर सूक्ष्मदर्शक से दिखलाई देने की तो बात ही दूर रही। अतः जो कुछ हम ठीक रूप से कह सकते हैं, वह यही है कि हम स्वयंजनन का एक भी उदाहरण नहीं जानते और अभी तक हमें एक भी ऐसा जीवित अथवा

मृत प्राणी का नमूना नहीं मालूम है, जिसके विषय में हम यह समझ लें कि वह स्वयं पैदा हुआ होगा। तब भी हमें विश्वास करना ही पड़ता है कि यदि जीव को आदि में किसी अलौकिक शक्ति ने नहीं रचा, तो वह पहलेपहल किसी अनैन्द्रिक पदार्थ से स्वयं ही बना होगा। यह हमारी ही पृथ्वी पर पैदा हुआ या उसके बाहर, इस पर हम आगे विचार करेंगे। जो भी हो, यह निश्चित है कि पृथ्वी पर उसका प्रवेश उसी समय हुआ होगा, जब यहाँ पर जीव-द्रव्य या प्रारम्भिक रूप के अन्य जीवों के रहने के योग्य अवस्था हो गई होगी। यहां पर हमें फिर अपनी लाचारी को मानना पड़ता है कि हम यह नहीं बतला सकते कि जीवन का विकास सबसे पहले कैसे हुआ !

## क्या जीव पहलेपहल पृथ्वी पर किसी दूसरे आकाशपिण्ड से आया ?

पहले कुछ लोगों का विचार था कि हमारी पृथ्वी पर प्रथम जीव आकाश की किसी दूसरी दुनिया से अंतरिक्ष में व्याप्त रजकणों या टूटनेवाले उल्काओं के उन टुकड़ों के साथ आया, जो कि बहुधा आसमान में अन्य ग्रहों से टूटकर झड़ते रहते हैं। लेकिन यह बात बिल्कुल असम्भव जान पड़ती है, जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि ग्रहों से झड़े हुए टुकड़े या धूल या टूटनेवाले तारे बड़ी ही तेजी से गिरते हैं और वायुमण्डल में से गुजरने पर उनमें इतनी जोरों की रगड़ लगती है कि वे गर्मी से दहकने लगते हैं। अगर कठोरतम गर्मी सहनेवाले बैक्टीरिया या उनसे भी सूक्ष्म जीव अथवा उनके बीज, जो बहुत ही तीव्र ताप सहन कर सकते हों, उन आकाशीय ग्रहों या उल्काओं पर रहे हों, तब भी यह मानना बहुत कठिन है कि पृथ्वी तक की इतनी लम्बी यात्रा में और फिर इतनी तेज गर्मी में वे मर न गए होंगे। सूर्य जैसे अन्य नक्षत्र तो इतने गरम हैं कि उन पर किसी भी प्रकार के जीव जीवित ही नहीं रह सकते। हमारी पृथ्वी भी एक ग्रह-सम्प्रदाय की सदस्या है। इस प्रकार के और भी ग्रह-सम्प्रदाय इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में संभवतः होंगे। परन्तु उनमें ऐसे बहुत कम हैं, जिनका ताप ऐसा हो जिसमें कि जीवन सम्भव होता है। नक्षत्रों के चारों ओर घूमनेवाले ग्रह यदि नक्षत्रों के बहुत ही निकट होते हैं, तो उनमें गर्मी के कारण जीवन असम्भव हो जाता है और यदि अधिक दूर हो जाते हैं, तो उनमें सर्दी के कारण जीवन असम्भव हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि जीवित पदार्थ विश्व के बहुत छोटे-से अंश में ही विकसित हो सकते हैं। सर जेम्स जीन्स की गणना के अनुसार यह अंग समस्त विश्व के १/१००००००००० (एक अरब का एक अंग) भाग से भी कुछ कम ही है ! सूर्य की वर्तमान स्थिति पृथ्वी के लिए बहुत ही उपयुक्त है। इससे न तो इसे अधिक सर्दी मिलती है, न अधिक गर्मी। जब क्रमशः पृथ्वी अधिकाधिक ठंडी होती चली जायगी तब मुमकिन है कि कभी एक ऐसा समय भी आ जाय जब यहाँ जीवों का रहना असम्भव हो जाय और धीरे-धीरे करके सभी जीव इस पृथ्वी से विलीन हो जायँ। उधर मंगल ग्रह पृथ्वी से सूर्य की अपेक्षा कुछ अधिक दूर है। अतः धारणा यह की जाती है कि संभवतः जीवन का विकास उस ग्रह पर हमारी धरती पर से पहले हुआ होगा। यदि वास्तव में ऐसा हुआ होगा, तो चूँकि वह अब ठंडा होता जा रहा है, अतः जीवों की संख्या वहाँ अब घटती जा रही होगी। हमारी पृथ्वी पर प्रलय हो जाने के पश्चात् शायद शुक्र पर जीवन के उदय की बारी आए, ऐसी धारणा की जाती है, क्योंकि धरती के बाद यही ग्रह सूर्य के सबसे निकट है।

## पृथ्वी पर जीव का जन्म कैसे हुआ ?

यदि जीव पृथ्वी पर अन्य ग्रहों से नहीं आया, तो फिर अवश्य ही वह यहीं आरंभ में बना होगा। इसलिए आइए, अब इसी बात का विचार करें कि उसका आरम्भ कैसे हुआ ? जीव-शास्त्रवेत्ताओं की राय आम तौर पर यही है कि पृथ्वी की बाल्यावस्था में पहला जीव-द्रव्य कतिपय अनैन्द्रिक अवयवों से या उनके संगठन से ही बना होगा। यह निश्चित है कि ऐसी नाजुक घटना ऐसे समय में हुई होगी जब कि पृथ्वी की अवस्था आजकल से बहुत विभिन्न रही होगी। वरना आज भी वैसा ही होते हम देखते। इसी ग्रंथ के अन्य एक स्तम्भ में पृथ्वी के जन्म की कहानी आप पढ़ चुके हैं। उससे आप यह जान गए होंगे कि पृथ्वी अपनी पिघली हुई प्रारम्भिक अवस्था से लाखों वर्ष में धीरे-धीरे ठंडी होते-होते वर्तमान अवस्था में पहुँची है और वह प्रतिदिन ठंडी ही होती जा रही है। इसलिए जीव-द्रव्य (जो न कड़ी गर्मी सह सकता है, न कड़ी सर्दी) की उत्पत्ति तभी हुई होगी, जब पृथ्वी के धरातल की ऊपरी तह का ताप उसके योग्य हो गया होगा। भौतिक विज्ञान के आचार्य हमें बतलाते हैं कि उष्ण नक्षत्रों की वायु में हाइड्रोजन बहुत होती है और जब वे ठंडे होने लगते हैं, तो उन पर कार्बन भी बड़ी मात्रा में मिलने लगता है। उनमें आक्सिजन भी रहती है। यही हाल पृथ्वी की पिघली हुई दशा में भी रहा होगा। ज्यों-ज्यों वह ठंडी

**पृथ्वी की डायरी के कुछ पृष्ठ**

बाईं ओर पृथ्वी के छिलके के नीचे के विभिन्न युगों के चट्टानों के स्तर उनमें दबे हुए उन-उन युगों के जानवरों के प्रस्तर-विकल्पों सहित दिग्दर्शित हैं। दाहिनी ओर उनका विवरण दिया गया है।

होने लगी होगी, आक्सिजन और हाइड्रोजन के कारण उस पर बहुत-सी जलवाष्प बन गई होगी और साथ ही आक्सि-जन तथा कार्बन के संयोग से बहुत अधिक मात्रा मे कार्बन डाइआक्साइड भी बन गई होगी। ज्यो-ज्यों पृथ्वी और ठंडी हुई, उसकी ऊपरी तह जमकर ठोस हो गई। इस कडी धरती के ऊपर जब भाफ ठंडी होकर जमकर पानी होने लगी होगी तो कुछ समय बीतने पर गड्ढो और खोखलों मे इस पानी के इकट्ठे होने से झील और समुद्र बनने लगे होगे। उस समय वर्षा भी बहुत अधिक होती होगी। इस पानी मे कार्बन डाइआक्साइड और धरती से थोडा-बहुत अमोनिया तथा अन्य साधारण नमक घुलकर मिल गए होंगे, क्योंकि वह पानी कार्ब-निक एसिड की उपस्थिति से हलका आम्लिक रहा होगा। उस समय हमारी नवजात पृथ्वी की सतह गर्म और नम रही होगी और उसका ताप घटता-बढ़ता न होगा, क्यो-कि उसका वायुमंडल घनी भाप से भरा हुआ होगा। उसके ऊपर के पानी मे उन दिनो कार्बन डाइआक्साइड की अधिकता के अतिरिक्त अमोनिया के रूप मे नाइट्रोजन और हवा से खींचा हुआ थोड़ा बहुत फास्फोरस तथा अन्य अनैन्द्रिक मिश्रण भी रहे होगे, जिनकी मात्रा नित्य बढती जाती होगी। प्रयोगो से पता लगता है कि ऐसी अनुकूल दशा में शकर तथा दूसरे जटिल ऐन्द्रिक मिश्रण बन जाते है। अतः सूर्य की किरणो की शक्ति के वाष्पयुक्त वायु में बुझने तथा कार्बनिक मिश्रणो एवं खनिज लवणो तक पहुँचने से उनके नाना प्रकार के मेल हो गए होगे। इस प्रकार बने हुए मिश्रण कुछ कम टिकाऊ होगे और कुछ अस्थिर रहे होगे। उनके टूटने और पुनः सयोग से पहले से और भी जटिल मिश्रण बनते गए होगे और एक दिन ऐसा आया होगा जब कि वे सब वस्तुएँ, जो जीव-द्रव्य के लिए आवश्यक है, एक मिश्रण में इकट्ठी हो गई होंगी और इस प्रकार आदि जीवन-पदार्थ बन गया होगा।

इस प्रकार जो प्राथमिक जीव बना होगा वह सागरो के ऐंद्रिक पदार्थो को चूसकर ही बढ़ता रहा होगा। कुछ समय बाद उनके भोजन प्राप्त करने का यह साधन समाप्त हो गया होगा और तब जीवन-पदार्थ अपना भोजन सीधे कार्बन डाइआक्साइड, पानी तथा अनैन्द्रिक नमकों के साधारण तत्त्वो से प्राप्त करता होगा। इस रीति से भोजन ग्रहण करने के लिए सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता पड़ती होगी और यह प्रकाश केवल जल की सतह पर या उसके निकट रहनेवाले जीवो को ही मिल सकता था। इस प्रकार पहली वनस्पति की रचना हुई होगी। कुछ समय बाद ये भी मरने लगे होगे और बैक्टीरिया तथा फफूंद जैसे जीवो के लिए सामग्री तैयार हो गई होगी। इसी प्रकार आगे चलकर क्रमशः सर्वसाधारण जानवर बन गए होगे।

## वनस्पति जानवरों के अग्रज रहे होंगे

जीवन के आरम्भिक काल मे वनस्पतियो का ही पहले पैदा होना जरूरी था, जिससे कि आगे बननेवाले जीवों के लिए खाद्य पदार्थों की कमी न रह जाय। ये प्रारम्भिक वनस्पतियाँ जल के भीतर घुले हुए नमको को चूसकर तथा सूर्य की किरणो से काम लेकर उनका भेदन करके अपने शरीर की सामग्री तैयार करती रही होंगी, जैसे कि वर्त्तमान पेड़-पौधे भी करते है। वे अपने शरीर से नाइट्रोजन, कूडा-कर्कट आदि बाहर नही निकाल पाती होगी। शायद इसी से वे अचल और सुस्त बनी रही। इसके विपरीत साधारण-से-साधारण जन्तु का भोजन कार्बोहाइड्रेट (माड़ी और शर्करा) और प्रोटीन है, जो आरम्भ में उद्भिजो से ही मिल सकता था। इसके बाद जब अन्य बड़े जीव बने होंगे तो वे फिर केवल वनस्पतियों पर निर्भर न रहे होंगे, वरन् दूसरे छोटे-छोटे जीवों को खाकर भी जीवन व्यतीत कर लेते होंगे, जैसा कि आपको आज नित्य ही दिखलाई पड़ता है। आरम्भ में जो थोडे-से जन्तु बने, वे भी पेड़-पौधों की तरह सुस्त एव स्थिर-से थे। कदाचित् इसी कारण उन्हे मल-मूत्र-विसर्जन की अधिक आवश्यकता न थी। गतिवान् प्राणियो को 'चल' तथा गतिहीन प्राणियो को 'अचल' कहते है। आरम्भ मे जीवन की दशा ऐसी थी, जिससे कि चल और अचल में भेद करना असम्भव-सा रहा होगा।

चूँकि आरम्भ में अनेक युगो तक सारी पृथ्वी जल से ढकी रही होगी, अत उस आदि-युग के चराचर जीव केवल बहनेवाली हरियाली या काई और एककोष्ठी अमीबा-जैसे प्राथमिक जीव ही रहे होंगे, जो कि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से ही देखे जा सकते है। परन्तु समय बीतने पर धरती जब धीरे-धीरे सिकुड़ती गई और समुद्र की सतह कही ऊँची कही नीची हो गई, तथा उसमे कही-कही चट्टाने भी बनने लगीं, तब धीरे-धीरे सूखी धरती निकलने पर किनारो पर रहनेवाले जल-जीवों मे से कुछ को सूखी धरती पर रहने के योग्य बनना पड़ा होगा। इसी प्रयास में बहुतेरे जीव नष्ट भी हो गए होंगे। जो दो-चार जीव उस भूमि

पर रह सकने योग्य हो गए होंगे, उन्ही से आगे चलकर कदाचित् अन्य थलचरों का विकास हुआ होगा।

## प्राथमिक जीव पृथ्वी पर कब हुए होंगे?

पृथ्वी पर जीवन कैसे और कहाँ से आया, उस संबंधी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अब हम आपका ध्यान जीवन की उत्पत्ति कब हुई इस प्रश्न की ओर ले जाना चाहते है। जैसा हम ऊपर कह आए है, जिस समय ये आदि जीव समुद्रो में बन रहे थे, उनकी तहो में घुली हुई मिट्टी, बालू आदि बहती रही होगी। जब नई सूखी धरती भूचालों के कारण ऊपर को उठती होगी, तो उसमें से भी मिट्टी, बालू, कंकड आदि वर्षा द्वारा बहकर आते होंगे। इन सबके समुद्र के तले मे जमने से चट्टाने बन गई। इसी प्रकार युग-युगान्तरो मे एक के ऊपर दूसरी चट्टाने बनती चली आई है। इनकी बनावट को ध्यानपूर्वक देखने से विद्वान् लोग गणना करके इनकी आयु (अर्थात उनके बनने के समय) का अनुमान कर सकते है। पृथ्वी के लम्बे इतिहास में जमीन भूचालो से बहुत बार ऊपर की ओर उठा चुकी है। इसमे तथा पहले के सागरो के सूख जाने के कारण बहुत-सी जलमग्न चट्टानें ऊपर को उठ आई है और हमारे स्थल का भाग बन गई है। इनको खोदने से इनकी बनावट की गहराई और मोटाई का पता लगाया गया है। ये चट्टानें हमे एक महत्वपूर्ण कहानी सुनाती है, कारण इन्ही मे पृथ्वी की आत्मकथा के कई अध्याय अंकित है। उनसे जीवन की पहेली पर भी प्रकाश पडता है।
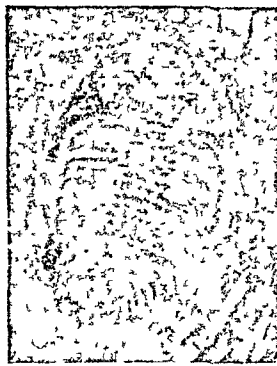
**एक प्रस्तरीभूत त्रिखंडी**

ये प्राचीनतम जीवावशेषों में से है।

## पृथ्वी की नोटबुक

धरातल की इन चट्टानो की तहे ज्यो-ज्यो जमती चली गई या यो कहिए कि जब ये चट्टानें बन रही थी, तब तत्कालीन जल मे रहनेवाले पौधे और जीव भी मर जाने पर समुद्र की तलछट मे दबते चले गए। उनमे से बहुतेरे तो गल और सडकर लापता हो गए, परन्तु कुछ ऐसी जगह दब
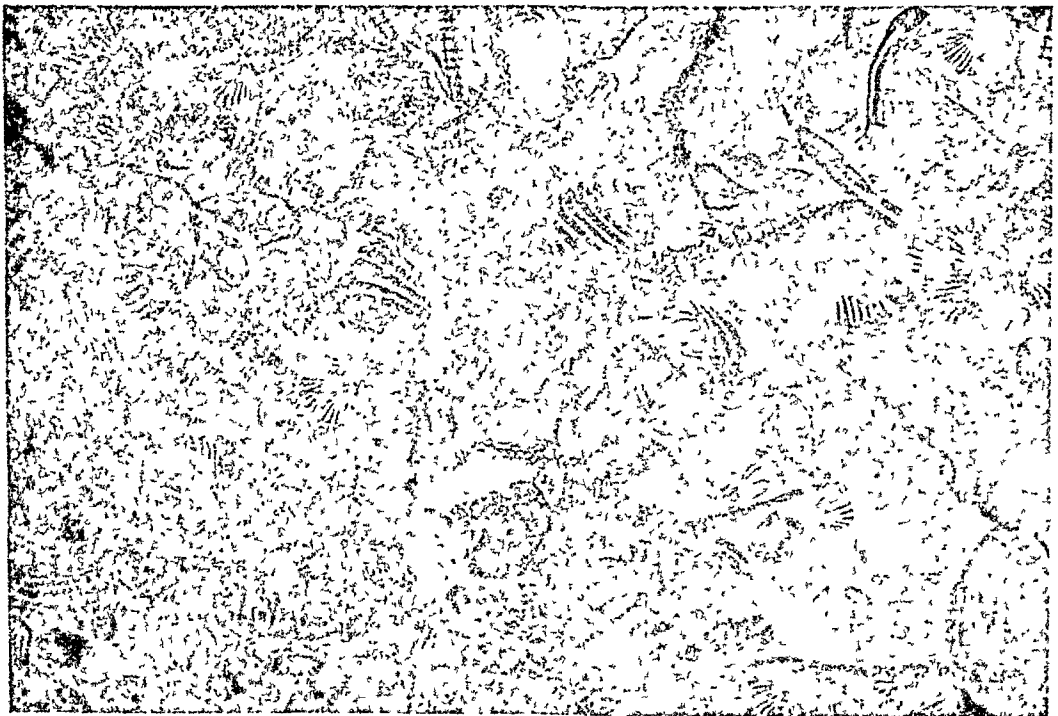
**प्राथमिक युग की चट्टानों में झींगे, केकड़े आदि जैसे त्रिखंडी व अन्य क्षुद्र जीवों के प्रस्तर-विकल्प**

जिस युग में ये जीव पृथ्वी पर जीवितावस्था में विद्यमान थे, उसे बीते कोई पचास करोड वर्ष से अधिक समय हो चुका है!

गए, जहाँ की चट्टान जल्दी ही कठोर हो गई। फलत: उनके शव उसमें सुरक्षित बने रह गए। इस प्रकार गडे हुए प्रारम्भिक पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओ मे से बहुतेरे सूक्ष्म प्राणी, जिनके शरीरों के अवयव कोमल थे तथा जिनकी रक्षा के निमित शंख, सीपी जैसे कवच तथा मछली के सिन्ने या मगर की ऊपरी कड़ी खाल की भाँति कडी खाल न थीं, चट्टानो के बोझ और दबाव से चकनाचूर हो गए। किन्तु ऐसे जीव, जिनमे ऊपर उल्लिखित कड़े भाग थे, चट्टानों मे दब जाने पर जैसे-के-तैसे सुरक्षित बने रह गए और कहीं-कही पथरा भी गए। इस तरह उनके चिह्न चट्टानो में सदा के लिए अंकित हो गए। इन्ही को हम 'प्रस्तर-विकल्प' के नाम से पुकारते है।

पहलेपहल मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओ के लिए जब पत्थर काटे तो उनमें उसे ये आश्चर्यजनक चिह्न मिले। तब उसका ध्यान इनकी विशेष खोज की ओर आकर्षित हुआ। अब तो ऐसे बहुत-से प्रस्तर-विकल्प खोज लिये गए है, जिनसे हमे पता चलता है कि भिन्न-भिन्न युगो में बननेवाली भिन्न-भिन्न चट्टानो में किस प्रकार के जीव मिलते थे। प्रस्तर-विकल्पो से युक्त चट्टानों के ये पर्त्त प्रकृति की नोटबुक के एक प्रकार के पन्ने है, जिन पर प्रकृति ने उस समय के जीवों के अवयवो के चिह्न अंकित कर दिए है। इस प्रकार हम कह सकते है कि पृथ्वी अपनी इन तहो में बीते हुए जीवों की एक डायरी बनाती चली गई। इस डायरी के पृष्ठो का हाल हम आपको आगे बतलाएँगे।

सबसे प्राचीन चट्टानो मे हमे किसी प्रकार के भी जीव का चिह्न नही मिला है। इसीलिए इनको जीवन-विहीन चट्टान कहते है। इनके बाद की अत्यन्त प्राचीन परतीली चट्टानो मे, जो समुद्र के तल में तलछट बैठकर बननेवाली चट्टानों में सबसे पहली हैं, कुछ सबसे नीची श्रेणी के वनस्पति और जीवों के चिह्न मिले है, परन्तु वे बिलकुल ही अस्पष्ट है। उनसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि जिस समय ये चट्टाने बन रही थी, उसी समय या शायद उसके भी पहले प्रारम्भिक जीव का विकास हुआ होगा। वैज्ञानिक यह मानते है कि इन चट्टानों की सर्वप्रथम तहे लगभग डेढ़ अरब वर्ष और सबसे पिछली ७० करोड़ वर्ष पुरानी है। इन चट्टानो से भी बाद की प्राथमिक युग की सबसे प्रारम्भिक चट्टानों मे एक प्रकार के जीव के बहुत-से स्पष्ट प्रस्तर-विकल्प मिले है। ये जीव झींगे, केकडे, बिच्छू आदि जीवो के समूह से नाता रखते है। ये जीव काफी उन्नतिशील जीवो में से है। इन्हे हम 'त्रिखंडी' जीव कहते है। यदि जीवो की उत्पत्ति स्वय-जनन द्वारा उपरोक्त वर्णित विधि से हुई है तो हम बेखटके यह मान सकते है कि जीव-द्रव्य के पृथ्वी पर पहलेपहल प्रकट होने के समय से इन त्रिखंडी जीवो के बनने में उतना ही समय लगा होगा, जितना कि इन त्रिखंडी जीवों के आरम्भ से अब तक बीता है। अत जीवन की प्रारम्भिक उत्पत्ति का समय हमे अब से डेढ-दो अरब वर्ष पीछे ले जाता है। स्वर्गीय श्री रामदास गौड़ के शब्दो मे—"ऐसा जान पड़ता है कि जब समुद्र का जल गर्मी के पचपनवें दर्जे तक ठंडा हो गया, उस समय इस धरती पर पहलेपहल जीवन का उदय हुआ होगा। इस घटना को हुए आज से कितने वर्ष हुए यह कहना बहुत कठिन है। वैज्ञानिकों का मत इस विषय में एक नहीं है। परन्तु यह अनुमान किया जाता है कि जीवन का पहला उदय इस ब्रह्मांड मे एक अरब वर्ष से भी पहले हो चुका होगा, और उस उदय से चराचर संसार के वर्त्तमान ढंग के विकास तक पहुँचने मे और आदिम मनुष्यों तक की सृष्टि के होने में कई करोड़ वर्षो से लेकर लगभग १ अरब वर्षो तक का अन्तर पड़ा होगा।"

**जीव-जगत् का इतिहास ऐसे ही शिलापर्त्तो में दबा पड़ा है**

पृथ्वी के लाखों-करोडों वर्ष के इतिहास को अपने अंचल मे छिपाए हुए इस तरह के चट्टानों के पर्त्त ही उनमें दबे हुए विभिन्न कालों के प्रस्तरीभूत जीवावशेषों द्वारा हमें उन युगों के जीवों की कहानी सुनाते है।
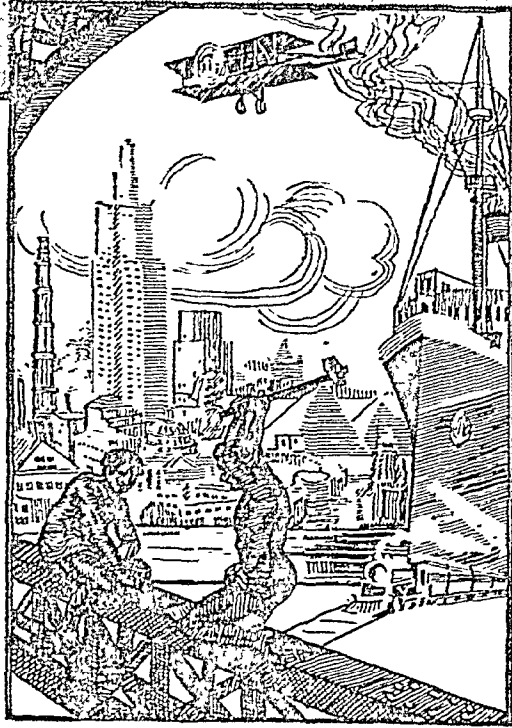
मनुष्य
की कहानी

**प्रस्तर-युग में मानव का जीवन**

मानव इतिहास के आरंभिक युगों में प्रस्तर-युग या पत्थर का युग सबसे महत्वपूर्ण है; क्योंकि इस युग में मनुष्य की आविष्कारक प्रवृत्तियों का बड़ा अद्‌भुत विकास हुआ। पत्थर, सींग, हड्डी आदि से औजार बनाना, आग का उपयोग करना, सामूहिक रूप से शिकार खेलना तथा एक प्रकार की बस्तियों में रहना प्रारंभ करके मनुष्य ने इसी युग में हजारों वर्ष के अपने भावी जीवन और सभ्यता की नींव डाली थी।
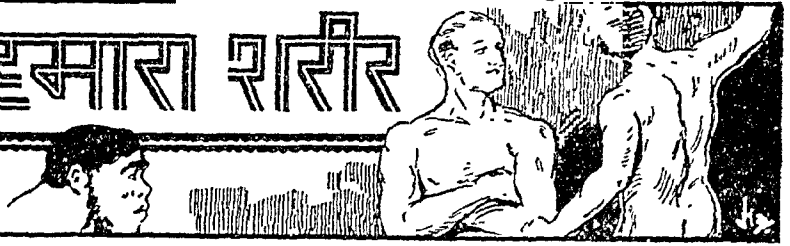
# हम कौन और क्या हैं—(१)

## जंतु-जगत् में हमारा स्थान और हममें तथा अन्य जीवों में समता

**विश्व और पृथ्वी, तथा पृथ्वी पर दिखाई दे रही निर्जीव और सजीव सृष्टि का सामान्य रूप से परिचय पाने के बाद स्वभावतया हमारी आँखें स्वयं अपनी ही ओर मुड़ती हैं, क्योंकि सृष्टि की सारी महिमा, उसका सारा महत्त्व ही, इस बात में है कि हम उसके प्रधान खिलाड़ी हैं। यह विभाग हमारी अपनी उस कहानी का प्रथम अध्याय है। अपना यह अध्ययन आरंभ करने पर सर्वप्रथम हमारा ध्यान जिस पहलू पर जाता है, वह है हमारा अपना स्थूल भौतिक स्वरूप, जंतु-जगत् में हमारा स्थान, हमारी शरीर-रचना और उसके विकास का इतिहास, हमारे शरीर के अवयव या भाग, उनमें होनेवाले रोग और उनका निदान, आदि आदि। इस विभाग में इन्हीं महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन आप पायेंगे।**

यदि तुमसे कोई पूछे कि "तुम आदमी हो या जानवर" तो अवश्य तुम यही उत्तर दोगे कि "हम आदमी हैं, जानवर नहीं।" लेकिन चाहे तुम मानो या न मानो, और चाहे तुम्हें यह बात अच्छी लगे या न लगे, हम तुम्हें यह बताना चाहते हैं कि हम, तुम और सब आदमी अन्य जीवधारियों की तरह जानवर ही हैं। इसमें कोई घबड़ाने का कारण नहीं। सच यह है कि हम लोग जानवरों की श्रेणी में आकर भी और जन्तुओं से भिन्न हैं। मनुष्य की-सी बुद्धि और बोलचाल दूसरे जीवों में नहीं पाई जाती; उसके शरीर का आकार और रहन-सहन के नियम भी उनसे भिन्न हैं। यों तो हाथी व घोड़े भी मक्खी और मच्छरों से उसी प्रकार भिन्न हैं, जैसे हम-तुम जानवरों से। लेकिन इस भिन्नता के होते हुए भी हम उन सबको जानवर ही कहते हैं। फिर यह मान लेना हमें क्यों अखरता है कि अन्य जीवधारियों की तरह प्रकृति की गोद में हम भी पैदा हुए हैं और जैसा कि पिछले विभाग में बतलाया जा चुका है, हम भी जन्तु-जगत् के एक मुख्य भाग हैं ?
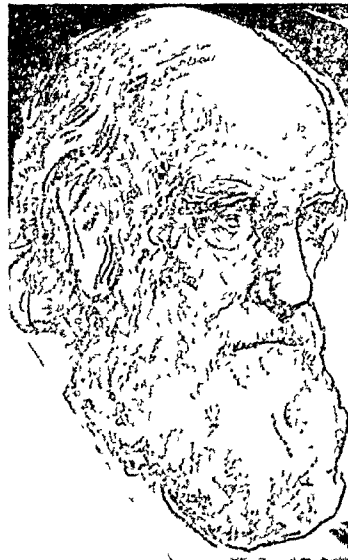
विकासवाद का महान् प्रतिपादक डार्विन जिसने जीव-जगत् में मनुष्य के स्थान का निर्णय करने में युगान्तरकारी योग दिया।

इसी पृथ्वी पर हम अन्य प्राणियों के साथ रहते-बसते हैं। हमारी ही तरह वे जीव भी पैदा होते, खाते-पीते, बढ़ते और अन्त में मर जाते हैं। सर्दी, गर्मी, धूप इत्यादि जैसे हमें सताती हैं, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी और जैसे हम उनसे बचने के उपाय करते हैं, वैसे ही वे भी करते हैं। अपने बाल-बच्चों के पालन-पोषण का प्रबन्ध जैसे हम करते हैं, वैसे ही दूसरे जानवर भी। अपनी और अपने परिवार की रक्षा के लिए मनुष्य एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते और मार-पीट करते हैं, उसी प्रकार अन्य जीवधारियों में भी आपस में द्वन्द्व होता है, लड़ाई-झगड़े चलते रहते और मार-काट होती रहती है। ह५।

तरह और जीवों को भी पेट भरने के लिए भोजन और रहने के लिए सुरक्षित स्थान चाहिए। इन सब बातो से स्पष्ट है कि हमारी और अन्य जानवरों की मुख्य-मुख्य आवश्यकताएँ लगभग एक ही सी है, और हमारा व उनका रहन-सहन भी अधिकाश मे मिलता-जुलता है। कदाचित् यही कारण है कि हम बहुत से प्राणियों को देखकर खुश होते है और उनमे से बहुतो को अपने घरो मे पालते भी है। कुत्ता, बिल्ली, तोता, मैना, कबूतर इत्यादि हमे ऐसे प्यारे लगते है कि हम उन्हे अपने साथ रखना पसन्द करते है। उनका रूप-रग, चलना-फिरना, खेलना-कूदना देखकर हमारे बच्चे कैसे प्रसन्न होते है!

## मनुष्य भी जन्तु-जगत् का एक सदस्य है

मनुष्य के प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि किसी समय वह अन्य जीवधारियों को भी अपना ही सा प्राणी मानता था और उनकी बल-बुद्धि को उत्तम एवं पूजनीय समझकर उनके शरीर के अनेक अंगो—जैसे सीग, पर, दाँत, नाखून इत्यादि—को अपने शरीर पर धारण कर रोग और आपत्तियो से बचने का प्रयत्न करता था। बहुत-सी प्राचीन जातियो का विचार था कि उनके वंश की उत्पत्ति किसी पशु-पक्षी विशेष से हुई थी। इसीलिए वे उसकी मूर्ति चिह्न-स्वरूप अपने घर मे रखतीं और उसकी पूजा करती थी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, आदमी की बुद्धि में भी परिवर्तन होता गया। वह अपने को पशुओ से बिलकुल भिन्न समझने लगा और उनसे अपना नाता उसने तोड़ दिया।

परन्तु एक बार फिर आदमी की मति ने पलटा खाया। आधुनिक विज्ञान के अध्ययन से यह स्पष्ट होने लगा कि रूप, कार्य, उत्पत्ति, वृद्धि और बुद्धि मे आदमी और जानवरो में बडी समता है। हमारे शरीर की रचना वस्तुत. उच्च श्रेणियो के प्राणियो की सी ही है। जब हमने उनके और अपने अगो की तुलना की तो पता चला कि उनके आँख, कान, नाक, यकृत, फेफड़े, उँगलियाँ और नाखून आदि हमारे अगो से बहुत-कुछ मिलते-जुलते है। बहुत से बाहरी और भीतरी अग तो बिलकुल एक ही से बने है। इसीलिए मानना पड़ता है कि मनुष्य भी जन्तु-जगत् का एक सदस्य है। केवल अपने अहंकार और अज्ञान के कारण ही मनुष्य अपने आप को जानवरो से भिन्न और अलग मानने लगा है। अब भी बहुत से लोग है, जो अपनी असली उत्पत्ति को सुनकर चिढ़ते है। हम अपने वश के बारे मे बहुत कम ध्यान दिया करते है। मामूली तौर से हमें अपने दादा, परदादा या यो कहिए कि केवल दो-तीन पीढ़ियों ही का हाल मालूम रहता है। यदि हम पच्चीस-तीस पीढियो का हाल मालूम कर सकें, तो हमे अच्छी तरह ज्ञात हो जाय कि हम सबके पूर्वजो में सभी प्रकार के मनुष्य थे। कुछ होशियार, कुछ बेवकूफ, कुछ अमीर, कुछ गरीब, कुछ चंगे, कुछ रोगी, कुछ विद्वान्, कुछ पागल, कुछ नेक, कुछ मनुष्य जैसे और कुछ जंगली जानवर जैसे। तो भी हम इस बात से सन्तुष्ट नही कि हमे 'जानवरो के बादशाह' की पदवी मिले। हम तो अपने को जानवरों से कोसो दूर समझना ही उचित जानते है! किन्तु यह हमारी भूल है।

कुछ लोग कहेगे कि यह उचित नही कि हम अपनी श्रेष्ठता का ध्यान न रखते हुए यही प्रकट करे कि हम जानवरों के अधिक समान है, और उन्हीं का एक अति उत्तम और श्रेष्ठ रूप है। उधर कुछ विद्वानों का विचार है कि अगर किसी को हर घड़ी उसकी अच्छी बातों और बड़प्पन का ही ध्यान दिलाया जाय, और उसकी कमी, बुराइयों एव त्रुटियों को लगातार उससे छिपाया जाय, तो उसे अपने ऊपर झूठा गर्व हो जाने की सम्भावना है। परन्तु दोनो प्रकार की बातो से अपरिचित रहना और भी बड़ी भूल है। अतः उचित यही जान पड़ता है कि हम अपने पाठकों पर असलियत अवश्य प्रकट कर दें, और उन्हें यह बता दे कि हम और जीवधारियों की तरह है तो एक प्राणी ही, लेकिन बहुत-सी बातों में उनसे भिन्न भी है। हम अपने ऊँचे स्वभाव और लक्षणो के कारण, सब जीवों से अलग, मनुष्य की श्रेणी मे गिने जाते है।

## मनुष्य एवं अन्य प्राणियों की आत्मा एक है

यूनान देश के प्रसिद्ध दार्शनिक और प्रकृतिवादी पिथेगोरस ने, जो ईसामसीह से कई शताब्दी पहले हुआ था, पाश्चात्य जगत् को पहलेपहल यह समझाने की कोशिश की थी कि जानवरों मे भी आदमी के भाई-बन्धु होते है। कहते है, एक समय उसने किसी आदमी को अपने कुत्ते को निर्दयता से पीटते देखा तो उससे कहा, "कुत्ते पर दया करो और उसे न मारो, क्योंकि इस कुत्ते के चिल्लाने में मुझे अपने एक स्वर्गीय प्यारे मित्र की आवाज सुनाई देती है।" पियेगोरस का मत था कि आत्मा अमर है, वह जनमकर या मरकर बार-बार केवल शरीर बदलती रहती है। आत्मा एक जीव के शरीर को त्याग कर दूसरे के बदन में प्रवेश कर लेती है। जब समय आने पर वह जीव मर जाता है, तब उसे छोड़कर किसी दूसरे शरीर में जा पहुँचती है। वही आत्मा मनुष्य से जानवर के शरीर में

और फिर जानवर से मनुष्य के शरीर में आ जाती है। प्राचीन हिन्दुओं का भी अनादि काल से ऐसा ही विश्वास रहा है कि आत्मा जन्म-जन्मान्तर तक शरीर धारण कर इस संसार में आती रहती है, और कभी किसी प्राणी का तो कभी किसी का रूप वह धारण कर लेती है। जब तक उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती, इसी प्रकार आवागमन होता रहता है। तुमने अखबारों में पढ़ा या सुना होगा कि कभी-कभी

के लिए पेट में आमाशय और आँतें तथा शरीर का रूप बनाए रखने के लिए हड्डी, मांसपेशी या त्वचा आदि होती है, वैसे ही सब अंग आदमी में भी पाए जाते हैं। जैसे उनमें सब अंग मिल-जुलकर शरीर के पालन और रक्षा के लिए अपना-अपना कर्त्तव्य करते रहते हैं, उसी तरह हमारे अंग भी एक-दूसरे से हिल-मिलकर अपना-अपना कार्य करते हुए शरीर का पालन करते हैं। जैसे अन्य प्राणियों के अंग

**मनुष्य भी जंतु-जगत् का एक सदस्य है**

जैसा कि पिछले कुछ प्रकरणों में विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है, सजीव सृष्टि के दो मुख्य विभाग हैं—'वनस्पति-संसार' और 'जंतु-जगत्'। सुविधा के लिए, और कदाचित् भावना की दृष्टि से, यद्यपि 'मनुष्य' का एक तीसरा विभाग अलग से मान लिया जाता है, तथापि सत्य तो यही है कि मनुष्य भी 'जंतु-संसार' का ही एक सदस्य है—वह भी अन्य सभी थलचर, जलचर और नभचर प्राणियों जैसा एक प्राणीमात्र है। हाँ, अपनी खूबियों के कारण वह सब प्राणियों का सिरमौर अवश्य कहा जा सकता है।

ऐसे बालक पैदा होते हैं, जो अपने पहले जन्म की बातें याद रखते हैं और उन्हें जल्दी नहीं भूलते।

यह तो आत्मवाद हुआ। अब शरीर पर आइए। हम देखते हैं कि हमारे शरीर में भी वही अवयव हैं, जो कि ऊँची श्रेणी के जन्तुओं में होते हैं। जैसे उनमें सोचने के लिए मस्तिष्क, रक्त-संचालन के लिए हृदय, साँस लेने के लिए फेफड़े, भोजन कुचलने को मुँह में दाँत, पाचन करने

सूक्ष्म कोशिकाओं के बने हैं, वैसे आदमी के अंग भी बहुत-सी छोटी-छोटी कोशिकाओं के बने हुए हैं और इन सब में वही जीव-द्रव्य पाया जाता है, जो समस्त जीवन का मूल है। इससे साफ पता लगता है कि हमारे शरीर की ऊपरी व भीतरी रचना ही नहीं बल्कि हमारे अंगों का कार्यक्रम भी उच्च श्रेणी के प्राणियों जैसा है। इन बातों को जान-कर कोई कैसे न मानेगा कि मनुष्य भी एक जन्तु ही है?

तरह और जीवों को भी पेट भरने के लिए भोजन और रहने के लिए सुरक्षित स्थान चाहिए। इन सब बातो से स्पष्ट है कि हमारी और अन्य जानवरों की मुख्य-मुख्य आवश्यकताएँ लगभग एक ही सी है, और हमारा व उनका रहन-सहन भी अधिकाश में मिलता-जुलता है। कदाचित् यही कारण है कि हम बहुत से प्राणियों को देखकर खुश होते हैं और उनमें से बहुतो को अपने घरों में पालते भी है। कुत्ता, बिल्ली, तोता, मैना, कबूतर इत्यादि हमे ऐसे प्यारे लगते है कि हम उन्हे अपने साथ रखना पसन्द करते है। उनका रूप-रग, चलना-फिरना, खेलना-कूदना देखकर हमारे बच्चे कैसे प्रसन्न होते है!

## मनुष्य भी जन्तु-जगत् का एक सदस्य है

मनुष्य के प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि किसी समय वह अन्य जीवधारियो को भी अपना ही सा प्राणी मानता था और उनकी बल-बुद्धि को उत्तम एव पूजनीय समझकर उनके शरीर के अनेक अगो—जैसे सीग, पर, दाँत, नाखून इत्यादि—को अपने शरीर पर धारण कर रोग और आपत्तियो से बचने का प्रयत्न करता था। बहुत-सी प्राचीन जातियो का विचार था कि उनके वंश की उत्पत्ति किसी पशु-पक्षी विशेष से हुई थी। इसीलिए वे उसकी मूर्ति चिह्न-स्वरूप अपने घर मे रखती और उसकी पूजा करती थी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, आदमी की बुद्धि मे भी परिवर्तन होता गया। वह अपने को पशुओ से बिलकुल भिन्न समझने लगा और उनसे अपना नाता उसने तोड़ दिया।

परन्तु एक बार फिर आदमी की मति ने पलटा खाया। आधुनिक विज्ञान के अध्ययन से यह स्पष्ट होने लगा कि रूप, कार्य, उत्पत्ति, वृद्धि और बुद्धि मे आदमी और जानवरो में बड़ी समता है। हमारे शरीर की रचना वस्तुत: उच्च श्रेणियो के प्राणियो की सी ही है। जब हमने उनके और अपने अंगो की तुलना की तो पता चला कि उनके आँख, कान, नाक, यकृत, फेफड़े, उँगलियाँ और नाखून आदि हमारे अगो से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। बहुत से बाहरी और भीतरी अंग तो बिलकुल एक ही से बने है। इसीलिए मानना पड़ता है कि मनुष्य भी जन्तु-जगत् का एक सदस्य है। केवल अपने अहंकार और अज्ञान के कारण ही मनुष्य अपने आप को जानवरों से भिन्न और अलग मानने लगा है। अब भी बहुत से लोग हैं, जो अपनी असली उत्पत्ति को सुनकर चिढ़ते हैं। हम अपने वंश के बारे मे बहुत कम ध्यान दिया करते है। मामूली तौर से हमें अपने दादा, परदादा या यों कहिए कि केवल दो-तीन पीढियो ही का हाल मालूम रहता है। यदि हम पच्चीस-तीस पीढ़ियों का हाल मालूम कर सके, तो हमें अच्छी तरह ज्ञात हो जाय कि हम सबके पूर्वजों मे सभी प्रकार के मनुष्य थे। कुछ होशियार, कुछ बेवकूफ, कुछ अमीर, कुछ गरीब, कुछ चंगे, कुछ रोगी, कुछ विद्वान्, कुछ पागल, कुछ नेक, कुछ मनुष्य जैसे और कुछ जंगली जानवर जैसे। तो भी हम इस बात से सन्तुष्ट नही कि हमे 'जानवरो के बादशाह' की पदवी मिले। हम तो अपने को जानवरों से कोसों दूर समझना ही उचित जानते है! किन्तु यह हमारी भूल है।

कुछ लोग कहेंगे कि यह उचित नही कि हम अपनी श्रेष्ठता का ध्यान न रखते हुए यही प्रकट करे कि हम जानवरो के अधिक समान है, और उन्हीं का एक अति उत्तम और श्रेष्ठ रूप हैं। उधर कुछ विद्वानों का विचार है कि अगर किसी को हर घड़ी उसकी अच्छी बातों और बड़प्पन का ही ध्यान दिलाया जाय, और उसकी कमी, बुराइयों एवं त्रुटियों को लगातार उससे छिपाया जाय, तो उसे अपने ऊपर झूठा गर्व हो जाने की सम्भावना है। परन्तु दोनो प्रकार की बातो से अपरिचित रहना और भी बड़ी भूल है। अत: उचित यही जान पड़ता है कि हम अपने पाठकों पर असलियत अवश्य प्रकट कर दें, और उन्हें यह बता दे कि हम और जीवधारियों की तरह हैं तो एक प्राणी ही, लेकिन बहुत-सी बातो में उनसे भिन्न भी हैं। हम अपने ऊँचे स्वभाव और लक्षणों के कारण, सब जीवों से अलग, मनुष्य की श्रेणी में गिने जाते है।

## मनुष्य एवं अन्य प्राणियों की आत्मा एक है

यूनान देश के प्रसिद्ध दार्शनिक और प्रकृतिवादी पिथेगोरस ने, जो ईसामसीह से कई शताब्दी पहले हुआ था, पाश्चात्य जगत् को पहलेपहल यह समझाने की कोशिश की थी कि जानवरों मे भी आदमी के भाई-बन्धु होते हैं। कहते है, एक समय उसने किसी आदमी को अपने कुत्ते को निर्दयता से पीटते देखा तो उससे कहा, "कुत्ते पर दया करो और उसे न मारो, क्योंकि इस कुत्ते के चिल्लाने में मुझे अपने एक स्वर्गीय प्यारे मित्र की आवाज सुनाई देती है।" पियेगोरस का मत था कि आत्मा अमर है, वह जनमकर या मरकर बार-बार केवल शरीर बदलती रहती है। आत्मा एक जीव के शरीर को त्याग कर दूसरे के बदन में प्रवेश कर लेती है। जब समय आने पर वह जीव मर जाता है, तब उसे छोड़कर किसी दूसरे शरीर में जा पहुँचती है। वही आत्मा मनुष्य से जानवर के शरीर में

और फिर जानवर से मनुष्य के शरीर में आ जाती है। प्राचीन हिन्दुओं का भी अनादि काल से ऐसा ही विश्वास रहा है कि आत्मा जन्म-जन्मान्तर तक शरीर धारण कर इस संसार में आती रहती है, और कभी किसी प्राणी का तो कभी किसी का रूप वह धारण कर लेती है। जब तक उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती, इसी प्रकार आवागमन होता रहता है। तुमने अखबारों में पढ़ा या सुना होगा कि कभी-कभी

के लिए पेट में आमाशय और आँतें तथा शरीर का रूप बनाए रखने के लिए हड्डी, मांसपेशी या त्वचा आदि होती हैं, वैसे ही सब अंग आदमी में भी पाए जाते हैं। जैसे उनमें सब अंग मिल-जुलकर शरीर के पालन और रक्षा के लिए अपना-अपना कर्त्तव्य करते रहते हैं, उसी तरह हमारे अंग भी एक-दूसरे से हिल-मिलकर अपना-अपना कार्य करते हुए शरीर का पालन करते हैं। जैसे अन्य प्राणियों के अंग

**मनुष्य भी जंतु-जगत् का एक सदस्य है**

जैसा कि पिछले कुछ प्रकरणों में विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है, सजीव सृष्टि के दो मुख्य विभाग हैं—'वनस्पति-संसार' और 'जंतु-जगत्'। सुविधा के लिए, और कदाचित् भावना की दृष्टि से, यद्यपि 'मनुष्य' का एक तीसरा विभाग अलग से मान लिया जाता है, तथापि सत्य तो यही है कि मनुष्य भी 'जंतु-संसार' का ही एक सदस्य है—वह भी अन्य सभी थलचर, जलचर और नभचर प्राणियों जैसा एक प्राणीमात्र है। हाँ, अपनी खूबियों के कारण वह सब प्राणियों का सिरमौर अवश्य कहा जा सकता है।

ऐसे बालक पैदा होते हैं, जो अपने पहले जन्म की बातें याद रखते हैं और उन्हें जल्दी नहीं भूलते।

यह तो आत्मवाद हुआ। अब शरीर पर आइए। हम देखते हैं कि हमारे शरीर में भी वही अवयव हैं, जो कि ऊँची श्रेणी के जन्तुओं में होते हैं। जैसे उनमें सोचने के लिए मस्तिष्क, रक्त-संचालन के लिए हृदय, साँस लेने के लिए फेफड़े, भोजन कुचलने को मुँह में दाँत, पाचन करने

सूक्ष्म कोशिकाओं के बने हैं, वैसे आदमी के अंग भी बहुत-सी छोटी-छोटी कोशिकाओं के बने हुए हैं और इन सब में वही जीव-द्रव्य पाया जाता है, जो समस्त जीवन का मूल है। इससे साफ पता लगता है कि हमारे शरीर की ऊपरी व भीतरी रचना ही नहीं बल्कि हमारे अंगों का कार्यक्रम भी उच्च श्रेणी के प्राणियों जैसा है। इन बातों को जानकर कोई कैसे न मानेगा कि मनुष्य भी एक जन्तु ही है?

## जन्तु-जगत् में मनुष्य का स्थान

यदि आदमी जानवरों ही में सम्मिलित है तो हमें यह देखना है कि जीवधारियों मे उसका स्थान क्या है। दुनिया के सारे प्राणी दो मुख्य भागो में विभाजित है—१. एक-कोष्ठी, जो बहुत छोटे-छोटे होते है और जिनका पूर्ण शरीर एक ही कोशिका का बना होता है; २. बहुकोष्ठी, जिनमें छोटे-छोटे से लेकर बड़े से बड़े जीव पाए जाते है। चूँकि मनुष्य का शरीर अगणित कोशिकाओं का बना हुआ है; अतएव वह बहुकोष्ठी प्राणियो के समूह में गिना जाता है। परन्तु कीड़ों-मकोड़ों, मक्खी-मच्छरों, विच्छुओं आदि से वह भिन्न है, क्योंकि उसकी पीठ में हाथी, घोड़े, कुत्ते, बिल्ली, तोते, साँप, मेढक, मछली के समान रीढ की हड्डी होती है। ऐसे सब जीव 'पृष्ठवंशी' श्रेणी के जीव कहलाते हैं। लेकिन इस वंश में भी बहुत प्रकार के जीव है। उनमें कुछ ऐसे हैं, जिनकी खाल पर बाल होते है और जिनकी माताएँ बच्चों को अपने स्तन द्वारा दूध पिलाती हैं, जैसे गाय, बकरी, बन्दर, हाथी, ऊँट, घोड़ा, चूहा, चमगादड़ इत्यादि। ये 'स्तनपोपित' कहलाते हैं। उधर बहुत-से ऐसे जीव भी है, जिनमें न तो शरीर के ऊपर बाल ही होते हैं और न माताओं के स्तन ही उनमें पाए जाते हैं, जैसे चील, कौआ, सर्प, छिपकली, मछली, मेढक, इत्यादि। तुम स्वयं समझ सकते हो कि क्यों मनुष्य गाय-बैल की तरह पृष्ठ-वंशियो के स्तनपोषित समुदाय मे सम्मिलित है। परन्तु इस समुदाय मे भी नाना प्रकार के प्राणी हैं। उनमें से वन-मानुष, बन्दर और लीमूर ऐसे हैं, जो आदमी से सबसे अधिक मिलते है। उनमें मनुष्य के कुछ लक्षण पाए जाते है—जैसे हाथ व पैरों में वस्तुओं के पकड़ने की शक्ति, उँगलियों और अँगूठों में पंजों की अपेक्षा चपटे और चौड़े नाखून, पेट पर सामने की ओर दो स्तन, गले में हँसली की हड्डी, खोपड़ी के भीतर अन्य स्तनपोपी जीवों की अपेक्षा बड़ा और पेचदार मस्तिष्क आदि। इसलिए मनुष्य और वानर वर्ग अन्य स्तनपोपी जन्तुओं से भिन्न, एक ही श्रेणी में सम्मिलित किए जाते हैं। इस श्रेणी को "प्रधानभागीय" (प्राइमेट) वर्ग कहते है।
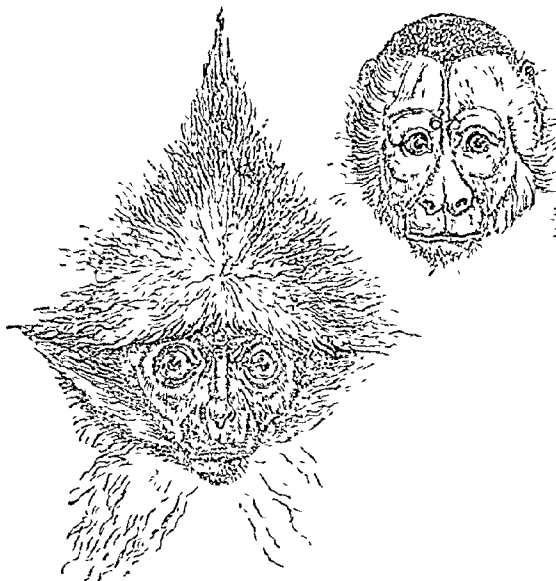
**वे जो जंतु-संसार में मनुष्य के नातेदार होने का दावा करते है**

( बाईं ओर ) पुरानी दुनिया का वानर ; ( बीच में ) नई दुनिया का वानर ; ( दाहिनी ओर ) लीमूर नामक अर्द्ध-वानर।

तो फिर हम इस नतीजे पर पहुँचे कि हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों से विदित होता है कि हम वस्तुतः वानर-वंश के वंशज है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य और सभी जातियो के वानर एक ही ढाँचे पर बने हुए है। किन्तु वानरवंश मे भी अन्य समूहो की भाँति कई श्रेणियाँ हैं। नई दुनिया (अर्थात् उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका) के
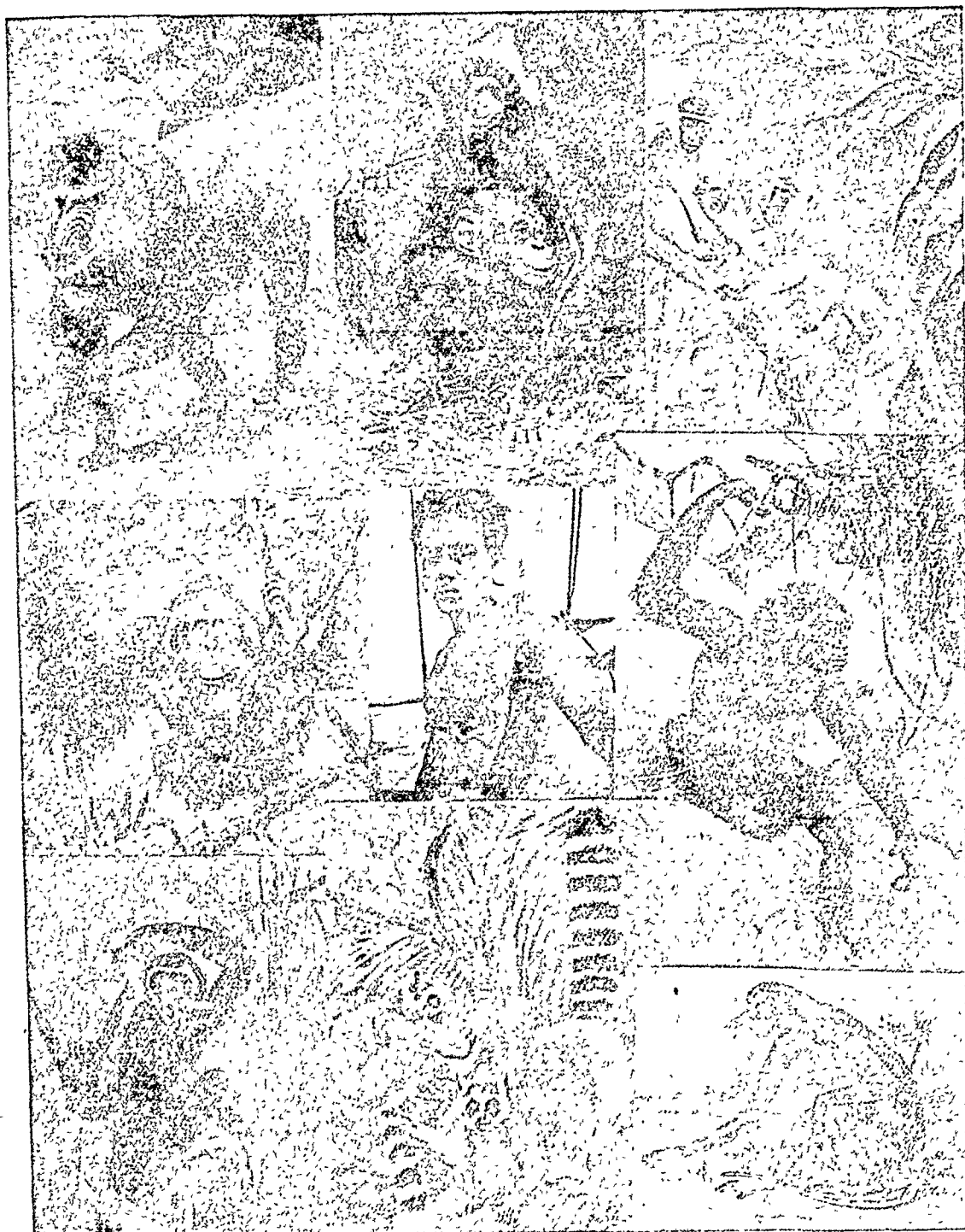
**मनुष्य और उसके निकटतम संबंधी**

(बाएं से दाहिनी ओर क्रम से) पहली पंक्ति में—मैंड्रिल नामक वानर, शिम्पैंजी, और लंगूर। दूसरी पंक्ति में—ओरङ्ग-उटाङ्ग, मनुष्य, और गोरिल्ला। तीसरी पंक्ति में—सफेद हाथोंवाला काला गिब्बन, लीमूर, और लंबी नाकवाला बबून।

बन्दर पुरानी दुनिया (अर्थात् एशिया, योरप और अफ्रीका) के बन्दरों से भिन्न है। वे अपनी दुम से वृक्षों की डालियाँ पकड़कर लटक जाते है और उसी के सहारे डाली-डाली कूदते-फिरते है। परन्तु दुम से लटकनेवाले इन नई दुनिया के बन्दरों मे पुरानी दुनिया के बन्दरो की तरह गले में खाना एकत्रित करने के लिए थैलियाँ नही होती। इन दो प्रकार के वानरो के अतिरिक्त बदरों की एक और भी जाति है, जिसमे दुम नही पाई जाती और जो आदमी की तरह थोडा-बहुत खडे होकर चल-फिर सकती है। इन्हें हम 'मानवसम वानर' या वनमानुप कहते है। इन ऊँची जातिवाले बन्दरो और मनुष्यो की जटिल बनावट में अपूर्व समानता पाई जाती है। बदन की हर एक हड्डी, पेशी, नाडी, रक्त-प्रणाली इत्यादि दोनो मे बिल्कुल एक ही सी बनी हुई है। इन वनमानुषो के हमारी-तुम्हारी तरह न तो दुम होती है, न खाना भरने को गले मे थैली और न नितम्बों पर बैठने मे सहायता देनेवाली गद्दियाँ ही। लेकिन जिस प्रकार मानवसम वानरो और नई एवं पुरानी दुनिया के बन्दरो मे एक दूसरे से भेद है और जैसे अफ्रीका और उसके निकट के मेडागास्कर टापू में रहनेवाले अर्द्ध-वानर या 'लीमूर' बाकी सब असली बन्दरो से अपनी विभिन्नता द्वारा सहज में पहचाने जा सकते हैं, उसी तरह अपनी शारीरिक बनावट के अनुसार मनुष्य भी मानवसम वानरो और दूसरे बन्दरों के वंश से अलग किए जाते है। इन भेदो का वर्णन इस अध्याय के दूसरे भाग में किया जायगा। इस भाग में हम केवल यही बताना चाहते है कि मनुष्य और उसमे मिलते-जुलते जीवों अर्थात् अन्य 'प्रधानभागीयो' मे क्या समानता है।

## मनुष्य के शरीर के मुख्य स्मारक-चिन्ह

प्रख्यात जीव-वैज्ञानिक सर जे० ए० टामसन का कहना है कि मनुष्य का शरीर पुरातन स्मारक-चिन्हों का एक चलना-फिरता अजायबघर है, अर्थात् उसके बदन में ऐसे बहुत-से चिन्ह है, जिनसे उसकी वंशावली का पता चलता है। इनमे से कुछ नीचे लिखे अनुसार है :—

१. नीची श्रेणी के स्तनपोषित जीवो की आँखों मे दो पलकों के अतिरिक्त एक और अच्छी खासी झिल्ली भीतरी कोने में होती है, जो पुतली के आगे के भाग को साफ रखती है। यह मानो एक प्रकार की तीसरी पलक है। यह झिल्ली वनमानुषों और बन्दरों की आँख मे भी होती है, किन्तु उनमें वह उतनी बड़ी नहीं होती, जितनी अन्य स्तनपोषित प्राणियों में। अपनी आँख के भीतरी कोने को यदि ध्यान से तुम दर्पण में देखोगे तो तुम्हें भी इस तीसरी पलक का बचा हुआ चिह्न दिखाई देगा। किसी-किसी मनुष्य-जाति में यह चिह्न औरों से अधिक बड़ा रहता है। प्राचीन समय में यह चिह्न कदाचित् समस्त मनुष्य-समाज में अब से बडा रहा होगा। कहते है, ज्यों-ज्यों मनुष्य का रहन-सहन जंगली जानवरों के रहन-सहन से बदलता गया, त्यो-त्यों इस झिल्ली की आवश्यकता भी हमारे नेत्रो को न रही और फलतः वह छोटी होने लगी। अब तो हम लोग नित्य सवेरे पानी से धोकर अपना चेहरा और उसके साथ ही अपनी आँखों को साफ कर लेते है। अतः जो चिह्न बचा रह गया है, सम्भव है कि आगे चलकर वह भी बिलकुल लुप्त हो जाय।

२. तुमने हाथी को चलते समय अपने कानों को पंखे की तरह झलते हुए अवश्य देखा होगा। अधिकतर स्तनपोषित जीव इसी तरह अपने कान आगे-पीछे हिला सकते है। इसके लिए इन सब जन्तुओ मे विशेष पुट्ठे होते है। यद्यपि मनुष्य-जाति मे कान हिलाने की शक्ति तो करीब-करीब बिलकुल नही रही, परन्तु कान हिलानेवाले पुट्ठे अभी तक बहुत छोटे रूप में कान के पीछे विद्यमान है और कभी-कभी ऐसे मनुष्य भी पाए जाते है, जो अपने पूरे कान या उनके केवल ऊपरी भाग को आसानी से हिला लेते है। प्रयाग-विश्वविद्यालय में सन् १९३३ में एक विद्यार्थी था, जो अपने कान को पूरा अथवा उसके ऊपर-नीचे का हिस्सा अलग-अलग हिला सकता था।

अब एक और स्मारक-चिह्न तुम्हें बताते है। सितम्बर, १९३७, की 'विज्ञान' पत्रिका में ठाकुर शिरोमणिसिंह का इस विषय मे एक लेख प्रकाशित हुआ था। उस लेख का कुछ संशोधित भाग इस प्रकार है:—

### मनुष्य की दुम क्या हुई ?

विद्यार्थी—क्या मनुष्य के भी कभी दुम थी ?

गुरु—हाँ, आजकल तो नहीं होती है, परन्तु अपने पूर्वजो के तो अवश्य थी।

विद्यार्थी—मैंने तो आज तक ऐसा नही सुना और न यह मेरी समझ ही मे आता है कि हम "बेदुम के बन्दर है।" भला कहाँ हम और कहाँ जंगली बन्दर ? हमारा और उनका कैसा सम्बन्ध ! गुरुजी, मैं कभी उनको अपना पुरखा नहीं मान सकता।

गुरु—क्या जो बात तुम्हारी समझ में न आए या जिसको कोई पूर्ण रूप से न समझा सके, वह ठीक ही नहीं हो सकती ? अभी कल ही हम पढ़ रहे थे, एक समय

विद्वान् लोग भी कहते थे कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है और पृथ्वी अपनी जगह अचल है। वे यह मानते थे कि नित्य सबेरे सूर्य पूरब में निकलकर संध्या-समय पश्चिम मे जा डूबता है और रात भर मे पृथ्वी की दूसरी ओर का चक्कर पूरा कर फिर सबेरे पूर्व से ऊपर की ओर आते दीख पड़ता है। किन्तु अब साधारण लोग भी यह जानते है कि सूर्य अपने स्थान पर स्थिर है और पृथ्वी अपनी कीली पर एक रात-दिन में पूरा चक्कर लगा लेती है और उसके इस घूमने के कारण सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर जाता हुआ दिखाई देता है। जो बात किसी समय

**मनुष्य और मानवसम वानरों के ढांचे की तुलना**

सबके अस्थिपंजरों में रीढ के निचले सिरे की ओर निकली हुई दुम की हड्डी का बचा हुआ भाग आप स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

ठीक जान पड़ती थी, वास्तव में बिलकुल गलत थी। इसी प्रकार बहुत-सी बातें है, जो पहले सही मानी जाती थी, पर पीछे गलत सिद्ध हुई, और कितनी ऐसी भी हैं, जो अभी असम्भव जान पड़ती है, किन्तु आगे संभव हो जायँगी।

विद्यार्थी—जी हाँ, यह तो मै मानता हूँ कि बहुधा बहुत-सी बातों के समझने में धोखा हो जाता है और अज्ञानता के कारण जो बात समझ में नही आती, ज्ञान पाने पर वही बात ठीक जान पड़ने लगती है।

गुरु—तो फिर यह भी मान लो कि पृथ्वी के आरम्भ में प्राणियो का आकार, रंग-रूप ऐसा न था, जैसा हम आजकल देखते है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उनमें परिवर्तन होता गया और आजकल जो-जो अगणित जीव-जंतु सृष्टि में दीख पड़ते है, सब उन्ही प्रारम्भिक सीधे-सादे प्राणियो मे ही विकसित हुए है।

विद्यार्थी—तो वे प्रारम्भिक जीव हमारे और बन्दरों के भी दूर के पुरखे हुए ?

गुरु—अवश्य ! इसी पृष्ठ पर दिया गया चित्र देखो, जिसमें मनुष्य व चारो प्रकार के मानवसम बन्दरों की ठठरियाँ है। इन वनमानुषों में भी आदमी की तरह बाहर पूंछ नही दिखाई देती, परन्तु इस चित्र में सबकी रीढ की हड्डी में मणिमाला सी चार छोटी-छोटी गुरिया एक दूसरे से मिली हुई दुम की तरह लटक रही है। इन हड्डियो को 'पुच्छास्थियां' कहते हैं। मनुष्य मे ये दुमवाली हड्डियां उतनी बड़ी नहीं होती जितनी मानवसम बन्दरों मे। वनमानुषों के ऊपरी दो या तीन बड़ी गुरियाँ होती है, मनुष्य में केवल एक ही।

विद्यार्थी—जब हमारे और इन वानरो के दुम है ही नहीं तो ये हड्डियां कहाँ से आई ?

गुरु—यही तो समझने की बात है। ऊपर बताए स्मारक-चिह्नों की तरह ये भी वस्तुतः उनके शरीर में

अवशिष्ट अग है, जो शायद घटते-घटते किसी समय मानव जाति से बिल्कुल लुप्त हो जाएँगे । अभी तो गर्भावस्था में जब बच्चा माँ के पेट मे होता है तो खरगोश या बिल्ली के भ्रूण की तरह उसकी दोनो टाँगो के बीच मे पैरो से बडी, मुडी हुई, पीछे को निकली दुम मौजूद होती है। सब वनमानुषो के भ्रूणो मे भी ऐसी ही दुम पाई जाती है। किन्तु जैसे इन प्राणियो का भ्रूण बढता जाता है, उनकी बाहरी पूँछ घटती जाती है और माता के पेट से बाहर होने के समय तक वह बिल्कुल लुप्त हो जाती है । केवल उसकी जड की हड्डियाँ ही मास के भीतर बनी रहती है। कभी-कभी मनुष्य मे ऐसा भी होता है कि बालक के पैदा होने के बाद भी यह भ्रूणवाली दुम बनी रह जाती है और टाँगो के बीच मे लटकती हुई दिखाई देती है । भारतवर्ष ही में ऐसे-ऐसे बालक कई बार उत्पन्न हुए है । कहा जाता है कि शिवाजी महाराज के गुरु स्वामी रामदास के भी छोटी-सी दुम थी । इतना ही नही, जैसे कान हिलाने की शक्ति जाती रहने पर भी उन्हे हिलानेवाले पुट्ठे बाकी रह गए, वैसे ही यद्यपि हममे न पूँछ रह गई और न दुम हिलाने की शक्ति, परन्तु उस दुम की जड की हड्डियाँ और उसे हिलाने मे सहायता देनेवाले स्नायु अब भी हममे बाकी हैं।

विद्यार्थी—यह सुनकर मानना ही पडता है कि हम सब न केवल 'बेदुम के बन्दर' ही है, बल्कि कभी-कभी दुमदार मनुष्य भी पाए जाते है, और यह कि हम और हमारे पुरखों के भी प्राचीन समय मे दुम रही होगी।

ऊपर के तीनो प्रमाण शरीर के बाहरी अंगो के है। अब हमे आपका ध्यान शरीर के भीतरी अगो की ओर ले जाना है।
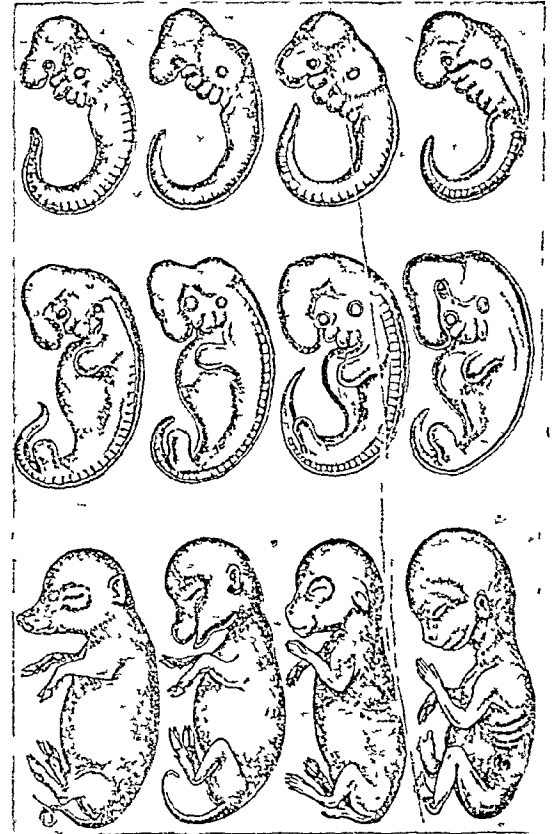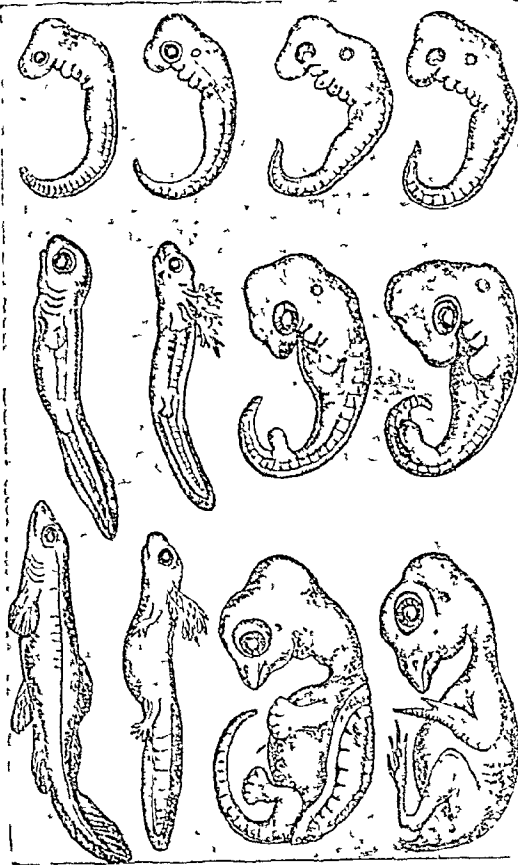
**मनुष्य और अन्य जानवरों के भ्रूणों का तुलनात्मक चित्र**

देखिए, आरम्भिक अवस्था में इन सभी भिन्न भिन्न जानवरों के भ्रूण एक-दूसरे से कितने मिलते-जुलते है ! सब में दुम जैसा अग मौजूद है।

आदमी के पेट में छोटी और बड़ी आँतों के संगमस्थल पर उँगली के समान एक नलिका पाई जाती है। इसको 'एपेंडिक्स' कहते हैं। घास चरनेवाले प्राणियों में यह अंग लम्बा और पाचन-क्रिया में उपयोगी होता है। किन्तु आदमी में यह व्यर्थ ही नहीं वरन् कभी-कभी हानिप्रद भी होता है। जब किसी कारण से वह सूज जाता है या जब कोई कड़ा खाद्य पदार्थ उसमें जा अटकता है तो उसमें पीड़ा होने लगती है और यदि वह पक जाए तो जान तक जोखम में पड़ जाती है। तब पेट चीरकर डाक्टर उसे काटकर बाहर फेंक देते हैं। वनमानुषों में भी आँत का यह अंग पाया जाता है, परन्तु मनुष्य की आँत से बड़ा और अन्य स्तनपोषित जीवों से वह छोटा होता है।

इनके अतिरिक्त मनुष्य के शरीर में और भी स्मारक-चिह्न हैं। प्रोफेसर वीडर शैम ने ऐसे लगभग पचास अंग गिनाए हैं। इनमें से कई इतने छोटे हैं कि हर व्यक्ति के लिए उन्हें समझना या पहचानना मुश्किल है।

### मनुष्य एवं अन्य स्तनधारियों की गर्भावस्था

अब हम मनुष्य, बन्दर एवं अन्य जीवों में दूसरी कुछ समानताएँ बताते हैं, जिनके निदर्शन से आप यह जान लेंगे कि कैसे जन्तु एक दूसरे से आपस में नाता रखते हैं और कैसे यह जाना जा सकता है कि यह नाता निकट का है या दूर का। पिछले पृष्ठ के चित्र को ध्यान से देखिए। उसमें कुछ जानवरों के भ्रूणों की झाँकी दिखाई गई है। उन्हें देखने से पता लगता है कि मानव-गर्भ की वृद्धि अन्य जन्तुओं के गर्भ की वृद्धि से कितनी मिलती-जुलती होती है। सब प्राइमेटों के भ्रूण अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक से ही नहीं जान पड़ते, बल्कि अपने से बहुत नीची श्रेणी के जीव, जैसे मछली या मेंढक के भ्रूण, से भी समता रखते हैं। आरम्भिक अवस्था में सब प्राइमेटों के गर्भ का हृदय दो कोठरियों ही का होता है, जैसा कि मछलियों का। लेकिन थोड़ा और बढ़ने पर उसमें मेंढक के हृदय की तरह तीसरी कोठरी भी बन जाती है। कुछ और वृद्धि होने पर चौथी कोठरी भी बन जाती है और भ्रूण का हृदय ऊँची श्रेणीवाले जन्तुओं के हृदय का-सा हो जाता है। इसके अतिरिक्त गर्भ-शास्त्रियों ने (अर्थात् उन लोगों ने जिन्होंने बहुत-से जीवों के भ्रूणों का और उनके गर्भ में बढ़ने का अध्ययन किया है) सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य सहित सब प्राणियों के गर्भ का आरम्भ एक ही कोशिका से होता है। इसी कारण उन सबमें कुछ अवस्था तक अधिक समानता रहती है। ज्यों-ज्यों गर्भ बढ़ता जाता है, एक समूह का भ्रूण दूसरे समूह के भ्रूण से भिन्न होने लगता है। गर्भ की अन्तिम अवस्था में यह साफ मालूम होने लगता है कि वह किस श्रेणी के जीव का भ्रूण है। इससे आप यह समझ लेंगे कि निकट के समूहों के भ्रूण में अधिक समय तक बहुत-कुछ समता रहती है, और जितना एक जीव दूसरे जीव से दूर के समूह का होता है, उतने ही शीघ्र उनके भ्रूण एक दूसरे से भिन्न जान पड़ने लगते हैं। इसी प्रकार मनुष्य का भ्रूण आरंभ में तो अन्य जीवों जैसा ही होता है, तदुपरान्त अन्य स्तनधारियों के भ्रूण के समान वह हो जाता है। उसके बाद वह प्राइमेट के भ्रूण जैसा मालूम होने लगता है, और थोड़ा और बढ़ने पर यह विदित होने लगता है कि वह आदमी ही का भ्रूण है। छः मास की आयु तक मनुष्य के भ्रूण पर बन्दर की तरह घने बाल भी होते हैं और छोटी-सी दुम भी होती है।

**कौन कहता है कि मनुष्य के दुम नहीं हो सकती !**
प्रस्तुत चित्र में एक मानव शिशु की तस्वीर है, जो इस छोटी-सी दुम को लिये पैदा हुआ था ! ऐसे बालक कभी-कभी ही पैदा होते हैं, तथापि वे इस बात को प्रमाणित करते हैं कि मनुष्य भी कभी एक दुमदार प्राणी था। चूँकि इस अंग की आवश्यकता बाद में न रह गई, अतः वह लुप्त हो गया।

### रक्त की बनावट एवं लक्षण में समता व भिन्नता

इससे भी अधिक मनोरंजक पहचान तो परमात्मा ने जीवों के रक्त की बनावट और उसके लक्षण या गुणों में रखी है। रक्त में जो लाल कण हैं, उनका व्यास नापने से पता चला है कि सबसे निचली श्रेणी के प्रधानभागीय 'लीमूर' नामक जीव में रक्तकण सबसे छोटे होते हैं, जबकि बन्दर

में उससे बड़े, और बन्दर से बड़े वनमानुष में एवं मनुष्य में क्रमानुसार सबसे बड़े हैं। इससे हारवर्ड-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हूटन ने नतीजा निकाला है कि लीमूर इस बात का संकेत करता है कि मनुष्य से उसका दूर का सम्बन्ध है! बन्दर भी हमसे नातेदारी का दावा करता है और वनमानुष तो पेडो की चोटी पर बैठा मानो ढिढोरा पीटता है कि वह हमारा ही निकट का सम्बन्धी है!

थोड़े ही वर्ष हुए वैज्ञानिको ने पता लगाया है कि अगर किसी जन्तु का रक्त अपने से नजदीक के रिश्तेवाले प्राणी के रक्त मे मिलाया जाय तो दोनों का रक्त मिलकर एक समान हो जाता है। परंतु यदि वह ऐसे जीव के रक्त मे डाला जाय कि जिससे उसकी घनिष्टता नही है तो वह अच्छी तरह न मिलेगा। मनुष्य और शिम्पेंजी मे अधिक घनिष्टता होने के कारण दोनो का रक्त आपस मे बिल्कुल घुल-मिल जाता है। परन्तु आदमी का रक्त घोड़े के रक्त में भरा जाय तो वह मिलता ही नही वरन् उसके रक्तकणो को नष्ट कर देता है।

इससे भी अद्‌भुत् उदाहरण एक और सुनिए। यदि किसी प्राणी का रक्त किसी अन्य समूह के जन्तु के रक्त मे सुई द्वारा भरा जाय और जो रक्तरस (सीरम) उसके रक्त से निकले, उसे पहले समूह के और किसी जानवर के खून या खून के घोल मे मिलाया जाय तो तुरन्त ही उसमे तलछट बैठ जाता है। अगर वही रक्तरस किसी दूसरे समूह के प्राणियो के रक्त या रक्त-घोल मे मिलाया जाय तो क्रमानुसार जितने ही दूर के समूह के जीव का रक्त होगा, उतना ही कम और देर मे तलछट बनेगा। किन्तु अधिक दूर के संबंधी जन्तुओं के रक्त में डालने से नाम-मात्र या बिल्कुल ही तलछट न बनेगा। इससे यह स्पष्ट है कि इस तलछट द्वारा जीवों के पारस्परिक संबंध की घनिष्टता और विलगता का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। मनुष्य का रक्त खरगोश के रक्त में भरकर जो रक्तरस बने, उसमें से कुछ किसी दूसरे आदमी के रक्त या रक्त के हलके घोल मे यदि मिलाया जाय तो शीघ्र तलछट फेंक देगा। किन्तु वही रक्तरस वनमानुष, बन्दर, लीमूर और घोड़े के रक्त में छोड़ा जाय तो देखा जायगा कि वनमानुष के रक्त मे तलछट बनेगा, किन्तु आदमी के रक्त की तुलना में कम और देर से। बन्दर के रक्त में नाम-मात्र या अधिक समय रक्खा रहने पर उसमें हलका धुंधलापन आ जायगा, लीमूर के रक्त मे उतना भी नही। और घोड़े या अन्य स्तनपोषित जीवों में तो बिल्कुल ही प्रभाव न दिखाई देगा। हममें और वनमानुषों में घनिष्ट सम्बन्ध होने का इससे भी पक्का प्रमाण और क्या चाहिए—दोनों का रक्त तक एक ही सा है!

ऊपर के दृष्टांतो से यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि मनुष्य अपने शरीर के अंगो मे निस्सन्देह अन्य प्राइमेटों का संबंधी होने के काफी चिन्ह अभी तक रखता है। यदि हमें न्याय करना है तो अवश्य मानना पड़ेगा कि मनुष्य भी जानवरों में से ही एक है। यह अवश्य है कि जानवर होते हुए भी उसमे ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण वह ऊँचे से ऊँचे वनमानुष और अन्य जन्तुओ से भी ऊँचा और भिन्न है। दूसरे शब्दो में, मनुष्य मनुष्य ही है।

# हम कौन और क्या हैं—(२)

## अन्य जीवधारियों से हमारी श्रेष्ठता

**जंतु-जगत् में मनुष्य का कौन-सा स्थान है और कौन उसके सगे-संबंधी हैं, किन-किन बातों में मनुष्य अन्य जीवधारियों के समान है और किन बातों में उसमें और अन्य प्राणियों में भेद है, यह हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। यहाँ हमें देखना है कि एक पशु होकर भी मनुष्य में कौन-सी वे विशेषताएँ है, जिनसे वह अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ माना गया है।**

इस प्रकरण के प्रथम भाग में अन्य प्राणियो के साथ तुलना करके हमने यह देखा है कि इस व्यापक संसार के असंख्य प्राणियों मे मनुष्य भी एक प्राणी है। मनुष्य की रचना जीवशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के नियमो की दृष्टि से अन्य जीवधारियों की शरीर-रचना से कोई विशेष भिन्न नही है। मानव-शरीर भी उन्ही मुख्य-मुख्य संस्थानो के समूह से बना हुआ है, जिनसे कि अन्य प्राणियों के शरीर बने हैं। इस रचना के साधारण तत्त्व सब प्राणियों मे एक-से ही हैं। मनुष्य के शरीर मे लगभग दो सौ पेशियाँ हैं, परन्तु उनमें एक भी ऐसी नही, जो केवल उसके ही शरीर में विद्यमान हो, अर्थात् और किसी भी प्राणी में न पाई जाय। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की गर्भावस्था

बहुत समय तक एक-सी ही रहती है। सच तो यह है कि मनुष्य के जीवन में जितने भी काम एक प्राणी की हैसियत से होते है, वे अन्य जानवरों की तरह ही होते है। अन्तर यही है कि कोई बात मे वह कम है, तो कोई में ज्यादा। मनुष्य मे न तो शेर या हाथी-जैसा बल है, न वह उनके बराबर खा ही सकता है। न उसकी आवाज ही उतनी दूर तक पहुँच सकती है, जितनी दूर तक शेर की दहाड़ या हाथी की चिंघाड़ पहुँचती है, न उसकी सुनने की शक्ति ही उतनी तेज है, जितनी जंगल में रहनेवाले हिरन, बिल्ली, खरगोश इत्यादि की है। उसकी दृष्टि भी उतनी तेज नहीं, जितनी चील व अन्य चिड़ियों की है। और उसकी सूँघने की शक्ति तो चींटी से भी बहुत कम है। इन सब बातों मे कमजोर होते हुए भी मनुष्य कैसे सब जानवरों पर हावी रहता है? केवल अपनी बुद्धि और चतुराई से। "आदमी का मन या मस्तिष्क ही वह चीज है, जिसने आज उसे अन्य जीवधारियों से ऊँचा उठा रक्खा है। मस्तिष्क ही की बदौलत आदमी अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ऊँचा उठकर आज सभ्य बन पाया है। वह हवा में उड़ता है, समुद्र की छाती को रौंदता हुआ चलता है, सात समुद्र पार बैठे हुए अपने मित्रो से बात-चीत करता है, यहाँ तक कि उन्हें उतनी ही दूर पर बैठे-बैठे देखने भी लगा है। उसने प्रकृति पर विजय पा ली है, वह बीमारी और मृत्यु तक पर विजय पाने को तुला बैठा है।"

**मनुष्य के मस्तिष्क का मानचित्र**

इसमें वाणी, स्वाद, श्रवण और दृष्टि के केन्द्र दिखाए गए है। मस्तिष्क ही की बदौलत मनुष्य मनुष्य बना है।

## वानर-कक्षा के विशिष्ट लक्षण

यह सब होते हुए भी डॉ० त्रिलोकीनाथ वर्मा के शब्दों में "मनुष्य एक जानवर है, जिसकी चार शाखाएँ होती है। इनमे दो शाखाएँ तो चीजों को पकड़ने, लड़ने और लिखने इत्यादि के काम में आती है और दो शाखाएँ चलने, फिरने, भागने, दौड़ने के काम में आती है। अर्थात् मनुष्य एक दोपाया जानवर है। बचपन में जब वह खड़ा होना नही जानता, मनुष्य भी चौपाया होता है; इस समय उसकी अगली शाखाएँ भी पृथ्वी पर दौड़ने और चलने-फिरने में सहायता देती है।" प्राणिशास्त्र-वेत्ताओं अथवा विकास-वादियों ने ही नहीं, परन्तु विकासवाद के विरोधियों ने भी शरीर की रचना का साम्य देखकर मनुष्य का समावेश स्तनधारी श्रेणी की वानर-कक्षा में किया है। संस्कृत में 'वानर' आधे मनुष्य को कहते है। जो विशेषताएँ वानर कक्षा में पाई जाती है, वे सब मनुष्य में भी है। उनमें से मुख्य ये है। दोनों ही में अन्य प्राणियों की अपेक्षा खोपड़ी और दिमाग बड़ा होता है। आँखे सामने होती है और सामने ही देखती है। हाथ-पाँव लम्बे होते है और उनमे अन्य पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति वाली पाँच-पाँच उँगलियाँ होती है, जो इच्छा-नुसार घूमती है। अँगूठा घूमकर सामने आ जाता है और यदि सब उँगलियों मे नही तो कम-से-कम अँगूठे का नाखुन जरूर चपटा होता है। सभी मे मादाओं के वक्षःस्थल पर दो स्तन होते है, जिनके द्वारा वे अपने बच्चों को दूध पिलाती है। हँसली की अस्थियाँ दृढ़ और पूरी तरह से बढ़ी हुई होती है। दूध के दाँत गिरकर स्थिर दाँत उगते है और इनकी संख्या इस कक्षा के सब प्राणि-यों में नियत होती है। इनमें गर्भावस्था मे माता और गर्भ का संग नाल द्वारा होता है।

हम पिछले पृष्ठों में यह बता चुके है कि मनुष्य का वंश वनमानुषों के वंश से अलग है, जैसे वनमानुषों का वंश अन्य वानर-वंशों से। परन्तु उपर्युक्त लक्षण सभी में पाए जाते है। मनुष्य के सबसे निकट के सम्बन्धी मानवसम वानरों का विस्तारपूर्वक वर्णन जानवरोंवाले विभाग में क्रमशः आपको मिलेगा। परन्तु उनके मुख्य लक्षण, जिनसे कि वे अन्य प्रधान-भागियों से विभिन्न किये जाते है, हम यहाँ देते है। उनका अपूर्ण खड़ा आसन; उनके हाथ-ऐसे पैर, जिनसे कि वे जमीन पर भलीभाँति नही चल सकते; उनका आगे को बढ़ा हुआ सिर; मजबूत, बिना ठोढ़ी के, आगे को निकले हुए उनके जबड़े; नीचा और पीछे को दबा हुआ उनका माथा; भौं के ऊपर ऊँची निकली हुई

में उससे बड़े, और वन्दर से बड़े वनमानुष में एवं मनुष्य में क्रमानुसार सवसे बड़े हैं। इससे हारवर्ड-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हूटन ने नतीजा निकाला है कि लीमूर इस बात का संकेत करता है कि मनुष्य से उसका दूर का सम्वन्ध है! वन्दर भी हमसे नातेदारी का दावा करता है और वनमानुष तो पेडो की चोटी पर वैठा मानो ढिढोरा पीटता है कि वह हमारा ही निकट का सम्वन्धी है!

थोडे ही वर्ष हुए वैज्ञानिको ने पता लगाया है कि अगर किसी जन्तु का रक्त अपने से नजदीक के रिश्तेवाले प्राणी के रक्त मे मिलाया जाय तो दोनो का रक्त मिलकर एक समान हो जाता है। परंतु यदि वह ऐसे जीव के रक्त मे डाला जाय कि जिससे उसकी घनिष्टता नही है तो वह अच्छी तरह न मिलेगा। मनुष्य और शिम्पैंजी मे अधिक घनिष्टता होने के कारण दोनो का रक्त आपस में विल्कुल घुल-मिल जाता है। परन्तु आदमी का रक्त घोड़े के रक्त मे भरा जाय तो वह मिलता ही नही वरन् उसके रक्तकणों को नष्ट कर देता है।

इससे भी अद्भुत् उदाहरण एक और सुनिए। यदि किसी प्राणी का रक्त किसी अन्य समूह के जन्तु के रक्त में सुई द्वारा भरा जाय और जो रक्तरस (सीरम) उसके रक्त से निकले, उसे पहले समूह के और किसी जानवर के खून या खून के घोल में मिलाया जाय तो तुरन्त ही उसमें तलछट वैठ जाता है। अगर वही रक्तरस किसी दूसरे समूह के प्राणियो के रक्त या रक्त-घोल में मिलाया जाय तो क्रमानुसार जितने ही दूर के समूह के जीव का रक्त होगा, उतना ही कम और देर में तलछट वनेगा। किन्तु अधिक दूर के संवंधी जन्तुओ के रक्त मे डालने से नाम-मात्र या विल्कुल ही तलछट न वनेगा। इससे यह स्पष्ट है कि इस तलछट द्वारा जीवों के पारस्परिक संवंध की घनिष्टता और विलगता का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। मनुष्य का रक्त खरगोश के रक्त में भरकर जो रक्तरस वने, उसमें से कुछ किसी दूसरे आदमी के रक्त या रक्त के हलके घोल मे यदि मिलाया जाय तो शीघ्र तलछट फेंक देगा। किन्तु वही रक्तरस वनमानुष, वन्दर, लीमूर और घोड़े के रक्त मे छोड़ा जाय तो देखा जायगा कि वनमानुष के रक्त मे तलछट वनेगा, किन्तु आदमी के रक्त की तुलना में कम और देर से। वन्दर के रक्त मे नाम-मात्र या अधिक समय रक्खा रहने पर उसमे हलका धुँधलापन आ जायगा, लीमूर के रक्त मे उतना भी नही। और घोड़े या अन्य स्तनपोषित जीवों मे तो विल्कुल ही प्रभाव न दिखाई देगा। हममें और वनमानुषों मे घनिष्ट सम्वन्ध होने का इससे भी पक्का प्रमाण और क्या चाहिए—दोनों का रक्त तक एक ही सा है!

ऊपर के दृष्टातो से यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि मनुष्य अपने शरीर के अंगों मे निस्सन्देह अन्य प्राइमेटों का संवधी होने के काफी चिन्ह अभी तक रखता है। यदि हमें न्याय करना है तो अवश्य मानना पड़ेगा कि मनुष्य भी जानवरों मे से ही एक है। यह अवश्य है कि जानवर होते हुए भी उसमें ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण वह ऊँचे से ऊँचे वनमानुष और अन्य जन्तुओ से भी ऊँचा और भिन्न है। दूसरे शब्दों मे, मनुष्य मनुष्य ही है।

# हम कौन और क्या हैं—(२)

## अन्य जीवधारियों से हमारी श्रेष्ठता

**जंतु-जगत् में मनुष्य का कौन-सा स्थान है और कौन उसके सगे-संवंधी हैं, किन-किन वातों में मनुष्य अन्य जीवधारियों के समान है और किन वातों में उसमें और अन्य प्राणियों में भेद है, यह हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। यहाँ हमें देखना है कि एक पशु होकर भी मनुष्य में कौन-सी वे विशेषताएँ हैं, जिनसे वह अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ माना गया है।**

इस प्रकरण के प्रथम भाग में अन्य प्राणियों के साथ तुलना करके हमने यह देखा है कि इस व्यापक संसार के असख्य प्राणियो में मनुष्य भी एक प्राणी है। मनुष्य की रचना जीवशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के नियमो की दृष्टि से अन्य जीवधारियों की शरीर-रचना से कोई विशेष भिन्न नही है। मानव-शरीर भी उन्ही मुख्य-मुख्य संस्थानों के समूह से वना हुआ है, जिनसे कि अन्य प्राणियों के शरीर वने हैं। इस रचना के साधारण तत्त्व सव प्राणियो मे एक-से ही है। मनुष्य के शरीर मे लगभग दो सौ पेशियाँ हैं, परन्तु उनमे एक भी ऐसी नही, जो केवल उसके ही शरीर मे विद्यमान हो, अर्थात् और किसी भी प्राणी में न पाई जाय। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की गर्भावस्था

बहुत समय तक एक-सी ही रहती है। सच तो यह है कि मनुष्य के जीवन में जितने भी काम एक प्राणी की हैसियत से होते हैं, वे अन्य जानवरों की तरह ही होते हैं। अन्तर यही है कि कोई बात में वह कम है, तो कोई में ज्यादा। मनुष्य में न तो शेर या हाथी-जैसा बल है, न वह उनके बराबर खा ही सकता है। न उसकी आवाज ही उतनी दूर तक पहुँच सकती है, जितनी दूर तक शेर की दहाड़ या हाथी की चिंघाड़ पहुँचती है, न उसकी सुनने की शक्ति ही उतनी तेज है, जितनी जंगल में रहनेवाले हिरन, बिल्ली, खरगोश इत्यादि की है। उसकी दृष्टि भी उतनी तेज नहीं, जितनी चील व अन्य चिड़ियों की है। और उसकी सूँघने की शक्ति तो चींटी से भी बहुत कम है। इन सब बातों में कमजोर होते हुए भी मनुष्य कैसे सब जानवरों पर हावी रहता है? केवल अपनी बुद्धि और चतुराई से। "आदमी का मन या मस्तिष्क ही वह चीज है, जिसने आज उसे अन्य जीवधारियों से ऊँचा उठा रक्खा है। मस्तिष्क ही की बदौलत आदमी अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ऊँचा उठकर आज सभ्य बन पाया है। वह हवा में उड़ता है, समुद्र की छाती को रौंदता हुआ चलता है, सात समुद्र पार बैठे हुए अपने मित्रों से बात-चीत करता है, यहाँ तक कि उन्हें उतनी ही दूर पर बैठे-बैठे देखने भी लगा है। उसने प्रकृति पर विजय पा ली है, वह बीमारी और मृत्यु तक पर विजय पाने को तुला बैठा है।"

**मनुष्य के मस्तिष्क का मानचित्र**

इसमें वाणी, स्वाद, श्रवण और दृष्टि के केन्द्र दिखाए गए हैं। मस्तिष्क ही की बदौलत मनुष्य मनुष्य बना है।

## वानर-कक्षा के विशिष्ट लक्षण

यह सब होते हुए भी डॉ० त्रिलोकीनाथ वर्मा के शब्दों में "मनुष्य एक जानवर है, जिसकी चार शाखाएँ होती हैं। इनमें दो शाखाएँ तो चीजों को पकड़ने, लड़ने और लिखने इत्यादि के काम में आती हैं और दो शाखाएँ चलने, फिरने, भागने, दौड़ने के काम में आती हैं। अर्थात् मनुष्य एक दोपाया जानवर है। बचपन में जब वह खड़ा होना नहीं जानता, मनुष्य भी चौपाया होता है; इस समय उसकी अगली शाखाएँ भी पृथ्वी पर दौड़ने और चलने-फिरने में सहायता देती हैं।" प्राणिशास्त्र-वेत्ताओं अथवा विकास-वादियों ने ही नहीं, परन्तु विकासवाद के विरोधियों ने भी शरीर की रचना का साम्य देखकर मनुष्य का समावेश स्तनधारी श्रेणी की वानर-कक्षा में किया है। संस्कृत में 'वानर' आधे मनुष्य को कहते हैं। जो विशेषताएँ वानर कक्षा में पाई जाती हैं, वे सब मनुष्य में भी हैं। उनमें से मुख्य ये हैं। दोनों ही में अन्य प्राणियों की अपेक्षा खोपड़ी और दिमाग बड़ा होता है। आँखें सामने होती हैं और सामने ही देखती हैं। हाथ-पाँव लम्बे होते हैं और उनमें अन्य पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति वाली पाँच-पाँच उँगलियाँ होती हैं, जो इच्छानुसार घूमती हैं। अँगूठा घूमकर सामने आ जाता है और यदि सब उँगलियों में नहीं तो कम-से-कम अँगूठे का नाखुन जरूर चपटा होता है। सभी में मादाओं के वक्षःस्थल पर दो स्तन होते हैं, जिनके द्वारा वे अपने बच्चों को दूध पिलाती हैं। हँसली की अस्थियाँ दृढ़ और पूरी तरह से बढ़ी हुई होती हैं। दूध के दाँत गिरकर स्थिर दाँत उगते हैं और इनकी संख्या इस कक्षा के सब प्राणियों में नियत होती है। इनमें गर्भावस्था में माता और गर्भ का संग नाल द्वारा होता है।

हम पिछले पृष्ठों में यह बता चुके हैं कि मनुष्य का वंश वनमानुषों के वंश से अलग है, जैसे वनमानुषों का वंश अन्य वानर-वंशों से। परन्तु उपर्युक्त लक्षण सभी में पाए जाते हैं। मनुष्य के सबसे निकट के सम्बन्धी मानवसम वानरों का विस्तारपूर्वक वर्णन जानवरोंवाले विभाग में क्रमशः आपको मिलेगा। परन्तु उनके मुख्य लक्षण, जिनसे कि वे अन्य प्रधान-भागियों से विभिन्न किये जाते हैं, हम यहाँ देते हैं। उनका अपूर्ण खड़ा आसन; उनके हाथ-जैसे पैर, जिनसे कि वे जमीन पर भलीभाँति नहीं चल सकते; उनका आगे को बढ़ा हुआ सिर; मजबूत, बिना ठोड़ी के, आगे को निकले हुए उनके जबड़े; नीचा और पीछे को दबा हुआ उनका माथा; भौं के ऊपर ऊँची निकली हुई

हड्डी—ये इस वर्ग के मुख्य लक्षण हैं। मनुष्य की खोपड़ी से वनमानुषो की खोपड़ी मे आधी से कम जगह होती है। यह कहा जाता है कि वनमानुषों का मानसिक स्वभाव दो-तीन वर्ष के आदमी के बच्चे के बराबर होता है। किन्तु शारीरिक गुणो मे मनुष्य और वनमानुषो में केवल मात्रा का ही अन्तर है।

## मनुष्य-वंश और वनमानुषों के गुणों की तुलना

जिस प्रकार उपर्युक्त गुणो से मानवसम वन्दर अन्य वानरों से पृथक् किए जाते है, उसी प्रकार मनुष्य भी अन्य प्रधान-भागियो से कई मुख्य लक्षणो द्वारा अलग माना जाकर मानव-वंश में रक्खा जाता है। मनुष्य बिलकुल सीधा खड़ा होकर घंटों चलता-फिरता है, जबकि दूसरे जीव अपनी पिछली टाँगों पर थोड़े ही समय तक खडे हो सकते हैं। गोरिल्ला और शिम्पैंजी ही ऐसे है, जो कमर झुकाये पिछली टाँगों पर खडे होकर दो-चार पग चल-फिर लेते है। वन्दर भी मदारी के सिखाने से रस्सी या छडी पकड़कर दो पैरो पर चल लेता है, लेकिन मनुष्य की तरह बिल्कुल सीधा होकर कोई प्राणी नही चल-फिर सकता। कहा जाता है कि मनुष्य के पूर्वजो ने जब पिछली टांगों पर चलना सीख लिया, तो उनकी भुजाएँ और हाथ दूसरे कार्य करने के लिए खाली हो गए और उनको अवसर मिला कि हाथों को धीरे-धीरे नाना प्रकार के कामो में लगाते हुए निपुण कार्य करने योग्य बना ले। इस प्रकार हाथ और पैरो के काम अलग-अलग बँट जाने से उनके रूप मे भी अन्तर हो गया। हम अपने हाथ के अँगूठे की तरह पैर के अँगूठे को वन्दरो की तरह उँगलियो से नही छुआ सकते और न उनकी तरह पैरों से कोई चीज पकड़ने का काम ले सकते हैं। अन्य वनमानुषो से तुलना करने पर पता लगता है कि हमारी भुजाएँ टाँगो से अधिक छोटी होती हैं और शरीर पर बाल भी बहुत कम होते हैं। मानवसम वन्दरों के समान न तो मनुष्य में जबडे आगे निकले हुए है, न आँखों के ऊपर की हड्डियाँ उनकी जैसी उभरी हुई है, और न कुक्कुर-दन्त या कीलें अन्य दाँतो से लम्बे होते है। मनुष्य में ठोड़ी साफ होती है और उसकी नाक नुकीली और ऊपर की ओर गड्ढेदार होती है। उसके ऊपरी होठ के बीचोबीच में एक नाली भी बनी हुई है। परन्तु सबसे मुख्य विशेषता तो वस्तुत: उसके मस्तिष्क मे है। मनुष्य अपने शरीर की साधारण रचना से वन्दरो से इतना भिन्न नहीं किया जा सकता है, जितना कि उनकी तुलना में अपने बड़े मस्तिष्क द्वारा। उसका मस्तिष्क बड़े-से-बड़े वनमानुष के मस्तिष्क से भी दो या तीन गुना अधिक बडा होता है। मनुष्य का मस्तिष्क वजन मे १३८० माशे, गौरिल्ला का ६०० माशे, शिम्पैंजी का ४५० माशे और घोड़े का ६५० माशे होता है।

सर आर्थर कीथ का कथन है कि मनुष्य के गुणों में से शिम्पैंजी मे ९८, गोरिल्ला मे ८७, गिब्बन में ८४, पश्चिमी गोलार्द्ध (नई दुनिया) के वन्दरो में ६०, ओरंग-उटाँग में ५६ और पूर्वी गोलार्द्ध (पुरानी दुनिया) के वन्दरो मे ५३ गुण मिलते हैं। सर्वश्रेष्ठ वनमानुष और सबसे प्राचीन मनुष्य में मानसिक स्तर पर इतना भेद है कि उनकी तुलना करना बहुत कठिन है।

## शिम्पैंजी की होशियारी

इसमें सन्देह नही कि शिम्पैंजी और मनुष्य के मस्तिष्क की मौलिक रचना एक ही-सी है, परन्तु शिम्पैंजी का दिमाग बहुत साधारण है। वह बिल्कुल हमारे दिमाग की तरह काम नहीं करता। यह सिद्ध हो चुका है कि वह सिर्फ नकल ही नही करता, या जो चालाकी के काम वह एक बार संयोग से कर लेता है उनका करना याद ही नहीं रखता, वरन् अपने कार्यो का आगा-पीछा भी थोड़ा-बहुत सोच सकता है। वह कोट-पतलून पहनना, कुर्सी पर बैठकर छुरी-काँटे से खाना, चाय पीना, बाइसिकिल पर सैर करना, और सिगरेट पीना ही नहीं सीख सका है, वरन् उसके सामने कोई समस्या—जो बहुत कठिन न हो—यदि रख दी जाय, तो वह सोच-विचारकर उसे हल भी कर लेता है। इस प्रकार के कठिन काम उसने काफी कर दिखाए है। उदाहरणार्थ, एक शिम्पैंजी को एक बड़े कटघरे में वन्द कर दिया गया और कटघरे के बाहर केलों का एक गुच्छा काफी ऊँचाई पर लटका दिया गया। कटघरे के अन्दर उसकी पहुँच के बाहर एक टेढ़ी मूठवाली छड़ी लटका दी गई, और कोने में एक लकड़ी का बक्स रख दिया गया। उस होशियार शिम्पैंजी ने बिना किसी पहले अनुभव के अपने आस-पास की दशा को ताड़ लिया। बक्स को ढकेलकर वह उस पर चढ़ गया और छड़ी उतार ली। फिर छड़ी और बक्स केलों की ओर ले गया और बक्स पर खडे होकर छड़ी से केलों को तोड़कर वह खा गया (देखो पृष्ठ २०० का चित्र)। तब कौन कह सकता है कि शिम्पैंजी मूर्ख है? और भी बहुत-से प्राणियों में ऐसे ही उम्दा दिमाग होते है। यों तो वन्दर और रीछ नाचना, पैसा माँगना, सलाम करना, पैर छूना, मूढे पर बैठकर डमरू बजाना, अपनी स्त्री को प्यार करना और

उससे रूठना सीख लेते हैं। गाय-बकरी अपने भोजन का समय पहचान जाती है। बिल्ली मिठाई खाने के लिए अलमारी की कुंटी खोलना सीख लेती है। सरकसों में शेर, हाथी, घोड़े बहुत-से अनोखे काम कर दिखाते हैं। फिर भी मनुष्य के निकट कोई भी नही पहुँच सकता। वे सब बहुत-से बुद्धि के काम कर दिखाते हैं, किन्तु यह कहना कि शिम्पैंजी के बराबर भी किसी और मे अपने कर्त्तव्यो का परिणाम सोचने की योग्यता है या नही, असम्भव है।

## मनुष्य कैसे वनमानुषों से पृथक् हुआ

इन बातो से मालूम होता है कि मनुष्य और ऊँचे-से-ऊँचे अन्य पशुओ की बुद्धि मे इतना विशाल अन्तर होने का कारण मनुष्य के मस्तिष्क का बडा और भारी होना ही है। औसत डील के मनुष्य के दिमाग का बोझ भारी-से-भारी गोरिल्ला के मस्तिष्क से दुगुने से भी अधिक होता है। इसकी वृद्धि उसके सबसे महत्त्वपूर्ण भाग बृहत् मस्तिष्क के वल्क मे ही हुई है, जो बुद्धि, स्पर्श-ज्ञान, वाक्शक्ति और विचार आदि का केन्द्र है। हमारे बृहत् मस्तिष्क की वात-कोशिकाओ की सख्या नौ अरब बीस करोड है। इसी कारण वह बहुत पेचीदा हो गया है। जिस प्रकार मस्तिष्क की वृद्धि की ही बदौलत वनमानुषो ने अन्य प्राणियो की अपेक्षा उच्चता प्राप्त की, उसी तरह मनुष्य भी वनमानुषो पर मस्तिष्क की अत्यधिक वृद्धि के कारण ही उच्चता प्राप्त कर सका। मस्तिष्क की उन्नति ने ही उसे शारीरिक बल के स्थान पर यान्त्रिक बल प्रयुक्त करना सिखाया। उसमें सोचने, विचारने, पढने, लिखने इत्यादि के केन्द्र अन्य जानवरों की अपेक्षा काफी बडे और उत्तम प्रकार के होते है। उस में बुद्धि अधिक होती है। जो काम अन्य जानवर नही कर सकते, उन्हे भी वह कर सकता है। वह किसी विषय पर अपने मन मे वाद-विवाद कर उस विषय का निर्णय करने की योग्यता रखता है, जो और कोई प्राणी नही कर सकता। बुद्धि ही की बदौलत वह शेर, हाथी और ह्वेल जैसे भीमकाय प्राणियो को भी—जो उससे कही अधिक बलशाली है—सहज ही वश मे कर लेता है।

शारीरिक बल के स्थान पर यान्त्रिक बल की उन्नति होने पर मनुष्य मे धीरे-धीरे अग्नि, जल, भोजन के पदार्थों और वस्त्रो के आच्छादन का ज्ञान हुआ। पत्थर फेंकना, निशाना लगाना, पत्थरो के अस्त्र बनाना, इत्यादि प्रारंभिक कार्यों के पश्चात् शनै-शनै. मकान बनाने और बीज बोकर खेती करने का भी ज्ञान उसने प्राप्त किया। इस प्रकार क्रमश. वन्य जीवन से सभ्य जीवन मे उसकी परिणति हुई। कालान्तर मे पहले अगविक्षेपो, फिर चित्रमय सकेतों और उसके बाद अक्षरमय चिह्नो से अपने विचारो को प्रकट करने की शैली भी उसने ढूँढ निकाली। इस प्रकार जैसे-जैसे विचार करने की उसकी शक्ति बढती गई, वैसे-वैसे उसके पास अधिकाधिक साधन भी इकट्ठे होते चले गए और इसी अनुपात मे उसमें और वनमानुषों मे बड़ा अन्तर पडता चला गया। सोलस, कीथ और हेकल नामक विद्वानो द्वारा लगाए गए हिसाब के अनुसार इस ससार

**शिम्पैंजी की होशियारी**
इस चित्र में तीन पालतू शिम्पैंजी कुर्सी और मेज पर बैठकर आदमी की तरह छुरी-काँटे से खाना खा रहे हैं। प्रायः योरप-अमेरिका के समाचार-पत्रों में ऐसे चतुर शिम्पैंजियों के चित्र और वर्णन प्रकाशित होते रहते हैं, जो बल्ले से टेनिस खेलते हैं, साइकिल चलाते हैं और पियानो जैसा बाजा भी बजा लेते हैं।

हड्डी—ये इस वर्ग के मुख्य लक्षण है। मनुष्य की खोपड़ी से वनमानुषों की खोपड़ी मे आधी से कम जगह होती है। यह कहा जाता है कि वनमानुषों का मानसिक स्वभाव दो-तीन वर्ष के आदमी के बच्चे के बराबर होता है। किन्तु शारीरिक गुणो मे मनुष्य और वनमानुषों में केवल मात्रा का ही अन्तर है।

## मनुष्य-वंश और वनमानुषों के गुणों की तुलना

जिस प्रकार उपर्युक्त गुणों मे मानवसम बन्दर अन्य वानरों से पृथक् किए जाते है, उसी प्रकार मनुष्य भी अन्य प्रधान-भागियो से कई मुख्य लक्षणों द्वारा अलग माना जाकर मानव-वश मे रक्खा जाता है। मनुष्य बिलकुल सीधा खडा होकर घटो चलता-फिरता है, जबकि दूसरे जीव अपनी पिछली टाँगों पर थोड़े ही समय तक खडे हो सकते है। गोरिल्ला और शिम्पैंजी ही ऐसे है, जो कमर झुकाये पिछली टाँगों पर खड़े होकर दो-चार पग चल-फिर लेते है। बन्दर भी मदारी के सिखाने से रस्सी या छडी पकड़कर दो पैरो पर चल लेता है; लेकिन मनुष्य की तरह बिल्कुल सीधा होकर कोई प्राणी नही चल-फिर सकता। कहा जाता है कि मनुष्य के पूर्वजो ने जब पिछली टाँगों पर चलना सीख लिया, तो उनकी भुजाएँ और हाथ दूसरे कार्य करने के लिए खाली हो गए और उनको अवसर मिला कि हाथों को धीरे-धीरे नाना प्रकार के कामों में लगाते हुए निपुण कार्य करने योग्य बना लें। इस प्रकार हाथ और पैरों के काम अलग-अलग बँट जाने से उनके रूप में भी अन्तर हो गया। हम अपने हाथ के अँगूठे की तरह पैर के अँगूठे को बन्दरों की तरह उँगलियो से नही छुआ सकते और न उनकी तरह पैरो से कोई चीज पकड़ने का काम ले सकते है। अन्य वनमानुषो से तुलना करने पर पता लगता है कि हमारी भुजाएँ टाँगों से अधिक छोटी होती है और शरीर पर बाल भी बहुत कम होते है। मानवसम बन्दरो के समान न तो मनुष्य में जबड़े आगे निकले हुए है, न आँखों के ऊपर की हड्डियाँ उनकी जैसी उभरी हुई है, और न कुक्कुर-दन्त या कीलें अन्य दाँतो से लम्बे होते है। मनुष्य में ठोडी साफ होती है और उसकी नाक नुकीली और ऊपर की ओर गड्ढेदार होती है। उसके ऊपरी होठ के बीचोबीच में एक नाली भी बनी हुई है। परन्तु सबसे मुख्य विशेषता तो वस्तुतः उसके मस्तिष्क मे है। मनुष्य अपने शरीर की साधारण रचना से बन्दरों से इतना भिन्न नहीं किया जा सकता है, जितना कि उनकी तुलना में अपने बड़े मस्तिष्क द्वारा। उसका मस्तिष्क बड़े-से-बड़े वनमानुष के मस्तिष्क से भी दो या तीन गुना अधिक बड़ा होता है। मनुष्य का मस्तिष्क वजन में १३८० माशे, गौरिल्ला का ६०० माशे, शिम्पैंजी का ४५० माशे और घोड़े का ६५० माशे होता है।

सर आर्थर कीथ का कथन है कि मनुष्य के गुणो में से शिम्पैंजी में ९८, गोरिल्ला में ८७, गिब्बन में ८४, पश्चिमी गोलार्द्ध (नई दुनिया) के बन्दरों मे ६०, ओरंग-उटाँग में ५६ और पूर्वी गोलार्द्ध (पुरानी दुनिया) के बन्दरो मे ५३ गुण मिलते है। सर्वश्रेष्ठ वनमानुष और सबसे प्राचीन मनुष्य में मानसिक स्तर पर इतना भेद है कि उनकी तुलना करना बहुत कठिन है।

## शिम्पैंजी की होशियारी

इसमें सन्देह नही कि शिम्पैंजी और मनुष्य के मस्तिष्क की मौलिक रचना एक ही-सी है, परन्तु शिम्पैंजी का दिमाग बहुत साधारण है। वह बिल्कुल हमारे दिमाग की तरह काम नही करता। यह सिद्ध हो चुका है कि वह सिर्फ नकल ही नही करता, या जो चालाकी के काम वह एक बार संयोग से कर लेता है उनका करना याद ही नहीं रखता, वरन् अपने कार्यो का आगा-पीछा भी थोड़ा-बहुत सोच सकता है। वह कोट-पतलून पहनना, कुर्सी पर बैठकर छुरी-काँटे से खाना, चाय पीना, बाइसिकिल पर सैर करना, और सिगरेट पीना ही नही सीख सका है, वरन् उसके सामने कोई समस्या—जो बहुत कठिन न हो—यदि रख दी जाय, तो वह सोच-विचारकर उसे हल भी कर लेता है। इस प्रकार के कठिन काम उसने काफी कर दिखाए है। उदाहरणार्थ, एक शिम्पैंजी को एक बड़े कटघरे में बन्द कर दिया गया और कटघरे के बाहर केलों का एक गुच्छा काफी ऊँचाई पर लटका दिया गया। कटघरे के अन्दर उसकी पहुँच के बाहर एक टेढ़ी मूठवाली छड़ी लटका दी गई, और कोने में एक लकड़ी का बक्स रख दिया गया। उस होशियार शिम्पैंजी ने बिना किसी पहले अनुभव के अपने आस-पास की दशा को ताड़ लिया। बक्स को ढकेलकर वह उस पर चढ़ गया और छड़ी उतार ली। फिर छड़ी और बक्स केलो की ओर ले गया और बक्स पर खड़े होकर छड़ी से केलों को तोड़कर वह खा गया (देखो पृष्ठ २०० का चित्र)। तब कौन कह सकता है कि शिम्पैंजी मूर्ख है? और भी बहुत-से प्राणियों में ऐसे ही उम्दा दिमाग होते है। यों तो बन्दर और रीछ नाचना, पैसा माँगना, सलाम करना, पैर छूना, मूढ़े पर बैठकर डमरू बजाना, अपनी स्त्री को प्यार करना और

उससे रूठना सीख लेते हैं। गाय-बकरी अपने भोजन का समय पहचान जाती है। बिल्ली मिठाई खाने के लिए अलमारी की कुंडी खोलना सीख लेती है। सरकसों में शेर, हाथी, घोड़े बहुत-से अनोखे काम कर दिखाते हैं। फिर भी मनुष्य के निकट कोई भी नहीं पहुँच सकता। वे सब बहुत-से बुद्धि के काम कर दिखाते हैं, किन्तु यह कहना कि शिम्पैंजी के बराबर भी किसी और में अपने कर्त्तव्यों का परिणाम सोचने की योग्यता है या नहीं, असम्भव है।

### मनुष्य कैसे वनमानुषों से पृथक् हुआ

इन बातों से मालूम होता है कि मनुष्य और ऊँचे-से-ऊँचे अन्य पशुओं की बुद्धि में इतना विशाल अन्तर होने का कारण मनुष्य के मस्तिष्क का बड़ा और भारी होना ही है। औसत डील के मनुष्य के दिमाग का बोझ भारी-से-भारी गोरिल्ला के मस्तिष्क से दुगुने से भी अधिक होता है। इसकी वृद्धि उसके सबसे महत्त्वपूर्ण भाग वृहत् मस्तिष्क के वल्क में ही हुई है, जो बुद्धि, स्पर्श-ज्ञान, वाक्शक्ति और विचार आदि का केन्द्र है। हमारे वृहत् मस्तिष्क की वात-कोशिकाओं की संख्या नौ अरब बीस करोड़ है। इसी कारण वह बहुत पेचीदा हो गया है। जिस प्रकार मस्तिष्क की वृद्धि की ही बदौलत वनमानुषों ने अन्य प्राणियों की अपेक्षा उच्चता प्राप्त की, उसी तरह मनुष्य भी वनमानुषों पर मस्तिष्क की अत्यधिक वृद्धि के कारण ही उच्चता प्राप्त कर सका। मस्तिष्क की उन्नति ने ही उसे शारीरिक बल के स्थान पर यान्त्रिक बल प्रयुक्त करना सिखाया। उसमें सोचने, विचारने, पढ़ने, लिखने इत्यादि के केन्द्र अन्य जानवरों की अपेक्षा काफी बड़े और उत्तम प्रकार के होते हैं। उस में बुद्धि अधिक होती है। जो काम अन्य जानवर नहीं कर सकते, उन्हें भी वह कर सकता है। वह किसी विषय पर अपने मन में वाद-विवाद कर उस विषय का निर्णय करने की योग्यता रखता है, जो और कोई प्राणी नहीं कर सकता। बुद्धि ही की बदौलत वह शेर, हाथी और ह्वेल जैसे भीमकाय प्राणियों को भी—जो उससे कहीं अधिक बलशाली हैं—सहज ही वश में कर लेता है।

शारीरिक बल के स्थान पर यान्त्रिक बल की उन्नति होने पर मनुष्य में धीरे-धीरे अग्नि, जल, भोजन के पदार्थों और वस्त्रों के आच्छादन का ज्ञान हुआ। पत्थर फेंकना, निशाना लगाना, पत्थरों के अस्त्र बनाना, इत्यादि प्रारंभिक कार्यों के पश्चात् शनैः-शनैः मकान बनाने और बीज बोकर खेती करने का भी ज्ञान उसने प्राप्त किया। इस प्रकार क्रमशः वन्य जीवन से सभ्य जीवन में उसकी परिणति हुई। कालान्तर में पहले अंगविक्षेपों, फिर चित्रमय संकेतों और उसके बाद अक्षरमय चिह्नों से अपने विचारों को प्रकट करने की शैली भी उसने ढूँढ निकाली। इस प्रकार जैसे-जैसे विचार करने की उसकी शक्ति बढ़ती गई, वैसे-वैसे उसके पास अधिकाधिक साधन भी इकट्ठे होते चले गए और इसी अनुपात में उसमें और वनमानुषों में बड़ा अन्तर पड़ता चला गया। सोलस, कीथ और हेकल नामक विद्वानों द्वारा लगाए गए हिसाब के अनुसार इस संसार

**शिम्पैंजी की होशियारी**
इस चित्र में तीन पालतू शिम्पैंजी कुर्सी और मेज पर बैठकर आदमी की तरह छुरी-काँटे से खाना खा रहे हैं। प्रायः योरप-अमेरिका के समाचार-पत्रों में ऐसे चतुर शिम्पैंजियों के चित्र और वर्णन प्रकाशित होते रहते हैं, जो बल्ले से टेनिस खेलते हैं, साइकिल चलाते हैं और पियानो जैसा बाजा भी बजा लेते हैं।

मे मनुष्य का प्रादुर्भाव हुए दस लाख से अधिक वर्ष बीत चुके है। इतनी अवधि मे मनुष्य के बुद्धि-सामर्थ्य के कारण उसमें और वनमानुषो मे इतना अन्तर पड गया है कि उसका मापना अब असम्भव है। केवल वनमानुषो से पृथक् होकर ही मनुष्य की उन्नति समाप्त नही हो गई, बल्कि उसके विकास का चक्र तो बराबर गतिशील रहा है और अब भी है।

## मानव-मस्तिष्क—दृष्टि और कल्पना

मनुष्य का मस्तिष्क बडा और भारी होने के कारण उसमे और कौन-कौन से विशेष गुण आ गए है, उनका वर्णन अब हम करना चाहते है। मनुष्य का मस्तिष्क एक प्रगतिशील यत्र है। वह किसी घटना के विषय मे आगे-पीछे दोनो की कल्पना कर सकता है, जब कि अन्य पशु केवल अपने सामने ही की घटना की अनुभूति कर सकते है। आदमी ऐसा एक जानवर है, जो अपने शरीर को स्पर्श करके या देखकर स्वयं अपना ही अध्ययन नही करता, बल्कि अपनी इच्छाओ और विचारो की छानबीन कर वह इस बात का भी कुछ-कुछ अनुभव कर सकता है कि अपने आस-पास की अद्भुत सृष्टि मे, जिसका कि ज्ञान उसके मन को नेत्रो द्वारा होता है, वह क्यो भाग ले रहा है। यो तो देख-भाल करने के अग और उनकी शक्ति वनमानुषो मे भी वैसी ही है, जैसी कि हममे, किन्तु उनके दिमाग मे भला वह सामग्री कहाँ है, जिससे वे नेत्रो द्वारा दिखाई देनेवाली चीजो के बारे मे आगे-पीछे का नतीजा निकाल सके? उनमे पेचीदा बातो को याद रखने की भी उतनी योग्यता नही है, जितनी कि हम मे है। जब वनमानुषो का ही यह हाल है तो फिर अन्य प्राणियो मे तो यह शक्ति और भी कम है। आगे आप देखेगे कि कैसे आदमी की दृष्टि और उसके सीधे खडे होने की शक्ति मे एक घना सम्बन्ध है। इन दोनो विशेषताओ ने अन्य शक्तियों से मिलकर उसके मस्तिष्क को उच्चपद पर सुशोभित किया है। जब मनुष्य ने सीधा खडा होना सीख लिया, तो उसकी दृष्टि पहले की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण हो गई। उसके चलने मे हाथो की जरूरत अब न रही। फलतः वह उनसे चीजो को छूने, पकडने, और टटोलने का काम लेने लगा। ज्यो-ज्यो हाथो द्वारा वस्तुओ को पकडने और उनका ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति उसमे बढती गई, त्यो-त्यो उसके हाथ या उँगलियो मे अनुकूलता और छूकर बोध करने की योग्यता भी बढती गई। इस प्रकार वह समय आ गया जब कि आदमी देखभाल करने और छूकर अपने

**शिम्पैंजी का बुद्धिबल**

प्रयोग के लिए एक शिम्पैंजी को एक बडे कटघरे में बन्द कर दिया गया और कटघरे के बाहर केला का एक गुच्छा काफी ऊँचाई पर लटका दिया गया। कटघरे के अन्दर उसकी पहुच के बाहर एक टेढी मूठवाली छडी लटका दी गई, और कोने में एक लकडी का बक्स रख दिया गया। होशियार शिम्पैंजी ने बिना किसी पूर्व अनुभव के अपने आस-पास की दशा को ताड लिया। बक्स को ढकेलकर वह उस पर चढ गया और छडी उतार ली, फिर छडी और बक्स केलों की ओर ले गया और बक्स पर खडे होकर छडी से केलो को तोड़ कर खा गया! भला, अब भी आप उसमें बुद्धि का होना स्वीकार न करेंगे?
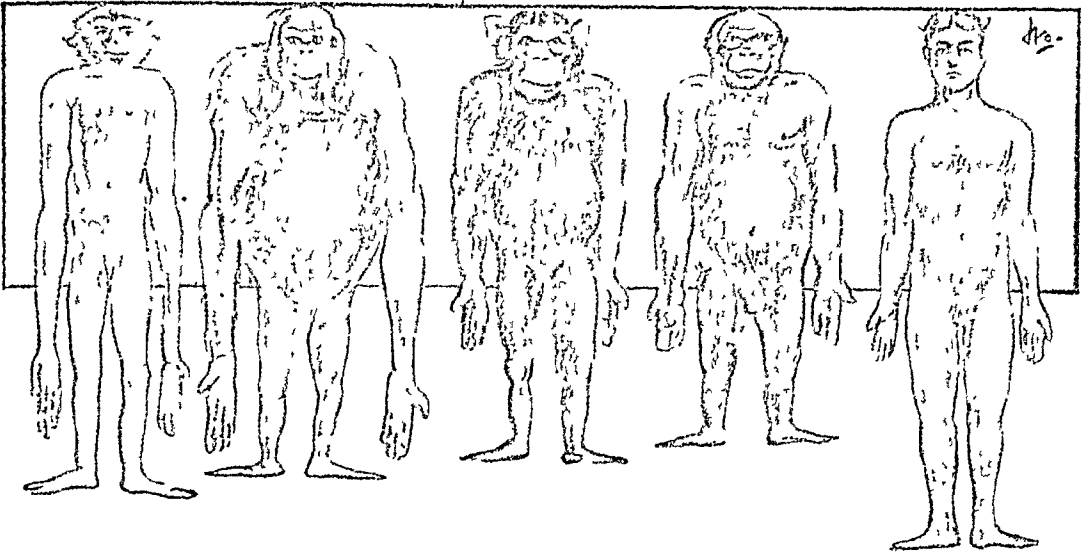
**मानवसम वानरों के हाथ-पैरों की लम्बाई के साथ मनुष्य के हाथ-पैरों के आकार की तुलना**

इस तुलनात्मक चित्र में बाईं ओर से दाहिनी ओर को क्रमशः गिब्बन, ओरंग-उटांग, शिम्पंजी, गोरिल्ला और मनुष्य की आकृतियां सीधी खड़ी दिखाई गई हैं, ताकि उनके हाथ पैरों की लम्बाई की तुलना की जा सके। आप देखते हैं कि ओरंग और गिब्बन के हाथ घुटनों से कितने अधिक नीचे तक लम्बे हैं। यह इसलिए कि इन्हें पेड़ की डालियों पर लटकने और उन्हें पकड़कर वृक्षों पर विचरने की आदत है। इसके विपरीत मनुष्य से अधिक मिलते-जुलते शिम्पंजी और गोरिल्ला के हाथ अपेक्षाकृत छोटे हैं।

आस-पास की चीजों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखने लगा। जैसे-जैसे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, यह बात जरूरी हो गई कि उसे जो ज्ञान देखकर और छूकर हुआ है, उसे वह भूल न जाय। इसलिए उसके दिमाग को स्मरण-शक्ति की अधिक आवश्यकता पड़ी, जिसके कारण मस्तिष्क के स्मरण-शक्ति-सम्बन्धी केन्द्रों की उत्तरोत्तर उन्नति और वृद्धि होने लगी।

इस योग्यता की बदौलत ही तो हम एक बार जो कुछ देख लेते हैं, उसे बाद में याद रख सकते हैं। हम केवल अपनी दृष्टि द्वारा एक चेहरे को दूसरे चेहरे से अलग पहचानते हैं। एक रंग को दूसरे रंग से अलग कर सकते हैं, छूकर या देखकर, अथवा दोनों ही प्रकार से, दूसरी वस्तुओं की बनावट में भेद समझ सकते हैं और दूसरों के संकेतों अथवा चेहरों के भावों को देखकर उनकी इच्छा और विचारों का थोड़ा-बहुत आभास प्राप्त कर लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारे मस्तिष्क में अपने पिछले अनुभवों, अर्थात् उन वस्तुओं का, जिन्हें हम पहले देख या छू चुके हैं, या उन कामों का, जिन्हें हम पहले कर चुके हैं, परस्पर मिलान करने की शक्ति विद्यमान है; अथवा यों कहिए, कि हम बड़ी पेचीदा स्मरण-शक्ति से युक्त हैं।

## हमारी और जानवरों की भाषा

मस्तिष्क की समृद्धि होने की दूसरी आवश्यक सीढ़ी मनुष्य में वाक्-शक्ति का उदय होना भी है। मनुष्य में यह शक्ति अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बढ़ी-चढ़ी है, यद्यपि बहुत-से अन्य जीवधारी भी बोलते पाये जाते हैं। चिड़िया अपने बच्चों के चहचहाने के ढंग से जान जाती है कि वे क्या चाहते हैं। बकरी का बच्चा अपनी मां की आवाज दूर से ही पहचान लेता है। बिल्ली भी म्याऊँ-म्याऊँ करके अपने बच्चों को पास बुला लेती है। शेर, हाथी और बैल गरजते, चिंघाड़ते और रंभाते हैं। बुलबुल और लावा जैसे पक्षी सुरीले और मधुर राग अलापते हैं। शिम्पैंजी भी आवाज लगाते हैं, जिससे उनकी खुशी या नाराजी प्रकट होती है। चींटियाँ तो बिना बोले ही अपने महीन शृंगों द्वारा एक-दूसरे को इशारा करके समझाती-बुझाती हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी बोलता, गाता और चिल्लाता है। तो फिर भला उसकी वाक्-शक्ति और जानवरों की बोलचाल में क्या भेद है?

कहा जाता है कि मनुष्य और अन्य जानवरों की बोली में मुख्य भेद यह है कि मनुष्य ने उन्नति करके अपनी भाषा का इस प्रकार से विकास कर लिया है कि उसमें एक शब्द

से केवल एक ही अर्थ समझा जा सकता है; जब कि पशुओं की बोलचाल में किसी विशिष्ट अभिप्राय के लिए कोई नियुक्त शब्द नहीं है। हाँ, यह कहना कि अन्य जीवों में अपने भावों को ठीक से प्रकट करने की योग्यता है ही नहीं, ठीक नहीं होगा। शायद लोगों का यह विचार कि अन्य प्राणियों में कोई भाषा है ही नहीं, इसलिए हो कि उनकी बोली हमारी समझ में नहीं आती है। पर यह बात तो मनुष्य पर भी लागू है। क्या एक देश के निवासी दूसरे देश के मनुष्य की भाषा बिना सीखे समझ लेते हैं? न तो भारतीय चीनी या जापानी भाषाएँ समझ पाते हैं न जर्मन और फ्रांसीसी अंग्रेजों की तरह बोलते हैं।

### बातचीत करनेवाली मधुमक्खी और कुत्ते

जर्मनी के एक विद्वान् वी० वॉन फिश ने, जिन्होंने २७ वर्ष तक शहद की मक्खियों का स्वभाव एवं उनकी बोल-चाल समझने का प्रयत्न किया था, लिखा है कि उन लघु प्राणियों में भी एक प्रकार की विशिष्ट भाषा है, जो उनकी हरकतों या गंध द्वारा प्रकट की जाती है। कहते हैं, जब कोई मक्खी किसी फूल पर काफी शहद का भंडार देखती है, तो वह अपने छत्ते में आकर चक्कर काटकर नाचने लगती है। उस नाच को देखकर बाकी और मक्खियाँ यह समझ जाती हैं कि उसने कहीं काफी शहद देखा है। यह समझकर वे उसके पास आकर सूँघती हैं कि किस फूल की सुगन्ध उसके शरीर में से आ रही है। बस, उन्हीं फूलों पर जाकर वे तुरन्त शहद इकट्ठा करने लगती हैं। यदि शहद बहुत थोड़ा अथवा कठिनता से मिलनेवाला है, तो वह मक्खी छत्ते में आकर और मक्खियों को बुलाने के लिए नाचा नहीं करती। वह स्वयं बार-बार जाकर थोड़ा-थोड़ा शहद ले आती है। इन महाशय ने पर्याप्त परिश्रम करके मक्खियों के इस प्रकार एक दूसरे से बात करने की भाषा को पहचान लिया है और उनके नृत्य की एक फिल्म तक उन्होंने बना डाली है। उनका कथन है कि वह मछलियों की बोली से भी परिचित हैं और उनसे बातचीत भी कर सकते हैं। उनका तो दावा है कि जिस प्रकार हम सीटी बजाकर कुत्ते को अपने पास आना सिखा सकते हैं, उसी तरह मछलियों को भी सिखा सकते हैं।

मुझे एक बार महाराजा जयपुर के पुराने महल के पीछे की झील को देखने का अवसर मिला था। उस झील में कई मगर थे। वहाँ का चौकीदार हाथ से ताली बजाकर "आ, आ; हा, हा" की आवाज लगाकर जब चाहे तब उन मगरों को अपने पास किनारे पर बुला लेता था। चाहे कितनी ही दूर वे क्यों न हों, उसकी आवाज सुनते ही वे दैत्याकार प्राणी तैरते हुए उसकी ओर किनारे पर आ पहुँचते थे। जर्मनी के वैमार नामक नगर में कुछ ऐसे प्रसिद्ध सिखाए हुए कुत्ते थे, जिनको संख्याओं के द्वारा बातचीत करना सिखाया गया था। डा० मैक्समूलर ने स्वयं जाकर इन कुत्तों को देखा था और उनका बड़ा ही मनोरंजक विवरण समाचारपत्रों में प्रकाशित किया था। उन्होंने लिखा है कि ये कुत्ते भौंककर और पंजों से थपथपाकर अक्षरों का बोध हमें करा सकते हैं। जैसे 'ए' के लिए एक बार भौंकना, 'बी' के लिए दो बार, 'सी' के लिए तीन बार, और इसी तरह से आगे के अक्षरों के लिए भी वे उतने ही बार भौंकते और थपथपाते थे, जितना उस अक्षर के लिए निश्चित होता था। इन महाशय ने कुत्तों से लिख-कर और जबानी भी कई प्रश्न किए, जिनका उत्तर कुत्तों ने बहुत सोच-समझकर और बुद्धिमानी से दिया। मैक्समूलर लिखते हैं कि उनको इतनी आशा नहीं थी कि वैमार के कुत्ते साकार और निराकार विचारों को संख्याओं द्वारा बातचीत में इतनी अच्छी तरह प्रकट कर सकते हैं और मनुष्य की बातों को समझ सकते हैं। इन कुत्तों ने हमें दिखला दिया है कि हमारे विचार इन मूक पशुओं के विषय में कितने गलत हैं। इससे यह भी पता लगता है कि जितना हम जानवरों को समझ पाते हैं, वस्तुतः उससे कहीं अधिक जानवर हमको समझ पाते हैं। हाल ही के पशु-संबंधी इन अध्ययनों से हम यह दावा नहीं कर सकते कि जानवरों में सोचने और अपने विचारों को प्रकट करने की योग्यता है ही नहीं। वस्तुतः लोग जानवरों को जो इस शक्ति में हीन बतलाते हैं, इसका कारण केवल उनका अपना घमण्ड या हठधर्मी ही समझिए।

### मनुष्य और समाज

अपनी वाणी के ही द्वारा मनुष्य दूसरे की विद्या और अनुभव से लाभ उठाता है और इस प्रकार अपनी बुद्धि की वृद्धि करता है। वाक् और स्मृति ही ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनके कारण हम दूसरों की अनुभूतियों और अनुमानों को अपने में एकत्र कर सकते हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक उन्हें पहुँचाते हैं। इससे हमारी अपने आप देखने-भालने और निर्णय करने की योग्यता की तो कुछ क्षति अवश्य हुई, परन्तु मानव-समुदायों में परम्परागत विचार और रूढ़ियाँ निर्धारित हो गईं। वस्तुतः आदमी को उस दिन अपने विकास के क्रम में एक बहुत बड़ी सहायता मिली, जब उसने लिखना सीख लिया। लेखों के द्वारा आदमी

ने दूसरों के अनुभवों से जिस प्रकार लाभ उठाया, वह बन्दरों के लिए बिल्कुल असम्भव है। इन्हीं शक्तियों के कारण हम अपने मस्तिष्क के ऊपर अनुचित गर्व भी करने लगे। कदाचित् हम कभी इतने होशियार न होते, यदि हमसे कभी कोई बोला ही न होता अथवा हमने कभी कोई किताब न पढ़ी होती। यदि हमको सिखाया न गया होता, तो शायद ५-६ तक की गिनती भी हमें न आती। लेकिन मौखिक शिक्षा और पुस्तकों से पढ़कर हम बीजगणित और रेखागणित ऐसे कठिन विषय भी सीख लेते है।

इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि मनुष्य खाने-पीने, चलने-फिरने, लिखने-पढ़ने के लिए अन्य पशुओं की अपेक्षा दूसरों पर अधिक निर्भर है। यूनान के प्रसिद्ध प्रकृतिवादी और दर्शनशास्त्रवेत्ता अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि "मनुष्य एक सामाजिक जीव है। वह न कभी अपने लिए जीता, न कभी अपने लिए मरता है।" हम ऐसे बने है कि हमारे लिए दूसरो के प्रभाव से अलग रहकर जीना बिल्कुल असंभव है। सच तो यही है कि हम समाज के नियमों से ऐसे जकड़े हुए है कि दुनिया को बजाय अपनी आंखो के समाज की आंखो से ही देखने लगे है। कदाचित् इसी का यह फल है कि जब हम दुनिया में जन्म लेते है तो बिल्कुल बेबस होते है। उस दशा में हम अपनी देखभाल सारे जन्तुओ या वनस्पतियों से कम कर सकते है। हम अन्य प्राणियों से अधिक समय तक बेबस रहते है। मानव शिशु यह जानने के लिए कि क्या करें और कैसे करें, अन्य जीवधारियों की अपेक्षा दूसरों पर अधिक निर्भर है। अगर कोई स्वस्थ और समझदार मनुष्य अन्य आदमियो की सगत से काफी समय तक पृथक् रक्खा जाय तो उसकी विचारशक्ति में अवश्य ही हीनता आ जायगी। बच्चों में यह बात बहुधा देखी गई है। कभी-कभी अवसर पाकर भेड़िए जैसे जानवर हमारे छोटे बच्चो को उठा ले जाते है और वे उनका अपने बच्चों की भाँति पालन-पोषण करते पाए गए है। जब ये बच्चे अपने जगली आश्रयदाताओ से छीन लिये जाकर वापस मनुष्य-जगत् में लाए गए तो देखा गया कि वे

**भेड़ियों द्वारा पोषित मानव शिशु**

ये दो लड़कियाँ कई वर्ष हुए तब मिदनापुर के समीप के जगलों में से भेड़ियों के भिटे से पकड़कर लायी गई थीं। इनके सारे आचरण भेड़ियों जैसे हो गए थे। इसी तरह चारों हाथ-पैरों पर वे चलती थीं जैसे कि नीचे के चित्र में दिग्दर्शित है। भेड़ियों की तरह ही वे गुर्राती थीं और कच्चा मांस खाती थीं। अस्पताल में लाने पर इनका नाम 'कमला' और 'अमला' रखा गया था। 'कमला' और 'अमला' की भांति भेड़ियों द्वारा पाले गए मानव शिशुओं में हाल के वर्षों में पाए गए लखनऊ के सरकारी अस्पताल में विद्यमान 'रामू' एवं आगरे के 'परशुराम' नामक बालकों के नाम भी उल्लेखनीय हैं, जिनकी चर्चा समाचारपत्रों में हो चुकी है।

मानव-प्रकृति से बिल्कुल वंचित थे। वे अपने चारों हाथ-पैरों से चलते-फिरते थे और मनुष्यों की-सी बोली बोलने की अपेक्षा उन्हीं पशुओं की भाँति, जिनके बीच वे रह चुके थे, चीखते, चिल्लाते और इधर-उधर कूदते-फिरते थे। ऐसे शिशुओं में से किसी-किसी को तो आदमी की चाल और बोली सीखने मे वर्षों लग गए, और फिर भी वे सदा मूर्ख के मूर्ख ही बने रहे। हमारे देश मे कई बार ऐसे बच्चे जंगलो से पकड़े गए है और उनके विवरण प्रकाशित हुए है। लेखक को स्वय ही सन् १९१२ या १९१३ मे एक ऐसे बच्चे को, जो लगभग ९ वर्ष का था और भेड़िए की माँद से पकड़कर लाया गया था, बनारस के अस्पताल मे देखने का अवसर मिला था। यह बच्चा अपने चारो हाथ-पैरो से चलता-फिरता था और झुके रहने के कारण उसकी खोपड़ो भी कुछ लम्बी-सी हो गई थी। वह आदमियों को देखकर भेड़ियो की तरह गुर्राता और भोंकता था तथा छोटे बच्चों पर आक्रमण करने की भी वह चेष्टा करता था। वह उस समय न तो मनुष्यो की बोली बोल सकता था, न उसे समझ ही सकता था। सन् १९३७ में अन्य ऐसी दो लड़कियो का पूरा वर्णन समाचार-पत्रो मे छपा था, जिन्हे एक पादरी मिदनापुर के जंगल से भेड़ियो के भिटे से पकडकर लाए थे। जिस समय ये बच्चे पकड़े गए थे, वे भी बिल्कुल भेडियो ही की तरह चलते-फिरते तथा खाते-पीते थे। उनकी भाषा भी केवल गुर्राना और भोंकना ही थी। रात मे नित्य वे तीन बार एक विशेष प्रकार से निश्चित समय पर भोंका करते थे। उनका यह स्वभाव बहुत दिनो मे धीरे-धीरे छूटा। पूरे दो वर्ष तक मनुष्यों के साथ रहने और सिखाए जाने पर भी वे केवल "माँ" "हू, हू" और "न, न" के सिवाय और कुछ नही बोल सकते थे। चार वर्ष बीतने पर उन्होंने कुछ बोलना सीखा था, यद्यपि उनकी आयु तब तक ८-१० वर्ष की हो गई थी। इसी तरह अभी हाल ही की बात है कि लखनऊ के समीप एक लडका पाया गया था, जिसके बारे में यह अनुमान किया गया था कि वह भेड़ियो द्वारा पाला-पोसा गया था। यह लड़का जिसका नाम 'रामू' रख दिया गया है, अब भी स्थानीय अस्पताल में है और समाचारपत्रो में उसकी काफी चर्चा हुई है।

**भालू द्वारा पालित-पोषित मानव बालक**

यह अमेरिका के जगलों में से मिला था। कहते है, इसे बचपन में भालू उठा ले गए थे और उन्ही के द्वारा वह पाला-पोसा गया था। इसके सभी व्यवहार भालू जैसे हो गए थे।

### नेकी और मनुष्य

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट रूप से विदित होता है कि जानवरों और आदमियों के बीच मानसिक और नैतिक स्तरो मे एक महान् खाई है। ऐसा अन्तर स्वयं मनुष्यों मे भी परस्पर पाया जाता है, जैसे कि सन्त और पापी मे, विद्वान् और मूर्ख मे। परमात्मा की सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ कृति मनुष्य ही है। ईश्वर ने अपने अश का जितना भाग मनुष्य को दिया है, कदाचित् उतना और किसी जीवधारी को नहीं मिल सका है। मनुष्य और पशुओ के बीच वस्तुतः एक कल्पित विभाजक रेखा है, जिसके ऊपरी छोर पर सच्चाई, साहस, ईमानदारी, परोपकार, विपत्ति में दूसरों की सहायता करना, आदि मानवोचित गुण है और नीचे लड़ना-झगड़ना, मारना-पीटना, नोचना-खसोटना इत्यादि पशुओ के-से कर्त्तव्य है। कभी-कभी मनुष्य भी जब मनुष्यत्व से गिर जाता है अथवा जब मनुष्यत्व के ऊपर पशुत्व हावी हो जाता है, तो वह भी पशुओं के-से ही कार्य करने लगता है। एक आदमी या राष्ट्र दूसरे आदमी या राष्ट्र के देश, धन और माल को जबरदस्ती

छीनने को तैयार हो जाता है और इसके लिए घमासान युद्ध ठान लेता है तथा निरपराध स्त्री-पुरुष और बालकों पर अत्याचार करता है। उस समय मनुष्य अपनी सभ्यता को भूलकर लालच और घमंड के नशे में अपनी बुद्धि खो देता है और निर्दयी तथा जंगली हो जाता है। जहाँ मनुष्य द्वारा पृथ्वी पर ऐसा अत्याचार हुआ है, वहाँ कुछ व्यक्ति ऐसे भी

निकले है, जो सत्य और न्याय पर सदैव अड़े रहे हैं और इन गुणों के बल पर जिन्होंने विरोधियों पर विजय पाई है। यदि ऐसा न हुआ होता तो आज हम इस संसार को एक निरा उजड़ा हुआ रेगिस्तान ही पाते।

## सत्य और ईमानदारी

अब हम "सत्य और ईमानदारी", इन दो मानवोचित गुणों के विषय में तनिक सोचें कि इनके बिना हमारी क्या दशा होती। अगर हम एक दूसरे पर विश्वास न करते, तो न तो आज कहीं दूकानें होती, न बैंक, न डाकखाने और न बीमा की कम्पनियाँ ही। तब हम सबको अपना-अपना पेट भरने के लिए स्वयं ही अपना सारा प्रबंध करना पड़ता, इस भय से कि वह दूकानदार, जिससे हम खाना लाये है, झूठा या दगाबाज तो नहीं है; उसने कहीं हमारे खाने में विष तो नहीं मिला दिया है! अगर हम दूसरों को एकदम झूठा समझते तो अपने कठिनता से बचाये हुए धन को बैंक में न रख सकते, क्योंकि हमारे जी में तब यह खटका लगा रहता कि कहीं उस धनको कोई हड़प न जाए। हम डाक्टर की बतलाई हुई जहरीली से जहरीली दवा भी दूकान से खरीदकर आज पीते है, क्योंकि हमको विश्वास रहता है कि डाक्टर का नुस्खा हानिकारक न होगा और दूकानदार ने भी दवा ठीक से ही बनाई होगी। हम हवाई-जहाज, रेलगाड़ी, आदि में बैठकर यात्रा करते हैं, क्योंकि हमें भरोसा रहता है कि इनके चलानेवाले अपनी यथाशक्ति हमें हमारे इच्छित स्थान पर पहुँचा देंगे। अगर मनुष्य के लिए दूसरों पर विश्वास करना असम्भव हो जाय, तो उसका सारा जीवन और सामाजिक व्यवहार ही तहस-नहस हो जायँ। इसलिए सच्चाई और ईमानदारी ये दोनों गुण मनुष्य के लिए अति आवश्यक गुण है।

## मनुष्य की परोपकार-वृत्ति

मनुष्य का एक और गुण उसकी स्वाभाविक परोपकार-वृत्ति है, जो उसे सारे जीवों से ऊँचा बना देती है। ऐसा कौन-सा और जानवर है, जो अन्य को विपत्ति में देखकर प्राणों की पर्वाह न करते हुए उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़ेगा? यदि किसी मकान मे आग लग जाती है तो अपरिचित मनुष्य भी उसको बुझाने और मकान के प्राणियों को बचाने का यथाशक्ति प्रयत्न करते है, चाहे इससे स्वय उनके अपने प्राण भी संकट मे क्यों न आ जायँ। कोई आदमी यदि नदी में अचानक डूबने लगता है, तो दूसरा आदमी अपनी जान पर खेलकर उसे बचाने को पानी में कूद पड़ता है और उसे किनारे पर ले आता है। क्यों? इसीलिए कि वह मनुष्य है, पशु नहीं। कई मनुष्यो ने केवल परोपकार के लिए अपना सारा सुख-वैभव त्याग दिया, जैसा कि महात्मा बुद्ध ने! कई ने कष्ट ही नहीं सहा वरन् प्राणदान भी दे दिए, जैसा कि सुकरात, ईसामसीह और महात्मा गांधी ने!

**मानवीय नैतिक उत्कर्ष के महान् प्रतीक गांधीजी**
जिन्होंने सत्य की वेदी पर अपने प्राण न्यौछावर कर यह प्रमाणित कर दिया कि मनुष्य का आविर्भाव नेकी के लिए ही हुआ है।

वास्तव मे मनुष्य और अन्य प्राणियो के मानसिक और नैतिक स्तरों में एक महान् भेद है। जब

मनुष्य विकास की सीढी पर आगे वढा और सीधा खडा होकर चलने लगा, तव उसकी आँखो की दृष्टि वढी, हाथो मे निपुणता आई, उसकी वाणी का भी विकास हुआ एव मस्तिष्क मे स्मरण-शक्ति वढी। इसके पश्चात् उसने लेखन-कला का विकास किया। तरह-तरह के आविष्कार करना शुरु किया और इस प्रकार वह धीरे-धीरे वनमानुषो को नीचे छोड़ उन्नति की सीढी के सबसे ऊँचे डडे पर पहुँच गया, जहाँ हम उसे आज पाते है। अपने इतिहास के प्रारम्भ से ही मनुष्य का मन दृश्य और अदृश्य वस्तुओ के वारे मे सोचता और प्रश्न करता रहा है। वह जंगल मे कन्द, मूल और फलो से अपना पेट भरकर सतोप की नीद नही सोता रहा, वल्कि सागर के तट पर खड़ा होकर उसकी गिरती-उठती लहरो के वारे मे भी उसने ध्यान लगाया। वादलो की गरज सुनकर, आकाश में सूर्य और चन्द्र को निकलते देखकर उनके वारे मे भी वह सोचने लगा, जिससे कि उसके मस्तिष्क और ज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। इसके साथ ही उसमे भलाई और बुराई की पहचान करने की क्षमता भी आ गई, जो और किसी जीव मे नही पाई जाती। मनुष्य के उपर्युक्त गुणो मे क्रमश: ऐसी उन्नति हुई कि आज हम यह कहने लगे है कि मनुष्य को प्रकृति ने नेकी के लिए ही वनाया है। हम सव आज यह मानते है कि जव तक मनुष्य अपने को अधिक नेक वनाने की कोशिश करता है, तभी तक वह सच्चा मनुष्य है और जिस घडी उसके मन मे इस वात की पर्वाह नही रह जाती कि वह अच्छा है या वुरा, उसी घडी वह मनुष्य की पदवी से गिरकर पशुओ से जा मिलता है।

**मानव को पशुत्व से ऊँचा उठानेवाली एक महान् ज्योति भगवान् बुद्ध**

जिन्होने विश्व-कल्याण के हेतु सारा सांसारिक सुख-वैभव ठुकरा दिया था।

# हमारी उत्पत्ति कैसे, कब और कहाँ हुई ?

## मनुष्य-जाति के उद्भव और विकास की कहानी

**मनुष्य पृथ्वी पर कव, किस रूप मे और कहाँ सर्वप्रथम पैदा हुआ, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं, किन्तु यह वात अब सभी निश्चित रूप से मानते हैं कि मनुष्य आज जैसा है वैसा आरम्भ में न था। सृष्टि की सभी वस्तुओं की तरह मनुष्य का भी क्रमशः विकास हुआ है। आइए, इस लेख में देखें कि मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध ने अव तक क्या-क्या बातें मालूम हुई हैं।**

पिछले पृष्ठो मे हम आपको यह समझा चुके है कि मनुष्य भी अन्य जानवरो की तरह एक जानवर है, परन्तु उसमें वहुत-सी ऐसी विशेषताएँ हे जिनके कारण वह और जीवो से भिन्न किया जाता है। अव यहाँ हम आपको यह वताना चाहते है कि मनुष्य वनमानुषो या अपने अन्य निकट के सम्वन्धी जानवरो से कैसे, कव और कहाँ पृथक् हुआ !

यह तो आप जानते ही है कि किसी समय पृथ्वी एक आग का गोला थी। उसके चारो ओर आग की भयंकर ज्वालाएँ उठा करती थी। इन ज्वालाओ के वुझ जाने

के हजारों वर्ष बाद जब गर्म-गर्म भाप उड़कर समाप्त हो गई, उसके भी सहस्रों वर्ष पश्चात् पृथ्वी के धरातल पर पहले पहल सूक्ष्म जीव का आविर्भाव हुआ। क्रमशः जीव ने अनेक रूप धारण कर लिये और आरंभिक सूक्ष्म जीवों के स्थान में भीमकाय जंतु पृथ्वी पर विचरण करने लगे। इन जीवो के जन्म के लाखों वर्ष पीछे इस पृथ्वी पर प्रकृति ने एक ऐसे जीव की रचना की, जो और सब प्राणियों से विचित्र और भिन्न था। यह था मनुष्य। इस अनोखे और अद्भुत जीव के निर्माण मे उसे अनेक युग व्यतीत हो गए। यह प्राणी वास्तव मे था तो अन्य सभी प्राणियों से निराला, परन्तु बाहरी रूपरंग में यह कुछ जानवरो से इतना मिलता-जुलता था कि इसमे और उनमें भेद करने में धोखा होने की सम्भावना थी।

जैसा कि हम पहले लिख चुके है, इस जीव तथा अन्य जानवरो में जो भेद है, वह अदृश्य है। केवल देखने से ही उनको एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता, क्योकि जो चीज उनमें भेद करती है, वह इसके शरीर के अन्दर है। यह वस्तु है इसका मस्तिष्क, जो संसार की सबसे आश्चर्यजनक वस्तुओं में एक है। यह आदि मनुष्य, पृथ्वी के प्राचीन जगलों में विचरते हुए इधर-उधर की चीजों को अपनी आँखो से देखता था? ऐसी आँखें बन्दर और हाथी, चिड़िया और शेर, भालू और सर्प को भी प्राप्त थीं। किन्तु उसकी आँखों के पीछे उसका अद्भुत मस्तिष्क जो था! अतः यह उन चीजो पर विचार भी करता था, जिन पर कि उसकी दृष्टि पड़ती थी। इस तरह जहाँ अन्य सारे जीव अपने आसपास की दुनिया को केवल देखते ही थे, वहाँ केवल यही अकेला एक प्राणी था, जो सोचता-विचारता था। इसी विचित्र जंतु की संक्षिप्त कहानी हम अब आपको सुनायेंगे। वास्तव में इस विषय के समान मनोरंजक विषय दूसरे बहुत ही कम हैं।

१६ वी शताब्दी के मध्य में जब चार्ल्स डार्विन ने अपने लेखों द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य और वनमानुप वानर कक्षा के ही जीव हैं और उसका भी विकास प्रकृति की गोद में उसी प्रकार हुआ है, जैसा कि अन्य जानवरों का, तो लोगो के विचारो को बड़ा धक्का लगा। डार्विन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "मनुष्य का जन्म" में यह लिखा है कि "मै उस छोटे-से बहादुर बन्दर की, जिसने कि अपने संरक्षक के प्राणों की रक्षा करने के लिए भयंकर शत्रु का मुकाबला किया था, अथवा अफ्रीका के उस बड़े बन्दर बैबून की, जो अपने एक छोटे साथी को कुत्तो से घिरा देखकर फौरन् पहाड़ से नीचे दौड़ पड़ा था और अपने साथी को कुत्तो के बीच से ले भागा था, सन्तान कहा जाना उतना ही पसन्द करूँगा, जितना कि उस असभ्य मनुष्य की सन्तान कहलाना, जो अपने शत्रुओं को सताने और दुःख देने में प्रसन्न होता है।" परन्तु इससे डार्विन का यह आशय न था कि मनुष्य-जाति सीधे-सीधे उन जानवरों की ही सन्तान है; यद्यपि बहुत से लोगों ने भ्रमवश ऐसा कहना और लिखना शुरु कर दिया था और अब भी कुछ लोग मनुष्य के विकास के सिद्धान्त से यही अर्थ निकालते है कि मनुष्य बानरों से ही मनुष्य बन गया है। जो ऐसा सोचते है, वे भूल करते है। कुछ वैज्ञानिको ने कभी-कभी ऐसी ही बातें कही और लिखी हैं, जिसे साधारण लोगो को भ्रम हुआ है। सन् १६२७ में ब्रिटिश एसोसियेशन के सभापति ने अपने भाषण में कहा था, "मनुष्य का प्रारम्भ क्या है? क्या डार्विन ने ठीक कहा था कि उन्ही विकासवादी शक्तियो के द्वारा, जो अन्य जानवरो मे पाई जाती है, मनुष्य वनमानुष के बीच के किसी स्थान से उठकर अपनी वर्त्तमान स्थिति को पहुँचा है?" उक्त महाशय ने अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं ही दे लिया था, "हाँ।" किन्तु जैसा कि वुड जोन्स ने इसके दो वर्ष पश्चात् "स्तनपोषितो में मनुष्य का स्थान" नामक अपनी पुस्तक मे लिखा है, यह सम्मति देना उचित न होगा कि मनुष्य की उत्पत्ति के विषय मे आज का कोई भी वैज्ञानिक यह विचार करता हो कि वह किसी भी विद्यमान वनमानुष या उससे मिलते-जुलते विलुप्त पशुओ से पैदा हुआ है। पिछले वर्षो में बहुत-से लेखको ने इस बात पर जोर दिया है कि यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वनमानुष या वानर और मनुष्य जाति के वर्त्तमान समूह ज्यादा से ज्यादा एक दूसरे के साथ दूर के भाई-बन्धुओं का रिश्ता रखते है, या यों कहिए कि वे सब किसी जमाने मे एक ही पुरखे से पैदा हुए है। सिद्धान्त तो यह है कि मनुष्य और वनमानुषो की शाखाएँ एक ही धड़ से फूटी है—वानरो ने एक राह ली और मनुष्य ने दूसरी, किन्तु दोनों के जहाज एक ही बन्दरगाह से चले हैं, दोनों एक ही कारखाने में बने हुए हैं।

आज हम सब जानते हैं कि पृथ्वी अपनी जगह पर घूमती हुई सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, यद्यपि प्रतिदिन की बोलचाल में, प्रचलित परंपरा के अनुसार हम अब भी यही कहते है कि सूर्य एक ओर से निकलकर और चल-फिरकर स्थिर पृथ्वी के दूसरी ओर डूब जाता है! इसी परपरा के अनुसार हम कहते हैं कि सूर्य

में निकलता है और पश्चिम में डूब जाता है। जिस प्रकार यह हमारे ढीले-ढाले विचारों का एक नमूना है, उसी प्रकार उन प्रचलित वृत्तान्तों और मतों को भी समझना चाहिए, जो यह बताते हैं कि मनुष्य विद्यमान वानरों के किसी मिलते-जुलते आकार से निकला है। मनुष्य और वनमानुषों में जो समता या भिन्नता है, वह हम आपको बता ही चुके हैं। अब यहाँ हम थोड़ा-सा हाल प्रधान-भागियों के विभिन्न वर्गों के बारे में भी बता देना आवश्यक समझते हैं, जिससे कि आगे इस विषय को समझने में सहायता मिले।

## नई दुनिया के वन्दर

दुनिया में पाये जानेवाले वानरों के जो मुख्य समूह हैं, उन्हें जंतु-विज्ञानवेत्ता क्रमशः नई और पुरानी दुनिया के वानरों के दो बृहत् वर्गों में विभाजित करते हैं। नई दुनिया के वन्दर पुरानी दुनिया के वन्दरों से छोटे होते हैं और वे सब करीब-करीब पेड़ों पर रहते हैं। वे अधिकतर डरपोक और सीधे-सादे स्वभाव के होते हैं—पुरानी दुनिया के वन्दरों की तरह नटखट और आक्रमणकारी वे नहीं होते। पुरानी दुनिया के वन्दरों के मुकाबले में उनके मस्तिष्क में मुख्य इन्द्रियों के स्थान अधिकतर समान रूप से बढ़े हुए होते हैं। यदि कोई परिचित मनुष्य नई और पुरानी दुनिया के वन्दरों के किसी मिले-जुले झुण्ड में बिल्कुल दूसरे ढंग के या अपरिचित कपड़े पहनकर अचानक आ जाय, तो पुरानी दुनिया के वन्दर तो आवाज सुनकर भी उसे न पहचान सकेंगे, परन्तु नई दुनिया के वंदरों को उसे पहचानने में भेष बदलने से कोई बाधा नहीं पड़ेगी। नई दुनिया के वन्दर अपने परिचित मनुष्य को उसकी आवाज या उसके पैरों की आहट सुनकर ही पहचान लेते हैं। पुरानी दुनिया के वन्दर किसी को देखकर पहचानने में तेज होते हैं, लेकिन वे नई दुनिया के वन्दरों की तरह आवाज से किसी को नहीं पहचान सकते। इससे प्रकट है कि इन वानर-वर्गों के मानसिक स्तरों में परस्पर बहुत भेद है। नई दुनिया के वन्दर 'सैविडी' वंश में रक्खे जाते हैं। इनके नथुने एक दूसरे से बहुत दूरी पर होते हैं, इसलिए इन्हें चपटी नाकवाले कहा जाता है? 'मकड़ी बन्दर' में आगे की टाँगें पिछली टाँगों से लम्बी होती हैं, किंतु 'ऊनी वन्दर' में चारों टाँगें करीब-करीब एक ही लम्बाई की होती हैं। शेष सब जातियों में पिछली टाँगें लम्बी होती हैं। दुम केवल 'ककाजो' नामक वंदर में ही छोटी होती है, बाकी सबमें बड़ी एवं लम्बी होती है और बहुतों में उससे हाथ की तरह पकड़ने का काम लिया जाता है।

(१) (२) (३)

**मनुष्य और वनमानुषों के मूलवंश-सम्बन्धी तीन मत**

(१) **प्रथम मत**—मनुष्य, गोरिल्ला और शिम्पैंजी, एक ही मूलवंश की तीन समान उपशाखाएं हैं। ओरंग और गिब्बन इनसे बहुत पहले ही पृथक् हो चुके थे। (२) **द्वितीय मत**—एक ही मूलवंश से तीन शाखाएं निकलीं—पहली मनुष्य की, दूसरी ओरंग की और तीसरी गोरिल्ला और शिम्पैंजी की, जो दो भागों में बँट गई; गिब्बन पहले ही अलग हो गया था। (३) **तृतीय मत**—एक ही मूलवंश से तीन शाखाएं फूटीं—एक से मनुष्य, दूसरी से गिब्बन और तीसरी से क्रमशः तीन उपशाखाओं के रूप में ओरंग, शिम्पैंजी और गोरिल्ला निकले।

## पुरानी दुनिया के वन्दर

पुरानी दुनिया के वन्दर दो समूहों में बाँटे जाते हैं—पहला समूह कपिसदृश वानरों का है, जिसमें वे वन्दर और वानर आदि सम्मिलित हैं, जो चारों टाँगों से चलते-फिरते

# प्रधानभागीय अर्थात् 'प्राइमेट्स' वर्ग का वंशवृक्ष और उसमें मनुष्य का स्थान

( चित्र पृष्ठ उलटकर देखिए )

आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जीवधारियों के प्रधानभागीय या 'प्राइमेट्स' वर्ग का सदस्य है और इस वर्ग की विभिन्न शाखाओं में उसका स्थान वनमानुषों के बाद आता है। इस संपूर्ण वर्ग में मनुष्य का स्थान सबसे अधिक उन्नत अवस्था पर है। चित्र में एक मूल वृक्ष दिखाया गया है तथा उसमें से निकली हुई निम्न विभिन्न शाखाओं या वर्गों के प्रतिनिधि दिखाए गए हैं:—

**ट**—**टारसीआइड्स वर्ग**—इसका मुख्य प्रतिनिधि 'टारसियस' नामक जंतु है ( चित्र में नं० १ )।

**ल**—**लीमूराइड्स**—इसके निम्न प्रतिनिधि हैं —(नं० २) अय-अय; (नं० ३) गंडेदार दुमवाला लीमूर; (नं० ४) सफेद लीमूर; (नं० ५) मंगूज लीमूर; (नं० ६) सिफाका; (नं० ७) इन्द्रिस; (नं० ८) गैलागो; (नं० ९) बुश-बेबी; (नं० १०) लॉरिस; (नं० ११) पॉटो। [ इन सबको अर्द्ध-वानरों की संज्ञा प्रदान की जाती है। ]

**पु**—**पुरानी दुनिया के वानर**—इस वर्ग के मुख्य प्रतिनिधि ये हैं:—
(नं० १२) गुटनान; (नं० १३) लाल पेटवाला बंदर, (नं० १४) मंगेबी, (नं० १५) मेकेक; (नं० १६) काला एप; (नं० १७) गेलादा बबून; (नं० १८) सेक्रेड बबून; (नं० १९) गुरेजा; (नं० २०) लगूर; (नं० २१) चपटी नाक का बंदर; (नं० २२) लंबी नाकवाला बंदर।

**न**—**नई दुनिया के वानर**—इस वर्ग की निम्न मुख्य जातियाँ हैं:—
(नं० २३) मारमोसेट; (नं० २४) टीटी बंदर; (नं० २५) इसी जाति का एक और बन्दर; (नं० २६) काला हाउलर; (नं० २७) ऊनी बालवाला बंदर; (नं० २८) मकड़ी बंदर; (नं० २९) साकी; (नं० ३०) यूकारी; (नं० ३१) सेपेजू; (नं० ३२) गिलहरी बंदर।

**व**—**वनमानुष वर्ग**—इस वर्ग के नीचे लिखे मुख्य प्रतिनिधि हैं:—
(नं० ३३) शिम्पेंजी; (नं० ३४) गोरिल्ला; (नं० ३५) ओरंग उटाङ्ग; (नं० ३६) हूलक गिब्बन; (नं० ३७) साधारण गिब्बन।

**म**—**मानव वर्ग**—इस वर्ग में आदिम मानवों से आज की जातियों तक की विकास-श्रेणी बताई गई है:—
(नं० ३८) जावा में मिली खोपड़ीवाला आदि मानव 'पिथेकैन्थ्रापस'; (नं० ३९) ऑस्ट्रेलोपिथैकस नामक आदि मानव; (नं० ४०) पेकिंग में मिली खोपड़ीवाला आदि मानव 'साइनैन्थ्रापस'; (नं० ४१) 'हाइडलबर्ग मानव'; (नं० ४२) 'निएण्डरथैल मानव'; (नं० ४३) 'क्रोमैगनान मानव'; (नं० ४४) ऑस्ट्रेलियन जाति का मनुष्य; (नं० ४५) कृष्ण वर्ण अफ्रीकन जाति का मनुष्य; (नं० ४६) रक्त वर्ण का मनुष्य; (नं० ४७) पीत वर्ण का मंगोलाइड जाति का मनुष्य; (नं० ४८) गौर वर्ण का काकेशियन जाति का मनुष्य।

[ यह चित्र 'अमेरिकन म्यूजियम ऑफ नेचरल हिस्ट्री, न्यूयार्क', के एक भित्ति-चित्र के आधार पर तैयार कराया गया है। इसके निर्माण में लखनऊ-विश्वविद्यालय के जंतु-विज्ञान-विभाग के भूतपूर्व आचार्य डा० एम० एल० भाटिया और डा० दास से हमें अनमोल सहायता मिली है, अतएव हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। ]

४८
४७
४६
४५
३४
३५
३६
३३
४४
४२
४३
४०
४१
३७
ब
३९
म
३८
३२
३०
३१
२९
२८
२४
न
२५
२७
२६
२३

१९
२०
२१
२२
१६
१५
१७
१८
पु
१२
१३
१४
ट
१०
११
ल
६
७
८
३
४
५
२

है और जिनकी अगली टाँगें पिछली टाँगोंसे छोटी होती है। दूसरा समूह उन मानवसदृश कपियों का है, जिनमें मानवसम वन्दर और आवे खड़े होनेवाले वनमानुप सम्मिलित हैं, जिनकी अगली टाँगे पिछली टाँगो से लम्बी होती है। समस्त कपिसदृश वन्दरो मे नथुने पास-पास होते है और वे तंग नाकवाले होते हैं। उनके नाखून नई दुनिया के वन्दरो से ज्यादा चौड़े व कम टेढ़े होते हैं और सबके कूल्हों पर लोम-रहित वैठने की गद्दियाँ होती है। लंगूरों को छोडकर इस वर्ग के सभी सदस्यो के गालो में थैलियाँ होती हैं। इनमें से कुछ के (जैसे जिव्राल्टर में रहनेवाले वार्वरी वानर के) दुम नही होती। 'काले एप' में वहुत छोटी और 'मकाकस' नामक कपि में सुअर-जैसी दुम होती है। वहुतो मे दुम लम्वी होती है, पर उनमे पकडने की शक्ति नही होती, जैसी कि पेड पर रहनेवाले नई दुनिया के वन्दरों मे होती है। इनमें मे कुछ हलके शरीरवाले और पेड़ो पर ही रहनेवाले है, जैसे कि अफ्रीका के 'गुइनान', और कुछ भारी डीलडौलवाले एवं धरती पर रहनेवाले है, जैसे पश्चिमी अफ्रीका के 'ड्रिल' और 'मैंड्रिल' नामक वन्दर।

नई और पुरानी दुनिया के वन्दरो की पृथक् वनावट और रहन-सहन से यह साफ-साफ विदित होता है कि उनमे से कोई भी एक दूसरे से उत्पन्न नही हुए है। ये दोनो तृतीय युग से पहले के काल की किसी वानर या अर्द्ध-वानर शाखा से भी नीची श्रेणी से निकलकर एक दूसरे से अलग अपने-अपने मार्ग के अनुगामी वने रहे। यह वात जरूर है कि दोनों की आवश्यकताएँ वहुत-कुछ एक-सी ही रही। उनके जीवन-निर्वाह के ढंग भी प्रायः मिलते-जुलते थे और इसलिए उनमें एक ही तरह की वनावट का विकास हुआ। कहा जाता है कि इओसीन या तृतीय युग के प्रारंभिक काल या उससे भी पहले क्रिटेशियस काल में छ करोड़ वर्ष हुए उत्तरी अमेरिका म प्रधानभागीय पुरखे की शाखा से 'लीमूर' और 'टारसियस' नामक अर्द्ध-वानर निकले और तृतीय युग के शुरू में इन टारसियसों मे से किसी एक से असली वंदरों की शाखा फूटी। इनमें से कुछ दक्षिणी अमेरिका में जा पहुँचे और वहाँ धीरे-धीरे चपटी नाकवाले बन्दर वन गए। दूसरों ने अर्द्ध-वान[illegible]सों के कुछ पुरखो के साथ-साथ यात्रा कर[illegible] में ये प्राचीन वन्दर अदल-वदल[illegible]वाले वन्दर हो गए। उन्हों[illegible] समय की चट्टानों में [illegible]डे [illegible] और योरप की [illegible]

के चौथे काल अथवा प्लायोसीन युग तक पहुँचते-पहुँचते लंगूर ऐसे जीव--मध्य-कपि तथा लंवित कपि--वन चुके थे और योरप एवं एशिया मे लंगूर, मकाकस और वबून भी पाये जाने लगे थे। इसके आगे के युगों में इन्हीं रूपों और अन्य समूहो के द्वारा इनका प्रचार सारे एशिया में हो गया। इन्ही के साथ-साथ उनसे ऊँची श्रेणी के मानवसम वानरों के पूर्वज भी कदाचित् जन्म ले चुके होगे। कहा जाता है कि इनका विकास भारतवर्ष की शिवालिक घाटी में हुआ और यहाँ से ये पूर्वी गोलार्द्ध के अन्य भागों मे फैले। इनमे से चार अर्थात् गिव्वन, ओरंग, शिम्पैंजी और गोरिल्ला अभी तक मौजूद हैं।

### वानर-वंश से मनुष्य की विकास-धारा अलग है

अव प्रश्न यह उठता है कि क्या इन मानवसम वानरो की शाखा पूर्वी गोलार्द्ध में फैले हुए कपिसदृश वानरों से ही फूटी और मनुष्य के तत्कालीन पूर्वज भी क्या इनमें से ही वने? स्थानाभाव के कारण हम इस संवंध में यहाँ विस्तार से नही लिख सकते, फिर भी जो वातें अभी तक मालूम हुई है, उनसे यह परिणाम निकाला जाता है कि पूर्वी गोलार्द्ध के वन्दरों के सारे कुटुम्ब में कोई भी ऐसा नहीं है, जो मानव-जाति का पुरखा कहा जा सके। इसमें सन्देह नही कि वड़े डीलवाले वानर ही वनावट में अन्य जीवो की अपेक्षा मनुष्य से अधिक मिलते-जुलते है। इस विषय के सभी अधिकारी विद्वान् इस वात में एक मत रखते हैं कि शिम्पैंजी और गोरिल्ला वर्ग अन्य जानवरों की अपेक्षा मानव-जाति से अधिक मिलता-जुलता है। तव भी हमको यह भूल न जाना चाहिए कि मानव-जाति और कपिसदृश तथा मानवसदृश वानरों मे पर्याप्त भेद है और उन दोनों के विकास की धारा, मानव-विकास की धारा से विल्कुल अलग वहती है। फिर वनमानुषों में कुछ ऐसे रूप भी हैं, जिनमें वन्दरों के प्रधान लाक्षणिक परिवर्तन नही पाये जाते। आर्थर कीथ ने हिसाव लगाया है कि पुरानी दुनिया के वन्दरों के लक्षणों की संख्या, जो वनमानुषों मे भी पाई जाती है, निम्न प्रकार से है--गोरिल्ला में १४४, शिम्पैंजी मे १७२, ओरंग मे २१३ और गिव्वन मे ३२३। इससे यह मानना ही पड़ता है कि वनमानुप एक प्रकार के परिवर्तित कपिसदृश वन्दर है। किन्तु चारों प्रकार के वनमानुषों और मनुष्य में अन्य वन्दरों के समान दुम नही पाई जाती। यह दुम क्यों और कैसे गायव हुई? क्या उनके गायव होने से ही वनमानुप और मानव अन्य वन्दरों से भिन्न हो गए? इस संवंध में डाक्टर ग्रैगरी की राय है कि वन्दर और

**सर आर्थर कीथ के अनुसार वानर, वनमानुष और मनुष्य-जाति का मूल वंश-वृक्ष**

यह मानचित्र मानव-विज्ञान के धुरंधर विद्वान् सर आर्थर कीथ द्वारा तैयार किए गए एक रेखा-चित्र के आधार पर बनाया गया है। इससे स्पष्ट है कि किस प्रकार सुदूर अतीत में एक ही प्रधानभागीय मूल तने से दो विशाल शाखाएं फूटीं, जिनमें से एक डाली की दो उपशाखाओं से नई और पुरानी दुनिया के बन्दर निकले, और दूसरी डाली से क्रमशः गिब्बन, ओरंग आदि वनमानुष और मनुष्य की उपशाखाएँ फूटीं। वनमानुष-उपशाखा से ड्रायोपिथेकस, सिवापिथेकस, ओरंग, टांग एप, गोरिल्ला, शिम्पैंजी आदि निकले और मानव शाखा से पिथैकैन्थ्रापस आदि प्राचीन और काकेशियन आदि अर्वाचीन मानव स्वरूप निकले। चित्र की पृष्ठभूमि में क्रमशः गहरे और हलके रंग से विभिन्न युगों का निर्देश किया गया है, जिससे उक्त शाखाओं के फूटने के समय का ज्ञान होता है। इस मूलवृक्ष के तने में सबसे नीचे 'टारसीआइड्स' वर्ग का निर्देश है, जो वानर-शाखाओं के फूटने के पहले के प्रधानभागीय रूप का स्मारक है।

है और जिनकी अगली टाँगें पिछली टाँगों से छोटी होती है। दूसरा समूह उन मानवसदृश कपियों का है, जिनमें मानवसम वन्दर और आवे खड़े होनेवाले वनमानुष सम्मिलित हैं, जिनकी अगली टाँगें पिछली टाँगों से लम्बी होती हैं। समस्त कपिसदृश वन्दरो मे नथुने पास-पास होते हैं और वे तंग नाकवाले होते है। उनके नाखून नई दुनिया के वन्दरो से ज्यादा चौडे व कम टेढे होते हैं और सवके कूल्हो पर लोम-रहित बैठने की गद्दियाँ होती है। लंगूरों को छोड़कर इस वर्ग के सभी सदस्यो के गालो मे थैलियाँ होती हैं। इनमें से कुछ के (जैसे जिब्राल्टर मे रहनेवाले वार्वरी वानर के) दुम नही होती। 'काले एप' में वहुत छोटी और 'मकाकस' नामक कपि मे सुअर-जैसी दुम होती है। वहुतो में दुम लम्बी होती है, पर उनमें पकडने की शक्ति नही होती, जैसी कि पेड़ पर रहनेवाले नई दुनिया के वन्दरो मे होती है। इनमे से कुछ हलके शरीरवाले और पेड़ो पर ही रहनेवाले है, जैसे कि अफ्रीका के 'गुइनान', और कुछ भारी डीलडौलवाले एवं धरती पर रहनेवाले है, जैसे पश्चिमी अफ्रीका के 'ड्रिल' और 'मैंड्रिल' नामक वन्दर।

नई और पुरानी दुनिया के वन्दरो की पृथक् वनावट और रहन-सहन से यह साफ-साफ विदित होता है कि उनमे से कोई भी एक दूसरे से उत्पन्न नही हुए है। ये दोनो तृतीय युग से पहले के काल की किसी वानर या अर्द्ध-वानर शाखा से भी नीची श्रेणी से निकलकर एक दूसरे से अलग अपने-अपने मार्ग के अनुगामी वने रहे। यह बात जरूर है कि दोनो की आवश्यकताएँ वहुत-कुछ एक-सी ही रहीं। उनके जीवन-निर्वाह के ढ ग भी प्राय. मिलते-जुलते थे और इसलिए उनमें एक ही तरह की वनावट का विकास हुआ। कहा जाता है कि इओसीन या तृतीय युग के प्रारंभिक काल या उससे भी पहले क्रिटेशियस काल में छ करोड़ वर्ष हुए उत्तरी अमेरिका म प्रधानभागीय पुरखे की शाखा से 'लीमूर' और 'टारसियस' नामक अर्द्ध-वानर निकले और तृतीय युग के शुरू में इन टारसियसो में से किसी एक से असली बंदरों की शाखा फूटी। इनमे से कुछ दक्षिणी अमेरिका मे जा पहुँचे और वहाँ धीरे-धीरे चपटी नाकवाले वन्दर वन गए। दूसरो ने अर्द्ध-वानर और टारसियसों के कुछ पुरखो के साथ-साथ यात्रा करना स्वीकार की। इस यात्रा में ये प्राचीन वन्दर अदल-वदलकर पुरानी दुनिया के तंग नाकवाले वन्दर हो गए। उन्होने अपनी इस यात्रा के चिह्न उस समय की चट्टानों में छोड़े है, जिनमें से कुछ मिस्र, भारत और योरप की वहुत प्राचीन चट्टानों के काटने से मिले हैं। तृतीय महायुग के चौथे काल अथवा प्लायोसीन युग तक पहुँचते-पहुँचते लंगूर ऐसे जीव—मध्य-कपि तथा लवित कपि—वन चुके थे और योरप एवं एशिया मे लंगूर, मकाकस और ववून भी पाये जाने लगे थे। इसके आगे के युगो में इन्हीं रूपो और अन्य समूहों के द्वारा इनका प्रचार सारे एशिया मे हो गया। इन्ही के साथ-साथ उनसे ऊँची श्रेणी के मानवसम वानरो के पूर्वज भी कदाचित् जन्म ले चुके होंगे। कहा जाता है कि इनका विकास भारतवर्ष की शिवालिक घाटी में हुआ और यहाँ से ये पूर्वी गोलार्द्ध के अन्य भागों मे फैले। इनमे से चार अर्थात् गिव्वन, ओरंग, शिम्पैंजी और गोरिल्ला अभी तक मौजूद है।

## वानर-वंश से मनुष्य की विकास-धारा अलग है

अव प्रश्न यह उठता है कि क्या इन मानवसम वानरों की शाखा पूर्वी गोलार्द्ध में फैले हुए कपिसदृश वानरो से ही फूटी और मनुष्य के तत्कालीन पूर्वज भी क्या इनमें से ही वने ? स्थानाभाव के कारण हम इस संवंध में यहाँ विस्तार से नही लिख सकते, फिर भी जो वाते अभी तक मालूम हुई है, उनसे यह परिणाम निकाला जाता है कि पूर्वी गोलार्द्ध के वन्दरो के सारे कुटुम्ब मे कोई भी ऐसा नही है, जो मानव-जाति का पुरखा कहा जा सके। इसमें सन्देह नही कि वडे डीलवाले वानर ही वनावट में अन्य जीवो की अपेक्षा मनुष्य से अधिक मिलते-जुलते है। इस विषय के सभी अधिकारी विद्वान् इस वात मे एक मत रखते हैं कि शिम्पैंजी और गोरिल्ला वर्ग अन्य जानवरों की अपेक्षा मानव-जाति से अधिक मिलता-जुलता है। तव भी हमको यह भूल न जाना चाहिए कि मानव-जाति और कपिसदृश तथा मानवसदृश वानरो में पर्याप्त भेद है और उन दोनो के विकास की धारा, मानव-विकास की धारा से विल्कुल अलग वहती है। फिर वनमानुषों मे कुछ ऐसे रूप भी हैं, जिनमें वन्दरों के प्रधान लाक्षणिक परिवर्तन नही पाये जाते। आर्थर कीथ ने हिसाव लगाया है कि पुरानी दुनिया के वन्दरो के लक्षणों की संख्या, जो वनमानुषो मे भी पाई जाती है, निम्न प्रकार से है—गोरिल्ला मे १४४, शिम्पैंजी मे १७२, ओरंग मे २१३ और गिव्वन मे ३२३। इससे यह मानना ही पड़ता है कि वनमानुष एक प्रकार के परिवर्तित कपिसदृश वन्दर है। किन्तु चारों प्रकार के वनमानुषो और मनुष्य मे अन्य वन्दरों के समान दुम नही पाई जाती। यह दुम क्यों और कैसे गायव हुई ? क्या उसके गायव होने से ही वनमानुष और मानव अन्य वन्दरों से भिन्न हो गए ? इस संवंध में डाक्टर ग्रैगरी की राय है कि वन्दर और

**सर आर्थर कीथ के अनुसार वानर, वनमानुष और मनुष्य-जाति का मूल वंश-वृक्ष**

यह मानचित्र मानव-विज्ञान के धुरंधर विद्वान् सर आर्थर कीथ द्वारा तैयार किए गए एक रेखा-चित्र के आधार पर बनाया गया है। इसमे स्पष्ट है कि किस प्रकार सुदूर अतीत में एक ही प्रधानभागीय मूल तने से दो विशाल शाखाएं फूटीं, जिनमें से एक डाली की दो उपशाखाओं से नई और पुरानी दुनिया के बन्दर निकले, और दूसरी डाली से क्रमशः गिब्बन, ओरंग आदि वनमानुष और मनुष्य की उपशाखाएं फूटीं। वनमानुष-उपशाखा से ड्रायोपिथेकस, सिवापिथेकस, ओरंग, टांग एप, गोरिल्ला, शिम्पेंजी आदि निकले और मानव शाखा से पिथैकैन्थापस आदि प्राचीन और काकेशियन आदि अर्वाचीन मानव स्वरूप निकले। चित्र की पृष्ठभूमि में क्रमशः गहरे और हलके रंग से विभिन्न युगों का निर्देश किया गया है, जिससे उक्त शाखाओं के फूटने के समय का ज्ञान होता है। इस मूलवृक्ष के तने में सबसे नीचे 'टारसीआइड्स' वर्ग का निर्देश है, जो वानर-शाखाओं के फूटने के पहले के प्रधानभागीय रूप का स्मारक है।

मनुष्य के पूर्व-पुरुषों में सीधे बैठने की आदत पड़ जाने से दुम धीरे-धीरे छोटी होती गई और गायब हो गई। लेकिन सर आर्थर कीथ का कहना है कि दुम के गायब होने का कारण इनका सीधा खड़ा होना है; क्योंकि कूल्हे के स्नायु दुम को चलाने तथा आँतों का भार सँभालने मे असमर्थ हो गए। उधर वुड जोन्स की राय है कि दुम का होना या न होना ऐसी बात है जिसका कि कोई ठीक कारण बतलाना आसान नही है। बहुत से समूहो में देखा जाता है कि दो निकट सम्बन्धी प्राणियों में, जो बहुत कुछ एक-सा ही जीवन व्यतीत करते हैं, किसी एक में लम्बी और काम आनेवाली दुम होती है और दूसरा विना दुम का भी होता है। यदि हम पेड़ों पर रहनेवाले विविध जीवों ही की ओर ध्यान दे तो पता लगता है कि उनमे दुमदार और वेदुमदार दोनों ही प्रकार के जीव पाए जाते हैं, चाहे वे खड़े रहनेवाले हों या बैठनेवाले। पेड़ों पर चढ़नेवाले मांसभोजी श्रेणी के जन्तुओ मे बहुत-सी लम्बी दुमवाली विल्लियाँ, वेदुमदार लिन्क और दुम से डालियो को पकडने वाले किंकाजू हैं। थैलीवाले जन्तुओं में भी दुमदार, वेदुमदार तथा पकड़ने के काम मे आनेवाली दुम से युक्त जन्तु पाये जाते है। अर्द्ध-वानरों में भी बहुत से लम्बी दुमवाले और बहुत से वेदुमदार प्राणी हैं। इसी प्रकार नई और पुरानी दुनिया के वन्दरों मे भी लम्बी दुमवाले, दुम से डालियो को पकड़नेवाले और वेदुमदार जीव मिलते हैं, परन्तु इनमें यह देखा जाता है कि जहाँ लम्बी दुमवाले कूदने-फाँदने मे तेज होते है, वहाँ जिनकी दुम में पकड़ने की शक्ति होती है, वे लटकने और झूलने मे चतुर होते है, तथा वेदुमदार वंदर हाथों से पकड़कर चढने मे निपुण होते है।

इससे विदित होता है कि सब में दुम न तो बैठने के कारण और न खड़े होने के कारण ही घिसी और न आँतों के वोझ सहने की वजह से ही। साथ-ही-साथ यह भी जान पड़ता है कि दुम के गायब हो जाने से इनके पेड़ों पर चढ़ने का ढंग भी बदल गया। अब वे हाथों से चढ़नेवाले वन्दर बन गए। अवश्य ही यही कारण है, जिससे कि ऐसे वानरों की अगली टाँगे पिछली टाँगो से लम्बी हो गई। यही मनुष्यसदृश और कपिसदृश वानरों में मुख्य अंतर है। मनुष्य की उत्पत्ति पर विचार करते समय हमें इस बात को भूल न जाना चाहिए।

अतएव यह कल्पना उचित प्रतीत होती है कि पुरानी दुनिया के कुछ वेदुमदार वन्दर अपने समूह के अन्य वानरों की भाँति यथेष्ट उन्नति नही कर सके और वे अपनी पहली अवस्था में ही बने रहे। दुम न होने के कारण ही उन्होने हाथ से काम लेना शुरू किया। हाथों से ही पकडकर वे वृक्षों पर चढ़ने लगे; इससे उनके हाथों में पकड़ने की शक्ति आती गई और कुछ समय बाद वे पेड़ों की डालियाँ पकड़कर लटकने और झूलने भी लगे। धीरे-धीरे उनमें अधिक समय तक सीधे रहने की योग्यता भी आने लगी, जिसके कारण उनके शरीर के अंगो में परिवर्तन होने लगा। इसी तरह उनमे से कोई-कोई अदल-बदलकर वनमानुष हो गए। इसी सीधे लटकने के ढंग ने वृक्षवासी वेदुमदार जीवो की हड्डियो, पेशियों और आँतो मे ऐसे परिवर्तन कर दिये, जिनकी वजह से वे दो टाँगो पर बिल्कुल सीधे खड़े होनेवाले आदमी के पूर्वजो का रूप ग्रहण करने लगे।

### वृक्षवासी आदिम पुरखे से मनुष्य का विकास

कीथ ने यह भली भाँति दिखलाया है कि इसी प्रकार के हेर-फेर और हाथो से चलने-फिरने, लटकने आदि का काम लेने के कारण (जैसा कि हम आजकल गिव्वनों मे लाक्षणिक रूप मे पाते है) वनमानुपो के शरीर में उन्हें सीधे रखनेवाले प्रवन्धों की नींव पड़ी होगी। एक ओर हलके और फुर्तीले गिव्वन बने, जो अपनी लम्बी भुजाओ के सहारे पेड़ों पर सीधे कूदते और झूलते रहते थे। तव आगे चलकर उनसे कुछ भारी बदनवाले औरंग बने, जो वृक्षो पर लटकते थे और कालान्तर मे उनसे भी भारी शरीरवाले गोरिल्ला बने, जो अपने अधिक वोझ के कारण पेड़ों पर बराबर चल-फिर नही सकते थे। इसलिए वे धरती पर बैठने लगे और लम्बी बाँहों से बैसाखी की तरह शरीर को साधते हुए झुकी दशा मे तथा कभी-कभी टाँगों पर सीधे खड़े होकर दो-चार कदम चलने लगे। सब वनमानुषो में गोरिल्ला ही सबसे ज्यादा धरती पर रहता है और कदाचित् इसीलिए उसमे ही सबसे अधिक फेरबदल भी पाया जाता है। इसके विपरीत औरंग में सबसे कम परिवर्तन पाये जाते है, क्योंकि यही सबसे ज्यादा पेड़ों पर रहता है। कहा जाता है कि मनुष्य के आदि पूर्वपुरुष भी वनमानुषों के साथ वृक्ष पर रहनेवाले जीव रहे होंगे तथा उन्ही की तरह हाथों से खाते-पीते और लटकते होंगे। टामसन का कथन है कि इसी प्रकार के रहन-सहन के कारण उनके हाथों को चलने-फिरने से छुटकारा मिल गया और फलतः उनके शरीर ने नया रूप धारण कर लिया। उनका थूथन छोटा होता गया, और इसी कारण उनकी खोपड़ी बड़ी हो गई। आँखें आगे को आ गई तथा उनमें दूर तक देखने की शक्ति आ गई। घ्राणपिण्ड (मस्तिष्क का वह भाग जो सूँघने से सम्बन्ध

रखता है ) छोटा होता गया और मस्तिष्क के वे भाग, जिनमें दृष्टि, श्रवण और स्पर्श की संवेदना पहुँचती हैं, बढ़ते चले गए। जब थूथन छोटा होने लगा, तो खाना खाने का काम भी हाथों से ही होने लगा, फलतः उनमें स्पर्श का बोध बढ़ता गया। इस तरह हाथों व पैरों का काम अलग-अलग बँट गया। प्रोफेसर लल का विचार है कि मायोसीन या प्लायोसीन काल के आरंभ मे जब पृथ्वी पर जंगल घटने लगे, तो इन मानवीय पूर्वजो को पेड़ छोड़कर पृथ्वी पर रहने को विवश होना पड़ा होगा। इस नई परिस्थिति में उन्हें बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए उन्हें जो उपाय करने पड़े होंगे, उनसे मनुष्य की उत्पत्ति में बहुत सहायता मिली। भयंकर जंगली जानवरो से अपनी रक्षा करने के लिए उन्हें अपने हाथों, लम्बे जबड़ो और मजबूत कुक्कुरदन्तों से युद्ध करना पड़ा होगा। इनके अतिरिक्त उनको उस समय की घनघोर वर्षा, कड़ी धूप आदि कठोर प्राकृतिक आपदाओ से बचने के लिए भी अपनी मति दौड़ानी पड़ती होगी। इसीलिए उनकी बुद्धि का भी विकास होता गया। थोड़े ही समय में उन्होंने अपनी रक्षा के लिए कंकड़-पत्थर, लकड़ी, डंडों आदि का प्रयोग करना सीख लिया। डार्विन लिखते हैं कि ये जीव ज्यों-ज्यों ज्यादा सीधे और दोपाये होते गए होंगे, त्यों-त्यों उन्हें डंडे और पत्थरों से अपनी रक्षा करने तथा भोजन के लिए दूसरे जानवरों पर आक्रमण करने और वृक्षों पर बिना चढे ही फल तोड़ने में अधिक सहायता मिली होगी। हाथों मे विशेषता आने के साथ-साथ बाँहों की लम्बाई और भार में कमी होना भी अब आवश्यक हो गया, क्योंकि तेज दौडने, जोर से डंडा मारने या पत्थर फेंकने के लिए ऊपरी शरीर का हलका होना और उसका पैरों पर सधना जरूरी हो गया। इसी आवश्यकता के अनुसार इस दोपाये शिकारी की सारी बनावट में कालान्तर में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया।

अब लड़ाई का काम पूर्ण रूप से भुजाओं ने अपने जिम्मे ले लिया और दौड़ने-भागने का काम पैरो के हिस्से में आ गया। खोपड़ी अब पहले से कम मोटी तथा चेहरा पहले से अधिक सुडौल होने लगा; क्योंकि जब लड़ने का काम दाँतों से हाथों पर आ गया, तो न उतने भारी जबड़े जरूरी रह गए और न उतनी मजबूत गर्दन ही। कार्वेथ रीड का कहना है कि इस प्रकार जहाँ सिर आक्रमणों से बचा रहने लगा और खोपड़ी की मोटाई कम हो गई, वहाँ उसके भीतर की खोखली जगह और दिमाग बढ़ता गया, जिससे चेहरे सुडौल, जबड़े छोटे, और मस्तक सीधा व ऊँचा हो गया। कालान्तर में इन आदिम नराकार प्राणियों ने वनमानुषों से अलग होकर मानव का रूप और ढग धारण कर लिया। पर इन साधारण परिवर्तनों के होने मे भी कई लाख वर्ष लग गए।

### वनमानुष मनुष्य का साथ क्यों न दे सके ?

प्रश्न उठता है कि जमीन पर रहनेवाले गोरिल्ला आदि वनमानुषो में भी ऐसे ही परिवर्तन भला क्यो नही हुए ? वे भी मनुष्यो के पुरखो की तरह सारी धरती पर क्यों नही फैल गए ? इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि मनुष्य के पूर्वज केवल शाकाहारी ही नही रहे, बल्कि वे शिकारी और मांसाहारी भी हो गए। इसलिए उन्हे केवल फलवाले जंगलो में ही रहने की आवश्यकता नहीं रह गई। वे स्थल-वासी पशुओ को मारकर खाते हुए कालांतर में जंगलों से ढके गर्म देशों को छोड़कर सम्पूर्ण पृथ्वी पर फैल गए; जब कि बेचारे वनमानुष आज तक फलाहारी ही बने हुए हैं और अफ्रीका के उष्ण कटिबन्धीय वन, मलाया प्रायद्वीप तथा सुमात्रा और बोर्नियो के घने जगलों में ही पाये जाते हैं, जहाँ उनके आहार के लिए खाने योग्य उपयुक्त शाक-पात साल भर मिलता रहता है। यहाँ के अतिरिक्त वे और कहीं नही पाए जाते। उनमें से शिम्पैंजी और गोरिल्ला यद्यपि भूमि पर उतर आते हैं, फिर भी रहने के लिए झोपड़ी वे पेड़ो पर ही बनाते हैं। इस प्रकार वे मानवीय पुरखों की भांति वनों से अभी तक छुटकारा नहीं पा सके। कहा जा सकता है कि वनवासी फलाहारी जीव भी शाकपात खाते हुए उन आदिम वनों को छोड़ अन्य देशों में फैल सकते थे, जैसे कि गाय, बैल, भैंस इत्यादि। परतु ऐसा करके भी वे न तो सीधे खडे होने वाले दोपाये हो सकते थे, न उनके मस्तिष्क ही की वृद्धि हो सकती थी और न मनुष्य के विशेष लक्षणों को ही वे पा सकते थे। यह भी सम्भव है कि कुछ शिकारी मानवीय पूर्वपुरुष जब ऐसे देशों में पहुँच गए, जहां उन्हें खाने-योग्य नरम शाक-पात बिलकुल ही न मिल सका, या कम मिलने लगा, तो वे उनके बदले मास के साथ-साथ कद-मूल व दूसरी खुरदरी वस्तुएँ भी खाने लगे। इस कारण उनके दाँत भी इस नए आहार के अनुरूप बदल गए।

हमारे पूर्वज अपनी उन्नति के मार्ग में कुछ ऐसी अवस्थाओं से गुजरे होंगे, जिनका कि हमारे पास प्रस्तर-विकल्पों में कोई प्रमाण नही है। फिर भी यह निश्चित है कि लगभग मध्य मायोसीन काल तक 'लाइकोपिथैकस' जैसा कोई प्राणी पृथ्वी पर था। उसके बाद धीरे-धीरे वह दूसरी श्रेणी

में पहुँचा । इस अवस्था में शायद वह प्लायोसीन काल के मध्य तक रहा । इसी युग में उसमे मानवीय रूप और गुण का कुछ अंश आने लगा, जैसा कि 'प्रोटोरैन्थ्रापस' या हाल ही में पाए गए "पैराएनथ्रापस" मे हम देखते हैं। इसी अवस्था का एक पिछला नमूना शायद 'पिथैकेन्थ्रापस' है, जो सीधा खड़ा हो सकता था । इसके आगे चलकर हमें और भी कई उपजातियाँ मिली है, जो मानव-जाति में सम्मिलित की जा सकती है, लेकिन वे मनुष्य की वर्तमान उपजाति से सर्वथा भिन्न है। मनुष्य के इन प्रस्तर-विकल्पीय पूर्वजो का वर्णन हम आगे करेंगे ।

मनुष्य की शाखा वन्दरो और वनमानुषों की शाखा से कहाँ और किस अवस्था मे मिलती है, इस बात पर विस्तार-पूर्वक विचार करने के लिए हमारे पास स्थान नही है, क्योंकि इस विषय में विद्वानो में मतभेद है । कुछ वैज्ञानिकों की राय है कि मनुष्य मानवसम वानरों के धड से ऐसे समय मे निकले, जब इन्होंने अपने वर्तमान लक्षण ग्रहण कर लिये थे । परन्तु यह बात अब सही नही मानी जाती । औरों की धारणा है कि मनुष्य और मानवसम वानर एक ही धड़ से निकले तथा वर्तमान बड़े वानर भी इसी धड़ से निकले । आजकल के अधिकतर लोगो का यही विचार है । परन्तु इसमे भी बहुत मतभेद है कि इन सबके धड़ से मनुष्य के पुरखे कितनी दूर से निकले । सभी मतवाले यह मानते है कि पुरानी दुनिया के बन्दरो की शाखा मनुष्य और वनमानुषो की शाखा से पहले और अधिक प्राचीन अवस्था मे अलग हो गई थी । मनुष्य और वनमानुषो के पुरखे एक ही थे, जो शिवालिक की उपत्यका मे मिलने-वाले 'ड्रायोपिथैकस' और 'सिवैपिथैकस' जैसे प्रस्तर-विकल्पों से मिलते-जुलते रहे होगे । हाल के कुछ लोगों का मत है कि मनुष्य वनमानुषों की शाखा से कदापि नहीं निकला और उसकी शाखा उनकी शाखा से अलग नीचे के और किसी पूर्वज से निकली है ।

यह कहना कठिन है कि इनमे कौन-सा मत ठीक है । लेकिन मनुष्य, वनमानुषों और बन्दरो की शारीरिक रचना की अच्छी तरह तुलना करते हुए यह विचार ठीक जान पड़ता है कि मनुष्य के अत्यन्त प्राचीन पूर्वज 'प्राइमेट्स' या प्रधानभागीयों की शाखा से उसके सदस्यों पर पुरानी
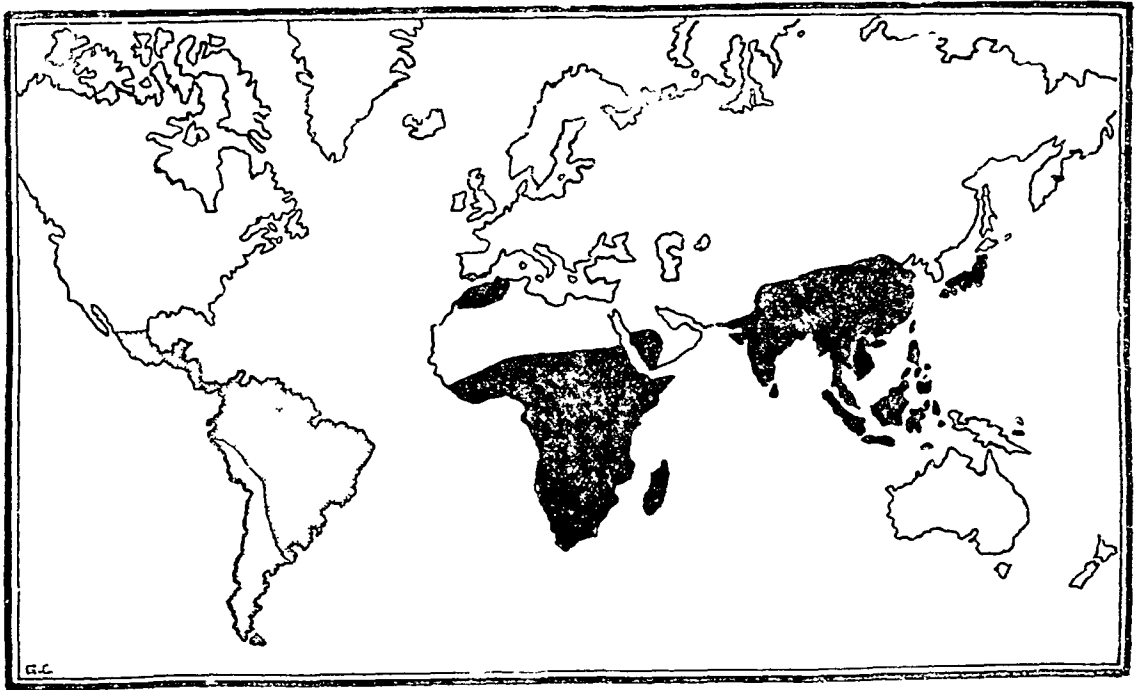
**नई पुरानी दुनिया के वानरों का भौगोलिक वितरण**

गहरे काले रंग से जो भूभाग निर्देशित किए गए है, वहाँ पुरानी दुनिया के बंदर और शिम्पैंजी, गोरिल्ला, औरंग, गिब्बन आदि चारों वनमानुष पाए जाते है । हल्के रंग से निर्दिष्ट भूभाग में नई दुनिया के बंदर फैले हुए हैं ।

दुनिया के बन्दरों की छाप लगने के पहले ही निकल चुके थे ।

आदिम मनुष्य का जन्म दुनिया के किन भागों में हुआ, इसका भी ठीक-ठीक उत्तर देना असम्भव है । परन्तु यह निश्चित है कि हिमालय के दक्षिण मे शिवालिक की पहाड़ियों में अफ्रीका से आए हुए प्राचीन वनमानुपों से ही नए वनमानुप पैदा हुए । मनुष्य के सबसे प्राचीन प्रस्तर-विकल्प अभी तक भारतवर्ष मे कही नही मिले हैं । अत यह कहना कठिन है कि वर्तमान मनुष्य-जाति की उत्पत्ति भारतवर्ष में हुई है । डार्विन का विचार था कि मनुष्य-वंश का मूल उद्गम-स्थल अफ्रीका है। जब सन् १८९१ में एक अति प्राचीन मनुष्य की खोपडी 'पिथैकेन्थ्रापस', जावा मे मिली, तो यह धारणा की गई कि मनुष्य के उत्पन्न होने की जगह जावा या पूर्वी एशिया में है, अफ्रीका में नही । जब सन् १९२९ और उसके आगे के वर्षो में चीन मे, पेकिंग नगर के आसपास मानव-जाति की 'साइनेनथ्रापस' के नाम मे अभिहित की गई कई पूरी खोपड़ियाँ और हड्डियाँ मिली, तब यह बात और भी पक्की हो गई ।

लेकिन जब प्राचीन मनुष्यों की ये दो जातियाँ पूर्वी देशों में रहती थी, तभी दूर के पश्चिमी देशों में भी एक और जाति घूमती-फिरती थी । इसके प्रस्तर-विकल्प मिले हैं । लगभग १५ लाख वर्ष पूर्व तक प्लायोसीन काल समाप्त होने के पहले सारी पुरानी दुनिया मे मनुष्य के बिगड़े हुए स्वरूप यत्र-तत्र फैले हुए थे । जहाँ तक प्रमाण मिलता है, मनुष्य-वंश से सचमुच मिलनेवाले वानर भारतवर्ष के पश्चिमी भागों मे ही पाए जाते थे । इससे यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि मनुष्य-वंश की शैशवावस्था हिमालय और अफ्रीका के बीच के प्रदेश के ही आसपास बीती होगी । पिछले वर्षो में स्वेन हेडिन ने मंगोलिया के रेगिस्तानों में खोज की थी और इस खोज में प्राचीन मनुष्य के साथ रहनेवाले बड़े-बड़े जानवरो के प्रस्तर-विकल्प पाए गए थे । इससे पता चलता है कि मनुष्य की उत्पत्ति शायद यहीं कहीं या गोबी के रेगिस्तान मे हुई हो । रूस के कुछ वैज्ञानिको ने कुछ वर्ष हुए प्रो० कैप्टैरैफ के नेतृत्व में एक खोज-सम्बन्धी यात्रा करने का प्रयत्न किया था । कैप्टैरैफ का कहना है कि उम्मीद है कि हमें उत्तराखड के ध्रुव-प्रदेश के आसपास मनुष्य के पूर्वजो के शव बर्फ के भीतर ढके हुए मिले, जिनसे पता चलेगा कि वे काले थे या गोरे; उनके शरीर पर लम्बे और सीधे बाल थे या छोटे और घुंघराले; वे दाढ़ी रखते थे या नही, किसी प्रकार के कपडे वे पहनते थे या नही, वे लम्बे या सुन्दर थे, अथवा नाटे और बदसूरत; तथा वे बन्दर की-सी शक्ल के थे या नही । इस प्रोफेसर का विचार है कि इन प्राचीन मनुष्यों के शव ध्रुव-प्रदेश की किसी खोह या गुफा में हम बर्फ में जमे-जमाये पा सकेंगे ।

**'पिथैकेन्थ्रापस' या 'जावा का आदि मानव' और उसकी खोपड़ी**

ऊपर प्राप्त अवशेषों के आधार पर निर्मित 'जावा के आदि मानव' के शीर्षभाग की एक काल्पनिक प्रतिकृति दिग्दर्शित है । नीचे उसकी प्राप्त हुई खोपडी के ऊपरी भाग का बाजू की ओर का दृश्य है ।

## मनुष्य कितना पुराना है

मनुष्य कितना पुराना है, इस संबंध मे भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । सर आर्थर कीथ ने एक बार कहा था कि वर्तमान काल के चारों प्रकार के मनुष्य—अर्थात् श्वेतांग, पीतांग, रक्तांग और कृष्णांग—मध्य प्लायस्टोसीन काल में एक ही शाखा से पैदा हुए थे । किन्तु बाद की कुछ खोजो ने उनको अपना यह विचार बदलने के लिए बाध्य कर दिया । अब ऐसा जान पडता है कि प्लायस्टोसीन काल के आरंभ में ही, लगभग ५ लाख वर्ष हुए, मंगोल, आस्ट्रेलियन और नीग्रो जाति के पूर्वज महाद्वीपों पर फैल चुके थे । इसके पश्चात् इन सभी जातियों मे एक ही जैसे कतिपय परिवर्तन हुए,

जिनकी वजह से वे वानरों के रूप को छोड़कर मनुष्य के रूप को धारण करती गई—जैसे जबड़ों और दाँतों का छोटा होना, मस्तिष्क का बड़ा होना, इत्यादि। जे० रीड मायर के अनुसार पेकिंग में पाया गया मनुष्य दस लाख वर्ष पुराना है। परन्तु बाद के विद्वानों ने इसे पाँच लाख वर्ष पुराना और जावा के पिथैकेन्थ्रापस को उससे अधिक प्राचीन माना है। जो भी हो, प्लायोसीन काल में ऐसे मनुष्य थे, जो चट्टानों से बड़े-बड़े चिप्पड उखाड सकते थे और उनसे औजार बना सकते थे। अमेरिका के प्रसिद्ध प्रस्तर-विकल्पशास्त्री प्रो० ओसबोर्न का कथन है कि मनुष्य सर आर्थर कीथ तथा अन्य वैज्ञानिकों के बताए हुए समय से भी ६० लाख वर्ष अधिक पुराना है! वह तो विश्वास करते हैं कि मनुष्य बन्दरों की शाखा से ६० लाख वर्ष नहीं, वरन् लगभग १ करोड़ ५० लाख वर्ष पहले अलग हो चुका था! १२ लाख ५० हजार वर्ष तो उसे हाथी तथा अन्य स्तनपोषितों का शिकार करते ही बीत गए, क्योंकि प्राचीन हाथियों के दाँत मनुष्य के प्रस्तर-विकल्पों के साथ-साथ पाए गए हैं। प्रोफेसर स्विनरटन ने इस विषय के संबंध में बहुत ही सुन्दरता से लिखा है कि "वैज्ञानिक लोग थियेटर देखनेवाली जनता की तरह है, जो रंगमंच पर अभी-अभी तो एक अभिनेता को एक आवारे का अभिनय करते देखती है और तब थोड़ी ही देर बाद उसे एक राज-कुमार के रूप में भी सामने पाती है! परन्तु वह पर्दे के पीछे जाकर यह नहीं देख पाती कि उस आवारे ने किस घड़ी और कैसे राजकुमार का वह भेष धारण कर लिया!"

# हमारे अत्यन्त प्राचीन पूर्वज

## वानर-मनुष्य या उपमनुष्य से असली मनुष्य का आविर्भाव

**मनुष्य की उत्पत्ति कैसे, कब और कहाँ हुई, इस जटिल और विवादात्मक प्रश्न की भूलभुलैया में भटकते हुए हम अब उस स्थिति पर आ पहुँचे हैं, जहाँ आज से कुछ लाख वर्ष पूर्व के ऐसे मानवसम जीवों के प्रस्तरीभूत अवशेषों से हमारी भेंट होती है, जिन्हें हम एकबारगी ही आधुनिक मानव की श्रेणी में तो नहीं रख सकते, फिर भी जिनमें मानव के रूप और गुण स्पष्ट रूप से हम उदय होते हुए पाते हैं। आइए, इस लेख में सर्व-प्रथम उन्हीं से हम आपका परिचय कराएँ, तदुपरान्त उन आदिम मानवीय समूहों का भी वर्णन करें, जिन्हें विधिवत् हम मनुष्य-जातियों के पूर्वजों की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं।**

पिछली शताब्दी में मनुष्य की उत्पत्ति पर बहुत-कुछ विचार हुआ है। विद्वानों में इस विषय पर काफी बहस भी हुई है। परन्तु फिर भी इस बात पर उनमें अभी तक बहुत मतभेद है। यह सही है कि हाल के वर्षों में मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में हमें बहुत-सी नई बातें मालूम हुई हैं और हमारे ज्ञान की वृद्धि हुई है। इसकी मनोरंजक कहानी बहुत-सी पुस्तकों में लिखी भी गई है। परंतु वास्तव में यह विषय बड़ा ही कठिन है; क्योंकि जब हमें लगभग पाँच-छः हजार वर्ष से पहले के ही इतिहास का ठीक-ठीक पता नहीं है; तो फिर मनुष्य की समूची कहानी तो लाखों वर्ष पुरानी है! वास्तव में हमारे सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद भी तो कुछ ही हजार वर्षों से अधिक पहले के नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की उत्पत्ति की खोज हमें उस अंधकारमय युग में ले जाती है, जो किसी भी प्रकार के लिखित इतिहास से कहीं पीछे छिपा हुआ है। पिछले कुछ हजार वर्षों से, जब से मनुष्य को अपने अर्जित ज्ञान का लेखा छोड़ जाने की युक्ति मिल गई है, अवश्य हमें अपने पूर्वजों का ब्योरेवार हाल मिल रहा है, किन्तु जिस समय पृथ्वी पर कोई भी ऐसा बुद्धि-मान् मनुष्य न था, जो अपने विचार कहकर या लिख-कर अपनी सन्तान के लिए छोड़ जाता, भला उन दिनों की तथा उससे भी सहस्रों-लाखों वर्ष पहले का हाल जानना हमारे लिए किस प्रकार सम्भव है! सौभाग्य से हाल ही में मनुष्य की बुद्धि ने धरती की कोख में छिपे हुए एक और तरह के इतिहास का पता लगाने का एक उपाय खोज निकाला है, जिससे कि आदि मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के इतिहास के सदियों से खोये हुए अध्यायों के दो-चार पृष्ठों का पता हमें लग गया है। यह इसलिए हुआ है कि हमारे प्राचीन पूर्वज अन्य जानवरों की तरह अपने अस्थि-पंजर तथा खोपड़ियाँ एवं पत्थर तथा चकमक आदि के हथियार अपनी रहने की गुफाओं के पास के दलदलों अथवा नदी की तहों में छोड़ मरे हैं।

दस लाख वर्ष पूर्व का आदि मानव

अब तक प्राचीन मनुष्य की जो खोपड़ियां मिली हैं, उनमें सब से पुरानी विद्वानों द्वारा दस लाख वर्ष की मानी जाती है और जिस आदि मानव की खोपड़ी यह रही होगी, उसे "पिथैकन्थ्रापस" नाम दिया गया है।

**दो ढाई लाख वर्ष पूर्व के आदि मानव के जीवन की एक झलक**

इस युग तक आते-आते मनुष्य-जाति के पुरखे समकालीन जानवरों से अपनी रक्षा करने तथा शिकार के लिए पत्थरों से गढ़े गए भौंडे अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करने लग गए थे।
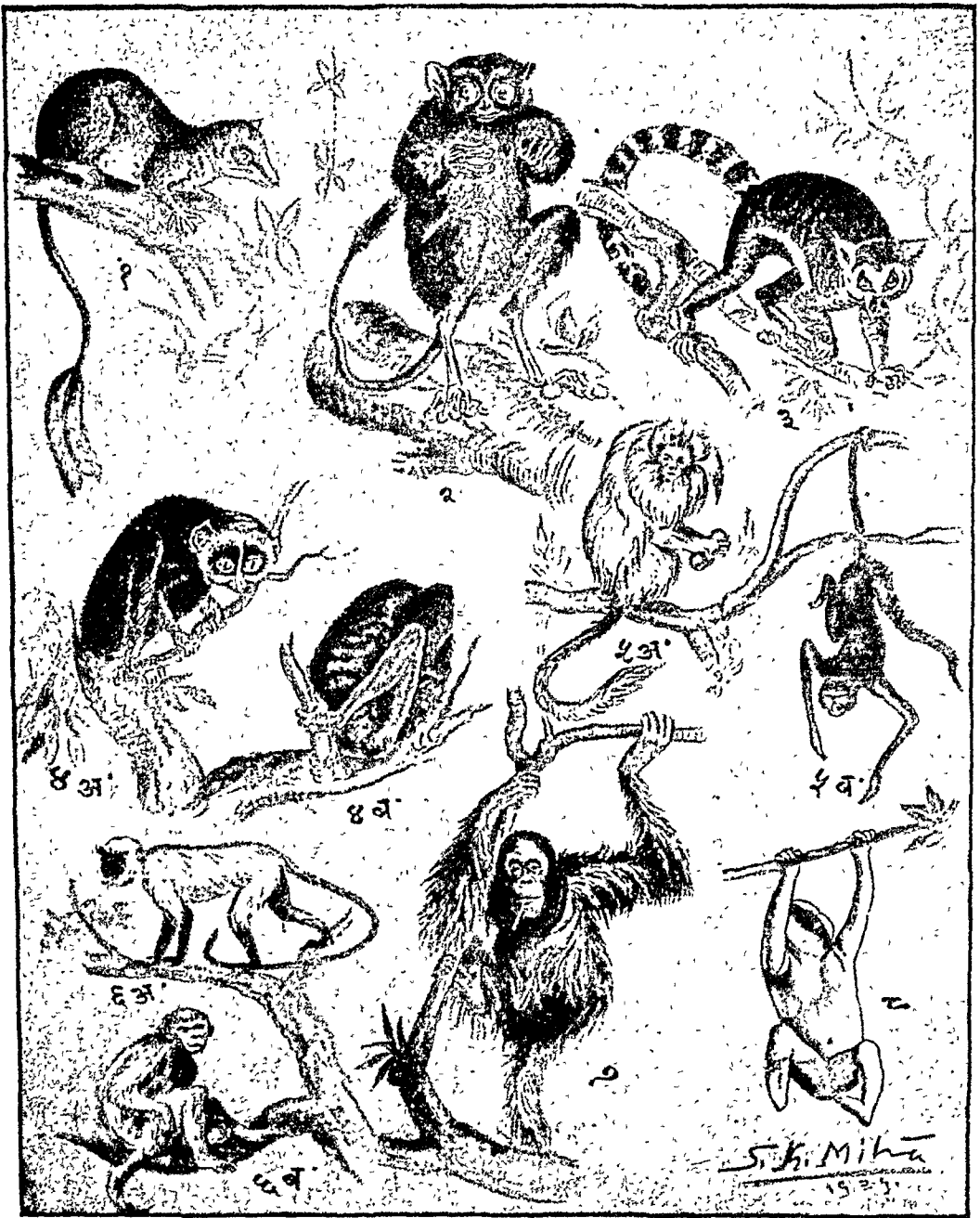
**मानव-विकास का सोपान-क्रम**

(१) पेड़ों पर रहनेवाला छछूँदर-जैसा कीटभोजी 'श्रू' (२) सब से नीची श्रेणी का प्रधानभागीय जीव 'टारसियस', जो मलाया और समीप के टापुओं में मिलता है, (३) मेडागास्कर टापू का गडेदार दुम-वाला अर्द्धवानर लीमूर; (४) दक्षिणी भारत और लंका में पाया जानेवाला एक लीमूर—(अ) जाग्रत अवस्था में; (ब) सोया हुआ; (५) नई दुनिया के नीची जातिवाले (अ) मारमोसेट ओर (ब) मकड़ी वंदर; (६) पुरानी दुनिया का (अ) काला मुँहवाला लंगूर और (ब) मामूली वंदर; (७) बोर्निओ और सुमात्रा में पायाजानेवाला वनमानुष ओरंग-उटांग; (८) बन्दर की तरह पैरों को उठाए हुए लट-कता हुआ तीन सप्ताह का मनुष्य-बालक।

**वनमानुषों और मनुष्य में पैरों पर खड़े होकर चलने की शक्ति का उत्तरोत्तर विकास**

(१) पेड़ों पर हाथों के बल झूलता हुआ गिव्वन; (२) प्रायः वृक्ष ही पर घोंसला बाँधकर रहनेवाला ओरंग-उटांग; (३) वृक्ष से धरती पर उतरकर बैसाखी की तरह एक हाथ का सहारा लेकर झुकी दशा में चलनेवाला गोरिल्ला; (४) मनुष्य की तरह कुछ-कुछ खड़े होकर चलनेवाला शिम्पैञ्जी; (५) वानरों की तरह चारों हाथ-पैर से वृक्षों पर विचरनेवाला लाखों वर्ष पूर्व के मनुष्य के आदिम पुरखे की एक कल्पना; (६) आदि मानव का वृक्ष से नीचे उतरकर डंडे का प्रयोग करने के प्रयत्न में पैरों पर खड़े होकर चलना।

उनके ये निशान समय के प्रभाव से वहीं के वहीं दबकर धरती की तहों या चट्टानों के भीतर पहुँच गए और नष्ट होने से बच गए। यही लेखा है, जिसे वे पृथ्वी के गर्भ में दबा हुआ छोड़ गए हैं। उस जमाने का हाल जानने के लिए हम इन्हीं बची-खुची वस्तुओं पर निर्भर हैं।

## प्रस्तर-विकल्प कैसे बने

इतिहासकारों के लिए यह अच्छा ही हुआ कि कन्दराओं तथा जंगलों में निवास करनेवाले हमारे इन मानवीय पूर्व-पुरुषों को आजकल की-सी सफाई पसन्द न थी। वे अपने रहने के गड्ढों और गुफाओं में झाड़-पोंछ नहीं किया करते थे। इसलिए अपने चूल्हे अथवा खाना पकाने की जगह के आसपास वे अपने भोजन का बचा-खुचा भाग—जैसे, खाए हुए जानवरों की हड्डियाँ—और बेकार औजार आदि वहीं छोड़ गए। ये चीजें समय बीतने पर आसपास की गर्द-धूल या वर्षा और बाढ़ से बही हुई रेती एवं गुफाओं में ऊपर से गिरी हुई मिट्टी तथा चट्टानों के टुकड़ों से दब गईं। ज्यों-ज्यों उनके ऊपर पत्थर और मिट्टी की तहें जमती गईं, वे सतह के नीचे होती गईं। कहीं-कहीं ये गुफाएँ इसी प्रकार एक के ऊपर दूसरी तह जमने से ऊँची भी होती गईं। यह समझ में आता है कि इन गुफाओं में निवास करनेवाले आदि-मनुष्य अचानक तूफान, बाढ़ अथवा भूकम्प के आ जाने से जीवित ही जहाँ के-तहाँ दब गए होंगे। अथवा वे उसी नदी में, जिसके तट पर वे रहते होंगे, डूब गए होंगे। या फिर मर जाने पर प्रायः नदी में फेंक दिए गए होंगे। इस तरह वहीं इनके अस्थि-पंजर दब गए और उनके सड़ने-गलने से पहले ही उन नदियों की तह पत्थर और चट्टान बनकर सूखी तथा ऊँची हो गई, जिससे वे शव प्रस्तर-विकल्प बन गए। यह भी हो सकता है कि इन मनुष्यों ने अपने मुर्दे स्वयं ही उन गुफाओं में गाड़ दिए हों। याद रहे कि पृथ्वी की तहों में भूचालों तथा अन्य प्राकृतिक घटनाओं द्वारा भी बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है और अब भी होता रहता है। बहुत-से भाग जो एक समय समुद्र में डूबे हुए थे या नदी और झीलों के नीचे छिपे हुए थे, अब उठकर वे ऊपर आ गए हैं। इसी तरह बहुत-से भाग जो स्थल के ऊपर थे, दबकर नीचे चले गए।

## प्रस्तर-विकल्पों की आयु का अनुमान

इसी तरह जो गुफाएँ और जमीन की तहें इन दबे-दबाये स्मारक-चिन्हों समेत जमीन के अंदर सैकड़ों फीट नीचे धुस गईं, उनमें से बहुतेरी अभी तक वहीं दबी हैं और कुछ थोड़ी-बहुत पुनः ऊपर भी आ गई हैं। सौभाग्य से मनुष्य ने जिज्ञासावश दुनिया के भिन्न-भिन्न भागों में अपने फावड़े द्वारा कहीं-कहीं इन दबे-दबाये चिन्हों को खोद निकाला है। प्राचीन मनुष्य-सम्बन्धी ऐसे जो कुछ चिन्ह हमें मिले हैं, उन्हीं से हमने उनका इतिहास गढ़ा है। उनकी खोपड़ियों और दूसरी हड्डियों से यह पता लगता है कि वे कैसे थे। उनके द्वारा बनाये हुए चकमक पत्थर तथा धातुओं के औजारों से उनके रहन-सहन का भी थोड़ा-बहुत आभास हमें मिलता है। उनके द्वारा खाये गए जानवरों की हड्डियों के ढेर, जो उनके चूल्हे की राख में या उसके आस-पास मिलते हैं, उनके शिकार और आहार का पता हमें देते हैं। इन्हीं जानवरों की हड्डियों, दाँतों और वृक्षों के अवशेष से यह भी जाना जाता है कि उस समय की जलवायु कैसी रही होगी। जिन चट्टानों और मिट्टी की तहों में ये स्मारक-चिन्ह पाए गए हैं, उनकी तथा उनके ऊपर और नीचे की तहों की बनावट का मिलान करने से यह जाना जा सकता है कि उनमें से कौन एक दूसरे से नए और पुराने हैं और उनकी आयु क्या है। इसी तरह अन्दाज लगाते हैं कि जिनके चिह्न मिले हैं वे मनुष्य या जानवर हैं, एवं वे किस युग में पृथ्वी पर जीवित थे।

**पिथैकेन्थ्रापस का चेहरा बाजू से संभवतः ऐसा ही दिखाई देता होगा**

पिछले चित्र की तरह यह भी एक काल्पनिक रचना ही है।

## ये चिन्ह बहुत क्यों नहीं मिले?

मानव-सम्बन्धी इस प्रकार की जो सामग्री अभी तक मिली है, वह वास्तव में बहुत ही कम है। इसके कई कारण हैं। एक तो हमारे पूर्वज अपने समय के बड़े वानरों के समान

कभी भी शायद बहुत अधिक संख्या में नही रहे। वे जगली घोड़ों, हरिनों और प्राचीन ऊँट तथा हाथियों के पुरखो की तरह न थे, जो हर एक पीढ़ी में लाखों या हजारो की सख्या मे जरूर ही मिलते रहे है। इन जतुओ मे से बहुतेरे पानी मे डूब जाते होगे या मगर आदि उनको पानी मे खीच ले जाते होंगे; अथवा वे झील, नदी या दलदल के तट पर मर जाया करते होगे, जहाँ वे पानी पीने जाते रहे होगे और इस तरह सहज में उनके प्रस्तर-विकल्प वन जाते होगे। यह सब होने पर भी इनमे से दो-चार को छोड़कर किसी के पुराने प्रस्तर-विकल्पों का पता नही लगा है, यद्यपि ये सब स्तनपोषी जीव समूहो में ही रहा करते थे। इसके विपरीत वड़े वानर आदि मानवसम जीव और उपमनुष्य कदाचित् कभी भी दो-चार से अधिक एक जगह इकट्ठे नही रहते थे। वे अकेले या जोड़े मे एक-दो बच्चों सहित इधर-इधर फिरते रहे होंगे और सुभीते की जगह से अपनी ही जाति के अपने से निर्वल व्यक्तियों को भगाकर उनकी जगह पर अपना अधिकार जमा लेते होंगे। हम यह भी जानते है कि मनुष्य स्वभावत. तैर नही सकता, उसे आज भी तैरना सीखना पड़ता है। इससे ज्ञात होता है कि काफी लंबे समय तक वह नदी, झील, समुद्र आदि जल के स्थानो से दूर ही रहा होगा। इसलिए उसको ऐसे अवसर वहुत कम मिलते रहे होगे कि पानी मे या पानी के निकट की ऐसी जगहो पर वह मरता, जहाँ कि उसकी हड्डियाँ प्रस्तर-विकल्प वन जाती। इससे यह धारणा उपयुक्त जान पडती है कि तत्कालीन मानव के वंश-के-वश अपनी उपस्थिति का चिन्ह छोड़े बिना ही समाप्त हो गए होंगे। इन्ही कठिनाइयो के कारण हमारे अत्यन्त प्राचीन पूर्वजो के स्मृतिचिन्ह तृतीय युग के प्रारम्भिक तथा मध्यकाल की चट्टानों में अधिक नहीं मिले है। बहुत-से लोगों का मत है कि इस महायुग के प्रथम या द्वितीय काल के आरम्भ होने तक आदि मनुष्य और वनमानुप वनों में ही वास करते थे; इसलिए वे वही मरते रहे होंगे। उनके शरीर या तो अन्य पशुओ ने खा लिए होंगे अथवा वे सड़-गल गए होंगे। जब तीसरा महायुग समाप्त हो रहा था और चतुर्थ (जो अभी तक चल रहा है) शुरू हो रहा था, तब कदाचित् ये लोग गुफाओं मे रहने लगे थे। इस समय से उनके स्मारक-चिह्न और अस्थिपंजर चट्टानों और पृथ्वी की तह में दवने लगे होंगे। अभी तक केवल थोड़े-से ही ऐसे चिह्न हमारी जानकारी में आए है, क्योकि यह विद्या अभी केवल दो-चार पीढ़ी ही पुरानी है, तथा वहुत थोड़े आदमियो ने इसका अध्ययन किया है। वैल्जियम, डैनमार्क, फ्रांस और इंगलैंड आदि योरप के पश्चिमी भागों मे इस विषय की अच्छी खोज की गई है। पर अफ्रीका, एशिया, भारत और पूर्वी द्वीपों के समूह में मनुष्य के ये चिह्न अभी तक बहुत कम खोजे गए है। बहुत सम्भव है, इन देशों में उस समय के इतिहास को प्रकाशित करनेवाले अनेक भेद छिपे हुए हों। इसलिए हमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि अभी चट्टानो और गुफाओ मे इन चिह्नो का बहुत-कुछ पता लगाना बाकी है। शायद अभी आदि मनुष्य और उनके पुरखों की ऐसी और भी बहुत-सी धरोहरे आगे चलकर मिले, जिनसे भविष्य यह सिद्ध कर दे कि जो हाल हम मनुष्य के विषय मे अभी तक जानते है, वह केवल उसके वास्तविक हाल का एक अणुमात्र है। हमें पूरा विश्वास है कि भविष्य के भूगर्भवेत्ता तथा प्रस्तर-विकल्पशास्त्री मनुष्य की प्राचीन कहानी हिन्दुओं, चीनियों, बैबीलोनियो, यूनानियों

**पिथैकेन्थ्रापस की जाँघ की हड्डी**
जो उसकी खोपड़ी के साथ प्राप्त हुई है।

और मिस्त्रियों के पुराने से पुराने इतिहास ही के आगे नहीं, वरन् डैनमार्क, फ्रांस, पूर्वी द्वीपसमूह आदि की गुफाओं के स्मारकचिह्नों के भी आगे की लाखों वर्ष पुरानी चट्टानों की तहों तक पहुँचा सकेंगे।

आज मनुष्य की जो कहानी हमें ज्ञात है वह अधूरी है और उसमें कल्पनाओं के लिए बहुत गुंजाइश है। इसीलिए जब कोई पूरी खोपड़ी भी मिलती है, तब भी उस विषय के सब विद्वानों की उसके बारे में एक राय नहीं हो पाती। उसी खोपड़ी को कोई वनमानुष और मनुष्य के बीच की खोई हुई कड़ी का स्मारक समझता है, तो दूसरा उसे शिम्पैंजी की खोपड़ी समझकर अलग कर देता है। तब भी आधुनिक विज्ञान और तत्संबंधी अनुसंधानों का हमें आभारी होना चाहिए कि ऐसे मनोरंजक विषय की सीढ़ी के मुख्य-मुख्य डंडों का पता लग गया है और पुस्तकों में प्रकाशित हो जाने से इस विषय का ज्ञान सर्वसुलभ हो गया है। आइए, अब हम आपको इन्हीं के विषय में कुछ बतलाएँ।

(ऊपर) पिथैकेन्थ्रापस की खोपड़ी के भीतरी पृष्ठ का बनाया गया प्लॉस्टर का ढाँचा। (नीचे) खोपड़ी के साथ प्राप्त उसके दांत। निचले चित्र में ऊपर बाईं ओर दांतों का सिरा दिग्दर्शित है।

## उपमनुष्य की सबसे पुरानी खोपड़ी

सबसे प्राचीन अवशिष्ट हड्डियाँ, जो आदि मनुष्य या उपमनुष्य की कही जा सकती हैं, एक अधूरी खोपड़ी, उसके नीचे का जबड़ा और कुछ दांत हैं, जिनके मिलने की सूचना अमेरिका के 'कारनेगी इन्स्टीट्यूट' ने सन् १९३६ के प्रारम्भ में दी थी। ये जावा में सोलो नदी के किनारे डाक्टर वॉन कूनिग्जवौल्ड को मिली थीं। कूनिग्जवौल्ड का विचार है कि ये हड्डियाँ अब तक ज्ञात सबसे पुराने मनुष्य की हैं और जावा ही में पाए गए खड़े होनेवाले मानवीय वानर 'पिथैकेन्थ्रापस इरैक्टस' से भी (जिसका कि विवरण आगे लिखा गया है, और जो अभी तक सबसे प्राचीन माना जाता था) अधिक पुरानी हैं। कारनेगी इन्स्टीट्यूट के प्रधान डाक्टर मरियम का कथन है कि हाल की खोजों में यह खोज सबमें मुख्य है, क्योंकि अभी तक पाई गई मनुष्य की प्रस्तर-विकल्प हड्डियों की आयु १२ हजार वर्ष से लेकर ५ लाख वर्ष से कुछ अधिक तक ही है। इन नई हड्डियों से साबित होता है कि पिथैकेन्थ्रापस अपनी शारीरिक और मानसिक दशा में बड़े वानरों से काफी आगे बढ़ चुका था तथा यह भी ज्ञात होता है कि मनुष्य को अपने पैरों पर खड़े होते हुए एवं मस्तिष्क को काम में लेते हुए करीब १९ लाख वर्ष हो गए हैं। इससे भी अधिक प्राचीन एक और खोपड़ी उपलब्ध है, जो कुछ वर्ष हुए पाई गई है। यह खोपड़ी डाक्टर रावर्ट ब्रूम को दक्षिणी अफ्रीका में मिली थी। इस प्रस्तर-विकल्प का नाम उन्होंने पैरेन्थ्रापस रक्खा था। अब इस खोपड़ी के अलावा उसकी बाजू की हड्डी, बाँह की ऊपरी हड्डी और पैर की उँगली की भी एक हड्डी मिली है। जैसा कि उनका पहले विचार था, ये करीब-करीब मनुष्य की-सी

ही हैं। पैर की उँगली की हड्डी से पता चलता है कि यह जीव खड़ा होकर दो पैरों के बल चल सकता था। बाँह की हड्डियों से विदित होता है कि ये हड्डियाँ चलने-फिरने में शरीर को साधने का काम नहीं देती थी। ये हड्डियाँ मनुष्य की तो नहीं मानी जाती, लेकिन ऐसे मानवसम वानर की अवश्य है, जो उस समय मनुष्य की तरह दो टाँगों पर चल सकता था। इसी प्रकार के एक और मानवसम प्राणी **प्लैसिएनथ्रापस** की भी कुछ और हड्डियाँ इन्हीं महाशय को ट्रासवाल में मिली हैं। इनका मत है कि यह भी दो टाँगों पर चल-फिर सकता था। इसकी खोपड़ी के ढाल से पता लगता है कि इसका मस्तिष्क **पिथैकेन्थ्रापस** के मस्तिष्क से थोड़ा ही छोटा है। उपर्युक्त खोजों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन हड्डियों से हमें उस समय के विकास के ढर्रे की एक झलक मिलती है, जब प्राचीन जानवरों ने पूर्ण रूप से खड़ा होना सीखा ही था और यह केवल मनुष्य की ही विशेषता थी।

**'साइनेनथ्रापस' या पेकिंग के मानव की आकृति की कल्पना**

यह आकृति अगले पृष्ठ पर प्रदर्शित इस आदिम मानव की खोपड़ी के आधार पर बनाई गई है।

### पिथैकेन्थ्रापस इरैक्टस या खड़ा होकर चलनेवाला सबसे पहला वानरमनुष्य

उपर्युक्त अवशेषों के बाद अन्य प्रसिद्ध हड्डियाँ, जिनकी गणना हम उपमनुष्य के अस्थिपंजरों में कर सकते है, जावा द्वीप मे सोलो नदी के तट पर बसे हुए ट्रिनिल नगर के निकट सन् १८९१ या १८९२ में पाई गई थी। इन हड्डियों में एक खोपड़ी की टोपी या ऊपरी भाग, दो-तीन दाढ़ें और एक जाँघ की हड्डी है, जो खोपड़ी से लगभग २० गज हटकर मिली थी। कुछ लोगों का यह कहना था कि यह जाँघ की हड्डी किसी और आदमी की है और दाढ़े तथा खोपड़ी किसी और की। परन्तु अब काफी विवाद के बाद यह मान लिया गया है कि जाँघ की हड्डी भी उसी आदमी की है, जिसकी कि दाढ़ें तथा खोपड़ी की हड्डी है। इसका माथा तंग और ढालू है तथा भीतर की जगह छोटी है। इससे जान पड़ता है कि इस जीव के माथा था ही नहीं और उसका सिर भौंहों तक बहुत ढालदार था। इसकी जाँघ की हड्डी या ऊर्वस्थि भी वर्तमान मनुष्य की सी ही है, जिससे प्रकट होता है कि वह जीव सीधा चल-फिर सकता था। हड्डी की लम्बाई से उस प्राणी की लम्बाई पाँच फीट सात इंच जाँची जाती है। दाँत बिल्कुल आदमियों के से हैं। सन् १८९० में ट्रिनिल नगर से २५ मील हटकर एक नीचे के जबड़े की हड्डी का टुकड़ा भी मिला था। उसमें अगली दूध-दाढ़ और आगे की कील का गड्ढा बना हुआ है। यह भी उसी खोपड़ीवाले जीव का भाग माना गया है। इस जबड़े के देखने से यह समझ में आता है कि इस जीव की ठोढ़ी बैठी हुई होगी तथा इसकी कील भी छोटी रही होगी। इसके जबड़े तो मनुष्य-जैसे रहे होंगे और इसका थूथन बन्दरों की अपेक्षा आगे कम निकला होगा, किन्तु उसकी भौं की हड्डी ऊपर को बहुत उभरी रही होगी, जैसी कि गौरिल्ला और शिम्पैंजी में होती है। इन हड्डियों की खोज करनेवाले प्रोफेसर डूबौय ने इस जीव का नाम **'पिथैकेन्थ्रापस इरैक्टस'** रक्खा। हिन्दी में इसको 'खड़ा होनेवाला वानर-मनुष्य' कह सकते हैं। प्रो० डूबौय की यह धारणा थी कि यह जीव मनुष्य और वनमानुषों के बीच का प्राणी था। न यह मनुष्य मे गिना जा सकता है और न पेड़ों पर रहनेवाले शिम्पैंजी जैसे वनमानुषों में ही उसकी गणना हो सकती है। यह यदि बिल्कुल नहीं तो बहुत-कुछ हमारी ही तरह सीधे खड़े होकर चल-फिर सकता था। खोपड़ी के हिस्से को साँचे में ढालकर निपुण वैज्ञानिकों ने इसके मस्तिष्क की रचना का पता लगाने की भी कोशिश की है और उसके रूप को निश्चित कर लिया है। इससे वे हिसाब लगाते हैं कि इसके मस्तिष्क का बोझ बड़े-से-बड़े मस्तिष्क वाले वन-

मानुष, गोरिल्ला और साधारण मनुष्यों में छोटे-से-छोटे मस्तिष्क (जो आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों में मिलता है) के बोझ के बीच का है। इससे बहुत लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि गोरिल्ला जैसे भारी वनमानुष से भी अधिक बड़े मस्तिष्क की आवश्यकता इस हल्के शरीरवाले मानव को
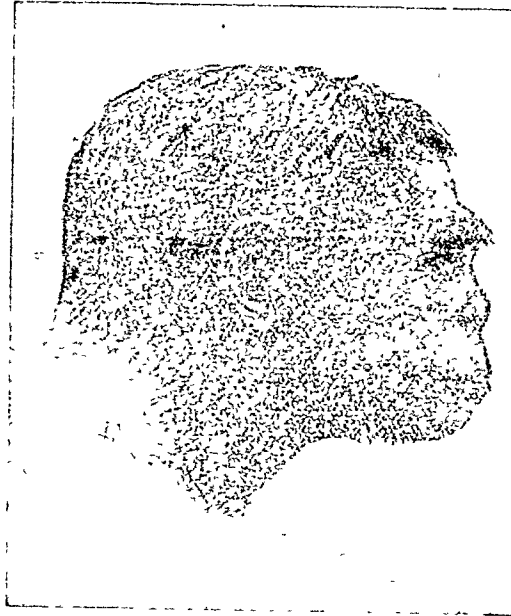
'साइनैनथ्रापस' या पेकिंग के मानव की खोपड़ी (ऊपर) बाजू का दृश्य। (नीचे) सिरे पर का दृश्य।

क्यों हुई? इसका कारण यही मालूम होता है कि वनमानुषों के मुकाबले में उसमें अधिक मानसिक शक्ति थी, तथा उसके मस्तिष्क में याद रखने, सुनने और बोलने के भागों की बनावट बहुत-कुछ मनुष्य से मिलती-जुलती थी। यह ठीक-ठीक कोई भी नहीं कह सकता कि वह जीव मनुष्य की ही तरह सोच सकता था या नहीं। इन सब बातों में विद्वानों का एकमत होना असम्भव है। यही कारण है कि कुछ लोग कहते हैं कि यह एक मानवसम वानर था, तो दूसरे लोग उसे नकली मनुष्य या उपमनुष्य की पदवी देते हैं, और कुछ उसे वास्तविक या असली मनुष्य का ही पूर्वज मानते हैं। सर आर्थर कीथ, जो प्राचीन मनुष्य के विषय के सबसे बड़े अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं, लिखते हैं कि यह काल्पनिक जीव मस्तिष्क के

अतिरिक्त अपने डील-डौल, चाल-ढाल और बहुत-से भागों की अंग-रचना में मनुष्य जैसा ही था। कुछ भी हो, यह निश्चय है कि इन पाये हुए अस्थि-पंजरों द्वारा दो पैरों पर चलनेवाले लुप्त वानरों के आगे के मनुष्य के विकास की अवस्था का बहुत-कुछ पता चलता है; किन्तु यह मानना न्यायसंगत नहीं है कि जावा का पिथेकैन्थ्रापस मनुष्य-जाति के पूर्वजों में से ही है। सब बातों पर विचार करते हुए यह मानना उचित प्रतीत होता है कि मानव-जाति के धड़ के नीचे की ओर से इसकी एक शाखा अलग फूट गई थी और वह मानव-वंश की पहली शाखा मानी जा सकती है। इस मानवीय वानर की ऊपर वर्णन की गई हड्डियाँ ४५ फीट मोटी चट्टानों की तह में पाई गई थीं। इनके साथ बीस तरह के स्तनपोषित जीवों, जैसे मैमथ नामक हाथी के विशाल पुरखे, बड़े बालवाले गैंडे, भारी डीलवाले दरियाई घोड़े, कटार जैसे दाँत-वाले बाघ, बारहसिंघे इत्यादि की हड्डियाँ भी पाई गई थीं। इन प्राणियों के प्रस्तर-विकल्पों से हमें इस आदि मानव के समय का सही निर्धारण करने में विशेष रूप से सहायता मिल सकती है, कारण उनका ठीक समय अन्य प्रमाणों के आधार पर बहुत-कुछ निश्चित हो चुका है। ये सब पशु अब नष्ट हो गए हैं और आजकल कहीं भी नहीं पाए जाते। प्रोफेसर डूबौय तथा अन्य कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि ये प्रस्तर-विकल्प और जिनमें ये अवशेष पाए गए थे, वे चट्टानें तीसरे महायुग के दूसरे काल (प्लायोसीन) के ऊपरी खंड की हैं, जिसका कालमान पाँच लाख वर्ष अनुमान किया जाता है। अतः इसकी

आयु कम से कम ५ लाख वर्ष की है। किन्तु बाद के बहुत-से लेखकों का विचार है कि वे इसी युग के पहले काल (प्लास्टोसीन) की निचली या बीच की तहों से सम्बन्ध रखती हैं। राबर्ट ब्रूम का तो कहना है कि चाहे जो कुछ भी हो, ये तहें कम-से-कम १० लाख वर्ष पुरानी हैं और यह पथराई हुई खोपड़ी भी उसी जमाने की है।

जावा में पाए गए ये महत्वपूर्ण अवशेष हॉलैण्ड के हार्लेम नगर के टाइलर अजायबघर में सुरक्षित हैं।

## साइनैनथ्रापस पिकेनैन्सिस

उपमनुष्य की दूसरी सबसे पुरानी जाति के अवशेष सन् १९२१-१९३६ में चीन की राजधानी पेकिंग के पास पाए गए थे। मनुष्य का ध्यान इस प्रदेश में खोज करने के लिए किस प्रकार आकर्षित हुआ, इसका हाल भी बहुत ही मनोरंजक है। कहते हैं, सन् १९०३ में जर्मनी के श्लोसर नामक एक डाक्टर ने चीन के एक दवाखाने से परदार साँप की हड्डियों का एक ढेर खरीदा था। उसमें उन्होंने एक ऐसा दाँत पाया, जिसको किसी अनजान बनमानुष का समझकर उन्होंने इस बात की सूचना दी कि यदि चीन में खोज की जाय और खोदकर देखा जाय तो आशा है कि वहाँ किसी नए पथराए हुए वानर या वानर-मनुष्य की पुरानी हड्डियाँ अवश्य मिलेंगी। यह जानकर कुछ आदमियों ने खोज शुरू की और शीघ्र ही श्लोसर की धारणा बिलकुल सही सिद्ध हुई।

इस कार्य में सबसे पहले स्वीडन देश के भूगर्भवेत्ता जे० जी० एन्डरसन को सफलता मिली। उन्होंने सन् १९२१ में पेकिंग नगर के निकट प्रस्तर-विकल्पों से युक्त चट्टानों की एक खोह में खोज की, लेकिन १९२३-१९२७ तक उन्हें एक उपमनुष्य के केवल तीन दाँत ही मिले। किंतु बाद की अधिक खोज के बाद अब तक वहाँ ३४ व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न हड्डियाँ मिल चुकी हैं। इनमें अधिकतर दाँत हैं, कुछ खोपड़ी और जबड़े के टुकड़े हैं, १२ पूरे-पूरे नीचे के जबड़े हैं और ४ लगभग पूरी खोपड़ियाँ हैं। इनमें से एक खोपड़ी लगभग ८ वर्ष के एक लड़के की है और एक वयस्क स्त्री की है। ये सब हड्डियाँ एक ही उपजाति की हैं, जिसका कि नाम '**साइनैनथ्रापस पिकेनैन्सिस**' अथवा 'पेकिंग का मनुष्य' रक्खा गया है।

संसार भर में और कहीं भी आदि मनुष्य की हड्डियों का इतना अच्छा संग्रह नहीं मिला है। आश्चर्य की बात तो यह है कि खोपड़ी के इतने भाग मिलने पर भी धड़ या हाथ-पैर की एक भी हड्डी उस खोह में नहीं मिली। इससे यह धारणा होती है कि शायद इन खोपड़ियों को उस गुफा में मनुष्य का मांस खानेवाले आदमी ही ले गए होंगे। यदि चीता या लकड़बग्घा उन्हें ले गया होता, तो यह समझ में नहीं आता कि वे केवल खोपड़ी ही क्यों ले गए; क्योंकि इन सभी खोपड़ियों में नाक की पतली हड्डी गायब है। यह भी कहा जाता है कि शायद उस जमाने में मनुष्य एक दूसरे का केवल भेजा अथवा दिमाग ही खाते रहे होंगे। हाल ही में गाल और नाक की हड्डी के कुछ टुकड़े पाए गए हैं, परन्तु वे इतने छोटे हैं कि उनसे उस उपमनुष्य के चेहरे का ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता। इन खोपड़ियों में भी **पिथैकेन्थ्रापस** की भाँति आँख के अन्दर की हड्डी बहुत उभरी हुई है। परन्तु इनमें मस्तिष्क का भाग उससे अधिक अच्छी तरह बढ़ा हुआ है। उसके मुकाबले में इन खोपड़ियों की हड्डी भी बहुत मोटी है। भौं की हड्डी निकली हुई जरूर है, लेकिन वह आँख के ऊपर गौरिल्ला और चिम्पैंजी की तरह लटकती नहीं है। पेकिंग-मानव की खोपड़ी **पिथैकेन्थ्रापस** से बहुत-कुछ मिलती जुलती होने पर भी उसके ललाट की ऊँचाई मनुष्य की खोपड़ी से ज्यादा मिलती है। इस खोपड़ी का खोखला भाग
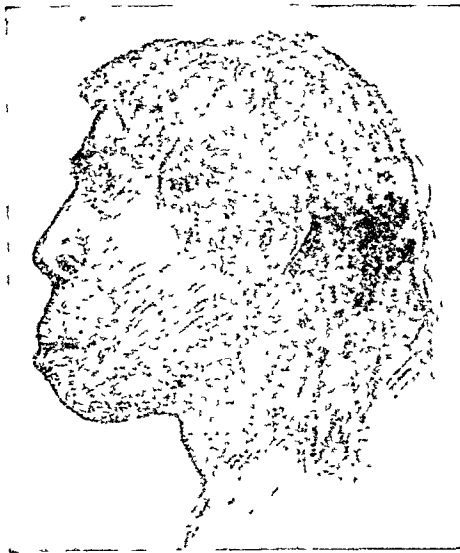
**एक लाख वर्ष पूर्व का मानव-रूप**

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि 'पिथैकेन्थ्रापस' और 'साइनेनथ्रापस' से आगे चलकर मानवाकृति सुविकसित होकर एक लाख वर्ष पूर्व के लगभग ऐसी ही कुछ दिखाई देने लगी होगी, जैसी कि इस काल्पनिक चित्र में प्रदर्शित है। ललाटास्थि और नासिका के सुडौल स्वरूप पर गौर कीजिए।

असाधारण रूप से छोटा है और मस्तिष्क भी सकीर्ण है, किन्तु जावा के मनुष्य मे यह अधिक ऊँचा रहा होगा। कनपटी की हड्डियाँ नवजात शिशु की तरह है। इसकी दाढें भी जावावाले मनुष्य की अपेक्षा आज के मनुष्य से अधिक मिलती है। इससे यह प्रकट होता है कि चीन के इस मनुष्य मे कई लक्षण ऐसे है, जो न जावा के वानर-मनुष्य मे और न जर्मनी मे पाये जानेवाले मनुष्य में (जिसका वर्णन आगे किया गया है) मिलते है। इसमें कुछ लक्षण एक उपजाति के-से है, कुछ दूसरी के-से और कुछ आधुनिक मनुष्य-जैसे। कदाचित् ये सब जातियाँ इसी भाँति की एक जाति से उत्पन्न हुई हो। चीन ये सब प्रस्तर-विकल्प ११० फीट की गहराई में बहुत-से लुप्त पक्षी, हिरन, गैंडो और लकडबग्घो की हड्डियो के साथ चट्टानो की पर्तो मे पाए गए थे, जो तृतीय महायुग के सब से हाल के काल की मानी जाती हैं। इनकी आयु लगभग ५ लाख वर्ष मानी गई है। इन प्रस्तर-विकल्पो का एक बहुत सुन्दर सग्रह पेकिंग नगर में प्रदर्शित है।
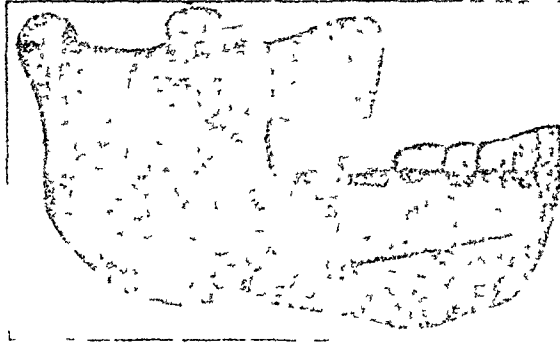
**हाइडेलबर्ग मानव का जबड़ा**

पचास हजार वर्ष पूर्व के मानव का यह महत्त्वपूर्ण अवशेष जर्मनी के हाइडेलबर्ग नगर के समीप प्राप्त हुआ है। इसकी खोपडी अप्राप्य है।
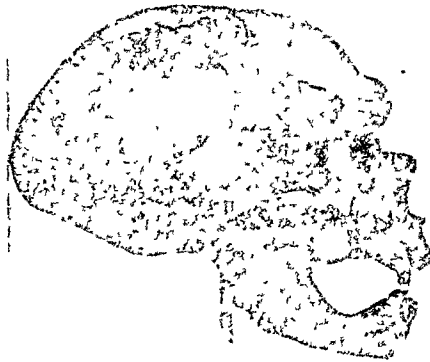
**फ्रान्स में प्राप्त पचास हजार वर्ष पूर्व की एक मानव खोपड़ी**

नासिका एवं भौह के ऊपर की अस्थि के उभार पर ध्यान दीजिए।

### योरप में प्राप्त अवशेष

अब हमारी प्राचीन मनुष्यो की खोज हमे दो महाद्वीपो के पार अर्थात् पूर्वी एशिया से पश्चिमी योरप को ले जाती है, क्योकि उपर्युक्त वर्णित प्रस्तर-विकल्पो के पश्चात् अन्य प्रस्तर-विकल्प जर्मनी मे पाए गए है।

उन जातियो के उपमनुष्य, जिनका विस्तृत वर्णन हम ऊपर कर चुके है, आपस में थोडी-बहुत विभिन्नता रखते हुए भी कई एक साधारण बातो में बिलकुल एक-जैसे हैं। यह बात बहुत ध्यान देने योग्य है कि इनके बहुत-से गुण बन्दरो मे मिलते है, परन्तु कुछ बातो में वे उन लक्षणो तक पहुँच गए है, जो वर्तमान मनुष्य के लक्षण कहे जा सकते है। जब कुम्हार कोई नई शक्ल का बर्तन बनाने का विचार करता है, तो पहले वह एक नमूना बनाता है। ठीक न बनने पर वह उसको बिगाडकर और कुछ बदलकर फिर से बनाता है। फिर भी वह यदि ठीक रूप का नही बना, तो उसे भी बिगाड डालता है। इसी प्रकार जब तक उसकी मनचाही शक्ल का बर्तन नही बन जाता, वह एक-के-बाद दूसरा बर्तन बनाता और बिगाडता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय प्रकृति भी कुम्हार की तरह वर्तमान मनुष्य को बनाने के लिए तरह-तरह के प्रयोग कर रही थी। उसने उपमनुष्य की कई जातियाँ एक दूसरे से थोडी-बहुत भिन्न करके बनाई। उनमें से एक ने वर्तमान मनुष्य का रूप ले लिया और वह अब तक बनी हुई है। शेष सब जातियाँ लुप्त हो गई। ऊपर वर्णित नमूनो के बाद आगे चलकर जो प्रस्तर-विकल्प मिले है, वे सब वर्तमान मनुष्य-जाति मे ही गिने जाते है, यद्यपि सबकी उपजातियाँ भिन्न-भिन्न है। इनमें से दो मुख्य उपजातियो का वर्णन हम यहाँ सक्षेप मे आपके सामने उपस्थित कर रहे है।

### पेलियनथ्रापस हाइडेलबर्जेन्सिस

१९०७ ई० में ओटो शूटेन्सक ने जर्मनी के हाइडेलबर्ग नामक स्थान मे लगभग छ मील की दूरी पर मनुष्य का एक पूरा नीचे का जबडा पाया था। लेकिन उसमे पत्थर का एक टुकडा ऐसा चिपका हुआ था कि उसे छुडाते समय बाई और

के कुछ दाँतों के टुकड़े पत्थर के साथ ही निकल गए। यह जवड़ा वहुत भारी है। इसका ऊपरी हिस्सा वहुत चौड़ा है, परन्तु ठोड़ी इसमें गायव है। पीछे की ओर जवड़े के दोनों वाजुओं के वीच का स्थान संकीर्ण है, जिसके कारण वह प्राणी अपनी जिह्वा सुविधापूर्वक हिला-डुला न सकता होगा। इससे यह समझ में आता है कि कदाचित् आज के

**नीएनडरथैल मानव और उसकी खोपड़ी**

दाहिनी ओर जिब्राल्टर में प्राप्त इस आदि मानव की संपूर्ण खोपड़ी का रेखाचित्र है। ऊपर उसी के चेहरे की एक काल्पनिक प्रतिकृति है, जो इसी खोपड़ी के आधार पर रचित है।

मनुष्य की तरह वोलने में वह समर्थ न रहा होगा। यह जवड़ा आज के मनुष्य के जवड़े से चौड़ा, वड़ा और विना ठोड़ी का है। फिर भी इसके दाँत केवल रूप मे ही नहीं, वरन् डील में भी विल्कुल वर्तमान मनुष्य-जैसे ही है। आजकल के ऑस्ट्रेलिया और टस्मानिया प्रदेश के कुछ आदिम निवासियों से भी उसके कीलदन्त छोटे है। उसकी दाढ़ें भी आजकल के मनुष्य से वड़ी नही है। अतः यह जवड़ा किसी भी कारण से वनमानुष का नही कहा जा सकता। दाँतों मे सादृश्य होने के कारण ही वहुत-से लोग इसे वर्तमान मानव की एक नई जाति मानते है और इसे **पेलियनथ्रापस हाइडेलवर्जेन्सिस** के नाम से पुकारते है। लेकिन कुछ लेखक यह मत रखते हैं कि यह जवड़ा साइनैनथ्रापस अथवा चीन में पाए गए मनुष्य और 'होमो' नामक वर्तमान मानव-जाति के मध्य की जाति का नही है। इसलिए इन लोगों ने इसे **होमो हाइडैलडेवन्सिस** का नाम दिया है।

यह जवड़ा २० वर्ष की खोज के वाद वालू के एक ढेर में ८२ फीट की गहराई में दवा हुआ पाया गया था। उसी गड्ढे में इसके साथ गैंडे, हाथी, विसन, मैमथ आदि अन्य जीवों की हड्डियाँ भी पाई गई थी। इनसे यह कहा जा सकता है कि यह मनुष्य प्लायस्टोसीन काल के प्रारंभिक समय में इस पृथ्वी पर अवश्य मौजूद रहा होगा। इसकी आयु लगभग ४ लाख वर्ष कूती जाती है। इस जवड़े के साथ-साथ वहुत कम गढे हुए या विना गढ़े हुए ऐसे कुछ वड़े-वड़े पत्थर के टुकड़े पाए गए है, जिन्हे देखकर यह जान पड़ता है कि उनसे औजार हथियार का काम लिया जाता होगा। चूँकि ऊपर लिखी हुई अन्य उपजातियों के साथ पाए गए पत्थरों से ये पत्थरों के टुकड़े अधिक वड़े है, इसलिए यह कहा जाता है कि जर्मनी में पाए गए इस मनुष्य का शरीर वड़ा तथा हाथ-पैर लम्वे रहे होंगे, जैसा कि उसके वड़े और चौड़े जवड़े से भी विदित होता है। जवड़े के अतिरिक्त इसके शरीर का और कोई अवयव अभी तक नही पाया गया है, इसलिए इसकी शक्ल-सूरत के विषय मे अभी अधिक कुछ नही कहा जा सकता। यह जवड़ा हाइडैलवर्ग के जियोलोजिकल इन्स्टीट्यूट में रक्खा है। पृ० २२६ पर इसका फोटो देखिये।

## होमो नीएनडरथलैनसिस

सन् १८४८ ई० में एक सैनिक अफसर को जिब्राल्टर के निकट वहुत-कुछ सुरक्षित एक खोपड़ी मिली थी। केवल उसका नीचे का जवड़ा खो गया था। इस खोपड़ी मे आँखों के गड्ढे काफी वड़े हैं और नाक के सूराख भी

आजकल की मानवीय खोपडियों से बहुत चौड़े और अधिक बड़े हैं। भौं की हड्डियाँ मोटी और उसके भीतर की समाई १३०० या १४०० c. c. है। यह खोपड़ी कई साल तक किसी प्राचीन मनुष्य-जाति की समझी जाती थी; किन्तु उसके मिलने के दस वर्ष पीछे जब जर्मनी में नीएनडरथल नामक घाटी में और हड्डियाँ पाई गई, तब पता चला कि जिब्राल्टरवाली खोपड़ी और ये हड्डियाँ एक ही जाति के मनुष्य की है, जो मौजूदा जाति के मनुष्यों से अन्य मानवीय प्रस्तर-विकल्पों की अपेक्षा अधिक समानता रखती है। इसलिए वे वर्तमान मानव-जाति "होमो" में ही सम्मिलित की जाती हैं और उनको होमो नीएन-डरथलैनसिस कहा जाता है। उस समय से अब तक बहुत-सी खोपड़ियाँ और अस्थिपंजर फ्रांस, बैल-जियम, स्पेन, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि देशों में पाई गई हैं। यही नहीं कुछ वर्ष हुए इसी उप-जाति के एक आठ वर्ष के बच्चे की खोपडी एशि-याई रूस के उजबेकिस्तान प्रान्त में भी पाई गई है! इससे पता चलता है कि यह उपजाति योरप में ही नहीं वरन् एशिया में भी फैली हुई थी। सबसे पूर्ण अस्थियाँ, जो इस आदमी की मिली हैं, फ्रांस में पाई गई है। इस मनुष्य की खोपडी पहलेवाली सब खोपडियों से बड़ी है, और इसके मस्तिष्क की समाई १६३० c. c. है।

**नीएनडरथल मानव के जीवन की एक कल्पित झाँकी**

निस्सन्देह यह चित्र कल्पित है, किन्तु विश्वास किया जाता है कि हमारे ये जंगली पूर्वज इसी तरह पर्वतों की गुफाओं के मुहानों पर बसते रहे होंगे तथा अपनी रक्षा एवं शिकार के लिए वैसे ही भौं, हथियार काम में लाते रहे होंगे, जैसे इनमें से एक के हाथ में दिखाया गया है।

नीएनडरथल मनुष्य के कल्पित चित्र को देखकर आप स्वयं ही समझ सकते है कि वर्तमान मनुष्य और उसमें क्या-क्या भेद है। उसकी खोपडी बहुत बडी परन्तु चपटी थी। चेहरा आगे को निकला हुआ था। ठोड़ी पीछे को दबी हुई और भौंहें ऊपर को उभरी हुई थी। उसकी टाँगें छोटी और मजबूत, हाथ-पैर बड़े, सिर रीढ की हड्डी पर एक अनोखे रूप से आगे को लटका हुआ-सा और कमर कुछ-कुछ वानरों-जैसी झुकी हुई थी। उसकी भुजाएँ बहुत लम्बी न थीं, और चलने-फिरने में घुटने आगे को मुड़े रहते थे। सब बातों का विचार करते हुए कहा जा सकता है कि यह नाटा और गठीला जीव था और उसकी ऊँचाई ५ फुट १ इंच से ५ फुट ४ इंच तक मानी जाती है। हमारी बहुत-सी मुख्य विशेषताएँ उसमें मिलती थी।

सर आर्थर कीथ का कहना है कि नीएनडरथल मनुष्य की रचना के विस्तार में वनमानुषों के बहुत-से लक्षण मिलते हैं, लेकिन वह उनके कारण न वनमानुषों में गिना जा सकता है, न हमारी जाति से पृथक् ही माना जा सकता है। वह योग्य की गुफाओं के मुहानों में या चट्टानों तथा पहाड़ों के लटकते भागों के नीचे निवास करता था। वह आग जलाना जानता था और चकमक पत्थर को काट-छाँटकर अपने काम के योग्य शस्त्र बना लेता था। उनमें लकडी के हत्थे लगा लेना भी उसे आता था। उस समय बहुत-से बड़े-बड़े स्तन-पोषित जीव धरती पर विद्यमान थे; उनमें बडे बालवाले गैंडे, मैमथ, भालू और व्याघ्र जैसे भयंकर जीव हमारे इस पूर्वज को हर समय चीर-फाड़कर खाने को तैयार थे। किन्तु वह गढे-गढाये पत्थरों, पेडो से तोडे हुए डंडों और हड्डी या पत्थर के भालों द्वारा उनसे अपनी रक्षा करता तथा इन्ही हथियारो से भोजन के लिए हिरन, भेड, बकरी, बिसन, आदि पशुओं को मारकर अपना जीवन-निर्वाह करता था। इसमें सन्देह नही कि हमारे इन पूर्वजों का जीवन बड़ा कठिन रहा होगा। उस समय योरप की जलवायु अब से कहीं अधिक ठंडी थी और ये लोग केवल गुफाओं और चट्टानों में ही सरदी और वर्षा से रक्षा पाते थे। वे गर्म वस्त्र तो क्या, कैसे भी वसन से शरीर ढकना नही जानते थे। हाँ, यह सम्भव है कि वे शिकार में मारे हुए जानवरों की खाल ओढ़कर

के कुछ दाँतों के टुकड़े पत्थर के साथ ही निकल गए। यह जवड़ा बहुत भारी है। इसका ऊपरी हिस्सा बहुत चौडा है, परन्तु ठोडी इसमें गायब है। पीछे की ओर जवड़े के दोनों बाजुओं के बीच का स्थान संकीर्ण है, जिसके कारण वह प्राणी अपनी जिह्वा सुविधापूर्वक हिला-डुला न सकता होगा। इससे यह समझ में आता है कि कदाचित् आज के
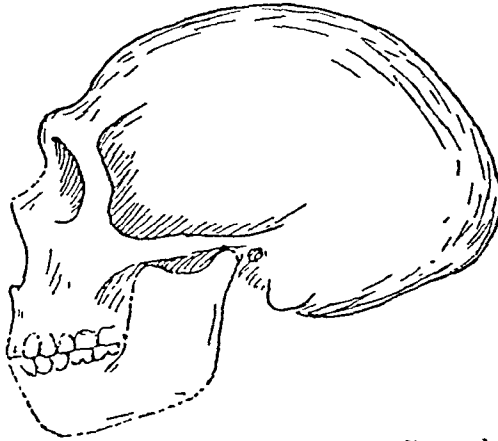
मनुष्य की तरह बोलने में वह समर्थ न रहा होगा। यह जवडा आज के मनुष्य के जवड़े से चौड़ा, वड़ा और विना ठोडी का है। फिर भी इसके दाँत केवल रूप में ही नहीं, वरन् डील में भी विल्कुल वर्तमान मनुष्य-जैसे ही है। आजकल के ऑस्ट्रेलिया और टस्मानिया प्रदेश के कुछ आदिम निवासियों से भी उसके कीलदन्त छोटे हैं। उसकी दाढ़ें भी आजकल के मनुष्य से वड़ी नहीं हैं। अतः यह जवड़ा किसी भी कारण से वनमानुष का नहीं कहा जा सकता। दाँतों में सादृश्य होने के कारण ही बहुत-से लोग इसे वर्तमान मानव की एक नई जाति मानते हैं और इसे **पेलियनथ्रापस हाइडेलवर्जेन्सिस** के नाम से पुकारते हैं। लेकिन कुछ लेखक यह मत रखते है कि यह जवड़ा साइनैनथ्रापस अथवा चीन में पाए गए मनुष्य और 'होमो' नामक वर्तमान मानव-जाति के मध्य की जाति का नही हैं। इसलिए इन लोगों ने इसे **होमो हाइडैलडेवन्सिस** का नाम दिया है।

यह जवड़ा २० वर्ष की खोज के वाद वालू के एक ढेर में ८२ फीट की गहराई में दवा हुआ पाया गया था। उसी गड्ढे में इसके साथ गैंडे, हाथी, विसन, मैमथ आदि अन्य जीवों की हड्डियाँ भी पाई गई थी। इनसे यह कहा जा सकता है कि यह मनुष्य प्लायस्टोसीन काल के प्रारंभिक समय में इस पृथ्वी पर अवश्य मौजूद रहा होगा। इसकी आयु लगभग ४ लाख वर्ष कूती जाती है। इस जवड़े के साथ-साथ वहुत कम गढ़े हुए या विना गढ़े हुए ऐसे कुछ वडे-वड़े पत्थर के टुकड़े पाए गए है, जिन्हे देखकर यह जान पड़ता है कि उनसे औजार हथियार का काम लिया जाता होगा। चूँकि ऊपर लिखी हुई अन्य उपजातियो के साथ पाए गए पत्थरो से ये पत्थरों के टुकड़े अधिक वड़े है, इसलिए यह कहा जाता है कि जर्मनी में पाए गए इस मनुष्य का शरीर वड़ा तथा हाथ-पैर लम्वे रहे होंगे, जैसा कि उसके वड़े और चौड़े जवड़े से भी विदित होता है। जवड़े के अतिरिक्त इसके शरीर का और कोई अवयव अभी तक नही पाया गया है, इसलिए इसकी शक्ल-सूरत के विपय में अभी अधिक कुछ नही कहा जा सकता। यह जवड़ा हाइडैलवर्ग के जियोलोजिकल इन्स्टीट्यूट में रक्खा है। पृ० २२९ पर इसका फोटो देखिये।

**नीएनडरथैल मानव और उसकी खोपड़ी**

दाहिनी ओर जिब्राल्टर में प्राप्त इस आदि मानव की संपूर्ण खोपडी का रेखाचित्र है। ऊपर उसी के चेहरे की एक काल्पनिक प्रतिकृति है, जो इसी खोपड़ी के आधार पर रचित है।

### होमो नीएनडरथलैनसिस

सन् १८४८ ई० में एक सैनिक अफसर को जिब्राल्टर के निकट वहुत-कुछ सुरक्षित एक खोपड़ी मिली थी। केवल उसका नीचे का जवड़ा खो गया था। इस खोपड़ी में आँखो के गड्ढे काफी वड़े हैं और नाक के सूराख भी

आजकल की मानवीय खोपड़ियों से बहुत चौड़े और अधिक बड़े हैं। भौं की हड्डियां मोटी और उसके भीतर की समाई १३०० या १४०० c. c. है। यह खोपड़ी कई साल तक किसी प्राचीन मनुष्य-जाति की समझी जाती थी; किन्तु उसके मिलने के दस वर्ष पीछे जब जर्मनी में नीएनडरथल नामक घाटी में और हड्डियां पाई गईं, तब पता चला कि जिब्राल्टरवाली खोपड़ी और ये हड्डियां एक ही जाति के मनुष्य की हैं, जो मौजूदा जाति के मनुष्यों से अन्य मानवीय प्रस्तर-विकल्पों की अपेक्षा अधिक समानता रखती हैं। इसलिए वे वर्तमान मानव-जाति "होमो" में ही सम्मिलित की जाती हैं और उनको **होमो नीएन-डरथलेनसिस** कहा जाता है। उस समय से अब तक बहुत-सी खोपडियां और अस्थिपंजर फ्रांस, बेल-जियम, स्पेन, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि देशों में पाई गई हैं। यही नहीं कुछ वर्ष हुए इसी उप-जाति के एक आठ वर्ष के बच्चे की खोपड़ी एशि-याई रूस के उजबेकिस्तान प्रान्त मे भी पाई गई है! इससे पता चलता है कि यह उपजाति योरप में ही नहीं वरन् एशिया में भी फैली हुई थी। सबसे पूर्ण अस्थियां, जो इस आदमी की मिली हैं, फ्रांस में पाई गई हैं। इस मनुष्य की खोपड़ी पहलेवाली सब खोपड़ियों से बड़ी है, और इसके मस्तिष्क की समाई १६३० c. c. है।

**नीएनडरथल मानव के जीवन की एक कल्पित झांकी**

निस्संदेह यह चित्र कल्पित है, किन्तु विश्वास किया जाता है कि हमारे ये जंगली पूर्वज इसी तरह पर्वतों की गुफाओं के मुहानों पर बसते रहे होंगे तथा अपनी रक्षा एवं शिकार के लिए वैसे ही भौं, हथियार काम में लाते रहे होंगे, जैसे इनमें से एक के हाथ में दिखाया गया है।

नीएनडरथल मनुष्य के कल्पित चित्र को देखकर आप स्वयं ही समझ सकते हैं कि वर्तमान मनुष्य और उसमें क्या-क्या भेद है। उसकी खोपड़ी बहुत बड़ी परन्तु चपटी थी। चेहरा आगे को निकला हुआ था। ठोड़ी पीछे को दबी हुई और भौंहें ऊपर को उभरी हुई थीं। उसकी टांगें छोटी और मजबूत, हाथ-पैर बड़े, सिर रीढ़ की हड्डी पर एक अनोखे रूप से आगे को लटका हुआ-सा और कमर कुछ-कुछ वानरों-जैसी झुकी हुई थी। उसकी भुजाएँ बहुत लम्बी न थीं, और चलने-फिरने में घुटने आगे को मुड़े रहते थे। सब बातों का विचार करते हुए कहा जा सकता है कि यह नाटा और गठीला जीव था और उसकी ऊँचाई ५ फुट १ इंच से ५ फुट ४ इंच तक मानी जाती है। हमारी बहुत-सी मुख्य विशेषताएँ उसमें मिलती थीं।

सर आर्थर कीथ का कहना है कि नीएनडरथल मनुष्य की रचना के विस्तार में वनमानुषों के बहुत-से लक्षण मिलते हैं, लेकिन वह उनके कारण न वनमानुषों में गिना जा सकता है, न हमारी जाति से पृथक् ही माना जा सकता है। वह योरप की गुफाओं के मुहानों में या चट्टानों तथा पहाड़ों के लटकते भागों के नीचे निवास करता था। वह आग जलाना जानता था और चकमक पत्थर को काट-छांटकर अपने काम के योग्य शस्त्र बना लेता था। उनमें लकड़ी के हत्थे लगा लेना भी उसे आता था। उस समय बहुत-से बड़े-बड़े स्तन-पोषित जीव धरती पर विद्यमान थे; उनमें बड़े बालवाले गैंडे, मैमथ, भालू और व्याघ्र जैसे भयंकर जीव हमारे इस पूर्वज को हर समय चीर-फाड़कर खाने को तैयार थे। किन्तु वह गढ़े-गढाये पत्थरों, पेड़ों से तोड़े हुए डंडों और हड्डी या पत्थर के भालों द्वारा उनसे अपनी रक्षा करता तथा उन्हीं हथियारों से भोजन के लिए हिरन, भेड़, बकरी, बिसन, आदि पशुओं को मारकर अपना जीवन-निर्वाह करता था। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे इन पूर्वजों का जीवन बड़ा कठिन रहा होगा। उस समय योरप की जलवायु अब से कहीं अधिक ठंडी थी और ये लोग केवल गुफाओं और चट्टानों में ही सरदी और वर्षा से रक्षा पाते थे। वे गर्म वस्त्र तो क्या, कैसे भी वसन से शरीर ढकना नहीं जानते थे। हां, यह सम्भव है कि वे शिकार में मारे हुए जानवरों की खाल ओढ़कर

अपनी रक्षा करते हों। पर गर्मी भर तो वे अवश्य ही बिलकुल नंगे रहते थे। इससे हम यह समझ सकते हैं कि शीतकाल में उनका जीवित रहना बड़ा कठिन हो जाता होगा। आज के दिन भी कहीं-कहीं ऐसी जंगली नस्लों के लोग पृथ्वी पर बाकी हैं, जो करीब-करीब नंगे रहते हैं। कहीं-कहीं पृथ्वी पर ऐसे भी असभ्य मनुष्य अभी मौजूद हैं, जो अपने उन नीएनडरथल पूर्वजों की ही तरह आज भी पत्थर, हड्डी और लकड़ी के औजारों का प्राचीन रीति से प्रयोग कर अपना जीवननिर्वाह करते हैं। यह भी निश्चय है कि नीएनडरथल लोग अपने मुर्दों को जमीन में गाड़ दिया करते थे और गाडते समय शव के साथ वे थोड़ी-सी भोजन-सामग्री तथा मृत मनुष्य की एक-आध प्रिय वस्तुएँ भी रख दिया करते थे। यही कारण है कि इन लोगों के बहुत-से अस्थि-पंजर हमें आसानी से भिन्न-भिन्न देशों में प्राप्त हुए हैं, जिनसे पता लगता है कि यह उपजाति सारे योरप तथा पश्चिमी एशिया के पैलेस्टाइन-जैसे कुछ भागों में फैली हुई थी। इन्हीं से बहुत-कुछ मिलती-जुलती एक उपजाति की अन्य एक शाखा अफ्रीका महाद्वीप में भी फैली हुई थी, जिसकी कि खोपडी रहोडेसिया में पाई गई है (दे० पृ० २३४ का चित्र)।

अब सवाल यह उठता है कि नीएनडरथल जाति के ये लोग, सारे योरप और निकट के अन्य देशों में भी फैल चुकने पर भी सब-के-सब एकाएक कैसे लुप्त हो गए! यह वास्तव में एक रहस्य है, जिसको विद्वान् अभी तक ठीक से नहीं सुलझा सके हैं। यह तो निश्चित है कि ये लोग पृथ्वी पर लगभग दो लाख वर्ष तक रहे, और यह भी सिद्ध हो चुका है कि अन्तिम हिम-प्रलय के समय ये अवश्य सारे योरप महाद्वीप में फैले हुए थे। उनके अवशेष गुफाओं तथा नीची समतल भूमि में बर्फ से बहाई हुई मिट्टी और पत्थरों से दबे-दबाये हुए मिले हैं। कहा जाता है कि यह हिम-प्रलय अब से दो लाख चालीस हजार वर्ष पहले योरप में शुरू हुआ था। किंतु इसके पहले कि अपने इन पूर्वजों का और अधिक हाल बताया जाय, हम आपको यह बताना

**अवशेषों के आधार पर रचित हाइडेलबर्ग मानव तथा उसके समकालीन जंतुओं का आकार-प्रकार**

हाइडेलबर्ग मानव का केवल जबड़ा ही पाया गया था, जिससे विदित होता है कि उसका शरीर बड़ा तथा हाथ-पैर लंबे रहे होंगे। बहुत संभव है कि यह ऐसा ही दिखता रहा हो, जैसा ऊपर के चित्र में सबसे ऊपर की पंक्ति में बाईं ओर के कोने में दिखाया गया है। इस मानव के जबड़े के साथ-साथ जिन अन्य समकालीन जानवरों की अस्थियाँ मिली हैं, उनके आकार और रूप की बहुत-कुछ निश्चित कल्पना की जा सकती है। ऊपर के चित्र में हाथी का पुरखा मैमथ, कटार जैसे दाँतवाला बाघ, ऊनी बालवाला गैंडा, जंगली घोड़ा तथा कस्तूरी बैल आदि प्रदर्शित हैं, जिनके अवशेष प्राप्त हुए हैं।

उचित समझते हैं कि हिम-प्रलय का अर्थ क्या है। इस संबंध में यह याद रखना जरूरी है कि योरप और उत्तरी तथा मध्य एशिया का जलवायु जैसा आजकल है, वैसा सदैव नहीं रहा है। कहते हैं, उत्तरी अमेरिका तथा ध्रुव-प्रदेशों में आजकल जैसी सर्दी पड़ती है, उससे भी अधिक ठंडक इन देशों में कई बार हो चुकी है। जब ऐसे शीत-काल योरप और उत्तरी एशिया मे आए थे, तब वहाँ की धरती पर पहाड़ो से बही हुई बर्फ की चादर छा गई थी, और जाड़े के मारे समुद्रों का जल भी जम गया था। इस अत्यन्त ठंडी दशा में लाखों वर्ष तक ये देश रहे, और फिर धीरे-धीरे अपनी असली अवस्था में आ गए। जब पृथ्वी से बर्फ गलकर बह गई, तब अति शीत दूर हो जाने पर जलवायु फिर गर्म हो गया। ऐसी महान् ठंडक के फैलने को ही हिम-प्रलय कहा गया है। यह जरूरी नहीं कि जब ये हिम-प्रलय के काल पृथ्वी के मुख्य भागों पर आए हों, तब वहाँ एकदम प्रलय ही हो गया हो। भूगर्भवेत्ता कहते हैं कि हिम-प्रलय जब आने लगता है, तब वह धीरे-धीरे फैलता है, और लाखों वर्ष तक उसका सिलसिला लगा रहता है; और जैसे धीरे-धीरे उसका प्रवेश होता है, वैसे ही धीरे-धीरे उसकी समाप्ति भी होती है। यहाँ यही लिखना पर्याप्त होगा कि उपमनुष्य के आरम्भ से अब तक इस तरह के कम-से-कम तीन हिम-प्रलय योरप में हो चुके हैं।
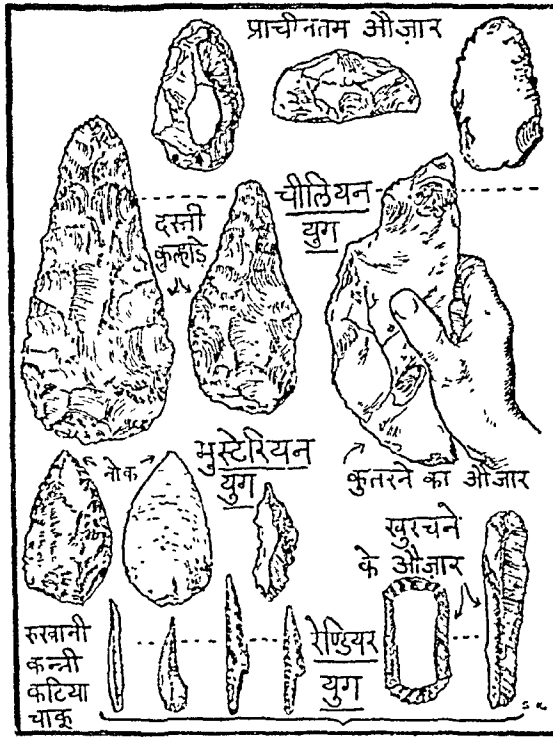
**आदिम मनुष्य के अब तक मिले सबसे प्राचीन पत्थर के औजारों और हथियारों के कुछ नमूने**

चीलियन और मुस्टेरियन युग के औजार नीएनडरथल मनुष्यों के, और रेण्डियर युग के औजार क्रोमैगनन अर्थात् असली मनुष्य के हैं। सबसे ऊपर की पंक्ति में एक ही औजार के तीन भिन्न-भिन्न पहलू के चित्र हैं। यह या तो नीएनडरथलों का रहा होगा या उनसे भी पूर्व के अर्द्ध-मानवों का।
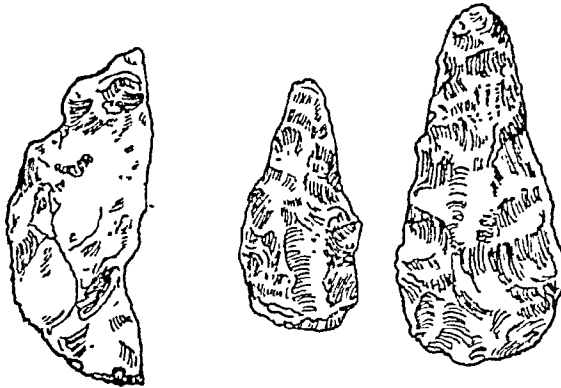
**हाइडेलबर्ग मानव के जबड़े के साथ प्राप्त पत्थर के कुछ औजार**

इनमें से कुछ हाथ से पकड़ने के लिए गढ़े गए थे। इससे ज्ञात होता है कि इस युग का मानव काफी उन्नत औजार-हथियार बनाने लगा था।

कहते हैं, जब योरप में अन्तिम हिम-प्रलय का जोर हो रहा था, तब बर्फीले प्रदेशों में रहनेवाले बारहसिंघे जैसे जीव भी अधिक ठंड न सह सकने के कारण योरप के कम ठंडे दक्षिणी प्रदेश (जैसे स्पेन आदि) में चले आए थे। उन्हीं की तरह नीएनडरथल मनुष्य भी कड़ी सर्दी और बर्फ से भूमि ढक जाने के कारण निपीडित हुए होंगे। उनमें से कई तो मर गए होंगे और जो कुछ बचे होंगे वे योरप के दक्षिणी देशों मे ही रहे होंगे। जब योरप में हिम-प्रलय का प्रभाव कम होने लगा, और फिर गर्मी का संचार हुआ, तो एशिया से मनुष्य की एक और उपजाति आकर सारे योरप में फैलने लगी। इस नई उपजाति ने बचे-खुचे नीएनडरथल मनुष्यों को या तो मार डाला, या अपने मे मिला लिया; क्योंकि हालैण्ड,

आयरलैण्ड आदि देशों के निवासियों में अब भी उनके-से कुछ चिह्न मिलते हैं। इस एशियावाली नई उपजाति के लोग योरप के पुराने बाशिन्दे नीएनडरथल लोगों से डील-डौल में लम्बे, हृष्ट-पुष्ट तथा बुद्धिमान थे। इनको हम वर्तमान मनुष्य-जाति मे ही गिनते हैं और **होमो सेपियेन्स** के नाम से पुकारते हैं। पर ये वर्तमान नस्लो और वंशो से भिन्न थे, और आम तौरसे हम इनको **क्रोमैगनन** मानव कहते हैं।

## होमो र्‌होडेशियेन्सिस

सन् १६२१ में दक्षिणी अफ्रीका में र्‌होडेशिया की एक गुफा मे एक पूर्ण मनुष्य की खोपड़ी मिली थी, जिसमें नीचे का जबड़ा नही था। इस खोपड़ी मे भौं की हड्डी वर्तमान मनुष्य की अपेक्षा अधिक उभरी हुई, चेहरा बडा, तथा माथा नीचे की ओर दबा हुआ था। फ्रास में पाए गए नीएनडरथल मनुष्य की खोपड़ी से इस खोपड़ी में बड़ा छेद (जिसके पास खोपडी गर्दन से मिलती है) अधिक आगे को बढा हुआ था, जिससे मैकर्डी ने यह परिणाम निकाला है कि र्‌होडेशिया का मनुष्य नीएनडरथल मनुष्य से ज्यादा सीधा खड़ा हो सकता होगा। किन्तु ब्रूम का मत है कि खोपडी के अगले भाग के आकार से यही नतीजा निकलता है कि अफ्रीकावाला यह आदमी भी बहुत-कुछ कमर झुकाकर ही चलता रहा होगा। इसके दाँत करीब-करीब वर्तमान मानव-जाति जैसे ही थे। इसकी खोपड़ी की समाई लगभग १२८० c.c. है (जो लाक्षणिक नीएनडरथल मनुष्य की खोपड़ी से बहुत कम है)। यह करीब-करीब जिब्राल्टरवाली खोपड़ी के ही बराबर है। इसके अतिरिक्त कई और भी बाते है, जिनके कारण ब्रूम के मत मे यह र्‌होडेशियन जाति, मनुष्य से भी नीचे की है, तथा जिब्राल्टरवाले मानव से वह अधिक मिलती-जुलती है। उधर स्मिथ और पाईक्राफ्ट की राय है कि र्‌होडेशिया का आदमी वर्तमान मनुष्य और नीएनडरथल मनुष्य के बीच का है। चाहे र्‌होडेशियन आदमी होमो जाति का ही सदस्य माना जाय या उससे भिन्न जाति (सीफेनथोस) में सम्मिलित किया जाय, यह कहना उचित होगा कि उसमे नीएनडरथल मनुष्य के कई लक्षण मिलने पर भी उनके विशेष लक्षण बिल्कुल नहीं पाये जाते। उसके ऊपरी जबड़े और दोनों जबड़ों के मिलने के स्थान की सतह से विदित होता है कि उसका जबडा हाइडैलबर्गवाले जबड़े से भी अधिक भारी रहा होगा और वनमानुष जैसी उसकी उठी हुई भौहों से कहा जा सकता है कि यह जीव करीब-करीब मनुष्य का-सा रहा होगा। हाँ, वास्तविक मनुष्य के बच्चे तो उसे देखकर जरूर ही डर जाते होंगे। यह संभव है कि वास्तविक मानव-काल तक ये प्राणी जीवित रहे हों और दक्षिणी अफ्रीका में कुछ समय तक वे असली मनुष्य के साथी भी रहे हों।

**र्‌होडेशिया का मानव**

नीचे अफ्रीका से प्राप्त इस आदि मानव की खोपडी दी गई है और ऊपर उसी के आधार पर निर्मित उसका चेहरा प्रदर्शित है।

## होमो सोलोएन्सिस

सन् १६३१ मे हालैंड के एक भूगर्भवेत्ता ने जावा में उस स्थान से ६ मील हटकर, जहाँ ४० वर्ष पहले पिथैकेन्थ्रापस इरैक्टस की खोपड़ी पाई गई थी, सोलो नदी के किनारे मनुष्य की एक नई उपजाति की खोपडी पाई है। यह खोपड़ी वैसे तो सब तरह से उत्तम है। परन्तु इसमे चेहरे की हड्डियाँ और जबड़े नही हैं। भौं की हड्डियाँ बहुत बड़ी हैं, माथा बैठा हुआ है और उसके मस्तिष्क की समाई जावा या पेकिंग के

मनुष्यों (जिनका कि वर्णन हम पहले कर चुके है) की ही तरह है ; परन्तु अधिक होने के कारण वह ऊँचे दर्जे की समझी जाती है। सर आर्थर कीथ का विचार है कि यह खोपड़ी होमो जाति की सबसे प्राचीन उपजाति की है और वह इसे नीएनडरथल एवं र्‌होडेशियावाली उपजाति से भी नीचा स्थान देते है। उनका कहना है कि पुरानी दुनिया के इस भाग में मनुष्य का विकास इस क्रम से हुआ—(१) पिथैकेन्थ्रापस, (२) साइनैनथ्रापस, (३) होमो सोलोएन्सिस, (४) आस्ट्रेलिया के जीवित आदिम मनुष्य। किन्तु ब्रूम उसको होमो जाति से भिन्न 'जावनथ्रापस' जाति में रखते है और वह इसे साइनैनथ्रापस और र्‌होडेशियैन्सिस के बीच का समझते है। मेरी समझ में लीकी की राय, जो उन्होंने "आदम के पूर्वज" नामक पुस्तक में प्रकट की है, अधिक उचित जान पड़ती है कि जब तक कि इस खोपड़ी और उसके साथ के पाए गए अन्य जानवरों के शेष भागों का ठीक-ठीक पूरा हाल न मालूम हो, तब तक निश्चित रूप से इसके विषय में यह नही कहा जा सकता कि उसका ठीक-ठीक स्थान क्या है। सम्भव है, यह खोपड़ी मनुष्य की जीवित उपजाति होमो सेपियन्स का ही एक रूप हो।

इस खोपड़ी के साथ अन्य पशुओ के जो प्रस्तर-विकल्प पाए गए है, उनसे यह जान पड़ता है कि यह प्लायस्टोसीन काल के मध्य या ऊपरी तहो के समय की है।

दक्षिणी अफ्रीका मे एक और बहुत प्राचीन प्रस्तर-विकल्प बौसकोप नामक नस्ल के मिले है, जो बिल्कुल वहाँ के वर्तमान मनुष्य की नस्ल—बुशमैन—से मिलते-जुलते है। इसी प्रकार ग्रिमाल्डी आदि और भी कुछ नस्लों की हड्डियाँ अन्य देशों में पाई गई है, जिनका वर्णन हम यहाँ करना आवश्यक नहीं समझते।

## होमो सेपियेन्स की क्रोमैगनन जाति

नीएनडरथल मनुष्य के प्रस्तर-विकल्पो के पश्चात् योरप में जो खोपड़ियाँ और हड्डियाँ गुफाओं और धरती की तहों में दबी पाई गई है, वे उससे अधिक लम्बी, समझदार और हर प्रकार से मानुषिक एक उपजाति की है, यह हम ऊपर बतला चुके है। यह निश्चय है कि ये लोग वर्तमान मनुष्य की ही उपजाति के थे। इनकी बहुत-सी पूर्ण हड्डियाँ योरप के कई देशो मे मिली है, जिनसे उनके रहन-सहन का पूरा पता चलता है। पहले हम आपको थोड़ा-सा हाल इनमें की कुछ मुख्य हड्डियों का बतलाएँगे, तब उनके विषय के भिन्न-भिन्न मतों पर दृष्टिपात करेंगे।

वेल्स म पैवीलैण्ड की गुफा मे सन् १८२३ ई० में एक मानव-ठठरी खोदी गई थी, जो गेरू मे रँगी हुई थी। ये हड्डियाँ उस समय तो प्राचीन मनुष्य की नही समझी गई, जैसी कि नीएनडरथल की जिब्राल्टर में पाई हुई खोपड़ी का हाल हुआ। किन्तु जब ४५ वर्ष पीछे फ्रास और इटली मे भी इसी प्रकार की और हड्डियाँ मिली और वे क्रोमैगनन जाति की समझी गई, तब यह ठठरी भी उसी नस्ल की मानी गई। जब यह ठठरी वेल्स में पाई गई थी, तब उसे स्त्री की मानकर उस हड्डीवाले प्राणी का 'पैवीलैड की लाल स्त्री' का नाम धर दिया गया। बाद को निश्चय किया गया कि वह पुरुष की ठठरी थी। अब यह ठठरी आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अजायबघर में रक्खी हुई है।

फ्रास में कई स्थानों पर चट्टानो के नीचे सन् १८६८ से लेकर १९२४ तक बहुत-सी खोपड़ियाँ और हड्डियाँ खोदी जा चुकी है। इनमें से मुख्य वे है, जो १८६८ ई० मे डौरडौग्ने नगर के एक गाँव मे क्रोमैगनन नामक चट्टानी आश्रय से खोदी गई थी। इनमें ५ प्राणियों के अस्थि-पंजरो के भाग है, जिनमें एक बूढे आदमी की खोपड़ी तथा एक औरत की खोपड़ी है। ये दोनो खोपड़ियाँ होमो सेपियन्स उपजाति की-सी है और उनके साथ वाली जाँघ की हड्डियों से सूचित होता है कि ये लोग आजकल के फ्रासीसियो से लम्बे होते थे। स्त्री की खोपड़ी को देखने से पता चलता है कि वह माथे पर चोट खाकर मरी थी और बूढे आदमी की जाँघ की हड्डी टूट गई थी, लेकिन वह उसकी मृत्यु से पहले पुन: जुड गई थी। उसके जबड़े और दाँतों को देखकर यह भी कहा जाता है कि उसको दाँतों से मवाद निकलने का पायरिया नामक रोग था।

ये हड्डियाँ पिछले पाषाण-काल की है तथा उनके साथ बहुत-सी हाथ की बनाई हुई वस्तुएँ पाई गई है। ये चीजें नीएनडरथल जाति की बनाई हुई वस्तुओ से अधिक सुन्दर और उपयोगी है। ये महत्त्वपूर्ण अवशेष पेरिस के अजायबघर में सुरक्षित है।

इटली में भी तीन-चार गुफाओं से कई हड्डियाँ क्रोमैगनन जाति के मनुष्यों की मिली है। इनमें स्त्री, पुरुष और बालक सभी की हड्डियाँ है। कैवीलन गुफा में मिली हुई ठठरी एक लम्बे कद के युवक की है। गाड़ते समय उसके साथियों ने उसे रंग-बिरंगी सीपी और घोंघों की माला से सजाकर दफन किया था तथा उसके साथ हड्डी का एक लम्बा नोकीला औजार एवं चकमक पत्थर के अन्य कई हथियार भी रक्खे थे। बरमा देश की एक अन्य भारी गुफा

में भी कई अस्थियां खोदकर निकाली गई हैं। इनमें एक जगह तीन लाशें एक साथ दफन की गई थीं, जो एक युवक, एक युवती तथा एक पन्द्रह वर्ष के लड़के की हैं। ये तीनों एक ही गड्ढे में वेल्सवाली ठठरी की भाँति गेरू में रँगी हुई मिली थीं और गेरू से ही ढकी हुई थीं। इनके साथ भी पत्थर के शस्त्र तथा नाना प्रकार के आभूषण एवं एक आकर्षक कंठा मिला है। इसी प्रकार की और भी बहुत-सी ठठरियाँ जर्मनी तथा पूर्वी योरप के देशों में खोजी गई हैं।

इन सबसे यह ज्ञात होता है कि क्रोमैगनन मनुष्य नीएनडरथलों से अधिक लम्बे थे, क्योंकि उनकी टाँग की हड्डियाँ नीएनडरथलों की अपेक्षा अधिक लम्बी हैं। उनकी ठोडी और माथा भी उनसे अधिक सुस्पष्ट हैं। ये लोग एक तो अपने कद या ऊँचाई के कारण और दूसरे कला-कौशल की योग्यता के कारण भी अपूर्व थे। एक वृद्ध पुरुष की ठठरी की लम्बाई ६ फीट ४ इंच से भी कुछ अधिक है तथा एक स्त्री का पंजर ५ फीट ५ इंच है। इससे निश्चय होता है कि उनकी औरतें भी आजकल के औसत मनुष्य से लम्बी होती थीं। उनके सिर भी बड़े थे। वे चुस्ती से बिल्कुल सीधे खड़े होते थे। उनके कंधे तनिक भी नहीं झुकते थे और न उनके भावों से सुस्ती ही झलकती थी। उनके शानदार डील-डौल में लम्बे पंजाबी, अफगान या मध्य एशिया के कुछ निवासियों का ध्यान आ जाता है।

उनकी दूसरी विशेषता कला में प्रवीणता थी। जिन गुफाओं में वे रहते थे, उनकी दीवालों और छतों पर अपनी चित्रकारी के अनुपम उदाहरण उन्होंने छोड़े हैं। फ्रांस की एक प्रसिद्ध गुफा फौन्त-द-गौंमे तो यथार्थ में उस समय के पशुओं की चित्रशाला-सी है। नीची-ऊँची दीवालों पर बहुत-से मैंमथ, बारहसिंघे, बिसन, घोड़े आदि के रंग-बिरंगे चित्र वहाँ खिंचे हुए हैं और एक भवरे गैंडे की भी अद्भुत तस्वीर बनी है। बहुत-सी और भी गुफाएँ तथा चट्टानी आश्रय स्पेन और फ्रांस में हैं, जिनमें इन आदमियों की बनाई हुई तस्वीरें और मूर्तियाँ मौजूद हैं। इनको देखकर हम
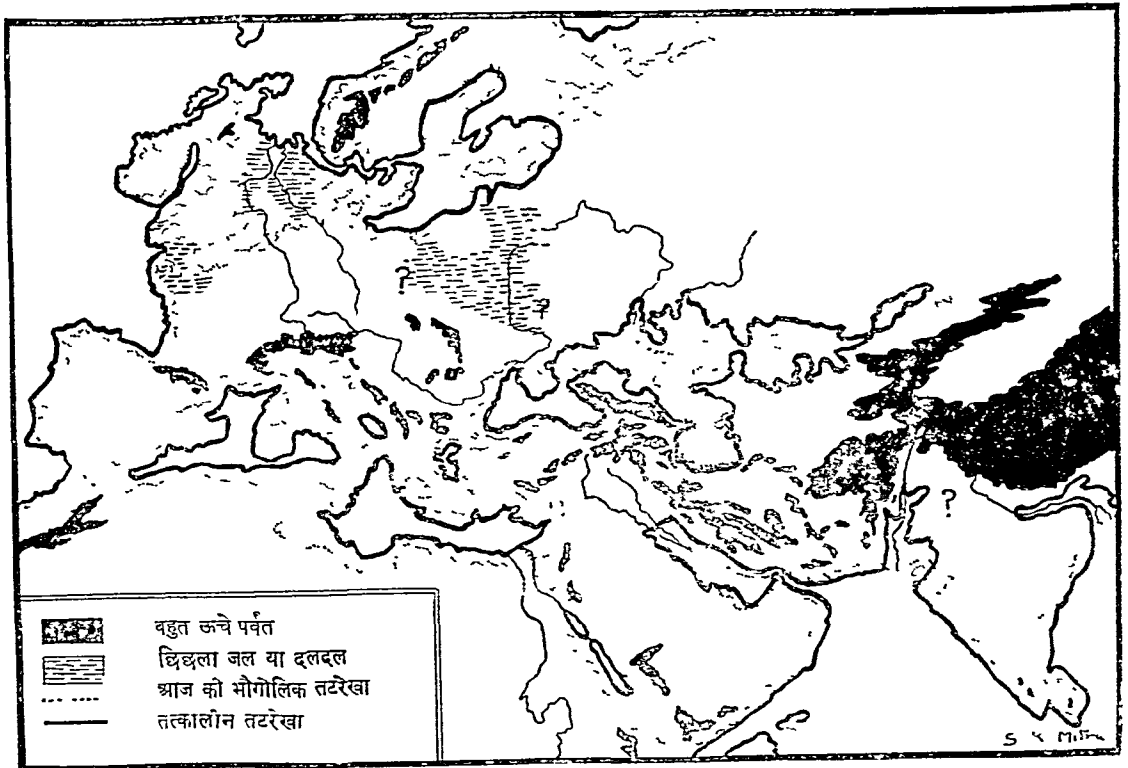
**उत्तर पाषाण-युग में ३५ हजार से २८ हजार वर्ष पूर्व योरप, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका की रूपरेखा की एक कल्पना**

यह उन दिनों की दुनिया का मानचित्र है, जब अन्तिम हिम-प्रलय समाप्त हो रहा था। इसी समय योरप में क्रोमैगनन जाति के मानव विचरते रहे होंगे। जहाँ '?' चिह्न लगा है, वहाँ सम्भवतः स्थल के स्थान में जल रहा होगा ऐसी धारणा की जाती है।
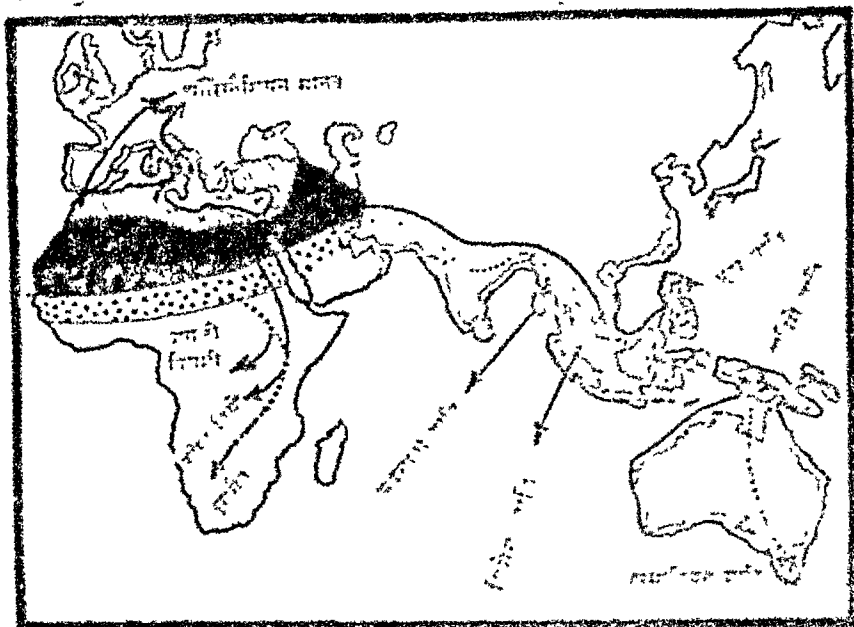
पता नहीं कैसे ये लोग भी अपने पूर्वजों की तरह पृथ्वी से लुप्त हो गए! उनमें हमें कम-से-कम इस बात की झलक अवश्य मिलती है कि मनुष्य क्योंकर एक आक्रमणकारी और आत्मनिर्भर जीव बना। कैसे उसकी श्रेष्ठ बुद्धि ने उसे सारे जीव-जगत् पर अधिकार प्राप्त करने के योग्य बनाया, जिससे वह सदा विजयी बना रहा; साथ ही क्योंकर उसमें साहस और जिज्ञासा की वृत्ति उत्पन्न हुई।

अपने प्राचीन पूर्वजों की इस कहानी को हम वर्तमान मनुष्य की सबसे पहली उपजाति तक पहुँचा चुके हैं। इसके बाद उत्तरी पाषाण-काल का आरम्भ होता है। इस काल में मनुष्य गुफाएँ छोड़कर बाहर खुले में रहने लगा तथा अपनी सुविधा के लिए कुत्ते पालने लगा था। उसके हथियारों में भी पहले से बहुत अधिक उन्नति हो गई थी। भाले, धनुष, बाण, कुल्हाड़ी आदि कई एक शस्त्र अब उसे शिकार में सहायता देते थे। इनका वर्णन 'इतिहास की पगडंडी' स्तंभ में मिलेगा।

पृथ्वी की अब तक की आयु तथा जीवों के इतिहास पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि मानव-जाति की अभी शैशवावस्था ही है। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि पृथ्वी को बने कम-से-कम १६ करोड़ वर्ष तथा अधिक-से-अधिक ३० करोड़ वर्ष बीत चुके हैं। पृथ्वी पर जीवन का विकास हुए इसका केवल चतुर्थांश समय व्यतीत हुआ है। उसमें भी पृष्ठवंशी जीवों का पता पृथ्वी के इतिहास के पाँचवें या छठे भाग से लगता है। उधर प्राचीन से प्राचीन उपमनुष्य को—जो मनुष्य कहा जा सकता है, वन-मानुष नहीं—पृथ्वी के रंगमंच पर आए १ करोड़ वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ। मनुष्य की वर्तमान उपजाति को उत्पन्न हुए तो अभी १० लाख वर्ष भी नहीं हुए। यदि पृथ्वी की आयु का औसत २३ करोड़ वर्ष मान लिया जाय, तो मनुष्य की आयु उसका केवल २३०० वाँ भाग है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य पृथ्वी पर अभी केवल उग ही रहा है अथवा वह इस समय केवल अपनी बाल्यावस्था में ही है। यदि उसने बचपन में ही (इतने थोड़े से ही समय में) इतनी उन्नति कर ली है कि वह पृथ्वी के जीवों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम हो गया है, तो फिर भला कौन कह सकता है कि आगे चलकर मानव-जाति क्या-क्या उन्नति करेगी और बदलकर क्या से क्या हो जायगी? वैज्ञानिकों का विचार है कि पृथ्वी को अभी इतनी अधिक ठंडी होने में कि उस पर जीवन असम्भव हो जाय, युग-के-युग बीत जायँगे। यह विश्वास किया जाता है कि जितने वर्ष जीवन के प्रारम्भ से अब तक बीते हैं, कम-से-कम उतने ही समय तक अभी और उस पर प्राणी बने रह सकेंगे। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य का विकास अचानक ही हो गया या प्रकृति की इस कारीगरी के पीछे कोई और समझदार शक्ति भी है? पृथ्वी के रंगमंच पर एक के बाद दूसरे नाना प्रकार के जीवों का लगातार प्रकट होना किसी प्राकृतिक शक्ति के कारण ही प्रतीत होता है, जिसके कारण मछली जैसे नीची श्रेणी के जीव से अंत में बुद्ध और गांधी जैसे महापुरुष बन गए। ब्रूम का कथन है कि जीवनधारा का आरम्भ, जो वर्तमान परिणाम से बिल्कुल विभिन्न था तथा जिसका विकास इतने धीरे-धीरे और एक के बाद दूसरी सीढ़ी पर चढ़कर हुआ है, अवश्य ही कोई विशेष अर्थ रखता है तथा किसी अज्ञात शक्ति द्वारा ही हुआ है। इस विद्वान् के अनुसार तो यह पहले से ही निश्चित था कि सोच-विचार करनेवाला मनुष्य ही पृथ्वी के अब तक के समस्त विकासों का मुख्य लक्ष्य बने।
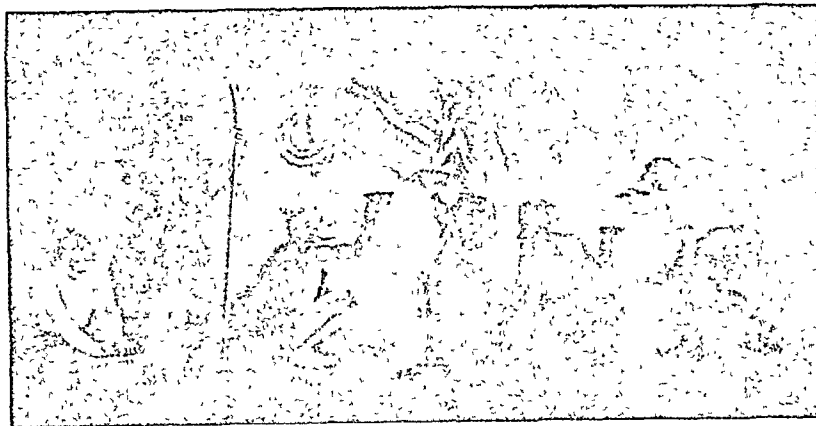
**क्रोमैगनन मानव**

मानव जाति के इन प्रतिभाशाली पुरखों ने कदाचित् इसी तरह मशाल या दीपक के प्रकाश में अँधेरी गुफाओं की दीवारों पर अपने द्वारा छोड़े गए अद्भुत चित्र बनाए होंगे।
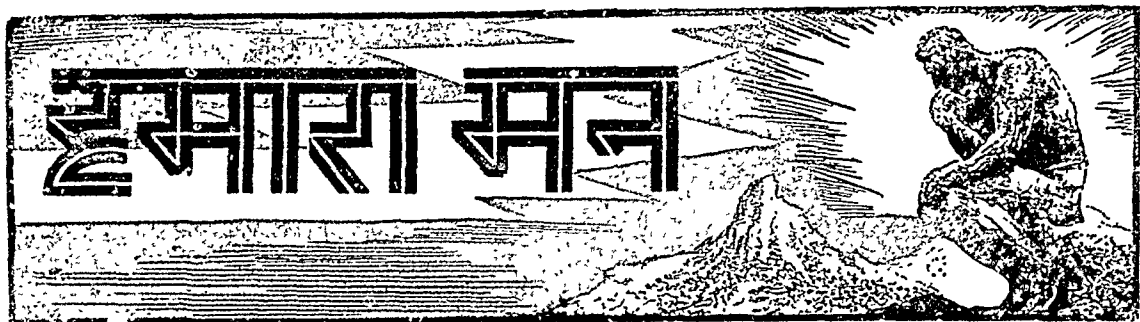
# संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य—मानव मस्तिष्क या मन

**मनुष्य के भौतिक स्थूल स्वरूप का निदर्शन करने के बाद जिस वस्तु पर स्वभावतः हमारी निगाह जाती है, वह है उसका अद्भुत् मस्तिष्क, जिसकी बदौलत वह आज के दिन अन्य जीवधारियों को पीछे ढकेलकर पृथ्वी का एकमात्र स्वामी बन बैठा है। वास्तव में, मस्तिष्क की विशेषता ही के कारण मनुष्य अन्य जानवरों से निराला है। रेल, हवाई जहाज, बिजली, इमारतें, नगर, गाँव, खेती, कल-कारखाने, व्यापार, उद्योग, साहित्य, कला, ये सब मनुष्य के मस्तिष्क ही की उपज तो है, उसी की करामात तो है। सच पूछिए तो मनुष्य के मस्तिष्क से अधिक आश्चर्यजनक वस्तु दुनिया में और कोई है नहीं। यह मस्तिष्क या मन क्या वस्तु है, आइए देखें !**

हर जीवधारी अपनी परिस्थिति के अनुसार आचरण करता है, यहाँ तक कि सूक्ष्म कीटाणु भी विपरीत परिस्थितियों से भागते है और अनुकूल परिस्थितियों की ओर बढते चलते है। जीवन की हर दिशा में हम देखते है कि आसपास की इन्ही परिस्थितियों के अनुसार आचरण करना ही जीवन का चिह्न है, जिसकी अभिव्यक्ति हमारी अनुभूति, विचारशक्ति और कर्तृत्व-शक्ति के रूप मे होती रहती है। किन्तु यह अनुभूति, विचारशक्ति और कर्तृत्व-शक्ति आखिर आती कहाँ से है, इनका केन्द्र कहाँ है ?

आपने मरे हुए प्राणियो को देखा होगा। उनके हाथ-पैर, अंग-प्रत्यंग सब कुछ जीवित प्राणियों की तरह ही होते है। पर उनमें अनुभूति नहीं होती। विचार-शक्ति नही होती। गति अथवा कर्तृत्व-शक्ति नही होती। जीवित प्राणियो पर यदि कोई सामने से डंडा ताने, तो वे अवश्य उसका प्रतिकार करेगे। वे या तो भागेगे या प्रत्याक्रमण करेंगे, पर मृत प्राणी ऐसा नही कर सकते। जीवित प्राणी के शरीर मे अगर कोई कहीं पर सुई चुभावे तो या तो वह वहाँ से टल जायगा या प्रतिकार करेगा, पर मृत प्राणी ऐसा नही कर पाता, इसलिए कि उसकी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, इच्छित और अनिच्छित, दोनों तरह की अनुभूति, तथा विचार-शक्ति और कर्तृत्व-शक्ति मर चुकी होती है। इससे और आगे बढ़कर यदि आप किसी सोए हुए प्राणी को देखें तो डडा तानने पर तो वह प्रतिकार नही करेगा, पर सुई चुभाने पर अवश्य ही प्रतिकार करेगा, क्योकि उसकी प्रत्यक्ष और इच्छित अनुभूति, विचार-शक्ति तथा कर्तृत्व-शक्ति मात्र यद्यपि इस समय उसमे जागरूक नही है, फिर भी वह चेतन है। इसके विपरीत एक चलने-फिरते और जागते प्राणी पर यदि डडा ताना जाय तो वह उस समय भी प्रतिवाद और प्रतिकार करेगा और चुपके से सुई चुभाई जाय तब भी प्रतिकार करेगा, क्योंकि उसकी इच्छित-अनिच्छित, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हर तरह की अनुभूति, विचार-शक्ति और कर्तृत्व-शक्ति उस समय जागरूक है। पर ऐसा क्यो होता है ? इस अनुभूति, विचारशक्ति तथा कर्तृत्व-शक्ति का केन्द्र कहाँ है—उसका स्रोत कहाँ है ?

हम आँखों से देखते है कि कोई हमारे ऊपर डंडा तान रहा है। हमारी आँखें इस ज्ञान की अनुभूति एक ऐसी इन्द्रिय को कराती है, जो परिस्थिति को सोचती है और तत्काल ही हमें गतिशील होने या कार्य करने के लिए प्रेरणा या आज्ञा देती है, जिसके फलस्वरूप या तो हम भागते है या हम भी प्रतिकार के लिए डंडा-पत्थर या अन्य कोई चीज उठा लेते है। इसी तरह अगर कोई हमारे शरीर में सुई चुभावे तो हमारी त्वचा को एक तरह की अनुभूति होगी और वह उस अनुभूति को उस इन्द्रिय तक पहुँचा देगी, जो उस पर अविलम्ब सोचेगी और हमें या तो वहाँ

से टल जाने की या बदले में सुई चुभानेवाले को एक तमाचा जमा देने अथवा काट खाने को प्रेरित करेगी। इस तरह हम देखते हैं कि हमारी हर अनुभूति, हर क्रियाशीलता अथवा गतिशीलता का केन्द्र कोई ऐसी वस्तु है, जिससे हम अनुभव करते हैं, सोचते हैं। वही हमारी सारी क्रियाओं की प्रेरक है, और हम से सारे कार्य कराती है। पर आखिर वह वस्तु है क्या? साफ ही है कि वह वस्तु प्राणी के मन या मस्तिष्क के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

## मानव मस्तिष्क की विशिष्टता

कहा जा सकता है कि अनुभव कर सकने, या गतिशील अथवा क्रियाशील हो सकने की इतनी शक्ति तो जानवरों में भी होती है। गदहे पर भी यदि डंडा ताना जाय तो वह भागेगा, दुलत्तियाँ झाड़ेगा और यदि कुत्ते के शरीर में भी सुई चुभा दी जाय तो वह भी भागेगा या काटने दौड़ेगा। फिर जानवर के मस्तिष्क और आदमी के मस्तिष्क में अन्तर ही क्या है? आदमी और जानवर के मस्तिष्क में अन्तर यह है कि आदमी का मस्तिष्क प्रगतिशील है और जानवरों का अप्रगतिशील। इसका स्पष्ट प्रमाण तो यह है कि आदमी अपनी प्रारंभिक अवस्था से उठते-उठते आज सभ्यता का शिखर लाँघने जा रहा है। आरंभ में वृक्षों पर घोसले बनाकर रहनेवाला यह वनचारी आज महलों और बड़े-बड़े नगरों का अधिवासी तथा स्वामी बन गया है, पर जानवर जिस अवस्था में आदिम युग में थे, उसी अवस्था में हजारों-लाखों वर्षों से वे रहते आए हैं, और आज भी रह रहे हैं। मानव-मस्तिष्क की प्रगतिशीलता का एक प्रमाण यह भी है कि वह शारीरिक दृष्टि से अन्य, अनेकों जीवधारियों से दुर्बल और निकृष्ट होते हुए भी आज सृष्टि के सभी प्राणियों में अधिक शक्तिशाली बना हुआ है। यदि ऐसा न होता तो वह जाने कब का खत्म हो चुका होता, और शेर, भेड़िये आदि हिंस्र पशु उसे एक-एक चुनकर खा गए होते। पर इसके विपरीत आदमी पेड़ों से कन्दराओं, कन्दराओं से मैदानों तथा मैदानों से विशाल वैभवशाली नगरों का निवासी और अध्यक्ष बना, उसने सभ्यताएँ रचीं, और एक नई सृष्टि का नियन्ता वह बन गया।

आदमी और जानवर के मस्तिष्क में मुख्य अंतर यह है कि आदमी के मस्तिष्क में प्रत्यक्ष और परोक्ष हर तरह की अनुभूतियाँ हो सकती हैं, हर तरह का चिन्तन वह कर सकता है, पर जानवरों को केवल प्रत्यक्ष अनुभूति ही हो सकती है, अपरोक्ष ज्ञान ही उन्हें हो सकता है। उदाहरण के लिए अगर कोई किसी की आँख के सामने डंडा ताने तो उसका ज्ञान या अनुभूति आदमी को भी हो सकती है और जानवर को भी, परन्तु आदमी का मस्तिष्क इसके अतिरिक्त यह भी सोच या अनुभव कर सकता है कि अमुक व्यक्ति से उसके पिता की लड़ाई थी और वह बैर उसके दिल में इतना गहरा होकर बैठा है कि वह उसे किसी भी समय मार सकता है या उसका अहित कर सकता है। आदमी बैठे-बैठे ही यह भी सोच ले सकता है कि आज अमुक देश के नगरों पर जिस तरह शत्रु द्वारा बम बरसाये जा रहे हैं, उसी तरह अगर हमारे नगरों पर भी कोई करे तो जीवन कितना अरक्षित हो जायगा, अथवा आदमी किस तरह असहाय होकर मरे-कटेंगे।

इस तरह हम देखते हैं कि आदमी का मन या मस्तिष्क वह चीज है, जिसने आज उसे अन्य जीवधारियों से ऊँचा उठा रक्खा है। मस्तिष्क ही की बदौलत आदमी अपनी प्रारंभिक अवस्था से ऊँचा उठकर आज सभ्य बन पाया है। वह हवा में उड़ता है, समुद्र की छाती को रौंदता हुआ चलता है, सात-सात समुद्र पार बैठे हुए अपने मित्रों से बातचीत करता है, यहाँ तक कि उन्हें उतनी ही दूरी पर बैठे-बैठे देखने भी लगा है! उसने प्रकृति पर विजय पा ली है। वह बीमारी और मृत्यु तक पर विजय पाने को तुला बैठा है। और यह सब कुछ मस्तिष्क ही के द्वारा हुआ है। संक्षेप में मस्तिष्क वह मशीन है जिसके द्वारा आदमी सोचता है, अनुभव करता है, नतीजा निकालता है, आदि।

## मनोविज्ञान का आविर्भाव

यों तो यह आश्चर्यजनक मन या मस्तिष्क हमेशा से आदमी के पास रहा है, पर उसके भी अध्ययन की जरूरत हो सकती है, या उसके अध्ययन का कोई महत्त्व भी है, यह हम विज्ञान-युग के उदय के पहले नहीं जानते थे। यद्यपि दर्शन-शास्त्र के अध्ययन के सिलसिले में भारतीय ऋषियों ने मन का भी अध्ययन एक विशेष रूप और एक खास हद तक किया था, पर मस्तिष्क या मन के अध्ययन को एक अलग विज्ञान के रूप में खड़ा करने का श्रेय विज्ञान-युग और आज के सामाजिक विकास को ही है। आधुनिक सामाजिक विकास ने हमें इसके प्रति विश्वस्त कर दिया है कि इस विषय के—मन या मस्तिष्क के—वैज्ञानिक अध्ययन से मानव-सभ्यता में क्रान्तिकारी और हितकारी परिवर्तन किये जा सकते हैं। असल में इस विज्ञान के समुचित अध्ययन के बाद ही शिक्षण का कोई कार्य ठीक दिशा में चल सकता है; क्योंकि शिक्षण का

अर्थ है मस्तिष्क का निर्माण और विकास करना, जो सभ्यता अथवा संस्कृति का मूल आधार है।

अब देखना यह है कि मनुष्य के मन या मस्तिष्क का अध्ययन किस तरह किया जा सकता है ? यद्यपि मस्तिष्क में स्थित ज्ञान-तंतुओं तथा उन्हे चेतना प्रदान करनेवाले वातसूत्रों आदि का अध्ययन शरीर-शास्त्र का विषय है तथापि कोई भी मनोविज्ञान-शास्त्री उस विशेष अध्ययन को मनोविज्ञान के दायरे से बाहर करने का साहस नही कर सकता। लेकिन इसके बावजूद भी मस्तिष्क कोई इस तरह की ठोस चीज नही है जिसका शरीरशास्त्री की तरह हम चीर-फाड़कर अध्ययन करें। दिमाग कही सिर में एक जगह बन्द है, ऐसा समझने की भूल साधारणतया लोग करते है, परन्तु सिर को चीड़-फाड़कर देखने पर भी वह कही एक ठोस पदार्थ की तरह ढूंढे नही मिलेगा।

मनोविज्ञान का अध्ययन करने के लिए मन की गतियों तथा उसकी क्रियाओं का अध्ययन करना होता है। मनुष्य किन परिस्थितियों में क्या और कैसे सोचता है, समझता है, किस तरह तर्क करता है, कब उसे क्रोध आता है, कब उसे क्षोभ उत्पन्न होता है, किन उपादानों के उपस्थित होने पर उसके मन में स्मृति जगती है, कल्पनाएँ उठती है, पुलक होता है, यही बातें और यही मानसिक क्रियाएँ मनोविज्ञान अथवा मन या मस्तिष्क के विज्ञान के आधार और विषय है। इस स्तंभ के अंतर्गत इन्ही बातो का अध्ययन हम करेंगे।

**तब और अब**

इतिहास के आरंभकाल में मैमथ या मेस्टाडान जैसे हाथियों के भयावने पूर्वजों द्वारा त्रस्त मानव आज उन्हीं हाथियों से अपनी बेगार कराता है। किसके बल पर? केवल अपने मस्तिष्क की देन ही की बदौलत !

यहाँ यह जान लेना जरूरी है कि इस विज्ञान के पुराने और नवीन आचार्यों के विचारों मे कितना मौलिक भेद है। प्राचीन विद्वानो का ( जिनमे भारतीय पंडित भी संमिलित है) मत है कि हर प्राणी मे जीव होता है, जिसे आत्मा कहकर पुकारा जाता है। प्रत्येक प्राणी में जो एक चेतना है, वह केवल उस आत्मा के कारण ही है और इसी के कारण उसमे क्रोध, क्षोभ आदि भाव पैदा होते रहते है। इसके विपरीत नवीन शास्त्रकारों का मत है कि इस विज्ञान के अध्ययन में आत्मा और जीव के झमेले को खड़ा करने की कोई जरूरत नही है। आत्मवाद और अनात्मवाद मनोविज्ञानशास्त्र के नही, बल्कि दर्शनशास्त्र के विषय है। मनोविज्ञानशास्त्र का अध्ययन इन झगड़ो में पड़े बिना भी हो सकता है, यद्यपि प्राचीन भारतीय विचारधारा में, मनोविज्ञान का दर्शनशास्त्र मे ही समावेश करते है, उसे अलग विज्ञान करके यहाँ नही माना गया है। आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्रियो का मत है कि प्राणियो के शरीर में स्नायु-तनुओ का एक जाल है, जिसके सहारे और जिसकी गतिशीलता के कारण उनमे चेतना उत्पन्न होती है। आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा आदि के द्वारा जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह इन्ही स्नायु-तंतुओ के सहारे ही होता है। इसके अतिरिक्त भय, साहस, तर्क, क्रोध, क्षोभ आदि आतंरिक भावो का उदय भी इन्ही स्नायु-तंतुओं और मस्तिष्क की सम्मिलित क्रियाओं और प्रवृत्तियों

के द्वारा होता है। यह विचार अधिक वैज्ञानिक और अधिक व्यावहारिक जँचता है, अतएव हम इसी विचार के अनुसार इस शास्त्र का अध्ययन करेंगे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस विज्ञान के अध्ययन का आधार है मन की विभिन्न क्रियाएँ। परतु प्रश्न यह है कि हमें उन क्रियाओं का बोध किस तरह होता है? उनका बोध हमें दो प्रकार से होता है। एक तो इस तरह कि हम स्वयं अनुभव करते है और सोचते है, दूसरे इस तरह कि हम दूसरो की कई प्रकार की क्रियाओ से यह परिणाम निकालते है कि वे अमुक प्रकार का अनुभव कर रहे है, अमुक प्रकार की मनोवृत्ति मे है। किसी व्यक्ति के मस्तिष्क का सीधा ज्ञान हमे नही होता, पर हम उस व्यक्ति के रहन-सहन से, उसकी मुख-मुद्रा से, उसकी मुसकुराहट से, उसकी त्यारियो पर बल आने से, यह परिणाम निकालते है कि वह क्या अनुभव कर रहा है, अथवा क्या सोच रहा है।

मान लीजिए कि आप जाड़ो की रात मे कम्बल से मुँह ढके अँधेरे कमरे मे सोए हुए हैं और तभी कमरे में कुछ आहट-सी मालूम होती है, और उसके द्वारा आपके कानों मे एक प्रकार की अनुभूति होती है। आपको एक ऐसा ज्ञान होता है, जो अनिच्छित होते हुए भी प्रत्यक्ष है, वास्तविक है। फिर आपके मन मे एक जिज्ञासा पैदा होती है कि आखिर यह किस चीज की आहट है? फिर आप सोचते है कि शायद घर का पालतू कुत्ता आ रहा है! तभी आपके मन मे प्रतिवाद उठता है कि कुत्ते के पैर की आहट इतनी भारी नही हो सकती है और आप तर्क करने लगते है। फिर सोचते है, शायद नौकर किसी काम से आया हो, अथवा कही वह चोर तो नहीं है? चोर का विचार आते ही आपके मन में एक प्रकार के भय का संचार होता है, और साथ ही विचार दौड जाता है उस घटना की ओर जब कि गत मास आपके अमुक पड़ोसी को चोरो ने इसी तरह सोते हुए मार डाला था। फिर आपके मन मे एक भाव उठता है कि उठकर देखा तो जाय कि आखिर क्या बात है, किस चीज की आहट है? इस तरह आपके शरीर के समूचे स्नायु-जाल और स्नायु-तंतुओं मे एक चेतना-प्रवाह, एक जागरूकता की लहर-सी फैल जाती है और आप उस आहट के संभव कारण का दान करने के विचार से अपनी चितवृत्तियो को एकाग्र करने की कोशिश करते है। पर आपकी कल्पना इधर से उधर भटक रह जाती है और आप किसी निर्णय पर नही पहुँच पाते है। तब आपकी इच्छा-शक्ति आपको प्रेरणा देती है कि उठकर देखा ही जाय। अत मे आप साहस के साथ झट से उठते हैं और आपके ज्ञान-तंतु आपसे बिना किसी पूर्व-निश्चय के ही एक स्वाभाविक निर्णय कराते हैं और आपका हाथ फौरन् ही स्विच की तरफ बढ जाता है। आप स्विच दबा देते है, जिससे तत्काल ही कमरे मे प्रकाश फैल जाता है।
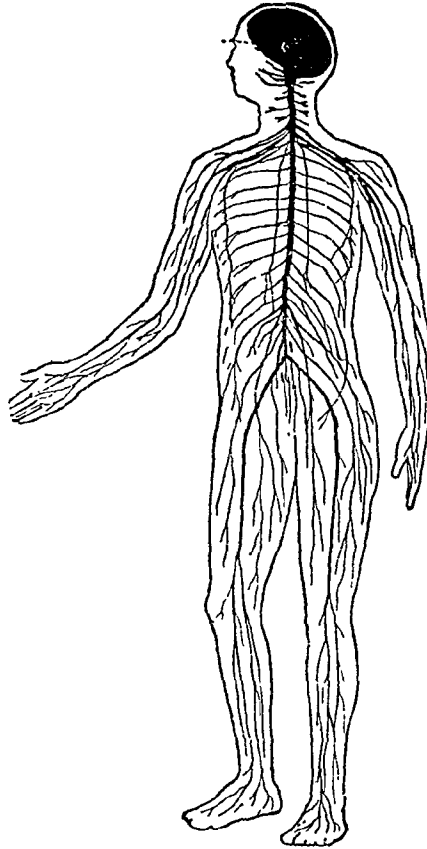
**मनुष्य-शरीर में वात-सूत्रों का जाल**

'मस्तिष्क' से नीचे की ओर जो मोटी काली रेखा खिंची है, वही सुषुम्ना है। इसी से शाखाओ की तरह फूटकर वात-सूत्र सारे शरीर मे फैल गए है।

रोशनी होने पर आप पाते है कि यह तो वही बुड्ढा है, जिसके लडके को आपने गत वर्ष जज की हैसियत से फाँसी की सजा दी थी! इस तरह आपको एक ऐसा ज्ञान आँखो के द्वारा होता है, जो प्रत्यक्ष होने के साथ-ही-साथ इच्छित भी है। तब आपकी स्मृति मे उस मुकदमे के दौरान की बहुतेरी बातें आने लगती हैं। इतने मे आप उसके हाथ मे एक चमकता हुआ छुरा भी देखते है, देखते ही आप मे एक भयाकुल वृत्ति पैदा होती है और आप काँप उठते है। पर तत्काल ही आप एक साहसिक निर्णय करके उस पर टूट

पड़ते हैं, और वह वार करे-न-करे कि आप छुरा उसके हाथ से छीन लेते हैं।

इसके बाद उस विफल-मनोरथ बूढ़े आदमी में एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया पैदा होती है और उसके मन की बदले की भावना पराजय और निराशा की भावना में बदल जाती है। वह अपने फाँसी पाए हुए पुत्र से सम्बन्ध रखनेवाले स्मृति-प्रेरक शब्द पुकार-पुकारकर रोने लगता है। आपके मन में भी प्रतिक्रिया होती है, और एक-एक बात को याद करके आप अपने फाँसी की सजा देनेवाले काम पर मन ही मन पश्चात्ताप करने लगते हैं।

अब इन सारी बातों पर गौर कीजिए कि ये सब क्या हैं? इन सारी बातों से हमें मन की विभिन्न दशाओं और विभिन्न क्रियाओं का बोध होता है। यही क्रियाएँ हमारे अध्ययन की भूमि हैं, विषय हैं और उपकरण हैं। इन्हीं को हम आगे चलकर लम्बे-लम्बे पारिभाषिक शब्दों की सीमा में बाँधकर देखेंगे। जिस तरह व्याकरण-शास्त्र का विषय है शब्द, अंक-शास्त्र का अंक, तर्क-शास्त्र का वाक्य, उसी तरह हमारे इस विज्ञान का विषय है मन। इस विज्ञान के अध्ययन से हम जान पाते हैं कि अमुक विचार, अमुक भावना हमारे मन में क्यों पैदा हुई, उसके पहले कौन विचार या कौन भावनाएँ हमारे मन में चक्कर काट रही थीं, फिर किस क्रम से अन्य विचार और भावनाएँ आईं। उन सबमें क्या सम्बन्ध है? अथवा कोई सम्बन्ध उनमें है भी या नहीं? इत्यादि-इत्यादि।

इन्हीं बातों का वैज्ञानिक अध्ययन मनोविज्ञान कहलाता है। अगले प्रकरणों में इस स्तंभ में हम क्रमशः विस्तारपूर्वक इस विषय की प्रारम्भिक बातों को लेकर इसका अध्ययन आरंभ करेंगे।

# मस्तिष्क का स्थूल रूप

**यद्यपि स्थूल मस्तिष्क का अध्ययन मनोविज्ञान का नहीं, बल्कि शरीरशास्त्र का विषय है, फिर भी मानसिक क्रियाओं को ठीक-ठीक समझने के लिए यह आवश्यक है कि मोटे तौर से हम उस यन्त्र से परिचित हो जायँ जो हमारी चेतन-शक्ति का केन्द्र है। वैसे स्थूल मस्तिष्क की रचना का विस्तारपूर्वक अध्ययन तो "हम और हमारा शरीर" शीर्षक स्तंभ ही में किया गया है। यहाँ केवल उसका संक्षिप्त परिचय कराया जा रहा है।**

हम मन या मस्तिष्क के विज्ञान का अध्ययन करने बैठे हैं और इस विज्ञान का क्षेत्र, जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है, मनुष्य की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन है। पर इसके पहले कि हम सीधे सोचने, समझने, तर्क करने जैसी मानसिक क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करें, हमें स्थूल मस्तिष्क के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करना होगी, अर्थात् हमें मस्तिष्क का शरीरशास्त्र के अनुसार सरसरी तौर पर दिग्दर्शन करना होगा। कुछ वर्ष पूर्व बहुत सुरक्षित ढंग से यह कहा जा सकता था कि स्थूल मस्तिष्क का अध्ययन मनोविज्ञान का नहीं, बल्कि शरीरशास्त्र का विषय है, पर आज के इस वैज्ञानिक युग में किन्हीं भी दो विज्ञानों के बीच में आसानी से विभाजक रेखा का खींचा जा सकना संभव नहीं है। इसलिए मस्तिष्क की क्रियाओं के अध्ययन के लिए मस्तिष्क की स्थूल बनावट आदि की मोटे तौर पर जानकारी कर लेना वाञ्छनीय ही नहीं, आवश्यक भी है।

हम अनुभव करते हैं, सोचते हैं, तर्क करते हैं और यह सब कुछ मस्तिष्क के द्वारा तथा ज्ञानेन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों के तंतुओं के सहारे होता है। पर यह मस्तिष्क और ज्ञानेन्द्रियों के ये तंतु हैं क्या? इनका स्थान कहाँ है? ये किस प्रकार कार्य करते हैं?

## मस्तिष्क की रचना

वैज्ञानिकों ने बड़ी खोज और परिश्रम से यह परिणाम निकाला है कि हमारे शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग 'मस्तिष्क' हमारी खोपड़ी के भीतर अवस्थित है। सिर के बाल और खाल के नीचे हमारी यह खोपड़ी होती है। यह हड्डियों का एक बड़ा-सा पुष्ट ढाँचा है, जिसका निर्माण आठ अस्थियों से हुआ है। उसके भीतर कई तरह की झिल्लियों का एक घना-सा जाल है, जिसके अन्त में स्थूल मस्तिष्क मिलता है। मोटे तौर पर स्थूल मस्तिष्क की शक्ल और लम्बाई-चौड़ाई एक आधे कटे तरबूज-जैसी होती है। वह बहुत ही मुलायम होता है। उसकी ऊपरी तह में भूरे रंग की एक वस्तु भरी रहती है और भीतरी तह में सफ़ेद रंग की। वास्तव में, आधे तरबूज की शक्ल के इस स्थूल मस्तिष्क के यही दो प्रमुख उपादान हैं।

हेरिक नामक शरीरशास्त्रवेत्ता का मत है कि स्थूल मस्तिष्क के उपादानों में यह भूरे रंग का पदार्थ तौल या परिमाण में सारे मस्तिष्क का लगभग आधा होता है। मस्तिष्क में यह सबसे अधिक महत्व की वस्तु बतलाई जाती है। इसके महत्व पर सबसे पहले फ्रैन्स जोजेफ गाल नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने १९ वी शताब्दी के आरंभ में जोर दिया था। आधुनिक शरीरशास्त्र के प्रमुख अंग 'शरीरतंतुविज्ञान' के पिछले दिनों के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि स्थूल मस्तिष्क के इन विभिन्न उपादानो के अपने-अपने अलग-अलग विशेष कार्य है, जिनका शरीर के संचालन के लिए संपादित होना अत्यंत आवश्यक है। यह ध्यान में रखने की बात है कि स्थूल मस्तिष्क एक चिकना पिण्ड-सा नहीं होता, बल्कि उसका धरातल बहुत ही असमान और उथला-पुथला-सा है, जैसे कि हल चलाने पर खेत की नालियाँ हो जाती है। यह पिण्ड आगे की ओर बढ़ते-बढ़ते ललाट तक और पीछे की ओर गर्दन के आगे तक उभरा चला गया है। इसका पिछला भाग आगे के भाग की तुलना मे अधिक मोटा और चौड़ा होता है। इस पूरे ढाँचे के दो बड़े भाग है—१. वह जो खोपड़ी को ऊपर से देखने पर दिखाई देता है; इसे 'बृहत् मस्तिष्क' कहते हैं; २. वह जो बृहत् मस्तिष्क के पिछले हिस्से के नीचे स्थित है और जो मस्तिष्क की तली को उलटने पर ही देखा जा सकता है। इसे 'लघु मस्तिष्क' कहते है। बृहत् मस्तिष्क के दो खण्ड होते हैं, जिनके बीच एक दरार-सी रहती है। इस दरार के आस-पास के भाग दाहिने और बाएँ 'गोलार्द्ध' कहलाते है। इन गोलार्द्धों की पेचीदी रचना के बारे में विशेष बातें 'हम और हमारा शरीर' शीर्षक विभाग में क्रमश. आपको बताई जायँगी। यहाँ तो हमें इस अद्भुत यंत्र की रचना के संबंध में सरसरी तौर पर मोटी बातें जान लेना है, जिससे हमें अपने विषय के अध्ययन में सहायता मिले। बृहत् मस्तिष्क का बाहरी आवरण धूसर रंग का होता है, किन्तु भीतर से वह श्वेत होता है। बाहरी धूसर अंश को 'वल्क' कहते है। लघु मस्तिष्क की शक्ल पिचके गोले जैसी होती है। यह बृहत् मस्तिष्क से बहुत छोटा और वजन मे दो-ढाई छटाँक होता है। इसके पृष्ठ पर भी बृहत् मस्तिष्क की तरह घाइयाँ होती है, पर ये बृहत् मस्तिष्क की घाइयों से अधिक गहरी होती है। इन दोनों मस्तिष्क के अलावा हमारा एक और महत्वपूर्ण अंग है, जिसका हमारे वात-संस्थान से घना संबंध है। यह 'सुषुम्ना' कहलाता है। इसका स्थान हमारी पीठ की रीढ है। यहाँ यह बतला देना जरूरी है कि मस्तिष्क का अन्त खोपड़ी ही में नहीं हो जाता, बल्कि शरीर के पीछे गर्दन के पार बढ़ता हुआ, रीढ़ की हड्डी में से होते हुए, वह पीठ के रास्ते कमर तक पहुँचता है। कपाल से लेकर कमर के ऊपर तक रीढ़ के साथ-साथ फैला हुआ हमारे वात-संस्थान का यह भाग ही सुषुम्ना है। सुषुम्ना बेलनाकार होती है। इसके बीच भी एक लंबी घाई होती है, जिसमे उसके दो पार्श्व बन जाते है। इन दोनों पार्श्वों से कुछ-कुछ अंतर देकर बहुत-सी सूत्रवत् नाड़ियाँ निकलती है। ये पतले वात-सूत्र या तंतु अपने उद्गम-स्थानों से प्रारंभ होकर शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो में अपने निर्दिष्ट स्थानों तक पहुँचकर रस्सी की लड़ियों की तरह फैले हुए हैं। इन वात-सूत्रों से हमारा सारा शरीर आच्छादित है। शरीर का कोई भी ऐसा भाग नही, जो इनसे खाली हो। ये वात-सूत्र शरीर के इस बड़े कारखाने में तार-बर्की की तरह काम करते है और हर जगह की खबर मस्तिष्क के केन्द्रीय संस्थान को दिया करते हैं। यदि शरीर में कही भी कोई काँटा या कोई और चीज चुभ जाय तो वहाँ के स्नायु कट जायँगे और पीड़ा द्वारा इसकी सूचना या अनुभूति इन्हीं वात-सूत्रों द्वारा केन्द्रीय चेतना या मस्तिष्क को पहुँच जायगी। इन सूत्रों के सिरों के विषय में ज्ञान या अनुभूति को ग्रहण करने की अद्भुत स्वाभाविक शक्ति होती है और उनके शेष भागों में उस सूचना के वहन करने और उसे निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देने की विचित्र सामर्थ्य होती है। भिन्न-भिन्न काम करनेवाले भिन्न-भिन्न वात-सूत्रों के सिरों की बनावट भी अलग-अलग प्रकार से उनके कार्यो के उपयुक्त ही होती है। दृश्य-जगत् की अनुभूति वहन करनेवाले तंतुओं के सिरे एक तरह के, शब्द का ज्ञान करानेवाले दूसरे प्रकार के, और स्पर्श एवं गन्धवाहक तीसरे ढंग के होते है।

### मस्तिष्क कैसे कार्य करता है

अब प्रश्न यह उठता है कि पदार्थो की अनुभूति इन तंतुओं को कैसे हो जाती है? वैज्ञानिको ने बड़े परिश्रम और खोज के बाद यह सिद्ध किया है कि आकाश तत्त्व या 'ईथर' में हलचल होने पर प्रकाश की लहरें उठा करती हैं और वे अन्य वस्तुओं से टकराकर चारों ओर छिटक जाती है। यही लहरें जब एक निश्चित संख्या और परिमाण में होती है, तो हमारी आँखों की विशेष प्रकार की बनावट के कारण उनके द्वारा देखने से सम्बन्ध रखनेवाले वात-सूत्रों के सिरों तक वे पहुँच जाती है। इसी प्रकार वायु में जो लहरें निरन्तर उठा करती हैं, उनका

भी एक निश्चित परिमाण हो जाने पर 'शब्द' या सुने जा सकने योग्य ध्वनि बनती है और श्रवण-वातसूत्रों के सिरों पर वह पहुँचती है। विद्वानों ने हिसाब लगाया है कि हवा की लहरों की संख्या ठीक चालीस हजार प्रति सेकंड हो, तब 'शब्द' श्रव्य बन सकता है, अन्यथा शब्द का अस्तित्व होते हुए भी वह मनुष्य के लिए श्रवण-सुलभ नहीं होता। अब यहाँ पर एक बहुत ही विवादास्पद प्रश्न उठ सकता है। वह यह है कि हवा की उन लहरियों की, जब कि उनकी संख्या प्रति सेकंड चालीस हजार के नीचे होती है, हमें अनुभूति कैसे और किस ज्ञानेन्द्रिय के ज्ञानतंतुओं द्वारा होती है? यह एक टेढ़ा सवाल है। असल में विज्ञान अभी शैशव की अवस्था में है और वह इस प्रश्न का उत्तर दे सकने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त विकासवाद का यह निश्चित और प्रमाणित मत कि प्राणिजगत् में मनुष्य सरीसृप और वानरों की अवस्था से गुजर-कर आज का मनुष्य बना है, इसका किसी हद तक समाधान उपस्थित करता है। विभिन्न प्राणियों के स्थूल मस्तिष्क का विकासवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करनेवालों ने पता चलाया है और यह प्रमाणित कर दिया है कि किस प्रकार विकास की विभिन्न सीढ़ियों से गुजरकर मनुष्य में अनुभव प्राप्त करने और ज्ञान वहन करनेवाले वात-तंतुओं का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। न केवल इतना ही, बल्कि मनुष्य-शरीर के ही कालान्तर से विकसित होते हुए भिन्न-भिन्न स्वरूप में बहुत-सी विशेषताएँ, जो पहले के मनुष्य में नहीं थीं, आज आ गई हैं। इसलिए संभव है कि भविष्य में इस विकासशील और प्रगतिशील प्राणी में उन अननुभूत वायु की लहरियों की भी अनुभूति प्राप्त करने के लिए कोई तंतु बढ़ें या स्थूल मस्तिष्क में कोई ऐसा क्षेत्र बन जाय और लगभग चालीस हजार प्रति सेकण्ड से कम या उसके बहुत ऊपर की वस्तु-स्थिति का भी हम अनुभव करने लगें।

### 'केन्द्रागामी' और 'केन्द्रत्यागी' वात-सूत्र

इस तरह हमने देखा कि मस्तिष्क की क्रिया में वात-सूत्रों का बहुत ही महत्वपूर्ण भाग है। पर इतने ही से तो मस्तिष्क का काम नहीं चल सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी सरकार के केन्द्रीय शासन-विभाग में केवल बाहर के ही संदेश पहुँचाने की क्षमता हो, तो वह सरकार एक मौन निष्क्रिय-सरकार ही बनी रह जायगी। जब तक उसके पास प्राप्त संदेशों के अनुसार अर्जित ज्ञान द्वारा निर्णीत आदेशों को भिन्न-भिन्न विभागों तक ले जानेवाले आज्ञाकारी कर्मचारी न होंगे, तब तक वह उन विभागों का शासन करने में असमर्थ ही रहेगी। मस्तिष्क हमारे शरीर का केन्द्रीय शासन-विभाग कहा जा सकता है। उसके राज्य-संचालन में ऊपर वर्णित वात-सूत्र या तार दूत का कार्य करते हैं। ये सूत्र न केवल विभिन्न अंगों की सूचनाओं या संदेशों को मस्तिष्क तक पहुँचा देते हैं, बल्कि मस्तिष्क की आज्ञा या आदेश को उन अंगों तक पहुँचाने का काम भी इन्हीं के सुपुर्द है। इन दोनों कामों के लिए दो भिन्न-भिन्न प्रकार के सूत्र या तार हमारे नाड़ीमण्डल में हैं—१. वे जो मस्तिष्क और सुषुम्ना से विभिन्न अंगों को जाते हैं; ये तार 'केन्द्रत्यागी' कहे जाते

**मस्तिष्क की रचना**

१. बृहत् मस्तिष्क; २. लघु मस्तिष्क; ३. पीनियल ग्रंथि; ४. चतुष्पिण्ड; ५. दृष्टि-नाड़ी; ६. हाइपोफिसिस ग्रंथि; ७. स्तम; ८. सेतु; ९ १०. सुषुम्ना का अंश।

हेरिक नामक शरीरशास्त्रवेत्ता का मत है कि स्थूल मस्तिष्क के उपादानों मे यह भूरे रंग का पदार्थ तौल या परिमाण में सारे मस्तिष्क का लगभग आधा होता है। मस्तिष्क में यह सबसे अधिक महत्व की वस्तु बतलाई जाती है। इसके महत्व पर सबसे पहले फ्रैन्स जोजेफ गाल नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने १६ वी शताब्दी के आरंभ में जोर दिया था। आधुनिक शरीरशास्त्र के प्रमुख अंग 'शरीरततुविज्ञान' के पिछले दिनो के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि स्थूल मस्तिष्क के इन विभिन्न उपादानो के अपने-अपने अलग-अलग विशेष कार्य हैं, जिनका शरीर के संचालन के लिए संपादित होना अत्यंत आवश्यक है। यह ध्यान मे रखने की बात है कि स्थूल मस्तिष्क एक चिकना पिण्ड-सा नही होता, बल्कि उसका धरातल बहुत ही असमान और उथला-पुथला-सा है, जैसे कि हल चलाने पर खेत की नालियाँ हो जाती है। यह पिण्ड आगे की ओर बढ़ते-बढते ललाट तक और पीछे की ओर गर्दन के आगे तक उभरा चला गया है। इसका पिछला भाग आगे के भाग की तुलना मे अधिक मोटा और चौडा होता है। इस पूरे ढाँचे के दो बड़े भाग है—१. वह जो खोपड़ी को ऊपर से देखने पर दिखाई देता है; इसे 'बृहत् मस्तिष्क' कहते है, २. वह जो बृहत् मस्तिष्क के पिछले हिस्से के नीचे स्थित है और जो मस्तिष्क की तली को उलटने पर ही देखा जा सकता है। इसे 'लघु मस्तिष्क' कहते है। बृहत् मस्तिष्क के दो खण्ड होते हैं, जिनके बीच एक दरार-सी रहती है। इस दरार के आस-पास के भाग दाहिने और बाएँ 'गोलार्द्ध' कहलाते है। इन गोलार्द्धों की पेचीदी रचना के बारे में विशेष बातें 'हम और हमारा शरीर' शीर्षक विभाग में क्रमश. आपको बताई जायँगी। यहाँ तो हमें इस अद्भुत यंत्र की रचना के संबंध मे सरसरी तौर पर मोटी बातें जान लेना है, जिससे हमें अपने विषय के अध्ययन में सहायता मिले। बृहत् मस्तिष्क का बाहरी आवरण धूसर रंग का होता है, किन्तु भीतर से वह श्वेत होता है। बाहरी धूसर अंश को 'वल्क' कहते हैं। लघु मस्तिष्क की शक्ल पिचके गोले जैसी होती है। यह बृहत् मस्तिष्क से बहुत छोटा और वजन मे दो-ढाई छटाँक होता है। इसके पृष्ठ पर भी बृहत् मस्तिष्क की तरह घाइयाँ होती है, पर ये बृहत् मस्तिष्क की घाइयों से अधिक गहरी होती है। इन दोनो मस्तिष्क के अलावा हमारा एक और महत्वपूर्ण अंग है, जिसका हमारे वात-संस्थान से घना संबध है। यह 'सुषुम्ना' कहलाता है। इसका स्थान हमारी पीठ की रीढ़ है। यहाँ यह बतला देना जरूरी है कि मस्तिष्क का अन्त खोपड़ी ही मे नहीं हो जाता, बल्कि शरीर के पीछे गर्दन के पार बढता हुआ, रीढ की हड्डी मे से होते हुए, वह पीठ के रास्ते कमर तक पहुँचता है। कपाल से लेकर कमर के ऊपर तक रीढ के साथ-साथ फैला हुआ हमारे वात-संस्थान का यह भाग ही सुषुम्ना है। सुषुम्ना बेलनाकार होती है। इसके बीच भी एक लंबी घाई होती है, जिसमे उसके दो पार्श्व बन जाते है। इन दोनो पार्श्वो से कुछ-कुछ अंतर देकर बहुत-सी सूत्रवत् नाड़ियाँ निकलती है। ये पतले वात-सूत्र या ततु अपने उद्गम-स्थानों से प्रारंभ होकर शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो में अपने निर्दिष्ट स्थानों तक पहुँचकर रस्सी की लड़ियों की तरह फैले हुए हैं। इन वात-सूत्रो से हमारा सारा शरीर आच्छादित है। शरीर का कोई भी ऐसा भाग नही, जो इनसे खाली हो। ये वात-सूत्र शरीर के इस बड़े कारखाने मे तार-बर्की की तरह काम करते है और हर जगह की खबर मस्तिष्क के केन्द्रीय संस्थान को दिया करते हैं। यदि शरीर मे कही भी कोई काँटा या कोई और चीज चुभ जाय तो वहाँ के स्नायु कट जायँगे और पीड़ा द्वारा इसकी सूचना या अनुभूति इन्हीं वात-सूत्रों द्वारा केन्द्रीय चेतना या मस्तिष्क को पहुँच जायगी। इन सूत्रों के सिरों के विषय में ज्ञान या अनुभूति को ग्रहण करने की अद्भुत स्वाभाविक शक्ति होती है और उनके शेष भागों मे उस सूचना के वहन करने और उसे निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देने की विचित्र सामर्थ्य होती है। भिन्न-भिन्न काम करनेवाले भिन्न-भिन्न वात-सूत्रो के सिरों की बनावट भी अलग-अलग प्रकार से उनके कार्यो के उपयुक्त ही होती है। दृश्य-जगत् की अनुभूति वहन करनेवाले तंतुओ के सिरे एक तरह के, शब्द का ज्ञान करानेवाले दूसरे प्रकार के, और स्पर्श एवं गन्धवाहक तीसरे ढंग के होते है।

### मस्तिष्क कैसे कार्य करता है

अब प्रश्न यह उठता है कि पदार्थो की अनुभूति इन तंतुओं को कैसे हो जाती है ? वैज्ञानिकों ने बड़े परिश्रम और खोज के बाद यह सिद्ध किया है कि आकाश तत्त्व या 'ईथर' मे हलचल होने पर प्रकाश की लहरें उठा करती है और वे अन्य वस्तुओं से टकराकर चारों ओर छिटक जाती है। यही लहरे जब एक निश्चित सख्या और परिमाण में होती है, तो हमारी आँखों की विशेष प्रकार की बनावट के कारण उनके द्वारा देखने से सम्बन्ध रखनेवाले वात-सूत्रों के सिरों तक वे पहुँच जाती है। इसी प्रकार वायु मे जो लहरे निरन्तर उठा करती है, उनका

भी एक निश्चित परिमाण हो जाने पर 'शब्द' या सुने जा सकने योग्य ध्वनि बनती है और श्रवण-वाततूत्रों के सिरों पर वह पहुँचती है। विद्वानों ने हिसाब लगाया है कि हवा की लहरों की संख्या ठीक चालीस हजार प्रति सेकंड हो, तब 'शब्द' श्रव्य बन सकता है, अन्यथा शब्द का अस्तित्व होते हुए भी वह मनुष्य के लिए श्रवण-सुलभ नहीं होता। अब यहाँ पर एक बहुत ही विवादास्पद प्रश्न उठ सकता है। वह यह है कि हवा की उन लहरियों की, जब कि उनकी संख्या प्रति सेकंड चालीस हजार के नीचे होती है, हमें अनुभूति कैसे और किस ज्ञानेन्द्रिय के ज्ञानतंतुओं द्वारा होती है? यह एक टेढ़ा सवाल है। असल में विज्ञान अभी शैशव की अवस्था में है और वह इस प्रश्न का उत्तर दे सकने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त विकासवाद का यह निश्चित और प्रमाणित मत कि प्राणिजगत् में मनुष्य सरीसृप और वानरों की अवस्था से गुजरकर आज का मनुष्य बना है, इसका किसी हद तक समाधान उपस्थित करता है। विभिन्न प्राणियों के स्थूल मस्तिष्क का विकासवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करनेवालों ने पता चलाया है और यह प्रमाणित कर दिया है कि किस प्रकार विकास की विभिन्न सीढ़ियों से गुजरकर मनुष्य में अनुभव प्राप्त करने और ज्ञान वहन करनेवाले वात-तंतुओं का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। न केवल इतना ही, बल्कि मनुष्य-शरीर के ही कालान्तर से विकसित होते हुए भिन्न-भिन्न स्वरूप में बहुत-सी विशेषताएँ, जो पहले के मनुष्य में नहीं थीं, आज आ गई हैं। इसलिए संभव है कि भविष्य में इस विकासशील और प्रगतिशील प्राणी में उन अननुभूत वायु की लहरियों की भी अनुभूति प्राप्त करने के लिए कोई तंतु बढ़ें या स्थूल मस्तिष्क में कोई ऐसा क्षेत्र बन जाय और लगभग चालीस हजार प्रति सेकण्ड से कम या उसके बहुत ऊपर की वस्तु-स्थिति का भी हम अनुभव करने लगें।

## 'केन्द्रागामी' और 'केन्द्रत्यागी' वात-सूत्र

इस तरह हमने देखा कि मस्तिष्क की क्रिया में वात-सूत्रों का बहुत ही महत्वपूर्ण भाग है। पर इतने ही में तो मस्तिष्क का काम नहीं चल सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी सरकार के केन्द्रीय शासन-विभाग में केवल बाहर के ही संदेश पहुँचाने की क्षमता हो, तो वह सरकार एक मौन निष्क्रिय-सरकार ही बनी रह जायगी। जब तक उसके पास प्राप्त संदेशों के अनुसार अर्जित ज्ञान द्वारा निर्णीत आदेशों को भिन्न-भिन्न विभागों तक ले जानेवाले आज्ञाकारी कर्मचारी न होंगे, तब तक वह उन विभागों का शासन करने में असमर्थ ही रहेगी। मस्तिष्क हमारे शरीर का केन्द्रीय शासन-विभाग कहा जा सकता है। उसके राज्य-संचालन में ऊपर वर्णित वात-सूत्र या तार दूत का कार्य करते हैं। ये सूत्र न केवल विभिन्न अंगों की सूचनाओं या संदेशों को मस्तिष्क तक पहुँचा देते हैं, बल्कि मस्तिष्क की आज्ञा या आदेश को उन अंगों तक पहुँचाने का काम भी इन्हीं के सुपुर्द है। इन दोनों कामों के लिए दो भिन्न-भिन्न प्रकार के सूत्र या तार हमारे नाड़ीमण्डल में हैं—१. वे जो मस्तिष्क और सुषुम्ना से विभिन्न अंगों को जाते हैं; ये तार 'केन्द्रत्यागी' कहे जाते

**मस्तिष्क की रचना**

१. बृहत् मस्तिष्क; २. लघु मस्तिष्क; ३. पीनियल ग्रंथि; ४. चतुर्थिग्रट; ५. दृष्टि-नाड़ी; ६. हाइपोफिसिस ग्रंथि; ७. स्तंभ; ८. सेतु; ९ १०. सुषुम्ना का अंश।

को वाहर की ओर मोड़ती है। इस तरह हम देखते हैं कि आँख की माँसपेशियाँ तीन स्पष्ट वात-तंतुओं के जोड़ों से वात-सूत्र प्राप्त करती हैं।

वात-तंतुओं का सातवाँ जोड़ा चेहरे की मांसपेशियों को वात-सूत्र प्रदान करता है। आठवें जोड़े को श्रवण-तंतु या श्रावणी नाड़ियाँ कहते हैं। नवाँ जोड़ा दो प्रकार के तंतुओं अर्थात् चालकतंतुओं और ज्ञान-तंतुओं से मिल कर बना होता है, अतः उनमें एक के द्वारा हलक, जीभ, नाक आदि के संधि-स्थान की मांसपेशियाँ गति प्राप्त करती हैं, तथा दूसरे के द्वारा स्वाद का ज्ञान होता है।

वात-तंतुओं का दसवाँ जोड़ा भी मिश्रित प्रकार का होता है। इससे हलक, फेफड़े, हृदय, पेट और लीवर या यकृत का संचालन होता है। ग्यारहवाँ जोड़ा चालक नाड़ियों का होता है, जिनसे गर्दन की कुछ मांसपेशियाँ संचालित होती हैं। वारहवाँ जोडा भी चालक नाड़ियो ही का होता है, जिनसे जीभ की माँसपेशियों को वात-सूत्र प्राप्त होते हैं।

यदि कोई सांवेदनिक तंतु या ज्ञान-तंतु चोट खा जाता है तो अनुभूति मर जाती है और यदि कोई चालक या गति-संवंधी तंतु विगड़ जाता है, तो अंग-विशेष की गति नष्ट हो जाती है, जैसे लकवा आदि रोगों में होता है।

खोपड़ी के नीचे लगभग ढाई इंच लम्बी सफेद और भूरे रंग की एक गद्दी होती है, जिसे 'महासंयोजक' कहते हैं। इसी के द्वारा निगलने और साँस लेने जैसी इच्छा से परे की क्रियाओं का नियन्त्रण होता है। स्थूल मस्तिष्क और सुषुम्ना के वीच सम्वन्ध का यही एकमात्र साधन होता है। यदि यह नष्ट हो जाय तो तुरन्त मृत्यु हो जाय, क्योंकि इसके नष्ट होते ही साँस लेने की क्रिया वन्द हो जाती है।

## सुषुम्ना

अव हम सुषुम्ना पर आते हैं। एक लम्वा पतला वात-सूत्र 'महासंयोजक' से शुरू होकर रीढ़ की हड्डी के भीतर से होता हुआ उसके अन्त तक जाता है। यही सुषुम्ना है। यह सूत्र लगभग १८ इंच लम्वा होता है और मोटाई में छोटी उँगली जैसा और कहीं-कहीं उससे भी मोटा होता है। सुषुम्ना भी उन्हीं तीन प्रकार के आवरणों से ढकी होती है, जिनसे कि स्थूल मस्तिष्क आच्छादित रहता है। इससे वड़े-वड़े वात-सूत्र निकलकर चारों ओर शरीर की लम्वाई-चौड़ाई में फैले होते हैं। इन्हें 'सुषुम्ना तंतु' कहते हैं। जैसा कि पिछले पृष्ठों में वताया जा चुका है, सुषुम्ना एक दरार द्वारा दक्षिण और वाम इन दो भागों में विभाजित होती है। उसका निम्नतम भाग घोड़े की दुम जैसा होता है, क्योंकि वहाँ पर तंतु-जाल एक सूत के वण्डल-जैसा हो जाता है। यदि किसी स्थान पर सुषुम्ना कट जाय या जख्मी हो जाय, तो उस स्थान के नीचे स्वयंचालित अथवा 'परावर्तित क्रिया' नष्ट हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि मस्तिष्क से अंग-प्रत्यंग तक तथा अंग-प्रत्यंग से मस्तिष्क तक अनुभूति और गतिशीलता का वाहक यही सुषुम्ना का वात-तंतु-जाल है। सौषुम्न नाड़ियों या तंतुओं के कुल ३१ जोड़े हैं, जो सुषुम्ना से निकलकर भिन्न-भिन्न अंगों की ओर जाते हैं। सौषुम्न तंतुओं के अतिरिक्त एक और नाड़ी-मंडल शरीर में होता है, जो 'पिंगल नाड़ी-जाल' कहलाता है। पिंगल नाड़ियों का सौषुम्न नाड़ियों से महत्त्वपूर्ण संवंध है। इन नाड़ियों की रचना, स्थिति, कार्य आदि का विस्तृत विवरण 'हम और हमारा शरीर' शीर्षक स्तंभ में आप पढ़ेंगे।

## स्वयंप्रेरित या परावर्तित क्रिया

अव हम स्थूल मस्तिष्क की एक विशेष क्रिया पर आते हैं। अगर एकाएक हमारी उँगली जलने लगे, तो हम उसे मस्तिष्क को सोचने का अवसर देने के पहले ही आप ही आप अलग खींच लेते हैं। इसी तरह जव कोई हमारी आँख के सामने उँगली लाता है, तो हमारी आँख की पलकें एकदम झपक जाती हैं, या हमारा हाथ आप ही आप उठकर तत्क्षण हमारी आँख के सामने आ जाता है। यह काम विना हमारी इच्छा के आप ही आप हो जाता है और इतनी फुर्ती के साथ होता है कि इस संवंध में सोचने या इच्छा करने का समय ही हमें नहीं मिलता। इस क्रिया को 'परावर्तित क्रिया' या 'स्वयंप्रेरित क्रिया' कहते हैं। इस तरह की क्रियाएँ लाखों की संख्या में हमारे शरीर में नित्यप्रति होती रहती हैं, जिनकी चेतना तक हमको नहीं होती, किन्तु जिनके वन्द हो जाने का अर्थ होता है तत्काल मृत्यु। यह वात नहीं है कि ये क्रियाएँ विना मस्तिष्क की सहायता के ही हो जाती हों। वास्तव में ये क्रियाएँ वहुत वारीकी के साथ होती हैं और इसीलिए इनका पता हमें शीघ्र नहीं चलता। उदाहरण के लिए, जव हमारी उँगली पर कोई एकाएक काँटा या सुई चुभोता है और उसी समय आप ही आप जव विना हमारी आज्ञा के हमारी उँगली झटके के साथ वहाँ से हट जाती है, तव निम्न क्रिया होती है। सुई के चुभते ही उँगली की त्वचा के सांवेदनिक या केन्द्रगामी तंतुओं द्वारा इस वात की सूचना सुषुम्ना में पहुँचती है, और वहाँ से वह मस्तिष्क को जाती है। सुषुम्ना में प्रवेश करने पर केन्द्रगामी तंतु कई

भागों में विभाजित हो जाते हैं। इनमें से एक छोटा भाग तो सुषुम्ना ही में समाप्त हो जाता है और बड़ा भाग मस्तिष्क को जाता है। मस्तिष्क तक सूचना पहुँचने में देर लगती है। इस बीच सुषुम्ना के वात-कोष स्वयं कार्य करने लगते हैं और मस्तिष्क से सूचना मिलने के पूर्व ही वे केन्द्रत्यागी तारों की पेशियों को संकोच करने की आज्ञा दे देते हैं, जिससे उँगली तुरंत अपने स्थान से हट जाती है। इतने में मस्तिष्क को सूचना पहुँच जाती है और वह निर्णय कर लेता है कि क्या करना चाहिए। यदि सुषुम्ना द्वारा दिए गए आदेश को मस्तिष्क उचित नहीं समझता तो फिर से वह नई आज्ञा देकर उँगली को पूर्वस्थान में हटा देता है, वरना सुषुम्ना के आदेश को ही स्थिर रखता है। इस प्रकार की परावर्तित क्रियाएँ प्रायः हमारे शरीर की रक्षा करने ही के निमित्त होती हैं।

'स्वयंप्रेरित क्रिया' का जिक्र आने पर आधुनिक शरीर-शास्त्र का कोई भी सजग विद्यार्थी युगान्तरकारी रूसी वैज्ञानिक पोफोलोफ की उपेक्षा नहीं कर सकता, चाहे कोई उसके सिद्धान्तों से, जो प्रथम महायुद्ध के बाद ही प्रकाश में आए हैं—सहमत हो अथवा असहमत। पोफोलोफ ने अपनी खोजों के सिलसिले में देखा कि शरीर-यंत्र की आवश्यकता के अनुसार बड़ी बारीकी के साथ लाला-ग्रंथियों का नियन्त्रण और नियमन होता है। अगर सूखा खाना मुंह में लिया जाता है, तो लार अपने आप अधिक निकलती है ताकि मुंह में का सूखा खाना अपने आप तर हो जाय। इसके विपरीत तरल पदार्थों के खाने में लार की मात्रा और उसकी जमावट बहुत कम होती है। ये क्रियाएँ साधारणतया मस्तिष्क के अध्ययन के दायरे में आती हुई नहीं लगतीं, क्योंकि इन स्वयंप्रेरित क्रियाओं में मस्तिष्क कोई स्पष्ट काम करता हुआ नहीं प्रतीत होता। पर आगे हम देखेंगे कि मानसिक क्रिया से इनका स्पष्ट सम्बन्ध है।

**मस्तिष्क के विविध ज्ञान-केन्द्र या सांवेदनिक क्षेत्र**

चित्र में बृहत् मस्तिष्क के धूसर अंश में अवस्थित भिन्न-भिन्न कार्यों से संबद्ध विशिष्ट क्षेत्र, जैसे दृष्टि-क्षेत्र, घ्राण-क्षेत्र आदि सूचित हैं।

ये स्वयंप्रेरित क्रियाएँ पोफोलोफ के मत के अनुसार दो प्रकार की होती हैं—एक अभ्यस्त और दूसरी स्वाभाविक। इसका अन्तर निम्न प्रयोग से समझा जा सकता है, जिसे पोफोलोफ ने स्वयं किया था। किसी कुत्ते को एक सुनसान कमरे में बन्द करके यदि ऊपर से किसी छेद द्वारा कोई बर्तन लटकाया जाय, तो पहले दिन तो वह बर्तन की आवाज सुनकर शान्त रहेगा और जब बर्तन जमीन पर आ लगेगा, तब उठकर उसे सूँघेगा, चाटेगा और फिर खाना शुरू करेगा। परन्तु इस तरह अगर बार-बार और नित्यप्रति किया जाय तो वह कुत्ता बर्तन के खटकने को ही खाना पहुँचने का संकेत समझ लेने का आदी हो जायगा और उसके शब्द के साथ ही जीभ चाटना, दुम हिलाना, लोटना-पोटना आदि शुरू कर देगा। उसकी यह आदत या क्रिया अर्जित अथवा अभ्यस्त होगी, जब कि पहले दिन की उसकी क्रिया स्वभावसिद्ध कही जायगी। किन्तु इस प्रकार अर्जित या अभ्यस्त क्रिया से स्वाभाविक क्रिया अधिक शक्तिसम्पन्न और दृढ़ होती है। इसके विपरीत अभ्यस्त क्रिया काफी पेचीदा होती है, उसमें मस्तिष्क की बहुत उलझी हुई क्रियाएँ होती हैं।

अगर कोई अपने नित्य के कामों पर गौर करे और यह विचार करे कि उनमें का कितना अंश अपने निज के अनुभवों से कार्यान्वित होता है और कितना स्वभावतः, तो इन अर्जित और स्वाभाविक क्रियाओं का अंतर बड़ी आसानी से समझ में आ सकता है, यद्यपि इसमें भी गलतफहमी होने की गुंजायश है और कई अर्जित आदतों से होनेवाली क्रियाएँ भूल से स्वभावसिद्ध समझी जा सकती हैं, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान इस बात को अधिकाधिक सिद्ध करता जाता है कि हमारी बहुत-सी क्रियाएँ, जो स्वभावसिद्ध समझी जाती हैं, बचपन की किन्हीं विस्मृत घटनाओं पर निर्भर रहती हैं।

है ; २ वे जो अंगों से मस्तिष्क और सुषुम्ना को जाते हैं ; ये 'केन्द्रगामी' कहलाते हैं। केन्द्रगामी तार सावेदनिक होते हैं, अर्थात् उनके द्वारा मस्तिष्क में किसी अंग की अनुभूति की संवेदना होती है। इसके विपरीत केन्द्रत्यागी तार मस्तिष्क के आज्ञानुसार अगों मे गति उत्पन्न करते और उनका संचालन करते है। ये 'मोटर नर्व्हस्' या गत्युत्पादक वात-सूत्र कहे जाते हैं। ये तार किस प्रकार अपना कार्य-सपादन करने मे समर्थ होते है, यह हम आगे बतायेंगे। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि केन्द्रत्यागी या गत्युत्पादक तारो के उत्पत्ति-स्थान जहाँ मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना के भीतर रहते हैं, वहाँ केन्द्रगामी अथवा सावेदनिक तारों के उद्गमस्थल सुषुम्ना और मस्तिष्क से बाहर होते है।

## कार्य-विभाजन

अब हमे यह देखना है कि उपर्युक्त केन्द्रगामी तार मस्तिष्क में कहाँ जाकर समाप्त होते है तथा केन्द्रत्यागी तार के उद्गमस्थलो का मूल मस्तिष्क से क्या सबध है। इस सबध मे अध्ययन करने पर वैज्ञानिको ने यह मालूम किया है कि वृहत् मस्तिष्क के वल्क या धूसर अंश मे भिन्न-भिन्न भागो के भिन्न-भिन्न काम है। कोई भाग दृष्टि से सबंध रखता है, तो कोई स्वाद या घ्राण से। किसी का कार्य गति उत्पन्न करना है, तो कोई शीत, ताप, वेदना आदि की संवेदना ही से सबंध रखता है। ये भाग अलग - अलग कहे जाने पर भी वास्तव में एक-दूसरे से पेचीदा ढंग से जुड़े हुए है, और परस्पर सबधित हैं। ये विभिन्न भाग 'केन्द्र' कहलाते हैं। इस प्रकार वृहत् मस्तिष्क के पृष्ठ पर दृष्टि-केन्द्र, घ्राण और स्वाद के केन्द्र, गति-क्षेत्र, सावेदनिक क्षेत्र आदि विभिन्न केन्द्र निश्चित हैं ( देखो पृष्ठ २४६ का चित्र)। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि किसी शासन-तंत्र के विभिन्न विभागो की तरह यद्यपि ये केन्द्र या विभाग केवल अपने-अपने कार्यो ही के लिए उत्तरदायी है, फिर भी जरूरत पडने पर ये एक-दूसरे से मिलकर भी काम करते है। ये क्षेत्र केन्द्रगामी और केन्द्रत्यागी तारों द्वारा शरीर के विभिन्न भागों से सबधित है। मानव मस्तिष्क एक बड़ी पेचीदा मशीन है। उसकी क्रिया-प्रक्रिया हमारे बिजली की तार-बर्की के जंजाल से कही अधिक गूढ और पेचीदा है। अंगों से मस्तिष्क तक संवेदना की सूचना पहुँचने या मस्तिष्क से उन अगो तक प्रतिक्रिया के रूप मे आदेश पहुँचने मे यद्यपि एक पल भर लगता है, किन्तु इस क्रिया के संपादन के लिए ससार में सबसे अधिक पेचीदा यंत्र-प्रणाली हमारे इस शरीर में प्रकृति ने बनाई है। हम आगे देखेंगे कि किस प्रकार यह अद्भुत मशीन काम करती है। साथ ही, यह भी देखेंगे कि ऊपर वर्णित अंगो के अलावा हमारे मस्तिष्क मे और कौन-कौन-से विशेष महत्त्व के अंग स्थित है, जिनका हमारी मानसिक क्रिया-प्रक्रियाओ से अत्यंत महत्त्वपूर्ण और घनिष्ट सबंध है——जैसे लघु मस्तिष्क का क्या कार्य है, सुषुम्ना के सिपुर्द कौन-कौन-से काम है, एक इष्ट गति उत्पन्न करने मे कौन-कौन-सी क्रियाओ का हमारे वात-संस्थान में होना आवश्यक है, आदि।

## वृहत् मस्तिष्क

यदि हम पूरे स्थूल मस्तिष्क को तौलें तो पाएँगे कि वृहत् मस्तिष्क, जो अन्य भाग की तुलना में स्थूल मस्तिष्क में नई वृद्धि है, समूचे मस्तिष्क का लगभग ८७५ प्रतिशत भाग है। इस समूचे पदार्थ में महत्त्व की वस्तु वह वल्क है, जो वृहत् मस्तिष्क के ऊपर पपडीनुमा मुड़ा-मुडा-सा रहता है। यह वल्क भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न-भिन्न परिमाण मे होता है, और कदाचित् इसीलिए मानव-मानव मे हमे बुद्धि-विभेद दिखाई पडता है। प्रसिद्ध फ्रेंच मानव-प्राणीशास्त्री ब्रोसा का मत है कि वृहत् मस्तिष्क के किसी गोलार्द्ध की साम्नेवाली घाई पर के वल्क के किसी भाग के नष्ट हो जाने से उसकी विपरीत दिशा के हस्त-प्रधान आदमी की शब्दस्मृति लोप हो जाती है। अर्थात् यदि वृहत् मस्तिष्क के वाम गोलार्द्ध में उक्त बात घटेगी, तो प्रधानतया दायें हाथ से काम लेनेवाले आदमी पर असर पड़ेगा और दाये गोलार्द्ध मे घटने से बाये हस्त-प्रधान आदमी पर।

उक्त वल्क चार छोटे-छोटे टुकडो मे घाइयो द्वारा विभाजित होता है। ये घाइयाँ गहरी होती है। इसके अतिरिक्त इन टुकड़ो मे भी कितनी ही छोटी-छोटी घाइयाँ बनी होती है। उक्त चार टुकड़े है——१–सम्मुख या ललाट भाग। २–शीर्ष भाग। ३–पार्श्व भाग। ४–पृष्ठ भाग।

इन विभागों का नाम जानने के बाद हमारे मन में इस जिज्ञासा का उठना स्वाभाविक हो जाता है कि क्या वल्क के पृष्ठ भाग का सम्बन्ध दृष्टि से अथवा पार्श्व-भाग का सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय से तो नही है, क्योंकि शरीर-शास्त्र का यह निश्चित और प्रमाणित मत है कि किसी अग की स्थिति, रचना और क्रिया में अवश्य ही कोई न-कोई सम्बद्धता होती है। किन्तु इस प्रकार उक्त वल्क के किसी निश्चित और विशेष भाग में किसी विशेष क्रिया के सम्पादन के क्षेत्रीकरण के प्रयत्न के लिए हमें समूचे वल्क

पर विचार करना होगा। न केवल उसके ऊपरी स्तर का ही बल्कि निचली सतह को भी अनुसंधान के क्षेत्र में लाना होगा। यह निचली सतह वृहत् मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों को अलग करके देखी जा सकती है।

मस्तिष्क के सर्वश्रेष्ठ सर्जन सर विक्टर हार्सली की खोजों से 'मानसिक क्षेत्रीकरण' के सिद्धान्त की नींव काफी मजबूत हुई है। इस अनुसंधान का व्यावहारिक मूल्य यह है कि जब एक व्यक्ति को दृष्टि-दोष या लकवा आदि हो जाता है, तब हम 'मानसिक क्षेत्रीकरण' के ज्ञान से यह नतीजा निकाल सकते हैं कि उस व्यक्ति के स्थूल मस्तिष्क का कौन-सा विशेष क्षेत्र अव्यवस्थित हो रहा है। कोई भी बाहरी चिह्न दृष्टिगोचर न होते हुए भी मस्तिष्क का सर्जन खोपड़ी के एक खास भाग को खोलेगा, जिसे वह वल्क के उक्त विशेष भाग के ठीक ऊपर समझेगा, जहाँ कि अव्यवस्था हो गई होगी; और वहाँ उसे किसी हड्डी की असाधारण मोटाई या ऐसी ही कोई अन्य अव्यवस्था दिखाई दे सकती है। उस अव्यवस्था को वह दूर कर सकता है और अपने रोगी को आराम करा सकता है।

## रहस्यपूर्ण निष्क्रिय क्षेत्र

इतनी खोज के बाद भी हम पाते हैं कि वल्क का अधिकांश भाग ऐसा है, जिसकी उपयोगिता का हमको पता नहीं है। वह भाग बिलकुल अक्रियाशील-सा लगता है। अनुमान यह किया जाता है कि उक्त अक्रियाशील क्षेत्र बुद्धि के विकास से सम्बन्धित है। इसके लिए एक प्रमाण यह मिलता है, जैसा कि डा० हगलिङ्गस जैक्सन का मत है, कि वात-सूत्र-प्रणाली धरातलों के एक सिलसिले से बनी हुई है, और वे धरातल एक-दूसरे पर बिछे हुए हैं। इनमें का सबसे ऊपरी धरातल विकास के क्रम में नवीनतम है। इसीलिए 'वल्क' को मस्तिष्क का नवीनतम परिधान कहते हैं। वल्क में यह अक्रियाशील क्षेत्र अन्य भाग की अपेक्षा अपनी नवीनता प्रकट करता है। इसलिए वल्क का यह भाग मस्तिष्क का नवीनतम और उच्चतम अंग समझा जाना चाहिए, जिससे मानव मस्तिष्क की प्रगतिशीलता का परिचय मिलता है।

यद्यपि छोटी-छोटी विस्तार की बातों में प्रत्येक स्थूल मस्तिष्क में कुछ-न-कुछ विभिन्नता अवश्य होती है, फिर भी साधारणतया सभी बातें समान होती हैं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, 'वृहत् मस्तिष्क' दो गोलार्द्धों में विभाजित है। इन्हें वाम और दक्षिण गोलार्द्ध कहते हैं। ये एक दरार के द्वारा अलग होते हैं और इन पर भूरे पदार्थ की एक पपड़ी-सी पड़ी रहती है, जो साँप की कुंडली की तरह भीतर के सफेद पदार्थ पर छायी रहती है। ये कुण्डलीनुमा पपड़ियाँ बहुत ही असमान होती हैं और इस कारण इन गोलार्द्धों के धरातल खूब ऊबड़खाबड़ होते हैं। जितना ही ऊँचा धरातल होगा, मस्तिष्क में उतना ही अधिक रक्त का संचार हो सकेगा। साधारणतया बुद्धि की मात्रा उक्त भूरे पदार्थ की कुण्डलियों की संख्या के अनुपात में ही होती है। अब यह निश्चित हो चुका है कि वृहत् मस्तिष्क ही विवेक, बुद्धि, इच्छा और भावना आदि का प्रधान केन्द्र है।

## लघु मस्तिष्क

'वृहत् मस्तिष्क' की तरह 'लघु मस्तिष्क' भी दो गोलार्द्धों से बना हुआ होता है और उसकी सतह पर भी उक्त धूसर पदार्थ की कुण्डलीनुमा जमावट होती है, किन्तु वह जमावट 'वृहत् मस्तिष्क' की तुलना में अधिक क्रमबद्ध और नियमित होती है। लघु मस्तिष्क शारीरिक गतियों का संचालन और नियमन करता है। चलना, दौड़ना, कूदना, उठना, बैठना, आदि क्रियाएँ लघु मस्तिष्क के ही संकेत और आज्ञा पर होती हैं। यदि 'लघु मस्तिष्क' में कोई खराबी पैदा हो जाय, तो आदमी किसी अंग को हिला तो सकेगा, पर वह शरीर का संतुलन स्थिर नहीं रख सकेगा, फलतः वह चल नहीं पायगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि 'लघु मस्तिष्क' से विभिन्न अंगों की अपने-आप होनेवाली गति पैदा नहीं होती, वरन् केवल उसका नियन्त्रण उसके द्वारा होता है।

## वात-तंतुओं के १२ जोड़े

स्थूल मस्तिष्क की भीतरी सतह से वात-तंतुओं के १२ जोड़े निकलते हैं। इनमें का पहला जोड़ा गन्ध-तन्तु या घ्राण-नाडियों का होता है, जो नाक के भीतरी प्रदेश अर्थात् घ्राण-प्रदेश तक जाता है।

दूसरा जोड़ा दृष्टि-तन्तु अथवा दृष्टि-नाड़ियों का होता है। तीसरा जोड़ा, जो 'दृष्टि-संचालक-तंतु' कहलाता है, उन मांसपेशियों तक जाता है, जिनसे आँख की पलकों का संचालन होता है। चौथा जोड़ा भी आँखों की गति से संबंधित है।

तंतुओं के पाँचवे जोड़े में सबसे बड़े तंतु होते हैं, जिनमें चालक या गति-संबंधी और ज्ञान-वाहक या सांवेदनिक दोनों प्रकार के तंतु होते हैं। इनके द्वारा चेहरे की त्वचा तथा निचले जबड़े और जीभ की मांस-पेशियाँ गति प्राप्त करती हैं। छठा जोड़ा उन मांस-पेशियों तक जाता है, जो पलकों

को बाहर की ओर मोड़ती है। इस तरह हम देखते हैं कि आँख की माँसपेशियाँ तीन स्पष्ट वात-तंतुओं के जोड़ों से वात-सूत्र प्राप्त करती है।

वात-तंतुओं का सातवाँ जोड़ा चेहरे की मांसपेशियों को वात-सूत्र प्रदान करता है। आठवें जोड़े को श्रवण-तंतु या श्रावणी नाड़ियाँ कहते हैं। नवाँ जोड़ा दो प्रकार के तंतुओं अर्थात् चालकतंतुओं और ज्ञान-तंतुओं से मिल कर बना होता है, अत. उनमे एक के द्वारा हलक, जीभ, नाक आदि के संधि-स्थान की मासपेशियाँ गति प्राप्त करती है, तथा दूसरे के द्वारा स्वाद का ज्ञान होता है।

वात-तंतुओं का दसवाँ जोड़ा भी मिश्रित प्रकार का होता है। इससे हलक, फेफड़े, हृदय, पेट और लीवर या यकृत का संचालन होता है। ग्यारहवाँ जोडा चालक नाड़ियों का होता है, जिनसे गर्दन की कुछ मांसपेशियाँ संचालित होती है। बारहवाँ जोड़ा भी चालक नाड़ियों ही का होता है, जिनसे जीभ की माँसपेशियो को वात-सूत्र प्राप्त होते है।

यदि कोई सांवेदनिक तंतु या ज्ञान-तंतु चोट खा जाता है तो अनुभूति मर जाती है और यदि कोई चालक या गति-संबंधी तंतु बिगड़ जाता है, तो अंग-विशेष की गति नष्ट हो जाती है, जैसे लकवा आदि रोगों में होता है।

खोपड़ी के नीचे लगभग ढाई इंच लम्बी सफेद और भूरे रंग की एक गद्दी होती है, जिसे 'महासंयोजक' कहते है। इसी के द्वारा निगलने और साँस लेने जैसी इच्छा से परे की क्रियाओं का नियन्त्रण होता है। स्थूल मस्तिष्क और सुषुम्ना के बीच सम्बन्ध का यही एकमात्र साधन होता है। यदि यह नष्ट हो जाय तो तुरन्त मृत्यु हो जाय, क्योंकि इसके नष्ट होते ही साँस लेने की क्रिया बन्द हो जाती है।

## सुषुम्ना

अब हम सुषुम्ना पर आते है। एक लम्बा पतला वात-सूत्र 'महासंयोजक' से शुरू होकर रीढ की हड्डी के भीतर से होता हुआ उसके अन्त तक जाता है। यही सुषुम्ना है। यह सूत्र लगभग १८ इंच लम्बा होता है और मोटाई में छोटी उँगली जैसा और कही-कही उससे भी मोटा होता है। सुषुम्ना भी उन्ही तीन प्रकार के आवरणों से ढकी होती है, जिनसे कि स्थूल मस्तिष्क आच्छादित रहता है। इससे बड़े-बड़े वात-सूत्र निकलकर चारों ओर शरीर की लम्बाई-चौड़ाई में फैले होते है। इन्हे 'सुषुम्ना तंतु' कहते हैं। जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है, सुषुम्ना एक दरार के द्वारा दक्षिण और वाम इन दो भागों में विभाजित होती है। उसका निम्नतम भाग घोड़े की दुम जैसा होता है, क्योकि वहाँ पर तंतु-जाल एक सूत के बण्डल-जैसा हो जाता है। यदि किसी स्थान पर सुषुम्ना कट जाय या जख्मी हो जाय, तो उस स्थान के नीचे स्वयंचालित अथवा 'परावर्तित क्रिया' नष्ट हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि मस्तिष्क से अंग-प्रत्यग तक तथा अंग-प्रत्यंग से मस्तिष्क तक अनुभूति और गतिशीलता का वाहक यही सुषुम्ना का वात-तंतु-जाल है। सौषुम्न नाड़ियों या ततुओ के कुल ३१ जोड़े हैं, जो सुषुम्ना से निकलकर भिन्न-भिन्न अंगो की ओर जाते है। सौषुम्न तंतुओ के अतिरिक्त एक और नाड़ी-मंडल शरीर में होता है, जो 'पिंगल नाडी-जाल' कहलाता है। पिंगल नाड़ियों का सौषुम्न नाड़ियो से महत्त्वपूर्ण संबंध है। इन नाड़ियों की रचना, स्थिति, कार्य आदि का विस्तृत विवरण 'हम और हमारा शरीर' शीर्षक स्तंभ मे आप पढ़ेगे।

## स्वयंप्रेरित या परावर्तित क्रिया

अब हम स्थूल मस्तिष्क की एक विशेष क्रिया पर आते है। अगर एकाएक हमारी उँगली जलने लगे, तो हम उसे मस्तिष्क को सोचने का अवसर देने के पहले ही आप ही आप अलग खीच लेते है। इसी तरह जब कोई हमारी आँख के सामने उँगली लाता है, तो हमारी आँख की पलकें एकदम झपक जाती है, या हमारा हाथ आप ही आप उठकर तत्क्षण हमारी आँख के सामने आ जाता है। यह काम बिना हमारी इच्छा के आप ही आप हो जाता है और इतनी फुर्ती के साथ होता है कि इस संबंध में सोचने या इच्छा करने का समय ही हमे नही मिलता। इस क्रिया को 'परावर्तित क्रिया' या 'स्वयंप्रेरित क्रिया' कहते है। इस तरह की क्रियाएँ लाखों की संख्या में हमारे शरीर में नित्यप्रति होती रहती है, जिनकी चेतना तक हमको नहीं होती, किन्तु जिनके बन्द हो जाने का अर्थ होता है तत्काल मृत्यु। यह बात नही है कि ये क्रियाएँ बिना मस्तिष्क की सहायता के ही हो जाती हों। वास्तव में ये क्रियाएँ बहुत बारीकी के साथ होती है और इसीलिए इनका पता हमे शीघ्र नही चलता। उदाहरण के लिए, जब हमारी उँगली पर कोई एकाएक काँटा या सुई चुभोता है और उसी समय आप ही आप जब बिना हमारी आज्ञा के हमारी उँगली झटके के साथ वहाँ से हट जाती है, तब निम्न क्रिया होती है। सुई के चुभते ही उँगली की त्वचा के सांवेदनिक या केन्द्रगामी तंतुओं द्वारा इस बात की सूचना सुषुम्ना मे पहुँचती है, और वहाँ से वह मस्तिष्क को जाती है। सुषुम्ना मे प्रवेश करने पर केन्द्रगामी तंतु कई

भागों में विभाजित हो जाते हैं। इनमें से एक छोटा भाग तो सुषुम्ना ही में समाप्त हो जाता है और बड़ा भाग मस्तिष्क को जाता है। मस्तिष्क तक सूचना पहुँचने में देर लगती है। इस बीच सुषुम्ना के वात-कोष स्वयं कार्य करने लगते हैं और मस्तिष्क से सूचना मिलने के पूर्व ही वे केन्द्रत्यागी तारों की पेशियों को संकोच करने की आज्ञा दे देते हैं, जिससे उँगली तुरंत अपने स्थान से हट जाती है। इतने में मस्तिष्क को सूचना पहुँच जाती है और वह निर्णय कर लेता है कि क्या करना चाहिए। यदि सुषुम्ना द्वारा दिए गए आदेश को मस्तिष्क उचित नहीं समझता तो फिर से वह नई आज्ञा देकर उँगली को पूर्वस्थान में हटा देता है, वरना सुषुम्ना के आदेश को ही स्थिर रखता है। इस प्रकार की परावर्तित क्रियाएँ प्रायः हमारे शरीर की रक्षा करने ही के निमित्त होती हैं।

'स्वयंप्रेरित क्रिया' का जिक्र आने पर आधुनिक शरीर-शास्त्र का कोई भी सजग विद्यार्थी युगान्तरकारी रूसी वैज्ञानिक पोफोलोफ की उपेक्षा नहीं कर सकता, चाहे कोई उसके सिद्धान्तों से, जो प्रथम महायुद्ध के बाद ही प्रकाश में आए हैं—सहमत हो अथवा असहमत। पोफोलोफ ने अपनी खोजों के सिलसिले में देखा कि शरीर-यंत्र की आवश्यकता के अनुसार बड़ी बारीकी के साथ लाला-ग्रंथियों का नियन्त्रण और नियमन होता है। अगर सूखा खाना मुँह में लिया जाता है, तो लार अपने आप अधिक निकलती है ताकि मुँह में का सूखा खाना अपने आप तर हो जाय। इसके विपरीत तरल पदार्थों के खाने में लार की मात्रा और उसकी जमावट बहुत कम होती है। ये क्रियाएँ साधारणतया मस्तिष्क के अध्ययन के दायरे में आती हुई नहीं लगतीं, क्योंकि इन स्वयंप्रेरित क्रियाओं में मस्तिष्क कोई स्पष्ट काम करता हुआ नहीं प्रतीत होता। पर आगे हम देखेंगे कि मानसिक क्रिया से इनका स्पष्ट सम्बन्ध है।

**मस्तिष्क के विविध ज्ञान-केन्द्र या सांवेदनिक क्षेत्र**

चित्र में वृहत् मस्तिष्क के धूसर अंश में अवस्थित भिन्न-भिन्न कार्यों से सबद्ध विशिष्ट क्षेत्र, जैसे दृष्टि-क्षेत्र, घ्राण-क्षेत्र आदि सूचित हैं।

ये स्वयंप्रेरित क्रियाएँ पोफोलोफ के मत के अनुसार दो प्रकार की होती हैं—एक अभ्यस्त और दूसरी स्वाभाविक। इसका अन्तर निम्न प्रयोग से समझा जा सकता है, जिसे पोफोलोफ ने स्वयं किया था। किसी कुत्ते को एक सुनसान कमरे में बन्द करके यदि ऊपर से किसी छेद द्वारा कोई बर्तन लटकाया जाय, तो पहले दिन तो वह बर्तन की आवाज सुनकर शान्त रहेगा और जब बर्तन जमीन पर आ लगेगा, तब उठकर उसे सूँघेगा, चाटेगा और फिर खाना शुरू करेगा। परन्तु इस तरह अगर बार-बार और नित्यप्रति किया जाय तो वह कुत्ता बर्तन के खटकने को ही खाना पहुँचने का संकेत समझ लेने का आदी हो जायगा और उसके शब्द के साथ ही जीभ चाटना, दुम हिलाना, लोटना-पोटना आदि शुरू कर देगा। उसकी यह आदत या क्रिया अर्जित अथवा अभ्यस्त होगी, जब कि पहले दिन की उसकी क्रिया स्वभावसिद्ध कही जायगी। किन्तु इस प्रकार अर्जित या अभ्यस्त क्रिया से स्वाभाविक क्रिया अधिक शक्तिसम्पन्न और दृढ़ होती है। इसके विपरीत अभ्यस्त क्रिया काफी पेचीदा होती है, उसमें मस्तिष्क की बहुत उलझी हुई क्रियाएँ होती हैं।

अगर कोई अपने नित्य के कामों पर गौर करे और यह विचार करे कि उनमें का कितना अंश अपने निज के अनुभवों से कार्यान्वित होता है और कितना स्वभावतः, तो इन अर्जित और स्वाभाविक क्रियाओं का अंतर बड़ी आसानी से समझ में आ सकता है, यद्यपि इसमें भी गलतफहमी होने की गुंजायश है और कई अर्जित आदतों से होनेवाली क्रियाएँ भूल से स्वभावसिद्ध समझी जा सकती हैं, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान इस बात को अधिकाधिक सिद्ध करता जाता है कि हमारी बहुत-सी क्रियाएँ, जो स्वभावसिद्ध समझी जाती हैं, बचपन की किन्हीं विस्मृत घटनाओं पर निर्भर रहती हैं।

पोफोलोफ की खोज का मूल सूत्र यह है कि वृहत् मस्तिष्क के गोलार्द्धों की क्रियाएँ दो विरोधी प्रणालियों के पारस्परिक संघर्षण द्वारा नियन्त्रित होती है, और वे प्रणालियाँ है—उत्तेजना एवं अवरोध।

उदाहरण के लिए 'हृदय' ही को लिया जाय। हृदय हमारे शरीर का एक स्वयंचालित पम्प जैसा यंत्र है। यदि यह शरीर से निकाल दिया जाय और उसके बाहर इसकी देखभाल रक्खी जाय, तो भी वह कदाचित् चलता रह सकता है, लेकिन शरीर में उसकी गति जिस प्रकार नियन्त्रित होती है, वह बाहर कदापि नही हो सकती। शरीर मे कभी उसकी गति तेज और कभी धीमी होती रहती है, ताकि वह शरीर की आवश्यकताओ को पूरी कर सके। इसके लिए हृदय के नीचे वात-सूत्र के दो जोड़े होते है, जिनमे एक सदेशवाहक है, जो हृदय की गति को तेज करता है; दूसरा है संदेश का संचय करनेवाला, जो उसे धीमा करता है। पहला हृदय को उत्तेजना प्रदान करता है और दूसरा उसका उचित अवरोध करता है।

अब देखा जाय कि साधारणतया गति किस तरह उत्पन्न होती है। हमारे सभी विचार, चिन्तन की क्रियाएँ और इच्छाएँ 'वृहत् मस्तिष्क' मे पैदा होती है। ज्योंही हमे किसी अंग को हिलाने की इच्छा पैदा होती है, त्योंही वृहत् मस्तिष्क से एक 'वात-प्रवाह' शरीर के उस भाग की ओर प्रवाहित होता है, जिधर वह अंग-विशेष होता है। उस तरफ से होते हुए वह 'महासंयोजक' तक जाता है। 'महासंयोजक' से एक 'शक्ति प्रेरणा' सुषुम्ना के ऊपर से उसके नीचे तक गुजरती है और वहाँ से वात-तंतुओ के द्वारा वह उस अंग-विशेष तक पहुँचती है। तब कही जाकर वह अंग-विशेष शक्ति प्राप्त कर गतिशील होता है।

जो प्रेरणा स्थूल मस्तिष्क के दक्षिण भाग मे उठती है, वह महासयोजक के रास्ते मस्तिष्क के वाम भाग को जाती और वहाँ से सुषुम्ना के वाम भाग के नीचे तक उतरकर शरीर के वाम भाग मे स्थित अंग-विशेष में वितरित हो जाती है। इसी प्रकार जो 'ज्ञान-प्रेरणा' किसी ज्ञानेन्द्रिय से उठती है, वह वृहत् मस्तिष्क से गुजरकर शरीर के दूसरे भाग को जाती है, और उसका भी मार्ग महासंयोजक से होकर ही है। अतएव मस्तिष्क की तारवर्की के इस कार्यालय में वृहत् मस्तिष्क, महासंयोजक मानो 'एक्सचेंज' का काम करते है।

**मस्तिष्क का कार्य**

प्रस्तुत मानचित्र में मस्तिष्क की एक ऐसे शासन-विभाग के रूप में कल्पना की गई है, जो कि दृष्टि-केन्द्र (नं० १), घ्राण-केन्द्र (नं० ३), श्रवण-केन्द्र (नं० ४) आदि अपने विभिन्न उप-विभागों द्वारा तरह-तरह की रिपोर्टें प्राप्तकर तथा विवेक-केन्द्र (नं० १०) में पूर्णतया विचार करके संकल्प-केन्द्र (नं० २) के द्वारा उनके संबंध में कार्रवाही करने का आदेश शरीर के विभिन्न भागों तक पहुँचाता है। साथ ही स्मृति-केन्द्र (नं० ९) में वह इन रिपोर्टों का लेखा भी भावी निर्देश के लिये जमा रखता और हृदय, श्वासोच्छ्वास, नाड़ी, ग्रंथियों आदि की गति-नियंत्रित करने वाले विभिन्न विभागों (नं० ५,६,७) द्वारा ऐसे कुछ कार्यों का भी सञ्चालन करता है, जिन पर संकल्प-शक्ति-विभाग का कोई हाथ नहीं है!
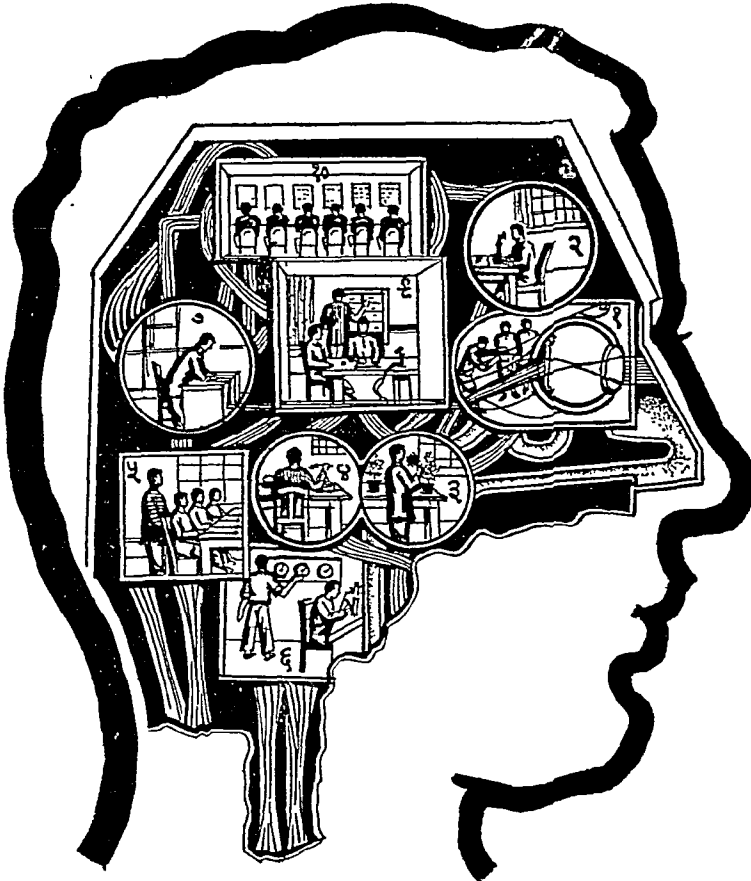
# मनुष्य की लंबी यात्रा का आरंभ

मनुष्य का इतिहास उसकी यात्रा का इतिहास है। आज जब हम युगों और महाकल्पों को लाँघकर चली आ रही अपने इतिहास की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी को घूमकर देखते हैं, तो कुछ ही हजार या लाख साल पीछे तक नजर दौड़ा पाते हैं, उसके बाद वह पगडंडी निरंतर क्षीण होते-होते प्रागैतिहासिक युग के धुंधलेपन में लीन हो जाती है। किंतु इससे क्या? हमारी यात्रा का आरंभ तो निस्सन्देह आज से लाखों वर्ष पहले हुआ होगा। अनादि काल से जिस पगडंडी पर हम चलते चले आ रहे हैं, उसके किनारे-किनारे के हमारे युग-युग के पड़ावों के जो थोड़े-बहुत ध्वंसावशेष आज के दिन हमें मुड़कर देखने पर मिलते हैं, वे हमें विगत युगों की कैसी अद्भुत् कहानी सुना रहे हैं! आइए, इस स्तंभ के अंतर्गत क्रमशः उसी कहानी को दोहराएँ।

यद्यपि वैज्ञानिकों ने तरह-तरह की खोजें की और अटकल लगाए, किन्तु अभी तक कोई दावे के साथ यह नहीं सिद्ध कर सका कि अब तक पृथ्वी की कितनी आयु बीत चुकी है। अधिकांश वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी को प्रकट हुए तीस-चालीस करोड़ से पन्द्रह करोड़ वर्ष बीत चुके। पृथ्वी पर जीव का प्रस्फुरण लगभग तीन करोड़ वर्ष हुए, सबसे पहले उथले जल अथवा दलदलों में हुआ था। उस समय जीवधारी का स्वरूप चिपचिपे जलकीट की तरह हुआ। इन्हीं से आगे चलकर मेंढक आदि निकले। बहुत समय बीतने पर जीव को रेंगनेवाले और सरककर चलनेवाले जन्तुओं का शरीर मिला। इस समय तक वनस्पतियों की भी उत्पत्ति हो चुकी थी, जिनसे आगे चलकर घने जंगल हो गए। इन्हीं जंगलों में पतिंगों और उड़नेवाले कीटों का जन्म हुआ। इनके बाद पशुओं की उत्पत्ति हुई। पशुओं के लाखों भेद थे। उन्हीं में से वानर भी थे। वानर की अनेक जातियाँ हैं। कतिपय वानरों—जैसे शिम्पैंजी, गोरिल्ला आदि—की शरीर-रचना मनुष्य की शरीर-रचना से इतनी मिलती-जुलती है कि कुछ लोगों की राय में उन्हीं के मूल वंशवृक्ष से मनुष्य का विकास हुआ।

### मनुष्य कब और कहाँ पैदा हुआ

आदि वानरों को मनुष्य की तरह पत्थर, लकड़ी, लताओं और पत्तियों से काम लेने का ढंग मालूम हो चला था। मानवसम प्राणियों के प्राचीन अवशेषों का अब तक जो पता लगा है, उससे अनुमान किया जाता है कि शायद मनुष्य की उत्पत्ति अब से लगभग दस लाख वर्ष पहले हुई। जावा में मनुष्य की-सी एक खोपड़ी मिली है, जिसे लोग दस लाख वर्ष की पुरानी मानते हैं। चीन में प्राप्त खोपड़ी की आयु चार लाख पचहत्तर हजार वर्ष की आँकी गई है। जर्मनी की सबसे पुरानी खोपड़ी तीन लाख वर्ष की है। फ्रांस और इँगलैंड में जो खोपड़ियाँ मिली हैं, वे एक लाख पचीस हजार वर्ष से लेकर दस हजार वर्ष तक पुरानी हैं।

भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार पृथ्वी का पिछला जीवन कई युगों में विभक्त किया जाता है। इनमें एक युग ऐसा है, जिसका आरम्भ पृथ्वी पर घोर शीत पड़ने से होता है। इस वर्फ के युग अथवा हिमयुग के उन्होंने कई भाग किए हैं, जिनमें सबसे पहला अब से पाँच लाख वर्ष के पहले माना जाता है; और सबसे आखिरी (चौथे) का आरम्भ अब से पचास या पचीस हजार वर्ष पहले हुआ था। आजकल वही युग चल रहा है। इस गणना के अनुसार मनुष्य हिमयुग के आरम्भ से ही चला आ रहा है। अधिकतर विद्वानों का मत है कि मनुष्य सबसे पहले एशिया में ही पैदा हुआ। किन्तु मतभेद इस बात में है कि वह एशिया के किस भाग में उत्पन्न हुआ। इस संबंध में इस ग्रंथ में अन्यत्र विशेष प्रकाश डाला गया है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि

पृथ्वी के धरातल का जो नकशा आजकल है, वह हमेशा से ऐसा ही नहीं रहा। उसमे अनेक फेरफार हो चुके है। उदाहरण के लिए एक समय ऐसा भी था जबकि जावा, सुमात्रा और मलय अन्तरीप एक साथ मिले हुए थे। इसी तरह एशिया, अफ्रीका और योरप भी आपस मे मिले हुए थे। अब से तीस हजार वर्ष पहले ब्रिटेन भी योरप से मिला हुआ था। स्पेन और इटली अफ्रीका से जुड़े हुए थे। बल्कान अन्तरीप एशिया से मिला हुआ था। उस समय लंका भारतवर्ष से जुड़ा हुआ था। सिन्ध प्रदेश और बंगाल का कही पता भी न था। काला समुद्र, कैस्पियन सागर और तुर्किस्तान के ऊपर का हिस्सा जल मे डूबा हुआ था। कहने का सारांश यह है कि उस समय पृथ्वीतल पर आने-जाने के रास्ते आजकल के रास्तो से भिन्न थे। इन्ही कारणों से मनुष्य और पशु आदि बिना जलयान की सहायता के एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप मे पहुँच जाते थे।

### मनुष्य की प्रगति

मनुष्यों के अनेक समूह हो गए है। उनमे से कुछ उपजातियों का लोप हो गया है, कुछ अभी तक बहुत पिछड़ी पड़ी है तथा कुछ ने अच्छी उन्नति और सभ्यता प्राप्त कर ली है। वस्तुतः मनुष्य अन्य पशुओं से इस बात मे कही अधिक भाग्यवान् है कि वह उन्नतिशील है और उसकी उन्नति किसी-न-किसी अंश मे बराबर होती चली आ रही है और हो रही है। मनुष्य अन्य पशुओ से कई बातों मे भिन्नता रखता हैं। पहली बात यह है कि वह सीधा खड़ा होकर दो पैरो से चलता है। दूसरी यह कि उसके हाथ और अँगूठे की रचना दूसरे ही ढंग की है। तीसरी यह कि वह अपने और दूसरो के अनुभवो से लाभ उठा सकता है। चौथी यह कि वह स्मरण, मनन और चिन्तन से अपनी कृतियो को सुधार सकता तथा अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए अनेक उपाय और साधन निकालकर अपनी उन्नति और सुधार कर सकता है। पांचवी यह कि वह अपने विचारो और भावों को वाणी और संकेतो के द्वारा प्रकट करने की शक्ति रखता है। इन्ही सब गुणों के कारण वह निरन्तर उन्नति करता जा रहा है। इन शक्तियों का विकास एक साथ ही अथवा पूर्ण रूप से नही हुआ। इनके विकास होने में वस्तुतः बहुत-सा समय लगा और शायद अभी तक मनुष्य की गुप्त अथवा प्रकट शक्तियो का पूरा-पूरा विकास नही हो पाया है।

मनुष्य को प्रकृति ने जो शक्तियाँ दी हैं, वे उसकी उन्नति मे सहायक हैं, किन्तु अपनी निजी शक्तियों के अलावा उसको अन्य जीव-जन्तुओं की तरह बाहरी प्रकृति से भी सहायता अथवा विरोध दोनों ही मिलते हैं। पशु-पक्षी तो प्रकृति के अनन्य अनुचर बने हुए हैं, किन्तु मनुष्य प्रकृति पर दिनो-दिन अपना अधिकार जमाता चला आ रहा है। वह प्रकृति का दास नही, बल्कि प्रकृति को ही अपनी अनुचरी बनाने की कोशिश करता चला आ रहा हैं। अपने इतिहास के आरम्भिक काल में वह प्रकृति के वश मे अधिक था, इसलिए उसकी उन्नति बहुत धीरे-धीरे हुई। किन्तु जैसे-जैसे उसके साधन बढ़ते गए, वैसे ही उसकी उन्नति शीघ्रता के साथ होने लगी और प्रकृति के ऊपर उसका प्रभुत्व बढ़ने लगा।

**मानवीय इतिहास के सूत्रपात का पहला अंक**

आदि मानव अन्य पशुओं का साथ छोड़कर जब प्रागैतिहासिक जंगलों से बाहर निकला होगा, उसी समय से उसके इतिहास का भी सूत्रपात हुआ होगा। निस्संदेह इस प्रक्रिया मे हजारों या लाखों वर्ष लग गए होगे। परंतु अनुमान किया जाता है कि लगभग पचास हजार वर्ष पूर्व वह पत्थरों के औजारों से काम लेने लग गया था। प्रस्तुत चित्र मे उस युग के एक लघु मानव-परिवार की कल्पना की गई है।

**पचास हजार वर्ष पूर्व पूर्वीय गोलार्द्ध की रूपरेखा**

५० हजार वर्ष पूर्व जब कि पृथ्वी पर नीएण्डरथल जाति के मानव विचरते थे, पूर्वी गोलार्द्ध के जल और स्थल भाग का सम्भवत: ऐसा ही रूप रहा होगा, जैसा इस नक्शे में दिखाया गया है। इस युग मे भारत का दक्षिणी भाग उत्तरी भाग से बिलकुल कटा हुआ था और गगा-सिन्धु के मैदान में महासागर लहराता था !

## आदि मानव का जीवन

अब से कुछ लाख वर्ष पहले मनुष्य का जीवन पशु का-सा था। अपने हाथो के सिवा उसके पास रक्षा करने का कोई साधन न था। तब उसको शरीर ढाँकना तक नही आता था। झोपड़ी बनाना भी वह नही जानता था। उसके पास गाय, भैंस, बकरी, भेड, कुत्ता कुछ भी न था। उसने अनाज का स्वप्न तक नही देखा था, और वर्त्तन आदि भी उसके खयाल के बाहर थे। कन्द-मूल, जगली फल, पत्तियाँ अथवा मरे जानवरों या जल-जन्तुओं का मास ही उसका आहार था। भाग्यवश उसे आग पैदा करना मालूम हो गया। लकड़ियों को जोर के साथ रगड़कर वह आग पैदा कर लेता था। आग जलाकर उसके चारो ओर बैठकर लोग उन दिनो तापा करते थे। धीरे-धीरे उसने लकड़ी के नुकीले और चपटे हथियार बनाना, मांस को भूनना और खाल अथवा पत्तियो से तन को ढकना सीख लिया। किन्तु इस थोडे-से ज्ञान को प्राप्त करने मे भी उसे हजारों वर्ष लग गए। मनुष्य की उस समय की दशा बडी दयनीय रही होगी, किन्तु उस समय में भी आग पैदा करके और हथियार की रचना करके उसने सभ्यता की जड जमा दी। उसको अपनी आवश्यकताओ का अनुभव होने लगा, जिसके कारण उन्नति का रास्ता खुलने लगा। कहा जाता है कि मनुष्य इसी दशा मे लाखो वर्ष तक टक्कर खाता रहा होगा। इस समय भी टस्मानिया जैसे प्रदेश मे मनुष्यो के कुछ जंगली जन-समूह ऐसे पाए जाते है, जो आज के दिन भी पाषाण-युग की-सी आदिम दशा में रहते है।

## पाषाण-युग में मनुष्य

करीब सवा लाख वर्ष हुए जब मनुष्य ने ऊपर वर्णित दशा से कुछ उन्नति करना आरम्भ कर दिया। उसी

पृथ्वी के धरातल का जो नकशा आजकल है, वह हमेशा से ऐसा ही नहीं रहा। उसमे अनेक फेरफार हो चुके है। उदाहरण के लिए एक समय ऐसा भी था जबकि जावा, सुमात्रा और मलय अन्तरीप एक साथ मिले हुए थे। इसी तरह एशिया, अफ्रीका और योरप भी आपस मे मिले हुए थे। अब से तीस हजार वर्ष पहले ब्रिटेन भी योरप से मिला हुआ था। स्पेन और इटली अफ्रीका से जुड़े हुए थे। बल्कान अन्तरीप एशिया से मिला हुआ था। उस समय लंका भारतवर्ष से जुड़ा हुआ था। सिन्ध प्रदेश और बंगाल का कही पता भी न था। काला समुद्र, कैस्पियन सागर और तुर्किस्तान के ऊपर का हिस्सा जल मे डूबा हुआ था। कहने का साराश यह है कि उस समय पृथ्वीतल पर आने-जाने के रास्ते आजकल के रास्तों से भिन्न थे। इन्ही कारणों से मनुष्य और पशु आदि बिना जलयान की सहायता के एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में पहुँच जाते थे।

### मनुष्य की प्रगति

मनुष्यो के अनेक समूह हो गए है। उनमें से कुछ उपजातियो का लोप हो गया है, कुछ अभी तक बहुत पिछडी पड़ी है तथा कुछ ने अच्छी उन्नति और सभ्यता प्राप्त कर ली है। वस्तुत. मनुष्य अन्य पशुओ से इस बात में कही अधिक भाग्यवान है कि वह उन्नतिशील है और उसकी उन्नति किसी-न-किसी अंश मे बराबर होती चली आ रही है और हो रही है। मनुष्य अन्य पशुओ से कई बातों मे भिन्नता रखता हैं। पहली बात यह है कि वह सीधा खडा होकर दो पैरों से चलता है। दूसरी यह कि उसके हाथ और अँगूठे की रचना दूसरे ही ढंग की है। तीसरी यह कि वह अपने और दूसरों के अनुभवों से लाभ उठा सकता है। चौथी यह कि वह स्मरण, मनन और चिन्तन से अपनी कृतियो को सुधार सकता तथा अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए अनेक उपाय और साधन निकालकर अपनी उन्नति और सुधार कर सकता है। पाँचवी यह कि वह अपने विचारो और भावों को वाणी और सकेतो के द्वारा प्रकट करने की शक्ति रखता है। इन्ही सब गुणों के कारण वह निरन्तर उन्नति करता जा रहा है। इन शक्तियों का विकास एक साथ ही अथवा पूर्ण रूप से नहीं हुआ। इनके विकास होने में वस्तुतः बहुत-सा समय लगा और शायद अभी तक मनुष्य की गुप्त अथवा प्रकट शक्तियों का पूरा-पूरा विकास नही हो पाया है।

**मानवीय इतिहास के सूत्रपात का पहला अंक**

आदि मानव अन्य पशुओं का साथ छोड़कर जब प्रागैतिहासिक जंगलों से बाहर निकला होगा, उसी समय से उसके इतिहास का भी सूत्रपात हुआ होगा। निस्संदेह इस प्रक्रिया मे हजारों या लाखों वर्ष लग गए होंगे। परंतु अनुमान किया जाता है कि लगभग पचास हजार वर्ष पूर्व वह पत्थरों के औजारों से काम लेने लग गया था। प्रस्तुत चित्र मे उस युग के एक लघु मानव-परिवार की कल्पना की गई है।

मनुष्य को प्रकृति ने जो शक्तियाँ दी हैं, वे उसकी उन्नति में सहायक हैं, किन्तु अपनी निजी शक्तियों के अलावा उसको अन्य जीव-जन्तुओं की तरह बाहरी प्रकृति से भी सहायता अथवा विरोध दोनोंही मिलते हैं। पशु-पक्षी तो प्रकृति के अनन्य अनुचर बने हुए हैं, किन्तु मनुष्य प्रकृति पर दिनो-दिन अपना अधिकार जमाता चला आ रहा है। वह प्रकृति का दास नहीं, बल्कि प्रकृति को ही अपनी अनुचरी बनाने की कोशिश करता चला आ रहा है। अपने इतिहास के आरम्भिक काल में वह प्रकृति के वश में अधिक था, इसलिए उसकी उन्नति बहुत धीरे-धीरे हुई। किन्तु जैसे-जैसे उसके साधन बढ़ते गए, वैसे ही उसकी उन्नति शीघ्रता के साथ होने लगी और प्रकृति के ऊपर उसका प्रभुत्व बढ़ने लगा।

**पचास हजार वर्ष पूर्व पूर्वीय गोलार्द्ध की रूपरेखा**

५० हजार वर्ष पूर्व जब कि पृथ्वी पर नीएण्डरथल जाति के मानव विचरते थे, पूर्वी गोलार्द्ध के जल और स्थल भाग का सम्भवतः ऐसा ही रूप रहा होगा, जैसा इस नक्शे में दिखाया गया है। इस युग में भारत का दक्षिणी भाग उत्तरी भाग से बिलकुल कटा हुआ था और गंगा-सिन्धु के मैदान में महासागर लहराता था !

## आदि मानव का जीवन

अब से कुछ लाख वर्ष पहले मनुष्य का जीवन पशु का-सा था। अपने हाथों के सिवा उसके पास रक्षा करने का कोई साधन न था। तब उसको शरीर ढाँकना तक नहीं आता था। झोपड़ी बनाना भी वह नहीं जानता था। उसके पास गाय, भैंस, बकरी, भेड, कुत्ता कुछ भी न था। उसने अनाज का स्वप्न तक नहीं देखा था, और बर्तन आदि भी उसके खयाल के बाहर थे। कन्द-मूल, जंगली फल, पत्तियां अथवा मरे जानवरों या जल-जन्तुओं का मांस ही उसका आहार था। भाग्यवश उसे आग पैदा करना मालूम हो गया। लकड़ियों को जोर के साथ रगड़कर वह आग पैदा कर लेता था। आग जलाकर उसके चारों ओर बैठकर लोग उन दिनों तापा करते थे। धीरे-धीरे उसने लकड़ी के नुकीले और चपटे हथियार बनाना, मांस को भूनना और खाल अथवा पत्तियों से तन को ढकना सीख लिया। किन्तु इस थोड़े-से ज्ञान को प्राप्त करने में भी उसे हजारों वर्ष लग गए। मनुष्य की उस समय की दशा बड़ी दयनीय रही होगी, किन्तु उस समय में भी आग पैदा करके और हथियार की रचना करके उसने सभ्यता की जड़ जमा दी। उसको अपनी आवश्यकताओं का अनुभव होने लगा, जिसके कारण उन्नति का रास्ता खुलने लगा। कहा जाता है कि मनुष्य इसी दशा में लाखों वर्ष तक टक्कर खाता रहा होगा। इस समय भी टस्मानिया जैसे प्रदेश में मनुष्यों के कुछ जंगली जन-समूह ऐसे पाए जाते हैं, जो आज के दिन भी पाषाण-युग की-सी आदिम दशा में रहते हैं।

## पाषाण-युग में मनुष्य

करीब सवा लाख वर्ष हुए जब मनुष्य ने ऊपर वर्णित दशा से कुछ उन्नति करना आरम्भ कर दिया। उसी

समय से 'पाषाण-युग' का आरम्भ होता है। इसे पत्थर का युग इसलिए कहते हैं कि उस समय लोग पत्थर के औजारों और हथियारों से काम लेते थे। यह युग आज से लगभग सवा लाख वर्ष पहले आरम्भ हुआ था और अब से करीब छ हजार वर्ष पूर्व तक वह चलता रहा। पत्थर के युग के दो भाग माने जाते हैं, एक पूर्वकाल और दूसरा उत्तरकाल। इस युग के पूर्व भाग मे आदमी पत्थर के ऐसे औजार बनाने लगे, जिन्हें मुट्ठी मे पकड़कर वे काम मे ला सके। क्रमश: वे नुकीले और चपटे औजार भी बनाने लगे। उस समय के बने हुए हथौड़े, घन, खरोचने की चीजे, तीर, बरछी के फल और चाकू वगैरह अमेरिका, योरप, अफ्रीका और एशिया के देशो में अब तक पाए जाते हैं। इसी तरह एक लाख वर्ष बीत गए। फिर उन्होने हड्डी की चीजें, जैसे पिन, घन, पालिश करने के औजार, वगैरह बनाना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे उन्हें बरमा, आरी, बरछी, भाले आदि बनाना और उनमें हत्थे लगाना भी आ गया। इनके अलावा वे सींग और हड्डी के सूजे-सूजियाँ भी बनाने लगे। अब से करीब सोलह हजार वर्ष पूर्व की बनी हुई हाथीदाँत और सीग की खासी अच्छी चीजें मिलती हैं। इस प्रकार पत्थर-युग के पूर्वकाल में लकड़ी, पत्थर, हड्डी या सीग से वे लोग हथौड़े, घन, रन्दे, बरमे, रुखानी, कन्नी, खुरपी, बसूले, कुल्हाड़ी, फरसे, छोटे-बड़े चाकू, बरछे, खंजर, कटिया, पिन, दिये, वगैरह बनाने लगे। किन्तु सब से अचरज की बात तो यह है कि वे लोग पहाड़ की गुफाओं में, जहाँ वे रहने लगे थे, कभी-कभी दीवारों पर भाँति-भाँति के चित्र भी

**पाषाण-युग के मनुष्यों के पत्थर के औजार-हथियार**

(पहली पंक्ति मे) मुट्ठी मे पकड़कर काम में ला सकने योग्य पत्थर के औजार, जो रगड़कर बनाए गए थे। ये इटली में पाए गए हैं। (दूसरी पंक्ति मे) ऊपर ही की तरह के अन्य औजार। ये उत्तरी अमेरिका मे पाए गए हैं। (तीसरी पंक्ति में) पत्थरों के बने भालो या तीरों के फल। ये भिन्न-भिन्न स्थानों में मिले हैं।

बनाते थे। स्पेन के अल्टामिरा नामक स्थान में अब से सोलह हजार वर्ष पहले के गुफाओं में बने हुए काफी सुंदर सजीव रंगीन चित्र मिलते है, जिनको देखकर यह मानना पड़ता है कि पत्थर के युग में भी मनुष्य में कला-कौशल का स्वाभाविक अनुराग प्रकट हो चुका था। ये चित्र प्राय. बारहसिंघों, हाथियों, घोड़ों, भैसों, रीछो और सुअरों आदि के है। कहीं-कही मोटी स्त्रियो के भी अनेक चित्र मिलते है। इसके अलावा चेकोस्लोवेकिया मे हाथी, जगली घोडे और बारहसिंघो की पत्थर की बनी मूर्त्तियाँ भी मिलती है।

## पाषाण-युग का उत्तरकाल

पत्थर-युग के उत्तरकाल मे, जिसका आरम्भ अब से यदि दस हजार वर्ष नही तो सात हजार वर्ष पहले अवश्य माना जाता है, कुछ मार्के के परिवर्तन हो गए। इस समय पत्थरों को रगड़कर औजार बनाए जाने लगे, क्योंकि उन पर पालिश मिलती है। लोगो को पशुओ के पालने एवं लाभ उठाने का भी ज्ञान होने लगा। गाय, बैल, बकरी, भेड़, घोड़े, कुत्ते और सुअर पाले जाने लगे। पहले लोग केवल शिकार करके माँस लाते और खाते थे, किन्तु अब पले हुए जानवरों को वे काम में लाने लगे। वे उनका दूध पीते और माँस खाते और उनसे खेती वगैरह के काम लेते थे। जौ, गेहूँ और बाजरा की खेती वे करते थे। वे मिट्टी के बर्तन भी बनाने लगे। मिट्टी की ईंटे भी बनने लगी। यही नही, इसी काल मे लोगों को बुनने का कौशल भी मालूम हो गया। वे पत्तियों, घासो और बाँसो से बुनकर डलिया, झौआ आदि बनाने लगे। सन को पैदा करके उसको बटकर रस्सियाँ बनाने लगे। उन्हें गोलाकार गड़ेरियो के बनाने और उनसे काम लेने का ज्ञान भी होने लगा। कदाचित् इसी युग में पहिए का महत्वपूर्ण आविष्कार उन्होने कर डाला, जिसकी सहायता से बोझ उठाकर ले जाने में उनको सुविधा होने लगी। उनको मिट्टी की दीवारें, घास-फूस, झाऊ, बाँस आदि से टट्टर और छप्पर आदि बनाना भी आ गया। इसलिए अब वे गुफाओं को छोड़कर झोपड़ों मे रहने लगे। उनको पेड़ों के तनों को खोखला करके नावें बनाना भी आ गया। नावों और पहिए के ठेलों आदि की बदौलत अब वे परस्पर थोड़ा व्यापार भी करने लगे।

## सभ्यता की ओर मनुष्य का प्रयाण

रहने के लिए झोपड़ी, खेती, पशुपालन आदि का प्रभाव यह हुआ कि मनुष्य के कुछ समूह खानाबदोशी का जीवन छोड़कर स्थान विशेष के निवासी बन गए और किसानी करने लगे। इस नए प्रकार के रहन-सहन से सभ्यता की शक्ल ही बदल गई और आगे बढ़ने का रास्ता और भी साफ हो गया। लोगों को सम्पत्ति का ज्ञान और उससे लाभ उठाने की तरकीब भी मालूम हो गई, जिसका आगे चलकर व्यापार
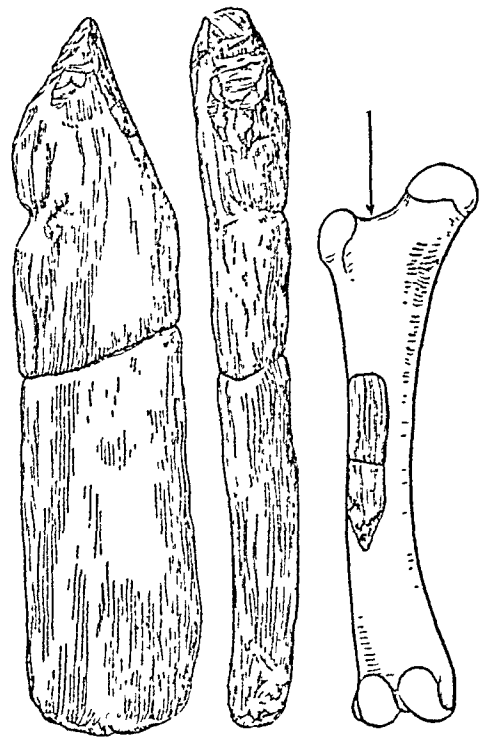
**आदि मानव के अन्य कुछ औजार**

इनके भोंडेपन को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पत्थर और हड्डी से बने ये औजार कदाचित पिछले पृष्ठ पर चित्रित हथियार-औजारों से भी पूर्ववर्त्ती रहे होंगे।
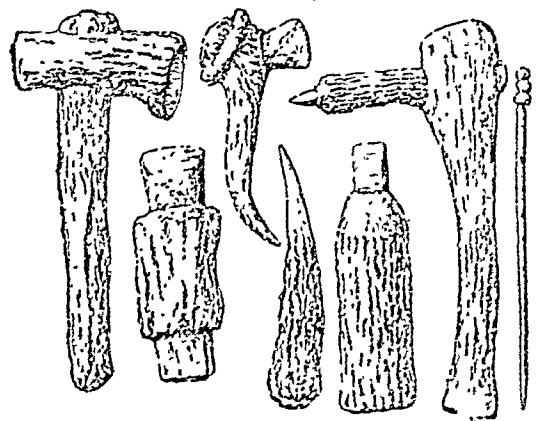
**पत्थर-युग के उत्तरकाल के कुछ औजार**

हड्डी, सींग आदि से बने कुल्हाड़ी, बसूला, रुखानी आदि।

**आरम्भ में आदि मानव का जीवन केवल शिकारी का जीवन था**

इतिहास की पगडंडी पर अपना कदम बढाते समय मनुष्य का जीवन आरम्भ में केवल शिकारी का ही जीवन था—वह कृषक और चरवाहा तो बहुत बाद में जाकर बना। न केवल अपनी खाद्य पूर्ति ही के निमित्त बल्कि तत्कालीन समय नामक गजराज, कटारदन्ती व्याघ्र और ऊनी गैडे जैसे भयावह शत्रुओं से अपनी रक्षा के हेतु भी मनुष्य को आरम्भ ही से एक शिकारी का बाना पहनना पडा। ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धि का विकास होता गया, अन्य चेत्रों की तरह आखेट में भी उसमें सहयोग की भावना जागरूक हुई। फलत. क्या पुरुष और क्या स्त्री-बालक सभी मिलकर शिकार में भाग लेने लगे, जैसी कि इस चित्र मे कल्पना की गई है।

और समाज की रचना पर बहुत गहरा असर पड़ा। मनुष्यो मे अमीर-गरीब, सभ्य और असभ्य का भेद पैदा होने लगा, और समाज मे पेशो की श्रेणियाँ बनने लगी। गांवो और बस्तियो का आरम्भ हो गया। बस्तियो के चारो ओर रक्षा के लिए या तो वे लोग मिट्टी की दीवारे बना लेते अथवा लकडी के कुन्दो की बाढ बना लेते थे। पत्थर-युग के इस उत्तरकाल मे मनुष्य के आचार-विचार, रहन-सहन, भाषा और कलाओं को ठीक-ठीक जानने के काफी साधन हमे नही मिलते। इस कमी को पूरा करने के लिए वैज्ञानिको ने जगली जातियो के वर्तमान जीवन की छानबीन करके कुछ बाते निकाली है। वे कहते है कि कुछ आधुनिक जगली जातियाँ अभी तक पत्थर के युग मे है, अतएव सम्भव है कि उनके आचार-विचार भी उसी सभ्यता के हो। हो सकता है; किन्तु इस ढग की खोज कुछ कच्ची ही माननी पडेगी। अनुमान किया जाता है कि पत्थर के युग में भी मनुष्य भाषा का व्यवहार करते थे और उनको नाचने और गाने का भी शौक था। उनकी भाषा मे लिङ्गभेद पर जोर दिया जाने लगा था। उनका शब्द-भाण्डार भी
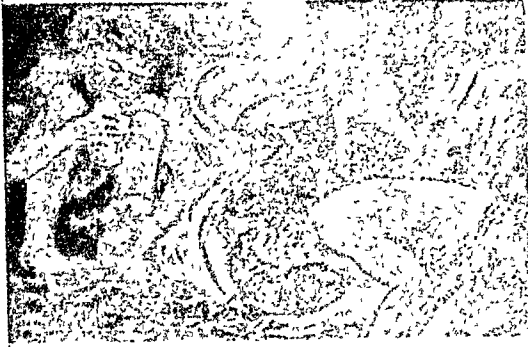
**आदिम मनुष्य की सभ्यता की ओर प्रगति**

(बाईं ओर ऊपर से नीचे) १. पत्थर के औज़ार बनाते हुए; २. आग जलाते हुए; ३. मिट्टी के बर्तन बनाते हुए; ४. दूध, मांस और कृषि के लिए पशुओं का पालन करते हुए। (दाहिनी ओर ऊपर से नीचे) १. बस्तियों में मिलकर रहने का प्रारम्भ; २. कपड़ों के व्यवहार का आरम्भ; ३. गुफाओं में चित्र बनाते हुए; ४. आदिम देवी-देवताओं की पूजा करते हुए।

अच्छा खासा बन चुका था। यद्यपि उनके गाने-बजाने में मधुरता न थी, किन्तु उनके कोलाहल में ताल था। गाने-बजाने का प्रभाव उन पर गहरा पड़ता था, जिससे कि वे अत्यन्त उत्तेजित अथवा बीमार तक हो जाते थे। उनके बाजे ढोल, पिपिहरी या तुरही अथवा तारोंवाले यंत्र थे। नाचने में भी उन पर ऐसी मस्ती छा जाती थी कि वे बेसुध हो जाते और थक जाते थे। वे साधारण कामों को भी यदि देर तक करना चाहते थे तो गाने-बजाने की सहायता लेते थे। इन जंगली जातियों को साज-सिंगार का भी शौक था। वे अपने बदन पर रंग लगा लेते थे और आभूषण पहनते थे। उनके विचार और विश्वास तथा कहानियाँ बच्चों और मूर्खों-जैसी होती थीं। पेड़, पत्थर, पशुओं आदि में वे मनुष्य के से व्यक्तित्व और जीवन की धारणा रखते थे। उनमें वे विचित्र शक्ति मानते थे। तावीज, जादू, झाड़-फूंक, टोटकों और टोनों में वे बड़ा विश्वास रखते थे। उनमें इन बातों के जाननेवाले सयाने आदि होते थे, जो रोगों की दवा जड़ी, पत्ती, हड्डी, खाल, पत्थर आदि से करते थे। गा-बजाकर, मार-पीटकर, गाली देकर वे रोग दूर करने का दावा रखते थे। वे जादू के बल से शत्रुओं या आदमियों में रोग ही नहीं बल्कि मृत्यु फैला देने की ताकत मानते थे। जल बरसाने, ऋतु बदलने, मनुष्य या खेती में पैदावार बढ़ाने, देवता बुलाने, और भविष्य में होनेवाली बातों को जानने के लिए अनेक प्रकार के विधान वे रचते थे। भूत-प्रेत, मृत आत्माओं, देवी देवताओं को तो वे बहुत मानते थे, किन्तु साथ ही उनको एक परम पिता अथवा महादेव का भी ज्ञान होने लगा था। उनमें अनेक दन्तकथाएँ और अलौकिक गाथाएँ भी प्रचलित थीं। उनमें विवाह-प्रथा भी थी और प्रायः एक पति या एक पत्नी का नियम-सा था। विवाह के कुछ नियम भी, जो सब समूहों में एक-से न थे, प्रचलित थे। यद्यपि स्त्रियाँ पुरुषों से घटिया समझी जाती थीं और वे बराबरी का दावा नहीं कर सकती थीं तथापि उनको काम करने की बहुत आजादी थी। कुछ लोगों में वंश पिता के नाम से न चलकर माता के नाम से ही चलता था। उनमें कुल, कुटुम्ब, जाति, भैयाचारा, बिरादरी आदि के भेद और प्रभेद पैदा हो गए थे। उन्हें नृशंसता और बेरहमी दिखाने में तनिक भी संकोच न था। वे लकीर के फकीर और पुरानी प्रथा के बड़े भक्त थे। नएपन से वे बहुत घबराते थे। उनमें थोड़े-बहुत कानून भी चलते थे, जो किसी सिद्धान्त की बुनियाद पर न थे। बदला चुकाने के लिए वे सदैव तैयार रहते थे। शपथ दिलाकर अथवा अग्निपरीक्षा आदि से वे सत्य या असत्य का निर्णय करते थे। जाति-अपमान या बिरादरी से बाहर कर दिए जाने से उनको बहुत भय रहता था।

ऊपर के वर्णन से यह साफ मालूम होगा कि पत्थर के युग के समाप्त होने तक मनुष्य ने सभ्यता और उन्नति के अनेक साधन जमा कर लिये थे। फिर भी उसके पास तीन चीजों की भारी कमी रह गई थी। उसको न तो धातुओं का पता था; न उसे लिखना आता था और न राजनीतिक संगठन आता था। आगे चलकर इन तीनों चीजों का ज्ञान जब मनुष्य को हुआ, तब सभ्यता और उन्नति में बड़ी तेजी आ गई। विद्वानों का अनुमान है कि पत्थर का युग करीब पचास हजार वर्ष तक चलता रहा।

सबसे पहली धातु जो मनुष्य को मिली वह शायद सोना थी, किन्तु उसने सबसे पहले ताँबे का ही उपयोग करना सीखा। करीब आठ हजार वर्ष से ताँबे का उपयोग होना शुरू हो गया था। स्विट्जरलैंड, मसोपटेमिया, मिस्र, भारत और अमेरिका में ताँबे के औजारों के अवशेष मिलते हैं। किन्तु इससे यह नतीजा न निकालना चाहिए कि पत्थर के युग के बाद ताम्रयुग का आगमन हुआ। वस्तुतः ताम्रयुग केवल काल्पनिक है, उसके होने का कोई प्रमाण नहीं है। पोलीनेशिया, फिनलैंड, उत्तरी रूस, मध्य अफ्रीका, दक्षिणी भारत, आस्ट्रेलिया, जापान और उत्तरी अमेरिका में पत्थर के युग के बाद ही लोहे का प्रयोग आरंभ हो गया। उन देशों में भी जहाँ ताँबे का प्रचार माना जाता है, थोड़े ही मनुष्य शौकिया उसे काम में लाते थे। सर्वसाधारण पत्थर का ही प्रयोग करते थे। हथियारों के बनाने के लिए ताँबे के मुकाबले में पत्थर ज्यादा मजबूत है। शीघ्र ही मनुष्य को काँसे का भी पता लग गया, किन्तु काँसा
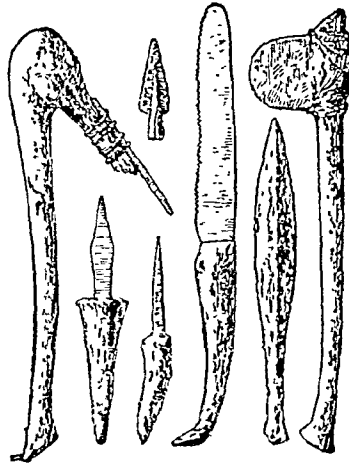
**काँसे के औजार**

ये मिस्र में पाए गए हैं। इनके बेंट पत्थर हड्डी आदि के हैं। इसी तरह के औजार दूसरे स्थानों में भी मिले हैं।

काफी मात्रा में न मिलने के कारण और धातुओं को मिलाकर काँसा बनाने की विधि न जानने के कारण वह काँसे का उपयोग अधिक न कर सका। किन्तु जिनको काँसा काफी मात्रा में मिल सका, वे लड़ाई में दूसरों से अच्छे रहे और शक्तिशाली बन बैठे। कोई छः हजार वर्ष से लोहे का भी उपयोग हो रहा है। उत्तरी रोडेशिया में अब से करीब छः हजार वर्ष पूर्व की लोहे की चीजें मिली हैं। ढाई-तीन हजार वर्ष की पुरानी लोहे की चीजें मिस्र और बेबीलन में भी मिलती हैं। किन्तु ढले हुए लोहे की सबसे पुरानी चीज फिलिस्तीन में प्राप्त चाकू का एक फल है, जिसे लोग साढ़े तीन हजार वर्ष का मानते हैं। आस्ट्रिया में करीब तीन हजार वर्ष हुए लोहे का उपयोग आरम्भ हो गया था। कहते हैं कि भारत में लोहे का आरम्भ सिकंदर के समय से हुआ है।

लेखनकला का आरम्भ भी कोई सात या छः हजार वर्ष से हुआ है। पहले सुमेरिया, मिस्र और भूमध्यसागर के आस-पास लोगों ने चित्रों अथवा रेखाओं द्वारा अपने विचार अंकित करना आरंभ किया। किन्तु वे अक्षर न थे। अक्षरों का आरम्भ करीब पाँच हजार वर्ष हुए मिस्र में हुआ। मिस्रवासी चौबीस अक्षरों से काम लेते थे। वहाँ से अथवा क्रीट से उत्तरी अफ्रीका के निवासी फोनीशियन लोग उसे अपने व्यापार के साथ देश-देशान्तरों में ले गए। अक्षरों में सबसे पहले लिखे लेख सिनाई की शिला पर मिलते हैं। इनको करीब साढ़े चार हजार वर्ष का पुराना विद्वान् लोग मानते हैं।

# सभ्यताओं का उदय--(१)

## प्राचीन भारत की सभ्यता

**इतिहास की पगडंडी पर निरंतर बढ़ती चली जा रही मनुष्य की प्रगति-यात्रा की एक आरंभिक झाँकी पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं। उस संक्षिप्त सिंहावलोकन में कुछ ही पन्नों की परिधि में हम एक साथ हजारों-लाखों वर्षों की अवधि पार कर गए। प्रागैतिहासिक युग के उस निविड़ कानन में से निकलकर अब हम अपने आपको कुछ-कुछ ऐतिहासिकता के प्रांगण में पहुँचते पाते हैं। हम इस समय आज से लगभग छः-सात हजार वर्ष पूर्व के कालमान की सीमा पर आ गए हैं। यह है पृथ्वी के विभिन्न भूभागों--विशेषकर सिन्धु, गंगा-यमुना, नील, दजला-फरात आदि नदियों की उपत्यकाओं--में एक साथ ही विविध सभ्यताओं के उदय का अनूठा प्रहर। इन सभ्यताओं का क्रमशः एक-एक करके आगे के पृष्ठों में हम परिचय पाएँगे। आइए, सबसे पहले अपने ही देश भारत को लें।**

हमारे देश की रचना और सभ्यता का विकास उन्हीं प्राकृतिक नियमों के अनुसार हुआ है, जिन्हें हम सभ्यता के अन्य उद्गमस्थलों में क्रियान्वित देखते हैं। भूगर्भ-वेत्ताओं की खोजों के अनुसार भारतवर्ष का स्वरूप और आकार युग-युग में बदलता रहा है। दक्षिण भारत का अन्तरीप पुरातन काल में पृथक् था। वह उस महाद्वीप का एक भाग था, जो दक्षिण अफ्रीका से आस्ट्रेलिया और दक्षिण अमेरिका तक फैला हुआ था। उस महाद्वीप के उत्तर में 'टेथाइस' नामक समुद्र योरप से लेकर वर्मा तक लहराता था। केवल अरावली पर्वत उस समुद्र में टापू की तरह दिखाई पड़ता था। कालान्तर में भौगोलिक परिवर्तनों के प्रभाव से हिमालय का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी तलहटी में विकराल वन फैला हुआ था। यह वन धीरे-धीरे कई युगों तक पीछे हटता और मैदान छोड़ता गया। वही मैदान आजकल वह भूभाग है, जो हिमालय और विन्ध्याचल के बीच में फैला हुआ है। इस प्रकार 'टेथाइस' समुद्र के सिकुड़ने और जलमग्ना भूमि के उभड़ने से उत्तरी और दक्षिणी भाग का संयोग हो गया, जिससे हमारे देश का आधुनिक आकार प्रकट हो गया।

### भारतभूमि के आदिम निवासी

इस देश में भी अन्य देशों की तरह अनेक जातियों और उपजातियों के लोग आते और बसते गए। उनमें सबसे पुराने लोग 'नेग्रिटीज' माने जाते हैं, जिनके वंशज सुदूर दक्षिण और अण्डमन टापू में अब भी मिलते हैं। उनके बाद 'प्रोटोआस्ट्रेलायड' लोग आए, जिनके वंशज आजकल 'वेद्द' कहे जाते हैं। उनके पश्चात् 'मेलानेशियन' आए, जिनके वंशज आसाम और वर्मा की सरहद एवं मलाबार तट और निकोबार टापू में हैं। उनके बाद ऐनाटोलिया (एशियाटिक तुर्की) और आर्मीनिया की ओर से 'मेडिटरेनियन' और 'आर्मिनायड' लोग आए

ये लोग अपने से पहले आनेवाले लोगों से अधिक सभ्य थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इन्हीं दोनों जातियो के सम्मिश्रण से 'सुमेरियन' लोग उत्पन्न हुए थे। तमिल प्रान्त में इनके वंशज पाये जाते है। इन दोनों जातियों के अलावा पामीर की ओर से 'अल्पाइन' लोग भी आए, जिनके वंशज मराठा प्रदेश, मैसूर और बंगाल में बसते है। पूर्व से आनेवाले लोगों में 'मङ्गोल' भी थे, जिनके वंशज ब्रह्मपुत्र नदी की तलहटी और असम में मिलते हैं। सारांश यह है कि हमारे देश की जनता और सभ्यता की सृष्टि में सारे एशिया की जातियों ने अपना-अपना अंश प्रदान किया है, और उनका सामूहिक प्रयत्न हमारे देश में गुप्त अथवा प्रकट रूप से केन्द्रित है।

उपर्युक्त सभी लोगों ने भारतीय सभ्यता के भाण्डार की पूर्ति में कुछ-न-कुछ भाग लिया है। कहते है कि 'नेग्रिटो' लोगों ने ही धनुष का आविष्कार किया था। 'प्रोटोआस्ट्रेलायड' लोगों ने मिट्टी के बरतनों का बनाना शुरू किया। इनकी भाषा मुण्डा थी, जो अब तक लद्दाख, शिकिम, सन्थाल परगना और छोटा नागपुर, मध्य-प्रदेश, गञ्जाम और विजिगापट्टम मे बोली जाती है। इन लोगों का अपना स्वतंत्र ग्रामीण जीवन और संगठन था तथा अपने रीति-रिवाज थे। जाति-भोज के रूप मे जुर्माना देने अथवा जाति-बहिष्कार करने की प्रथा इन लोगों मे प्रचलित थी। ये लोग वृक्षों की, और उन पर रहनेवाले देवी-देवताओं की पूजा बलि चढाकर करते थे। आर्यो से पहले आनेवाले लोगों में 'मेडिटरेनियन' और 'आर्मीनाएड' लोग सबसे सभ्य थे। इनकी भाषा 'द्राविड़ी' थी। इन्होंने सिन्धुनद की तलहटी में सभ्यता का अच्छा और विशद विकास किया। आर्यो के आने के पहले ही इन्होने हिन्दू-धर्म की प्रारंभिक रुपरेखा की रचना की थी। वेदों में इनका उल्लेख मिलता है। ये धनवान् थे, सिक्कों का प्रयोग करते थे, सुन्दर नगरों में रहते थे, जिनकी रक्षा के लिए पत्थर और लोहे के किले इन्होंने बनाए थे। इनका व्यापार जल-थल के मार्ग से होता था। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं लोगों ने आर्यो का घोर विरोध किया था, और ये ही मोहनजोदड़ो की सभ्यता के निर्माता थे।

**मध्यभारत में प्राप्त ताम्र-युग के कुछ औजार-हथियार**

ऐसे औजार-हथियार हुगली नदी से सिन्धु नदी तक और हिमालय से कानपुर जिले तक सारे उत्तरी मैदान में पुरातत्त्ववेत्ताओं को मिले हैं।

हमारे देश का सबसे प्राचीन भूभाग दक्षिण है। यहाँ पुराने पत्थर-युग की चीजें बहुतायत से पाई जाती है। मद्रास, गुन्टूर, कड़ापा जिलों मे उस युग की चीजें प्रायः मिलती है। किन्तु नए पत्थर-युग के चिन्ह सारे हिन्दुस्तान में बिखरे हुए मिलते है। पत्थर के छोटे-छोटे औजार जिला मिर्जापुर, रीवाँ, बघेलखण्ड, छोटा नागपुर, असम और बर्मा आदि में मिले है। पत्थर के पालिशदार बड़े-बड़े औजार, उनके बनाने के साधन और कुम्हार के चाक से बनाये हुए मिट्टी के बरतन दक्षिण में विशेषतया बिलारी जिले में मिलते है। पत्थर की शिलाओं पर नक्काशी का काम और चित्र मिर्जापुर, होशङ्गाबाद, सिंहनपुर एवं कैमूर की पहाड़ियों में पाए गए है। सिंध और दक्षिण में नये युग की कुछ कब्रे भी मिली है, जिनमें मिट्टी के बरतन आदि पाए जाते है।

## मोहनजोदड़ो और हड़प्पा

पत्थर युग के बाद दक्षिण म तो लोहे के और उत्तर में ताँबे के युग का आरम्भ हुआ। यद्यपि इधर-उधर कभी-कभी कुछ काँसे की चीजें भी मिलती हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश मे कभी काँसे का युग हुआ ही नहीं। हुगली नदी से सिंधु नदी तक और हिमालय से कानपुर जिले तक ताँबे के युग के ताँबे के बने हुए ये हथियार-औजार मिलते हैं। किन्तु सबसे बड़ा जखीरा मध्य भारत के गङ्गेरिया नामक गाँव

में मिला है। पत्थर-युग अथवा आदिम ताम्रयुग की इतनी सामग्री हमें नहीं मिलती कि उस समय के जीवन, रहन-सहन आदि की हम साफ तस्वीर खींच सकें। किन्तु यह धुँधलापन अब से सवा पाँच हजार वर्ष हुए हटता हुआ दिखाई देता है। हमारे देश की प्राचीन सभ्यता का कुछ-कुछ दर्शन सिन्धु नद की तलहटी में होता है। पुरातत्ववेत्ताओं का कथन है कि सिन्धु नद और सिन्ध प्रदेश की मिहरान नामक लुप्त नदी की तलहटी में भी सभ्यता का आदिम विकास उसी तरह से और उसी समय में हुआ, जैसे कि फारस की हेलमन्द, कारुन और करखे नदियों, मध्य एशिया की सिर और आमू, मसोपटेमिया की दजला और फरात तथा मिस्र की नील नदी की तलहटियों में हुआ था। मिस्र देश का सबसे पुराना पिरामिड जिस समय बनना शुरू हुआ, उस समय मोहनजोदड़ो उन्नति की चोटी पर पहुँच चुका था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु नद के तटवर्ती नगर उस समय मसोपटेमिया, एलाम आदि प्रदेशों से कुछ व्यापार भी करते थे। सम्भव है कि इन सबका आपस में और भी गहरा सम्बन्ध रहा हो। मेकडानेल की राय में सिन्धुतटवालों ने अपनी सभ्यता सुमेरिया से ली थी। इसके विपरीत हाल की सम्मति में सुमेरियावालों ने ही सभ्यता सिन्धुतटवालों से सीखी। किन्तु वूली का अनुमान है कि सुमेरिया और सिन्धुतटवालो की सभ्यता का उद्गम उनसे भी पूर्व की सभ्यता हैं, जिसका विकास बलूचिस्तान में अथवा उसके आस-पास ही कहीं पर हुआ था। चाइल्ड का मत है कि सिन्धु नद के तट की सभ्यता सुमेरिया की सभ्यता से पुरानी है।

**मोहनजोदड़ो से प्राप्त मिट्टी की दो मुद्राएँ**

नीचे की मुद्रा पर वृषभ की आकृति प्रत्यंकित है, जिसे सिन्धुतट की प्राचीन सभ्यता में निश्चय ही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था, मुद्राओं पर जिस रहस्यपूर्ण चित्र-लिपि में आलेख मिले हैं, उसे अभी तक कोई पढ़ नहीं पाया है। इस लिपि के पढ़े जाने पर इस सभ्यता के बारे में आश्चर्यजनक बातों का पता लगने की संभावना है। [फोटो—भारतीय पुरातत्त्व विभाग]

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के निर्माताओं का पता निश्चित रूप से अभी तक नहीं चला है। कुछ विद्वान् उन्हें द्रविड़ जाति का मानते हैं, जो भूमध्य-सागर के आसपास से दक्षिण एशिया में फैली हुई थी। कुछ का मत है कि वे किसी एक विशेष जाति के न थे; उनका समाज तीन-चार जातियों के मेल से बना था। ये जातियाँ वे ही थी, जिनके वंशज कोल, भील, गुजराती, मराठे, बङ्गाली और हिन्दुस्तानी हैं।

## उच्च कोटि की सभ्यता

खुदाई करने पर मोहनजोदड़ो में एक दूसरे पर पुरानी इमारतों की सात तहें मिली हैं। अनुमान किया जाता है कि सबसे नीचे की सतह के नीचे और भी तहें होंगी, जो पानी में डूबी हुई हैं। मोहनजोदड़ो में आज से पाँच हजार वर्ष पहले के पक्की ईंटों के बने हुए छोटे और बड़े मकान मिलते हैं। कोई-कोई मकान तो इतने बड़े हैं कि वे कोठी अथवा महल कहे जा सकते हैं। एक की लम्बाई ८५ फीट और चौड़ाई ९७ फीट है! उसमें ३२ फीट का आँगन है! सड़क की तरफ खास दरवाजा रहता था। उसमें घुसने पर आँगन मिलता था। आँगन के चारों तरफ कमरे या कोठरियाँ बनी थीं, जिनमें खिड़कियों से काफी हवा और रोशनी आती थी। कोई-कोई मकानों की दीवारें चार या पाँच फुट तक मोटी हैं! शायद कुछ मकान दो मंजिल के भी रहे होंगे। दोनों मंजिलों के कमरों की फर्श पक्की ईंटों की है। सीढ़ियाँ तंग और कुछ सीधी-सी बनी हैं। मकानों में अक्सर तहखाने बने होते थे। मकानों में कुएँ भी होते थे। कुछ कुएँ तो इस ढंग से बनवाए जाते थे कि मकान के अन्दर और बाहर दोनों ओर से काम में आ सकें। पानी के निकास के लिए ढकी नालियाँ बनी रहती थीं। उनसे पानी एक हौज में गिरता था। नगर में बड़े हॉल, पक्के और बिटुमिन से पुते हुए तैरने के लिए सङ्गीन तालाब, नहाने के लिए गर्म हम्माम आदि बने हुए थे! संभव है कि वहाँ देवालय भी रहे हों। शहर की सड़कें पक्की थीं। प्रत्येक गली और सड़क से पानी के निकास की नालियाँ बनी हुई थीं।

ये लोग अपने से पहले आनेवाले लोगों से अधिक सभ्य थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इन्ही दोनों जातियों के सम्मिश्रण से 'सुमेरियन' लोग उत्पन्न हुए थे। तमिल प्रान्त में इनके वंशज पाये जाते है। इन दोनों जातियों के अलावा पामीर की ओर से 'अल्पाइन' लोग भी आए, जिनके वंशज मराठा प्रदेश, मैसूर और बंगाल में बसते है। पूर्व से आनेवाले लोगों में 'मङ्गोल' भी थे, जिनके वंशज ब्रह्मपुत्र नदी की तलहटी और असम में मिलते है। सारांश यह है कि हमारे देश की जनता और सभ्यता की सृष्टि मे सारे एशिया की जातियों ने अपना-अपना अंश प्रदान किया है, और उनका सामूहिक प्रयत्न हमारे देश मे गुप्त अथवा प्रकट रूप से केन्द्रित है।

उपर्युक्त सभी लोगों ने भारतीय सभ्यता के भाण्डार की पूर्ति में कुछ-न-कुछ भाग लिया है। कहते है कि 'नेग्रिटी' लोगो ने ही धनुष का आविष्कार किया था। 'प्रोटोआस्ट्रेलायड' लोगों ने मिट्टी के बरतनों का बनाना शुरू किया। इनकी भाषा मुण्डा थी, जो अब तक लद्दाख, शिकिम, सन्थाल परगना और छोटा नागपुर, मध्य-प्रदेश, गञ्जाम और विजिगापट्टम मे बोली जाती है। इन लोगो का अपना स्वतंत्र ग्रामीण जीवन और संगठन था तथा अपने रीति-रिवाज थे। जाति-भोज के रूप मे जुर्माना देने अथवा जाति-बहिष्कार करने की प्रथा इन लोगों मे प्रचलित थी। ये लोग वृक्षों की, और उन पर रहनेवाले देवी-देवताओं की पूजा बलि चढाकर करते थे। आर्यो से पहले आनेवाले लोगो मे 'मेडिटरेनियन' और 'आर्मीनाएड' लोग सबसे सभ्य थे। इनकी भाषा 'द्राविडी' थी। इन्होंने सिन्धुनद की तलहटी में सभ्यता का अच्छा और विशद विकास किया। आर्यो के आने के पहले ही इन्होने हिन्दू-धर्म की प्रारंभिक रूपरेखा की रचना की थी। वेदों में इनका उल्लेख मिलता है। ये धनवान् थे, सिक्कों का प्रयोग करते थे, सुन्दर नगरों में रहते थे, जिनकी रक्षा के लिए पत्थर और लोहे के किले इन्होंने बनाए थे। इनका व्यापार जल-थल के मार्ग से होता था। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं लोगों ने आर्यों का घोर विरोध किया था, और ये ही मोहनजोदड़ो की सभ्यता के निर्माता थे।

हमारे देश का सबसे प्राचीन भूभाग दक्षिण है। यहां पुराने पत्थर-युग की चीजे बहुतायत से पाई जाती है। मद्रास, गुन्टूर, कडापा जिलो मे उस युग की चीजें प्राय मिलती है। किन्तु नए पत्थर-युग के चिन्ह सारे हिन्दुस्तान में बिखरे हुए मिलते है। पत्थर के छोटे-छोटे औजार जिला मिर्जापुर, रीवाँ, बघेलखण्ड, छोटा नागपुर, असम और बर्मा आदि मे मिले है। पत्थर के पालिशदार बड़े-बड़े औजार, उनके बनाने के साधन और कुम्हार के चाक से बनाये हुए मिट्टी के बरतन दक्षिण में विशेषतया बिलारी जिले में मिलते है। पत्थर की शिलाओ पर नक्काशी का काम और चित्र मिर्जापुर, होशङ्गाबाद, सिंहनपुर एवं कैमूर की पहाड़ियों में पाए गए है। सिंध और दक्षिण में नये युग की कुछ कब्रें भी मिली है, जिनमे मिट्टी के बरतन आदि पाए जाते है।

**मध्यभारत में प्राप्त ताम्र-युग के कुछ औजार-हथियार**

ऐसे औजार-हथियार हुगली नदी से सिन्धु नदी तक और हिमालय से कानपुर जिले तक सारे उत्तरी मैदान में पुरातत्त्ववेत्ताओं को मिले हैं।

## मोहनजोदड़ो और हड़प्पा

पत्थर युग के बाद दक्षिण म तो लोहे के और उत्तर मे तांबे के युग का आरम्भ हुआ। यद्यपि इधर-उधर कभी-कभी कुछ काँसे की चीजे भी मिलती है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश में कभी काँसे का युग हुआ ही नही। हुगली नदी से सिंधु नदी तक और हिमालय से कानपुर जिले तक ताँबे के युग के ताँबे के बने हुए ये हथियार-औजार मिलते है। किन्तु सबसे बड़ा जखीरा मध्य भारत के गङ्गेरिया नामक गाँव

में मिला है। पत्थर-युग अथवा आदिम ताम्रयुग की इतनी सामग्री हमें नहीं मिलती कि उस समय के जीवन, रहन-सहन आदि की हम साफ तस्वीर खींच सकें। किन्तु यह धुंधलापन अब से सवा पाँच हजार वर्ष हुए हटता हुआ दिखाई देता है। हमारे देश की प्राचीन सभ्यता का कुछ-कुछ दर्शन सिन्धु नद की तलहटी में होता है। पुरातत्ववेत्ताओं का कथन है कि सिन्धु नद और सिन्ध प्रदेश की मिहरान नामक लुप्त नदी की तलहटी में भी सभ्यता का आदिम विकास उसी तरह से और उसी समय में हुआ, जैसे कि फारस की हेलमन्द, कारून और करखे नदियों, मध्य एशिया की सिर और आमू, मसोपटेमिया की दजला और फरात तथा मिस्र की नील नदी की तलहटियों में हुआ था। मिस्र देश का सबसे पुराना पिरामिड जिस समय बनना शुरू हुआ, उस समय मोहनजोदड़ो उन्नति की चोटी पर पहुँच चुका था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु नद के तटवर्ती नगर उस समय मसोपटेमिया, एलाम आदि प्रदेशों से कुछ व्यापार भी करते थे। सम्भव है कि इन सबका आपस में और भी गहरा सम्बन्ध रहा हो। मेकडानेल की राय में सिन्धुतटवालों ने अपनी सभ्यता सुमेरिया से ली थी। इसके विपरीत हाल की सम्मति में सुमेरियावालों ने ही सभ्यता सिन्धुतटवालों से सीखी। किन्तु वूली का अनुमान है कि सुमेरिया और सिन्धुतटवालों की सभ्यता का उद्गम उनसे भी पूर्व की सभ्यता है, जिसका विकास बलूचिस्तान में अथवा उसके आस-पास ही कहीं पर हुआ था। चाइल्ड का मत है कि सिन्धु नद के तट की सभ्यता सुमेरिया की सभ्यता से पुरानी है।

**मोहनजोदड़ो से प्राप्त मिट्टी की दो मुद्राएँ**

नीचे की मुद्रा पर वृषभ की आकृति अंकित है, जिसे सिन्धुतट की प्राचीन सभ्यता में निश्चय ही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था, मुद्राओं पर जिस रहस्यपूर्ण चित्र-लिपि में आलेख मिलते हैं, उसे अभी तक कोई पढ़ नहीं पाया है। इस लिपि के पढ़े जाने पर इस सभ्यता के बारे में आश्चर्यजनक बातों का पता लगने की संभावना है। [फोटो—भारतीय पुरातत्त्व विभाग]

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के निर्माताओं का पता निश्चित रूप से अभी तक नहीं चला है। कुछ विद्वान् उन्हें द्रविड़ जाति का मानते हैं, जो भूमध्य-सागर के आसपास से दक्षिण एशिया में फैली हुई थी। कुछ का मत है कि वे किसी एक विशेष जाति के न थे; उनका समाज तीन-चार जातियों के मेल से बना था। ये जातियाँ वे ही थीं, जिनके वंशज कोल, भील, गुजराती, मराठे, बङ्गाली और हिन्दुस्तानी हैं।

## उच्च कोटि की सभ्यता

खुदाई करने पर मोहनजोदड़ो में एक दूसरे पर पुरानी इमारतों की सात तहें मिली हैं। अनुमान किया जाता है कि सबसे नीचे की सतह के नीचे और भी तहें होंगी, जो पानी में डूबी हुई हैं। मोहनजोदड़ो में आज से पाँच हजार वर्ष पहले के पक्की ईंटों के बने हुए छोटे और बड़े मकान मिलते हैं। कोई-कोई मकान तो इतने बड़े हैं कि वे कोठी अथवा महल कहे जा सकते हैं। एक की लम्बाई ८५ फीट और चौड़ाई ६७ फीट है! उसमें ३२ फीट का आँगन है! सड़क की तरफ खास दरवाजा रहता था। उसमें घुसने पर आँगन मिलता था। आँगन के चारों तरफ कमरे या कोठरियाँ बनी थीं, जिनमें खिड़कियों से काफी हवा और रोशनी आती थी। कोई-कोई मकानों की दीवारें चार या पाँच फुट तक मोटी हैं! शायद कुछ मकान दो मंजिल के भी रहे होंगे। दोनों मंजिलों के कमरों की फर्श पक्की ईंटों की है। सीढ़ियाँ तंग और कुछ सीधी-सी बनी हैं। मकानों में अक्सर तहखाने बने होते थे। मकानों में कुएँ भी होते थे। कुछ कुएँ तो इस ढंग से बनवाए जाते थे कि मकान के अन्दर और बाहर दोनों ओर से काम में आ सकें। पानी के निकास के लिए ढकी नालियाँ बनी रहती थीं। उनसे पानी एक हौज में गिरता था। नगर में बड़े हॉल, पक्के और बिटुमिन से पुते हुए तैरने के लिए सङ्गीन तालाब, नहाने के लिए गर्म हम्माम आदि बने हुए थे! संभव है कि वहाँ देवालय भी रहे हों। शहर की सड़कें पक्की थीं। प्रत्येक गली और सड़क से पानी के निकास की नालियाँ बनी हुई थीं।

सिन्धु नद के श्रीसम्पन्न नगरों की समृद्धि कृषि और व्यापार के आधार पर थी। गेहूँ, जौ और रुई की खेती होती थी। नगरों का व्यापार अफगानिस्तान, तुर्किस्तान खुरासान, एलाम, मसोपटेमिया और शायद ग्रीस से भी होता था। उनमें कताई और बुनाई का खूब काम होता था। अमीर और गरीब सब कताई का काम करते थे। वहाँ से सूती कपड़ा बाहर भेजा जाता था। वहाँ के निवासियों को संभवतः लोहे का ज्ञान न था; क्योंकि सोना, चाँदी, ताँवा, काँसा और जस्ते के बने हुए जेवर, सिक्के आदि मिलते है, किन्तु लोहे की बनी वहाँ कोई चीज नही मिली। हड्डी, हाथी-दाँत और सीप की बनी चीजें भी वहाँ मिलती हैं। इनके अलावा घरेलू चीजें, जैसे तसले, लोटे, तश्तरियाँ, प्याले, मटके, कुठिले आदि भी मिले हैं।

मोहनजोदड़ो आदि के लोगों को कपड़ो और जेवरों का बड़ा शौक था। उनमें सूती-ऊनी कपड़ों का काफी चलन था। उस समय शायद सिले हुए कपडों का प्रयोग नहीं होता था। लोग शाल अथवा चादरें कंधों पर ओढ़ा करते थे। आदमी अपने बालों को या तो आज के आक्सफर्ड फैशन की तरह उलट लेते थे, या पट्टे रखाते अथवा बाँध लेते थे। औरतें बालों की चोटी गुँथकर गुण्डल करके सिर पर लपेट लेती थी। आदमी दाढ़ी रखते थे, किन्तु मूँछें कुछ-कुछ मुड़वाते थे। मर्द अँगूठियाँ पहनते और औरतें हार या नेकलेस, करधनी, कड़े, टड़ियाँ आदि पहनती और बड़ी सज-धज से रहती थीं। उनमें बाज-बाज तो संभवतः दूध से नहाती थीं। वे लोग मूर्तियाँ, चित्र और खिलौने भी बनाते थे। बन्दर, भालू, खरगोश, बाघ, गैंडा और भैंसे की शक्ल के बने हुए खिलौने वहाँ मिलते है। खिलौनों के अलावा साधारण रङ्गीन चीजें, जैसे हाँड़ियाँ, घड़े, धूप-दीपदान, बटखरे आदि भी मिले हैं। वहाँ के लोगों को शायद जुआ खेलने का भी शौक था, क्योंकि पाँसे भी पाए जाते हैं। वे लोग शायद कला के अधिक प्रेमी न थे, क्योंकि केवल मनोविनोद के लिए उन्होंने कला या कारीगरी का कोई प्रयत्न नहीं किया। जानवरों में वे बैल, भैंसे, भेड़, हाथी, ऊँट, सुअर और शायद घोड़े और कुत्ते भी पालते थे। वे भेड़, बैल, सुअर, चिड़ियाँ, घड़ियाल, कछुओं आदि का मांस और अण्डे खाते थे। अनाजों के अलावा वे दाख भी खाते थे। उनके अन्य फलों और तरकारियों का ठीक पता अभी तक नहीं मिलता। सवारी और माल ले जाने के लिए उनके पास पहियोंवाली गाड़ियाँ और इक्के थे। परन्तु उनके पास युद्ध-सामग्री अधिक न थी। उन नगरो के लोग शायद युद्धप्रेमी न थे और न उनको आक्रमण का ही अधिक भय था। संभव है कि वे किले बनाते हों, किन्तु युद्ध में शरीर-रक्षा के लिए न तो उनके पास जिरह-बख्तर और न ढालें ही थी। उन्हें तलवारों का भी उपयोग नही मालूम था। युद्ध आदि में वे तीर-कमान, बर्छे, फरसे, खंजर, गदाओ और गोफनों से काम लेते थे।

**मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक भव्य कलाकृति**

कुछ पुरातत्त्वविदों ने इसे किसी तत्कालीन भद्रपुरुष की प्रतिमा बताया है और कुछ ने अर्द्धनिमीलित नेत्रों से अभिव्यक्त इसकी ध्यानावस्थित मुद्रा के आधार पर इसे एक योगी की मूर्ति माना है। [ फोटो—भारतीय पुरातत्त्व विभाग ]

सिन्धुतट के निवासी अपने मुर्दों को प्रायः जला देते थे। जलाने के बाद मृतक की बची-खुची हड्डियों को चूर्ण करके या तो राख के साथ इधर-उधर फेंक देते थे, या उसको हाँडी आदि किसी बर्तन में रखकर कुछ दूसरी चीजों के साथ गाड देते थे। कभी-कभी वे मृतक को या उसके किसी अंग को दफना भी देते थे। कभी वे मृतक को पशु-पक्षियो के आहार के लिए भी छोड़ दिया करते थे।

**मोहनजोदड़ो के पक्की ईंटों के मकान**

पाच हजार वर्ष पूर्व के इस नगर के मकानों की दीवारें आज ही की तरह पक्की ईंटों की बनी होती थीं। मकानों तथा गलियों में से पानी के निकास के लिए आज की गटरों की तरह पक्की ढकी हुई नालियाँ होती थी [फोटो—भारतीय पुरातत्त्व-विभाग]

## सिन्धुतट-वासियों की धार्मिक पृष्ठभूमि

सिन्धुतटवालो मे धर्म के भाव भी थे। वे लोग धरती को माता अथवा देवी या शक्ति समझकर नग्न रूप में उसकी मूर्तियाँ बनाकर पूजा करते थे। वे पशुओ से सेवित योगासनस्थ दो सींगधारी त्रिमुख, अथवा एक मुखवाले त्रिनेत्र देवता की भी पूजा करते थे। चतुर्भुज देवता का भी वे सम्भवतः पूजन करते थे। उनका एक देवता कार्योत्सर्ग आसन में खड़ा हुआ मिलता है, जिसकी कुछ समता भगवान् 'जिन' से मिलती है। उसके पास नन्दी की तरह एक बैल भी बना रहता था। उपर्युक्त देवी और देवताओ के अतिरिक्त वे वृक्षों और उन पर रहनेवाली आत्माओं की भी पूजा करते थे। उस समय की एक मुद्रा मोहनजोदड़ो में मिली है, जिस पर पीपल का वृक्ष बना हुआ है। उस पर सात सहचरियो से सेवित वृक्ष की देवी है। उसके पास एक पशु अंकित है, जिसका कुछ अंग तो बैल का-सा, कुछ बकरे का-सा और मुँह मनुष्य का-सा बना हुआ है। मनुष्य के-से मुखवाले बकरे, भेड़, बैल, हाथी, सींघवाले बाघो की बहुतेरी मुद्राएँ भी मिलती है। इनके अतिरिक्त स्वाभाविक आकार के पशु एवं पक्षियों की भी मुद्राएँ पाई जाती है। स्नान करना उनकी पूजन-विधि का एक अंग था। उपर्युक्त वर्णन से यह साफ जान पडता है कि उस समय पशु-पक्षियों, तथा देवी-देवताओं की पूजा उनकी कल्पित अथवा वास्तविक मूर्ति बनाकर की जाती थी। इन देवताओं मे शक्तिदेवी और महादेव की पूजा

**मोहनजोदड़ो का एक पक्का कुआँ**

इसकी गोल रचना पर ध्यान दीजिए।

[फोटो—भारतीय पुरातत्व-विभाग]

उसी युग का एक मिट्टी का बरतन

पात्र पर की कलापूर्ण चित्रकारी पर ध्यान दीजिए। [फोटो—भा० पु० वि०]

अधिक प्रचलित थी, किन्तु विष्णु एवं अन्य देवताओं की भी कल्पना का आरम्भ हो गया था। इनसे यह अनुमान किया जाता है कि आर्यों और हिन्दुओं के अनेक देवताओं, उनके पूज्य नागों तथा पशु-पक्षियो की धारणाओं का विकास वैदिक युग के पूर्व और आज से पाँच हजार वर्ष पहले ही होने लगा था।

## वैदिक आर्यों का उत्थान—अनार्यों से उनका संघर्ष

मोहनजोदडो और हड़प्पा के समय की सभ्यता के क्षीण हो जाने के बाद क्या हुआ, इसका कुछ ठीक पता नही चलता। कुछ विद्वानो की धारणा है कि उसके बाद वैदिक आर्यो का उत्थान हुआ। उन्होंने पूर्ववर्ती सभ्यता के कुछ अंगो को ग्रहण कर लिया और शेष का अन्त कर दिया। ऋग्वेद मे दास, दस्यु, असुर, पणि, राक्षस और पिशाचो का सकेत पाया जाता है, जो आर्यो का विरोध करते रहे। इन अनार्यो को कुछ विद्वान् मोहनजोदडो एवं हड़प्पाकाल की सभ्यता के निर्माता अथवा पोषक मानते है। अन्य विद्वान् इस धारणा से सहमत नही होते और कहते है कि असुर लोग दूसरी जाति के थे और उनकी सभ्यता भी उन्नत और स्वतन्त्र थी। यह विषय अत्यन्त विवादग्रस्त है और इसके निर्णय के साधन भी इतने कम है कि दृढतापूर्वक किसी सिद्धान्त को स्थापित करना दुस्तर है। ऋग्वेद मे इन अनार्यों का अनादर-सूचक वर्णन मिलता है। उसके अनुसार अनार्यो की बोली कर्कश और विचित्र थी, वे वैदिक कर्मो का पालन नही करते थे; वैदिक देवताओ, यज्ञो और अनुशासनो को नही मानते थे ; वे शिश्नदेव अर्थात् लिंग के उपासक थे। उनका रंग काला था, उनकी नाक छोटी या चपटी थी। किन्तु वे लोग निरे असभ्य और जगली न थे। उनके पास पशुओ की सम्पत्ति भी थी। वे पुरो में भी रहते, जिनकी कि रक्षा के लिए

मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त उस युग के कुछ आभूषण

इन गहनों मे गले में पहनने के हार या नैकलेस, अँगूठियाँ, कडे, हड्डिया आदि हैं, जिनमें से कुछ स्वर्ण-निर्मित भी है। इनकी कलापूर्ण रचना मे तत्कालीन सभ्यता की उन्नतावस्था का अनुमान किया जा सकता है। [फोटो—भारतीय पुरातत्त्व-विभाग]

उन्होंने दुर्ग बना रक्खे थे। कुछ किले पत्थर के और काफी बड़े थे। उनके राज्य में लगभग एक सौ पुर थे। दासों में से फुटकर व्यक्तियों के तो नाम भी मिलते हैं—जैसे इलीबिश, धुनी, चुमुरी, पिप्रु, वर्चिन, शम्बर—किन्तु उनकी जातियों में सम्भवतः शिम्यु, कीकट, अजस, यक्ष और शिशु का ही संकेत मिलता है।

आर्यों के समय जिस सभ्यता का हमारे देश में आरम्भ हुआ, वह कुछ काट-छाँट के साथ आज तक चली आ रही है। इसी कारण यह कहा जाता है कि हमारे देश के इतिहास और सभ्यता का स्रोत वैदिककाल से ही चला है। यद्यपि बहुत अंश में यह बात ठीक मानी जा सकती है, किन्तु फिर भी एक कठिनाई यह है कि बुद्ध भगवान् के पूर्व के इतिहास का कालक्रम और समयगणना अनिश्चित और संदिग्ध है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा काल-क्रमबद्ध इतिहास का आरम्भ बुद्ध भगवान् के समय से होना माना गया है। इसी से उनके द्वारा बुद्ध से पूर्व का युग 'प्रागैतिहासिक' और बाद का 'ऐतिहासिक' माना जाता है।

(बाईं ओर) सिन्धुतटवासियों का एक अनूठा खिलौना (दाहिनी ओर) उनकी एक मुद्रा

पाँच हजार वर्ष पूर्व के इस अनूठे खिलौने की विशेषता यह है कि जब इसकी दुम खींची जाती है तो डोरी से बँधा इसका सिर नीचे की ओर झुक जाता है।

'प्रागैतिहासिक' काल का अविच्छिन्न इतिहास आर्यों से आरम्भ होता है। आर्य कौन थे? भाषाविज्ञान और सभ्यता के अनुसन्धान करनेवालों की धारणा है कि पुरातनकाल में 'आर्य' जाति किसी एक स्थान में बसती थी। अनेक कारणों से वह अपने मूलस्थान से निकलकर योरप और एशिया में फैल गई। आर्य भाषा का प्रचार आयरलैण्ड, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी, ग्रीस, रोम, स्लाव प्रदेशों, प्राचीन ईरान और भारतवर्ष में हुआ। इससे अनुमान किया जाता है कि किसी समय आर्य जाति बड़ी प्रबल, उद्योगशील और पराक्रमी थी। उसने अपने मूलस्थान से निकलकर संसार की सभ्यता पर अपना अमिट सिक्का सदा के लिए जमा दिया।

आर्यों के मूलस्थान के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ लोग उत्तरी ध्रुव के प्रदेश, कुछ मध्य एशिया, और कुछ दक्षिण-पश्चिमी योरप को उनका मूलस्थान मानते हैं। कुछ लोगों का यह विश्वास भी है कि आर्य लोगों का मूलस्थान भारत ही के उत्तरी प्रदेशों ही में कहीं पर था। किन्तु मताधिक्य इस समय आर्यों का मूलस्थान उस प्रदेश में मानता है, जो अरल समुद्र से डैन्यूब नदी तक फैला हुआ है। सच बात तो यह है कि उपर्युक्त धारणाएँ केवल अनुमान पर अवलम्बित हैं और उनमें से एक भी ऐसी नहीं, जो सर्वथा निश्चित अथवा सर्वमान्य कही जा सके। इसलिए इस विषय पर अधिक विवेचन करने का प्रयत्न अनुपयुक्त एवं व्यर्थ-सा है। तथापि यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं कि आर्यों का विस्तार योरप एवं एशिया में हुआ और वैदिक आर्यों के इतिहास की प्रारम्भिक रंगभूमि भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों में पाई जाती है। उत्तर-पश्चिम की ओर से ही बढ़कर वे भारत के अन्यान्य प्रान्तों में फैले और अपनी सभ्यता और आधिपत्य बढ़ाते चले गए। कालान्तर में सारे देश में उन्हीं की विभूति फैल गई, जो आज तक जीवित और प्रगतिशील है।

प्रागैतिहासिक समय का शृंखलाबद्ध इतिहास मिलना दुस्साध्य है। वैदिक काल के ग्रन्थों में एवं महाभारत और रामायण तथा पुराणों में कुछ संकेत, अनुश्रुतियाँ और

उसी युग का एक मिट्टी का वरतन
पात्र पर की कलापूर्ण चित्रकारी पर ध्यान दीजिए। [फोटो—भा० पु० वि०]

अधिक प्रचलित थी, किन्तु विष्णु एवं अन्य देवताओं की भी कल्पना का आरम्भ हो गया था। इससे यह अनुमान किया जाता है कि आर्यो और हिन्दुओं के अनेक देवताओं, उनके पूज्य नागों तथा पशु-पक्षियो की धारणाओ का विकास वैदिक युग के पूर्व और आज से पाँच हजार वर्ष पहले ही होने लगा था।

### वैदिक आर्यों का उत्थान—अनार्यों से उनका संघर्ष

मोहनजोदडो और हडप्पा के समय की सभ्यता के क्षीण हो जाने के बाद क्या हुआ, इसका कुछ ठीक पता नही चलता। कुछ विद्वानो की धारणा है कि उसके बाद वैदिक आर्यो का उत्थान हुआ। उन्होंने पूर्ववर्ती सभ्यता के कुछ अंशो को ग्रहण कर लिया और शेष का अन्त कर दिया। ऋग्वेद मे दास, दस्यु, असुर, पणि, राक्षस और पिशाचो का सकेत पाया जाता है, जो आर्यो का विरोध करते रहे। इन अनार्यो को कुछ विद्वान् मोहनजोदडो एवं हडप्पाकाल की सभ्यता के निर्माता अथवा पोषक मानते हैं। अन्य विद्वान् इस धारणा मे सहमत नही होते और कहते है कि असुर लोग दूसरी जाति के थे और उनकी सभ्यता भी उन्नत और स्वतन्त्र थी। यह विषय अत्यन्त विवादग्रस्त है और इसके निर्णय के साधन भी इतने कम है कि दृढतापूर्वक किसी सिद्धान्त को स्थापित करना दुस्तर है। ऋग्वेद मे इन अनार्यो का अनादर-सूचक वर्णन मिलता है। उसके अनुसार अनार्यो की बोली कर्कश और विचित्र थी, वे वैदिक कर्मो का पालन नही करते थे, वैदिक देवताओ, यज्ञो और अनुशासनो को नही मानते थे, वे शिश्नदेव अर्थात् लिंग के उपासक थे। उनका रंग काला था, उनकी नाक छोटी या चपटी थी। किन्तु वे लोग निरे असभ्य और जगली न थे। उनके पास पशुओ की सम्पत्ति भी थी। वे पुरो में भी रहते, जिनकी कि रक्षा के लिए

मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त उस युग के कुछ आभूषण
इन गहनो में गले मे पहनने के हार या नैकलेस, अँगूठिया, कडे, टड्डिया आदि है, जिनमें से कुछ स्वर्ण-निर्मित भी है। इनकी कलापूर्ण रचना से तत्कालीन सभ्यता की उन्नतावस्था का अनुमान किया जा सकता है। [फोटो—भारतीय पुरातत्त्व-विभाग]

उन्होंने दुर्ग बना रक्खे थे। कुछ किले पत्थर के और काफी बड़े थे। उनके राज्य में लगभग एक सौ पुर थे। दासों में से फुटकर व्यक्तियों के तो नाम भी मिलते हैं—जैसे इलीविश, धुनी, चुमुरी, पिप्रु, वर्चिन, शम्बर—किन्तु उनकी जातियों में सम्भवतः शिम्यु, कीकट, अजस, यक्ष और शिग्रु का ही संकेत मिलता है।

आर्यों के समय जिस सभ्यता का हमारे देश में आरम्भ हुआ, वह कुछ काट-छाँट के साथ आज तक चली आ रही है। इसी कारण यह कहा जाता है कि हमारे देश के इतिहास और सभ्यता का स्रोत वैदिककाल से ही चला है। यद्यपि बहुत अंश में यह बात ठीक मानी जा सकती है, किन्तु फिर भी एक कठिनाई यह है कि बुद्ध भगवान् के पूर्व के इतिहास का कालक्रम और समयगणना अनिश्चित और सन्दिग्ध है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा काल-क्रमबद्ध इतिहास का आरम्भ बुद्ध भगवान् के समय से होना माना गया है। इसी से उनके द्वारा बुद्ध से पूर्व का युग 'प्रागैतिहासिक' और बाद का 'ऐतिहासिक' माना जाता है।

'प्रागैतिहासिक' काल का अविच्छिन्न इतिहास आर्यों से आरंभ होता है। आर्य कौन थे? भाषाविज्ञान और सभ्यता के अनुसन्धान करनेवालों की धारणा है कि पुरातनकाल में 'आर्य' जाति किसी एक स्थान में बसती थी। अनेक कारणों से वह अपने मूलस्थान से निकलकर योरप और एशिया में फैल गई। आर्य भाषा का प्रचार आयरलैण्ड, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी, ग्रीस, रोम, स्लाव प्रदेशों, प्राचीन ईरान और भारतवर्ष में हुआ। इससे अनुमान किया जाता है कि किसी समय आर्य जाति बड़ी प्रबल, उद्योगशील और पराक्रमी थी। उसने अपने मूलस्थान से निकलकर संसार की सभ्यता पर अपना अमिट सिक्का सदा के लिए जमा दिया।

आर्यों के मूलस्थान के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ लोग उत्तरी ध्रुव के प्रदेश, कुछ मध्य एशिया, और कुछ दक्षिण-पश्चिमी योरप को उनका मूलस्थान मानते हैं। कुछ लोगों का यह विश्वास भी है कि आर्य लोगों का मूलस्थान भारत ही के उत्तरी प्रदेशों ही में कहीं पर था। किन्तु मनाविकय इस समय आर्यों का मूलस्थान उस प्रदेश में मानता है, जो अरल समुद्र से डैन्यूब नदी तक फैला हुआ है। सच बात तो यह है कि उपर्युक्त धारणाएँ केवल अनुमान पर अवलम्बित हैं और उनमें से एक भी ऐसी नहीं, जो सर्वथा निश्चित अथवा सर्वमान्य कही जा सके। इसलिए इस विषय पर अधिक विवेचन करने का प्रयत्न अनुपयुक्त एवं व्यर्थ-सा है। तथापि यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं कि आर्यों का विस्तार योरप एवं एशिया में हुआ और वैदिक आर्यों के इतिहास की प्रारम्भिक रंगभूमि भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों में थी। उत्तर-पश्चिम की ओर से ही बढ़कर वे भारत [illegible] प्रान्तों में फैले और अपनी सभ्यता और [illegible] चले गए। कालान्तर में सारे देश में उन्हीं की [illegible] गई, जो आज तक जीवित और प्रगतिशील है।

( बाईं ओर )
सिन्धुतटवासियों का एक अनूठा खिलौना
( दाहिनी ओर )
उनकी एक मुद्रा
[illegible]

प्रागैतिहासिक समय का शृंखलाबद्ध इतिहास दुस्साध्य है। वैदिक काल के ग्रन्थों में एवं महाभारत, रामायण तथा पुराणों में कुछ संकेत, अनुश्रुतिय[illegible]

घटनाएँ मिलती हैं, जिनके आधार पर पुरातन काल के इतिहास के निर्माण का प्रयत्न किया गया है। किन्तु ये आधार अपने-अपने ढंग और अपने-अपने साधन के अनुसार जो वर्णन करते हैं, वे आपस में बहुत मेल नही खाते। उनमें आपत्तिजनक विभिन्नता है, जिससे किसी मत के स्थिर करने में स्वाभाविकतया सकोच और अपरिमित कठिनाई होती है। ऐसी दशा मे भलाई इसी मे प्रतीत होती है कि वैदिक काल, विशेषत. ऋग्वेद के समय के इतिहास की रूपरेखा उसी मे प्राप्य सामग्री से रची जाय, और उसके बाद का इतिहास आख्यानों, 'इतिहासो', 'नाराशसी' एवं पुराणों की सहायता से निर्मित किया जाय।

कहा जाता है, अपने मूलस्थान से डैन्यूब नदी के किनारे-किनारे बेलेकिया होते हुए आर्य लोग बास्फरस और डार्डनल्स को लाँघकर एशिया माइनर से गुजरते हुए ईरान, अफगानिस्तान और भारत पहुँचे। रास्ते मे वे अपने दल इधर-उधर छोड़ते आए। पश्चिम, मध्य और दक्षिण एशिया मे उन्होने अनेक प्रकार के परिवर्तन और सगठन किए, जिनका थोड़ा-बहुत वर्णन उचित स्थानो पर किया जायगा। इस स्थान पर केवल पुरातन भारत का प्रसंग उठाया जा रहा है।

### आर्यों का भारत में प्रसार

अनुमान किया जाता है कि आर्यो ने कम-से-कम चार या साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व भारत भूमि में प्रवेश करना आरम्भ किया था। ऋग्वेद के समय मे आर्यो का कार्यक्षेत्र भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त से यमुना नदी के तट तक था। उन लोगों के अनेक दल थे। जैसे, गन्धारी उस प्रात में जो आगे चलकर गान्धार कहलाया; मूजवन्त कुभा (काबुल नदी) के आस-पास; अलिन काफिरिस्तान के उत्तर-पूर्व-प्रदेश में; पक्थ और भलानस बोलन दर्रे के पास, शिव सिन्धुनद के समीप, और वही कही विपाणिन आदि जम गए। इसी प्रकार परुष्णी ( रावी नदी ) के आसपास अनु, द्रुह्यु बस गए। सरस्वती नदी के इधर-उधर तुर्वसु, यदु, पुरु और भरत आदि आकर बसे।

### ऋग्वैदिक युग के विभिन्न दलों में संघर्ष

इन दलों का बहुत दिनों तक शान्त रहना सम्भव न था। आधिपत्य और प्रसार की ऐषणाओ से प्रेरित होकर उन्होंने अपना संगठन बढ़ाना आरम्भ कर दिया। सरस्वती, दृपद्वती और आपया नदियों से सिञ्चित प्रदेश ब्रह्मावर्त के नाम से प्रसिद्ध था। वहाँ पर भरत दल आकर जम गया था। उनके राजा दिवोदास के साथ तुर्वसु, यदु और पुरु आदि युद्ध किया करते थे। यही नही, यमुना के आस-पास रहनेवाले प्रवल अनार्यो से तो उसकी निरन्तर लड़ाई हुआ करती थी। उसके पुत्र अथवा पौत्र राजा सुदास के समय में उस सुदर भूमि-भाग के लिए पजाब के अनु, द्रुह्यु आदि दश दलो ने विश्वामित्र के नेतृत्व मे एक संघ बनाकर पश्चिम की ओर से ब्रह्मावर्त पर चढाई कर दी। अपनी विजय को निश्चित करने के लिए उन्होंने ब्रह्मावर्त के पूर्व में रहनेवाले अनार्य दलो को उस ओर से आक्रमण करने पर राजी कर लिया। दोनो ओर से आक्रान्त होने पर भी सुदास ने वीरता और साहस के साथ शत्रुओ से युद्ध किया और दोनो को परास्त कर दिया। यह युद्ध बड़े मार्के का था। इसका परिणाम यह हुआ कि पुरु, भरत, क्रिवि और सृंजय दल मिलकर एक हो गए और संयुक्त रूप से वे 'कुरु' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस संगठित शक्ति ने धीरे-धीरे आसपास के मत्स्य आदि आर्य दलो का दमन किया। प्रबल हो जाने से उत्साहित होकर उन्होंने पूर्व देश के अनार्यो का व्यवस्थित रूप से दमन करना आरंभ किया। यद्यपि उन्हें अनेक कठिनाइयो का सामना और अनेक युद्ध करने पड़े तथापि अंत मे उनकी विजय हुई।

ऋग्वैदिक काल के अंत मे आर्यशक्ति का केन्द्र ब्रह्मावर्त था। वही से आर्य लोग अनार्यो को परास्त करते हुए आगे बढ़े। कुरुक्षेत्र उनका कर्मक्षेत्र हो गया। सम्भव है कि इसीलिए उसका नाम क्रमशः 'धर्मक्षेत्र' पड़ गया हो। पंचनद अथवा 'पंजाब' का ध्यान अब भूलने लगा। यही नहीं वहाँ के रहनेवाले आर्यो को पूर्ववाले कुछ नीची दृष्टि से देखने लगे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के समय में मध्यदेश-स्थित कुरु, पांचाल, मत्स्य, वश, उशीनर, सत्वन्त, उत्तरकुरु और उत्तरमद्र आदि का उल्लेख अधिकतर पाया जाता है। कुरु-पाचाल प्रदेश के पूर्व के प्रान्त जैसे कोसल, विदेह, मगध और अंग का भी उल्लेख पाया जाता है। किन्तु विन्ध्याचल के दक्षिण के किसी प्रदेश का स्पष्ट आलेख नही पाया जाता।

'ब्राह्मण'-काल में रहन-सहन मे एक और भी विशेपता दिखायी पड़ती है। वह है नगरो और नगरियों का विकास। आसन्दीवन्त, काम्पील, परिचक्रा, कौशाम्बी, काशी आदि राजधानियों और नगरों का उल्लेख पाया जाता है।

इस समय का सबसे प्रमुख और प्रख्यात वंश कुरु-पांचालो का था। उनकी भाषा और विद्या, उनका रहन-सहन, उनका धर्म-कर्म आदर्श-सा माना जाता था। वे बलवान् और समृद्धिशाली, सुसंगठित और विद्याप्रेमी थे।

वैदिक काल में
भारतवर्ष
क्रुमा नं०
पक्थ
क्रुमु नं०
गोमती नं०
केकय
यदु
सिन्धु नद
मूजवन्त प०
उत्तर कुरु
उत्तर मद्र
वितस्ता नं०
असिक्नी नं०
द्रुह्यु
विपाश नं०
परुष्णी नं०
अनु
सुतुद्री नं०
सरस्वती नं०
दृषद्वती नं०
सृंजय
पांचाल
यमुना नं०
गंगा नं०
कोशल
काशी
सदानीरा नं०
विदेह
मगध
रेवा नं०
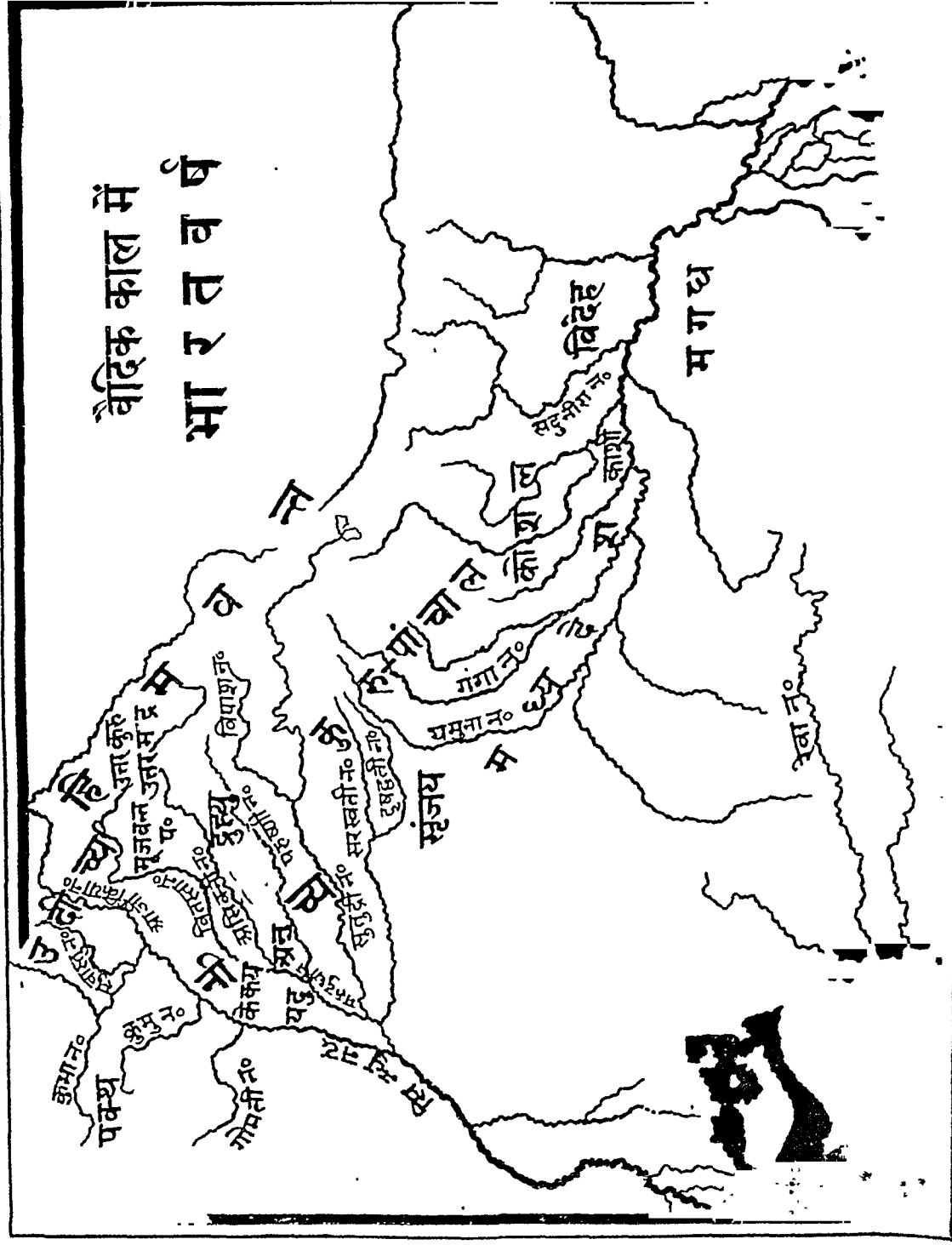
कहा जाता है कि महाराज परीक्षित् के समय में वे अपनी उन्नति की चोटी पर पहुँचे। इसके पश्चात् शायद टीड़ियों के भयंकर विनाशात्मक आक्रमण अथवा ओलो के पड़ने से उनकी आर्थिक और राजनीतिक स्थिति बिगड़ने लगी। फिर भी कौशाम्बी तक उनका प्रभुत्व शिथिल न होने पाया और उनके राजा जनमेजय ने अश्वमेध यज्ञ किये। इनसे यह न समझना चाहिए कि अन्य राजा उनके अधीन थे; क्योंकि इस बात के उल्लेख है कि उस काल में औरो ने भी अश्वमेध यज्ञ किये थे।

इनके सिवा कोसल, काशी और विदेह के राज्य भी काफी उन्नत और वैदिक सभ्यता के प्रसिद्ध पोषक थे। जल-जातूकर्ण्य कोसल और विदेह दोनो पर राज्य करता था। किन्तु अंग और मगध के राज्यो और उनकी सभ्यता का कोई विशेष आदर न था। वहाँ के लोग अधिकतर अनार्य अथवा नीची श्रेणी के माने जाते थे। वहाँ आर्य-व्यवस्था का यथोचित पालन भी नहीं होता था।

## पौराणिक अनुश्रुति—सूर्यवंश, चंद्रवंश, आदि

उपर्युक्त वर्णन वैदिक साहित्य—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और प्राचीन सूत्र—के आधार पर है। किन्तु 'इतिहास' और 'पुराणों' का वर्णन कुछ और ही ढग से है। उसका भी उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। उनके अनुसार सबसे पहले राजा वैवस्वत मनु हुए। उन्होंने सारे भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उनके नौ या दस पुत्र हुए, जिनमें से सबसे बड़े का नाम इक्ष्वाकु था। अपनी राजधानी अयोध्या से मध्यदेश पर उसने राज्य किया। इक्ष्वाकु के भाई करूप को शोण नदी के पश्चिम और गंगा के दक्षिण का प्रदेश मिला, सौद्युम्न को गया और पूर्वी प्रदेश दिये गये, शर्याति नाम के भाई को आधुनिक गुजरात का प्रदेश मिला। कहा जाता है कि मनु के एक पुत्री थी, जिसका नाम इला था। इला का पुत्र पुरुरवा ऐल हुआ, जिसके राज्य की राजधानी प्रतिष्ठान (प्रयाग के पास) थी।

इक्ष्वाकु के वंशज सूर्यवंशी या मानववंशी कहलाये और इला के वंशज चन्द्रवंशी या ऐलवंशी के नाम से प्रख्यात हुए। पुरुरवा के पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) और उसके पड़पोते काश ने काशी की स्थापना की। पुरुरवा का एक पड़पोता ययाति, जो प्रतिष्ठान की गद्दी पर था, बड़ा प्रतापी निकला। उसने चारों ओर अपना राज्य बढ़ाया, जिससे वह पहला चक्रवर्ती राजा कहलाया। उसके पांच पुत्र—यदु, तुर्वसु, द्रुह्य, अनु और पुरु—थे। यमुना के पश्चिमी भाग और चंबल नदी से शोण नदी तक का विस्तृत प्रदेश उनको बाँट दिया गया। पुरुरवा के प्रतिष्ठानवाले वंशज पौरव कहलाये। यदु की वंशज यादव और हैहय शाखाओं ने आगे चलकर इतिहास में बड़ी ख्याति प्राप्त की। इसी यदुवंश के एक राजा शशिबिन्दु ने द्रुह्य और पौरव राज्यो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसी की पुत्री बिन्दुमती ने अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी राजा मान्धाता से विवाह करके सूर्य और चन्द्रवंश को मिला दिया, जिससे राजनीतिक परिस्थिति में भारी हेर-फेर हो गया।

मान्धाता ने पौरवो के देश, कन्नौज के राज्य और सम्भवतः आनवों के राज्य पर सफल आक्रमण किये। सम्बन्धी होने के कारण यादवो को उसने छोड़ दिया, किन्तु दक्षिणस्थ हैहय देश को जीता। उसके भय से कुछ आनव और द्रुह्यओं को पंजाब की ओर भागना पड़ा, और कुछ आनव विदेह के पूर्व की ओर भाग गये। इस प्रकार इक्ष्वाकु वंश के उत्थान से पुरुवंश निस्तेज और श्रीहीन हो गया।

पुरुवंश की 'हैहय' शाखा ने प्रबलतापूर्वक इक्ष्वाकु-वंश का विरोध जारी रखा और तीन पीढ़ी में ही मध्य भारत पर अपना आतंक और आधिपत्य जमा दिया। हैहयों में कार्तवीर्य अर्जुन बड़ा प्रतापी, दिग्विजयी सम्राट् हुआ। यद्यपि नर्मदा-तटस्थ भार्गवों ने कान्यकुब्ज और अयोध्या की सहायता से हैहयों को कुछ समय तक के लिए दबा लिया था, तथापि वे शीघ्र ही सँभल गये और उन्होने शक, यवनों, कम्बोजों, पारदों और पहलवों की सहायता से अयोध्या और कान्यकुब्ज को विजय करके अधीनस्थ कर लिया। इक्ष्वाकुवंशी राजा सगर ने फिर अपने वंश का प्राधान्य स्थापित कर दिया और हैहय वंश का दलन कर दिया।

## आर्य सभ्यता उन्नति की चोटी पर

हैहय वंश के क्षीण होने पर चन्द्रवंश का झंडा दुष्यन्त और उसके सुप्रख्यात पुत्र भरत ने उठाया। प्रतिष्ठान-पुर का मोह छोड़कर हस्तिनापुर में राजधानी स्थापित करके भरत और उसके वंशजों ने पाञ्चाल और काम्पिल्य तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। किन्तु एक बार फिर इक्ष्वाकुवंश का प्रताप बढा। भगीरथ, दिलीप, रघु, और दशरथ का पराक्रम बढ़ते-बढ़ते इक्ष्वाकुवंशी श्री रामचन्द्रजी के समय तक अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। श्री रामचन्द्रजी ने सुदूर दक्षिण और लङ्का तक में
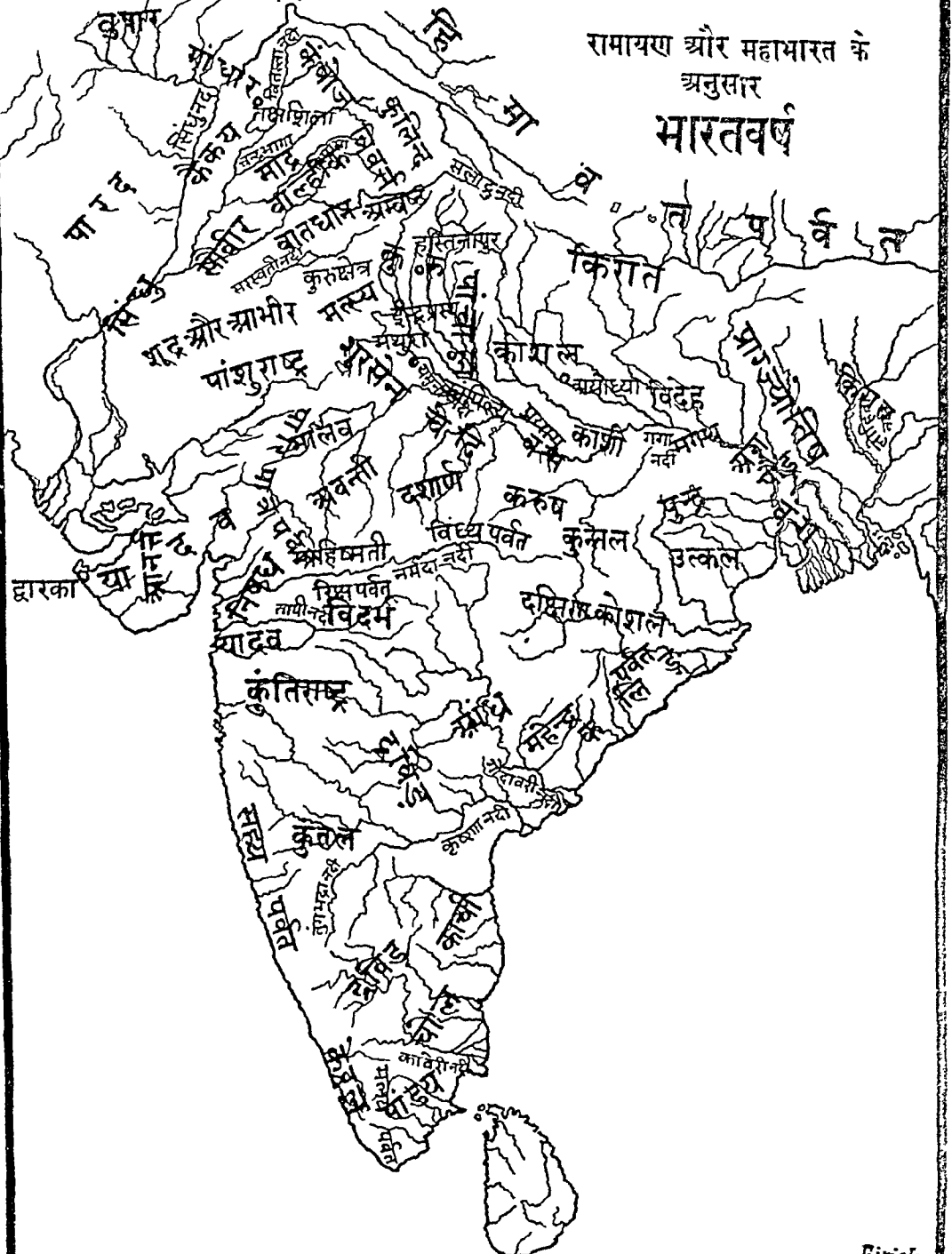
इस मानचित्र में नदियों और पर्वतों के नाम काले रंग में और नगर, देश तथा जातियों के दूसरे रंग में दिये गये हैं।

अयोध्या की प्रभुता स्थापित कर दी। उनके समय में आर्य सभ्यता अपनी सबसे ऊँची चोटी पर पहुँची। उनका जीवन आर्य जाति के लिए आदर्श हो गया, यहाँ तक कि वह ईश्वर की तरह पूजे जाने लगे। उत्ताल तरङ्गमाला की तरह उठकर श्री रामचन्द्रजी के बाद इक्ष्वाकुवंश पतनोन्मुख होकर अस्त हो गया। फिर भी उस वंश के राजन्य बुद्ध भगवान् के समय तक राज्य करते थे। इक्ष्वाकुवंश के क्षीण हो जाने पर फिर चन्द्रवंशी शाखाओं का उत्थान हुआ। किन्तु इन लोगों में एकता का अभाव था। यादव और पौरव इनकी सबसे प्रबल शाखायें थीं। यादवों के कई राज्य थे, जिनमें मथुरा के अन्धक और द्वारका के वृष्णि सबसे प्रमुख थे। इनके सिवा शाल्व, माहिष्मती, विदर्भ, अवन्ति और दशार्ण के भी यादव राज्य थे। इस प्रकार काठियावाड़ और गुजरात, नर्मदा-तट, दक्षिण, मध्य और पूर्वी राजपूताना और मथुरा तक यादवों का प्रभुत्व था। दूसरा प्रबल राज्य हस्तिनापुर का था। यद्यपि वहाँ के राजा सवरण को भरत-वंशज राजा सुदास ने, जिसकी विजय वैदिक साहित्य में वर्णित है, हराकर भगा दिया था, तथापि सुदास के बाद उसने अपना राज्य ही नहीं छीन लिया वरन् उत्तर-पाञ्चाल को भी जीत लिया। सवरण का पुत्र कुरु और भी प्रतापी निकला और दक्षिण पाञ्चाल को जीतकर उसने कौरव वंश का प्रभुत्व प्रयाग तक पहुँचा दिया। स्थूल रूप से सिन्धुनद से प्रयाग तक कौरवों का आधिपत्य जमा था।

पौरवों की एक शाखा और भी थी, जिसने बड़ी ख्याति पाई। वे कुरु के वंशज वसुचैद्य के पुत्र बृहद्रथ के नाम से 'बार्हद्रथ' कहलाये। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा जरासन्ध था, जो मगध में राज्य करता था। उसके अधीनस्थ मथुरा का अन्धक-वंशज कंस और चेदिराज शिशुपाल ऐसे निर्भीक और बलवान् राजा थे। उसने अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, आदि प्रदेश विजय किये। कंस तो उसका दामाद ही था और शिशुपाल उसकी सेना का प्रधान सेनाध्यक्ष था। इसने मथुरा से यादवों को भी निकाल दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा से असम और उड़ीसा से राजपूताना और नर्मदा तक उसका साम्राज्य फैला हुआ था। श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन ने मल्लयुद्ध में जरासन्ध को मार डाला, जिससे मगध-राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। यद्यपि बार्हद्रथों का साम्राज्य महाभारतकाल ही में नष्ट हो गया तथापि उनके वंशज छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व अवन्ति तक (आधुनिक उज्जैन) में राज्य करते रहे।

## महाभारत का युद्ध

पाण्डवों की महिमा एकाएक इतनी बढ़ी कि उससे कौरवों को उनके साथ पहले तो ईर्ष्या, फिर द्वेष और अन्त में शत्रुता हो गई। इसी शत्रुता से कुरुक्षेत्र में ऐसी समराग्नि प्रज्वलित हुई, जिससे कौरवों का नाश और पाण्डवों का ह्रास ही नहीं हुआ, वरन् आर्य-जाति के पतन का वही मुख्य साधन हो गई। भारत के इतिहास में राम-रावण के युद्ध के बाद घोर विनाशक युद्ध महाभारत का ही हुआ। कौरवों और पाण्डवों ने जितनी बड़ी सेना कुरुक्षेत्र में जमा की, उतनी बड़ी शायद आज तक फिर कभी न जमा हुई, और न वैसे योद्धा ही कभी एकत्रित हो सके। इस युद्ध का समय १४०० ईस्वी पूर्व अनुमान किया जाता है। कौरवों के विनाश के बाद ही यादवों में ऐसा गृहयुद्ध ठना कि वे भी नष्ट हो गये।

## महाभारत-युद्ध के बाद का भारत का राजनीतिक मानचित्र

कौरव-पाण्डवों और यादवों के पतन से भारत का राजनीतिक मानचित्र शीघ्रता से बदलने लगा। कौरवों को टीड्डियों (?) के उत्पात, गंगा की बाढ़ आदि के कारण अपनी राजधानी धीरे-धीरे हस्तिनापुर से हटाकर कौशाम्बी में, जो वत्स देश में थी, स्थापित करनी पड़ी। यहाँ का राजवंश शुद्ध कौरव वंश न था, वरन् कौरवों और पाञ्चालों के मिश्रण से वह प्रकट हुआ। ये मिश्रित समुदाय कुरु-पाञ्चाल के नाम से प्रख्यात हुए। इस समय तक उत्तरी भारत में दस राज्य उल्लेखनीय थे—

गान्धार (पेशावर प्रान्त), केकय (गान्धार से व्यास नदी तक), मद्र (काश्मीर से रावी नदी तक), उशीनर (मध्य देश), मत्स्य (भरतपुर, अलवर, जयपुर प्रदेश), कुरु-पाञ्चाल (बरेली, बदायूँ, फर्रुखाबाद), काशी, कोसल (अवध) और विदेह (तिरहुत)। इस काल में और राज्यों के स्वामी केवल राजा कहलाते थे, किन्तु विदेहपति की पदवी सम्राट् की थी। इसी से इस समय को 'जनकों' (विदेह के राजन्यों) का युग कहते हैं। विदेह के जनकों का आधिपत्य सम्भवतः ईस्वी पूर्व छठी सदी तक चलता रहा। इस युग में उपर्युक्त राज्यों के अलावा विदर्भ (बरार), कलिङ्ग (उड़ीसा), अस्सक (अश्मक?) (गोदावरी के आस पास), भोज (?) राज्य भी थे। उधर आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द (भिलसा प्रान्त), मूतिब (मूषिक ?) आदि अनार्य जातियाँ दक्षिणी सीमाओं पर राज्य करती थीं।

वैदिक युग के एक साधारण देवता 'रुद्र' ही आगे चलकर विष्णु की भाँति हिन्दुओं के द्वितीय प्रधान देवाधिदेव 'शिव' बन गए, जिनका भव्यतम रूप हमें एलिफेंटा के कंदरालय की इस प्रख्यात मूर्ति में देखने को मिलता है।

प्रस्तुत चित्र में कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में कौरव-पांडव दोनों के द्वारा पूजित कुरुवंश के महाप्रतापी वीर वयोवृद्ध भीष्म पितामह की शरशैय्या का दारुण दृश्य दिखाया गया है। बाणों से बिंधे हुए वृद्ध पितामह अपने अन्तिम समय में युद्धभूमि में लेटे हुए हैं। सामने भगवान् श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर, अर्जुन आदि पंच पांडव भी समुपस्थित हैं। यह 'महाभारत' का एक सुप्रसिद्ध प्रसंग है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से कई अनुमान लगाए जा सकते हैं:—

(१) वैदिक और पौराणिक जातियों और वंशों में विशेष विभिन्नता नहीं है। (२) वैदिक वर्णनों से यह जान पड़ता है कि आर्य जाति और वंश का प्रसार पश्चिम से बढ़कर मध्य, पूर्व और दक्षिण में हुआ किन्तु पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार आर्य मध्यदेश (आधुनिक उत्तर प्रदेश) से चारों ओर फैल गए। पश्चिमी प्रान्तों में उनका विस्तार अनुमानतः ईस्वी पूर्व सत्रहवीं शताब्दी में माना गया है। पौराणिक अनुश्रुति आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं करती। (३) वैदिक अथवा पौराणिक घटनाओं को कालक्रमबद्ध करना दुस्साध्य है। बड़ी घटनाओं का काल अनुमान द्वारा निश्चित करने में कुछ सफलता मिली है, किन्तु वह भी संदिग्ध है। (४) इतना तो फिर भी मान्य हो सकता है कि प्राचीन भारत में मानव, ऐल और सौद्युम्न वंशों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की और आर्य सभ्यता का सारे देश में विस्तार उनके ही साहस, पराक्रम और परिश्रम का फल है। (५) आरंभ में आर्यों के दल और राज्य छोटे-छोटे थे, किन्तु बाद को बड़े राज्यों की ही नहीं, वरन् साम्राज्यों की स्थापना भी हो गई। किन्तु कोई भी ऐसा साम्राज्य शायद नहीं हुआ, जो सारे भारत पर आधिपत्य स्थापित कर सका हो। साम्राज्य को पुत्रों और वंशजों में बांटने की प्रथा, वंशानुगत ऐश्वर्य की आकांक्षाएँ एवं कलह, बड़े साम्राज्य के सुसंगठित शासन के स्थापन और संचालन के साधनों के अभाव, आदि के कारण प्राचीन साम्राज्य क्षोभग्रस्त रहे और अन्त में छिन्न-भिन्न हो गए। किन्तु भारत ऐसे विशाल देश में अपनी सभ्यता को, जो हजारों वर्ष तक जीवित ही नहीं रही, वरन् जिसमें संसार के योगक्षेम का सन्देश है, फैलाने और उच्च बनाने का ऐसा महान् कार्य है कि जिस पर कोई भी जाति या वंश अभिमान कर सकता है। आर्यों की इस सफलता की तुलना संसार के इतिहास में बहुत कम मिलती है। उनके इस अपूर्व प्रयास के कारण आज भी भारत में आर्य-सभ्यता जीती-जागती और प्रगतिशील है।

दो हजार वर्ष के उपर्युक्त इतिहास की घटनाओं का ज्ञान तो हमें कम प्राप्त है, किन्तु उस समय की सभ्यता का चित्र अधिक स्पष्ट और आदरणीय है। आर्य-सभ्यता के विकास की जड़ें वैदिक काल में दृढ़ हो गई थीं। अतएव वैदिक काल के जीवन का स्पष्ट ज्ञान हो जाने से उसके पश्चात् की सभ्यता के विकास का ज्ञान सरल और सुग्राह्य हो जायगा। वैदिक काल को सुभीते के लिए यहाँ हमने दो भागों—पूर्व वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल—में विभक्त कर दिया है।

# आर्य-सभ्यता—(क) पूर्व वैदिक काल

## सामाजिक व्यवस्था

वैदिक काल में आर्य लोगों का जीवन अस्थिर न था। उनका गृहस्थ-जीवन संगठित और परिमार्जित था। उनका कुटुम्ब पैतृक सिद्धान्तों पर बना था, जिसमें गृहपति की आज्ञापालन करना सबका कर्त्तव्य था। यद्यपि राजाओं में बहुविवाह होते थे तथापि साधारणतया एक स्त्री से विवाह ही आदर्श माना जाता और प्रचलित था। पूर्व वैदिक काल में बाल-विवाह का रिवाज न था। स्त्री-पुरुष दोनों को विवाह करने की बहुत-कुछ स्वतन्त्रता थी। भाई-बहनों और पिता-पुत्री में विवाह वर्जित था। विवाह तक तो कन्या का भार उसके माता-पिता या भ्राताओं पर था, किन्तु विवाह के बाद वह अपने पति के घर चली जाती थी और उसकी रक्षा करना उसी का कर्त्तव्य हो जाता था। विवाह में दहेज की प्रथा थी। कभी लड़की की कीमत देकर भी विवाह होता था। विवाह का विच्छेद मृत्यु तक नहीं हो सकता था। विवाह का लक्ष्य सन्तान उत्पन्न करना था। यदि स्त्री के सन्तान होती तो विधवा हो जाने पर उसका पुनर्विवाह नहीं होता था। सन्तान न होने से यदि विधवा चाहती तो अपने देवर से ब्याह कर सकती थी। सती-प्रथा का आरम्भ नहीं हुआ था। विवाहित स्त्री का कुटुंब में मान और आदर था। वह पति के साथ धार्मिक कार्यों में भाग लेती थी। उसकी इच्छाओं का श्वशुर, सास, पति के भाई-बहन सभी आदर करते थे। गृहस्थी का निर्वाह करने में उसका अनुशासन माना जाता था। पिता-पुत्र के सम्बन्ध भी अच्छे थे। पिता के मरने पर उसकी सम्पत्ति पुत्र को मिलती थी, न कि पुत्री को, परन्तु पुत्र न होने की दशा में पुत्री को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होता था, इस बात के उल्लेख मिलते हैं।

प्रस्तुत चित्र में कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में कौरव-पांडव दोनों के द्वारा पूजित कुरुवंश के महाप्रतापी वीर वयोवृद्ध भीष्म पितामह की शरशैय्या का दारुण दृश्य दिखाया गया है। बाणों से बिंधे हुए वृद्ध पितामह अपने अन्तिम समय में युद्धभूमि में लेटे हुए हैं। सामने भगवान् श्रीकृष्ण और युद्धिष्ठिर, अर्जुन आदि पंच पांडव भी समुपस्थित हैं। यह 'महाभारत' का एक सुप्रसिद्ध प्रसंग है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से कई अनुमान लगाए जा सकते हैं:—

(१) वैदिक और पौराणिक जातियों और वंशों में विशेष विभिन्नता नहीं है। (२) वैदिक वर्णनों से यह जान पड़ता है कि आर्य जाति और वंश का प्रसार पश्चिम से बढ़कर मध्य, पूर्व और दक्षिण में हुआ किन्तु पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार आर्य मध्यदेश (आधुनिक उत्तर प्रदेश) से चारों ओर फैल गए। पश्चिमी प्रान्तों में उनका विस्तार अनुमानतः ईस्वी पूर्व सत्रहवीं शताब्दी में माना गया है। पौराणिक अनुश्रुति आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं करती। (३) वैदिक अथवा पौराणिक घटनाओं को कालक्रमबद्ध करना दुस्साध्य है। बड़ी घटनाओं का काल अनुमान द्वारा निश्चित करने में कुछ सफलता मिली है, किन्तु वह भी संदिग्ध है। (४) इतना तो फिर भी मान्य हो सकता है कि प्राचीन भारत में मानव, ऐल और सौद्युम्न वंशों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की और आर्य सभ्यता का सारे देश में विस्तार उनके ही साहस, पराक्रम और परिश्रम का फल है। (५) आरंभ में आर्यों के दल और राज्य छोटे-छोटे थे, किन्तु बाद को बड़े राज्यों की ही नहीं, वरन् साम्राज्यों की स्थापना भी हो गई। किन्तु कोई भी ऐसा साम्राज्य शायद नहीं हुआ, जो सारे भारत पर आधिपत्य स्थापित कर सका हो। साम्राज्य को पुत्रों और वंशजों में बाँटने की प्रथा, वंशानुगत ऐश्वर्य की आकांक्षाएँ एवं कलह, बड़े साम्राज्य के सुसंगठित शासन के स्थापन और संचालन के साधनों के अभाव, आदि के कारण प्राचीन साम्राज्य क्षोभग्रस्त रहे और अन्त में छिन्न-भिन्न हो गए। किन्तु भारत ऐसे विशाल देश में अपनी सभ्यता को, जो हजारों वर्ष तक जीवित ही नहीं रही, वरन् जिसमें संसार के योगक्षेम का सन्देश है, फैलाने और उच्च बनाने का ऐसा महान् कार्य है कि जिस पर कोई भी जाति या वंश अभिमान कर सकता है। आर्यों की इस सफलता की तुलना संसार के इतिहास में बहुत कम मिलती है। उनके इस अपूर्व प्रयास के कारण आज भी भारत में आर्य-सभ्यता जीती-जागती और प्रगतिशील है।

दो हजार वर्ष के उपर्युक्त इतिहास की घटनाओं का ज्ञान तो हमें कम प्राप्त है, किन्तु उस समय की सभ्यता का चित्र अधिक स्पष्ट और आदरणीय है। आर्य-सभ्यता के विकास की जड़ें वैदिक काल में दृढ़ हो गई थीं। अतएव वैदिक काल के जीवन का स्पष्ट ज्ञान हो जाने से उसके पश्चात् की सभ्यता के विकास का ज्ञान सरल और सुग्राह्य हो जायगा। वैदिक काल को सुभीते के लिए यहाँ हमने दो भागों—पूर्व वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल—में विभक्त कर दिया है।

# आर्य-सभ्यता—(क) पूर्व वैदिक काल

### सामाजिक व्यवस्था

वैदिक काल में आर्य लोगों का जीवन अस्थिर न था। उनका गृहस्थ-जीवन संगठित और परिमार्जित था। उनका कुटुम्ब पैतृक सिद्धान्तों पर बना था, जिसमें गृहपति की आज्ञापालन करना सबका कर्त्तव्य था। यद्यपि राजाओं में बहुविवाह होते थे तथापि साधारणतया एक स्त्री से विवाह ही आदर्श माना जाता और प्रचलित था। पूर्व वैदिक काल में बाल-विवाह का रिवाज न था। स्त्री-पुरुष दोनों को विवाह करने की बहुत-कुछ स्वतन्त्रता थी। भाई-बहनों और पिता-पुत्री में विवाह वर्जित था। विवाह तक तो कन्या का भार उसके माता-पिता या भ्राताओं पर था, किन्तु विवाह के बाद वह अपने पति के घर चली जाती थी और उसकी रक्षा करना उसी का कर्त्तव्य हो जाता था। विवाह में दहेज की प्रथा थी। कभी लड़की की कीमत देकर भी विवाह होता था। विवाह का विच्छेद मृत्यु तक नहीं हो सकता था। विवाह का लक्ष्य सन्तान उत्पन्न करना था। यदि स्त्री के सन्तान होती तो विधवा हो जाने पर उसका पुनर्विवाह नहीं होता था। सन्तान न होने से यदि विधवा चाहती तो अपने देवर से व्याह कर सकती थी। सती-प्रथा का आरम्भ नहीं हुआ था। विवाहित स्त्री का कुटुम्ब में मान और आदर था। वह पति के साथ धार्मिक कार्यों में भाग लेती थी। उसकी इच्छाओं का श्वसुर, सास, पति के भाई-बहन सभी आदर करते थे। गृहस्थी का निर्वाह करने में उसका अनुशासन माना जाता था। पिता-पुत्र के सम्बन्ध भी अच्छे थे। पिता के मरने पर उसकी सम्पत्ति पुत्र को मिलती थी, न कि पुत्री को, परन्तु पुत्र न होने की दशा में पुत्री को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त था, इस बात के उल्लेख मिलते हैं।

## आर्थिक जीवन

आर्यों की मुख्य जीविकावृत्ति पशुपालन और कृषि पर निर्भर थी। बैल जोतने और बोझा ढोने के लिए रखे जाते थे और घोड़े सवारी, घुड़दौड़ और युद्ध के लिए। उनके अलावा गाय, भैंस (?), बकरी, भेड़, गधे और कुत्ते भी पाले जाते थे। जानवरों के कान पर उनके स्वामी का चिह्न बना दिया जाता था। 'गोपाल' पशुओं को 'गोष्ठ' में चराने ले जाते थे। लोग शिकार भी खेलते थे।

उर्वरा भूमि की जुताई मे छ, आठ और बारह तक बैल नाथे जाते थे। यद्यपि कुओं, झीलों और कुल्याओं (नहरों) एवं नालियों (सूर्मी, सुषिरा) आदि से सिंचाई होती थी, किन्तु फिर भी कृषि जलवृष्टि पर ही निर्भर थी। 'शकन' या 'करीश' नाम की खाद का खेतों में प्रयोग किया जाता था। दैविक उत्पात—जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, कीड़ो और पक्षियों—से खेती को भय रहता था। अनाजों को वे यव या धान्य कहते थे। यद्यपि धान्यों के नाम नही मिलते तथापि उत्तर काल के संकेतों से जान पड़ता है कि वे चावल, जौ, सरसों, तिल, मसूर, गोधूम आदि की खेती करते थे।

## उद्योग-धन्धे और व्यापार

बढ़ई (तक्षण) रथ और गाड़ियाँ तो बनाते ही थे, वे लकड़ी पर नक्काशी का काम भी करते थे। लोहार (कर्मार) धातु के बरतन और औजार बनाते। सोनार सोने के आभूपण बनाते। चमड़े का काम करनेवाले गोफन, धनुष की ज्या, तसमे, रास, कोड़े, थैले और डोल बनाते थे। चमड़े की रँगाई भी होती थी। कपड़ा बुननेवाले (वाय) करघों पर कपड़े बुनते। स्त्रियाँ अन्य गृहस्थी के कामों के सिवा जरी का या बेलबूटे का काम, कताई, चटाई की बुनाई और पिसाई का काम करती थी। वे कृषि-कार्य मे भी योग देती थी।

वणिक विनिमय द्वारा व्यापार करते थे। मोल-तोल पर झकझक होती थी। इस विनिमय का मान प्रायः गाय होती थी, किन्तु 'निष्क' नामक सोने के सिक्के भी प्रचलित थे। जमीन का व्यापार नहीं होता था, यद्यपि उस पर स्वामी का अधिकार माना जाता था। कर्ज भी चलता था, विशेषतः जुआ खेलने के व्यसन के कारण। मूल का अष्टमांश अथवा षोड़शांश शायद सूद में लिया जाता था। यदि कर्ज लेनेवाला अदा न कर सके तो वह दास बनकर उऋण हो सकता था। स्थल के अलावा जल-मार्ग से भी नावों पर व्यापार होता था।

## रहन-सहन

आर्य लोग दूध, पनीर, दही और घी के शौकीन थे। उनके साथ अनाजों को मिलाकर वे अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ बनाते थे। जिनको मांस का शौक था, वे प्रायः बकरी और भेड़ का मांस खाते। गाय को मारना वे बुरा मानते थे। उसे वे 'अघन्य' समझते थे। हाँ, व्याह-शादी के अवसरों अथवा अतिथि-सत्कार के लिए बैल का मांस भी चलता था। मूजवन्त पर्वत मे उत्पन्न होनेवाली सोमलता से वे एक रस तैयार करके उसे बड़े चाव से पीते और उसके गुण का गान करते थे। उससे उन्हे सरूर और हर प्रकार की स्फूर्ति मिलती थी। कुछ लोग 'सुरा' नाम की नशीली शराब पीते थे। उसके नशे में कभी-कभी सभाओं में तू-तड़ाक से मारपीट तक की नौबत आ जाती थी।

पोशाक में उन्हे सादगी पसन्द थी। वे दो वसनों का प्रायः प्रयोग करते थे—एक नीवी (कमर) पर और दूसरा अधिवास या ऊपरी भाग के लिए। उनके वसन प्रायः भेड़ी के ऊन के होते थे। उनके वस्त्र पर बेलबूटे और जरी का काम भी बनाया जाता था। त्यागी अथवा ब्रह्मचारी लोग चर्माम्बर (अजिन, मल) का परिधान बनाते थे। सिले कपड़े या तो तब प्रचलित नहीं हुए थे या उनका रिवाज न था। कपड़ों की सादगी की पूर्ति वे आभूपणों के प्रेम से कर देते थे। स्त्री-पुरुष दोनों कर्णफूल, कंठे, मालाएँ, अँगूठियाँ, हाथो और पैरों के कड़े और रत्नों का बड़े शौक से प्रयोग करते थे। दोनों लम्बे बाल रखते थे। पुरुष उनको जूड़े की तरह बाँधते और स्त्रियाँ गूँथकर बाँधती थीं। बालो की तेल-कंघी होती रहती थी। बाल बनवाने का रिवाज न था। यद्यपि कुछ लोग दाढ़ी मुड़वाते थे, किन्तु फैशन दाढ़ी रखने का था।

आर्य लोग मनचले और आमोद-प्रमोद के प्रेमी थे। स्त्रियों में पर्दा न था। वे बेधड़क पुरुषों से मिलती-जुलती थीं। धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं, खेल-कूद एवं आमोद-प्रमोद में वे भी भाग लेती थीं, जिससे कि सामाजिक जीवन मे कोमलता, मधुरता और सुन्दरता का निरन्तर संचार रहता था। युवकों और युवतियों में मैत्री और प्रेम भी इन्हीं अवसरों पर कभी-कभी हो जाते थे। युवक युवतियों को प्रसन्न और अनुकूल बनाने के लिए तन, मन, धन और सबसे अधिक वचनों से विविध प्रयत्न किया करते थे। युवतियाँ वीर, धीर और तेजस्वी पुरुषों को प्राप्त करने की इच्छा रखती थीं।

आर्यो को जुआ खेलने की बड़ी लत थी। वे गहरे दांव

लगाते थे। वे कुछ न रहने पर अपना शरीर भी दाँव पर लगा देते थे और हारने पर दास हो जाते थे। किन्तु लडकों को जुआ खेलने की आज्ञा न थी। इसके सिवा रथों की दौड़ और घुड़दौड़ का भी उन्हें विचित्र व्यसन था। नाचने, गाने और बजाने का स्त्रियों और पुरुषों को बड़ा प्रेम था। वे साथ मिलकर गाते, बजाते और नाचते भी थे। उनके पास हाथ से और फूककर बजाने के कई बाजे थे। उनकी विजय का बाजा दुन्दुभी (ढोल) था।

## धर्म कर्म

आर्यों के धार्मिक विचार और आचार भी सरल थे। वैदिक धर्म में पितृपूजा, देवपूजा प्रमुख कर्त्तव्य थे। उनका पूजा और कर्म का मुख्य साधन यज्ञ था। उनके देवता चार प्रकार के थे। प्रथम, वे देवता जो प्रकृति की प्रकाशक और सञ्चालक शक्तियों के काल्पनिक स्वरूप थे—जैसे द्यौ, पृथ्वी, इन्द्र, वरुण, सूर्य, रुद्र,मरुत्, वायु, पर्जन्य (मेघ), उषा आदि। दूसरे, वैसे ही कल्पित गृह-देवता—जैसे अग्नि और सोम। तीसरे, भावजन्य देवता—जैसे श्रद्धा और मन्यु (क्रोध)। चौथे, गौण देवता—जैसे गन्धर्व, अप्सरा आदि। कभी-कभी वे देवताओं की कल्पना पशुरूप में भी करते थे। किसी विशेष देवता को स्वानुकूल और प्रसन्न करने के लिए वे विधि-विधान-पूर्वक यज्ञ करते थे। यज्ञों में दूध, अन्न, घी, सोम और कभी-कभी मांस का भी प्रयोग करते थे। यज्ञों में निर्दिष्ट विधि के अनुसार वेद-मंत्रों के साथ हवन किया जाता था। यद्यपि देवताओं से उन्हें भय भी रहता था, तथापि उनकी देवता-सम्बन्धी भावनाओं की प्रेरणा केवल भय के कारण न थी। देवताओं की मित्रता और उनको प्रसन्न करके अपने उद्देश्य की सिद्धि करना उनका ध्येय था। उनका विश्वास था कि विधिपूर्वक यज्ञ करने से देवता उद्देश्य-पूर्ति करने को बाध्य हो जाते है। यज्ञ के विधान ऐसे लम्बे-चौड़े थे कि उनके करने के लिए कम से-कम सात व्यक्तियों की आवश्यकता थी। वड़े यज्ञो में खर्च भी अधिक होता था, जिससे साधारण स्थिति के व्यक्ति उनके करने में असमर्थ थे।

अनेक देवताओं के स्वरूप की कल्पना करते हुए भी वैदिक तत्वज्ञों ने उनमें एक ही देवाधिदेव का विविध रूप में प्रकाश का चमत्कार देखा। इसी से यह कहना अनुचित् न होगा कि तत्वतः आर्य एकेश्वरवादी थे। वस्तुतः वे सृष्टि को भी उसी अव्यक्त विराट् पुरुष का व्यक्त रूप मानते थे। उसी के नाना नाम-रूप हैं, जो देश-काल-पात्र के अनुसार प्रयुक्त किये जाते है। धार्मिक जीवन एवं यज्ञादि मे वे बल, स्फूर्ति, तेज, पराक्रम, समृद्धि और स्वर्ग की कामना करते थे। ऐहिक लोक मे अभ्युदय और विहित सफलता की ओर उनका ध्यान रहता था। यद्यपि वे यमलोक को मानते थे तथापि मरणोपरान्त पारलौकिक चिन्ता अथवा निराशावाद उनको कभी चिंतित अथवा व्यथित नही करता था। वैदिक आर्य प्रायः मृतकों को जला देते थे। किसी-किसी दशा में 'निखात' (दफनाने) अथवा शव को पशु-पक्षी के आहार के निमित्त छोड़ देने का भी रिवाज था। वे पितरों का श्राद्ध और तर्पण भी करते थे।

## विद्या और साहित्य

वैदिक आर्यों का आदर्श सरल किन्तु उच्च जीवन का था। विद्यार्थी गुरु के घर पर रहकर वेदादि का अध्ययन करते थे। उनको बहुत सीधा-सादा ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उनकी दिनचर्या बहुत समझ-बूझकर बनाई गई थी। आलस्य, व्यर्थ बकवाद, अनुद्योग और व्यर्थ आलाप-प्रलाप के लिए गुंजाइश ही नहीं रखी गई थी। गुरु की सेवा और शुश्रूषा करना अनिवार्य-सा था। मेधा, धारणाशक्ति और प्रज्ञा तीनों का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य था। धारणाशक्ति के बिना उन दिनों काम भी नही चल सकता था, क्योंकि विद्यार्थियों को वेद-वेदांग सस्वर कण्ठाग्र करने पड़ते थे। उच्चारण और स्वर में जरा-सी भी भूल अक्षम्य मानी जाती थी।

ऋग्वेद-संहिता की भाषा, व्याकरण, काव्यकल्पना और विचार सभी व्यवस्थित और प्रौढ है। ध्वनि, स्वर और शब्द-विद्या काफी उन्नत थी। वैदिक शब्दों, स्वरों और वाक्यों की शुद्धता की रक्षा के लिए 'प्रातिशाख्य' और 'अनुक्रमणी' की रचना की गई थी।

## राजनीतिक संगठन

वैदिक आर्यों के राजनीतिक संगठन का मूलाधार गृह अथवा कुल था। कुलवाले कुलपति या गृहपति के आज्ञा-नुवर्ती होते थे। कई कुलों के समूह और उनके निवास-स्थान को 'ग्राम' कहते थे। 'ग्रामणी' उसका नेता होता था। ग्राम से बड़ा संगठन 'विश' कहलाता था और विशों से बड़ा 'जन' कहलाता था। अनुमान किया जाता है कि जन का अर्थ कबील है और जनों का सामूहिक रूप विश कहलाता था। पर यह अनुमान संदिग्ध-सा है। राज्य के लिए 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया जाता था।

राष्ट्र का अधिपति राजा शान्ति अथवा समर में जन का नेता माना जाता था। वह बड़े ठाठ के साथ महल में

**मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है**

चाहे हम पाषाण-काल की-सी आदिम अवस्था में रहनेवाले जंगली मनुष्य के जीवन पर दृष्टिपात करें, चाहे आज के सभ्य मनुष्य के जीवनक्रम पर नजर डालें, दोनों ही दशा में मनुष्य को हम मूलतः एक सामाजिक प्राणी ही के रूप मे देखते है । समाज से अलग उसकी स्थिति हम नहीं पाते । (ऊपर) पाषाण-युग की स्थिति में रहनेवाले न्यू गिनी के जंगली लोगों के एक समूह की झाँकी है । (नीचे) एक आधुनिक महानगर के पेचीदा सामाजिक जीवन की एक झलक दिग्दर्शित है ।

# समाज-बन्धन

## समाज की जन्म-कहानी

**मनुष्य को प्रकृति ने एकाकी नहीं बनाया—वह स्वभाव से ही एक सामाजिक जीव है। हमारा आज का जीवन हमारे इस पहलू का सबसे उत्तम उदाहरण है। यदि मनुष्य का सामाजिक रूप बिल्कुल समाप्त हो जाय तो हमारी सभ्यता की यह इमारत भला कितने क्षण टिकी रह सकेगी? वस्तुतः समाज और व्यक्ति का मानव जीवन में अन्योन्याश्रित संबंध है। प्रस्तुत स्तंभ में मानव जीवन के इसी पहलू पर अर्थात् उसके सामाजिक जीवन पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है।**

प्रायः एक करोड़ वर्ष पूर्व भूमण्डल का जल-भाग संकुचित हो उठा और स्थल-भाग की वृद्धि हुई। विशाल पर्वतमालाएँ पृथ्वी के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक उठ खड़ी हुईं। भूमण्डल की गरमी और वातावरण के जलीय भाग के कुछ कम हो जाने से उद्भिज-जगत् में भीषण परिवर्तन उपस्थित हुआ। चारों ओर गहन वन-समूह कम होता गया और पृथ्वी पर पहले-पहल हरी घास और गुल्मों से आच्छादित प्रदेश प्रकट हुए।

इस समय पृथ्वी के अनेक भागों में जंगल के पशु-पक्षी जिस दिशा में उन्हें आरण्य-पथ खुला मिला, उसी दिशा में भाग गए थे; किन्तु हिमालय के उत्तर में मध्य एशिया में सुविस्तृत पर्वत-श्रेणियां और उपत्यकाओं द्वारा भागने का मार्ग अवरुद्ध होने से अनेक पशु मृत्यु के ग्रास बन गए। केवल विविध प्रकार के पक्षी और कीड़े-पतिंगे ही प्रकृति के इस निर्मम निर्वाचन से रक्षा पा सके।

### वानरों में सामाजिक भाव की अभिव्यक्ति

इस विपुल प्राकृतिक विपर्यय के साथ मनुष्य-जाति के जन्म और आदिम विकास का विशेष सम्बन्ध था। जंगलों के विनाश के फलस्वरूप वानर-जाति के अनेक प्रकार के जीव पेड़ों का आश्रय त्यागकर उन्मुक्त मैदानों में आ उतरे। पहले जबकि पेड़ ही उनके एकमात्र आधार थे, नाना जाति के बन्दरों में विविध प्रकार के सहयोग के भाव देखे गए थे। जातक की एक कथा है कि वानरों का एक दल शिकारियों द्वारा आक्रान्त होने पर जब विमूढ़ हो गया, तब वानरराज ने, जो बाद में बुद्धदेव हुए थे, अपनी देह पुल की तरह विस्तृत कर दी थी। उनके ऊपर से आपस में हाथ पकड़कर एक शृंखला तैयार करके बन्दरों ने नदी को पार किया था और इस तरह अपनी रक्षा की थी। मनुष्य-जाति के पूर्वतम पुरुषों के स्रोत ये आदिम वानर अपने वृक्ष-जीवन में ही हाथों और कण्ठस्वर का न केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए बल्कि सामूहिक प्रयोजनों के लिए भी उपयोग करना सीख गए थे। इस समाज-बंधन और सामाजिकता की अभिव्यक्ति का अनुसरण किए बिना मनुष्य की प्रगति का स्रोत समझ में नहीं आ सकता। वानरों को हम आत्म-रक्षा और आक्रमण करते समय हाथों के द्वारा पत्थर और पेड़ों की डालियों का व्यवहार करते देखते हैं। बन्दरों की एक गान-प्रिय जाति भी है, जिसके सभी सदस्य एक साथ गाते हैं। दूसरी ओर हम शिम्पैंजी को अनेक प्रकार के शब्दों का व्यवहार करते देखते हैं, जिनसे उनकी भय, उद्वेग, हर्ष आदि की प्रवृत्तियों का प्रदर्शन होता है। फिर भी मनुष्य की सामाजिकता और वानरों की इस प्रकार की सामाजिक अभिव्यक्ति में विशेष भेद है।

### मनुष्य—यन्त्री और भाषा-भाषी

पहले-पहल आदिमानव ने ही न सिर्फ वानरों की तरह पत्थर या डंडे का व्यवहार करना, बल्कि उन चीजों को तैयार करना और उनमें परिवर्तन करना सीखा था।

अपने सेवकों के साथ रहता था। उसकी आमदनी का मुख्य साधन 'वलि' अर्थात् कर था। उसका चुनाव अथवा उसके उत्तराधिकारी के राजत्व का संस्थापन जनों की सभा-समिति करती थी। सभा या समिति के संगठन का रूप निश्चित रूप से नही ज्ञात होता। सभा का प्रधान 'ईशान' कहलाता था। राजा का निर्वाचन, निष्कासन अथवा पुनर्निर्वाचन सभा करती थी। समिति के सहयोग और परामर्श से राजा शासन करता था।

वैदिक आर्य यो तो शान्तिप्रिय थे, किन्तु अवसर पड़ने पर वे युद्धरत भी हो जाते थे। आत्मरक्षा एव विजय-कामना के लिए युद्ध होते थे। सेना मे पैदल और रथी रहते थे। रथो मे घोड़े जोते जाते थे और रथ चमड़े से मढा होता था। घुडसवार अथवा हाथियो की सेना का प्रयोग देखने मे नही आता। सैनिक धनुष-बाण, फरसे, बर्छे, भाले, असि और गोफनो का प्रयोग करते थे। शरीर-रक्षा के लिए वे धातु के बने वर्म, अत्क, हस्तघ्न, शिरस्त्राण आदि पहनते थे।

# आर्य-सभ्यता—(ख) उत्तर वैदिक काल

२००० वर्ष के इतिहास मे पूर्व से उत्तरकाल की सभ्यता में परिवर्तन होना आश्चर्यजनक नही। उपर्युक्त क्रम से सक्षेप मे मुख्य परिवर्तनों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

## सामाजिक संगठन

यद्यपि ऋग्वेद मे ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र का उल्लेख हुआ है, किन्तु उस समय वर्ण-व्यवस्था जटिल न थी। कम-से-कम पहले तीन वर्णों मे खानपान और विवाह की सामाजिक विभिन्नता नगण्य थी। पर धीरे-धीरे उसमें कठोरता वढ़ने लगी। यहाँ तक कि सूत्र-काल में वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था जन्म से गिनी जाने लगी एवं प्रौढ हो गई। सूत्र-काल में वर्णों में रोटी-बेटी का सम्वन्ध वहुत नियन्त्रित और करीव-करीव वन्द-सा हो गया, यद्यपि कुछ-कुछ द्वार खुला रखा गया। प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य निश्चित कर दिये गये। तथापि शूद्र की परिस्थिति वहुत खराव नही हुई। मनुष्य का जीवन चार आश्रमों मे वाँट दिया गया—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस।

## रहन-सहन

वर्ण-व्यवस्था के दृढ़ और जटिल हो जाने से एव आर्थिक उन्नति होने से रहन-सहन में भी कुछ परिवर्तन हो गया। विवाह आठ प्रकार के माने गये, जिनमें से 'राक्षस' और 'पैशाच' विवाह गर्हणीय गिने जाते थे। दहेज लेकर विवाह करना 'आसुर' समझा जाता था। प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्त्तव्य निश्चित हुआ कि वह पञ्च महायज्ञ प्रतिदिन किया करे। शूद्रों का उपनयन नही होता था, अतएव वे द्विज नही गिने जाते थे।

## अर्थ-व्यवस्था

कृषि मे उन्नति हुई। हल के वड़े-वड़े फाल वनाये जाने लगे, जिनके चलाने के लिए वारह जोड़ी वैलो तक की आवश्यकता पड़ गई। गोवर की खाद का भी खेतो में प्रयोग होने लगा। साल मे दो फसले पैदा की जाने लगी। मुग्द (मूंग ?) और माग (उड़द) वोए जाने लगे। इसी प्रकार कला-कौशल और व्यापार मे भी उन्नति हुई। नये धंधे और रोजगार पैदा हो गये। मछलीवालों, हल चलानेवालो, धोवियो, नाइयो, रगसाजो, वूचड़ों, चाकरों, समाचारवाहको, जौहरियों, नटों, मल्लाहों, डलिया-रस्सी वनानेवालों और कुम्हारो आदि का उल्लेख पाया जाता है। रुपये का लेन-देन वढ़ गया। चाँदी, लोहा, काँसा, सीसा, जस्ता और टीन (त्रपु) का भी व्यवहार होने लगा। सोने, चाँदी और ताँवे के कई प्रकार के सिक्के भी प्रचलित हो गये। कई प्रकार के नाप-तौल के साधन वनाये गये। सूद की दर दस सैकड़ा थी, किन्तु दो से पाँच सैकड़ा मासिक सूद भी प्रचलित था। ब्राह्मण और क्षत्रिय को सूद लेना मना था। वे कृषि और व्यापार भी अच्छा नही समझते थे।

## धर्म-कर्म

धार्मिक क्षेत्र मे पहले तो कर्मकाण्ड में वड़ी उन्नति हुई, अथवा यो कहिए कि पेचीदगी हो गई। यज्ञो मे अव सात के वदले सत्रह कर्मकाण्डियो की आवश्यकता हो गई। किन्तु यज्ञ के विधान मे कुछ कृत्य वास्तविक के वजाय लाक्षणिक गिने जाने लगे। यज्ञ की परिभाषा विस्तृत और व्यापक हो गई। सृष्टि-रचना और सृष्टि-पालन आदि भी एक प्रकार का यज्ञ माना जाने लगा। आत्मन्, कर्म, पुनर्जन्म, माया और मुक्ति की चर्चा दिनोदिन वढने लगी। आत्मज्ञान यज्ञादि कर्मकाण्ड से अधिक श्रेयस्कर समझा जाने लगा। 'तत्वमसि' का मन्त्र उपनिषदो में प्रचलित हो गया। इसके सिवा वैदिक देवताओ में से रुद्र और विष्णु का महत्त्व अधिकाधिक वढ़ने और अन्य देवताओं का घटने लगा। इस प्रकार आधुनिक हिन्दू धर्म की रूप-रेखा स्पष्टतया दिखाई पड़ने लगी।

## विद्या-शिक्षा

आर्यों का विद्या-व्यसन भी खूब उन्नति करता रहा। शिक्षा का आदर्श श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धन, आयु और अमृतत्व प्राप्त करना था। शिक्षा प्राप्त करने के लिए बारह वर्ष, बत्तीस वर्ष अथवा जीवन पर्यन्त के शिक्षा-क्रम बना दिये गये थे। विद्यार्थी और विद्वान् भ्रमण करके शिक्षा प्राप्त अथवा प्रदान करते थे। परिषदों और सभाओं में ज्ञान-विज्ञान पर सत्यासत्य-निर्णय के लिए शास्त्रार्थ और व्याख्यान होते थे। स्त्रियाँ भी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त करके शास्त्रार्थ में भाग लेती और धर्म का निरूपण करती थीं। किन्तु धीरे-धीरे उनके अधिकार कम होते जाते थे। क्षत्रिय लोग विद्या और विद्वानों का समादर ही नहीं करते, वरन् उसमें पारंगत होने की श्लाघ्य चेष्टा करते थे। वेदों का तत्व-निर्णय करने के लिए छः वेदांगों (शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, कल्प) की रचना हुई। उपवेद (धनुर्वेद और गान्धर्ववेद, आयुर्वेद, स्थापत्यवेद), इतिहास और (प्राचीनतम) पुराणों का संकलन किया गया। कल्प का अंग विशेष रूप से बढ़ा। श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्र उसी के उपांग हैं।

## राजनीतिक संगठन

वैदिक आर्यों का आरम्भिक जीवन ग्राम और पुर पर अवलम्बित था। किन्तु धीरे-धीरे बड़े नगरों, राज्यों और साम्राज्यों का विकास हुआ, जिससे उनमें नागरिकता एवं राष्ट्रीयता की विशाल भावनाएँ उत्पन्न हो गईं। सम्राटों के लिए विशेष यज्ञों का विधान रचा गया। राजा के लिए 'राजसूय', सम्राट् के लिए 'वाजपेय', स्वराट् के लिए 'अश्वमेध', विराट् के लिए 'पुरुषमेध' और सर्वराट् के लिए 'सर्वमेध' यज्ञों का विधान बनाया गया। इनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि राजनीतिक विकास की विविध सीढ़ियाँ थीं, जो एक दूसरे से उत्तरोत्तर विस्तृत और बड़ी थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक महत्वाकांक्षी राजा अपना आधिपत्य उत्तरोत्तर बढ़ाने में लग गया, जिससे शान्ति का वातावरण क्षीण होकर युद्ध का दौर-दौरा रहने लगा।

राजा की शक्ति यद्यपि बढ़ती चली गई, तथापि उसकी स्वच्छन्दता के बन्धन ज्यों-के-त्यों रहे। राजा के निर्वाचन की प्रथा जारी रही। कर्त्तव्य-विमुखता के लिए उसको राज्यच्युत करने का अधिकार जनसभा के हाथ में रहा। राज्याभिषेक के समय उसे जो वायदे करने पड़ते थे, उनसे वह बँध जाता था। मन्त्रियों और सभा-समितियों का भी दबाव उसे मानना पड़ता था। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार राजा के ऊपर धर्म था। धर्म का प्रतिपालन करना उसका परम कर्त्तव्य था। किन्तु धर्म का प्रतिपादन ब्राह्मणों के हाथ में था। उसको ग्रामसंस्था, श्रेणी, जाति, कुल एवं जनपद के नियमों का सम्मान करना पड़ता था। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार राजा में दैविक गुण तो अवश्य माने जाते थे, किन्तु उसके कोई दैविक अधिकारों का उल्लेख नहीं किया गया है।

राजा के मन्त्री रत्न कहलाते थे। पहले उनकी संख्या पाँच थी, किन्तु बाद में बारह हो गई। उनमें पुरोहित, राजन्य, सेनानी, संग्रहीता, भागदुह आदि के सिवा महारानी, सबसे प्रिय रानी, त्यक्त रानी एवं अक्षावाप (द्यूत-मन्त्री) शामिल थे। अनुमान किया जाता है कि राजा के प्रमुख साथी और सेवक ही कालांतर में मन्त्री हो गये। धीरे-धीरे इनकी संख्या सैंतीस तक पहुँची, जो कार्य-सम्पादन में विलम्ब करनेवाली हो गई। अतएव मन्त्रि-मण्डल में नौ मन्त्रियों की एक 'परिषद' की रचना की गई। राजा के नियन्त्रण एवं परामर्श के लिए सभा का होना आवश्यक एवं अनिवार्य था। सभा में खूब बहसें होतीं और निर्णय बहुमत से होता था। सभा के नियमों के उल्लंघन के लिए सभापति दण्ड देता था। सभा न्याय भी करती थी। सभा के सिवा 'समिति' का भी उल्लेख है, जो राजा को निर्वाचित करती और उसे स्थिरता एवं विजय प्रदान करती थी। उसके संगठन के विषय में स्पष्ट पता नहीं चलता। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वह सभा से बड़ी संस्था थी।

शासन-विधान का भी विकास हुआ। पूर्ववत् 'ग्राम' का मुख्य पदाधिकारी 'ग्रामणी' था। उसके ऊपर उत्तरोत्तर क्रम से 'दशग्रामी', 'विंशतिप', 'शतग्रामी' और उनके ऊपर 'अधिपति' था, जो एक सहस्र ग्रामों का शासक था। अपने-अपने क्षेत्र में राजकर वसूल करना और न्याय करना इनके मुख्य कर्त्तव्य थे। शासन के १८ विभागों एवं उनके अध्यक्षों का उल्लेख मिलता है। ऐसे भी राज्यों का उल्लेख है, जिनमें राजा नहीं होता था। ऐसे राज्य 'गणराज्य' कहलाते थे। उनका शासन सभा-समितियों, प्रधानों और मुखियों द्वारा होता था। कभी-कभी ऐसे कई राज्य मिलकर रक्षार्थ 'संघ' बना लेते थे। 'गणराज्य' अथवा 'संघ' में सबसे बड़ा दोष यह था कि उनमें दल-बन्दी हो जाती और व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष के बढ़ने से फूट पड़ जाती थी। शायद इसी कारण से वे पनपन न पाये और एक राजानुशासित राज्यों के आघात से चूर्ण होकर अन्त में नष्ट हो गए।

**मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है**

चाहे हम पाषाण-काल की-सी आदिम अवस्था में रहनेवाले जंगली मनुष्य के जीवन पर दृष्टिपात करें, चाहे आज के सभ्य मनुष्य के जीवनक्रम पर नजर डालें, दोनों ही दशा में मनुष्य को हम मूलतः एक सामाजिक प्राणी ही के रूप में देखते हैं। समाज से अलग उसकी स्थिति हम नहीं पाते। (ऊपर) पाषाण-युग की स्थिति में रहनेवाले न्यू गिनी के जंगली लोगों के एक समूह की झांकी है। (नीचे) एक आधुनिक महानगर के पेचीदा सामाजिक जीवन की एक झलक दिग्दर्शित है।

# समाज-बन्धन

## समाज की जन्म-कहानी

**मनुष्य को प्रकृति ने एकाकी नहीं बनाया—वह स्वभाव से ही एक सामाजिक जीव है। हमारा आज का जीवन हमारे इस पहलू का सबसे उत्तम उदाहरण है। यदि मनुष्य का सामाजिक रूप बिल्कुल समाप्त हो जाय तो हमारी सभ्यता की यह इमारत भला कितने क्षण टिकी रह सकेगी ? वस्तुतः समाज और व्यक्ति का मानव जीवन में अन्योन्याश्रित संबंध है। प्रस्तुत स्तंभ में मानव जीवन के इसी पहलू पर अर्थात् उसके सामाजिक जीवन पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है।**

प्रायः एक करोड़ वर्ष पूर्व भूमण्डल का जल-भाग संकुचित हो उठा और स्थल-भाग की वृद्धि हुई। विशाल पर्वतमालाएँ पृथ्वी के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक उठ खड़ी हुईं। भूमण्डल की गरमी और वातावरण के जलीय भाग के कुछ कम हो जाने से उद्भिज-जगत् में भीषण परिवर्तन उपस्थित हुआ। चारों ओर गहन वन-समूह कम होता गया और पृथ्वी पर पहले-पहल हरी घास और गुल्मों से आच्छादित प्रदेश प्रकट हुए।

इस समय पृथ्वी के अनेक भागों में जंगल के पशु-पक्षी जिस दिशा में उन्हें आरण्य-पथ खुला मिला, उसी दिशा में भाग गए थे; किन्तु हिमालय के उत्तर में मध्य एशिया में सुविस्तृत पर्वत-श्रेणियों और उपत्यकाओं द्वारा भागने का मार्ग अवरुद्ध होने से अनेक पशु मृत्यु के ग्रास बन गए। केवल विविध प्रकार के पक्षी और कीड़े-पतिंगे ही प्रकृति के इस निर्मम निर्वाचन से रक्षा पा सके।

### वानरों में सामाजिक भाव की अभिव्यक्ति

इस विपुल प्राकृतिक विपर्यय के साथ मनुष्य-जाति के जन्म और आदिम विकास का विशेष सम्बन्ध था। जंगलों के विनाश के फलस्वरूप वानर-जाति के अनेक प्रकार के जीव पेड़ों का आश्रय त्यागकर उन्मुक्त मैदानों में आ उतरे। पहले जबकि पेड़ ही उनके एकमात्र आधार थे, नाना जाति के बन्दरों में विविध प्रकार के सहयोग के भाव देखे गए थे। जातक की एक कथा है कि वानरों का एक दल शिकारियों द्वारा आक्रान्त होने पर जब विमूढ़ हो गया, तब वानरराज ने, जो बाद में बुद्धदेव हुए थे, अपनी देह पुल की तरह विस्तृत कर दी थी। उनके ऊपर से आपस में हाथ पकड़कर एक शृंखला तैयार करके बन्दरों ने नदी को पार किया था और इस तरह अपनी रक्षा की थी। मनुष्य-जाति के पूर्वतम पुरुषों के स्रोत ये आदिम वानर अपने वृक्ष-जीवन में ही हाथों और कण्ठस्वर का न केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए बल्कि सामूहिक प्रयोजनों के लिए भी उपयोग करना सीख गए थे। इस समाज-बंधन और सामाजिकता की अभिव्यक्ति का अनुसरण किए बिना मनुष्य की प्रगति का स्रोत समझ में नहीं आ सकता। वानरों को हम आत्म-रक्षा और आक्रमण करते समय हाथों के द्वारा पत्थर और पेड़ों की डालियों का व्यवहार करते देखते हैं। बन्दरों की एक गान-प्रिय जाति भी है, जिसके सभी सदस्य एक साथ गाते हैं। दूसरी ओर हम शिम्पेंजी को अनेक प्रकार के शब्दों का व्यवहार करते देखते हैं, जिनसे उनकी भय, उद्वेग, हर्ष आदि की प्रवृत्तियों का प्रदर्शन होता है। फिर भी मनुष्य की सामाजिकता और वानरों की इस प्रकार की सामाजिक अभिव्यक्ति में विशेष भेद है।

### मनुष्य—यन्त्री और भाषा-भाषी

पहले-पहल आदिमानव ने ही न सिर्फ वानरों की तरह पत्थर या डंडे का व्यवहार करना, बल्कि उन चीजों को तैयार करना और उनमें परिवर्तन करना सीखा था।

यही निर्माण-कौशल मनुष्य द्वारा मस्तिष्क के अपेक्षाकृत अधिक व्यवहार का साक्षी है। एक ओर जहाँ वानरों की अपेक्षा आदिम मानव के मस्तिष्क का आकार और उसकी जटिलता बहुत अधिक है, वहाँ दूसरी ओर उसका मुक्त हाथ और हाथ की उँगलियाँ भी उसके मानसिक विकास का कारण हुई हैं। इस गतिशील और क्षिप्र देह-यन्त्र ही ने मनुष्य को कारीगर वनाया तथा पृथ्वी के ऊपर उसका प्रभुत्व स्थापित करने में योग दिया है। यह सच है कि नीची श्रेणी के जीव—जैसे कौए, कुत्ते और घोड़े अथवा वानर—भी बोल और चल सकते हैं, किन्तु वे वाक्यों की योजना नही कर सकते अथवा वाक्यों के प्रयोग द्वारा किसी विचार या ज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। बड़े वानरों की भी आवाज मंद नही होती, किन्तु भाषा का अधिकारी केवल मनुष्य ही है। अन्य जीवों में भी बोलने की शक्ति है, किन्तु केवल मनुष्य ही भाषा-भाषी है। भाषा और बोलने की शक्ति में भेद यह है कि भाषा में केवल इन्द्रियगो[illegible] विषय [illegible] प्रकाश [illegible] भाषा [illegible] . ही नहीं, बल्कि विचारों का [illegible] [illegible]पाषाण-युग के मानव की [illegible] [illegible]ही जा सकता, यद्यपि [illegible] [illegible]र पत्थर का व्यवहार

चाहे पत्थर हो, चाहे पेड़ की शाखा अथवा मूसल आदि, निश्चय ही मानव उनका व्यवहार करके आत्मरक्षा करने में अन्य जीवों से अधिक समर्थ था। इसी तरह मनुष्य का भाषा-व्यवहार भी विपत्ति से उसकी रक्षा करने और समाज-बंधन को सुदृढ करने में सहायक हुआ था। भाषा-व्यवहार के साथ-ही-साथ मनुष्य की कोमल वृत्तियों और अनुभवों का भी विकास हुआ तथा मनुष्य के विविध पारस्परिक सम्बन्धों मे, परिवार में, गोष्ठी मे और वृहत्तर सामाजिक जीवन में दृढता आई। गोरिल्ला, शिम्पैंजी तथा अन्य वानरो मे भी पारि-वारिक जीवन है और गोष्ठी-जीवन भी है, किन्तु उसकी धारावाहिकता उस प्रकार की नहीं है। इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि आदिमानव पहले से ही केवल यन्त्र और भाषा के व्यवहार करने के फलस्वरूप जीवन-संग्राम में विशेष समर्थ और विजयी हो सका था। वल्कि दरअसल वात यह रही होगी कि उसने समाज-बंधन को भी विचित्र और दृढ रूप से गढा था और नाना प्रकार के कोमल भावों से उसे रंजित करके तब कही वह उसे ऊँचा उठा सका था।

**ओरैंग उटांग, शिम्पैंजी आदि में भी पारिवारिक और गोष्ठी-जीवन है**

उनमे भी ममता, भय, हर्ष और उद्वेग के भाव होते है: वे भी परिवार बनाकर रहते है, घोंसला बाधते है, परिवार की रक्षा करने को तत्पर होते है: फिर भी उनकी सामाजिक अभिव्यक्ति और मनुष्य की सामाजिकता में विशेष भेद है।

## निम्नतर जीवों में सामाजिकता

जीव-जगत् की जिस धारा से आदिमानव का उद्भव हुआ था, उसमें हम कई प्रकार की सामाजिकता का परिचय

पाते हैं। यह सत्य है कि सिंह और बाघ अकेले ही वन में विचरा करते हैं, किन्तु अधिकांश जीव सामाजिक होते हैं। बड़े वानरों के बारे में हम देखते हैं कि वे पारिवारिक जीवन में अपने-पराये का भेद समझते हैं। उनमें श्रेणी-विभाग भी है, ऊँच-नीच का विचार है, तथा प्रभुत्व और दासत्व की भावना भी है। उनके बड़े दलों में अनेक मादाएँ युवा वानरों की अनुवर्तिता होती हैं। उनमें व्यक्तियों के उद्वेग, भय, उल्लास, क्रोध और अभिमान इस रूप में ध्वनित होते हैं कि वे वन-वनान्तर में समूचे वानर-समाज में व्याप्त और सामूहिक रूप में अनुभूत हो जाते हैं।

फिर भी मनुष्य ने भाषा का सर्जन करके अपने को एक दूसरे के साथ जिस निविड़ आन्तरिकता में बाँध लिया है, वह शिम्पैंजी और गोरिल्ला में भाषा और कथनपटुता, विवेक और समवेदना, अनुराग और परिणामदर्शिता होने पर भी नहीं है। मनुष्य ने भाषा से केवल परस्पर बन्धन ही स्थापित किया हो यही नहीं, बल्कि भूत, भविष्य और वर्तमान को भी एक सूत्र में पिरो रक्खा है। मनुष्य की परंपरागत अभिज्ञता वर्तमान में बहुत काम आती है। मधुमक्खी के छत्ते हैं, पिपीलिका और दीमकों की भी बाँबियाँ हैं, अमेरिका के बीवर और रेगिस्तानी कुत्तों की भी बस्तियाँ हैं। ये भी 'सभ्य' हैं या यों कहें कि वे भी वंश-परम्परा से एक स्थल पर निवास करते हैं और पूर्वपुरुषों के श्रम और मितव्ययिता के उत्तराधिकारी हैं। किन्तु मनुष्य के वासस्थान अपेक्षाकृत अधिक जनसंकुल और स्थायी होते हैं। मानवीय रहन-सहन उत्तर-युग के मनुष्यों को एक युग के परिश्रम, पूँजी अभिज्ञता, आकांक्षा और आदर्श का उत्तराधिकारी बनाता है।

**मनुष्य और वनमानुस के हाथों की समानता**

बाईं ओर, मनुष्य का हाथ दिग्दर्शित है। दाहिनी ओर, शिम्पैंजी नामक वनमानुस का हाथ दिखाया गया है। मनुष्य के विशिष्ट विकास-क्रम में उसे यंत्री बनाने का श्रेय उसके हाथों को ही है।

आदिम मनुष्य केवल यन्त्री होकर ही दूसरे जीवों पर या प्रकृति के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हो सका था, ऐसी बात नहीं। उसके पक्ष में अधिक सहायक हुआ था उसका सामाजिक जीवन, जिसके फलस्वरूप वह अपने दैहिक बल, भाषा, यन्त्र, तन्त्र और मन्त्र का अधिकार एक पुरुष से दूसरे पुरुष को दान कर सका था। सामाजिकता और मनुष्य के यन्त्र, तन्त्र और मन्त्र के प्रभाव की वृद्धि के साथ-ही-साथ जितनी असामाजिक प्रवृत्तियाँ थीं—जैसे स्वेच्छाचारिता, विश्वासघातकता, निष्ठुरता आदि—वे सब सामाजिकता के मानदण्ड से क्रमशः दण्डित होती गईं। फलस्वरूप मनुष्य के सामाजिक जीवन में एक समता और धारा-प्रवाह का भाव आया, जो अन्य किसी प्राणि-समाज में नहीं पाया जाता।

## आदिम मनुष्य की दुर्बलता और सहकारिता

किन्तु मनुष्य अपनी आदिम अवस्था से शारीरिक दुर्बलता और सजग मन लेकर जिस सहयोग और समष्टि पद की ओर अग्रसर हुआ था, उसका प्रथम उद्भव हुआ था उस समय जब कि कोई वानर-जाति अरण्य-ध्वंस के फलस्वरूप तृणाच्छादित प्रदेश में आकर अपना नया जीवन-यापन करने का उपाय खोज रही थी। इस प्रदेश में अनेक प्रकार के स्तनपायी और मांसाहारी जीवों के साथ आदिम मनुष्य ने परिचय प्राप्त किया था। तृणभोजी स्तनपायी जीवों के नए वातावरण में उनके दाँत, खुर और हाड़ में इस प्रकार की उपयोगिता की ओर परिवर्तन हुआ था, जिससे कि वे लड़ने की अपेक्षा भागने में विशेष दक्ष हों। दूसरी ओर उनमें दल-निर्माण करने की प्रवृत्ति असाधारण रूप में विकसित हो चली थी। फलतः गाय, भैंस, घोड़ा, हरिण आदि दलबद्ध होकर बड़े मांसाहारी जीवों के आक्रमण से रक्षा पाने में प्रयत्नशील हुए थे। इन तृणभोजी जीवों में केवल संगठनशक्ति ही नहीं, बल्कि कुछ श्रम-विभाजन की भी वृत्ति देखी गई। दल में कोई रक्षा या आक्रमण के काम में तो कोई उसके अनुसन्धान या रखवाली के काम में नियुक्त हुआ, जिससे समूचे दल का, विशेषतः बच्चों और माताओं का, कल्याण हुआ। अनेक पशुओं के दलों में श्रेणी-विभाजन अधिक स्पष्ट रूप में देखा जाता है, विशेषतः जब वे अज्ञात या विपत्ति-ग्रस्त तृण-भूमि (चरागाहों) में विचरण करते हैं। इसके

यही निर्माण-कौशल मनुष्य द्वारा मस्तिष्क के अपेक्षाकृत अधिक व्यवहार का साक्षी है। एक ओर जहाँ वानरों की अपेक्षा आदिम मानव के मस्तिष्क का आकार और उसकी जटिलता बहुत अधिक है, वहाँ दूसरी ओर उसका मुक्त हाथ और हाथ की उँगलियाँ भी उसके मानसिक विकास का कारण हुई हैं। इस गतिशील और क्षिप्र देह-यन्त्र ही ने मनुष्य को कारीगर बनाया तथा पृथ्वी के ऊपर उसका प्रभुत्व स्थापित करने में योग दिया है। यह सच है कि नीची श्रेणी के जीव—जैसे कौए, कुत्ते और घोड़े अथवा वानर——भी बोल और चल सकते हैं, किन्तु वे वाक्यो की योजना नही कर सकते अथवा वाक्यो के प्रयोग द्वारा किसी विचार या ज्ञान की अभिव्यक्ति नही कर सकते। बडे वानरो की भी आवाज मद नहीं होती, किन्तु भाषा का अधिकारी केवल मनुष्य ही है। अन्य जीवो मे भी बोलने की शक्ति है, किन्तु केवल मनुष्य ही भाषा-भाषी है। भाषा और बोलने की शक्ति में भेद यह है कि भाषा मे केवल इन्द्रियगोचर विषय और मनोभाव ही नही, बल्कि विचारो का प्रकाशन भी होता है। अवश्य ही पाषाण-युग के मानव की भाषा क्या थी, यह ठीक बतलाया नही जा सकता, यद्यपि यह मालूम हो चुका है कि वे आग और पत्थर का व्यवहार जानते थे।

**ओरँग उटांग, शिम्पेंजी आदि में भी पारिवारिक और गोष्ठी-जीवन है**

उनमें भी ममता, भय, हर्ष और उद्वेग के भाव होते हे; वे भी परिवार बनाकर रहते है, घोंसला बाधते है, परिवार की रक्षा करने को तत्पर होते है; फिर भी उनकी सामाजिक अभिव्यक्ति और मनुष्य की सामाजिकता में विशेष भेद है।

चाहे पत्थर हो, चाहे पेड की शाखा अथवा मूसल आदि, निश्चय ही मानव उनका व्यवहार करके आत्मरक्षा करने में अन्य जीवों से अधिक समर्थ था। इसी तरह मनुष्य का भाषा-व्यवहार भी विपत्ति से उसकी रक्षा करने और समाज-बंधन को सुदृढ करने में सहायक हुआ था। भाषा-व्यवहार के साथ-ही-साथ मनुष्य की कोमल वृत्तियो और अनुभवों का भी विकास हुआ तथा मनुष्य के विविध पारस्परिक सम्बन्धों में, परिवार मे, गोष्ठी में और बृहत्तर सामाजिक जीवन में दृढता आई। गोरिल्ला, शिम्पेंजी तथा अन्य वानरो में भी पारिवारिक जीवन है और गोष्ठी-जीवन भी है, किन्तु उसकी धारावाहिकता उस प्रकार की नही है। इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि आदिमानव पहले से ही केवल यन्त्र और भाषा के व्यवहार करने के फलस्वरूप जीवन-संग्राम में विशेष समर्थ और विजयी हो सका था। बल्कि दरअसल बात यह रही होगी कि उसने समाज-बंधन को भी विचित्र और दृढ रूप से गढा था और नाना प्रकार के कोमल भावो से उसे रंजित करके तब कही वह उसे ऊँचा उठा सका था।

## निम्नतर जीवों में सामाजिकता

जीव-जगत् की जिस धारा से आदिमानव का उद्भव हुआ था, उसमें हम कई प्रकार की सामाजिकता का परिचय

पाते हैं। यह सत्य है कि सिंह और बाघ अकेले ही वन में विचरा करते हैं, किन्तु अधिकांश जीव सामाजिक होते हैं। बड़े वानरों के बारे में हम देखते हैं कि वे पारिवारिक जीवन में अपने-पराये का भेद समझते हैं। उनमें श्रेणी-विभाग भी है, ऊँच-नीच का विचार है, तथा प्रभुत्व और दासत्व की भावना भी है। उनके बड़े दलों में अनेक मादाएँ युवा वानरों की अनुवर्तिता होती हैं। उनमें व्यक्तियों के उद्वेग, भय, उल्लास, क्रोध और अभिमान इस रूप में ध्वनित होते हैं कि वे वन-वनान्तर में समूचे वानर-समाज में व्याप्त और सामूहिक रूप में अनुभूत हो जाते हैं।

फिर भी मनुष्य ने भाषा का सर्जन करके अपने को एक दूसरे के साथ जिस निविड़ आन्तरिकता में बाँध लिया है, वह शिम्पैंजी और गोरिल्ला में भाषा और कथनपटुता, विवेक और समवेदना, अनुराग और परिणामदर्शिता होने पर भी नहीं है। मनुष्य ने भाषा से केवल परस्पर बन्धन ही स्थापित किया हो यही नहीं, बल्कि भूत, भविष्य और वर्तमान को भी एक सूत्र में पिरो रक्खा है। मनुष्य की परंपरागत अभिज्ञता वर्तमान में बहुत काम आती है। मधुमक्खी के छत्ते हैं, पिपीलिका और दीमकों की भी बाँबियाँ हैं, अमेरिका के बीवर और रेगिस्तानी कुत्तों की भी बस्तियाँ हैं। ये भी 'सभ्य' हैं या यों कहें कि वे भी वंश-परम्परा से एक स्थल पर निवास करते हैं और पूर्वपुरुषों के श्रम और मितव्ययिता के उत्तराधिकारी हैं। किन्तु मनुष्य के वासस्थान अपेक्षाकृत अधिक जनसंकुल और स्थायी होते हैं। मानवीय रहन-सहन उत्तर-युग के मनुष्यों को एक युग के परिश्रम, पूँजी अभिज्ञता, आकांक्षा और आदर्श का उत्तराधिकारी बनाता है।

**मनुष्य और वनमानुस के हाथों की समानता**

बाईं ओर, मनुष्य का हाथ दिग्दर्शित है। दाहिनी ओर, शिम्पैंजी नामक वनमानुष का हाथ दिखाया गया है। मनुष्य के विशिष्ट विकास-क्रम में उसे यंत्री बनाने का श्रेय उसके हाथों को ही है।

आदिम मनुष्य केवल यन्त्री होकर ही दूसरे जीवों पर या प्रकृति के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हो सका था, ऐसी बात नहीं। उसके पक्ष में अधिक सहायक हुआ था उसका सामाजिक जीवन, जिसके फलस्वरूप वह अपने दैहिक बल, भाषा, यन्त्र, तन्त्र और मन्त्र का अधिकार एक पुरुष से दूसरे पुरुष को दान कर सका था। सामाजिकता और मनुष्य के यन्त्र, तन्त्र और मन्त्र के प्रभाव की वृद्धि के साथ-ही-साथ जितनी असामाजिक प्रवृत्तियाँ थीं—जैसे स्वेच्छाचारिता, विश्वासघातकता, निष्ठुरता आदि—वे सब सामाजिकता के मानदण्ड से क्रमशः दण्डित होती गईं। फलस्वरूप मनुष्य के सामाजिक जीवन में एक समता और धारा-प्रवाह का भाव आया, जो अन्य किसी प्राणि-समाज में नहीं पाया जाता।

## आदिम मनुष्य की दुर्बलता और सहकारिता

किन्तु मनुष्य अपनी आदिम अवस्था से शारीरिक दुर्बलता और सजग मन लेकर जिस सहयोग और समष्टि पद की ओर अग्रसर हुआ था, उसका प्रथम उद्भव हुआ था उस समय जब कि कोई वानर-जाति अरण्य-ध्वंस के फलस्वरूप तृणाच्छादित प्रदेश में आकर अपना नया जीवन-यापन करने का उपाय खोज रही थी। इस प्रदेश में अनेक प्रकार के स्तनपायी और मांसाहारी जीवों के साथ आदिम मनुष्य ने परिचय प्राप्त किया था। तृणभोजी स्तनपायी जीवों के नए वातावरण में उनके दाँत, खुर और हाड़ में इस प्रकार की उपयोगिता की ओर परिवर्तन हुआ था, जिससे कि वे लड़ने की अपेक्षा भागने में विशेष दक्ष हों। दूसरी ओर उनमें दल-निर्माण करने की प्रवृत्ति असाधारण रूप में विकसित हो चली थी। फलतः गाय, भैंस, घोड़ा, हरिण आदि दलबद्ध होकर बड़े मांसाहारी जीवों के आक्रमण से रक्षा पाने में प्रयत्नशील हुए थे। इन तृणभोजी जीवों में केवल संगठनशक्ति ही नहीं, बल्कि कुछ श्रम-विभाजन की भी वृत्ति देखी गई। दल में कोई रक्षा या आक्रमण के काम में, तो कोई उसके अनुसन्धान या रखवाली के काम में नियुक्त हुआ, जिससे समूचे दल का, विशेषतः बच्चों और माताओं का, कल्याण हुआ। अनेक पशुओं के दलों में श्रेणी-विभाजन अधिक स्पष्ट रूप में देखा जाता है, विशेषतः जब वे अज्ञात या विपत्ति-ग्रस्त तृण-भूमि (चरागाहों) में विचरण करते हैं। इसके

साथ-साथ उनमे नेतृत्व और नियन्त्रण का भाव तथा समूह-भाव भी विशेष रूप मे पुष्ट हुआ है। अनेक तृणभोजी जीव इसी प्रकार प्रदेशों के विभिन्न भागो के ऊपर एक तरह से अधिकार तक स्थापित कर लेते है।

इन्ही सब धाराओ का अवलम्बन करके आदिमानव सामाजिकता की ओर अग्रसर हुआ था। नाना कारणो से सामाजिकता को अपनाना मनुष्यो के पूर्वतम पुरुषो के लिए अनिवार्य हो गया था। मासाहारी जीवो की तुलना मे वे नितान्त दुर्बल थे। तृण-भोजी जीव अक्षम होने के कारण भागने मे पटु और द्रुतगामी होता है। आदि-मानव ने जब समतल भूमि मे पहुँचकर नया-नया चलना प्रारम्भ किया तब भी उसका मेरुदण्ड सबल नही हुआ था—वह झुककर चलता था और तलवो के वजाय पाँव के पिछले हिस्से का उपयोग अधिक करता था। फिर बाघ या चीतों के साथ वह कैसे दौड या लड सकता था? इसीलिए सहकारिता के सिवा और उसका कही निस्तार न था।

**आदिम मनुष्य द्वारा आखेट के समवेत आयोजन की एक झाँकी**

यह चित्र स्पेन की प्रागैतिहासिक युग की कुछ गुफाओं में अंकित १० हजार वर्ष पूर्व के मनुष्यों द्वारा बनाये चित्रों में से एक है, जिसमें आदि मनुष्य के मिलकर शिकार करने का दृश्य रेखांकित है। इससे हमें आभास मिलता है कि मानव में सहयोग की भावना का प्रादुर्भाव पहलेपहल आहार की खोज में हुआ होगा।

## शिकारी का समवेत आयोजन

यह सहयोग पहले देखा गया आहार के क्षेत्र मे। जमीन पर पैर रखकर आदिमानव सर्वभोगी बना। केवल फल और शाकाहारी ही न रहकर वह पशु आदि का मास भी खाना सीख गया। अन्य पशु उसका शिकार करते, अतएव वह भी अन्य पशुओ का शिकार करने की योग्यता प्राप्त करने लगा। यहाँ शिकारियो के सयुक्त उद्योग के अतिरिक्त सिद्धि-लाभ का दूसरा कोई उपाय ही नही था। अत आदिमानव का जादू, धर्म, मन्त्र, तन्त्र आदि पहले-पहल शिकारियो को समूहबद्ध करने एव उनके मन मे आशका दृढ करके सामूहिक उत्तेजना और उत्साह-वृद्धि के लिए ही नियोजित हुआ था। पशुओ के मास का अवलम्बन करने के फलस्वरूप खाद्य-संग्रह की अनिश्चितता घट गई। रूखे और पचने मे कठिन शाक-मूल का त्याग करने के कारण शिशुओ की मृत्यु-सख्या मे भी कमी आई। इस परिवार-वृद्धि ने भी सामाजिकता के अनुशीलन मे सुयोग दिया।

वनभूमि मे एक विच्छिन्न परिवार अपेक्षाकृत असहाय होता है। इसलिए क्रमशः कई परिवारो ने मिलकर दल या गोष्ठी तैयार की। अवश्य ही आदिमानव का जीवन, जिसके ककालावशेषो को विज्ञान की रोशनी मे देखा गया है, एक वयस्क पुरुष के आसपास केन्द्रीभूत लघु परिवार का जीवन था। वे लोग बडे दल या गोष्ठी नही बना सकते थे, यह बात उनके निवासस्थानो के ध्वसावशेषो से अनुमान की जा सकती है। किन्तु जिस तरह वास्तविक मनुष्य (होमो सेपियन्स) पहले से लकडी और पत्थर का विचित्र व्यवहार करना अन्य किसी भी पूर्ववर्ती मनुष्य-जाति से अधिक जानते थे, उसी तरह परिवार का अतिक्रमण करके वे गोष्ठी, दल या समूह मे विस्तृत भी हो सके थे। गत पचास हजार वर्ष के भीतर आदि-मानव का इतिहास अधिकाशत उसकी सामाजिकता ही की अभिवृद्धि का इतिहास है। इस विकास-क्रम मे उसका प्रधान सहायक हुआ था एक ओर प्रकृति का अनुकूल वातावरण और दूसरी ओर स्वयं उसका अपना कार्यकौशल और सघभाव। एक ने दूसरे को समृद्ध बनाया। जनसख्या की वृद्धि हुई और इसका मुख्य कारण था प्रकृति और खाद्य स्थानो की अनुकूलता। इस जनवृद्धि ने एक ओर तो दलबद्ध होने के भाव का पोषण किया, दूसरी ओर आत्मरक्षा और खाद्य सकट की समस्या को विषम रूप से उपस्थित किया। फिर वही आत्मरक्षा और

खाद्य-संग्रह की समस्या दलगठन और दलवृद्धि के भाव को स्थायी बनाने का भी प्रधान कारण बनी। मध्य एशिया में बर्फीली नदियों के क्रम, विस्तार और परिवर्तन के साथ खाद्य-संग्रह की सरलता और कठिनाई ने इसी तरह कहीं मनुष्य को अधिक समूहबद्ध किया था और कहीं विच्छिन्न और विक्षिप्त बनाए रखकर समाज-संगठन के सुयोग से वंचित कर दिया था। प्राय: चार या साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व, जब कि तुषार-युग के अवसान के बाद पृथ्वी की जलवायु समशीतोष्ण हुई उस समय अनुकूल स्थानों पर मनुष्यों की जनसंख्या बढ़ी थी और वे खाद्य-भाव को दूर कर सके थे। इसी तरह सुविधाजनक स्थानों पर—जैसे जंगलों की समीपवर्त्ती किसी नदी की समतल भूमि में, अथवा किसी झील के सन्निकट या मरुद्यान के चारों ओर आदि मानव भेड, बकरी, गाय, भैंस, हिरन और भीम काय हाथी आदि के झुंडों के साथ संघर्ष में अपनी सामाजिक वृत्ति, श्रमविभाजन और दृढ सहकारिता के कारण सहज ही विजयी हो सका था। विभिन्न स्थानों के भौगोलिक कारणों से इस प्रकार विचित्र आदिम मनुष्य का आविर्भाव हुआ। फिर भौगोलिक परिवर्तन और खाद्य-संकट के साथ और भी नई जातियाँ पृथ्वी के विविध स्थानों में प्रकट हुई। उनमें जहाँ भोजन के अभाव या जलवायु के परिवर्तन के कारण देश-परिवर्तन करते समय विषम मार-काट होती थी, वहाँ अन्य समय में आपस में यौन सम्मिलन द्वारा संकर जाति का उत्पादन तथा शिक्षा और व्यवहार का आदान-प्रदान भी होता था। इस तरह अनेक युगों में नाना प्रकार के वातावरणों में वास्तविक मानव का अवतार हुआ। वास्तविक मानव की दो ही उपजातियाँ है—क्रोमैगनन और ग्रिमाल्डि। ये लोग एक ओर जहाँ वन में निवास करने के लिए अपेक्षाकृत अनुपयुक्त थे, वहाँ दूसरी ओर खूब दल-बद्ध भी थे। उन दिनों अधिकांश स्थानों में प्रदेश वृक्ष-विहीन थे। जहाँ कुछ-कुछ झाड़ियाँ आदि थीं, वही अथवा झील या नदियों के किनारे आदिम मानव भीषण जाड़े या गर्मी से रक्षा करने के लिए दलबद्ध भाव से निवास करता था। उन सब प्रदेशों में खाद्य पशुओं का भी अभाव नहीं था। आदिम समाज-विन्यास अधिकांश लकडबग्घो या कुत्तों के दल की तरह ही था। एक ही प्रकार के विभिन्न शिकारी दल—जो बड़े भैंसों, गैंडों या हाथियो के साथ ठीक लकडबग्घों की तरह ही आक्रमणोपयोगी श्रमविभाग और शृंखला द्वारा लडते थे—शिकार की सुविधा के लिए एकत्र रहन-सहन बनाकर जन-संकुल होने लगे। यहाँ आकर अन्तर्विवाह ने आर्थिक सहयोग को अधिक दृढ बनाया। इसके फलस्वरूप ही जातियों में दृढ रूप से दैहिक गुण प्रतिष्ठित होने लगे, और समाज की प्रथा एवं आचार-व्यवहार भी वंशपरम्परागत हुए। इस तरह आसपास के वातावरण की शक्ति ने मानव के विधि-निषेध और समाजविन्यास को युग-युग से स्वाभाविक निर्वाचन की कसौटी पर कसा है। उस कसाव में सब जगह सामाजिकता की विजय घोषित हुई है। किन्तु समाज-गठन की प्रेरणा मनुष्य को मिली है उसकी अन्तर्प्रवृत्ति से ही।

**शिकार के समय पाषाणकालीन मनुष्य के सहयोगी जीवन की झाँकी**

यह भारत में पाये गये प्रस्तर-युग के मनुष्यों द्वारा चित्रित पाषाण-चित्रों में से है, जिसमें तत्कालीन मनुष्य मिलकर शिकार कर रहे है।

## सामाजिकता और शैशवकाल का प्रसारण

मानव-शिशु अन्य जीवों के बच्चों की तुलना में सब तरह से असहाय होता है। इसी कारण मानव शिशु को (अपेक्षाकृत बड़ा और भारी होने के कारण) अपना माथा सीधा करके रखने में और चलना सीखने में विलम्ब होता है। इसके अतिरिक्त शरीर में केवल रोम रहने से दूसरों की अपेक्षा वह शीत-धूप आदि भी कम सहन कर सकता है। मनुष्य का लंबा शिशु-जीवन एक ओर जिस तरह उसके मस्तिष्क के विकास का कारण है, उसी तरह दूसरी ओर उसने

परिवार तथा समष्टि जीवन में सहयोग उसके लिए अनिवार्य बना दिया है। मानव-शिशु भूख, सर्दी या गर्मी से त्रस्त होकर रोता है, जिसे देखकर पूर्वमानव का परिवार निश्चय ही विचलित होता रहा होगा; जैसा कि बड़े वानरों में देखा जाता है, जिनका शैशवकाल भी दीर्घ होता है। दीर्घकालीन शैशव के साथ क्रीडा-कौतुक का भी प्राबल्य देखा जाता है। वयस्क लोग बच्चों के खेल-कूद के साथी बने। खेलना जीवन का एक अभिनय है—इस अभिनय के पीछे रहता है छोटे-बड़े, दुर्बल-सबल के भावों का विनिमय। जीव की अभिव्यक्ति के इतिहास में यह अभिनय उसको परिवर्तित जीवन में कठोर संग्राम के लिए शिक्षा देता है, जैसे कि हंस अपने बच्चे को तैरने, बाघ, सिंह, और बिल्ली आदि शिकार करने, और बन्दर या मनुष्य कार्य-कौशल या शुभ-अशुभ की सीख देते हैं।

शिशु-काल के प्रसारण के साथ-साथ जीव की कोमल प्रवृत्ति प्रबल होती रहती है। बड़े वानर प्राय मनुष्य की तरह शिशु के प्रति ममता और यत्न प्रदर्शित करते हैं। पूर्व और आदिम जननी के हृदय में जो स्नेह, कोमलता और सेवापरायणता सर्वप्रथम दृष्टिगोचर हुई होगी, वह मानव जाति की मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का प्रधान उपकरण है। संभव है, उसी भाव-प्रकाश की व्यथा से पहले-पहल माता की गोद में, शिशु की रोग-शय्या पर, अथवा क्रीड़ाप्रांगण मे भाषा का सर्जन हुआ होगा। यह स्नेह, दया और ममता युग-युग से सन्तान के मन मे संचरित होती रही और मानव जाति क्रमशः समष्टि-बोध की तराजू में परखी और जाँची जाने लगी। फलस्वरूप मनुष्य का मस्तिष्क एक ऐसा कार्य-साधक यन्त्र बन गया, जो संपूर्णत. अन्य मनुष्यों के प्रति सद्भाव पर निर्भर है।

## मनुष्य का विद्रोह

एक करोड़ वर्ष के मानव जीवन के इतिहास में उसके मुक्त और नमनीय हाथ ही की तरह उसके स्थूल मस्तिष्क ने भी अभिव्यक्ति के आरोहण-पथ की ओर इंगित किया है। प्रकृति के साथ लड़कर खाद्य-संग्रह करने का श्रेय जिन हाथों को है, वे ही हाथ वर्तमान युग मे विचित्र प्रकार की युद्ध-सामग्रियाँ तैयार करके आज स्वत. मानव के ही विरुद्ध नियोजित हुए हैं! जो मस्तिष्क मानव-मानव की पारस्परिक सगाई का नियोजक है, उसे वह चातुर्य और कूटनीति के व्यवहार मे अन्य मनुष्य पर अधिकारस्थापन या प्रभाववृद्धि के लिए आज नियोजित करता है! उपर्युक्त दोनों प्रकार से मनुष्य अपने क्रमविकास का दुरूह आरोहण-पथ छोड़ देने को उद्यत है; वह प्रकृति के विरुद्ध विद्रोही बन गया है। देह और मन के क्रम-विकास में कार्य-कुशल मानव का हाथ मस्तिष्क की जटिलता की वृद्धि अर्थात् शक्ति की तीक्ष्णता और अनुभव के विस्तार में सहायक हुआ है। दूसरी ओर मनुष्य का मस्तिष्क ही हाथ के विचित्र व्यवहार का निर्णय करता है।

आधुनिक यांत्रिक सभ्यता ने आज एक विषम समस्या खडी कर दी है। वह यह है कि मनुष्य केवल पृथ्वी पर ही नही बल्कि स्वतः मनुष्य के ऊपर भी प्रभुत्व स्थापन करने के लिए अपनी अभूतपूर्व शक्ति का उपयोग करता है। अनुभव की सूक्ष्मता, गांभीर्य तथा विस्तार, बलप्रयोग के क्षेत्र-विस्तार के साथ-साथ कम होते गए हैं। सामाजिक जीवन में जब भी मनुष्य चोरी, डकैती, धूर्तता अथवा बलप्रयोग द्वारा दूसरे को हटाता है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जब कभी कोई देश दूसरे देश के ऊपर बाहुबल का प्रयोग करता है और आपस में सुलह या शांतिपूर्ण साधनों से नही, बल्कि युद्ध के द्वारा समाधान खोजता है, तभी हम देखते है कि प्रकृति ने मनुष्य को जो अपने मन और हृदय के विस्तार के द्वारा सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ आसन लेने के योग्य बनाया था, उसका व्यतिक्रमण हो रहा है। जीव के क्रमविकास के आरोहण पथ की सीमा पर खड़े होकर मनुष्य का दैहिक विकास अनेक दिनो से एक तरह से बन्द हो गया है। क्या वह इस समय युद्ध करके अपने आध्यात्मिक विकास का भी द्वार बन्द कर देगा और अपने इस सुविशाल साम्राज्य को, जो केवल भूमण्डल पर ही नही बल्कि आज आकाश-पाताल, प्रकाश-अन्धकार, विद्युत् और अंतरिक्ष मे भी परिव्याप्त है, मधुमक्खी, पिपीलिका या कीड़े-पतिंगों के हाथ भविष्य में छोड़ देगा? सैकड़ो दोषों और अपराधो के होते हुए भी केवल मनुष्य ही जीव-सम्बन्धी नीति और आदर्श का जानकार है। सब जीवों में केवल वही समझता है कि प्रकृति का निश्चित आरोहण-पथ कौन-सा है, और कौन-सा पतन का पथ है। मनुष्य यदि जान-बूझकर भी इस सम्बन्ध मे अपराधी हो, एवं जिस प्राकृतिक निर्वाचन को अनेक परिणाम मे वह नियन्त्रित कर चुका है, उसके निकट एक बार ही आत्म-समर्पण कर दे तो पृथ्वी का इतिहास एक दारुण विद्रूप-सा हो जायगा। अथवा कौन जाने और कोई सामाजिक जीव, युद्धविग्रह के भीतर से नही बल्कि शान्ति और सौहार्द्र के भीतर से, वसुन्धरा से मनुष्य को विलुप्त करके उसको एकभोग्या बनाने की आज अदृष्ट रूप से आयोजन कर रहा हो।
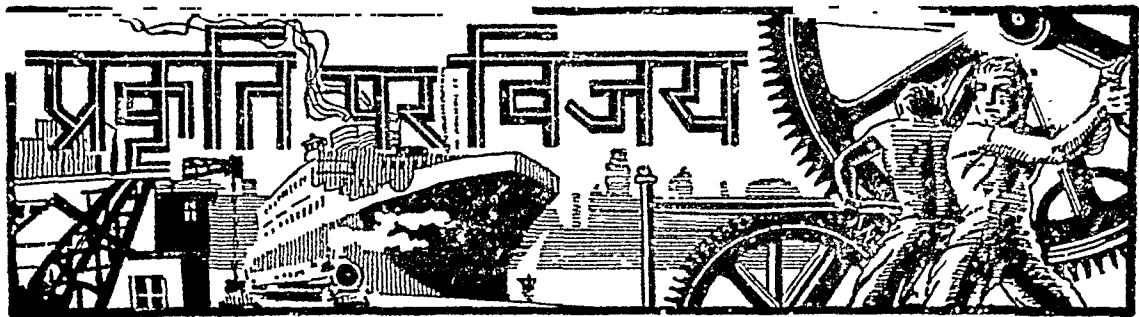
# एक नई दुनिया का निर्माण

पिछले स्तंभों में प्रकृति की बनाई हुई अद्भुत् सृष्टि का कुछ परिचय आप पा चुके हैं। किन्तु क्या उससे कम आश्चर्यजनक है स्वयं मनुष्य द्वारा रची गई वह दूसरी अनोखी सृष्टि, जिसका निर्माण करके वह मानो दूसरा विधाता बनने जा रहा है ! पृथ्वी को मानो अपना क्रीड़ाङ्गन बनाकर आज रेल, मोटर, जहाज आदि दौड़ाते हुए वह उसे एक से दूसरे कोने तक रौंद रहा है। जिस दिन पत्थरों को तोड़कर मनुष्य ने पहले-पहल औज़ार बनाना सीखा, उस दिन से हवाई जहाज, रेडियो और टेलीविजन के इस युग तक की प्रकृति पर विजय पाने तथा एक नई सृष्टि रच डालने की अनूठी कहानी इस स्तंभ के अन्तर्गत क्रमशः आपके लिए दोहराई जा रही है।

हम अपने को भाँति-भाँति की वस्तुओं मे घिरा हुआ पाते हैं। पत्र लिखना हुआ तो मेज पर से फाउन्टेन-पेन उठाया और पन्नो के पन्ने भर दिये। बगल से टेलीफोन लिया और सात समुन्दर पार बैठे हुए मित्रो से बात कर ली। कमरे से बाहर निकले, दो मिनट भी प्रतीक्षा नही करनी पड़ी कि मोटरबस या ट्राम आई, और बात-की-बात में अपने आफिस पहुँच गये। बाहर जेठ की लू चल रही है, किन्तु आप कमरे मे बैठे हुए बिजली के पखे के नीचे ठण्डी हवा का आनन्द ले रहे हैं। जिधर आँख उठाएँ, आपको अचभे में डाल देनेवाली वस्तुएँ नजर आएँगी। जरा-सा बटन दबाया और लन्दन-पेरिस के गाने आपको सुनाई देने लगे। घर-बैठे सैकड़ो कोस दूर की घटनाएँ भी टेलीविजन की सहायता से अब आप देख सकते हैं।

क्या आपने कभी सोचा है कि जादू ऐसी काम कर दिखाने-वाली ये वस्तुएँ कैसे बनी हैं ?

आज के युग का निर्माता—वैज्ञानिक

प्रयोगशालाओं में रात-दिन छानबीन में निमग्न इन विज्ञान के पुजारियों की लगन और तपस्या के ही फलस्वरूप हमें भाँति-भाँति के आविष्कारों का वरदान मिला है।

निस्संदेह पेड़-पौधों की तरह प्रकृति मे ये स्वयं तो उत्पन्न नही होती। तो आखिर उनका निर्माण मनुष्य ने कैसे कर डाला? ये बड़े-बड़े वायुयान, विशालकाय रेले, कल और कारखाने क्या किसी दैवी प्रेरणा से अकस्मात बन गए या निरतर अनेक पीढियों तक विविध समस्याओं के हल करने मे संलग्न किसी की कठोर लगन और साध का प्रसाद ये है?

## मनुष्य किस प्रकार आविष्कर्त्ता बना

आदिकाल मे मनुष्य तत्कालीन जीवधारियों में सबसे अधिक अरक्षित और असहाय था। खूँख्वार जानवरो से अपनी रक्षा करने के लिए उसके पास न तो मजबूत पजे, न सीग और न सुदृढ टाँगें ही थी कि उनकी सहायता से वह शत्रुओ का सामना कर सकता। किन्तु शायद वही अकेला प्राणी था, जो सोचने की शक्ति रखता था। अपनी रक्षा के निमित्त प्रति क्षण उसे तरह-तरह के उपाय सोचने

**मनुष्य की नई वैज्ञानिक सृष्टि की एक मिली-जुली झाँकी**

गगनचुम्बी इमारतों, द्रुत गति से अंतरिक्ष को चीरकर पृथ्वी के एक सिरे से दूसरे सिरे को नापते रहनेवाले वायुयानों और वायु-पोतों, विशाल जहाजों, इंजिनों, कलो, आदि की साजसज्जा से पूर्ण आज की यह अद्भुत यांत्रिक सभ्यता हमें प्रकृति से कोई बनी-बनाई प्राप्त नहीं हुई है—यह मनुष्य की ही अपनी नवनिर्मित सृष्टि है।
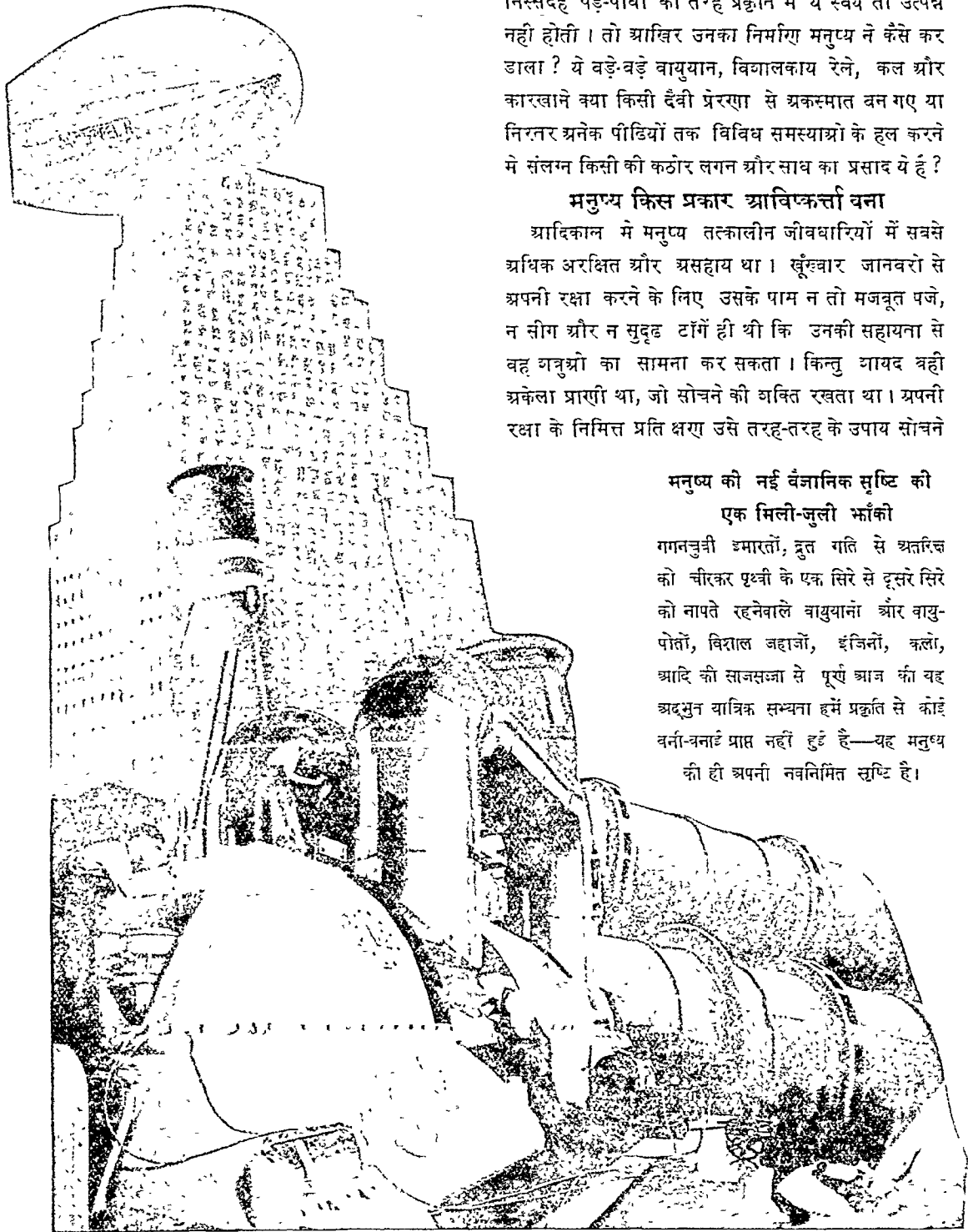
पड़ने थे। इस तरह पृथ्वी पर अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए मनुष्य को बरबस आविष्कर्ता बनना पड़ा।

## वल्कल-वस्त्र से पुतलीघर तक

उसके शरीर पर बाल नहीं थे कि वह ठण्ड से बच सके, निदान यहाँ भी उसे मस्तिष्क से ही काम लेना पड़ा—उसने पत्तो या छाल को जोड़कर शरीर ढकने के लिए परिधान बनाया। आधुनिक पुतलीघरों तक पहुँचने के लिए नवीन मार्ग उसी दिन खुला। इस वल्कल-वस्त्र से कपड़े बुनने के आधुनिक कारखानों तक पहुँचने मे फिर मनुष्य को कुछ विशेष कठिनाई का सामना नही करना पड़ा——इस शृंखला में आविष्कारो की कड़ियाँ एक के बाद दूसरी जुड़ती चली गई।

## पहिये का महत्त्वपूर्ण आविष्कार

व्यर्थ के परिश्रम से बचने के लिए मनुष्य ने सदा से ही नई-नई युक्तियाँ खोजी हैं। जंगल से ईंधन सिर पर लादकर लाने मे उसे तकलीफ होती थी। उसने इस परेशानी से बचने के लिए सोचा-विचारा और फलतः चक्की के पाट जैसे लकड़ी के टुकड़े काटकर उसने पहिये तैयार किये। इस बेढंगी गाड़ी पर बोझा ढोने का काम वह लेने लगा। पहियेदार गाड़ी के विकास का यहीं से प्रारंभ होता है। अपने इतिहास के लंबे दौरान में मनुष्य की आविष्कारक प्रवृत्तियाँ बराबर काम करती रहीं। फलस्वरूप भद्दे पहियेवाली उन गाड़ियों के युग से कुछ हजार वर्षों के भीतर ही वह लम्बी-लम्बी रेलगाड़ियों के इस आधुनिक युग तक आ पहुँचा है। इस दिशा में अभी भी मनुष्य की प्रगति रुकी नही है। भविष्य में क्या निहित है, इस प्रश्न के उत्तर देने की भला किसमें सामर्थ्य है?

## कंदराओं से गगनचुंबी अट्टालिकाओं तक

कंदराओं और अँधेरी गुफाओं से बाहर निकलकर मनुष्य ने ठूँठ से घेरकर अपने लिए घास-फूस की झोपड़ी तैयार की। इस तरह जाड़े और धूप से उसने अपनी रक्षा की। फिर हजारों वर्ष तक इस झोपड़ी के संवारने-सुधारने का काम जारी रहा और आज उसके लिए ताजमहल-जैसी
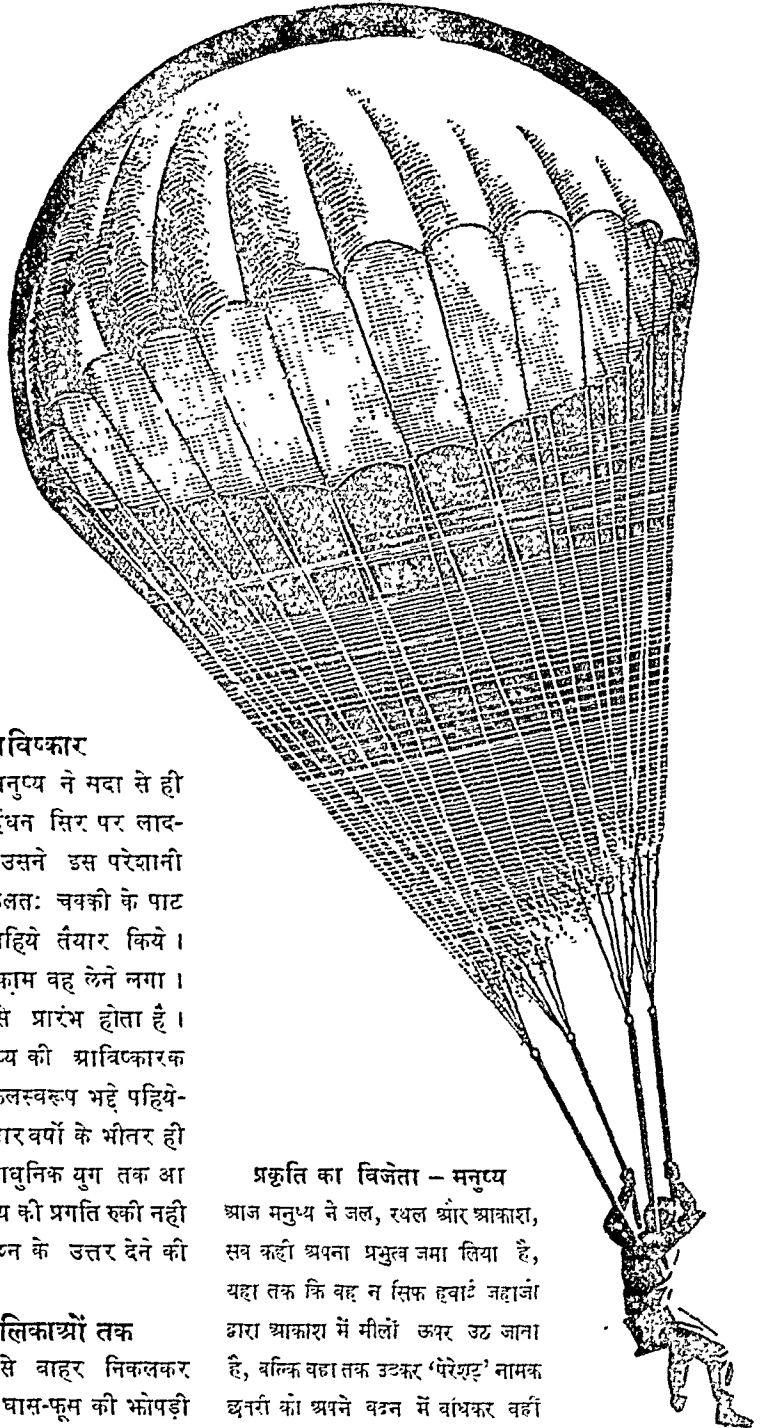
**प्रकृति का विजेता – मनुष्य**

आज मनुष्य ने जल, स्थल और आकाश, सब कहीं अपना प्रभुत्व जमा लिया है, यहा तक कि वह न सिर्फ हवाई जहाजों द्वारा आकाश में मीलों ऊपर उठ जाता है, बल्कि वहा तक उठकर 'पेरेशूट' नामक छतरी को अपने बदन में बांधकर वहीं से शून्य आकाश में कूद पड़ता है और धीरे-धीरे धरती पर सही-सलामत आ जाता है। प्रस्तुत चित्र में इसी प्रकार पेरेशूट की मदद से आसमान से उतरने का दृश्य अंकित है

सुंदर या न्यूयार्क की गगनचुंबी अट्टालिकाओं-जैसी विशाल इमारतों का निर्माण करना बायें हाथ का खेल हो रहा है।

**आविष्कारों ही के बल पर मनुष्य एक-एक इंच सभ्यता के शिखर की ओर बढ़ा है**

इसी प्रकार साधारण डोंगी से आधुनिक जहाजो तक पहुँचने मे मानव-समाज को एक लम्बी मंजिल तय करनी पड़ी है। एक ओर आप बैलगाड़ी खड़ी कर दे और दूसरी ओर हवा से बातें करनेवाली मोटरगाडी। लाख प्रयत्न करने पर भी आप यह न जान सकेगे कि मोटर बैलगाड़ी का ही परिष्कृत रूप है! और साधारण गुब्बारो से जैप्लिन तक पहुँचने की कहानी भी क्या कुछ कम आश्चर्यजनक है? इस प्रकार आविष्कारो ही के बल पर मनुष्य एक-एक इन करके सभ्यता के शिखर की ओर बढ़ता गया—और उसके हमजोली जंगल के अन्य जानवर, विशेषकर उसके निकटतम संबन्धी बन्दर बहुत दूर पीछे जहाँ-के-तहाँ ही रह गये।

निस्सदेह प्रकृति के रहस्यों का पता लगाने का हमारे पुरखों ने सराहनीय प्रयत्न किया था, किन्तु वे इस दिशा मे अधिक न बढ़ पाये थे, क्योंकि उनके पास इसके लिए उपयुक्त साधन न थ। अपनी इन्द्रियों द्वारा ही वे बाह्य ससार का ज्ञान प्राप्त कर सकते थे—किन्तु केवल इन्द्रियाँ ही मस्तिष्क को इस रास्ते पर दूर तक नही ले जा सकती। मनुष्य का दृष्टिक्षेत्र, उसकी सुनने की शक्ति और सूँघने की क्षमता अनेक जानवरो की अपेक्षा कही कम है। अतएव इन घटिया साधनो को लेकर प्रकृति की भूलभुलैया मे मनुष्य एक भूले हुए पथिक की तरह युगो तक भटका किया। आँख उठाकर उसने आसमान की ओर देखा, तो मुश्किल से हजार-दो हजार तारे उसे नजर आये। उसने भी समझा, बस आकाशपिंडों की संख्या इतनी ही है। किंतु उस समय भी अरबों और खरबों की संख्या मे आज ही की तरह

(ऊपर और दाहिनी ओर)
**वल्कल-वस्त्र से पुतलीघर तक**
सुदूर प्रागैतिहासिक युग में जिस दिन पेड़ की छाल या पत्तियों से शरीर ढकने का परिधान मनुष्य ने बनाया, उसी दिन उसने आधुनिक पुतलीघरों तक पहुँचने की राह निकाल ली।

(दाहिनी ओर और नीचे)
**आदिम पाषाणगृहों से उन्नत अट्टालिकाओं तक**
कंदराओ से निकलकर जिस दिन आदिम मनुष्य ने पहली झोपड़ी बनाई, तभी गगनचुंबी विशाल इमारतों के निर्माण का मार्ग खुल गया।
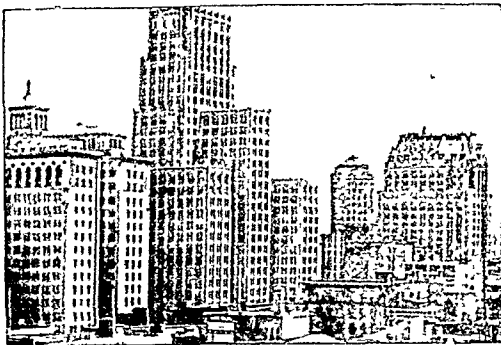
आकाश में तारे विद्यमान थे। फिर जब वह अपने पैरों की ओर धरती पर नजर डालता, तो शायद चींटियो जैसे कुछ छोटे प्राणी उसे दिखाई दे जाते—उसे स्वप्न में भी खयाल नही था कि उस मिट्टी मे करोड़ो क्षुद्र कीटाणु बिलबिलाते रहते है। रास्ता चलते समय उसके पैरों से जब ठोकर लगती, तो आज की भाँति उन दिनो भी कंकड़ो मे विद्युत् का सचार हो आता—किंतु इन सब बातों से अनजान, वह अपनी पुरानी चाल से मुद्दतो तक चलता रहा। वह तो इस खयाल मे था कि आँख मूँदे हुए अपने अंतस्तल मे गोते लगाकर ही वह प्रकृति के रहस्यो का पता लगा सकेगा!

## यंत्रयुग का प्रादुर्भाव—भाँति-भाँति के यंत्र

( ऊपर और बाईं ओर )

**आदिम पहियेदार गाड़ी से आधुनिक रेलगाड़ियों तक**

आज की भीमकाय रेलगाड़ियों के विकास की कहानी दरअसल तब से आरंभ होती है, जब मनुष्य ने लकड़ी के गोल चक्र काटकर पहली पहियेदार गाड़ी बनाई थी।

इतिहास बताता है, इन जटिल गुत्थियों की दो-एक गाँठ भी खोलने से पहले मनुष्य को हजारो-सैकड़ों आविष्कार अपनी इन्द्रियो की परिमित शक्ति बढाने के लिए करने पड़े—आजकल के यंत्रयुग की नीव भी तभी पड़ी।

( बाईं ओर और नीचे )

**आदिम डोंगियों से आधुनिक जहाजों तक**

समुद्र की छाती चीरनेवाले आज के भीमकाय जलपोत वस्तुतः आदिम युग की सर्वप्रथम भोंडी डोंगी का ही परिष्कृत रूप है।

आँखो की शक्ति बढाने के लिए उसने दूरदर्शक और सूक्ष्मदर्शक यंत्रो का निर्माण किया—तब कही अनन्त अन्तरिक्ष मे प्रवेश करने मे वह सफल हो सका। दूरदर्शक की सहायता से उन आलोक-रश्मियो का उसे पहली बार परिचय मिला, जो हजारो वर्ष पहले पृथ्वी तक पहुँचने के लिए रवाना हो चुकी थी। तभी मनुष्य को जगत् की विशालता का पहली बार सही पैमानो पर अन्दाज मिला। सूक्ष्मदर्शक की सहायता से जो अपूर्व सूक्ष्म दृष्टि उसने प्राप्त की, उसी की बदौलत अदृश्य वस्तुओं को देखने में आज वह समर्थ हुआ। उसने इन सूक्ष्म पदार्थों का अध्ययन किया और इस तरह पदार्थ के मूल-तत्वों तक पहुँचने के लिए रास्ता उसे दिखाई पड़ा। इसी के बल पर अणु-परमाणुओं की समस्या को हल करने की महत्वाकांक्षाएँ उसके मन में जगी। पर यही आकर वह नही रुका। मनुष्य की जिज्ञासा बड़ी ही बलवती है। वह तृप्त

**आज के मनुष्य की जादू की लकड़ी—मशीन**

जिसे घुमाते ही अब उसके काम अपने आप ही होने लगते हैं। ऊपर एक ऐसी ही पेचीदा मशीन का चित्र है। इसमें १० हजार से अधिक पुर्जे हैं। यह शीशे की बोतलें बनाने का काम करती है और इतनी बुद्धिमानी, सावधानी और कोमलता के साथ यह इस काम को करती है कि कागज की तरह पतले शीशे तक में भी इससे खरोंच नहीं लग पाती। फिर भी इसमें इतनी शक्ति है कि ५० हाथियों को यह उनकी पूंछ पकड़कर एक साथ ही घुमा सकती है! इससे ११५ बोतलें प्रति मिनट तैयार होती हैं!

होनेवाली वस्तु नहीं है। इसी से अपने दृष्टिक्षेत्र को बढ़ाने का प्रयत्न निरंतर वह करता गया। उसी का परिणाम है कि आज उसके लिए दूरदर्शन (टेलीविजन) जैसा चमत्कार लभ्य है। टेलीविजन के आविष्कार ने घर बैठे कोसों दूर की घटनाओं के चलचित्र देखने की मनुष्य की चिरसंचित अभिलाषा को भी पूरा कर दिखाया है।

इसी तरह कानों की शक्ति बढ़ाने के लिए भी उपयुक्त यंत्रों की रचना की गई। टेलीफोन ने तार के जरिए हजारों कोस की दूरी पर बैठे हुए व्यक्तियों से बात करने की शक्ति मनुष्य को प्रदान की। इस क्षेत्र में भी मनुष्य यहीं तक रुका नहीं, प्रत्युत वह निरन्तर आगे ही बढ़ता चला गया। फलतः आज वह हजारों मील की दूरी पर बैठे मित्रों से 'रेडियो' द्वारा एकदम शून्य में बातचीत करने और संगीत आदि का प्रसार करने लग गया है।

ताप का अनुभव करने की शक्ति भी मानव शरीर में कुछ अधिक नहीं है—कभी-कभी तो ताप के ज्ञान में उसे धोखा भी हो जाता है। अतएव इस काम के लिए भी उसने आश्चर्यजनक यंत्र बनाये। आज वैज्ञानिक अपने थर्मामीटर से मील भर की दूरी पर रक्खी हुई मोमबत्ती की गरमी को भी नाप सकता है! यही नहीं, प्रयोगशालाओं में अनेक यंत्र ऐसे भी मिलेंगे, जिनकी सहायता से वैज्ञानिक मानो दिव्य दृष्टि प्राप्त कर आकाशीय नक्षत्रों के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करता है। अमुक नक्षत्रों में कौन से पदार्थ मौजूद हैं—वे वहाँ वाष्प-रूप में हैं या द्रव रूप में? उस नक्षत्र का वजन क्या है? उसका तापक्रम कितना है? इन सब प्रश्नों का उत्तर प्रयोगशाला में बैठा हुआ वैज्ञानिक खोजता रहता है।

यदि आपको इन प्रयोगकर्त्ताओं की बातों में किसी प्रकार संदेह हो तो आप खुशी से किसी भी प्रयोगशाला में चले जाइए और स्वयं अपनी आँखों से इन प्रयोगों का निरीक्षण कीजिए—एकदम सच्चाई का सौदा, एकदम खरा व्यवहार! अंध श्रद्धा, अंध विश्वास—इन सब चीजों की दुहाई वैज्ञानिक नहीं देता।

प्रकृति का विश्लेषण कर उसके रहस्य को वैज्ञानिक ने

भली-भांति पहचाना, और इस तरह प्रकृति के ऊपर उसने अपना प्रभुत्व जमाया। समुद्र की उत्ताल तरंगों से वह अब भय नहीं खाता, वरन् विशालकाय जहाजों पर स्वच्छन्दता-पूर्वक समुद्र के वक्षःस्थल पर तैरा करता है। दूरी भी अब उसे नहीं खलती। पहले जो मंजिलें महीनों में तय होती थीं, उन्हें अब वह मिनटों में तय कर लेता है। शीघ्रगामी मोटरों पर बिजली की भांति तीव्र गति से एक स्थान से दूसरे स्थान को वह दौड़ता फिरता है। आकाश में भी पक्षी की भांति निर्द्वन्द्व विचरने लगा है। घंटे में हजार बारह सौ मील की गति तो उसने प्राप्त कर ही ली है, और वह आशा करता है कि शीघ्र ही कई हजार मील प्रति घंटे की गति से वह आकाश में उड़ेगा! आश्चर्य नहीं कि कुछ ही दिनों में जलपान तो हम बम्बई में करें और लंदन में दोपहर का भोजन! समूची पृथ्वी सिकुड़कर आज वैज्ञानिक के लिए मानो एक छोटा-सा प्रदेश बन गयी है। पनडुब्बियों में बैठकर वैज्ञानिक समुद्र के गर्भ में भी प्रवेश कर चुका है। इस तरह रत्नाकर की तह में भी वह दिन प्रति दिन अधिक गहराई में पैठता चला जा रहा है।

अब मनुष्य प्रकृति की किसी रुकावट के सामने हार मानने को तैयार नहीं है। अनेक मोर्चे उसने जीत लिये हैं और जो बाकी हैं उन पर भी वह विजय प्राप्त कर लेगा, इसका उसे दृढ़ विश्वास है। हर प्रकार से वैज्ञानिक प्रकृति पर हावी हो रहा है—जो नदियां अपनी बाढ़ से सहस्रों गांवों को नष्ट-भ्रष्ट कर देती थीं, आज उन्हीं के जल को बांध से घेरकर रेगिस्तानों को हरा-भरा बनाया जा रहा है। जहां चारों ओर बालू-ही-बालू थी, वहां अब हरे-भरे धान के खेत लह-लहाते नजर आते हैं। ऊंचे-ऊंचे पहाड़ी झरनों से विद्युत्-शक्ति प्राप्त की जा रही है। यह बिजली रात को सड़कों, गलियों और मकानों का अंधकार दूर करती है, आधुनिक चूल्हों पर खाना पकाती है, नगर-निवासियों को टेलीफोन और तार के जरिये एक घनिष्ट सूत्र में बांधे रहती है, कारखानों में मशीनों का परिचालन करती है, आटा पीसती है, खेत सींचती है तथा और कई छोटे-मोटे काम करती है। इस नई शक्ति ने उन प्रदेशों को भी, जो अब तक कारोबार की दृष्टि से पिछड़े हुए थे, एक अद्भुत महत्त्व प्रदान कर दिया है। लोहे के कारखानों में भट्टियों को प्रज्ज्वलित रखने के लिए कोयले के बजाय अब विद्युत् का प्रयोग होने लगा है—विद्युत्-शक्ति की सहायता से ही चूना, सोडा तथा अमोनिया-जैसी काम की चीजें हवा से पैदा की जा रही हैं।

## यंत्रयुग के चमत्कार

अपना बाहुबल बढ़ाने के उद्देश्य से मनुष्य ने सैकड़ों प्रकार की मशीनें ईजाद की हैं, जिनकी मदद से वह तरह-तरह की वस्तुएं तैयार करता है। प्राचीन युग में लोग चींटियों की तरह लाखों की संख्या में जुटकर किसी भारी काम को पूरा कर पाते थे। कहा जाता है, मिस्र के स्तूपों

मनुष्य की नई जादुई शक्ति—विद्युत्

जिसको पाकर अब छोटे से बड़े तक सभी काम यह केवल जरा-सा स्विच या बटन दबाकर ही करा लेता है। बिजली आज दिन मनुष्य की सभ्यता की नींव बन रही है। कृत्रिम प्रकाश, टेलीफोन, बिजली-रेलें, ट्रामगाड़ियां, सिनेमा, टेलीविजन, रेडियो आदि सभी कुछ मनुष्य को बिजली ही की देन तो है। [ फोटो—'फोर्ड मोटर कम्पनी आफ इण्डिया' की कृपा से प्राप्त। ]

**विश्वकर्मा को भी लज्जित करनेवाली मनुष्य की निर्माण-कला का एक नमूना**

आज मनुष्य के लिए पृथ्वी का कोई भी भाग अगम्य नहीं, अपनी प्रगति की राह में किसी भी बाधा या अड़चन से वह प्रतिहत नहीं होता। दो पर्वत-पार्श्वों को जोड़नेवाले इस रेल के पुल को देखिए ! इसे देखते हुए भला मनुष्य को दूसरा विश्वकर्मा मानने में किसे आपत्ति होगी !

पर्वत-श्रेणी के उस पार जाना है तो वैज्ञानिक पुरानी कहावत के अनुसार २॥ कोस का रास्ता ६ दिन में नहीं चलेगा। वह सीधे पहाड़ को छेदकर अपने लिए इस पार से उस पार तक सुरंग बनाएगा। नदी के उस पार जाना है तो वह ऊँचे-ऊँचे मीलों लम्बे पुल बना डालेगा, जिन्हें देखकर स्वयं विश्वकर्मा भी लज्जित हो जायँ; या नदी के नीचे सुरंग खोदकर वह अपने लिए रास्ता बनाएगा। यदि सड़कों पर उसने बेहद भीड़ देखी तो फौरन् जमीन के नीचे सुरंगें बनाई गईं, और उनमें विशालकाय लोहे की ट्यूबों के जाल बिछा दिये गए। रात-दिन अब वहाँ शहर के कोलाहल से परे रेलें दौड़ने लगीं !

अब तो विज्ञान के महारथियों ने कृत्रिम रेशम, कृत्रिम रबड़, इत्र, सेन्ट आदि भी बनाना

के निर्माण में एक लाख से अधिक मजदूरों की आवश्यकता पड़ी थी। किंतु वैज्ञानिक युग की इस बीसवीं शताब्दी में अस्सी-अस्सी तल्ले की गगनचुम्बी इमारतें मशीनों की सहायता से थोड़े-से व्यक्ति बात-की-बात में तैयार कर लेते हैं। मशीनों की बदौलत अकेला व्यक्ति आज सैकड़ों आदमियों से ज्यादा काम कर लेता है।

आज के दिन मनुष्य के पास पाँच ही नहीं, वरन् सैकड़ों इन्द्रियाँ हैं—और उनकी सहायता से मनुष्य प्रति दिन चमत्कारपूर्ण कृतियाँ उत्पन्न कर रहा है। मशीनों के बल पर अब वह पर्वतों और नदियों की परवा नहीं करता।

आरंभ कर दिया है। ये वस्तुएँ नकली होने पर भी असली चीजों से किसी भी तरह घटिया नहीं उतरतीं। नकली रेशम इतने बढ़िया रेशे का आपको मिल सकता है कि उसके डेढ़ सेर धागे से समूची पृथ्वी की परिधि को आप एक बार घेर सकते हैं !

पिछले सौ वर्षों में अनेक काम मशीनों द्वारा संपादित होने लग गये हैं और ये मशीनें न तो कभी गलती करती हैं, न थकती ही हैं। कोई कह नहीं सकता कि इनकी बदौलत वैज्ञानिक निकट भविष्य में क्या-क्या न कर दिखाएगा। ५० वर्ष पूर्व जब एक्स-रे का पहली बार पता चला था तो

किसी के मस्तिष्क में यह खयाल भी न आया था कि एक दिन इन किरणों का प्रयोग हमारे अस्पतालों में भी होगा। लेकिन आज छोटे-बड़े सभी अस्पतालों में एक्स-रे फोटोग्राफी का सामान आपको मिलेगा। फेफड़े में कोई खराबी तो नहीं है, या शरीर के भीतर कहीं हड्डी तो नहीं टूट गई है, इन बातों का पता आप एक्स-रे से लिये गये फोटो में फौरन् लगा सकते हैं। चर्मरोगों की चिकित्सा में भी एक्स-रे का प्रयोग प्रचुरता से होता है। जब डायनमो के सिद्धांत पर विद्युत्धारा उत्पन्न करने की प्रणाली का सर्वप्रथम आविष्कार फैरेडे ने किया, तो एक सम्भ्रान्त कुल की महिला ने उस महान् वैज्ञानिक प्रश्न से किया--'आखिर तुम्हारे इस नवीन आविष्कार से समाज को लाभ क्या है!' फैरेडे ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया--'श्रीमती जी, क्या आप बता सकती हैं कि आपकी गोद का यह बच्चा बड़ा होने पर क्या कर दिखाएगा!' आज फैरेडे के उक्त आविष्कार के सौ वर्ष के भीतर ही डायनमो द्वारा उत्पन्न की हुई बिजली सड़कों पर एवं कारखानों और घरों में काम में लायी जाने लगी। आज बिजली की रेल-गाडियाँ सवारी और माल ढो रही हैं। बिजली द्वारा परिचालित क्रेन अपने जबड़ों में बड़े-बड़े इंजिनों को तिनके की भाँति एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर रख देते हैं। न तो कहीं धुआँ है, न कोयले की राख। सूर्य से होड़ बदनेवाली सर्चलाइट बिजली ही की बदौलत आज तैयार की जाने लगी है। टेलीफोन और वायरलेस भी इसी की तो
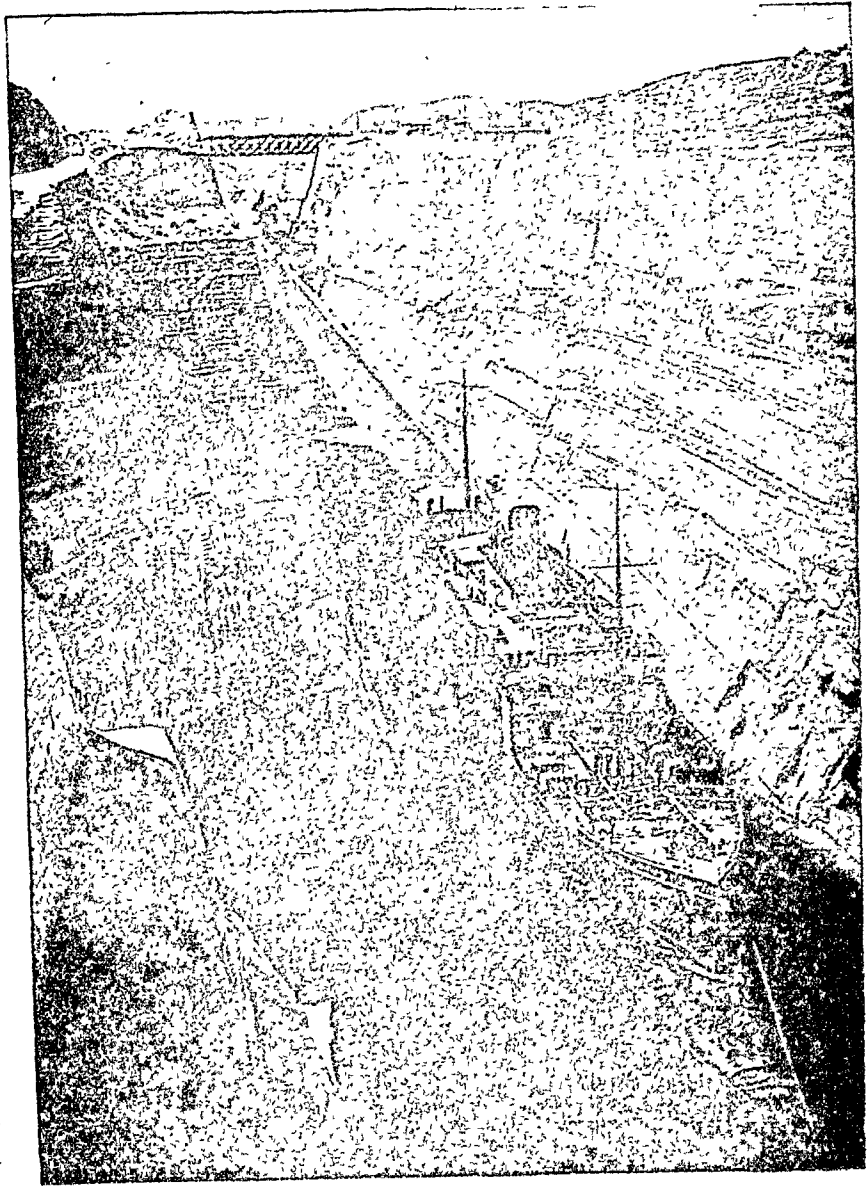
**प्रकृति पर मनुष्य की विजय का एक और प्रखर उदाहरण--जलपोतों के आवागमन के लिए काटकर बनाई गई एक कृत्रिम नहर**

इस जलप्रणाली के आसपास ऊँचे कगारों की तरह जो चट्टानी दीवारें-सी खड़ी हैं, उन्हें कुदरती पर्वत-पार्श्व न समझिये। ये मनुष्य द्वारा काटी गई हैं। यह यूनान की सुप्रसिद्ध "कारिन्थ नहर" का दृश्य है, जो दो समुद्रों को जोड़ने के लिए बीच के स्थलभाग को काटकर निर्मित की गई है।

देन हैं। सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, रेफ्रीजरेटर, लिफ्ट, सभी कुछ तो विद्युत-शक्ति द्वारा ही संचालित होते हैं।

## कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति

पेड़-पौधों की दुनिया में भी विज्ञान ने कमाल कर दिखाया है। कृषि-विज्ञान के आचार्य आज सर्वथा नवीन प्रकार की वनस्पतियाँ उत्पन्न कर रहे हैं। इन नये फूलों के रंग और आकार-प्रकार पहले के फूलों से कहीं बढ़-चढ़-कर हैं। नये फूल-पत्तों के उत्पादन के साथ-ही-साथ वैज्ञानिक इस बात का भी प्रयत्न कर रहे हैं कि ठण्डे देश के पौधे गरम देशों में और गरम देश के पौधे ठण्डे देशों में उगाये जा सकें। सोवियत रूस इस क्षेत्र में सबसे आगे बढ़ा हुआ है। उत्तरी रूस के बर्फीले प्रान्तों में नये उपनिवेश बसाए गए हैं। वहाँ वैज्ञानिक रीति से फल और तरकारियों की कृषि एक भारी पैमाने पर की जा रही है। कल जो प्रदेश वीरान था, आज वहाँ नगर बस गये हैं और चारों ओर चहल-पहल दिखाई देती है। यही नहीं, अब शाकभाजी बिना मिट्टी और धूप के प्रयोगशाला के भीतर ही रासायनिक द्रव्यों की सहायता से उत्पन्न की जाने लगी है। आश्चर्य नहीं, इस रीति से लोग फैक्टरियों के भीतर ही निकट भविष्य में टोपी और छतरी की तरह शाकभाजी भी पैदा करने लगें। तब किसी भी फल या शाकभाजी को पैदा करने के लिए विशेष ऋतु की हमें प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। इस प्रकार आधुनिक बागवानी और कृषि-प्रणाली में एक जबर्दस्त क्रांति उत्पन्न हो जायगी।

## चिकित्सा के क्षेत्र में अद्‌भुत प्रगति

आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र पर भी विज्ञान की गहरी छाप पड़ चुकी है। 'सर्जरी' को ही लीजिए। क्लोरोफार्म जैसी बेहोश करनेवाली औषधियों की सहायता से आज डाक्टर आश्चर्यजनक करतब कर दिखाते हैं। साधारण फोड़े की चीरफाड़ की बात तो जाने दीजिये—वह तो डाक्टरों के बाएँ हाथ का खेल है। पर अब तो सर्जरी का उपयोग आपके शरीर के हर हिस्से की काँट-छाँट के लिए होने लगा है। सर्जरी ही की बदौलत योरप की कितनी कुरूप स्त्रियाँ आज सौंदर्य-प्रतियोगिताओं में भाग ले रही हैं। जिनकी नाक चिपटी थी, उन्होंने शरीर के अन्य अंगों से चमड़ा कटवाकर उसे सुडौल करा लिया। किसी ने अपने अधर ठीक कराए तो किसी ने ठोड़ी! घंटों आपरेशन होता रहे, किंतु रोगी को अब कोई कष्ट नहीं होता। इस प्रकार शल्य-चिकित्सा-विज्ञान आज एक नवीन युग में पदार्पण कर रहा है—या यों कहिए कि मनुष्य आज दूसरा सृष्टि-कर्त्ता बनने जा रहा है। प्रयोगशाला में बैठा हुआ डाक्टर अब मानव शरीर के किसी भी खराब पुर्जे को बदलकर उसकी जगह नया और स्वस्थ पुर्जा लगा सकने का स्वप्न देख रहा है। अब तुरन्त के मरे हुए व्यक्ति की आँख निकालकर अंधे की आँखों में लगा दी जाती है और अंधा उससे बखूबी देखने लगता है। पैरिस के एक डाक्टर ने कृत्रिम हृदय बनाने का भी प्रयत्न किया है। इसकी मदद से उसने एक मुर्गी के शरीर से निकाले हुए गुर्दे और जिगर को लगभग तीन सप्ताह तक जीवित बनाये रक्खा था। सोवियत रूस में तो मरे हुए व्यक्ति को मृत्यु के तीन-चार मिनट बाद हृदय का आपरेशन करके पुनः जिला लेने के सफल प्रयोग किये गये हैं। इस प्रकार मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करने का निरंतर उद्योग हो रहा है।

पर इन सबसे कहीं अधिक मार्के की सिद्धि तो वैज्ञानिक ने पिछले दिनों प्रकृति के रहस्यलोक के एक बिल्कुल ही नवीन परदे के उस पार झाँकने में सफलता प्राप्त करके उपलब्ध की है, जिससे कि विज्ञान के क्षेत्र में एक महान् युगान्तर प्रस्तुत हो गया है। हमारा आशय यहाँ परमाणुओं के अदृष्ट लोक और उसमें संचित शक्ति के उस अटूट भांडार से है, जिसकी कि कुंजी आज मनुष्य के हाथों में आ गई है। इस महान् शक्ति को हथियाकर जहाँ एटम-बम या हाइड्रोजन-बम जैसे प्रलयंकर शस्त्रों की उपज के कारण मनुष्य के लिए दानव की श्रेणी में चले जाने का खतरा पैदा हुआ है, वहाँ साथ ही साथ यदि उसने अपने विवेक का पल्ला नहीं छोड़ा तो इस पृथ्वी को दूसरे स्वर्ग में बदलने का भी द्वार अनायास ही खुल गया है। देखना है, मनुष्य किस प्रकार अपने इस नवीन दायित्व को निबाहता है।

## वैज्ञानिकों की अटूट साधना

किंतु जितने भी आविष्कार आज हम देखते हैं, उनका निर्माण वैज्ञानिक ने अचानक एक दिन में नहीं कर डाला है, वरन् प्रत्येक आविष्कार के पीछे एक लंबी और परिश्रम से भरी कहानी है। हर एक नई खोज में उच्च त्याग और लगन निहित है। एक महान् तपस्या—एक अटूट साधना—की इसमें आवश्यकता होती है। इस अभिनव सृष्टि के निर्माण का श्रेय सहस्रों छोटे-बड़े वैज्ञानिकों को है, जिनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने हिस्से की दो-दो चार-चार ईंटें इस इमारत में रक्खी हैं, प्रत्येक ने अपने हिस्से का त्याग किया है। यदि किसी ने रेडियम के प्रयोग में अपना हाथ गला डाला, तो कोई सूक्ष्मदर्शक ही के संग उलझकर अंधा बन बैठा।
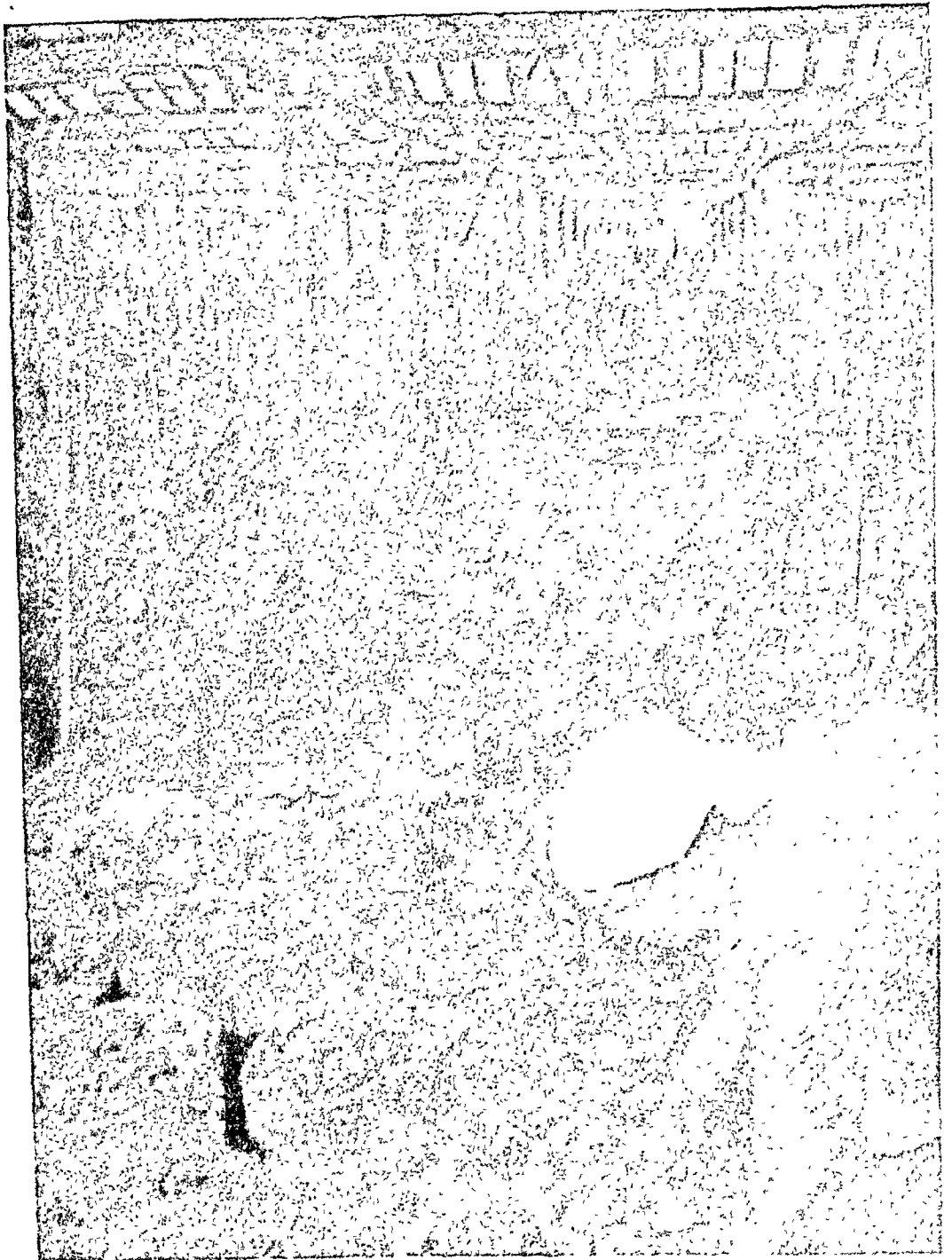
**आज के विज्ञान की आश्चर्यजनक सिद्धि का एक प्रखर उदाहरण**

सोवियत रूस में आर्कटिक प्रदेशों के बर्फीले प्रान्त में बंद घरों में साग-भाजी पैदा करने का दृश्य। ( फोटो—'सोवियत यूनियन' से )

इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य ने आविष्कारों के पथ में एक लंबी मंजिल पार कर ली है, और अब वह ब्रह्मा से होड़ लगाकर एक नवीन संसार का निर्माण करने में दत्तचित्त है। विज्ञानरूपी अलाउद्दीन का चिराग उसे मिल गया है और इससे भरपूर फायदा उठाने का वह प्रयत्न कर रहा है। पलक मारते-मारते मनुष्य चींटी से हाथी बन गया है। विज्ञान की बदौलत उसने संसार की कायापलट कर दी है। तरह-तरह के आविष्कारों द्वारा चारों ओर उसने चकाचौंध पैदा कर दी है और उसके हाथों में शक्ति के अक्षुण्ण भाण्डार की कुंजी आ गई है।

# भाप की शक्ति का उपयोग

## वाष्प-इंजिन का आविष्कार और विकास

**मनुष्य की आर्थिक प्रगति के इतिहास में भाप की शक्ति के आविष्कार का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की 'औद्योगिक क्रांति' का सूत्रपात वाष्प-यंत्रों के आविष्कार ही से हुआ। भाप की ही बदौलत रेल और जहाज तथा कल-कारखानों की उस अद्भुत नई दुनिया का निर्माण हुआ, जिसने मनुष्य के विकास की धारा को एक नवीन दिशा की ओर मोड़ दिया है।**

वाष्प-यंत्रों का इतिहास निस्सन्देह बहुत पुराना है। मिस्र और यूनान के प्राचीन निवासी वाष्प-सम्बन्धी अनेक प्रयोगों से परिचित थे। सिकन्दरिया के प्रसिद्ध विद्वान् हीरो ने एक ऐसा यंत्र बनाया था, जिसमें एक दीपक की आँच से पानी भाप में परिवर्तित होता था। यह भाप एक बर्त्तन में, जिसमें अंगूरी शराब रक्खी रहती थी, प्रवेश करती थी। इस भाप के धक्के से यह अंगूरी शराब उस बर्त्तन के बाहर एक पतली टोंटी के रास्ते फव्वारे के रूप में निकलकर मंदिर की मूर्त्ति के ऊपर गिरती थी। बेचारे भोले-भाले दर्शक इस करामात को देखकर सोचते थे कि अवश्य ही इसके पीछे कोई दैवी शक्ति काम कर रही है!

### हीरो का आदिम वाष्प-इंजिन

हीरो ने भाप के जोर से चलनेवाला एक और यंत्र भी बनाया था। उसमें एक गोल पीपा धुरी के आधार पर खड़ा किया गया था। इसके आमने-सामने के दो सूराखों से जिस समय भाप बाहर निकलती, तो उसके धक्के से यह पीपा उस धुरी पर नाचने लगता था!

किन्तु ये नमूने निरे खिलौने ही रह गये। इन नमूनों के आधार पर नित्य के काम के लिए कोई यंत्र या इंजिन न बनाया जा सका। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ भी ऐसे यंत्रों के आविष्कार के लिए कुछ अधिक अनुकूल न थीं। अतः हीरो के इन प्रयोगों के उपरान्त लगभग २००० वर्ष तक वाष्प-यंत्रों के इतिहास के पन्ने कोरे ही पड़े रह गये। जान पड़ता है, हमारा ज्ञान-केतु मानों पुच्छल तारे की तरह है, जो एकाएक प्रकट होकर लुप्त हो जाता है और बहुत दिनों बाद फिर वापस लौटता है।

### आधुनिक वाष्प-इंजिन का पुरखा—लार्ड वोर्सेस्टर का इंजिन

इस अवधि में इक्के-दुक्के वैज्ञानिकों ने वाष्प-सम्बन्धी तरह-तरह के प्रयोग किये; किन्तु भाप के इंजिन के आविष्कार का श्रेय सन् १६५५ में एक अंग्रेज लार्ड वोर्सेस्टर को ही प्राप्त हो सका। अपनी एक पुस्तक "आविष्कारों की शताब्दी" में लार्ड वोर्सेस्टर ने अपने इस आविष्कार का इन शब्दों में परिचय दिया है—"आग की मदद से पानी ऊपर चढ़ाने के लिए एक अद्भुत और शक्तिशाली साधन"। उसका इंजिन वास्तव में एक पम्पिङ्ग इंजिन ही था। किन्तु यह इंजिन आजकल के इंजिन से मूलतः भिन्न था। इस इंजिन में भाप की प्रसरणशीलता (फैलने का गुण) और उसकी शक्ति का तनिक भी लाभ नहीं उठाया गया था, बल्कि आकाश की हवा के दबाव की शक्ति का प्रयोग इस इंजिन में किया जाता था। पीपे-जैसे दो बर्तनों में ब्वॉयलर से भाप जाती थी। पीपे के ऊपर ठण्डा पानी डालकर भाप को ठण्डी करके पानी बना लेते थे। ऐसा करने से पीपे के भीतर शून्य या वैकुअम उत्पन्न हो जाता था। पीपे से एक नल कुएँ या खान के पानी तक जाता था। पीपे के अन्दर वैकुअम उत्पन्न होते ही आकाश की हवा के दबाव से खान का पानी पीपे में स्वयं चढ़ जाता था। अब वाल्व के द्वारा नीचे के पाइप का रास्ता बन्द करके उस पीपे में, जिसमें पानी मौजूद रहता था, फिर भाप

भेजते थे। भाप के जोर से पीपे का पानी दूसरे रास्ते से बाहर निकल जाता था।

इसके बाद लगभग १०० वर्ष तक भाप के इंजिन करीब-करीब इसी सिद्धान्त पर काम करते रहे। उन दिनों इङ्गलैण्ड में खानों से पानी उलीचने की महत्वपूर्ण समस्या सामने थी। खान के मालिक हैरान थे कि खान के पानी को कम दाम में और तेजी के साथ कैसे उलीचें! किसी-किसी खान में तो पानी उलीचने के लिए ५०० घोड़ों द्वारा रहट चलाये जाते थे और कितनी खानें तो पानी भर जाने के कारण बन्द भी हो गई थीं। अतः लार्ड वोर्सेस्टर के इस इंजिन की हर खान में माँगें हुईं, और इस इंजिन के दोष दूर करके उसे और भी शक्तिशाली बनाने के लिए तत्कालीन वैज्ञानिकों ने जी तोड़ कर परिश्रम करना शुरू किया।

## सेवरी और न्यूकामेन के इंजिन

केप्टेन सेवरी ने लार्ड वोर्सेस्टर के इंजिन में बहुत-कुछ सुधार किये। किन्तु उसे भी यह बात नहीं मालूम थी कि पानी भाप बनने पर १६०० गुना ज्यादा जगह घेरता है। अतः भाप की प्रसरणशीलता का लाभ सेवरी भी न उठा सका। किन्तु सेवरी का इंजिन इतना शक्तिशाली प्रमाणित न हो सका कि खानों की पानीवाली कठिनाई को वह पूर्णतया दूर कर सकता। सेवरी का इंजिन ३४ फीट से अधिक नीचे का पानी नहीं खींच सकता था। हाँ, ऊँचे दबाव की भाप का प्रयोग करके करीब ३०० फीट की ऊँचाई तक वह पानी को ऊपर अवश्य चढ़ा लेता था। अत १७१२ में न्यूकामेन ने सेवरी के इंजिन में कई एक मौलिक सुधार किये। उसने ही पहलेपहल पिस्टन का प्रयोग किया। पिस्टन की इस मदद से उसका इंजिन पानी को बहुत ऊँचे तक फेंक सकता था। इस इंजिन में एक भारी शहतीर का एक सिरा जंजीरों द्वारा पम्प के डण्डे से बँधा था और दूसरा सिरा एक पिस्टन से बँधा था, जो एक गोल सिलिण्डर में नीचे-ऊपर आता-जाता था। इसी सिलिण्डर में भाप प्रवेश करती थी। इस सिलिण्डर का ब्वॉयलर से एक वाल्व द्वारा सम्बन्ध था। वाल्व खोलने पर ब्वॉयलर में से भाप इस सिलिण्डर में प्रवेश करती थी। फिर ऊपर से इस सिलिण्डर के अन्दर पानी की पतली धार प्रवेश कराई जाती थी। पानी के स्पर्श से भाप ठण्डी होकर तरल बन जाती थी, अतः इस सिलिण्डर के अन्दर आंशिक शून्य या वैकुअम पैदा हो जाता था। वैकुअम के पैदा होते ही पिस्टन आकाश की हवा के दबाव के कारण नीचे चला आता था, क्योंकि सिलिण्डर के ऊपरी भाग में कोई ढक्कन न था। साथ ही दूसरी ओर का सिरा
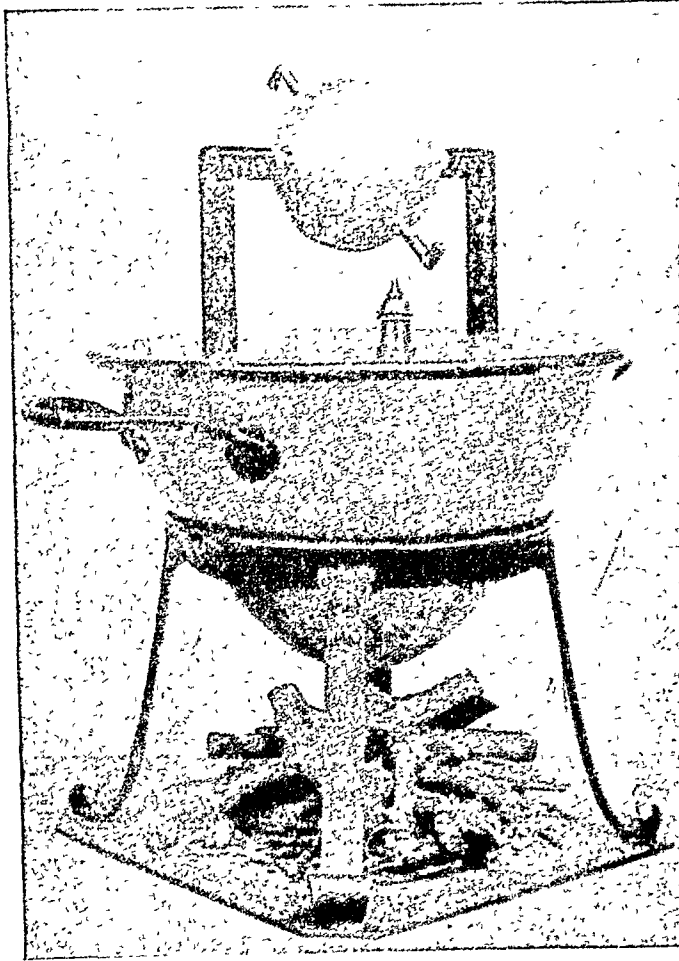
**हीरो का आदि वाष्प-इंजिन**

यद्यपि यह एक निरा खिलौना-सा था, किन्तु इससे यह तो स्पष्ट ही है कि दो हजार वर्ष पूर्व ही मनुष्य भाप की शक्ति के चमत्कार से परिचय पा चुका था।

**बालक जेम्स वाट द्वारा भाप की शक्ति का प्रथम प्रयोग**

भाप के जोर से चाय की देगची का ढक्कन उछलते देखकर बचपन ही में वाट के मन में जो उत्कंठा जगी, उसी का विकास उसके द्वारा भाप के इंजिन के आविष्कार में हुआ।

ऊपर को उठता और पम्प को चलाता था। इस तरह इंजिन पानी उलीचता था। अब वाल्व फिर खोला जाता, और सिलिण्डर में भाप फिर प्रवेश करती तथा पिस्टन ऊपर को उठ जाता था। इसी क्रिया की बार-बार पुनरावृत्ति होती थी। सिलिण्डर के भीतर का पानी एक छेद द्वारा बाहर निकाल दिया जाता था।

कहा जाता है कि एक खिलाडी लड़के को इस इंजिन के वाल्व और पानी की टोंटी को खोलने और बन्द करने का काम दिया गया था। लड़का काम करने से जी चुराता था। अत. उसने कुछ रस्सियो और डण्डो को वाल्व और टोटी से लगाकर इस तरकीब से शहतीर में बाँधा कि शहतीर के ऊपर-नीचे होने के साथ ही ये वाल्व और टोटी भी ठीक अवसर पर खुलने और बन्द होने लगे। इस तरह उस खिलाड़ी लड़के की सूझ ने इंजिन को पूर्णतया स्वयक्रिय बना दिया।

**न्यूकामेन के पंपिङ्ग इंजिन का एक नमूना**

'पिस्टन' का सर्वप्रथम प्रयोग इसी इंजिन में किया गया था, जिससे आगे वाष्प-इंजिन के विकास में बड़ी सहायता मिली।

### जेम्स वाट का इंजिन

न्यूकामेन के इंजिन में ईधन का खर्चा अधिक था और बहुत काफी भाप इसमें नष्ट होती थी। फिर भी लगभग १५० वर्ष तक यही इंजिन खानो मे पानी उलीचने का काम करता रहा। न्यूकामेन के इजिन मे समय-समय पर अनेक लोगो ने सुधार किये, किन्तु उसमे मूलतः परिवर्तन करके उसे आधुनिक ढग के वाष्प-इंजिन का रूप देने का श्रेय जेम्स वाट को ही प्राप्त हो सका। जेम्स वाट बाल्यावस्था मे स्वास्थ्य की खराबी के कारण स्कूल में भर्ती नही किया जा सका था। उसने घर ही पर शिक्षा पाई और बड़ा होने पर गणित-सम्बन्धी औजारों और यंत्रो की मरम्मत करने का काम शुरू किया। अपने काम में वह इतना निपुण था कि ग्लासगो-विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला के औजारो की मरम्मत करने के लिए वह मिस्त्री बना दिया गया। एक दिन उक्त विश्वविद्यालय के विज्ञान के प्रोफेसर ने उसे एक बिगडा हुआ न्यूकामेन-इंजिन मरम्मत करने के लिए दिया। जेम्स ने उस न्यू-

कामेन-इंजिन का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। उसने उसकी अनेक कमियों पर ध्यान दिया और अब उसे धुन सवार हुई कि न्यूकामेन-इंजिन के दोषों को दूर करें।

उसने देखा कि सिलिण्डर में भाप को ठण्डी करने के लिए जब पानी प्रवेश कराते हैं, तो ठण्डे पानी के स्पर्श से सिलिण्डर भी ठण्डा हो जाता है। अतः पिस्टन को ऊपर भेजने के लिए जब भाप को सिलिण्डर में फिर प्रवेश कराया जाता है, तो भाप की बहुत-सी गर्मी अनायास सिलिण्डर को फिर से गर्म करने में खर्च हो जाती है। फलस्वरूप पिस्टन को ऊपर भेजते समय बहुत-सी भाप ठण्डी होकर पानी बन जाती है। इसलिए वैकुअम पैदा करने के लिए और अधिक भाप सिलिण्डर में प्रवेश कराना पड़ता था। इंजिन की इस फिजूल-खर्ची को कम करने के लिए उसने सिलिण्डर से अलग एक दूसरे जैकेट में भाप को ठण्डी करने का प्रबन्ध किया, और सिलिण्डर को गर्म बनाए रखने के लिए उसके चारों ओर नमदा, ऊन और घास लपेट दिया।

**जेम्स वाट और मेथ्यू बोल्टन के संयुक्त प्रयत्न द्वारा आविष्कृत इंजिन**

इस पसिद्ध इंजिन से वास्तविक वाष्प-इंजिन के निर्माण का रास्ता खुला।

भाप के लिए अलग कन्डेन्सर बनाकर जेम्स वाट इंजिन के खर्च में दस गुना कमी करने में समर्थ हुआ। फिर उसने सोचा कि सिलिण्डर के ऊपर यदि ढक्कन लगा दिया जाय, तो अवश्य ही बाहर की हवा का दबाव तो पिस्टन को ढुला न सकेगा, किन्तु तब भाप के द्वारा ही पिस्टन को हम ऊपर से नीचे भी ला सकते हैं। वाट की इस सूझ ने वाष्प-इंजिन को एक सच्चा वाष्प-यंत्र बना दिया। इसके पहले पानी खींचने का काम भाप से नहीं लिया जाता था। तब तक इंजिन के असली काम में केवल हवा का दबाव ही मदद देता था। अब वाट पहली बार बाहर की हवा की मदद लिये बिना ही केवल भाप के जोर से ही इंजिन द्वारा पानी उलीचने में समर्थ हुआ। इस तरह उसने वाष्प-इंजिन का मानों कायापलट कर दिया। इतना कर लेने पर भी वाट ने वाष्प-सम्बन्धी आविष्कारों की लगन न छोड़ी। कभी वह भाप का ताप-क्रम बढ़ाता, तो कभी उसका दबाव ज्यादा करता। प्रयोगों के सिलसिले में उसने देखा कि सिलिण्डर के भीतर भाप के धक्के से पिस्टन में एक गति उत्पन्न होती है। जिस

**सड़क पर चलनेवाला सबसे पहला इंजिन**

वाट और मर्डक द्वारा आविष्कृत भाप की शक्ति का उपयोग करके रिचर्ड ट्रेविथिक ने सड़क के इंजिनों के इस पूर्वज को तैयार किया था।
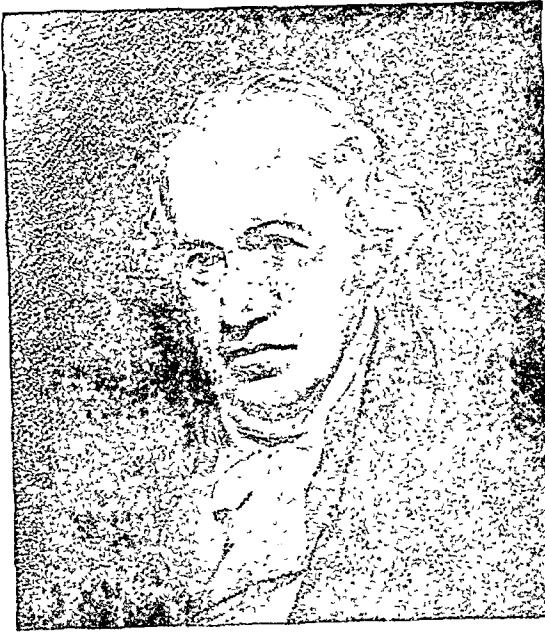
जैम्स वाट ( १७३६—१८१९ )
जिसे वाष्प-इंजिन के आविष्कर्त्ताओं में सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त है।

जार्ज स्टीफेन्सन ( १७८१—१८४८ )
जिसने भाप से चलनेवाले रेल के इंजिन का आविष्कार किया।

तरह पानी की तेज धार के धक्के से काफी शक्ति उत्पन्न होती है, उसी तरह भाप के धक्के के जोर से यह पिस्टन आगे बढता है। एकाएक उसने सोचा कि भाप बनने पर यदि पानी को मौका मिले तो वह आयतन में १६०० गुना ज्यादा बढ सकता है। वढ़ते समय इसके फैलने में अधिक शक्ति भी पैदा होती है। तो क्या भाप के फैलने पर जो जोर उत्पन्न होता है, उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता? इस नई सूझ को आजमाने के लिए उसने प्रयोग भी किया। पिस्टन के अन्दर वाल्व के रास्ते उसने भाप को प्रवेश कराया और जब पिस्टन अपना एक-चौथाई रास्ता तय कर चुका, तब उसने वाल्व को बन्द कर दिया। अब पिस्टन के अन्दर की भाप फैलनी शुरू हुई। फैलने की क्रिया में उसने पिस्टन को ढकेला। इस तरह पिस्टन सिलिण्डर के एक से दूसरे सिरे पर पहुँच गया। इस युक्ति से वाट ने थोड़ी ही भाप में काम चलाना शुरू किया, और फलस्वरूप कोयले के खर्च की लागत मे भारी बचत होने लगी।

इसके उपरान्त वाट ने अपने इंजिन को दोहरी हरकत करनेवाला बनाया। अब तक सिलिण्डर के अन्दर भाप एक ही रास्ते से प्रवेश करती थी, अतः भाप का पूरा जोर पिस्टन को एक ओर चलाने में ही लगता था। पिस्टन जब लौटता था, तब उसमे पहली हरकत के इतना जोर नही रहता था। किन्तु अब सिलिण्डर के दूसरे सिरे पर भी भाप के प्रवेश करने के लिए वाल्व बनाया गया। इस तरह लौटती बार भी पिस्टन पर भाप का पूरा जोर पड़ने लगा। पिस्टन को आते और जाते दोनों समय समान शक्ति मिलने लगी। अतः इंजिन की कार्यक्षमता पहले से दूनी हो गई। आजकल के सभी इंजिनों में ऐसे डबल-ऐक्टिङ्ग अर्थात् दोहरी क्रियावाले पिस्टन ही काम मे आते हैं।

अब भद्दे और तरह-तरह की कमियोंवाले इंजिन को हर तरह से परिष्कृत करके, वाट पिस्टन के आगे-पीछेवाली हरकत को वृत्ताकार हरकत में परिणत करने के लिए तरह-तरह की तरकीबें सोचने लगा। आखिरकार उसने 'क्रैन्क' ( एक प्रकार का पुर्जा ) और 'शैफ्ट' (डंडानुमा एक और पुर्जा ) की मदद से पिस्टन की सीधी हरकत से वृत्ताकार हरकत पैदा करने की भी तरकीब निकाल ली। वाट ही सर्वप्रथम व्यक्ति था, जिसने भाप के बल से पहिया घुमाया। अब तक भाप के इंजिन केवल पम्प को ऊपर-नीचे चलाया

करते थे, किन्तु 'क्रेन्क' और 'शैफ्ट' की मदद से वाष्प-इजिन से खराद की मशीन, लकडी काटने के लिए वृत्ताकार आरे, आदि हर तरह की मशीनो को चलाने का काम अब लिया जाने लगा।

**सड़क पर चलनेवाला अठारहवीं सदी का इंजिन**

जिसमें भाप बनाने के लिए नलीदार ब्वायलर का प्रयोग किया गया था। इसे १७६१ में 'रीड' नामक व्यक्ति ने बनाया था। वाट के एक साथी मर्डक ने भी सड़क पर चलनेवाले ऐसे इजिन बनाने में प्रचुर योग दिया था।

तदुपरान्त वाट ने एक बहुत ही छोटा, किन्तु उपयोगी सुधार कर इस इजिन को पूर्ण बना दिया। इजिन की रफ्तार एकसाँ बनाये रखने के लिए उसने 'गवर्नर' बनाया, जो भाप के वाल्व के छेद को छोटा-बडा करता था। गवर्नर मे दो लट्टू लगे रहते है। ये लट्टू एक कीली के दोनो बाजू पर लटकते रहते हैं। उस कीली का सम्बन्ध इजिन के शैफ्ट (धुरी) से रहता है। ज्यो-ज्यो शैफ्ट तेज घूमता है, ये लट्टू भी तेज नाचते है। तेजी के साथ नाचने के कारण ये लट्टू कीली से दूर हट जाते हैं। कई लीवरो की मदद से लट्टुओ का सबध वाल्व से बना रहता है। लट्टू जब तेजी के साथ घूमने के कारण एक-दूसरे से दूर हट जाते है, तो वाल्व के भीतर का सूराख भी छोटा पड जाता है, जिससे सिलिण्डर मे कम भाप प्रवेश करती है। नतीजा यह होता है कि इंजिन की चाल धीमी पड जाती है। उसी तरह जब इंजिन धीमा पडने लगता है, तो वाल्व के सूराख बड़े हो जाते है, और पिस्टन में ज्यादा भाप आने लगती है, जिससे रफ्तार बढकर फिर पूर्ववत् हो जाती है।

**सवा सौ वर्ष पूर्व के रेल के इंजिन का रूप**

यह इगलैंड की स्टाकटन और डार्लिंगटन रेलवे द्वारा सन् १८२५ मे काम में लाये जानेवाले एक इजिन का चित्र है। आज के भीमकाय रेल-इंजिन का यह पुरखा कैसा खिलौने-जैसा प्रतीत होता है।

## मर्डक का इंजिन

वाट के सग उसका एक सहायक भी था, जिसका नाम विलियम मर्डक था। मर्डक कुछ दिन वाट के साथ रहने के बाद कार्नवाल की खान मे पानी उलीचने की मशीनों की देखभाल करने के लिए इंजीनियर नियुक्त हो गया। दिन भर के कठिन परिश्रम के उपरान्त भी वह शाम को इजिन के नमूने बनाया करता था। वह इस फिक्र में था कि किसी तरह ऐसा इजिन बना ले, जो सड़क पर दौड़ सके। उसने तीन पहियो का इजिन बनाया, जिसमें आगे का पहिया छोटा था। इसमे ब्वॉयलर का पानी एक स्पिरिट लैम्प द्वारा गर्म किया जाता था। मर्डक सबसे छिपाकर अकेले में अपने हाते के अन्दर इजिन सम्बन्धी प्रयोग करता था। एक दिन शाम को मुहल्ले की सड़क को सूना पाकर वह अपने माडल को सड़क पर ले गया। संयोगवश गिर्जे का

**वाष्प-इंजिन का सिद्धान्त**

प्रस्तुत मानचित्र में एक सामान्य वाष्प-इंजिन की रचना दिखाई गई है। ब्वॉयलर से भाप नली **क** के रास्ते इंजिन में प्रवेश करती है। सिलिण्डर **ख** में घिरकर भारी दवाव के कारण वह पिस्टन **ग** को धकेलती है। फलस्वरूप पहिया **घ** घूमने लगता है, जो कि पिस्टन से शाफ्ट **च** द्वारा सम्बद्ध रहता है। सिलिण्डर में भाप के प्रवेश को लट्टू की तरह नाचनेवाला गवर्नर **छ** विशेष वाल्वों की मदद से नियंत्रित करता रहता है। अपना कार्य पूरा करके भाप मार्ग **ज** से बाहर निकल जाती है।

एक पादरी घूमकर उसी सड़क से लौट रहा था। पादरी ने देखा कि धुएँ की बदबू से भरा हुआ एक विशालकाय दानव, जिसके मुँह से आग की लपटें निकलती थीं, सड़क पर उसकी ओर बढ़ता आ रहा है! वह एकदम घबरा उठा, और बेतहाशा एक ओर भागा। इसके कुछ ही दिन उपरान्त उसने गिर्जे मे उपदेश देते हुए कहा कि मैंने स्वय शैतान को आग उगलते हुए देखा है! इस घटना से मर्डक इतना घबराया कि फिर उसने अपने नमूने को बहुत दिनों तक हाते से बाहर नहीं निकाला। वह हाते के भीतर ही गुप्त रूप से प्रयोग करता रहा।

उसने अपने नमूने में सिलिण्डर के दोनों सूराखों को, जिनमे से होकर भाप सिलिण्डर मे प्रवेश करती थी, बारी-बारी से बन्द करने के लिए एक विशेष प्रकार का वाल्व बनाया, जो शैफ्ट से लोहे के एक डण्डे द्वारा संबंधित था। शैफ्ट के घूमने पर नई वाल्व-वाला यह डंडा आगे-पीछे खिसकता था, और सिलिण्डर के दोनों वाल्व उपयुक्त समय पर बारी-बारी से खुलते थे।

इन्हीं दिनो कागनार नामक एक फ्रांसीसी ने भी भाप का एक इंजिन बनाया था। उसका इंजिन बहुत छोटा था और वह कच्ची सड़क पर भी चलता था। एक बार पेरिस की सडक पर उसका इंजिन उलट गया। तब से फ्रांसीसी लोग भाप को खतरनाक समझने लगे और किसी ने भी उस इंजिन का सुधार करने का प्रयत्न नहीं किया।

## ट्रेविथिक का इंजिन

मर्डक के बाद उसके शिष्य ट्रेविथिक ने मर्डक के नमूने को सर्वांगसंपूर्ण और निर्दोष बनाने का जिम्मा लिया। उसने पहली बार भाप के इंजिन को रेल की पटरियो पर दौड़ाया। इसके पहले रेल की पटरियाँ जमीन पर बिछी तो अवश्य थीं, किंतु उन पर चलनेवाली गाड़ियो को घोड़े खींचा करते थे। १८०३ में उसका इंजिन कई गाड़ियों को रेल की पटरी पर खींचने के लिए काम में लाया गया। लोहे की पटरियों पर दौड़नेवाला यह सर्वप्रथम इंजिन था।

## रेलवे-इंजिन का महान् आविष्कर्त्ता—जार्ज स्टीफेन्सन

परन्तु ट्रेविथिक की योजना कार्यान्वित न हो सकी। अतः भाप के इंजिन की रेलगाड़ी तैयार करने का वास्तविक श्रेय जार्ज स्टीफेन्सन नामी एक अंग्रेज नौजवान को मिला। बचपन में वह कभी भेड़ें चराता, तो कभी फेरी लगाकर

सौदा बेचता। आखिर वह भी उस खान में नौकर हो गया, जिसमें उसका पिता काम करता था। यहाँ उसने छोटे-छोटे इंजिनों को कोयला ढोते हुए देखा। वह घंटों इन इंजिनों को देखा करता और घर पर मिट्टी से इन्ही इंजिनो के माडल बनाया करता था। कुछ ही दिनो में वह इंजिन के कलपुर्जों से पूर्णतया परिचित हो गया। अब वह उनकी मरम्मत करने का काम करने लगा। लोग उसे 'इंजिन का डाक्टर' कहने लगे। इंजिन में कैसी भी खरावी क्यों न आ गई हो, वह उसे दुरुस्त कर देता था। फिर भी उस समय तक स्टीफेन्सन एक अक्षर भी नही पढ़ पाता था। उसने न्यूकामेन, मर्डक, वाट आदि का नाम भी न सुना था। उसने इंजिन के सबंध मे जानकारी स्वयं अपनी आँखों और कानों की सहायता से ही प्राप्त की थी। वड़ा होने पर उसने रात्रि-पाठशाला मे जाकर पढना सीखा। उसका छोटा-सा लड़का जब स्कूल से घर लौटता, तो स्टीफेन्सन अपनी किताब लेकर उसके पास पहुँच जाता और उसके साथ बैठकर अपना पिछला सबक दुहराता था।

कुछ लिख-पढ लेने के बाद स्टीफेन्सन ने और भी मनोयोगपूर्वक इंजिनों का अध्ययन किया। इन दिनों बढ़िया किस्म के इंजिनो की माँग भी वढ़ रही थी, क्योंकि खान के मालिको के सामने नई समस्याएँ आ उपस्थित हुई थी। इस समय इंगलैंड में नेपोलियन का डर छाया हुआ था, जिससे सभी अच्छे-अच्छे घोड़े फौज के काम के लिए खरीद लिये गये थे। खान में कोयला-गाड़ी खींचने के लिए बढ़िया घोड़े मिलते ही न थे। युद्ध की सम्भावना के कारण चारा भी मँहगा हो गया था। अतः खान के मालिकों ने सोचा कि यदि कोयला-गाड़ी खीचने के लिए घोड़े के स्थान पर वे भाप के इंजिनों का प्रयोग कर सकें, तो उनकी सारी मुश्किलें दूर हो जायँ। अतः वाष्प-यंत्र सम्बन्धी अनुसन्धानों के लिए खान के मालिकों की ओर से खूब प्रोत्साहन मिलना शुरू हुआ।
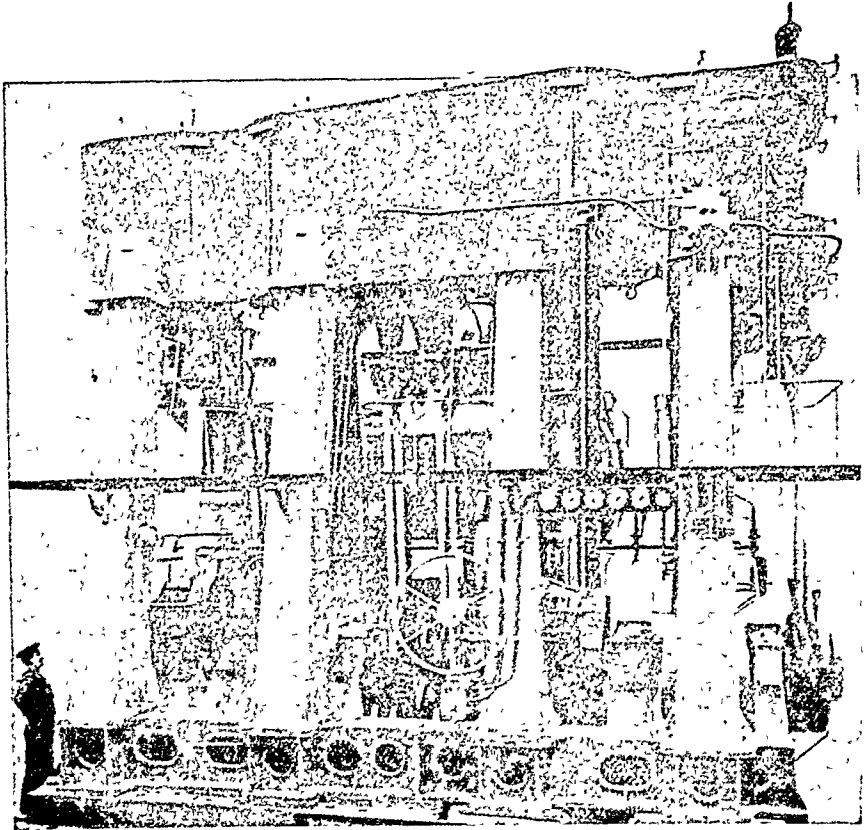
**आधुनिक जहाजों का इंजिन, जिसमें भाप का प्रयोग किया जाता है**

इस इंजिन की शक्ति ३००० अश्वबल के बराबर है। अधिकांश जहाजों में यही इंजिन लगाया जाता है। इसको चलाने के लिए भाप अलग ब्वॉयलर में तैयार होती है।

स्टीफेन्सन ने वर्षों के अथक परिश्रम के उपरान्त अंत में बड़े आकार का एक इंजिन तैयार किया। उसने अपने इंजिन का ब्वॉयलर बहुत लम्बा बनाया। इस इंजिन की चिमनी भी बहुत ऊँची थी, जिससे भाप शीघ्र बनती थी और इंजिन में शक्ति भी काफी पैदा होती थी। स्टीफेन्सन का यह इंजिन ६० मन का बोझा ५ मील प्रति घंटे की रफ्तार से खींच लेता था। यह सन् १८१८ की बात है।

**भाप की शक्ति का प्रतीक—लोहे की पटरियों पर दौड़नेवाला आधुनिक युग का एक लौह दानव :: रेल्वे-इंजिन**

यदि स्वयं जेम्स वाट या जार्ज स्टीफेन्सन से भाप के इंजिन के आरम्भिक दिनों में यह कहा जाता कि उनके आविष्कार के सौ साल के भीतर पृथ्वी पर लगभग ८ लाख मील लम्बी लोहे की पटरियाँ बिछ जायगीं और उन पर १ मील प्रति मिनट की गति से भीमकाय इंजिनों से खींची जानेवाली रेलगाड़ियाँ हजारों मन माल और सैकड़ो सवारियाँ लेकर पहाड़ों और नदियों को लाँघते हुए रात-दिन दौड़ती रहेगीं तो शायद ही उन्हें इस बात पर विश्वास होता। पर आज के दिन हमारे लिए ये रोजमर्रे की मामूली बातें है।

किन्तु यह इंजिन और उसके साथ के डिब्बे चलते समय बहुत ज्यादा हिलते-डुलते थे। अतः केवल कोयला, पत्थर, आटा आदि ऐसी चीजें ही, जो टूट-फूट नहीं सकती थी, इन रेलगाड़ियों मे लादी जाती थी। किन्तु स्टीफेन्सन तो सवारी-गाड़ी को खीचनेवाला इंजिन तैयार करना चाहता था। आखिर उसका यह स्वप्न भी २७ सितम्बर, १८२५, को पूरा हुआ। ससार की यह सर्वप्रथम पैसेंजर ट्रेन थी! इसमे ६ मालगाड़ी के डिब्बे थे, जिनमें आटा और कोयला लदा था, एक डिब्बा कम्पनी के डायरेक्टरों के बैठने के लिए था, और ३१ डिब्बे पैसेंजरो के बैठने के लिए जुड़े हुए थे। इस गाड़ी को १२ मील प्रति घंटे के वेग से भागते देखकर दर्शकों ने दाँतो तले उँगलियाँ दबा ली! इस छोटी-सी गाड़ी पर लगभग ६०० आदमी चिपके हुए थे!

उन दिनों साधारण जनता धुँआ उगलनेवाले इस लोहे के नवीन दानव से बहुत डरती थी। इसलिए इंजिन के आगे-आगे लाल झण्डा लिये एक आदमी असली घोड़े पर चढ़कर चलता था! पहले रेलगाड़ी सिर्फ दिन के समय चलती थी, रात को वह ठहर जाती थी। बाद में जब रात को भी गाड़ी चलने लगी, तो रस्ता दिखाने के लिए इंजिन के सामने एक बड़ी अँगीठी रक्खी जाने लगी! इस अँगीठी मे लकड़ी जलाकर रोशनी करते थे, ताकि रास्ता दिखाई दे। इंजिन के सामने अक्सर जानवर आ जाया करते थे।

उन्हें ड्राइवर बन्दूक में मटर की छर्रियाँ भरकर मारता था, जिससे रेल का रास्ता छोड़कर वे भाग जायँ। इंजिन में कोयले के स्थान पर पहले लकड़ी ही जलाते थे। रास्ते में जब ईंधन खत्म हो जाता, तो मुसाफिर उतरकर पास के जंगल से लकड़ी बटोर लाते, और यदि राह चलते पानी खत्म हो जाता तो ब्वॉयलर के लिए पानी भी लाते थे!

सिगनल का भी अजीब तमाशा था। स्टेशन पर एक ऊँचा-सा मचान बना रहता था। जिस समय ट्रेन आने का वक्त होता, स्टेशन-मास्टर मचान पर चढ़ जाता था। गाड़ी का धुआँ देखते ही वह उतर आता और घण्टी बजाकर मुसाफिरों को आगाह कर देता था।

किन्तु बहुत थोड़े समय में ही शक्तिशाली रेलवे-इंजिन बनने लगे। अब तो सर्चलाइट की तेज रोशनी की मदद से ड्राइवर मीलों दूर तक अपना रास्ता देख सकता है। समूची रेलगाड़ियों की बनावट और चाल-ढाल में भी आश्चर्यजनक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। अमेरिका और इङ्गलैण्ड में तेज रेलगाड़ियाँ एक सिरे से दूसरे सिरे तक एकदम सपाट-सी बनाई गई हैं। इनके बनाने में लोहे की जगह अल्यूमिनियम की चादर काम में लाई गई है। चिमनी, गुम्बज आदि झंझटों से ये गाड़ियाँ सर्वथा मुक्त हैं। इनके इंजिन भाप से नहीं चलते, वरन् इन्हें चलाने के लिए एक बहुत ही सस्ते किस्म के मिट्टी के तेल का प्रयोग करते हैं। ये इंजिन अति शक्तिशाली होते हैं, अतः १२० मील प्रति घण्टा की गति से ऐसी रेलगाड़ी सफर करती है!

जिन स्थानों में सस्ते में बिजली प्राप्त की जा सकती है, अब वहाँ विद्युत-शक्ति से चलनेवाले इंजिन भी रेलगाड़ी खींचने लगे हैं। परन्तु रेलगाड़ियों के संचालन में तेल या बिजली की शक्ति का प्रयोग अभी बहुत कम मात्रा में हो रहा है। अधिकांश रेलगाड़ियाँ तो अब भी भाप के ही बल से दौड़ती हैं।

रेलवे-यात्रा में समय की बचत के लिए भी अनेक आविष्कार किये गये हैं। एक फ्रेन्चमैन ने स्वयंक्रिय कप्लिंग की ईजाद की है। इसकी मदद से गाड़ियों के डिब्बे स्वयं धक्का लगने पर एक दूसरे से जुट जाया करेंगे। इंजिनों में कोयला लादने में भी काफी समय नष्ट होता था, अब इस काम के लिए भी बिजली की मशीनें बन गई हैं।

जेम्स वाट द्वारा प्रथम वाष्प-इञ्जिन के आविष्कार के डेढ़ सौ साल के भीतर ही भाप की शक्ति के प्रयोग का आश्चर्यजनक विकास हुआ है। यदि सन् १८१० की दुनिया के किसी व्यक्ति से—स्वयं जेम्स वाट ही से—यह कहा जाता कि सवा सौ साल ही के बाद पृथ्वी पर लगभग आठ लाख मील लम्बी लोहे की पटरियों की सड़कें बिछ जायँगी, जिन पर मीलों लम्बे पुलों और सुरंगों द्वारा बड़ी-बड़ी नदियों को लाँघती और पर्वतमालाओं को फोड़ती हुई, हजारों रेलगाड़ियाँ रात-दिन दौड़ती रहेंगी; तो शायद ही वह इस बात पर विश्वास करता! शायद ही वह इस

**भाप की शक्ति का जादू**

वाट की चाय की देगची के ढक्कन को ढकेलनेवाली भाप आज ऐसे भीमकाय जहाजों को भी चलाती है।
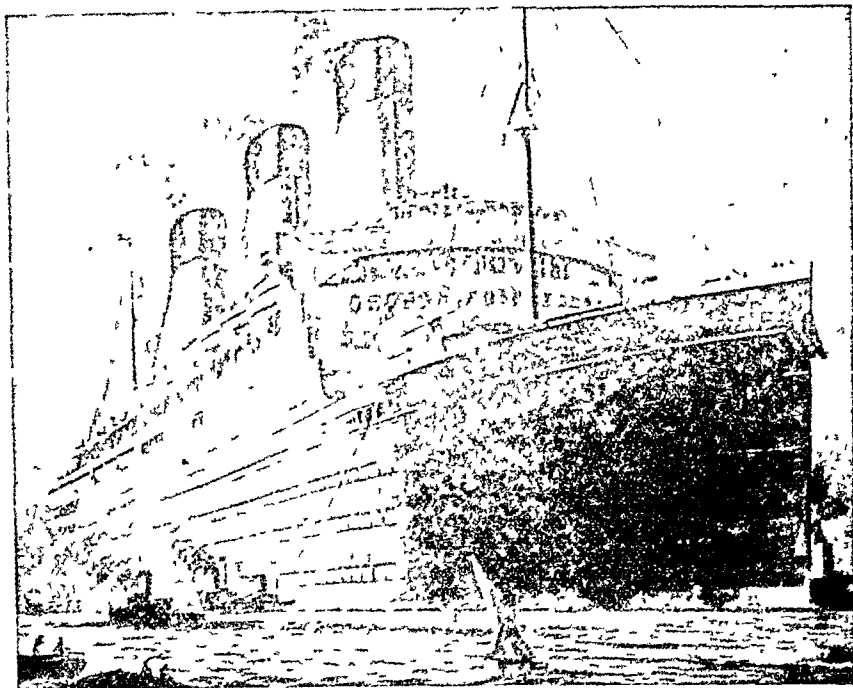
बात की कल्पना भी कर सकता कि इसी भाप की शक्ति के बल पर एक छोटे नगर की पूरी आबादी—तीन-चार हजार मुसाफिरों—को लेकर भीमकाय जहाज हफ्ते भर ही में अटलांटिक महासागर को लाँघकर योरप से अमेरिका पहुँचा दिया करेंगे, और सरपट दौड़नेवाली रेलगाड़ियाँ मास्को से चलकर योरप व एशिया की विशाल छाती को चीरती हुई पेकिङ्ग तक की दौड़ लगाया करेंगी !

किन्तु मनुष्य की अद्भुत वैज्ञानिक वुद्धि ने आज यह सब और इससे भी अधिक अचरज-भरी बातें सार्थक कर दिखाई है। स्वय वाष्प-यंत्रों मे भी आश्चर्यजनक फेरफार किये गये हैं। इसके प्रमुख उदाहरण आज के रेल और जहाजों के इंजिन हैं। इन इंजिनो के केवल आकार-प्रकार या शक्ति ही मे वृद्धि नही हुई है, बल्कि सिद्धान्त मे भी क्रान्तिकारी उलटफेर कर दिया गया है। निरतर सुधार और परिवर्तन के होने पर भी लगभग डेढ सौ वर्ष तक भाप के इंजिन उसी सिद्धान्त पर काम करते रहे, जिसका आविष्कार और प्रयोग न्यूकामेन और जेम्स वाट ने किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार भाप अलग ब्वॉयलर मे पैदा करके एक सिलिण्डर में गुजारी जाती है, जिसमे वह अपने दवाव के धक्के से एक पिस्टन को आगे ढकेलती है। इस पिस्टन से एक डंडा पहियो की धुरी से जुड़ा रहता है और विशेष प्रकार की यात्रिक व्यवस्था के अनुसार वह पिस्टन की आगे-पीछे की दोहरी सीधी गति को पहिए की वर्तुलाकर गति मे परिवर्तित कर देता है। आज के हजारो भाप के इंजिन इसी सिद्धांत पर काम करते हैं। किन्तु उन्नीसवी शताब्दी के आखिर में (सर) चार्ल्स पार्सन्स नामक एक अंग्रेज वैज्ञानिक ने एक नये ही ढंग के वाष्प-इंजिन की रचना की, जिसमें बिलकुल दूसरा ही सिद्धात काम मे लाया गया था। इस इंजिन का नाम 'टरबाइन इंजिन' पड़ा। 'टरबाइन' एक लैटिन शब्द है और इसका अर्थ है—वह जो अपने ही आस-पास लट्टू की तरह लहरदार चक्कर काटते हुए गतिशील हो। इस इंजिन का सिद्धांत वास्तव मे सिकंदरिया के विद्वान् हीरो द्वारा आविष्कृत भाप के इंजिन के सबसे आदिम रूप से मिलता-जुलता था। इस नये इंजिन का मूल सिद्धान्त पिस्टन और डंडे के घुमाव के उपयोग की झंझट मे पड़े बिना भाप की गत्योत्पादक शक्ति को वर्तुलाकार गति में परिवर्तित करना था। इस सबध में यह बात ध्यान मे रखना आवश्यक है कि पानी से भाप बनाने मे कोयला या ईंधन के रूप में कुछ शक्ति खर्च होती है। जब भाप पैदा होती है, तो उसमे यह शक्ति जमा रहती है। इस शक्ति की मात्रा भाप के दबाव और ताप की मात्रा पर निर्भर करती है। दबाव और ताप की वृद्धि के अनुपात में इस शक्ति में भी वृद्धि होती है। साधारण भाप के इंजिन में इसका प्रयोग सिलिण्डर के पिस्टन को इधर-उधर घुमाने मे किया जाता है। इस क्रिया मे इस शक्ति का जितना उपयोग होना चाहिए, उतना नही हो पाता और वह भाप का दबाव और ताप घट जाने के कारण व्यर्थ मे नष्ट हो जाती है। टरबाइन इंजिन में इसी व्यर्थ के व्यय को बचाने का प्रयत्न किया गया है और यह काम पिस्टन या डंडे के फेर में पडने के बजाय सीधे पहिये या चक्र पर ही भाप की प्रतिक्रिया कराकर सिद्ध किया गया है। आज दिन बड़े-बड़े जहाजों में इसी नये ढंग के इंजिनों का प्रयोग होता है। टरबाइन इंजिन के आविष्कार की कथा बड़ी मनोरंजक है। वह अगले प्रकरण में दी गई है।

# वाष्प-शक्ति के प्रयोग में क्रान्ति—टरबाइन इंजिन का आविर्भाव

**आज के दिन वाट या स्टीफेन्सन की परम्परा को लिये चला आ रहा पुराना भाप का इंजिन तेल से चलनेवाले इंजिनों के आगे फिसड्डी साबित होता है। अतः यह अनिवार्य रूप से आवश्यक हो गया है कि यदि मैदान में टिके रहना है तो क्रान्तिकारी परिवर्तन करके भाप की शक्ति की वृद्धि की जाय। यह बात सबसे पहले पार्सन्स नामक एक अंग्रेज के माथे में ठनकी और उसने भाप के इंजिनों का रूप बदलकर वाट के सिद्धान्त ही को उलट दिया ! किस तरह ? आइए, इसकी मनोरंजक कहानी सुनिए।**

सन् १८९७ ई० के अक्तूबर मास की २७ वीं तारीख—इँगलैंड में विक्टोरिया की हीरक-जयती की धूम है ! आज स्पिटहेड में जंगी जहाजों का विराट् प्रदर्शन है। संसार भर के राष्ट्रों के प्रतिनिधि, ब्रिटिश जल-सेना के बड़े बड़े अफसर और राजपरिवार के सभी सदस्य मौजूद हैं। तट के कगारों पर खड़े दर्शकों की उमड़ती हुई जन-राशि किनारे से टकराती हुई सागर की अनंत जल-राशि से मानो होड़ बद रही है !

जंगी जहाज कतार बाँधकर खड़े हो गये। भयानक लंबी तोपों के रूप में मानों अपने कराल फौलादी पंजों की डरावनी उँगलियों को बाहर निकाले, धुआँ उगलते हुए वे दैत्याकार जहाज! ऐसा मालूम होता था मानो भीतर-ही भीतर समुद्र में एक किला बांध दिया गया है, और थोड़े-थोड़े फासले पर पानी के ऊपर उठी उसकी लोहे की बुर्जें पास फटकने का साहस करनेवाले किसी भी दुस्साहसी को चुटकी बजाते ही निगल डालने के लिए अपनी दाढ़ें खोले खड़ी हैं!

किन्तु यह क्या! मुश्किल से सौ फीट लंबी और नौ फीट चौड़ी यह मामूली नाव छिपकली की तरह सरसराती हुई रणसज्जा से सज्जित इन भीमकाय जहाजों के लौह दुर्ग में कहाँ से घुस पड़ी! यहाँ तक तो प्रतिष्ठित व्यापारी जहाजों के भी आने की सख्त मुमानियत है!

किनारे पर एकत्रित भीड़ स्तब्ध हो गई—क्षण भर के लिए मानो उसकी साँस ही रुक गई। जंगी अफसर भी हक्का-बक्का थे। फौजी अनुशासन भंग करने की यह ढिठाई! यह दुस्साहसी कौन है? एक तीव्रगामी टारपेडो-बोट को आज्ञा दी गई कि उसे पकड़कर बाहर करो!

नौका अन्य भी जहाजों के बीच की विविध पंक्तियों में निर्द्वन्द्व होकर यहाँ से वहाँ सरसराती हुई चुहिया की तरह फुदक रही थी। टारपेडो-बोट भीषण वेग से उसकी ओर लपका, पर उसे बचाकर मानो खिलखिलाती हुई वह एक ओर को भाग चली।

बड़े अचरज की बात थी! जहाँ तक गति का संबंध था, यह टारपेडो-बोट नौ-सेना-विभाग की शान था—दौड़ में अब तक वह सबसे बाजी मार चुका था। फिर भी यह छोटी-सी नौका उसे यहाँ से वहाँ नचाते हुए मानो उसके साथ खिलवाड़ कर रही थी, वह उसे अपने पास तक नहीं फटकने देती थी! जब देखो तब वह उससे आगे ही दिखाई देती। सब लोग हैरान थे! आखिर इसमें ऐसा कौन-सा अद्भुत यंत्र लगा है कि तेज से तेज दौड़नेवाला टारपेडो-बोट भी इससे हार खा रहा है? मुश्किल से ४० ५० टन वजन की यह नौका बड़े से बड़े जंगी जहाज के इंजिनों के लिए भी असंभव ३४ नाट अर्थात् करीब ३९ मील प्रति घंटे की गति से दौड़ लगा रही है! इस पर इसके चलते समय न जहाजों के दोहरी गतिवाले वाष्प-इंजिनों की कान फोड़नेवाली घरघराहट ही हो रही है, न यही कहा जा सकता है कि इसको चलानेवाला इंजिन वाष्प इंजिन न होकर कोई और ही है, क्योंकि स्पष्ट है कि यह भी औरों ही की तरह कोयले का धुआँ उगल रही है!
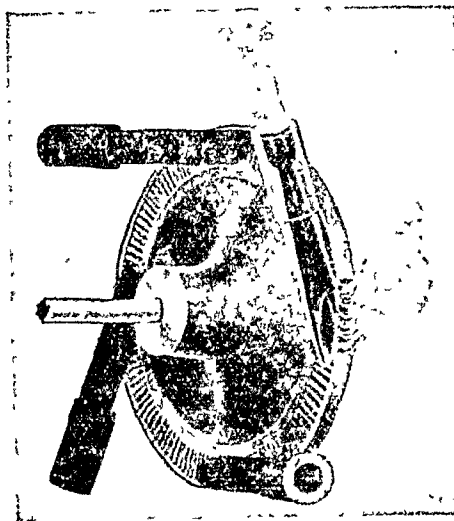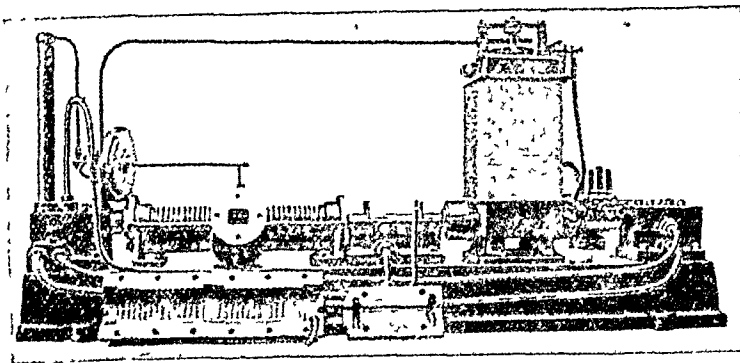
इस अयाचित प्रदर्शन से सभी लोगों को मनोरंजन के साथ-साथ यह उत्कंठा होने लगी कि देखें कब यह नाव हाथ आती है और इसके रहस्य का उद्घाटन होता है!

(ऊपर) डी लैवल द्वारा आविष्कृत टरबाइन का चक्र (नीचे) सर्वप्रथम पार्सन्स टरबाइन इंजिन

डी लैवल के टरबाइन-चक्र का कुछ अंश खोलकर उस पर भाप की क्रिया होते दिखाई गई है। पार्सन्स ने अपने टरबाइन की रचना डी लैवल के ही टरबाइन के सिद्धान्त पर की थी, परंतु उसमें अनेक सुधार कर दिये। उसने कटावदार ब्लेडवाले 'रोटर' की योजना अपने उसने टरबाइन में की।

## वाष्प-शक्ति के इतिहास में युगान्तर

टारपैडो-बोट को खूब छकाने और थका डालने के बाद अंत में जब नौका स्वय ही अपनी मर्जी से किनारे आकर लगी तो दुनिया को भाप की शक्ति के प्रयोग में एक युगान्तरकारी परिवर्तन की सूचना मिली। यह था भाप के एक नई जाति के इंजिन—टरवाइन इंजिन—का आविष्कार और इसके आविष्कारकर्त्ता थे चार्ल्स पार्सन्स। यों तो पार्सन्स के साधारण टरवाइन इंजिन इससे बहुत वर्ष पहले ही से बिजली पैदा करने मे काम आने लगे थे, किन्तु यह किसी को स्वप्न में भी खयाल न था कि इसका उपयोग जहाजो के चलाने मे भी हो सकेगा। पार्सन्स ने महज प्रयोग के लिए केवल पौने पैंतालीस टन वजन की एक नौका पर अपने इस नये ढग के इंजिनों को लगाकर २००० अश्वबल की शक्ति उत्पन्न करने मे सफलता पा ली थी, और जैसा कि ऊपर की घटना से विदित होता है, नौ-विद्या के इतिहास में तहलका मचा दिया था! 'टरवाइन' के ही नाम पर पार्सन्स ने प्रयोग के लिए बनाई गई अपनी इस नौका का नाम 'टरवाइनिया' रक्खा था। 'टरवाइनिया' की करतूत ने ब्रिटिश नौ-विभाग के कान खड़े कर दिये और तुरन्त ही आज्ञा दी गई कि बड़े जंगी जहाजों पर इसी तरह के नई जाति के इंजिन लगाये जायँ। जब ये जहाज तैयार हुए, तो उन्हें ३७ नॉट या लगभग ४३ मील प्रति घंटे की अभूतपूर्व प्रचण्ड गति से चलते हुए देखकर टरवाइन इंजिन की कार्यक्षमता से सभी प्रभावित हुए! तब तो जल्दी-जल्दी अनेक सुधार करके इस इंजिन को बड़ा-से-बड़ा जहाज चलाने के योग्य बना लिया गया।

आज के दिन ससार के एक बहुत बड़े जहाज 'क्वीन मेरी' में, जिसका वजन ८० हजार टन है, जो टरवाइन इंजिन लगे है, उनसे २ लाख अश्वबल शक्ति उत्पन्न होती है!

## टरवाइन-इंजिन का सिद्धान्त

टरवाइन इंजिन का मूल सिद्धान्त वाट और न्यूकामेन के पुराने ढंग के रेसीप्रोकेटिङ्ग (या दोहरी गति वाले) इंजिनों के पिस्टन और डंडे की दोहरी गति के झंझट में पड़े बिना ही भाप की गत्योत्पादित शक्ति को वर्त्तुलाकार गति में परिणत करना है। इस काम का बीड़ा सबसे पहले इंगलैंड मे पार्सन्स ने और फ्रांस में डी लैवल ने उठाया। पार्सन्स के मस्तिष्क में यह बात ठनकी कि आखिर क्या यह संभव नहीं है कि जिस तरह बहते हुए पानी की गतिशक्ति का प्रयोग पनचक्की के चक्र को घुमाने में किया जाता है, उसी तरह भाप की गति का भी प्रयोग किसी चक्र को घुमाने में किया जाय? यदि ऐसा करना संभव हो जाय, तो फिर रेसिप्रोकेटिङ्ग या दोहरी चाल के इंजिन के पिस्टन, डंडे और अन्य बहुत-से भारी-भारी पुर्जों को घुमाने में होनेवाला शक्ति का अपव्यय बच जायगा। अनेक प्रयोगों के बाद १८८४ में, ३० वर्ष की आयु ही में, पार्सन्स ने अपने सर्वप्रथम टरवाइन इंजिन की रचना की। इस इंजिन के नवीन सिद्धान्त ने यंत्र-विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी। किन्तु व्यावहारिक रूप में वह अधिक कार्यकर सिद्ध नहीं हो सका, क्योंकि वह १८ हजार चक्कर प्रति मिनट की भयङ्कर गति से घूमता था, जिसका कि साथ कोई भी डॉयनमो आदि मशीन नहीं दे सकती थी। इसी बीच में डी लैवल ने भी एक और जाति के टरवाइन का आविष्कार कर डाला। लैवल के इस टरवाइन में सिलिंडर में घूमनेवाले एक चक्र पर, जिसमें परिधि पर आड़ी-टेढ़ी कई पत्तियाँ लगी थीं, एक साथ कई नलियों द्वारा बड़े दवाव के साथ भाप पहुँचाकर उसके दवाव से चक्र में भीषण गति उत्पन्न की जाती थी। जब एक ओर से प्रवेश करके भाप ४८ मील प्रति

**५०,००० किलोवॉट बिजली की शक्ति उत्पन्न करनेवाले डॉयनमो को चलानेवाले एक पार्सन्स टरवाइन इंजिन का चक्र (खुला हुआ)**

इस जाति के टरवाइन मे भाप चक्र के बाएं भाग में प्रवेश करती है, जहा उसे अधिक जगह मिलती है और जब उसका दवाव कम होने लगता है, तब वह दाहिनी ओर की लंबी प्लेटों या चक्रवर्त थालियों को घुमाने लगती है, जहा जगह संकरी होने की वजह से उसका दवाव बढ़ जाता है।

मिनट की गति से दौडती हुई दूसरी ओर निकलती तो सिलिंडर का पहिया या चक्र ३०,००० चक्कर प्रति मिनट की भीषण गति से घूमने लगता था।

पार्सन्स ने अपने टरबाइन की रचना की तो डी लैवल के टरबाइन ही के सिद्धान्त पर, लेकिन उसने कुछ सुधार से काम लिया। पार्सन्स के टरबाइन की रचना निम्न प्रकार की होती है। एक मजबूत धुरी पर एक घूमनेवाला सिलिंडरनुमा रोटर लगा रहता है। इस रोटर के चारो ओर थोड़े-थोड़े अंतर पर हजारो कटावदार ब्लेडो या पत्तियों से युक्त क्रमश एक से दूसरी बड़ी अनेक चूड़ियाँ लगी रहती है। इस रोटर पर बाहर से एक ऐसा ढोलनुमा मजबूत फौलादी आवरण या ढकना चढ़ाया जाता है, जो रोटर की गति को तो नही रोकता, किन्तु जिसमें से भाप बाहर नहीं निकल पाती। इस ढकने की भीतरी बाजू में भी अनेक पंक्तियों में वैसी ही ब्लेडें या पत्तियाँ इस ढंग से लगी रहती है कि ढकना चढाने पर रोटर की चूड़ियों की धारें ढकने की पत्तियों के बीच की झिरियों में आ जायँ, साथ ही कुछ-कुछ पोली जगह भी बनी रहे। अब विशेष नली द्वारा अत्यंत दबाव के साथ जब उत्तम भाप इस ढोल की एक बाजू से भीतर पहुँचाई जाती है तो रोटर की पत्तियों को धक्का देती हुई वह प्रचण्ड वेग से आगे बढ़ती है। उसका धक्का ऐसे कोण से लगता है कि उससे रोटर की धुरी में चक्राकार गति उत्पन्न हो जाती है। पत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक चूड़ी से भाप क्रमश: दूसरी चूड़ी पर बढ़ती जाती है, जब तक कि सब चूड़ियो को पार कर वह दूसरी बाजू से बाहर नहीं निकल जाती। इस तरह ब्लेडों से टकरा-टकराकर वह रोटर में भीषण चक्राकार गति उत्पन्न कर देती है। किंतु, जैसा कहा जा चुका है, इतनी भीषण गति का साथ कोई भी मशीन नही दे सकती। अतएव इस तीव्र वेग का शमन कर कार्यकर स्थिति में लाने के लिए वेग को कई कटावदार चक्रों द्वारा कम किया जाता है। ऐसे चक्रों को वेग-शमनकारी चक्र कहते है।

**भाप से चलनेवाले एक विशाल टरबाइन का चक्र** (खुला हुआ)
आजकल अधिकांश बड़े जहाजों को चलाने के लिए ऐसे ही विशेष प्रकार के चक्रवत टरबाइन का प्रयोग किया जाता है।

जहाजों और डॉयनमो के अतिरिक्त अब रेल के इंजिनों में भी टरबाइन का प्रयोग होने लगा है। सच तो यह है कि टरबाइन ने अब पुराने वाष्प-इंजिन को पीछे ढकेल दिया है।

### ब्वॉयलर

अब तक हमने भाप के इंजिनों की ही चर्चा की है; किंतु केवल इंजिन ही में भाप की शक्ति का उत्पादन करनेवाली यंत्र-प्रणाली का अंत नही हो जाता। इंजिन तो महज तैयार मिलनेवाली भाप की शक्ति का उपयोग करके गति उत्पन्न करने का एक साधन है—चाहे वह वाट के सिद्धान्त के अनुसार बनाया गया सामान्य भाप का इंजिन हो, चाहे पार्सन्स द्वारा आविष्कृत टरबाइन इंजिन। यह भाप इन इंजिनों को कहाँ से तैयार मिलती है? ये स्वयं तो इसे तैयार कर सकते नही। फिर, इतनी अधिक मात्रा में भाप पैदा करने और उसे जमा रखने के लिए ऐसी-वैसी छोटी यंत्र-प्रणाली से भी तो काम नही चल सकता। आइए, देखें ये भाप उत्पन्न करनेवाले यंत्र क्या और कैसे है? किसी भाप से चलनेवाले बड़े कारखाने के इंजिनघर मे चलिए।

देखिए, सिर पर खड़ी आकाश से बात करने वाली यह ऊँची चिमनी कहाँ से आ रहे धुएँ को उगल रही है ? इंजिन में से तो हम इस तरह का काला धुआँ निकलने का कोई कारण नही देखते, क्योंकि भाप का रंग ऐसा नही होता। अतएव जरूर यह और कही से आ रहा है। हाँ, वह देखिए उस छोटी-सी खिड़की से भीषण आग की लपटे उगलते हुए भट्ठे का एक हिस्सा दिखाई दे रहा है। उसी में कोयला भी झोंका जा रहा है। अब आप शायद समझ गये होंगे कि प्रत्येक भाप के इंजिन के साथ-साथ भाप के उत्पादन के लिए भी एक अलग यंत्र होता है, जिसमें से बनकर उत्तप्त भाप एक नली द्वारा इंजिनों में आती है। इस यंत्र को 'ब्वॉयलर' कहते है। रेल के इंजिन, सड़क बनानेवाले इंजिन, आदि मे यह ब्वॉयलर इंजिन ही में लगा होता है, लेकिन बड़े-बड़े कारखानो या जहाजों के ब्वॉयलर अलग होते है। ब्वॉयलर वास्तव मे भाप के इंजिन की जान है। पर्वतों, नदियों और मैदानों को लाँघते हुए दिन-रात दौडते रहनेवाली रेलगाडियों, हजारों यात्री और मनों सामान लादकर समुद्र की छाती को चीरते हुए एक महाद्वीप का दूसरे महाद्वीप से संबद्ध करनेवाले जहाजों, और तरह-तरह की वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले कल-कारखानों के पीछे जो शक्ति काम करती है, उसका उत्पादन इसी ब्वॉयलर में होता है।

आरंभ से अब तक इंजिनों की तरह ब्वॉयलर का भी रूप निरन्तर बदलता रहा है। जेम्स वाट के आरंभिक ब्वॉयलर से आज के ब्वॉयलर मे न सिर्फ आकार-प्रकार में ही परिवर्तन हो गया है, वरन् सिद्धान्त में भी बहुत-कुछ उलटफेर हो गया है। ब्वॉयलरों के विकास का इतिहास भी उतना ही रोचक है, जितना भाप के इंजिनों का। आगे के प्रकरण मे विस्तृत रूप से इन ब्वॉयलरों की रचना, कार्य करने के ढंग, तथा उनके विभिन्न रूपो पर प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि भाप से हटकर मनुष्य आज तेल मे उत्पन्न की गई गैस, व बिजली की शक्ति की ओर बढ़ रहा है, फिर भी आज के इस यंत्र-युग मे भाप की शक्ति का ही सर्वोपरि हाथ है। हमारी रेलगाड़ियाँ और जहाज, मिलें और बड़े-बड़े कारखाने—सभी तो भाप की अतुल शक्ति पर टिके हुए है। इसका एक कारण भी है। गैस या बिजली अथवा अन्य किसी भी प्रकार की शक्ति के प्रयोग में अमित सुविधाएँ होने पर भी उनके उत्पादन की इतनी सुविधाएँ अभी हमारे पास नहीं है, जितनी भाप को उपजाने की। पानी की पृथ्वी पर कमी नहीं, और ईंधन में अब भी कोयला ही हमारे लिए सबसे सस्ता साबित हो रहा है।

# भाँति-भाँति के ब्वॉयलर

**पिछले प्रकरण में हम कह चुके है कि इंजिन ही में भाप की शक्ति के उत्पादन-संबंधी यंत्र-प्रणाली का अंत नहीं हो जाता----उसका एक प्रमुख अंग ब्वॉयलर है, जिस पर भाप के इंजिनों का दारोमदार रहता है। इस प्रकरण में आपको इसी महत्त्वपूर्ण यंत्र-संबंधी बातें बताई जा रही हैं।**

ब्वॉयलर ही वह पात्र है, जिसमें पानी उबालकर भाप बनाई जाती है। उस भाप का जितना अधिक दबाव होगा, उतनी ही अधिक शक्ति उसमे उत्पन्न होगी। अतएव ब्वॉयलर के निर्माण में दो बातो का खास महत्त्व है। प्रथम यह कि इस पात्र की दीवारे इतनी मजबूत हों कि कामचलाऊ से भी अधिक दबाव वे सहन कर सकें, ताकि कभी विस्फोट का खतरा न रहे। दूसरे, इसके लिए आवश्यक ईंधन के खर्च में भी अधिक से अधिक बचत हो सके। वर्षो के निरंतर सुधारों के बाद ब्वॉयलर का जो रूप आज के दिन काम में लाया जाने लगा है, उसमे उपर्युक्त दोनों बातो में बहुत हद तक सफलता मिल चुकी है। आज का भाप का इंजिन ५० साल पूर्व के भाप के इंजिन से चौगुना कार्यकर है। इसका अधिकाश श्रेय जहाँ टरबाइन के आविष्कार को प्राप्त है, वहाँ ब्वॉयलरों के सुधार को भी है।

### ब्वॉयलर का सिद्धान्त

अच्छे ब्वॉयलर के लिए सबसे पहली शर्त्त यह है कि वह इतना काफी मजबूत हो कि भाप के असाधारण दबाव से भी वह कदापि फटे नही। भाप बनने पर पानी आयतन मे १६०० गुना ज्यादा बढ़ जाता है। यही कारण है कि देगची में उबलते हुए पानी से जोरों में भाप बाहर को निकलती है। भाप का आयतन इतना बढ़ जाता है कि वह देगची के अन्दर समा नही सकती। लेकिन यदि देगची का ढक्कन अच्छी तरह बन्द कर दिया जाय तो इस

दशा में भाप को फैलने का मौका न मिलेगा। नतीजा यह होगा कि भाप का प्रत्येक जर्रा देगची की दीवालों को धक्का मारेगा। चूंकि ये जर्रे फैलकर अधिक जगह घेरना चाहते हैं, अतः देगची की दीवालों को धक्का मारकर ये कोशिश करते हैं कि दीवाल फोड़कर बाहर निकल जायँ। भाप जितनी ही अधिक गर्म होती है, उतने ही अधिक जोर से यह फैलना चाहती है, और फलस्वरूप देगची की दीवालों पर उतना ही अधिक दबाव भी यह डालती है। अतएव ताप बढ़ने पर भाप की शक्ति भी बढ़ती है।

वाष्प-इंजिन के प्रारम्भिक दिनों में साधारण दबाव-वाली भाप से ही इंजिन का काम चल जाता था; क्योंकि इस भाप से पिस्टन को धक्का देने का काम नहीं लिया जाता था; केवल इंजिन के सिलिण्डर में भाप प्रवेश कराकर उसे ठण्डा करके पानी में परिवर्तित कर लेते थे। ऐसा करने से भाप के आयतन में एकाएक कमी हो जाती और इस तरह सिलिण्डर के अन्दर आंशिक वैकुअम उत्पन्न हो जाता था। तब आकाश की हवा के दबाव के कारण पिस्टन नीचे को गिरता तथा खान में लगे पम्प का संचालन करता था। अतः उन दिनों लोगों ने ब्वॉयलर की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उन्हें विशेष शक्तिशाली भाप पैदा करने की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। किन्तु जेम्स वाट ने जब पहली बार वास्तविक वाष्प-इंजिन तैयार किये तो लोगों को ऐसे ब्वॉयलर की जरूरत महसूस हुई, जो शक्तिशाली भाप निरापद उत्पन्न कर सके।

## ब्वॉयलर की रचना

मजबूती के विचार से गोल आकार के ब्वॉयलर को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। अतः विशेषज्ञों ने पहले गोले की ही शक्ल के बर्तन ब्वॉयलर के लिए चुने, ताकि भाप के जोर से ये फटें नहीं। किन्तु ब्वॉयलर के चुनाव में मजबूती के अतिरिक्त इस बात का भी विचार रखना जरूरी होता है कि यह ज्यादा ईंधन न खा जाय। ज्यामिति के जाननेवाले लोगों को यह बात मालूम होगी कि एक नियत समाववाले भिन्न-भिन्न शक्ल के जितने बर्तन बनाये जा सकते हैं, उनमें गोला ही ऐसी आकृति है, जिसके बाहरी धरातल का क्षेत्रफल सबसे कम होता है। चूंकि ऐसे ब्वॉयलरों में आँच बाहर से लगती है, इसलिए उतने ही पानी के लिए गोल बर्तन में दूसरी शक्ल के बर्तनों की अपेक्षा कम आंच लग पायेगी, क्योंकि गोल ब्वॉयलर में आंच के लिए लभ्य धरातल का क्षेत्रफल कम पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गोल शक्ल का ब्वॉयलर रखने में ईंधन की लपटों का बहुत बड़ा अंश बेकार जायगा।

भट्ठी की गर्मी को खूब अधिक मात्रा में ब्वॉयलर के अन्दर प्रवेश कराने के लिए यह जरूरी है कि ब्वॉयलर की शक्ल ऐसी बनाई जाय कि उतने ही समाव के लिए ब्वॉयलर के धरातल का क्षेत्रफल गोले की अपेक्षा अधिक हो, साथ ही इसकी मजबूती में भी फर्क न आए। सिलिण्डर (ढोलनुमा) आकार के ब्वॉयलर इस दृष्टिकोण से सर्वोत्तम ठहरते हैं। ऐसे ब्वॉयलरों में उक्त दोनों ही बातें पाई जाती हैं। अतः ढोलनुमा ब्वॉयलर गोल शक्ल के ब्वॉयलरों की जगह काम में आने लगे। रेलगाड़ी का जो सबसे पहला इंजिन बना था, उसमें ढोलनुमा शक्ल का ही ब्वॉयलर था। यह ब्वॉयलर सीधा फिट किया गया था। बाद में इसे बेड़े लिटाकर नीचे से आग लगाने की बात सोची गयी। इस तरह बेड़े ढोलनुमा ब्वॉयलरों का चलन जारी हुआ।

कुछ दिनों बाद जार्ज स्टीफेन्सन ने, जिसे रेलवे-इंजिनों की ईजाद का श्रेय प्राप्त है, तत्कालीन ब्वॉयलरों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। उसने सोचा, ब्वॉयलर में बाहर से आँच लगाने से केवल उसके पेटे पर ही आँच लगती है। अगर किसी तरह आग की लपटों को ब्वॉयलर के पेट में एक लम्बी सुरंग के रास्ते एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रवेश करा सकें तो भट्ठी की लगभग समूची गर्मी ब्वॉयलर के पानी को मिल सकेगी। उसने अपनी इस सूझ को फौरन् ही कार्यान्वित किया और अपने प्रयोग में उसे आशातीत सफलता भी मिली। आज के दिन भी रेलगाड़ी के इंजिनों में भट्ठी में से आग की लपटें ब्वॉयलर के भीतर नलिकाओं में होकर प्रवेश करती हैं। यह ब्वॉयलर भी स्टीफेन्सन की सूझ का ही एक परिष्कृत रूप है। इस ढंग के ब्वॉयलरों में ईंधन की भारी बचत होती है। आधुनिक युग के सभी ब्वॉयलरों
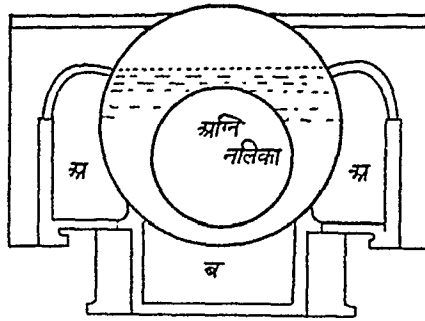
**ब्वॉयलर का सिद्धान्त**

प्रस्तुत चित्र में कार्निश ब्वॉयलर की रचना दिखाई गई है। इसका विशेष विवरण अगले पृष्ठ पर पढ़िए।

में अब भट्ठी और आँच ब्वॉयलर के भीतर ही रहती है। बाहर से आँच पहुँचाने का बन्दोबस्त केवल उन्हीं ब्वॉयलरों में देखने को मिलता है, जो ऐसी जगहों में प्रयुक्त किये जाते हैं, जहाँ ईंधन बेहद सस्ता होता है।

### 'कार्निश' और 'लंकाशायर' ब्वॉयलर

भीतर से आँच दिये जानेवाले ब्वॉयलर मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं—एक 'कार्निश' ब्वॉयलर, दूसरे 'लङ्काशायर'। कार्निश ब्वॉयलर मे आँच के लिए एक ही सुरंग होती है, किन्तु 'लङ्काशायर' में दो सुरंगें होती है। ढोलनुमा बैरेल में उतनी ही जगह में एक के बजाय दो सुरंगें बना देने से आँच लगने के धरातल में समुचित वृद्धि हो जाती है। अत: ईंधन की बचत के खयाल से 'लङ्काशायर' ब्वॉयलर अधिक वाञ्छनीय हैं। 'लङ्काशायर' और 'कार्निश' दोनों ही ब्वॉयलरों की शक्ल ढोलनुमा होती है और ढोलनुमा बैरेल के सिरे चिपटी प्लेट के बने होते हैं।

'कार्निश' ब्वॉयलर के पिछले हिस्से मे भट्ठी होती है, और इसी भट्ठी से आग की लपटें चौड़े मुँह की केन्द्रीय नली (सुरंग) में से होकर भीतर प्रवेश करती है। दूसरे छोर से भट्ठी की गर्म गैस निकलकर ब्वॉयलर के पानी-वाले बैरेल की बाहरी दीवालों को छूती हुई 'अ' रास्ते से पीछे को वापस आती है, फिर 'ब' रास्ते से सामने की ओर लौटकर ऊपर को निकल जाती है (दे० पिछले पृष्ठ का चित्र)। इस तरह ईंधन की आँच का यथासम्भव पूरा उपयोग कर लिया जाता है। ब्वॉयलर का बाहरी रास्ता ('अ' और 'ब') पक्की ईंट के उस चबूतरे में ही बना होता है, जिस पर ब्वॉयलर फिट किया हुआ रहता है।

लङ्काशायर ब्वॉयलर में दोनों सुरंगों के मुँह पर अलग अलग भट्टियाँ होती हैं। कार्निश ब्वॉयलर की ही भाँति इस ब्वॉयलर में भी भट्टी की गर्म गैसें दूसरे सिरे पर पहुँचकर पीछे की ओर वापस आती है, और फिर सामन की ओर लौटकर चिमनी के रास्ते बाहर निकल जाती है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, ब्वॉयलर की वाष्प-उत्पादन की कार्यक्षमता उसके तप्त धरातल के क्षेत्रफल पर निर्भर है, अत: इस दिशा में लोगों के उद्योग और अनुसन्धान निरन्तर जारी रहे। आखिरकार कार्निश ब्वॉयलर का एक परिष्कृत रूप तैयार किया गया, जिसमे उत्तप्त गैसें अकेली एक सुरंग में से नही, वरन् अनगिनत नलियों में से होकर ब्वॉयलर के पेट मे प्रवेश करती है। पानी इन्हीं नलियो के चारों ओर रहता है। नलियों के भीतर से गुजरती हुई गर्म आँच उस पानी को गर्म करके उसे भाप में परिवर्तित करती रहती है।

आधुनिक रेल के इंजिनों मे इसी प्रकार के ब्वॉयलर का प्रयोग होता है। इस ब्वॉयलर के सामने का भाग ढोलनुमा होता है, और पीछे का आयताकार। इसी आयताकार भाग में कोयला जलानेवाली भट्ठी होती है। ढोलनुमा बैरेल के सामनेवाले भाग में धुआँबक्स बना होता है। धुआँ फेंकनेवाली चिमनी का निचला हिस्सा यही तक पहुँचता है। अनेक अग्निनलिकाएँ उसी बैरेल में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फिट की हुई होती हैं। भट्ठी से गर्म आँच तथा गैसें इन्ही नलियो के रास्ते से सामने धुआँबक्स में पहुँचती है, और फिर वहाँ से चिमनी के रास्ते ऊपर निकल जाती है। पानी इन्ही अग्निनलियों के चारों ओर रहता है।

**सर गर्नी का प्रयोग**

इस प्रयोग को बढ़िया प्रकार के ब्वॉयलर बनाने की धुन में अठारहवीं शताब्दी में सर गर्नी नामक इंजीनियर ने किया था। विशेष विवरण पृष्ठ ३१५ पर पढिए।

अधिक शक्ति देनेवाले लगभग सभी इंजिनों के ब्वॉयलर आड़े लिटाये रहते है, किन्तु कभी-कभी जब अत्यधिक शक्ति की जरूरत नही होती, साथ ही फर्श पर अधिक जगह ब्वॉयलर के लिए नही दी जा सकती, तो ऐसी दशा में प्राय: खड़े ब्वॉयलर भी फिट किए जाते है। साधारणत: जहाजों पर ब्वॉयलर खड़े ही फिट किए जाते हैं। "स्काच

मैरीन ब्वॉयलर" में भट्ठी से आँच नलियों में होकर धुआँवक्स में पहुँचती है। अपनी यात्रा के उस भाग में वह पानी को भाप में परिवर्तित कर लेती है। अब धुआँ-वक्स से आगे बढ़ने पर ये उत्तप्त गैसें फिर कुछ नलियों में से गुजरती हैं। उन्ही नलियो के भीतर से होकर छोटी नलियों में भाप गुजरती रहती है। अतः आँच के स्पर्श से भाप और भी गर्म हो जाती है। इस तरह पूर्णतया सूखी और उत्तप्त भाप ऐसे ब्वॉयलरो में उत्पन्न कर ली जाती है। उत्तप्त भाप का तापक्रम ऊँचा होने के कारण उसका दवाव और उसकी शक्ति भी बढ़ जाती है। यही कारण है कि लगभग सभी आधुनिक ब्वॉयलरों मे इंजिनों के काम आनेवाली भाप को दो मंजिलों से होकर गुजरना होता है। पहले पानी गर्म करके उसे भाप में परिवर्तित कर लेते हैं, तब उस भाप को पुनः तपाकर उत्तप्त बना लेते हैं। यही उत्तप्त भाप पिस्टन को चलाती है।

## सर गर्नी का प्रयोग

एक ओर जबकि अग्नि-नलिकावाले ब्वॉयलरों का विकास हो रहा था, दूसरी ओर एक नवीन ढंग के ब्वॉयलर का निर्माण जारी था। १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दिनों मे सर गर्नी, जिसने सड़क पर चलनेवाला सर्वप्रथम वाष्प-इंजिन तैयार किया था, बढ़िया ब्वॉयलर बनाने की धुन मे लगा हुआ था। उसने इस सिलसिले में एक प्रयोग किया (पृ० ३१४ का चित्र)। उसने एक वृत्ताकार नली में पानी लेकर एक किनारे से उसे गर्म करना शुरू किया। थोड़ी देर में समूची नली का पानी खौलने लगा और ऊपर के रास्ते 'क' से भाप जोरों के साथ निकलने लगी। इस प्रयोग ने उसके मस्तिष्क में एक नवीन सूझ पैदा की। उसने देखा कि ट्यूब के उस भाग में, जहाँ स्प्रिट की लौ लगती है, पानी गर्म हो जाता है। गर्म होने पर ठण्डे पानी की अपेक्षा हल्का हो जाने से वह ऊपर को उठता है, और बगल से उसका स्थान लेने को ठंडा पानी आता है। इस तरह पानी की धारा ट्यूब में चक्कर लगाने लगती है। यहाँ तक कि तनिक-सी देर में पानी खौलने लगता है, और जोरों के साथ भाप तैयार होने लगती है।

'यरो ब्वॉयलर'

यह जलनलिकावाले ब्वॉयलर का एक नमूना है। इस प्रकार के ब्वॉयलर में एक बड़े आकार के पीपे का उसी प्रकार के अन्य दो पीपों से नलियों द्वारा संबंध रहता है। ये नलियाँ कई पाँत में लगी रहती हैं। पानी गरम होकर इन्हीं नलियों के रास्ते ऊपर वाले पीपे में चढ़ता है।

इस प्रयोग का महत्व समझने के लिए यह जरूरी है कि हम किसी देगची में खौलते हुए पानी को गौर से देखें। देगची के पेंदे के हर एक बिन्दु से भाप के बबूले ऊपर को उठते हैं। नतीजा यह होता है कि ऊपर से नीचे को आती हुई पानी की धारा के रास्ते में रुकावट पड़ती है, और देगची का समूचा पानी उतनी तेजी के साथ गर्म नही हो पाता है। ब्वॉयलर की इस कमी को दूर करने के लिए पानी को मुड़े हुए ट्यूब के अन्दर ले सकते हैं, ताकि एक रास्ते से गर्म पानी ऊपर को उठे और दूसरे रास्ते से ठंडा पानी नीचे को आए। इस तरह भाप ट्यूब के ऊपरी भाग से पैदा होगी, और पानी की धारा निरंतर जारी रहेगी।

## जलनलिकायुक्त ब्वॉयलर

उक्त प्रयोग के आधार पर नए ढंग के ब्वॉयलर बने। इन ब्वॉयलरों में पानी बहुत-सी नलियों के अन्दर चक्कर लगाता रहता है, और भट्ठी की आँच इन नलियों के चारों ओर लगती रहती है। प्रायः ये नलियाँ न तो एकदम सीधी खड़ी रहती हैं, और न एकदम आड़ी ही लिटाई रहती हैं, बल्कि ये थोड़ी ही झुकी होती हैं; ताकि उतनी ही आँच में ट्यूब का बहुत-सा धरातल तप्त हो सके, साथ ही एक ओर से गर्म पानी आसानी से ऊपर को उठ सके, तथा दूसरी ओर अपेक्षाकृत ठण्डा पानी आसानी के साथ नीचे आ सके। अच्छे ब्वॉयलरों में पानी के इन ट्यूबों की संख्या काफी बढ़ा देते हैं। इस प्रकार पानी के तप्त धरा-

**लंकाशायर ब्वॉयलर**
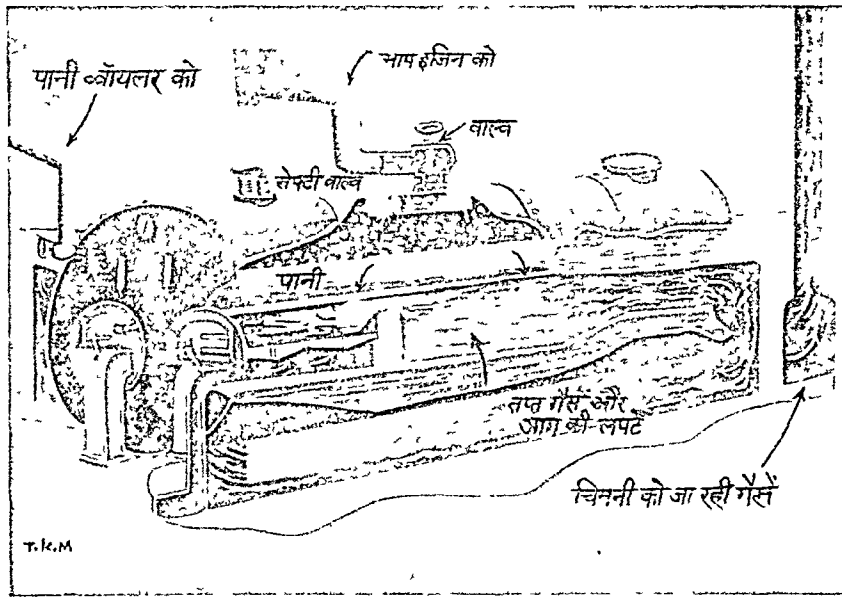
इस जाति के ब्वॉयलर में कार्निश ब्वॉयलरों से यह विशेषता होती है कि इनमें एक के बजाय दो सुरंगों के मुँह पर अलग-अलग भट्ठियाँ होती हैं। इस ब्वॉयलर में पंखों द्वारा भट्ठी में हवा झोंकी जाती है। उसके झोंके से आग की लपटें तथा गैसें उतप्त भट्ठी की निचली सुरंग की राह से एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाती हैं। तब ब्वॉयलर के नीचे से होकर वे वापस लौटकर आती हैं और पुनः उसके अगल-बगल की सुरंगों में चक्कर काटते हुए अन्त में चिमनी की राह से बाहर निकल जाती हैं। उतप्त गैसों के इस परिभ्रमण के फलस्वरूप ब्वॉयलर के पात्र का जल गर्म होकर भाप में परिणत होता रहता है और वह ऊपर की नली की राह से इंजिन को जाती रहती है।

तल का क्षेत्रफल बढ़ जाता है और ब्वॉयलर से भाप प्रचुर मात्रा में निकलती है। इन जलनलिकावाले ब्वॉयलरों में भी भाप पहली मंजिल में तैयार होकर दूसरी मंजिल के लिए अन्य नलियों में प्रवेश करती है, जहाँ यह पुन. आँच द्वारा तपाकर विशेष उत्तप्त बना ली जाती है। तदुपरान्त यह उत्तप्त भाप इंजिन मे प्रवेश करती है।

बड़े-बड़े जहाजो के इजिन के लिए प्रायः जलनलिकावाले ब्वॉयलर ही प्रयुक्त किए जाते है। यद्यपि साधारण व्यापारी जहाजो में अब भी अग्निनलिकावाले ब्वॉयलर फिट किये हुए पाए जाते है, किन्तु लड़ाई के जहाजो मे ब्वॉयलर हमेशा जलनलिकावाले ही लगाये जाते है, क्योंकि जलनलिकावाले ब्वॉयलर में पानी से भाप चुटकी बजाते और प्रचुर मात्रा में तैयार की जा सकती है। युद्ध के जहाजों को अचानक खतरे की सूचना मिलते ही तेज रफ्तार से भागने की जरूरत पड़ा करती है, और ऐसे अवसर पर जलनलिकावाले ब्वॉयलर ही उसके लिए शक्तिशाली भाप बात-की-बात में तैयार कर सकते है। यही कारण है कि शीघ्रगामी व्यापारिक जहाजो में भी अब जलनलिकावाले ही ब्वॉयलर लगाते हैं।

**'यरो' ब्वॉयलर**

इन जलनलिकावाले ब्वॉयलरों मे 'यरो' ब्वॉयलर (दे० पृ० ३१५ का चित्र) उल्लेखनीय है। इस ब्वॉयलर में बड़े आकार के पीपे का एक उसी प्रकार के दो अन्य छोटे पीपो से नलियों के जरिये संबंध रहता है। ये नलियाँ कई पाँत में लगी हुई होती है। पानी गर्म होकर इन्ही नलियो के रास्ते ऊपरवाले पीपे मे चढता है, और अन्त में भाप बनकर पीपे मे अन्य नलियो में विशेष उत्तप्त होने के लिए जाता है।

जलनलिकावाले ब्वॉयलर मे प्रयोग करने के लिए पानी के चुनाव में भी विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है! यदि यह पानी कठोर हुआ, अर्थात् उसमे खड़िया-सदृश विजातीय पदार्थ घुले हुए रहे, तो गर्म किए जाने पर ये पानी से निकल आते है, और इनकी तहें इन नलियो में जम जाती है। नतीजा यह होता है कि भट्ठी की आँच का पूरा असर नली के अन्दर पानी तक नही पहुँच पाता, और इस प्रकार ब्वॉयलर की कार्यक्षमता मे भारी ह्रास हो जाता है। इन नलियो के भीतर से खुरचकर खड़िया मिट्टी की जमी हुई परत को साफ करना बड़े झंझट का काम है। नलियो की पेंचदार टोपियाँ खोलकर भीतर की

सफाई करनी होती है। बार-बार टोपियाँ खोलने से वे ढीली पड़ जाती है और उनके अन्दर से साँस आने लगती है। किन्तु ढोलनुमा कार्निश या लङ्काशायर ब्वॉयलर में, चूँकि पानी बाहर बैरेल में ही रहता है, अतः इसी बैरेल की दीवालों पर आगवाली चौड़ी सुरंग की बाहरी दीवालों पर ही कठोर जल की घुली खड़िया मिट्टी जमती है, जिसे आसानी से खुरचकर साफ कर लेते हैं। लेकिन ढोलनुमा ब्वॉयलरों में भट्ठी की चद्दरों और अग्निनलिकाओं के जलने का, साथ ही तापक्रम के घटने-बढ़ने से चद्दरों में बल पड़ जाने का भी भय रहता है।

ढोलनुमा अग्निनलिकावाले ब्वॉयलरों को इंजिनघर में जमाने में जलनलिकावाले ब्वॉयलरों की अपेक्षा कम खर्च बैठता है, किन्तु जहाँ जगह की कमी हो, वहाँ पर जलनलिकावाले ब्वॉयलर ही फिट किए जाने चाहिएँ, क्योंकि इतनी ही शक्ति-उत्पादन के लिए जलनलिकावाले ब्वॉयलर अग्निनलिकावाले ढोलनुमा ब्वॉयलर की अपेक्षा एक-चौथाई जगह घेरते हैं। फिर जलनलिकावाले ब्वॉयलर के पुर्जे आसानी से अलग करके दूसरी जगह ले जाये जा सकते हैं। ढोलनुमा ब्वॉयलरों में ऐसी बात नहीं है, उनका बैरेल काफी भारी-भरकम होता है।

### एक जलनलिकायुक्त ब्वॉयलर

यह बेवकाक और विल्काक्स टाइप के जल नलिकायुक्त ब्वॉयलर का चित्र है। यह एक पुराना मॉडल है। अब इसमें अन्य कई सुधार कर दिए गए हैं और प्रायः बिजली का उत्पादन करने के लिए इसी प्रकार के ब्वायलरों का प्रयोग किया जाता है। इस जाति के ब्वॉयलर में पानी बहुत-सी नलियों के अन्दर चक्कर लगाया करता है और भट्ठी की आंच इन नलियों के चारों ओर लगती रहती है। जैसा कि चित्र से दिखाई दे रहा है, ये नलियाँ न तो बिल्कुल सीधी, न एकदम बेंडी रहती हैं। ये थोड़ी झुकी रहती हैं, ताकि उतनी ही आंच में नली का बहुत-सा धरातल गर्म हो सके। इस चित्र में नलियों के आसपास का भाग आड़े काट के रूप में खुला दिखाया गया है, पर वास्तव में वह भट्ठी की दीवारों से घिरा रहता है।

### भट्ठी पर हवा का प्रवाह

इन ब्वॉयलरों में भट्ठी को प्रज्वलित रखने का प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नहीं है; क्योंकि भट्ठी में कोयले को पूर्ण रूप से जलाने के लिए ताजी हवा के झोंके का अबाध रूप से निरन्तर पहुँचना जरूरी होता है। जिस वक्त चिमनी से भट्ठी की तप्त गैसें ऊपर को निकलती हैं, वे अपने साथ भट्ठी के अन्दर की हवा को खींचती हैं। इस खिंचाव के कारण भट्ठी के दरवाजे से जिस रास्ते से कोयला झोंका जाता है, ताजी हवा भीतर प्रवेश करती है। इस तरह हवा का झोंका भट्ठी में अपने आप पहुँचता रहता है।

किन्तु बड़े ब्वॉयलरों में इस रीति से हवा पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँच पाती। अतः चिमनी के नीचे धुआँबक्स में कोई ऐसा प्रबन्ध करना पड़ता है, जिससे अधिक मात्रा से भट्ठी में की हवा खिंचकर उठे। रेलगाड़ी के इंजिन में सिलेण्डर और पिस्टनबक्स से निकली हुई शक्तिविहीन भाप इसी धुआँबक्स से होकर तेजी के साथ चिमनी के रास्ते बाहर निकलती है। ऐसा करने से यह धुआँबक्स के धुएँ और तप्त गैसों को अपने साथ खींच ले जाती है। फलस्वरूप यहाँ की खाली जगह को भरने के लिए भट्ठी के दरवाजे से ताजी हवा भीतर को दौड़ती है, क्योंकि और कहीं से हवा धुआँबक्स में प्रवेश नहीं कर सकती। इस प्रकार भट्ठी में कोयले के अच्छी तरह जलने के लिये पर्याप्त मात्रा में आक्सिजन पहुँचती रहती है।

इस कृत्रिम ढंग से भट्ठी में हवा पहुँचाते समय इस बात
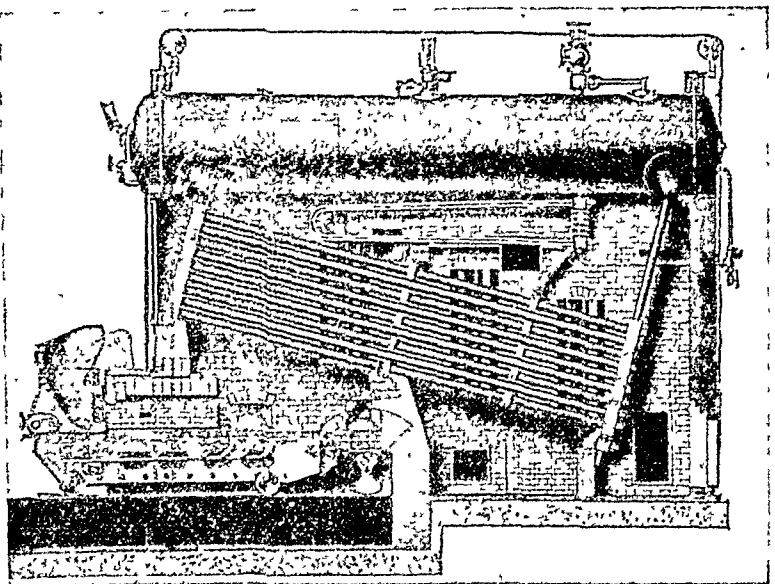
का खयाल रखना पड़ता है कि भट्ठी के अन्दर कहीं हवा का इतना तेज झोंका न पहुँच जाय कि वह अपने साथ अधजले कोयले के चूरे को लेकर चिमनी के रास्ते-बाहर उड़ा ले जाय, क्योंकि इस तरह काफी ईंधन व्यर्थ जायगा। साथ ही यह भी देखना है कि हवा इतनी कम तो नहीं पहुँच रही है कि कोयला पूर्ण रूप से नहीं जल पाता।

जलनलिकावाले ब्वॉयलरों मे भट्ठी में हवा के झोंके बाहर से प्रवेश कराये जाते हैं। भट्ठी के मुँह के पास बिजली का पंखा लगा रहता है, जो हवा के तेज झोंके भट्ठी के अन्दर फेंकता है। बड़े-बड़े जहाजों के ब्वॉयलरों की भट्ठियों में ताजी हवा इसी ढंग से पहुँचाई जाती है।

### भट्ठी में ईंधन झोंकने की समस्या

थोड़ी मात्रा में शक्ति देनेवाले इंजिनो के ब्वॉयलर में ईंधन झोंकने का काम हाथ से ही लिया जाना है, किन्तु बड़े इंजिनों के ब्वॉयलरों के लिए भट्ठी में कोयला यंत्र की मदद से झोंका जाता है। यंत्र से कोयला झोंकने में इस बात का पूरा भरोसा रहता है कि ईंधन बराबर एक-सी रफ्तार से झोंका जा रहा है, तथा ब्वॉयलर में एक-सी आँच पहुँच रही है। अतः ब्वॉयलर की भाप का दबाव भी
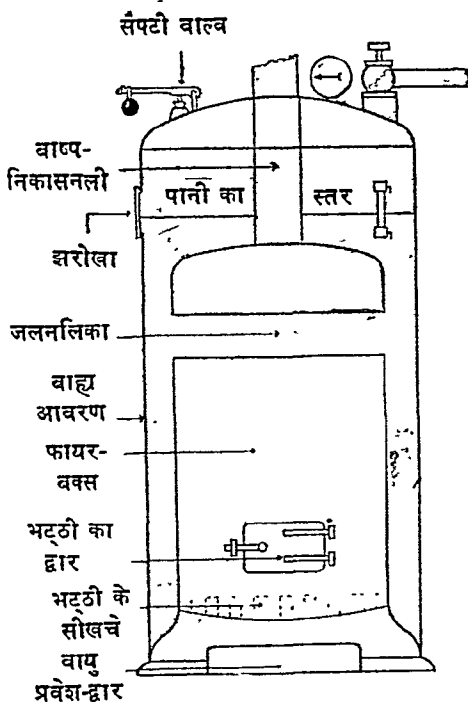
एक खड़ा ब्वॉयलर

ऐसे ब्वॉयलर, वहाँ अधिक उपयोगी होते है, जहाँ जगह की कमी रहती है, जैसे नौकाओं या स्टीमरों पर।

एक-सा बना रहता है। प्रायः इन विशालकाय ब्वॉयलरों में ५००० सेर से भी अधिक पानी प्रति घण्टे भाप में परिवर्तित होता रहता है। यंत्र द्वारा कोयला झोंकने के लिए कोयले को डली के रूप में तोड़ना पड़ता है। रॉलर पर घूमते हुए पट्टे पर ये कोयले की डलियाँ बखार में से गिरती हैं, और तब पट्टे पर ही ये भट्ठी के मुँह तक पहुँच-कर उसके अन्दर गिर जाती है।

झोंकने के लिए अक्सर कोयले का चूरा भी कर लेते हैं। चूरा एक लम्बी नली के रास्ते से भट्ठी के मुँह में गिरता है। इस नली के मुँह पर ही तेज हवा का एक जबरदस्त झोंका भट्ठी में फेंका जाता है। कोयले के बारीक कण इसी झोंके के साथ भट्ठी के अन्दर पहुँच जाते है। हवा के ये ही झोंके कोयले के चूरे के जलने में मदद भी देते हैं। कोयले का चूरा प्रयुक्त करने में सबसे बड़ी सहूलियत इस बात की होती है कि चूरे की मात्रा कमबेश करके भट्ठी की आँच को इच्छानुसार घटा-बढ़ा सकते हैं, और इस तरह ब्वॉयलर की वाष्प की क्रियाशीलता पर पूरा नियंत्रण रखा जा सकता है। किन्तु चूरा प्रयुक्त करने में अलग से एक मशीन का प्रयोग करना पड़ता है, जो कोयले को पीसकर उसकी बुकनी बना सके।

कोयले के अतिरिक्त अब ब्वॉयलरों की भट्ठी में जलाने के लिए क्रूड (अपरिष्कृत) तेल का भी प्रयोग होने लगा है। वजन के लिहाज से उष्णता प्रदान करने की शक्ति क्रूड तेल में कोयले की एक तिहाई होती है। किन्तु अपने सस्ते दाम और आसानी से पीपे मे रखे जाने योग्य होने के कारण जहाजों के इंजिन तथा अन्य शक्तिशाली इंजिनों में क्रूड तेल का प्रयोग आम तौर से होने लगा है। भट्ठी में तेल की धार पम्पों के जरिये आसानी से पहुँचाई जा सकती है, तथा इच्छानुसार तेल की धार को मोटी-पतली करके भट्ठी की आँच पर नियंत्रण रख सकते हैं। क्रूड तेल जलानेवाले ब्वॉयलरों में कालिख की झंझट भी नही रहती।

इन विशालकाय ब्वॉयलरों के आकार का अन्दाज दिलाने के लिए न्यूयार्क के बिजलीघर के इंजिन के ब्वॉय-लर का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। इसकी कुल ऊँचाई ९६ फीट है। इस ब्वॉयलर में कुल ३७८६ जल-नलिकाएँ लगी हुई है, जिनमें पानी गर्म होकर भाप बनता है। इससे ६ लाख सेर पानी प्रति घण्टे वाष्प मे परिवर्तित होता है, और प्रतिदिन डेढ हजार टन कोयले का चूरा इस ब्वॉयलर की भट्ठी में जलता है!
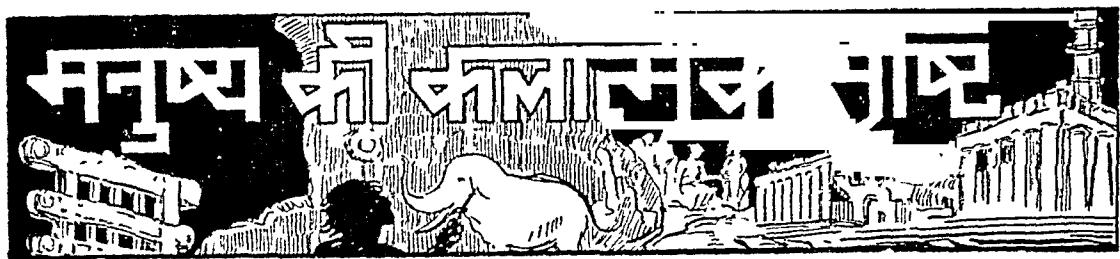
# कला का आरंभ

**मनुष्य की जिस नवीन सृष्टि का पिछले स्तंभ में हमने उल्लेख किया है, उसका उद्देश्य केवल उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही रहा है। किन्तु इसके अतिरिक्त हम मनुष्य को एक और अद्भुत सृष्टि के निर्माता के रूप में भी देखते हैं, जो उसकी आध्यात्मिक पिपासा का परिणाम है, जिसकी तृप्ति के लिए वह अपने इतिहास के प्रभातकाल ही से बेचैन रहा है। उसकी यह पिपासा उसके बनाए हुए चित्रों, मूर्तियों, कारीगरी की वस्तुओं, गीतों तथा नृत्य के हावभावों के रूप में प्रति युग में प्रकाशित होती रही है। इस स्तंभ में मनुष्य की आत्मकहानी के इसी विशेष अध्याय की गाथा सुनाई जा रही है।**

जब हम अपने चारों ओर देखते हैं तो हमे निःसंशय रूप से दो प्रकार की वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं—एक तो ईश्वर की बनाई हुई, अर्थात् प्राकृतिक; दूसरी मनुष्य की बनाई हुई या कृत्रिम। सूर्य, चंद्र आदि आकाश के कौतुक, ऊँचा सिर उठाये हुए विशाल पर्वतशिखर; तरंगाकुल महासागर; ओर-छोर-हीन मरुप्रदेश; जाति-जाति के पशु-पक्षी और विभिन्न रंग-रूप के मनुष्य; वनस्पतियों और फूलों का सौंदर्य; इठलाती और बल खाती हुई नदियों का बाँकापन—संक्षेप में, जो भी वस्तुएँ प्रकृति में हमें दिखाई पड़ती हैं, वे सब उस ईश्वर की महिमा का गुण-गान और उसकी कारीगरी का प्रदर्शन करती हैं। इसके विपरीत, घर्राटे के शब्द के साथ मानो आकाश की छाती को चीरते हुए वायुयान, पहाड़ों को छेदकर उन्हें लाँघती हुई रेलगाड़ियाँ, महासागर की अनन्त जल-राशि पर तैरते हुए जहाज, रेगिस्तानों को भी हरा-भरा बना देनेवाली नहरें और बाँध, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से युक्त संसार के बड़े-बड़े नगर, तथा इसी प्रकार की अन्य हजारों वस्तुएँ, जिनकी कि बदौलत मानव-जीवन को आज का रूप मिला है, मनुष्य की युग-युग व्यापी सर्जन-शक्ति के कौशल का परिचय दे रही हैं। वास्तव में, आज के हमारे नित्य

**मनुष्य द्वारा भवन-निर्माण के आरंभिक प्रयास की एक झाँकी**

इस चित्र में इंगलैंड में पाये गये वहाँ के आदिनिवासियों द्वारा निर्मित शिलागृहों के कुछ अवशेष दिग्दर्शित हैं। टनों वजन के ये शिलाखंड किस प्रकार इन आदिम भवन-निर्माताओं द्वारा खड़े और आड़े रक्खे गये थे तथा किस काम में वे आते थे, इसका रहस्य अब भी अज्ञात है।

प्रयोग की सामान्य-सी प्रतीत होनेवाली वस्तुओं की खोज या आविष्कार करने तथा उन्हे आज के इस पूर्ण रूप तक पहुँचाने मे भी मनुष्य को सदियों तक कठोर तपस्या करनी पड़ी है। उदाहरण के लिए, बर्त्तन बनाने या कातने-बुनने की कला का उद्भव इतिहास के प्रभातकाल से भी बहुत पहले के युग मे हो चुका था, और सच पूछिए तो हम में से कोई भी नही जानता कि कब और कहाँ हमारे पूर्वजों ने कुम्हार के चाक, या हाथ के करघे के प्राथमिक मोटे रूप का आविष्कार किया। इसी प्रकार खनिज कच्ची धातुओं से शुद्ध धातु निकालने, लकड़ी से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बनाने, और ऐसे अन्य सभी छोटे-बड़े कारीगरी के कामों की आरंभिक प्रक्रियाओं के श्रीगणेश की कहानी, जिसके कि बारे में आजकल के इस सभ्यता के युग मे क्षण भर के लिए भी कोई सोचने-विचारने का कष्ट न करेगा, प्रागैतिहासिक युग की भूली हुई शताब्दियों के धुँधले कुहरे मे विलुप्त हो गई है।

ऊपर जो-जो वस्तुएँ हमने गिनाई है, उनसे यह ज्ञात होता है कि मानव द्वारा बनाई गई अधिकाश वस्तुएँ उसके उपयोग की ही वस्तुएँ है, जो प्रकृतिजन्य आपदाओं से रक्षा कर पृथ्वी पर उसके जीवन को अधिक सुगम बनाती है। किन्तु इन उपयोग की वस्तुओं के अतिरिक्त मनुष्य द्वारा बनाई गई कुछ और भी वस्तुएँ है—जैसे सजावट की चीजे, चित्र और मूर्तियाँ आदि, जिनका कि उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से कोई सम्बन्ध नही, फिर भी जो एक प्रकार से उसके आध्यात्मिक कल्याण के लिए उतनी ही अनिवार्य रूप से आवश्यक है, जितना कि उसके आहार के लिए भोजन, पहनने के लिए वस्त्र और रहने के लिए मकान। इन्हीं वस्तुओं—अर्थात् चित्रकला, शिल्प, स्थापत्य, आदि के क्षेत्रों में मनुष्य की रचनात्मक कृतियों—का विवेचन इस और आगे के प्रकरणों में हम करेगे।

## कला की किरणें सर्वप्रथम कब और कहाँ प्रस्फुटित हुईं

जिस प्रकार कि यह ठीक-ठीक कहना असम्भव है कि पहले-पहल मनुष्य ने कब कुम्हार के चाक, या हाथ के करघे का आविष्कार किया, उसी तरह किसी दूर के युग मे इसकी भी ठीक-ठीक शताब्दी या तिथि निश्चित करना असम्भवप्राय है कि कब मनुष्य की ललित कलाओं का यथार्थ में आरम्भ हुआ। कोई भी निश्चित रूप से इस बात को नही बता सकता कि वह कौन-सी भावना थी, जिसने हमारे आदिम पुरखों को उन दूर के युगों में अपने गिने-चुने घरेलू औजारों पर खुदाई आदि करके उन्हें सजाने का प्रयत्न करने के लिए प्रेरित किया; न यही कोई बता सकता है कि पृथ्वी के किस विशेष भाग में मनुष्य जाति की कलाओं की सर्वप्रथम किरणें फूटीं। शनैः-शनैः एक के बाद एक आनेवाली शताब्दियों और महाकल्पों के प्रवाह मे मनुष्य की कलात्मक और रचनात्मक कृतियों के सबसे पुराने स्मारक सदा के लिए लुप्त हो गए

**बीस हजार वर्ष पूर्व का चित्रकार**

स्पेन की अल्टामीरा नामक गुफाओं में सोलह से बीस हजार वर्ष पूर्व के कतिपय भित्ति-चित्र प्राप्त हुए है। भांति-भांति के समसामयिक पशुओं के इन रेखाचित्रों को उन अंधेरी गुफाओं में कदाचित् इसी प्रकार किन्ही आदिम कलाकारों ने दीपक के प्रकाश के सहारे रेखांकित किया होगा।

और जो कुछ थोड़ा-बहुत बच पाया है, उसका भी बहुत-कुछ पता लगाना अभी बाकी है। यही कारण है कि हमारे लिए निश्चयात्मक रूप से यह निर्णय करना असम्भव-सा ही है कि मनुष्य की आदिम कलात्मक प्रक्रियाओं का ठीक रूप क्या था, या किस युग में इनका सर्वप्रथम आरंभ हुआ था; यद्यपि प्रागैतिहासिक युग की कला के जो टूटे-फूटे स्मारक हमें प्राप्त हुए हैं, उनसे स्पष्टतया हम थोड़ा-बहुत निष्कर्ष अवश्य निकाल सकते हैं और उनके आधार पर कला के आरंभिक स्वरूप की बहुत-कुछ कल्पना भी कर सकते हैं।

## सौन्दर्य-दर्शन की स्वाभाविक हूक

कला के लिए मनुष्य की स्वाभाविक चिर पिपासा के बारे में धुरंधर विचारकों और दार्शनिकों द्वारा सदियों से बहुत-कुछ कहा जाता रहा है। इस विषय की विवादग्रस्त बातों पर, चाहे वे कितनी ही उपयोगी या मनोरंजक क्यों न हों, यहाँ इस समय कुछ कहना निरर्थक होगा। इस समय तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि जब से मनुष्य का इस पृथ्वी पर आविर्भाव हुआ, तब से ही उसकी आत्मा में मजबूती से जड़ जमाये हुए सौन्दर्य-दर्शन की एक तीव्र भावना सदैव विद्यमान रही है, जिसे वह स्वनिर्मित ध्वनि, आकार और रंग के माध्यम द्वारा अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहा है। यह सौन्दर्य-तत्त्व क्या है, इसकी कोई भी ठीक-ठीक शब्दों में परिभाषा नहीं दे सकता, यद्यपि हममें से अधिकांश किसी भी सुन्दर वस्तु को देखने पर अपनी आन्तरिक स्वाभाविक प्रेरणा ही से हृदय में उसका बोध या अनुभूति कर लेते हैं। जिस प्रकार कि हम अपनी बाह्य इंद्रियों द्वारा देखते, सुनते, सूँघते, स्पर्श का अनुभव करते, और स्वाद ले सकते हैं, उसी तरह अपनी आत्मा की स्वाभाविक बोध-वृत्ति द्वारा हम किसी भी सुरीले स्वर, सलोनी आकृति या रंगों के सुरम्य मेल की भी अनुभूति कर सकते हैं।

आदिम मनुष्य के मन में भी सौंदर्य की भावना के ये झिलमिलाते अस्थिर स्वप्न अवश्य ही उठते रहे होंगे, और अपनी अपरिपक्व अवस्था के अध, अपूर्ण तथा त्रुटि-पूर्ण निराले ढंग से सौंदर्य की इन अस्पष्ट अस्थिर मानसिक मूर्तियों को स्पष्ट और स्थिर रूप देने की आकुल प्रेरणा भी उसमें अवश्य ही जागृत हुई होगी—ठीक उसी तरह जिस तरह कि आज हम एक अस्थिर किन्तु मनोरंजक दृश्य विशेष का चित्र फोटो के कैमरे द्वारा उतार लेने का प्रयत्न करते हैं और उससे अपनी एक आंतरिक प्यास बुझाते हैं।

**अल्टामीरा की गुफाओं में आदिमानव द्वारा चित्रित पशुओं की आकृतियों के दो कलापूर्ण उदाहरण**

सोलह से बीस हजार वर्ष तक पुराने इन रेखाचित्रों के सौष्ठव और सौन्दर्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि ये जब बने थे तब तक मनुष्य की तूलिका का पर्याप्त विकास हो चुका था। अतः कला का आरंभ तो कदाचित् इससे भी हजारों या लाखों वर्ष पूर्व हुआ होगा।

सौंदर्य की एक अस्पष्ट-सी चाह की तृप्ति तथा अपने आपको अभिव्यक्त करने की आकांक्षा की पूर्ति के लिए मनुष्य के आदिम संघर्ष और आज के उसके कला के उच्च जीवनादर्श के बीच विगत युगों और महाकल्पों की एक लम्बी-चौड़ी खाई है, जिसको सहस्त्रों प्रकार के उसके युग-युगव्यापी प्रयोग और कठोर तपस्या सेतु की तरह जोड़ रहे हैं।

आरम्भ में जो एक अस्पष्ट आन्तरिक पिपासा-मात्र थी, वही क्रमशः ध्वनि, आकार और वर्ण के लय, संतुलन और सामंजस्य के माध्यम द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने की एक अतृप्त आकांक्षा या कभी न बुझनेवाली पिपासा के रूप में परिणत हो गई।

**भारत के शिलापृष्ठों पर पाये गये आदिम युग की कला की याद दिलानेवाले रेखाचित्रों का एक नमूना**

ऐसे भित्तिचित्र मध्यप्रदेश के कई स्थानों पर मिले हैं। इनकी शृंखला बुंदेलखंड, मिर्जापुर, रायगढ़, छोटा नागपुर होते हुए दक्खिन मे कर्नूल तक फैली हुई है। इनकी विशेषता इनमे मानवाकृतियों की भरमार है। अनेक पशुओं की आकृतियाँ भी उनमे सम्मिलित हैं। यद्यपि कालक्रम के हिसाब से ये चित्र उतने पुरातन नहीं कहे जा सकते, जितने कि अल्टामीरा आदि के गुहाचित्र हैं तथापि उनसे हमें उस व्यापक कला-परंपरा का तो आभास मिल ही जाता है, जो मानव के उदयकाल से लेकर अब तक पाषाण युग की स्थिति मे रहनेवाली मनुष्य-जातियों में जीवित है।

## चित्रकला की ओर पहला कदम—छायाचित्र

मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति का सबसे आदिम रूप वस्तु के वाह्य रूप के आकार का प्रदर्शन है। प्रकृतिजन्य आपदाओं से ...ने के लिए उसने अपने रहने का मकान वनाना

नि.संदेह इस वात को समझने में उसे सैकड़ों वर्ष लग गये होंगे कि तालावो या पोखरो के शांत स्थिर जल पर तथा प्राकृतिक चट्टानों आदि की चिकनी सतहो पर दिखाई पड़नेवाले स्वयं उसके और दूसरे के प्रतिविंव न तो वानरों-जैसे उसके हावभावो की हँसी उड़ाते हुए भूत-प्रेत ही हैं, न स्वयं उसी की मानसिक भ्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न छलनाएँ ही। उसको यह वात सुझाई पड़ने में भी कोई कम समय नही लगा होगा कि ये अस्थिर प्रतिविंवित चित्र जल के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु पर उनकी छाया की आकृति आस-पास रेखा खींचकर चिरस्थायी वनाये जा सकते। उसके अपरिपक्व मस्तिष्क में यह वात धीरे-धीरे ही ...ी होगी कि स्वयं अपने तथा अन्य प्रिय व्यक्तियों के ...त्र वनाने का सबसे सरल ढंग यही है कि पहले सूर्य की

रोशनी से पड़नेवाली अपनी या किसी की छाया की वाहरी रूपरेखा अंकित कर ली जाय, और फिर उन रेखाओं से घिरे हुए भाग को किसी ठोस रूप देनेवाले पदार्थ से भर दिया जाय, जिससे कि एक छायाचित्र-सा वन जाय और असली वस्तु का रूप-रंग स्थाई रूप से अंकित हो जाय।

यही हमारे विचार में चित्रकला के प्रारम्भ का सर्वप्रथम रूप रहा होगा और इसकी तुलना में 'वारहसिंगा-युग' के अथवा अल्टामीरा की गुफाओं या और स्थानों में पाये गये प्राचीन मनुष्यों के चित्रकला के नमूने (जिसका कि वर्णन हम अगले प्रकरण मे करेंगे) निस्संदेह वहुत अधिक वाद के युग के हैं।

# प्रस्तर-युग में कला

**पिछले प्रकरण में हमने देखा कि किस प्रकार पहलेपहल मनुष्य के हृदय में कला की भूख जगी होगी और उसकी प्राथमिक अभिव्यक्ति का रूप कैसा रहा होगा। इस लेख में हमें मनुष्य की उन आरम्भिक कला-कृतियों का दिग्दर्शन करना है, जिनके भग्नावशेष पृथ्वी पर मानवीय कला के सबसे प्राचीन स्मारक हैं।**

किसी वस्तु या व्यक्ति का चित्र उसकी छाया की सहायता से वनाने के संवंध में तरह-तरह की गाथाएँ आम तौर पर सभी देशों की आदिकाल की दन्त-कथाओं मे प्रचलित है। तिव्वत के वौद्धों में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि एक वार रोरुक के सम्राट् ने उस युग के प्रसिद्ध कलाकारों से भगवान् वुद्ध की दिव्य प्रतिछवि का चित्रण करने को कहा। एक कलाकार के पश्चात् दूसरे कलाकार ने भगवान् वुद्ध के करुणामय मनोहर मुख-मण्डल को चित्र में अंकित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उनमें से कोई भी उनकी सच्ची आकृति उतारने में सफल न हो सका। निराश होकर अपने सरक्षक सम्राट् रोरुक के साथ कलाकार स्वयं तथागत (वुद्ध) की शरण में गये और इसका कोई उपाय वतलाने की उनसे प्रार्थना की। तथागत ने उन घवड़ाये हुए कलाकारो को एक दीपक लाने को कहा और यह आदेश दिया कि दीपक सामने रखकर दीवाल पर पड़नेवाली उनकी छाया की ठीक-ठीक रूपरेखा उतार ली जाय, इससे उनके मुख और शरीर की रूप-रेखा ठीक उतर आएगी।

**गुफा की दीवार पर चित्र वनाते हुए क्रोमैगनन मानव**

पृष्ठ ३२० के चित्र की तरह यह भी कल्पना के आधार पर वनाया गया चित्र है। इसी तरह दीपक या मशाल जलाकर अँधेरी गुफाओं में ये लोग अपनी भोंडी तूलिका और विचित्र रंगों द्वारा चित्र वनाते रहे होंगे। इस चित्र के द्वारा आप इनके कद, आकृति आदि का भी वुद्ध अनुमान कर सकते हैं।

## कला के विकास पर अंधविश्वास का प्रभाव

परन्तु मनुष्य की आकृति के चित्रण के पूर्ण विकास के मार्ग में आदिम मनुष्य का जादू-टोना तथा भूत-प्रेत की विद्याओं में विश्वास होना एक वड़ी वाधा रही है। आज भी पिछड़ी जातियों के लोग अपना प्रतिरूप उतरवाने से घवड़ाते हैं—इस डर से कि कहीं उनके चित्र की सहायता से उन पर कोई किसी प्रकार का वशीकरण या मारण प्रयोग

**भारत के शिलापृष्ठों पर पाये गये आदिम युग की कला की याद दिलानेवाले रेखाचित्रों का एक नमूना**

ऐसे भित्तिचित्र मध्यप्रदेश के कई स्थानों पर मिले हैं। इनकी शृंखला बुंदेलखंड, मिर्जापुर, रायगढ़, छोटा नागपुर होते हुए दक्खिन में कर्नूल तक फैली हुई है। इनकी विशेषता इनमें मानवाकृतियों की भरमार है। अनेक पशुओं की आकृतियाँ भी उनमें सम्मिलित हैं। यद्यपि कालक्रम के हिसाब से ये चित्र उतने पुरातन नहीं कहे जा सकते, जितने कि अल्टामीरा आदि के गुहाचित्र हैं तथापि उनसे हमें उस व्यापक कला-परंपरा का तो आभास मिल ही जाता है, जो मानव के उदयकाल से लेकर अब तक पाषाण युग की स्थिति में रहनेवाली मनुष्य-जातियों में जीवित है।

## चित्रकला की ओर पहला कदम—छायाचित्र

मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति का सबसे आदिम रूप वस्तु के बाह्य रूप के आकार का प्रदर्शन है। प्रकृतिजन्य आपदाओं से बचने के लिए उसने अपने रहने का मकान बनाना सीखा, या अपने उपयोग के लिए कपड़ा बुनने की कला अथवा अक्षरों का आविष्कार किया, या इसी तरह की नित्य उपयोग की हजारों दूसरी चीजों को बनाने की योग्यता प्राप्त की, इसके बहुत पहले ही वह रेखाओं से चित्र बनाने लग गया होगा।

इस बात की कल्पना करना कठिन है कि सबसे पहले उसने किस वस्तु का चित्र बनाने का प्रयत्न किया होगा, लेकिन इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि वह कोई ऐसी ही वस्तु होगी, जिससे उसको बहुत प्रेम रहा होगा। निःसंदेह इस बात को समझने में उसे सैकड़ों वर्ष लग गये होंगे कि तालाबों या पोखरों के शांत स्थिर जल पर तथा प्राकृतिक चट्टानों आदि की चिकनी सतहों पर दिखाई पड़नेवाले स्वयं उसके और दूसरे के प्रतिबिंब न तो बानरों-जैसे उसके हावभावों की हँसी उड़ाते हुए भूत-प्रेत ही हैं, न स्वयं उसी की मानसिक भ्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न छलनाएँ ही। उसको यह बात सुझाई पड़ने में भी कोई कम समय नहीं लगा होगा कि ये अस्थिर प्रतिबिंबित चित्र जल के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु पर उनकी छाया की आकृति के आस-पास रेखा खींचकर चिरस्थायी बनाये जा सकते हैं। उसके अपरिपक्व मस्तिष्क में यह बात धीरे-धीरे ही जमी होगी कि स्वयं अपने तथा अन्य प्रिय व्यक्तियों के चित्र बनाने का सबसे सरल ढंग यही है कि पहले सूर्य की

रोशनी से पड़नेवाली अपनी या किसी की छाया की बाहरी रूपरेखा अंकित कर ली जाय, और फिर उन रेखाओं मे घिरे हुए भाग को किसी ठोस रूप देनेवाले पदार्थ से भर दिया जाय, जिससे कि एक छायाचित्र-सा बन जाय और असली वस्तु का रूप-रंग स्थाई रूप से अंकित हो जाय।

यही हमारे विचार में चित्रकला के प्रारम्भ का सर्वप्रथम रूप रहा होगा और इसकी तुलना में 'बारहसिंगा-युग' के अथवा अल्टामीरा की गुफाओं या और स्थानों में पाये गये प्राचीन मनुष्यों के चित्रकला के नमूने (जिसका कि वर्णन हम अगले प्रकरण मे करेंगे) निस्संदेह बहुत अधिक बाद के युग के हैं।

# प्रस्तर-युग में कला

**पिछले प्रकरण में हमने देखा कि किस प्रकार पहलेपहल मनुष्य के हृदय में कला की भूख जगी होगी और उसकी प्राथमिक अभिव्यक्ति का रूप कैसा रहा होगा। इस लेख में हमें मनुष्य की उन आरम्भिक कला-कृतियों का दिग्दर्शन करना है, जिनके भग्नावशेष पृथ्वी पर मानवीय कला के सबसे प्राचीन स्मारक हैं।**

किसी वस्तु या व्यक्ति का चित्र उसकी छाया की सहायता से बनाने के संबंध में तरह-तरह की गाथाएँ आम तौर पर सभी देशों की आदिकाल की दन्त-कथाओं में प्रचलित हैं। तिब्बत के बौद्धो मे एक किंवदन्ती प्रचलित है कि एक बार रोरुक के सम्राट् ने उस युग के प्रसिद्ध कलाकारों से भगवान् बुद्ध की दिव्य प्रतिछवि का चित्रण करने को कहा। एक कलाकार के पश्चात् दूसरे कलाकार ने भगवान् बुद्ध के करुणामय मनोहर मुख-मण्डल को चित्र में अंकित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उनमे से कोई भी उनकी सच्ची आकृति उतारने मे सफल न हो सका। निराश होकर अपने संरक्षक सम्राट् रोरुक के साथ कलाकार स्वयं तथागत (बुद्ध) की शरण में गये और इसका कोई उपाय बतलाने की उनसे प्रार्थना की। तथागत ने उन घबड़ाये हुए कलाकारो को एक दीपक लाने को कहा और यह आदेश दिया कि दीपक सामने रखकर दीवाल पर पड़नेवाली उनकी छाया की ठीक ठीक रूपरेखा उतार ली जाय, इससे उनके मुख और शरीर की रूप-रेखा ठीक उतर आएगी।

**गुफा की दीवार पर चित्र बनाते हुए क्रोमैंगनन मानव**

पृष्ठ ३२० के चित्र की तरह यह भी कल्पना के आधार पर बनाया गया चित्र है। इसी तरह दीपक या मशाल जलाकर अँधेरी गुफाओं में ये लोग अपनी भोंडी तूलिका और विचित्र रंगों द्वारा चित्र बनाते रहे होंगे। इस चित्र के द्वारा आप इनके कद, आकृति आदि का भी कुछ अनुमान कर सकते हैं।

## कला के विकास पर अंधविश्वास का प्रभाव

परन्तु मनुष्य की आकृति के चित्रण के पूर्ण विकास के मार्ग में आदिम मनुष्य का जादू-टोना तथा भूत-प्रेत की विद्याओं में विश्वास होना एक बड़ी बाधा रही है। आज भी पिछड़ी जातियों के लोग अपना प्रतिरूप उतर-वाने से घबड़ाते है—इस डर से कि कहीं उनके चित्र की सहायता से उन पर कोई किसी प्रकार का वशीकरण या मारण प्रयोग
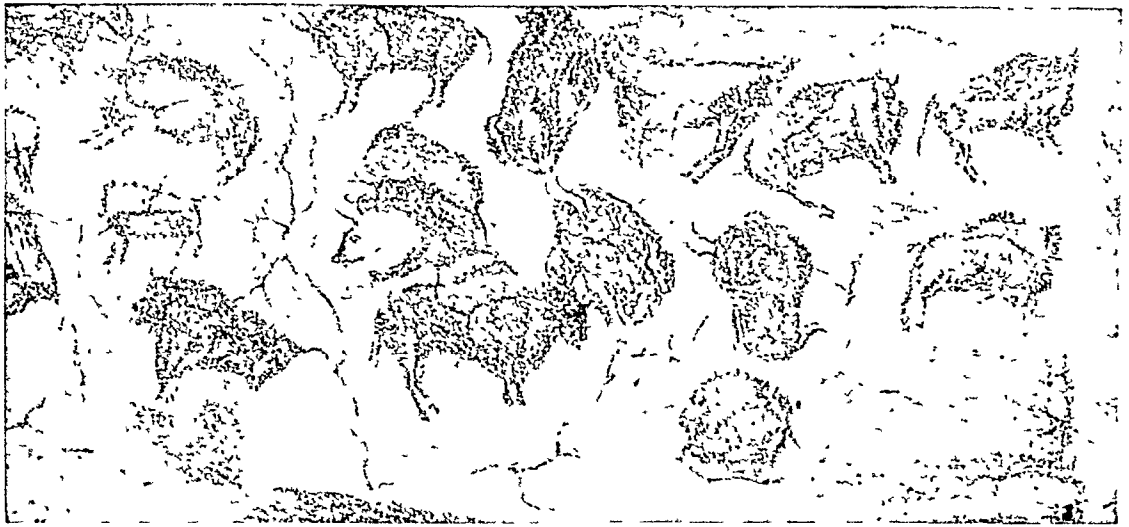
**सोलह से बीस हजार वर्ष पूर्व के कलाकारों की महान् कलाकृतियों का एक नमूना**

यह अल्टामीरा की गुफा की उस सुप्रसिद्ध दीवाल का चित्र है, जिस पर पाषाण-युग के मनुष्यो द्वारा चित्रित जानवरों के कुछ चित्र पाये गये है, जिनमें से दो रंगीन चित्र ३२६ पृष्ठ के सामने दिये जा रहे है।

न कर बैठे, या उनको हानि पहुँचाने के लिए इसके द्वारा कोई अशुभ जादू-टोना न कर दिया जाय ! अब भी अनेक देशो के लोगो का यह विश्वास है कि जो आपका शत्रु हो उसके चित्र या मूर्ति मे यदि आप उचित मंत्र-विधि के साथ सुई या पिन आदि गाड दे तो उस व्यक्ति की निश्चय ही कष्टपूर्वक शीघ्र मृत्यु हो जायगी। अपने चित्र या मूर्ति द्वारा हानि पहुँचाये जाने के इस अन्ध भय के कारण आदिम मनुष्य अपना या अपने साथियों का चित्र बनाने से हमेशा ठिठकता रहा और इसीलिए इस संबध मे उसका ध्यान सदैव उन पशुओ की ओर गया, जिन्हे वह मारना चाहता था।

## आदिम मानव की कला

प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य को, जिसका जीवन खानाबदोशों जैसा था और जिसे कृषि का तनिक भी ज्ञान न था, अपने दैनिक आहार के लिए शिकार पर ही निर्भर करना पड़ता था। अगर किसी दिन वह कोई हरिण, सुअर या भालू मारकर लाने मे असफल रहता तो उसे परिवार-सहित उस दिन भूखा ही रहना पडता था। इस कारण शिकार मे निश्चित रूप से सफल होने के लिए वह जिन जानवरो को मारना चाहता था, उनके चित्र बनाया करता, और उनमें सुई या काँटे गाड़कर इसके फलस्वरूप शिकार में उस जंतु को मारने की सुखद घटना के पूर्वस्वप्न देखते हुए प्रसन्न होने लगता था। इस प्रकार हम आदिम मानव का सारा जीवन ही उन वन्य पशुओ से अविच्छिन्न रूप से संबद्ध पाते है, जिनके पत्थर पर खुदे हुए या गुफाओ की दीवालों पर अंकित अनेक चित्र वह पीछे छोड़ गया है।

आज से कुछ सौ वर्ष पहले ही कला के इतिहास के आरम्भिक परिच्छेद निश्चित रूप से एवं बडी सरलतापूर्वक लिखे जा सकते थे, क्योकि उस समय ईसाई जगत् के गण्य-मान्य पडितगण धर्म-ग्रन्थो के आधार पर गणना करके यह घोषित करते थे कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण ईसा के पूर्व ४००४ वें वर्ष मे शुक्रवार ता० २८ अक्तूबर को किया था ! किसी मे भी यह साहस नहीं था कि वह नास्तिकता का अपराधी बने बिना इन धर्माधिकारियों के फरमानो का विरोध करें। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' (बाइबिल का एक भाग) की सूक्तियो ही का उन पर सर्वोपरि आधिपत्य और शासन था। परन्तु उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भिक वर्षो में मिस्र देश के सम्बन्ध मे जो अनुसन्धान हुए, उन्होंने सृष्टि के आरम्भ की तिथि को और भी पीछे ढकेल दिया और बाद को असीरियन, कैल्डियन तथा सुमेरियन सभ्यताओं का पता चलने पर इतिहासज्ञ इस बात का अनुभव करने लगे कि दुनिया और उसका इतिहास धर्म के आचार्य लोग जितना समझते है, उससे कही अधिक प्राचीन है। इधर भूगर्भ-विद्या की हाल की खोजो ने ससार के इतिहास

के और भी कई अप्रत्याशित और भयोत्पादक पृष्ठ खोल डाले हैं, साथ ही नवनिर्मित मानव-विज्ञान और मानुपमिनि नामक विद्याओं ने भी प्रागैतिहासिक मानव के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को बढ़ाने में कुछ कम मदद नहीं की है। अब हमें मोटे तौर पर इस बात का पता चल गया है कि आज से लगभग दस लाख वर्ष पूर्व पृथ्वी पर मनुष्य-जैसे कुछ प्राणी विचरण करते थे, जो अपने काम के औजार बनाने के उद्देश्य से समझबूझकर चकमक पत्थर या साधारण पत्थर को हथौड़े की चोटों से तोड़कर या खुरचकर गढ़ते थे। ये थे आरम्भिक प्रस्तर-युग के वे मनुष्य, जिनकी अस्थियाँ जावा में पायी गयी हैं। इनके बाद हाईडैलवर्ग नामक मनुष्य-प्राणी आए, जिनके युग में पृथ्वी पर ऐसे बाघ होते थे, जिनके कटारी के आकार के लम्बे दाँत थे, तथा ऐसे गैंडे पाए जाते थे, जिनका शरीर ऊन-जैसे बालों से ढका रहता था। इसके बाद आए ऐसे मनुष्य, जिनके द्वारा छेद किया गया बल्ले की शक्ल का एक हाथीदाँत का टुकड़ा मिला है। इस मानव को वैज्ञानिक लोग इयनथ्रापस या आदि-मानव भी कहते हैं। तब लगभग ५०००० वर्ष पूर्व, जब पृथ्वी का चतुर्थ हिम-युग अभी पराकाष्ठा को नहीं पहुँच पाया था, नीएनडरथल मनुष्य उत्पन्न हुए, जिन्हें अग्नि के प्रयोग का ज्ञान था। ये लोग कन्दराओं में निवास करते, चमड़े के वस्त्र धारण करते और हम लोगों की तरह अधिकतर दाहिने हाथ से काम लेते थे। कालान्तर में आज से लगभग ३५,००० वर्ष पहले इनका स्थान

**संसार की एक सबसे पुरानी कंदरा-चित्रशाला का द्वार**

यह फ्रांस की दोरदों की घाटी में फान-द-गावे की सुप्रसिद्ध गुफा का द्वार है। इसमें अल्टामीरा की गुफा के चित्रों जैसे ही अनेक प्राचीन रेखाचित्र मिले हैं।

[ फोटो—'ला मेजन फॉन द गाम' से ]

ऐसे लोगों ने आकर लिया, जो सर्वप्रथम वास्तविक मानव कहे जाते हैं। इन वास्तविक मनुष्यों की अस्थियाँ क्रोमैगनन और ग्रिमैल्डी की कन्दराओं में पायी गयी हैं, अतः इन जातियों के मनुष्य को "क्रोमैगनन" या "ग्रिमैल्डीय" कहते हैं। ये मनुष्य जंगली थे, परन्तु थे बड़े ऊँचे दर्जे के जंगली। वे कंठहार बनाने के लिए कौड़ियों या सीपियों में छेद कर लेते थे; सजावट के लिए अपने शरीर को रँगा करते थे; हड्डियों और पत्थरों पर चित्रकारी भी करते थे, तथा कन्दराओं की दीवालों और आकर्षक शिला-खण्डों पर पशुओं इत्यादि के टेढ़े-मेढ़े परन्तु कभी-कभी बहुत ही बढ़िया चित्र भी बनाते थे। वे तरह-तरह के औजार-हथियार बनाते थे और घोड़ों (उस युग के टट्टू, जिनके थोड़ी-सी दाढ़ी भी होती थी), बिसन-नामक जंगली बैलों तथा विशाल हाथी जैसे मैमथ-नामक जन्तुओं का खूब शिकार करते थे। किन्तु यह पता नहीं चलता कि उन्होंने कभी कोई मकान भी बनाए हों, या कोई बर्तन गढ़ा हो। खेती या बुनाई के सम्बन्ध में वे बिलकुल अनभिज्ञ थे। जानवरों के चमड़े और उनके रोओं के बने वस्त्र के प्रयोग को छोड़कर वे हर पहलू में पूरे जंगली थे।

### आदि मानव की कला में बारहसिंघा आदि पशु

उनका सबसे महत्वपूर्ण पशु एक प्रकार का बारहसिंघा था, जो उनके लिए वैसा ही उपयोगी था, जिस प्रकार कि आजकल के युग में हमारे लिए गाय है।

जब हम वैज्ञानिकों को भूमध्यसागर के पश्चिमी प्रदेशों के

सिलसिले में रेन्डीयर-नामक बारहसिंघे या मैमथ की बात करते सुनते हैं तो हम लोगों को स्वभावतः आश्चर्य होता है; क्योंकि आजकल उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के दक्षिण में कहीं भी रेन्डीयर नहीं पाया जाता और मैमथ का तो अब पृथ्वी से अस्तित्व ही उठ गया है। परन्तु भूगर्भ-विद्या के विद्वान् यह बतलाते हैं कि ५०००० वर्ष पहले, जिस समय योरप महान् हिमयुगों में से अन्तिम युग से शनैः-शनैः छुटकारा पा रहा था, भूमध्यसागर इतना छिछला था कि उसको पार करने के लिए छोटी-छोटी पुलों या अन्य साधनों का होना संभव था और अफ्रीका और एशिया से मनुष्य और जानवर योरप पैदल आते-जाते थे। इन दिनों योरप के दक्षिणी भाग में आज-कल जहाँ भूमध्यसागर है वहाँ तक बारहसिंघा पाया जाता था। यहाँ कुछ ऐसे लोगों द्वारा, जो हाल ही में कहीं से वहाँ आए थे, यह पशु पकड़कर पालतू और घरेलू बना लिया गया था। इन आदिम शिकारी लोगों के जीवन में बारहसिंघे का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान था। बारहसिंघा अपने इन स्वामियों के लिए कितना मूल्यवान और महत्वपूर्ण रहा होगा, इसका अनुभव तब हमें होता है, जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि कितना मन लगाकर वे गुफाओं की दीवालों पर या पाषाण-खण्डों पर इसका चित्र बनाते तथा कितने चाव के साथ उसके सींग की हड्डियों से निर्मित आभूषणों से अपना शृंगार करते थे! इस लेख के साथ के चित्रों से यह पता चलेगा कि आदिम मानव ने अपने विविध समकालीन पशुओं का कितनी बारीकी और गहराई से अध्ययन किया था, और कितनी सुन्दरता के साथ उसने आत्माभिव्यंजन के उस समय के अपने एकमात्र साधन चकमक पत्थर से बनाये भौंड़े चाकू से अपने सीधे-सादे दैनिक जीवन की सभी छोटी-छोटी व्यवहार की वस्तुओं अर्थात् अस्थियों, हाथी-दाँत अथवा मारे गए अन्य पशुओं के सींगों और दाँत पर खोद-खोदकर या खुरचकर उनके चित्र बनाए थे!

शताब्दियों के अवसान तथा बुद्धि की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ आदि मानव ने हाथ से फेंके जानेवाले अपने पाषाण के अस्त्रों का त्याग कर दिया तथा सींग के ऐसे छोटे-छोटे छुरे बनाना प्रारम्भ कर दिया, जिनके हत्थों पर बढ़िया कारीगरी रहती थी। ऐसे छुरे तथा बारीक नक्काशी के सींग और हड्डी के कुछ रहस्यपूर्ण छोटे डंडे कभी-कभी इन आदिम मानवों के कन्दरा-गृहों में पाए गए हैं। ये छड़ीनुमा डंडे, जो केवल शोभा की वस्तु थे, आजकल की छड़ियों से बिल्कुल भिन्न थे। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनसे औरों पर आक्रमण करने अथवा आत्म-रक्षा करने का काम लिया जाता होगा। पुरातत्ववेत्ताओं का अनुमान है कि वे या तो उस समय के जादूगरों की छड़ियाँ रही होंगी, या संभवतः 'राजदंड' के रूप में काम में लायी जाती होंगी।

## आदिम नक्काशी और मूर्तिकला

उपर्युक्त छुरे के हत्थों तथा 'राजदंडों' पर चित्रकारी करने के अलावा उस समय का कन्दरा-निवासी मनुष्य मैमथ-नामक हाथी के दाँतों के टुकड़ों तथा बारहसिंघे के अनेक शाखाओंवाले सींगों पर मनुष्य या पशु-पक्षियों के सुन्दर चित्र अथवा बढ़िया बेल-बूटों की नक्काशी भी करता था। उस समय सींग या हड्डी के टुकड़े की समूची सतह चित्रों से भर देना ही चित्रकला की पूर्णता समझी जाती थी। कभी-कभी एक चित्र दूसरे के ऊपर बना दिया जाता था, और प्रायः ऐसा भी होता था कि किसी बड़े चित्र की रूपरेखा के भीतर एक दूसरा छोटा चित्र या किसी जानवर का केवल सिर बना दिया जाता था। इस तरह उस युग के चित्रों में अधिकतर हमें यह देखने को मिलता है कि किसी बारहसिंघे के चित्र की रूपरेखा के अन्दर मछली, सर्प या घोड़े का सिर बना हुआ है। वास्तव में जब तक कोई स्वयं अपनी आँखों से इन प्रागैतिहासिक कृतियों को देख न ले, तब तक वह यह अनुमान नहीं कर सकता कि ये कन्दरावासी मनुष्य चित्रों की रूपरेखा खींचने में, मूर्ति-निर्माण में अथवा सामान्य रूप से प्रस्तर-खण्डों को केवल छीलने में कितने अधिक आगे बढ़े हुए थे! परन्तु वे पूर्ण रूप से विकसित मूर्तिकार नहीं थे। वे विकास की ऐसी अवस्था में थे, जिसके लिए यह कहना अधिक सही होगा कि वे केवल लकड़ी या पत्थर को छीलना-छालना जानते थे। यह बात हमें स्वाभाविक ही मालूम पड़ेगी, यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि धातुओं का प्रयोग इस समय तक बिल्कुल अज्ञात था, तथा पदार्थों को गढ़कर उन्हें कोई रूप देने का सारा कार्य चकमक पत्थर के तेज टुकड़ों द्वारा ही होता था। परन्तु सच्चे कलाकार के कुशल करों में आकर चकमक पत्थर के नुकीले टुकड़े भी चमत्कार पैदा कर सकते हैं। लगभग सौ वर्ष पहले ही अब तक इस पृथ्वी पर (जैसे न्यूजीलैण्ड या आस्ट्रेलिया में,) ऐसे स्थल पाये जाते थे, जहाँ के आदिनिवासी धातुओं का कोई ज्ञान न होने पर भी लकड़ी और पत्थर दोनों से गढ़कर ऐसे अद्भुत आभूषणों का निर्माण करते थे, जिनकी सुन्दरता और कारीगरी कहीं बढ़ी-चढ़ी होती थी।
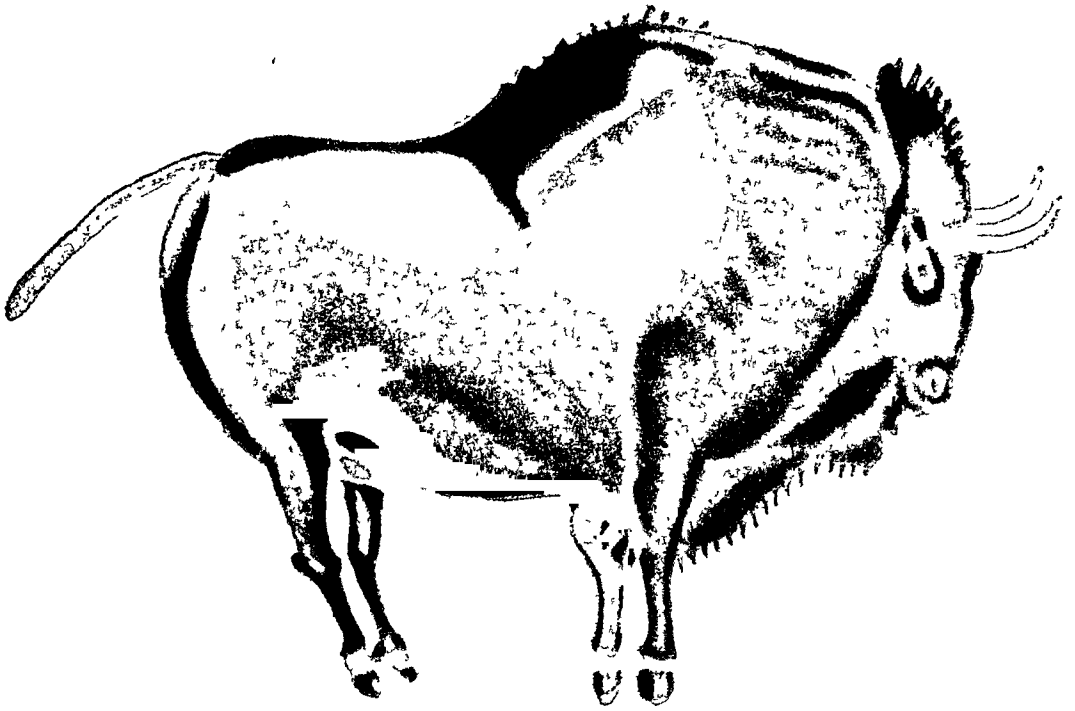
**प्रस्तर-युग की कला के दो उत्कृष्ट नमूने**

ये चित्र अल्टामीरा की एक दीवार पर अंकित है। इनकी सुडौल रचना को देखकर हजारों वर्ष पूर्व के उन आदिम कलाकारों की प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है। ( चित्र—ला केवर्न-द-अल्तामीरा से। )

कला का यह तथाकथित 'वारहसिंघा-युग' बहुत दिनों तक नहीं रहा। कालान्तर में उपस्थित होनेवाले जलवायु के रहस्यपूर्ण परिवर्तनों ने पृथ्वी के हिमप्रदेशों की रेखा अधिक उत्तर की ओर ऊपर हटा दी, और वारहसिंघा अपने आपको इस नए गर्म वातावरण के उपयुक्त न वना सकने के कारण उत्तर के अधिक ठंडे प्रदेशो की शरण लेने लगा। इधर आदिमानव को धूप की गर्मी लेने ही में आनन्द आने लगा। अतएव उसने वारहसिंघे के पीछे-पीछे उत्तर की ओर जाने की झंझट नहीं की, क्योंकि वारहसिंघा के चले जाने के वाद ही उसकी जगह इस प्रदेश मे एक जाति का लाल हिरण आ गया था, जिससे आदि मानव को भोजन तथा आच्छादन का ही साधन नहीं वल्कि मछली का शिकार करने के लिए हथियार आदि का सामान भी मिलने लगा। इस रक्त-वर्ण हिरण के शिकारी मनुष्य ने न केवल वारहसिंघे के शिकारियों की कलात्मक परम्परा को ही जारी रखा, वल्कि आत्माभिव्यंजन के दो नए साधन उसने प्राप्त कर लिए। अब वह चित्रकार तथा मूर्तिकार दोनों वन गया।
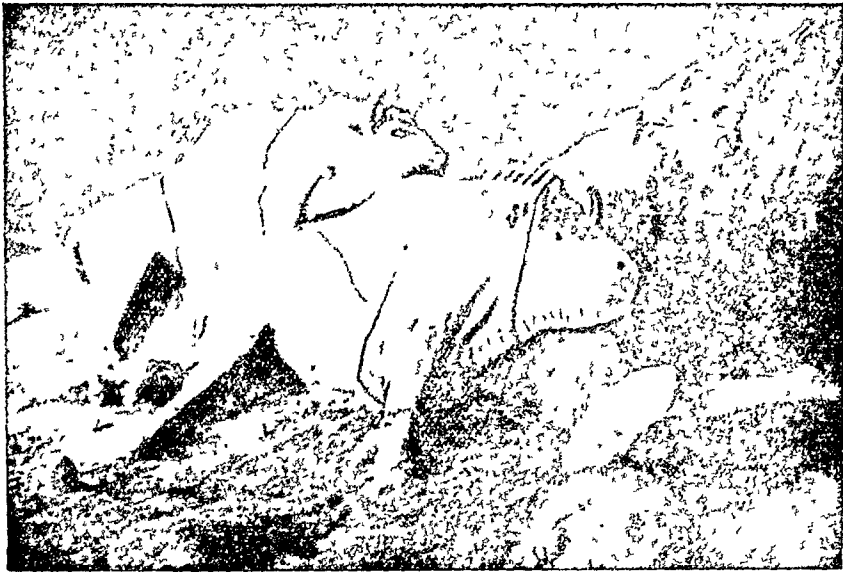
**पाषाण-युग की मूर्ति-निर्माणकला का एक अद्भुत नमूना**

यह तक-द-आडोवर्त नामक स्थान की गुफा में पायी गयी विसन या साड़ों की मिट्टी की बनायी हुई दो मूर्तियों का चित्र है। इन मूर्तियों की सुडौल रूपरेखा देखकर हजारों वर्ष पूर्व के अपने पूर्वजों की अद्भुत कला-प्रवीणता के सम्बन्ध में आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है!

## आदिमानव के महान् प्रागैतिहासिक कला-मंदिर—भित्ति-चित्रों से युक्त कंदराएँ

उन गुफाओं की खोज, जिनमें आदिम मनुष्य अपनी महान् कलात्मक विरासत को छोड़ गया है, कला के इतिहास की एक सबसे विचित्र घटना है। १८७९ में पुरातत्त्व-विद्या के प्रेमी स्पेन-निवासी एक रईस के मस्तिष्क मे अल्टामीरा की गुफा का निरीक्षण करने की सनक सवार हुई। यह गुफा उत्तरी स्पेन की कैन्टेब्रियन पर्वतमाला में स्थित है। स्पेन के इस श्रीमान् का नाम था मारक्विस डि० सन्तोला। पुरातत्त्वविद्या के सौभाग्य से यह अपनी छोटी लड़की को भी इस खोज की यात्रा में अपने साथ लेते गए थे। जब कि पिता पुराने शिलीभूत अस्थिपंजरों को ढूंढ निकालने में जुटे पड़े थे, लड़की ने स्वयं भी कुछ अनुसन्धान करने का निश्चय किया। वह हाथ में मोमवत्ती लेकर रेंगते-रेंगते गुफा के एक ऐसे हिस्से में जा पहुँची, जो इतना अधिक संकीर्ण था कि इस कारण कभी किसी ने उसकी जांच करने की परवाह नहीं की थी। लड़की ने अन्दर पहुँचकर ऊपर की ओर जो देखा तो ठीक अपने सामने ही एक वड़े वैल को उसने अपनी ओर घूरते पाया! इस दृश्य से वह इतनी डर गई कि उसने पिता का नाम लेते हुए जोर की चीख मारी। लड़की की आवाज सुनकर मारक्विस महोदय ने दौड़कर गुफा के भीतर प्रवेश किया और इस प्रकार अनायास ही अपने युग की सबसे वड़ी पुरातत्त्व-विषयक खोज करने मे वह सफल हुए!

प्रागैतिहासिक काल की इस प्रथम चित्रकारी का समाचार दूर-दूर तक फैल गया, किन्तु चित्रकला के क्षेत्र के धुरंधर पंडितों ने इस सम्बन्ध में गहरा सन्देह प्रकट किया कि इस प्रकार का भव्य चित्राङ्कन भूतकाल के आदिम कलाकारों की कृति था। कुछ ने तो आगे बढ़कर बेचारे मारक्विस पर यह आरोप भी लगाया कि उन्होंने एक

महान् पुरातत्त्ववेत्ता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए मैड्रिड ( स्पेन की राजधानी ) के किसी कलाकार को किराए पर रखकर गुफा की दीवालों पर स्वयं ही मूर्तियाँ चित्रित और अंकित कराई हैं। पर अन्त में जाकर सत्य ने असत्य पर विजय पाई। जिस माध्यम द्वारा ये चित्र अंकित किए गए थे, उसकी तथा चित्रों की कौशल-संबंधी विशेषताओं की परीक्षा से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि इस प्रकार का चित्राङ्कन आज के युग के किसी भी कलाकार द्वारा संभव न था।

## अल्टामीरा-गुफा की चित्रांकन-सामग्री

ये चित्र क्या थे, चट्टानो की सतह पर खींची हुई आकृतियों की रूपरेखाये मात्र थे। परन्तु स्वयं उस चट्टान की सतह पर एक विचित्र प्रकार का अपरिचित लाल रंग चढा हुआ था, जो परीक्षा करने पर एक प्रकार का लोहे का मोर्चा निकला। इस लाल पदार्थ के साथ गहरा नीला रंग भी मिला था। यह भी एक प्रकार का मोर्चा था, जो संभवत: 'मैङ्गनीज आक्साइड' था। इनके अलावा और भी अनेक प्रकार के पीले तथा अन्य रंगों के द्रव्य इस माध्यम में मिश्रित थे, जो जाँचने पर 'आयरन कार्बोनेट' नामक द्रव्य साबित हुए। इन रंगों में चर्बी मिला दी गई थी, ताकि चट्टान की सतह पर ये चिपट जायँ। इन रंगों के बीच-बीच उन आदिम कलाकारों ने ( जो खुरचने के लिए एक तरह का पत्थर का औजार काम में लाते थे और कालान्तर में ऐसे औजार उनके कार्यस्थलों पर पाए गए है ) जली हुई हड्डी से बनाए गए काले रंग का भी कुछ प्रयोग किया था। खोखली हड्डियों से रंग के बर्त्तन का काम लिया जाता था—मानो ये हड्डियाँ रंग से भरी शीशियाँ थीं—और छिछले पत्थर के टुकड़ों पर रंग मिलाया जाता था। कोई आधुनिक चित्रकार शायद ही अपने काम के लिए ऐसे साधनों का उपयोग करता!

सौभाग्य से उक्त सत्यान्वेषी मारविस के अन्वेषण के कुछ समय बाद ही दक्षिण-पश्चिमी फ्रान्स में दोरदों की घाटी में इसी तरह की एक और गुफा की दीवालों में की गई चित्रकारी का भी पता लगा। तब से कई प्रागैतिहासिक कन्दराओं की चित्रकारियों का दक्षिणी फ्रान्स, इटली और उत्तरी स्पेन के प्रदेशों मे पता लगा है।

इन कन्दरा-चित्रशालाओं की एक सामान्य विचित्रता यह है कि उनके चित्र सूर्य के प्रकाश से इतने अधिक दूर या आड़ में रक्खे गए हैं कि उधर से होकर निकलनेवाले किसी भी दर्शक की निगाह उन पर पड़ना असम्भव था। ये चित्रकारियाँ प्राय: कन्दरा के उस भाग में की गई हैं, जहाँ सबसे घना अँधियारा छाया रहता है और जहाँ तक सूर्य की किरणों की कभी भी पहुँच न हो पाई होगी। इससे हम यह अनुमान करते हैं कि इन चित्रकारों ने मशाल की रोशनी में काम किया होगा। सूर्य की किरणों के पूर्ण अभाव ने इन अत्यन्त मूल्यवान चित्रों की रक्षा करने में एक प्रकार के प्राकृतिक बचाव का काम दिया। अन्यथा बनने के कुछ ही वर्षो के अन्दर ही सूर्य की किरणों की रासायनिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उनका रंग सदा के लिए उड़ जाता।

## तत्कालीन कला का धर्म से संबंध

प्रागैतिहासिक कलाकार क्यों हमेशा ऐसे अन्धकारपूर्ण अगम्य स्थानों ही में चित्राङ्कन करता था, तथा क्यों उसके कलात्मक प्रयत्न पशुओ तक ही सीमित थे, इस सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाए गए है। यह कहा जाता है कि धर्म ही प्रत्येक प्रकार की कला का उद्गम रहा है, अतएव ये प्रागैतिहासिक चित्र संभवत: मनुष्य के प्रारम्भिक धार्मिक कृत्यों का ही एक भाग रहे हों। ये चित्रित गुफाएँ संभवत: उन लोगों के पूजा के प्राचीन स्थल रही हों, जहाँ जाति के बड़े-बूढ़े मंत्र-तंत्र की साधना करके चित्रों पर जादू करने के लिए जुटते थे, ताकि शिकारी अपने भोजन की प्राप्ति के प्रयत्न में आखेट में निश्चित रूप से सफल हो सके।

प्रागैतिहासिक काल की चित्राङ्कन-शैली का उत्थान जिस आकस्मिक वेग से हुआ था, उसका ह्रास भी उतनी ही तेजी के साथ हुआ। थोडे दिनों तक तेजी के साथ पर्याप्त रूप से बढने और अपनी मनोहर छटा दिखलाने के बाद वह धरातल से एकदम लुप्त हो गया। अब न यथार्थ पर्यवेक्षण की वह अद्भुत देन रही, न भावव्यंजक चित्राङ्कन की वह जादू-भरी अलौकिक-सी रहस्यपूर्ण शक्ति ही! और सुघड गढन की वह भावना भी जाती रही।

इन विशेषताओं का लोप होने पर कला को फिर से अपना रूप और स्थान प्राप्त करने में हजारों वर्ष लग गए। इन हजारों वर्षो की अवधि में ऐसी बहुत-सी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी, जिनका कला के विकास के लिए अत्यंत महत्व था। क्योंकि इन्हीं दिनों में मानव-समाज ने क्रमश: भिन्न-भिन्न धातुओं का उपयोग करना और सूखी मिट्टी के बर्तनों को आग में तपाकर टिकाऊ बर्तन बनाना सीखा। इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते पत्थर के युग का अवसान हो गया था और पृथ्वी पर तथाकथित 'ताम्रयुग' या 'काँसे के युग' के उदयकाल की किरणें फूटने लगीं थी।

# साहित्य—क्या और कैसे ?

मनुष्य की सभ्यता और उन्नति का चरम विकास और उसका सबसे अद्‌भुत् आविष्कार न तो रेल और हवाई जहाज ही हैं, न पेचीदा यन्त्रों से सजे हुए उसके वे कल-कारखाने ही, जिनका उल्लेख पिछले एक स्तंभ में हो चुका है। उसकी सबसे अद्‌भुत सृष्टि वास्तव में उसकी साहित्य-सृष्टि है। वह कौन-सा साधन है, जिसकी बदौलत आपको आज से हजारों वर्ष पूर्व या हजारों मील दूर की बातों या घटनाओं का हाल घर बैठे मालूम हो जाता है ? इसी समय आप इस पुस्तक द्वारा मानव-जाति के अब तक के संचित ज्ञान की जो झलक पा रहे हैं, वह मनुष्य के भाषा और अक्षरों के अद्‌भुत आविष्कार ही का फल है। ज्यों-ज्यों हम अपनी पुस्तकों के पन्ने उलटते हैं, वर्तमान और भूतकाल के विचारकों को मानों मूर्तिमान होकर अपने साथ एक अनोखे नवीन लोक की हमें सैर कराने के लिए तत्पर पाते हैं। इस स्तंभ में मनुष्य की इसी अद्‌भुत अनोखी सृष्टि का परिचय कराया गया है।

मैं अपने कमरे की खिड़की से एक दृश्य देख रहा हूँ; अमीरों के प्रासाद और अट्टालिकाएँ; गरीबों की झोपड़ियाँ; मोटर, तांगे, इक्के; विविध रंग की रेशमी साड़ियाँ पहने हुए महिलाएँ; चीथड़े लपेटे भीख माँगते हुए भिक्षुक, इत्यादि।

इस दृश्य को देखकर मेरे मन में अजीब भाव जाग्रत हो रहे हैं, एक प्रतिक्रिया हो रही है। मैं विचार कर रहा हूँ अमीरों-गरीबों के इस आर्थिक असाम्य पर। गरीबों की दयनीय दशा देख मेरी आँखों में आँसू छलछला आये हैं। अमीरों का ऐश्वर्य देख मैं क्रोध से दाँत पीस रहा हूँ। मैं इस जीवन के वैषम्य का दोषी भाग्य को न ठहराकर मानव की स्वार्थान्धता को ही ठहरा रहा हूँ।

## दो प्रकार की दृष्टि—बाह्य और आन्तरिक

मैं इस जगत् को दो प्रकार से देख रहा हूँ। एक प्रकार है, इंद्रियों की अनुभूति द्वारा; दूसरा, विचार द्वारा। ये दोनों ही प्रकार मुझे वस्तुस्थिति समझाने में सहायक हैं। अंतर केवल इतना ही है कि प्रथम प्रकार से मैं बाह्य पदार्थ-संसार को देख भर लेता हूँ, और दूसरे प्रकार से मैं बाह्य पदार्थ-संसार पर मस्तिष्क का प्रयोग करके अपने या समाज के हिताहित पर मनन करता हूँ।

मनन करने पर हमको यह समझने में देर न लगेगी कि दूसरा प्रकार ही अधिक विस्तृत तथा उपादेय है। इंद्रियों द्वारा तो मुझे केवल अपने कमरे या कमरे से बाहर के सीमित जगत् का ही ज्ञान उपलब्ध होता है, पर विचार द्वारा मैं विश्व भर का भ्रमण एवं दर्शन कर सकता हूँ।

## अंतर्दर्शन ही साहित्य का मूल स्रोत

दूसरे प्रकार द्वारा ही साहित्य का बीजारोपण हुआ है। मानव को जब अपने विचारों, रीति-रस्मों और अनुभवों को एक स्वरूप देने एवं उन्हें सुरक्षित रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तभी तो मानों ईश्वर की सृष्टि से भी अधिक सुन्दर एक सृष्टि-रचना की खोज में वह अग्रसर हुआ। यही खोज कला एवं साहित्य की जननी है।

जीवन के प्रभात में मानव कितना संबलहीन रहा होगा, इसका अनुभव हम अपनी सभ्यता के मध्याह्नकालीन प्रकाश में भी बहुत-कुछ कर सकते हैं। जब अकाल पड़ता है और मानव भूख से तड़पता फिरता है, तब हमारी आँखों के सामने एक दारुण दृश्य उपस्थित हो जाता है। इसी तरह आदिकाल में, जब पहले-पहल अपने साथी को कष्ट से चीखते देखकर मानव-हृदय में करुणा का सचार हुआ होगा, मनुष्य उससे सहानुभूति के दो शब्द कहने को कैसा तड़पा होगा ! उस समय भी उसने अपने जी में कितने अभाव का अनुभव किया होगा !

**आदिकाव्य का जन्म**

संसार के इतिहास में साहित्य के उद्‌गम पर प्रकाश डालनेवाला इससे अधिक ज्वलंत उदाहरण हमें शायद ही और कहीं मिलेगा, जैसा कि हमारे साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि की प्रथम काव्यधारा के प्रस्फुटन सम्बन्धी उपाख्यान में मिलता है। कहते है, व्याध के बाण से हत क्रौंच ( कुररी ) पक्षी की तड़पन से आदिकवि का हृदय करुणा से आर्द्र हो उठा था और उसी समय उनके मुख से आप ही आप एक छंदबद्ध कविता की धारा फूट पड़ी थी। ऋषि ने इसी छंद में बाद में अपने महाकाव्य 'रामायण' की पूरी रचना कर डाली।

मेरे पड़ोस मे एक गूँगा रहता है। वह बहरा भी है। जब उसे भूख लगती है, तब वह थाली लाकर रख देता है। प्यास लगती है तो गिलास हाथ मे ले लेता है। जब थाली नही होती, तो मुँह में झूठमूठ को कौर बनाकर रखता है। गिलास नही मिलता तो शोक करके बैठ जाता है। जीवन के उष काल में भाषा के अभाव मे मानव का व्यवहार भी इस गूँगे के व्यवहार से मिलता-जुलता ही रहा होगा, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। उसमे इंगितो का प्राधान्य रहा होगा। तब आवश्यकताओ के दबाव मे पारस्परिक विचार-विनिमय के समय प्रकृति के विविध दृश्यो एवं पदार्थो से काम निकाला गया होगा। उनके अभाव मे उनके चित्र बनाये गये होगे। यही प्रथम चित्र बदलते-बदलते सहस्रो वर्ष बाद आधुनिक अक्षरो के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित है। ये सब अक्षर, जो हम पढते-लिखते है, कल्पना की नीव पर अवस्थित है। कहारिन जैसे बर्त्तनो को जूने-मिट्टी से माँजकर स्वच्छ कर देती है, वैसे ही मानव ने भी कल्पना के जूने-मिट्टी से भोडे-बदसूरत चित्रो एव चिन्हो को माँज-माँजकर उन्हे यह आधुनिक रूप दिया है। प्रत्येक अक्षर एक अमिट स्मृति है, मानव के कृत्यो को अमर बनाने का साधन है—मानव को मानवता के सूत्र मे बाँधने का, जीवन की विभिन्नता में एकता सपादन करने का एक अमूल्य उपाय है। यह वह अमर ज्योति है, जिसके अभाव मे मानव मानवता की परिधि से बाहर ही रह जाता और सदैव अज्ञान के लोक में कालयापन करता रहता।

## अक्षरों की महिमा और साहित्य के प्रचार में मुद्रण-कला का योग

ज्ञान और विज्ञान की विविध स्रोतस्विनियों के वर्तमान स्वरूप का श्रेय अक्षर ही को है। अक्षर 'अक्षर' है। यदि ऐसा न होता तो वेद और उपनिषद्, कुरान और इंजील, रामायण और महाभारत, होमर की वीर-गाथाएँ, सुकरात और प्लैटो के अमर वचन, कबीर और सूर के अमर पद आज कभी के मिट गये होते और इन सबके अभाव में आधुनिक साहित्य का एवं हमारी सभ्यता का निश्चय ही दूसरा स्वरूप हुआ होता।

अक्षर को 'अक्षर' या अक्षुण्ण बनाये रखने का अधिक श्रेय मुद्रणालय को है। मुद्रणालय के आविष्कार के पहले पुस्तकों का उत्पादन-क्षेत्र बहुत ही संकुचित तथा सीमित था। कहीं वर्षों में एक पुस्तक लिखी जाती थी। पाठकों की संख्या भी सीमित ही थी। ज्यों-ज्यों ज्ञानेषणा बढ़ती गई, उत्पादन-क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। पर उत्पादन-कार्य में वास्तविक प्रेरणा उन बालकों द्वारा मिली, जो खेल के लिए उद्यान में छाल पर अक्षर काटकर छाप रहे थे। हमारा आधुनिक मुद्रणालय उसी खेल का परिमार्जित स्वरूप है।

साक्षरता एवं सभ्यता के प्रसार में मुद्रणालय का प्रमुख भाग है। यदि कहा जाय कि आज की सभ्यता की प्रगति अधिक-से-अधिक पुस्तकों एवं समाचारपत्रों के उत्पादन पर अवलंबित रही है, तो अत्युक्ति न होगी। सफल सामाजिक जीवन के लिए साक्षरता अनिवार्य है। जिस प्रकार भोजन और आच्छादन हमारे जीवन के लिए परमावश्यक है, उसी प्रकार साक्षर होना भी है। साक्षरता के अभाव में मानव कंदरा-निवासी पूर्वजों के ही युग में स्वयं में भटकता दृष्टिगोचर होता है। प्रातःकाल बिस्तरे पर से उठते ही सर्वप्रथम समाचारपत्र चाहिए। उसका अभाव आज उतना ही खलता है, जितना कि भोजन का। मानव का हित बहुत अंशों में साक्षरता पर निर्भर है। साक्षरता की उन्नति पर ही साहित्य की उन्नति अवलंबित है। ज्यों-ज्यों मानव को अपने हित का ज्ञान बढ़ता जायगा, उसी अनुपात से सुन्दर साहित्य की रचना होगी। साहित्य शब्द तभी सार्थक होगा। यह समझ लेना आवश्यक है कि साहित्य शब्द उन्हीं ग्रन्थों पर लागू होता है, जिनमें सार्वजनीन हित-संबंधी विचार सुरक्षित हैं। साहित्य में प्राकृतिक दृश्यों, नगरों, वनस्पतियों, महलों, झोपड़ियों, खेतों, वृक्षों, नदियों, पुलों इत्यादि का वर्णन केवल वर्णन के लिए नहीं होता, वरन् इस दृष्टि से कि इन सबकी मानव के लिए क्या उपादेयता है, इनसे मानव का क्या बनना-बिगड़ना है। जहाँ तक इनका संबंध मानव से है, वहीं तक इनका साहित्य में स्थान है। साहित्य के लिए मानव मुख्य है, इसीलिए साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है।

### साहित्य और संस्कृति

साहित्य के अंतर्गत मानव-जीवन से संबंध रखनेवाली समस्त बातें और प्रकृति की समस्त क्रिया-प्रक्रियाएँ आती हैं। जो कुछ मानव ने किया, कहा और विचारा है, उस सबका समावेश साहित्य में है। इसी कारण मानव-जीवन पर साहित्य का पूर्ण प्रभाव रहा है। साहित्य को ही हमारी सभ्यता के विकास का सर्वाधिक श्रेय प्राप्त है। जो संबंध विश्वास और

**हजारों वर्ष पूर्व के अक्षर**

यह पाँच-छः हजार वर्ष पूर्व के मिस्र के सम्राटों के समाधि-स्तूप से प्राप्त लेखों के एक अंश का चित्र है। इनमें से अधिकांश अक्षर चित्रलिपि में अर्थात् वस्तुओं के चित्र के रूप में होते थे! इन्हीं से आगे चलकर कई वर्णमालाओं का विकास हुआ।
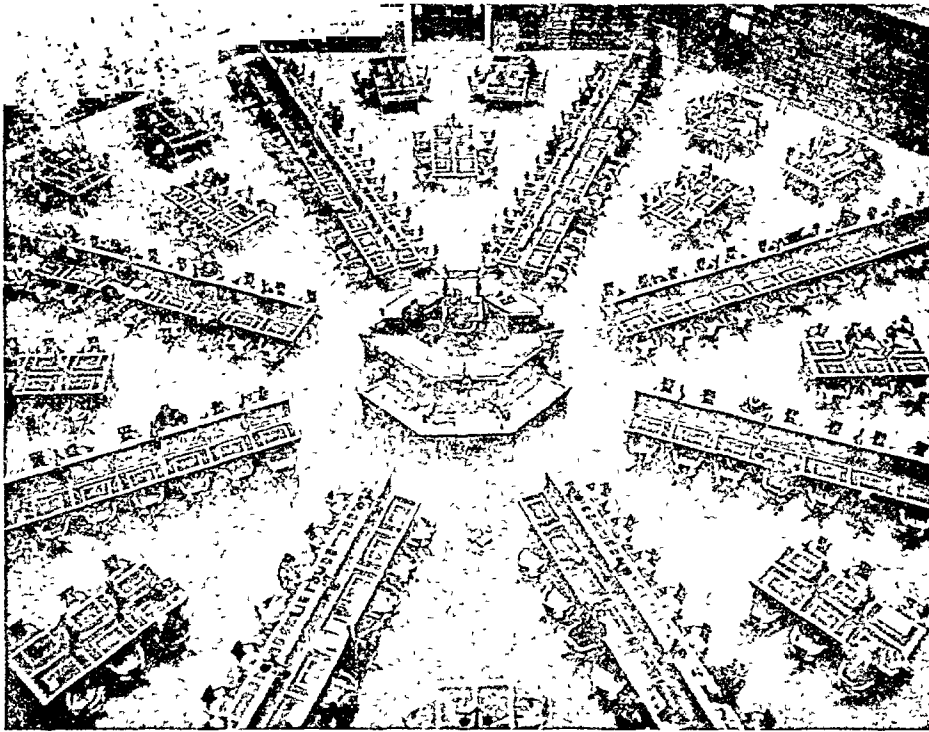
**आधुनिक युग के एक पुस्तकालय का वाचनालय-कक्ष**

कैसा प्रभावोत्पादक दृश्य है यह ! किसी विशाल चक्र के आरों की तरह केन्द्रीय नाभिक के चहुं ओर लंबी कतारों में मेज-कुर्सियाँ बिछी हैं और बड़े आराम के साथ शान्ति के वातावरण में सैकड़ों पाठक अपने-अपने चाव की पुस्तकें पुस्तकालय से लेकर पढ़ रहे हैं। बीच की केन्द्रीय मेज पर पुस्तकालय के वे अधिकारीगण बैठे हैं, जो पुस्तकों के आदान-प्रदान में योग देते हैं।

प्रेम के बीच है, वही साहित्य और सभ्यता का है। यह संबंध अति महत्त्वपूर्ण है। आप और हम वर्तमान में रहते हैं, पर निरे वर्तमान के लिए ही नहीं, भविष्य के लिए भी। वर्बर और सभ्य में यही तो अंतर है। वर्बर वर्तमान के लिए जीवित है; सभ्य वर्तमान के लिए और भविष्य के लिए भी। हमारी सभ्यता का आधुनिक स्वरूप इस कथन को प्रमाणित करता है। जीवन एक विकासधारा है। मानव का वर्तमान स्वरूप विकास का ही प्रतिफल है। हम एकदम वृद्ध नहीं हो जाते—शिशु, युवा, प्रौढ़ इन अवस्थाओं के पश्चात् कहीं वृद्ध होने की नौबत आती है। यही दशा सभ्यता की है। ज्यों-ज्यों विचारशीलता बढ़ती गई, स्वार्थांधता की अपेक्षा निःस्वार्थ भावना मान्य समझी जाने लगी। साथ-ही-साथ साहित्य का दृष्टिकोण भी बदलता गया और सभ्यता विकसित होती गई।

साहित्य की तुलना सरिता से की गई है। सरिता सदैव प्रवाहित रहती है। यही दशा साहित्य की भी है। दरअसल मानवता इसके सतत प्रवाहित रहने में ही है। जीवन परिवर्तनशील है। जिस जगत् में हम रह रहे हैं, उसका अर्थ ही है चलते रहना। साहित्य यदि सरिता न होकर एक स्थिर तलैया अथवा पुष्करिणी जैसा होता तो मनुष्य वर्बर ही बना रहता और जिसको आज हम संस्कृति अथवा सभ्यता कहते हैं, उसका कोई अस्तित्व ही न होता। साहित्य द्वारा ही हम ऋषियों की अमृत वाणी, जो वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणों, दर्शनों और पुराणों में सुरक्षित है, सुन सकते हैं—वेदव्यास, वाल्मीकि, गौतम बुद्ध, प्लैटो, सुकरात, कबीर, तुलसी, सूर, जायसी, मीराबाई, शेक्सपीयर, गेटे, दाँते, ह्यूगो, वाल्ट विट्मैन, कीट्स, शैली, इत्यादि महान् कवियों, दार्शनिकों, इतिहासकारों, औपन्यासिकों, आदि से वार्तालाप कर सुख पा सकते हैं। साहित्य का महत्व ही यह है कि वह महान्-से-महान् और छोटे-से-छोटे व्यक्तित्व को हमारे निकटतम कर देता है। साहित्य द्वारा हम वाह्य जगत् को भली प्रकार समझने में समर्थ होते हैं। हमारा निजी अथवा व्यक्तिगत दृष्टिकोण जितना भी मार्जित होगा, उतना ही हम मानवीय एवं प्राकृतिक जीवन को समझने में सफल हो सकेंगे।

संक्षेप में साहित्य मानव-जाति का एक वृहत् मस्तिष्क है। जिस भाँति व्यक्तिगत रूप से हम निज के अनुभव का

लेखा अपने मस्तिष्क में सुरक्षित रखते हैं और इस पूर्वानुभव द्वारा नवीन ज्ञान और अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं, उसी भाँति समष्टि रूप से मानव-जाति का अब तक का अर्जित ज्ञान एवं अनुभव साहित्य में सुरक्षित हैं। मानव अपनी वर्तमान परिस्थिति को समझने के लिए इसी पूर्वार्जित ज्ञान पर पूर्णतया निर्भर है। निरी इंद्रियों द्वारा अर्जित अनुभव मस्तिष्क के सहयोग के अभाव में निरर्थक हो जाते हैं।

# भाषा का विकास

**भाषा की भित्ति पर ही साहित्य का निर्माण हुआ है, अतएव साहित्य के विकास का अध्ययन करने के पहले भाषा के जन्म और विकास का पर्यवलोकन करना उपयोगी होगा।**

आदिम मनुष्य ने कैसे बोलना सीखा, इसकी विद्वानों ने खोज की है और अनेक मतों का प्रतिपादन किया है, पर निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा मत सही है और कौन-सा गलत। एक मत यह है कि भाषा को मनुष्य ईश्वर से मिली है। इस मत को मानने वाले केवल धर्म-विश्वासी मनुष्य हैं। सभी देशों और जातियों के धर्मानुयायी अपनी-अपनी धार्मिक पुस्तकों को ईश्वरीय बतलाते हैं। बौद्ध लोग पाली को ईश्वर की प्रथम भाषा मानते हैं, तो मुसलमान अरबी को, ईसाई हिब्रू को और वैदिक धर्मानुयायी वेद-भाषा संस्कृत को। यह मत कितना दोषपूर्ण है, कहने की आवश्यकता नहीं। धर्म के पचड़े में न पड़कर इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा का प्रथम और अन्तिम अधिकारी मनुष्य है। भाषा मनुष्य की अपनी ही कमाई हुई संपत्ति है, ईश्वर का इससे संबंध नहीं।

दूसरा मत है कि भाषा का जन्म संकेतों द्वारा हुआ और मनुष्य की आधुनिक विकासावस्था उन्हीं संकेतों के परिणाम-स्वरूप है। इस मत में कुछ सत्य अवश्य है, पर वह इतना ही है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध लोकेच्छा पर निर्भर होता है, केवल संकेतों द्वारा मनुष्य अपने मस्तिष्क का विकास नहीं कर सकता। अतः इस मत से केवल भाषा की आवश्यकता स्पष्ट है।

तीसरा मत यह है कि प्रथम शब्द अनुकरणात्मक थे। मनुष्य ने पशु-पक्षियों की बोलियों का अनुकरण कर अपने शब्द-भांडार को बढ़ाया है। बिल्ली की 'म्याऊँ', कुत्ते का 'भों-भों', घोड़े का 'हिनहिनाना', कौए की 'काँव-काँव' आदि सुनकर मनुष्य ने शब्द गढ़े। इस मत के माननेवाले भूल जाते हैं कि मनुष्य ने अपने मानव साथियों की बोलियों का भी तो अनुकरण किया होगा। इतना अवश्य है कि कुछ शब्द अवश्य अनुकरणमूलक होते हैं और उनके द्वारा अवश्य कुछ शब्दों की सृष्टि भी हो सकती है, पर यह कहना कि सारा-का-सारा शब्द-भांडार इन्हीं की कृपा का फल है, भ्रमात्मक है। इस मत को 'वाउ-वाउवाद' कहते हैं।

चौथा मत है कि प्रथम शब्द मनोभावों के द्योतक थे। विस्मय, भय, घृणा आदि के मनोभावों को प्रकाश में लाने के लिए मनुष्य के मुख से स्वतः ही कुछ शब्द निकल पड़ते हैं। उदाहरणार्थ ओह, आह, हा, पिश्, पूह शब्दों की व्युत्पत्ति का एकमात्र कारण मनुष्य के मनोभाव ही हैं, और इन मनोभावों की उत्पत्ति के कारण शारीरिक हैं। प्रायः देखा गया है कि मनोभावों के द्योतक शब्दों का प्रयोग तभी होता है, जब भावाधिक्य के कारण मनुष्य के मुख से भाषा का कोई शब्द निकलता ही नहीं, अतएव ऐसे शब्दों को भाषा के अन्तर्गत मानना भूल है। अपरंच ओह, आह, पिश्, पूह आदि ध्वनियाँ सांकेतिक हैं। समस्त देशों और जातियों में इनका थोड़ा-बहुत उसी रूप से प्रचार है। दर्द के मारे हिन्दुस्तानी 'ऊह' कहकर चिल्लाता है, तो अंग्रेज 'ओह' और जर्मन 'औ' कहकर। अन्तर अधिक नहीं है।

पाँचवा मत कहता है कि आदिम मनुष्य के प्रथम शब्द वे थे, जिनकी सृष्टि बाह्य जगत् के संसर्ग में आकर स्वभावतः ही हो गई। जैसे लोहा, पत्थर आदि बजाने से विभिन्न स्वर निकलते हैं, वैसे ही मनुष्य को जैसा भी अनुभव हुआ, उसके लिए वैसा शब्द बन गया। जैसे-जैसे भाषा विकसित होती गई, यह स्वाभाविक शक्ति घटती गई। इस मत का नाम मैक्समूलर ने 'डिंग-डाग-वाद' रक्खा है।

छठवाँ मत कहता है कि जब मनुष्य खूब परिश्रम करता है, तो उसकी साँस वेग से चलने लगती है, जिससे स्वर-तंत्रियों में कम्पन होने लगता है। यही कम्पन आदिम मनुष्य के प्रथम शब्दों का कारण है। 'हेइया', 'आहो' आदि ध्वनियाँ परिश्रमपूर्वक किये गये कार्य के ही परिणामस्वरूप हैं। इस मत को 'यो-हे-हो-वाद' के नाम से पुकारते हैं।

मनोयोगपूर्वक देखने से उपर्युक्त मतों में तथ्यांश अवश्य है, पर यह कहना कि ये पृथक्-पृथक् स्वत:सिद्ध है, भूल है। विद्वानों के मतानुसार तो इन सबका समन्वय ही सन्तोषजनक हो सकता है।

## शब्दों का विकास

इन मतों को ध्यान में रखते हुए हम आदिकाल के प्रारंभिक शब्द-भांडार की कल्पना कर सकते हैं। अनेक शब्द बने, पर उनमें केवल वही जीवित रहे, जो सर्वाधिक उपादेय समझे गये—जो आसानी से बोले जा सके और कानों को पूर्णतया स्पष्ट सुनाई पड़े। इन शब्दो के विकास में उपचार का बहुत बड़ा भाग है। 'उपचार' का अर्थ है ज्ञात के द्वारा अज्ञान को समझाना। जहाँ पहले अंग्रेजी के 'पाइप' शब्द का अर्थ 'गड़रिये का बाजा' होता था, उसी का आधुनिक अर्थ 'नल' भी है। ऋग्वेद-काल में यदि 'रम' धातु का अर्थ 'स्थिर होना' था, तो आज उसका अर्थ 'आनद लेना' है।

उस सुदूर काल मे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवश्य ही उतना स्पष्ट नही रहा होगा, जितना कि वह आज है। लोग समझने में अनेक भूले करते होंगे। जो इच्छा हुई, वही अर्थ लगा लेते होंगे। शब्दो का ठीक-ठीक बोध तो कदाचित् सहस्रों वर्ष बीतने पर ही होना सम्भव हुआ होगा। आज भी अधिकांश मनुष्यों के लिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अस्पष्ट ही रहता है।

आदिमानव ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए सर्वप्रथम साङ्केतिक भाषा का ही प्रयोग किया होगा, यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नही। आज भी दो विभिन्न भाषाभाषी एक-दूसरे को समझने के प्रयत्न में सकेतों का ही प्रयोग करते है। संकेत के साथ-साथ वे ध्वनि का भी प्रयोग करते है। अमेरिका के आदिमनिवासी रैड इडियन तथा अफ्रीका और प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों के निवासियो मे आज के दिन भी साकेतिक भाषा द्वारा ही विचारों का आदान-प्रदान होते देखा गया है।

आदिमानव ने प्रारम्भिक अवस्था में परिस्थितियों से बाध्य होकर आवश्यकता-निवारण के लिए जो प्रथम सकेत किया होगा, उसके द्वारा अवश्य ही उसने एक पूर्ण विचार का आभास दिया होगा। वह संकेत एक पूर्ण वाक्य का द्योतक रहा होगा। यदि ध्वनि-सकेत किया होगा, तो उसमें भी पूर्ण वाक्य निहित रहा होगा। मानव का संकेत-प्रयोग अथवा शब्द-प्रयोग पूर्ण वाक्य का ही काम देता है। क्योंकि केवल संकेत अथवा शब्द, जब तक ध्यान आकर्षित न करे, व्यर्थ ही है, और ध्यान आकर्षित करना ही भाषा है।

जैसे-जैसे शब्द-भाण्डार बढ़ता गया, और सामाजिक परिवर्तन होने लगे, शब्दों के आदिम प्रयोगों तथा अर्थो में भी यथेष्ट परिवर्तन होने लगे और मानव ने सांकेतिक अर्थो को अपनाना प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेजी शब्द 'ब्रोकर' का आदिम अर्थ है 'वह आदमी जो मद्य के पीपों में सूराख करता है'। आज इसी शब्द का अर्थ है 'दलाल'। 'सैलेरी' का मूल अर्थ है 'नमक का पैसा'। आज उसका अर्थ है 'वेतन'। ग्रीक शब्द 'पोलिस' का अर्थ है 'नगर'। वही शब्द अंग्रेजी में हुआ आज का 'पोलिस'। इसी से अनेक शब्द बने यथा 'पौलिटिक्स (राजनीतिशास्त्र), 'पालिसी' (नीति), 'पौलीटीशियन' ( राजनीति-विशारद )। एक शब्द है 'इन्डिगो'। इस शब्द का मूल अर्थ है 'भारतीय'। पहले नील का उत्पादन भारतवर्ष में होता था। ग्रीक लोगों ने इसका नाम रक्खा 'इंडिकौन', लैटिन भाषाभाषियों ने 'इन्डिकम' और इटली-स्पेन-निवासियो ने इसको नाम दिया 'इंडिगो'। अंग्रेजो ने इसको इसी रूप में अपनाया। अंग्रेजी शब्द 'फॉरेन' का, जिसका आज 'विदेशी' के अर्थ मे प्रयोग होता है, आदिम अर्थ है 'घर के बाहर'। 'बार्गेन', जो आज 'सौदा' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, अंग्रेजी में लैटिन शब्द 'बार्की' द्वारा आया, जिसका अर्थ होता है 'नाव का'।

ऐसा क्यों होता है, इसका एक कारण है। किसी भी शब्द का आदिम अर्थ कुछ भी रहा हो, पर सामाजिक परिस्थिति और आवश्यकता के आगे उस शब्द को सिर झुकाना ही पड़ता है। सदैव ही भाषा की उन्नति सामाजिक उन्नति की आश्रित रही है, क्योंकि भाषा कोरे शब्दों का समूह ही नहीं है, वह मानव समाज के पारस्परिक व्यवहार का साधन है। जैसे-जैसे समाज विकसित होता गया है, भाषा भी अधिक व्यवहारक्षम तथा शक्तिमती होती गई है। इसी से कहा जाता है कि भाषा का विकास होता है।

## भाषा का आदि स्रोत

भाषा के पूर्वरूप का अध्ययन विद्वानों ने कई प्रकार से किया है। अंग्रेजी भाषा के प्रकाण्ड वैयाकरण जैस्पर्सन ने असभ्य जातियों की भाषा, बच्चों की भाषा और विविध भाषाओं का इतिहास—इन तीन विचित्र क्षेत्रों का विशेष अध्ययन कर आदिम मानव की भाषा को खोज निकालने का प्रयत्न किया है। इन तीनों क्षेत्रों में सबसे अधिक सफलता विविध भाषाओं के इतिहास के अध्ययन द्वारा ही मिली है। उदाहरणार्थ, आधुनिक हिन्दी की पूर्वी और पश्चिमी बोलियों से तुलना की जाय; फिर पश्चिमी हिन्दी की बाँगड़ू भाषा से, पंजाबी से और डिंगल से तुलना

की जाय; फिर इनकी नागर अपभ्रंश से, नागर अपभ्रंश की शौरसेनी से, शौरसेनी की दूसरी प्राकृत अथवा पाली से, फिर दूसरी प्राकृत की पहली प्राकृत से, तब पहली प्राकृत की संस्कृत से, तदनंतर संस्कृत की वैदिक संस्कृत से, फिर वैदिक संस्कृत की अवेस्ता अथवा मीडिक भाषा से तुलना करके तत्पश्चात् इण्डो-योरोपियन परिवार की लैटिन, ग्रीक, हित्ती, तोखारी आदि भाषाओं के साथ तुलना की जाय तो बहुत सन्तोषजनक परिणाम निकाला जा सकता है। निम्नलिखित तालिका से हम भली प्रकार यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ये सब भाषाएँ किसी आदिम भाषा की ही संतान हैं:—

| (संस्कृत) | (लैटिन) | (फारसी) | (हिन्दी) | (अंग्रेजी) |
|---|---|---|---|---|
| पितृ | पेटर | पिदर | पिता | फादर |
| मातृ | मेटर | मादर | माता | मदर |

कौन कौन-सी भाषा बोलेगा, यह परिस्थिति या शिक्षा पर निर्भर है, जन्म पर नहीं। भाषा मानव की अर्जित संपत्ति है। प्रत्येक मानव प्रत्येक भाषा को सीख सकता है। अंग्रेजी भाषा को आज संसार भर के देशों और जातियों के स्त्री-पुरुष पढ़ते, लिखते और बोलते हैं। यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि समस्त भाषायें ग्राह्य हैं और आरंभ में उन सबका अपना कोई एक ही मूल परिवार रहा होगा। इस प्रकार आज तक की खोज के परिणामस्वरूप कोई तेरह परिवारों का पता लगा है। पर इन सबके एक मूल का पता नहीं लग सका है। इन परिवारों में से इण्डो-योरोपियन अथवा इण्डो-जर्मनिक, सैमेटिक, हैमेटिक, यूराल-अल्ताई, चीनी, द्रविड, मलय-पोलिनेशियन, दक्षिण अफ्रीकन, अमरीकन और काकेशियन मुख्य हैं।

## भाषाओं का वर्गीकरण—उनके विविध परिवार

भौगोलिक दृष्टि से दुनिया की भाषाएँ चार प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित की जा सकती हैं—(१) यूरेशिया, (२) अफ्रीका, (३) दोनों (दक्षिणी और उत्तरी) अमेरिका, और (४) प्रशांत महासागर।

यूरेशिया क्षेत्र की भाषाएँ संस्कृति और सभ्यता के दृष्टिकोण से सबसे अधिक महत्व की हैं। सभी में सर्वश्रेष्ठ साहित्य-सर्जन हुआ है। इसके मुख्य परिवार हैं—(१) इण्डो-योरोपियन, (२) काकेशन, (३) चीनी अथवा एकाक्षर, (४) यूराल-अल्ताई, (५) सैमेटिक, (६) द्रविड़, और (७) (अ) बास्क और (आ) सुमेरियन।

## इंडो-योरोपियन परिवार

इण्डो-योरोपियन परिवार में दस उप-परिवार हैं—(१) केल्टिक, (२) ट्यूटानिक, (३) लैटिन, (४) हैलेनिक, (५) हित्ती (हिट्टाइट), (६) तोखारी, (७) अल्बेनियन, (८) आर्मेनियन, (९) लैटो-स्लाविक, और (१०) आर्य (इण्डो-ईरानी)। भारत की संस्कृत, पाली, फारसी, हिन्दी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी आदि से लेकर योरप की ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, इटैलियन, रूसी, स्पैनिश, स्वीडिश, आदि भाषाएँ इसी महत्वपूर्ण परिवार में हैं।

## काकेशन परिवार

काकेशन परिवार में छः भाषाएँ हैं—(१) किरकासिअन, (२) किस्तिअन, (३) लैस्घिअन, (४) मिग्रेलिअन, (५) जार्जिअन और (६) सुआनिअन। इन भाषाओं में प्रत्ययों का बाहुल्य होता है।

## चीनी परिवार

चीनी अथवा एकाक्षर-परिवार में चार भेद मुख्य हैं—(१) चीनी, (२) स्यामी, (३) अनामी और (४) तिब्बती-बर्मी। एकाक्षर-परिवार के बोलनेवालों की संख्या इण्डो-योरोपियन परिवार की तुलना में दूसरी ठहरती है। इस परिवार का धार्मिक एकता बनाए रखने में बहुत बड़ा भाग है। इसमें चीनी भाषा ही मुख्य है और अन्य भाषाओं पर इसी का सर्वाधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। चीनी भाषा में प्रत्येक शब्द के लिए एक चित्र होता है। स्वर-भेद और स्थान-भेद से सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव प्रकट करने की इसमें क्षमता है।

## यूराल-अल्ताई परिवार

यूराल-अल्ताई परिवार में पाँच उपपरिवार हैं—(१) मंगोलियन, (२) टर्की-टार्टार, (३) टुगूज, (४) फिनो-अग्रिक और (५) सैमोयेद।

मंगोलियन भाषा मंचूरिया और मंगोलिया में बोली जाती है। टुगूज ओखोटस्क सागर के निकटवर्ती भागों में और मंचूरिया के कुछ भागों में बोली जाती है। सैमोयेद आर्कटिक सागर के तटवर्ती पश्चिमी भागों में बोली जाती है। फिनो-अग्रिक उपपरिवार में अनेक भाषाएँ हैं। ये सब हंगरी, बल्गेरिया, यूराल पर्वत और साइबेरिया में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं में प्रत्ययों का बाहुल्य है और स्वरों में पूर्ण अनुरूपता है।

## सैमेटिक परिवार

सैमेटिक-परिवार में नौ भाषाएँ हैं—(१) असीरिअन, (२) बैबीलोनिअन, (३) परवर्ती अर्माइक, (४) हिब्रू, (५) मोवाइट, (६) प्यूनिक, (७) अरबी, (८) हिम्यार्टिक और (९) अबीसीनीअन। इण्डो-योरोपियन परिवार को छोड़कर सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवार यही है। इस

परिवार ने अधिकांश संसार को लिपि-कला सिखलाई। केवल चीन और भारत की लिपियाँ ही शुद्ध स्वदेशी है। इस भाषा मे सर्वनाम क्रिया के अन्त मे प्रयुक्त होते हैं, जैसे कतब-इ (मेरी किताब)। धातुएँ तीन व्यंजनो मे बनती हैं, जैसे क्त्व् (लिखना), स्वर एक भी नही होता। रूप चलने है—नाक्तुब् (हम लिखते है), कतबत् (उसने लिखा) आदि।

## द्रविड़-परिवार

द्रविड-परिवार मे बारह भाषाएँ है—(१) तमिल, (२) मलयालम, (३) कन्नड, (४) तुलु, (५) टोडा, (६) कोडगू, (७) कूई, (८) कुरुख, (९) गोंडी, (१०) कोलामी, (११) तैलुगू, और (१२) ब्राहुई।

इस परिवार की भाषाओं की एक विशेषता है कि उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप होते है, जिनमे से एक मे श्रोता भी शामिल रहता है।

बास्क भाषा स्पेन और फ्रास के सीमा-क्षेत्र की बोली है। इसमे लिंग-भेद क्रियाओ में होता है और क्रिया वाक्य के अन्त मे प्रयुक्त होती है। सुमेरियन भाषा प्रत्यय-प्रधान है और यह बैबीलान मे बोली जाती थी। वहाँ की श्रेष्ठ संस्कृति और सभ्यता का पता अब भी उसके सुरक्षित साहित्य के अवलोकन से लगता है।

## अफ्रीकन परिवार

अफ्रीका-विभाग मे चार मुख्य भाषा-परिवार है—(१) बाँटू, (२) हैमेटिक, (३) सैमेटिक, और (४) सूदानी। इनमे सर्वाधिक महत्व के केवल हैमेटिक और सैमेटिक परिवार है। हैमेटिक परिवार की 'काप्टिक' भाषा मे लिखा धार्मिक साहित्य अब भी महत्वपूर्ण है। सैमेटिक परिवार की प्रसिद्ध भाषा अरबी है, जो मिस्र, एल्जीअर्स, मोरोक्को, आदि देशो मे राजकाज की भाषा है।

## अमेरिकन परिवार

अमेरिका-विभाग की भाषाओ मे एस्किमो, मोंदेरू, अजतेक, मय, कारिब, अरवाक, गुआर्नी-तूपी, अरोकन, चाको मुख्य है। इन भाषाओ का कोई विशेष अध्ययन नही हुआ है। अजतेक और मय सभ्यताये बहुत प्राचीन हैं।

## प्रशांत महासागर क्षेत्र की भाषाएँ

प्रशात महासागर विभाग के परिवार मे पाँच उप-परिवार माने जाते है।—(१) मलयन, (२) मेलानेशियन, (३) पोलीनेशियन, (४) पापुअन, और (५) आस्ट्रेलियन। मलयन भाषाये मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बार्निओ, फिलिपाइन्स आदि द्वीपों मे बोली जाती है। मेलानेशियन न्यूगिनी और फीजी द्वीपो मे, पोलीनेशियन न्यूजीलैण्ड मे, और आस्ट्रेलियन आस्ट्रेलिया महाद्वीप मे बोली जाती है। इन भाषाओ मे कोई साहित्य-सृष्टि नही हुई है और इनका कोई विशेष अध्ययन भी नही हुआ है।

इतना बतलाकर हम कुछ भाषाओ की आकृतियों का सक्षेप मे विवेचन कर इस प्रकरण को समाप्त करते है। इस सबध मे यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि आदिम मानव ने सर्वप्रथम वाक्य का ही प्रयोग किया था, अतएव वाक्य ही भाषा का मूल है। संसार की भाषाओं मे वाक्य का कैसा रूप है, उसकी कैसी रचना है, इसका भाषाविज्ञो ने अनुसन्धान किया है और अपने अनुसन्धान के बल पर वाक्यो के चार भेद बतलाये है—(१) समास-प्रधान, (२) व्यास-प्रधान, (३) प्रत्यय-प्रधान और (४) विभक्ति-प्रधान। समास-प्रधान वाक्य वह है, जिसमे उद्देश्य, विधेय, विशेषणादि सम्मिलित होकर समास के रूप मे पूर्ण वाक्य बनाते हैं। ऐसे वाक्य पूर्ण शब्द के तुल्य प्रयुक्त होते हैं। जैसे मैक्सीकन भाषा मे 'मैं उसे खाता हूँ' के लिए कहेगे 'निक्क', जो एक पूर्ण वाक्य है।

व्यास-प्रधान वाक्य मे शब्द स्वतत्र रहते है। उद्देश्य, विधेय, विशेपणादि का पारस्परिक सम्बन्ध स्वर, स्थान, निपात आदि पर निर्भर होता है। चीनी, बर्मी भाषाएँ व्यास-प्रधान ही होती है। चीनी भाषा के केवल ५०० साहित्यिक शब्दो से लगभग १५०० शब्दो का निर्माण हो जाता है। उदाहरणार्थ 'न्गो ता नी' का अर्थ होता है, 'मै तुम्हे मारता हूँ'। यदि इसको 'नी ता न्गो' कर दे, तो अर्थ होगा 'तुम मुझे मारते हो'। उच्चारण करने मे 'क्वेइ क्वीक' मे यदि 'इ' पर उदात्त स्वर रहे, तो अर्थ होगा 'दुष्ट देश'। और यदि 'इ' पर अनुदात्त स्वर रहे, तो अर्थ होगा 'श्रेष्ठ देश'।

प्रत्यय-प्रधान वाक्य मे कारक, लिंग, वचनादि के भेद प्रत्ययो द्वारा बतलाये जाते है। तुर्की भाषा मे 'एव' का अर्थ 'घर' है। बहुवचन के लिए 'लेर' जोड देने मे अर्थ हो जायगा 'बहुत-से घर'। इसी मे 'मेरा' अर्थवाला प्रत्यय जोड देने से हो जाता है 'एवलेरिम' (मेरे बहुत-से घर)।

विभक्ति-प्रधान वाक्य मे शब्दो का सम्बन्ध विभक्तियो द्वारा सूचित किया जाता है। सस्कृत भाषा विभक्ति-प्रधान है। इसमे कारक, लिंगादि के भेद को प्रदर्शित करनेवाले प्रत्यय मूल शब्द से अलग नही किये जा सकते।

आदि काल मे अधिकांश शब्द विस्मयादिबोधक और मूर्त पदार्थो के रहे होगे। जैसे-जैसे सभ्यता विकसित होती गई, शब्दो में वृद्धि हुई और अमूर्त भावों के लिए भी शब्द गढे गये।

# धरती की गोद में बसनेवाली रंग-बिरंगी मनुष्य-जातियाँ

**पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागो में बिखरी हुई भिन्न-भिन्न विशेषताओं से युक्त मनुष्य-जातियो का परिचय ।**

पृथ्वी का तीन-चौथाई भाग जल-मडित और एक-चौथाई भाग स्थल है। सारे ससार की आबादी लगभग ढाई अरब मानी जाती है। इस आबादी का आधे से ज्यादा हिस्सा एशिया के भिन्न-भिन्न देशो मे बिखरा पडा है और शेष भाग योरप, अफ्रीका, अमेरिका आदि में। जैसे कि पृथ्वी की सतह पर अनगिनत जातियो के पेड़-पौधे, जीव-जन्तु आदि पाये जाते हैं—वैसे ही पृथ्वी के भिन्न-भिन्न देशों में मनुष्य की भी भिन्न-भिन्न जातियाँ पाई जाती है। भारत के बम्बई या कलकता जैसे बड़े नगरो में एक ही साथ चीनी, हब्शी, काबुली, तुर्क, ईरानी, रूसी, अमेरिकन, जापानी आदि भिन्न-भिन्न देशो के लोग देखने मे आते हैं। कही कागज, मिट्टी आदि के रग-बिरगे खिलौने बेचते हुए चीनी तो कही "हीग लो, हीग" चिल्लाते या किसी गरीब से अपने रुपयोंका तकाजा करते हुए पठान या अफगान दिखाई देते है। यही नही, एक ही देश के भिन्न भिन्न प्रान्तो में भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी रहन-सहन, वेश-भूषा और भाषाओं-वाले लोग पाये जाते है। भारतवर्ष को ही लीजिए। बगाली महाशय धोती और कुर्ता पहनते है, सिर पर टोपी नदारद ! उधर चपकन और चूडीदार पायजामा पहने, दुपल्ली टोपी लगाये उत्तर प्रदेश के लखनोआ भाइयों को भी देखिये। इसी तरह गुजरात, महाराष्ट्र, केरल, पजाब, काश्मीर आदि मे भी विभिन्न भाषा-भाषी और भिन्न-भिन्न वेश-भूषावाले लोग रहते है। एक ही देश में कितनी जातियाँ, कितनी भाषायें, रहन-सहन की कितनी विभिन्न रीतियाँ, कितने प्रकार के धार्मिक विश्वास मिलते है !

इससे हमे यह मालूम हो सकता है कि ससार के अन्य देशो में भी कितनी विविध प्रकार की संस्कृति, वेश-भूषा, भाषा और चाल-ढाल वाले जन-समुदाय होगे। इन सब विभिन्नताओं का एक प्रमुख कारण प्रत्येक देश की भौगोलिक स्थिति भी है। प्रत्येक देश का वातावरण मनुष्य के रग-रूप, रहन-सहन, तथा सास्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, और आर्थिक विकास-क्रम पर बहुत प्रभाव डालता है। अफ्रीका के

उत्तरी ध्रुव के बर्फीले प्रदेशो में रहनेवाले 'एस्किमो'
जो जाड़े की ऋतु में बर्फ की बड़ी-बड़ी शिलाओं के घर बनाकर उनमें रहते है !
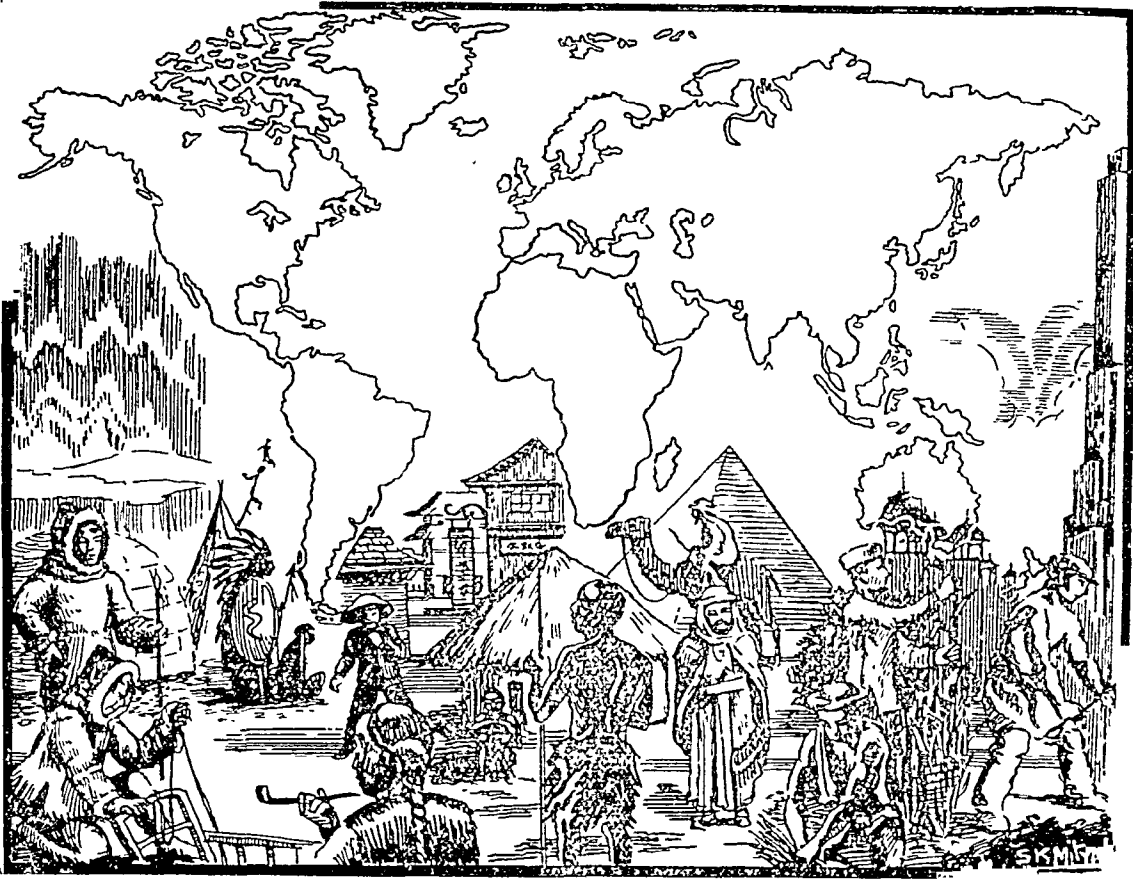
**संसार में बसनेवाली विभिन्न रंग-रूप की जातियाँ**

( बाईं ओर से दाहिनी ओर को ) बर्फीले ध्रुवप्रदेश के निवासी एस्किमो, अमेरिका के लाल चमड़ीवाले मनुष्य, पीली चमड़ीवाले चीनी और जापानी, मोटे ओंठ और काली चमड़ीवाले नीग्रो, रेगिस्तानों के निवासी खानाबदोश अरब, अधिकतर गाँवों में बसनेवाले और खेती पर बसर करनेवाले भारतीय, तथा योरप-अमेरिका में बसनेवाली गोरी जाति के लोग।

हब्शी काले और मोटे होठवाले क्यों होते हैं? योरप-निवासी गोरे रंग के और नीली आँखोंवाले क्यों? चीनी और जापानी पीत वर्ण के और छोटी-छोटी आँखोंवाले क्यों? यह सब अलग-अलग देशों के वातावरण का ही प्रभाव है। संसार के विशाल चित्रपट पर मानव-जाति की हजारों तरह की जुदा-जुदा चलती-फिरती तस्वीरें नजर आती हैं। यदि संसार को हम एक बड़ा भारी पिंजड़ा मान लें तो विभिन्न जन-समुदाय रंग-विरंगे पक्षियों-से मालूम देते हैं।

विद्वानों का यह मत है कि सबसे पहले मनुष्य शायद मध्य-पश्चिमी एशिया के किसी क्षेत्र में रहते थे, जहाँ उन दिनों हरे-भरे मैदान थे। धीरे-धीरे वे लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर बढ़ते गये। एक समुदाय सुदूर दक्षिण में अफ्रीका की ओर गया और वहाँ की तेज गर्मी के कारण उक्त समुदाय के लोग काले पड़ गए। इसी तरह दूसरा समुदाय चीन, जापान और पैसिफिक के द्वीपों में जा बसा। इस समुदाय के लोग पीले रंगवाले होते हैं। योरप की ओर जो लोग गये, वे शीत-प्रधान वातावरण के कारण गौर वर्ण के हो गये। इन मनुष्य-समुदायों का भ्रमण सदैव जारी रहा और भिन्न-भिन्न देशों के वातावरण के अनुसार उनकी आकृतियों और रहन-सहन आदि में परिवर्तन होते गये। प्रकृति के सम्पर्क से जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि का विकास होता गया और जैसे-जैसे उसने प्रकृति की छिपी हुई शक्तियों तथा धरातल पर बिखरी हुई वस्तुओं के उपयोग का ज्ञान प्राप्त किया, वैसे-वैसे सभ्यता की सीढ़ियों पर वह उत्तरोत्तर चढ़ता गया। पशु-पालन, खेती-बारी, परिवार, छोटे-छोटे वर्ग-समुदाय, समाज, राष्ट्र आदि सब क्रमशः उसके

विकास के ही रूप हैं। आज भी यदि एक ओर अफ्रीका की जंगली जातियाँ छोटे-छोटे झोपड़ों में निवास करती हैं तो दूसरी ओर अमेरिका की गौर वर्ण की जाति साठ-साठ, अस्सी-अस्सी मंजिलोंवाली अट्टालिकाओं में रह रही हैं। कहीं जनता सामाजिक और राजनीतिक नियमों से बद्ध हैं तो कहीं बिल्कुल मुक्त।

कितना आश्चर्यजनक है यह संसार! दुनिया के नक्शे पर कितनी रेखाएँ खिचीं और मिटीं—कितनी संस्कृतियाँ निर्मित हुईं और नष्ट हो गईं—कितनी सभ्यताएं और साम्राज्य कायम हुए और आखिर इस सृष्टि के विराट् रेतीले मैदान में अपने पद-चिह्नों को छोड़कर वे सब काल के गाल में समा गये! और आज की दुनिया के नक्शे को टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं ने भारत, चीन, रूस, तिब्बत, बर्मा, लङ्का, इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्विट्‌जरलैण्ड, हालैण्ड, हंगरी, ऑस्ट्रिया, ऑस्ट्रेलिया, नॉरवे, स्वीडन, अमेरिका आदि-आदि देशों में विभाजित कर रक्खा है! आइये, इस चित्र-विचित्र दुनिया में बसनेवाले मौजूदा लोगों पर एक नजर दौड़ाएँ।

## बर्फ से बने घरों के निवासी

इस पृथ्वी का कुछ भाग शीत-प्रधान है तो कुछ गरम। कहीं सूर्य देवता नियमित रूप से जागते और सोते हैं तो कहीं छः-छः माह तक सोते-जागते रहते हैं। कहीं-कहीं बारहों महीने बर्फ जमी रहती है—कहीं ज्वालामुखी पहाड़ धुआँधार लावा उगलते रहते हैं। ग्रीनलैण्ड के पास, जो कि धुर उत्तर में है और जहाँ सदैव बर्फ जमी रहती है, "एस्किमो" जाति के लोग रहते हैं। इन लोगों को न तो लकड़ी या कोयला मिलता है, जिससे कि ये लोग आग जलाकर अपने को गरम रख सकें और न इनको अन्न पैदा करने की ही सुविधा है। ये सील नामक जन्तु के चमड़े तथा ह्वेल की हड्डियों से छोटी-छोटी नौकाएँ बनाते हैं और उन्हीं पर बैठकर मछली आदि का शिकार करते हैं। गर्मी के मौसम में यहाँ सूर्य कई हफ्तों तक नहीं डूबता। जाड़ों में ये लोग जमे हुए बर्फ के बड़े-बड़े टुकड़ों से छोटे-छोटे स्तूप जैसे घर बनाते हैं तथा ह्वेल की चर्बी को विचित्र किस्म के दीपकों में जलाते हैं, जिससे कि रोशनी रहती है। ये बड़े पेटू होते हैं। जब इनको बहुत-सा मांस मिल जाता है, तो इतना खा लेते हैं जितना दूसरे सात दिन में खाते हैं!

## लाल वर्ण के लोग

अमेरिका में बसनेवाली रेड इंडियन नामक लाल चमड़ीवाली जाति भी विचित्र है। अब यह बहुत-कुछ बदल गयी है, पर जब तक योरोपियन वहाँ नहीं आये थे, तब तक ये लोग अपनी आदिम अवस्था में ही थे। तीर-कमान आदि ही इनके हथियार थे। ये लोग भैंसे के चमड़े के बने हुए तम्बुओं में रहते थे और इधर-उधर घूमा करते थे। ये लोग बड़े लड़ाकू होते थे और जब अपने विरोधी गिरोह पर चढ़ाई करना चाहते थे तो गाँव-गाँव में लड़ाई के लिए तैय्यारी करने का संदेश दूतों द्वारा भिजवाया करते थे। संदेश पाते ही सब लोग एक स्थान पर इकट्ठा हो जाया करते थे, फिर युद्ध-नृत्य करते थे और रण-यात्रा के लिए चुपचाप चल पड़ते थे। यदि कहीं बीमारी फैलती थी या अकाल पड़ता था तो कई लोग नृत्य करने के बाद एक प्रकार के भारी-भारी गुँथे हुए डण्डे लेकर 'हाकी' के खेल-से मिलता-जुलता एक खेल खेलते थे। अन्तर इतना ही था कि इनके 'गोल' एक-एक मील की दूरी पर होते थे! गेंद हवा में उछाल दी जाती थी, और खेल प्रारम्भ हो जाता था। फिर क्या था—डण्डों से वे एक-दूसरे के हाथ-पाँव तक तोड़ डाला करते थे।

रेगिस्तानों के निवासी अरब

जिनका जीवन अधिकतर ऊँटों पर और खेमों ही में बीतता है।

**चीन के पेकिंग शहर के एक बाजार का दृश्य**

दूकानो पर लगे आकर्षक साइनबोर्डों और लोगों की विचित्र वेश-भूषा की छटा देखिए।

होते हैं। चीन-जापान के लोगों की आकृतियो मे बहुत-कुछ समानता है। ये लोग पीले वर्ण के होते हैं। चीन की सभ्यता बहुत प्राचीन है। यहाँ की मीलो लम्बी प्राचीन दीवार संसार के महान् आश्चर्यो मे से एक है। चीन के किसी शहर में आप चले जाइये; वहाँ छोटी-तंग सडके, आकर्षक दूकानें, बाढ़ की तरह उमड़ता हुआ जन-समुदाय आप देखेंगे। इन दूकानो के साइन-बोर्ड कैसी आकर्षक भाषा में दूकानो की खूबियाँ बतलाते हैं—चाहे कोयले की दूकान हो, पर नाम होगा "सोने की खान"! अभी कुछ वर्ष पहले तक वहाँ की दूकानों में स्त्रियो के लिए छोटे-छोटे एडीदार बूट टँगे रहते थे। जिस स्त्री के जितने ही छोटे पैर होते, वह सौंदर्य की दृष्टि से उतनी ही बढ़ी-चढ़ी मानी जाती थी। इन लोहे के जूतों में इनके पैर छुटपन से ही फँसा दिये जाते थे, जिससे कि वे बढ़ने नहीं पाते थे। पर अब यह दु:खदायी रिवाज दूर हो गया है। पर अब भी लुङ्गी लगाये और कभी-कभी टोपी के अन्दर से लम्बी गुँथी हुई चोटी लटकाये हुए चीनी इधर-उधर

कहीं-कहीं बस्तियो के आसपास रक्षार्थ लकड़ी के लट्ठे गाड़कर ये एक प्रकार की दुर्ग-प्राचीर भी बनाते थे।

## पीतवर्ण जाति के घर—चीन और जापान

भारत के पड़ोसी चीन, तिब्बत और जापान के लोग पीत-वर्ण के हैं। आधुनिक चीन-जापान-निवासियो ने पिछले वर्षों में आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है, किन्तु इससे पहले तक ये लोग अपनी पुरातन परपरागत रूढ़ियो की शृंखलाओ में ही बँधे हुए थे। अब तो चीन-जापान ससार के प्रथम श्रेणी के प्रगतिशील राष्ट्र है। जापान "फूलों का देश" कहा जाता है—क्योंकि यहाँ के लोग बहुत पुष्पप्रेमी

आते-जाते दिखलाई पड़ते हैं। कोई-कोई घुटी खोपड़ी भी रखते हैं। भारत में भी चीनी लोग सायकिलो पर कीमती रेशमी कपड़ो के गट्ठर रखे हुए सम्पन्न व्यक्तियो के बंगलों पर चक्कर लगाते हुए दिखाई पडते हैं। चीन मे अब असाधारण जागृति हो गई है। प्रगति की दृष्टि से एशिया मे जापान के बाद चीन का ही नम्बर आता है और जन-सख्या की दृष्टि से तो वही ससार का सबसे बड़ा देश है।

इधर भारत के उत्तर-पश्चिम मे बसे हुए अफगान अपने लम्बे-चौड़े डील-डौल के लिए प्रसिद्ध हैं। अफगानिस्तान एक पहाड़ी देश है। यहाँ खून-पसीना एक करने पर

कहीं-कहीं पहाड़ी स्थलों में अन्न पैदा होता है। प्रकृति की कठोरता ने अफगानों को ताकतवर, बहादुर और खूंख्वार बना दिया है। ये लोग बन्दूक को प्राणों से भी अधिक प्यारी वस्तु समझते हैं। इनका निशाना अचूक रहता है। इन्हीं के पड़ोसी अफरीदी लोग प्राय सीमा-प्रान्त की सेना को तग किए रहते हैं। पहाड़ों में छिपे हुए ये दनादन गोलियाँ दागते हैं। ये बड़े स्वतत्रता-प्रेमी हैं। इनको वश में लाना बहुत मुश्किल है।

## चित्र-विचित्र भारतभूमि

अब अपने देश भारत को ही लीजिये। भिन्न-भिन्न वेशभूषा और भाषाओंवाले ३५ करोड़ नर-नारियों की यह शस्य-श्यामला जादूभरी भूमि! उत्तर मे ससार का सबसे ऊँचा हिमाच्छादित गिरिराज हिमालय; मध्य मे विंध्य-सतपुड़ा की सुरम्य श्रेणियाँ; उनके बीच गगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ! विश्व मे सर्वप्रथम सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचनेवाला यह देश आज भी अजन्ता के विश्व-विख्यात भित्ति-चित्र, एलोरा के पाषाण-मंदिर, साँची के बौद्ध स्तूप और संसार के भवनों के मुकुट ताजमहल को लेकर ससार मे अपना सिर ऊँचा उठाये हुए है। यहीं वाल्मीकि, कालिदास, व्यास, तुलसीदास आदि महाकवियों की जन्म-भूमि है। यहीं है राम, कृष्ण, बुद्ध, गाधी आदि महामानवों की कर्म-भूमि। तीन हजार जातियों का यह देश! हल चलानेवाले, झोपड़ियों मे रहनेवाले, तीस करोड़ किसानों का यह देश! एक जमाने में यही साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन आदि का संसार का सबसे महान केन्द्र-स्थल रहा। इसके वक्षःस्थल पर कितनी विदेशी जातियों और सभ्यताओं ने क्रीडाएँ कीं! कितने साम्राज्य यहाँ बने और मिटे! यह महादेश पिछले कुछ सौ वर्षों से अपने आपको मानों भूलकर पीछे की ओर ढुलकता हुआ गुलामी और अज्ञान की जजीरों से जकड़ गया था। किंतु अब उसमें फिर से जागृति की कैसी लहर उठ चली है! आज इसकी झोपड़ियों मे स्वतत्रता की भावना कैसी जाग उठी है! भारत मे हिंदी, बगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़, आदि अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। बोलचाल की भाषाएँ तो हजारों हैं। प्रति डेढ़ सौ मील पर बोली म कुछ-कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। ससार का

**रक्तवर्ण के अमेरिका के आदिवासियों की एक प्राचीन बस्ती**

सुरक्षा के हेतु गाँव के चारों ओर लकड़ी के लट्ठे गाड़कर एक दुर्ग-प्राचीर बना ली गई है।

यह सबसे अधिक धर्मप्राण देश है। भिन्न-भिन्न संप्रदायों के मन्दिर, मस्जिद, गिरजे आदि यहाँ के भिन्न-भिन्न धर्मों की सूचना देते है।

## आदिम जातियों का अनूठा अजायबघर—अफ्रीका

भारत के दक्षिण-पश्चिम में स्थित अफ्रीका महाद्वीप घने जंगलो, जंगली जातियों, और विचित्र रीति-रिवाजों का प्रदेश है। यह योरप से तिगुना बडा है, फिर भी सभ्यता की किरणे इसके घने जगलो में अभी पूर्णतया नही पहुँच सकी है। अब भी यहाँ कही शेर आदि भयानक जन्तु दहाड़ते है, तो कही ढोल बजा-बजाकर बर्बर मनुष्य भयोत्पादक युद्ध-नृत्य करते रहते हैं। अफ्रीका के ये काले वर्ण के आदिवासी, जो कि साढ़े पाँच फीट से अधिक लम्बे नही होते, बडे स्वतन्त्रता-प्रेमी है। ये लोग मुख्यतः शिकार करते हैं और जहरीले तीरों से बड़े-बड़े जानवरो को मार डालते है। ये भागने में बड़े तेज होते हैं। कभी-कभी तो दौड़कर ही दौड़ते हुए जंगली जानवरों के पास पहुँचकर ये उन्हें मार डालते है। कपड़े तो नाममात्र को ही ये पहनते हैं। इनमें गरम राख पर युवकों को सुलाकर उनकी परीक्षा ली जाती है। यदि नौजवान गरम राख पर कुछ समय तक पड़ा रह सके और, पीठ की चमड़ी जल जाने पर भी चूँ तक न करे, तो वह परीक्षा म उत्तीर्ण माना जाता है। अफ्रीका की अधिकतर जातियाँ अभी भी पुराने ढंग की झोपड़ियों मे रहती हैं। मनुष्य तीर-कमान और भाले लेकर शिकार को जाते है। स्त्रियाँ अन्न और तरकारियाँ पैदा करती है। दक्षिणी अफ्रीका की "जूलू" जाति के लोगो के झोंपड़े बड़े-बड़े और साफ-सुथरे होते हैं। इनके गाँव "क्राल" कहलाते है। ये लोग अन्न पैदा करते, ढोर आदि पालते और घरेलू काम के लिए हथियार आदि बनाते है। इनमें पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से कुछ जागृति भी हो रही है। अफ्रीका के कई भागों पर विदेशियो का अधिकार है। व्यापार आदि की बागडोर भी उन्ही के हाथों में है। अफ्रीका के काले निवासी "नीग्रो" कहलाते है। गोरी जातिवालों मे इनके प्रति बड़ा भेदभाव है। ये लोग काले और मोटे होठोवाले होते है। जंगली लोग शरीर पर विचित्र रंगों से चित्रकारी किये रहते है, और कौड़ियों और जानवरों के दाँतों की बनाई हुई मालाएँ पहनते है। आस्ट्रेलिया और उनके आसपास के द्वीपों में भी ऐसी ही अनेक जंगली जातियाँ पाई जाती है।

**अफ्रीका की जंगली जातियों का एक प्रतिनिधि**

इसकी वेश-भूषा और शरीर-रचना मनुष्य की युग-यात्रा के उन आरंभिक दिनों की याद दिलाती है, जब वह सभ्यता के बन्धन में नही बंधा था और पृथ्वी पर निर्द्वन्द्व विचरता था।

## आधुनिक सभ्यता के केन्द्र—योरप और अमेरिका

अफ्रीका के उत्तर में स्थित योरप महाद्वीप के विभिन्न देशों के निवासियों ने आज विज्ञान में आश्चर्यजनक उन्नति की
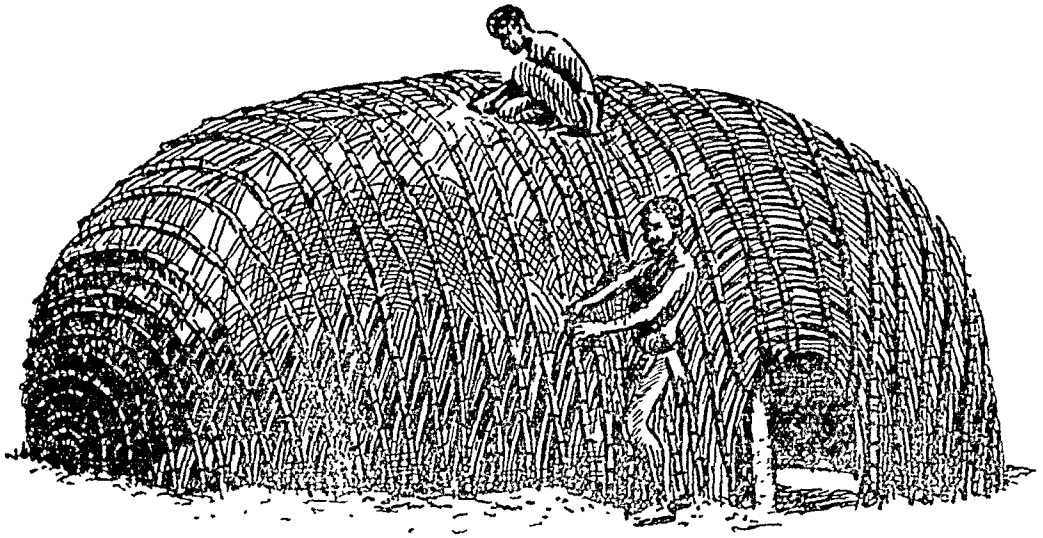
**अफ्रीका के जंगली मनुष्यों की कारीगरी**

लचीली टहनियों को बड़ी चतुराई से बुनकर बनाए जानेवाले जूलू लोगों के झोपड़े का ढाँचा।

है। बड़े-बड़े कारखाने, मोटर, रेलगाड़ी, रेडियो, हवाई जहाज, आदि-आदि वस्तुएँ इसी महाद्वीप में उत्पन्न सभ्यता के चकाचौंध करनेवाले आविष्कार हैं।

योरप के पश्चिम में अटलांटिक महासागर के उस पार अमेरिका महाद्वीप में भी गोरी जातियों के उपनिवेश हैं, जिनमें से एक "संयुक्त राज्य" आज धन-सम्पत्ति और शक्ति में सबसे बढ़कर है। अमेरिका इस बीसवीं शताब्दी की यांत्रिक सभ्यता का प्रतीक है और योरप में पैदा हुई सभ्यता का केन्द्र अब धीरे-धीरे पेरिस, लंदन या बर्लिन से हटकर और भी पश्चिम में न्यूयार्क की ओर जा रहा है।

विगत कुछ पृष्ठों में हमने पृथ्वी पर मनुष्य-जाति के चित्र-विचित्र जमघट पर एक विहंगम दृष्टि डाली। अब आगे के अध्यायों में हम क्रमशः उनमें से मुख्य-मुख्य जातियों का विस्तारपूर्वक हाल बतावेंगे।

# वर्णभेदानुसार जातियों का वर्गीकरण

**यद्यपि मूलतः मनुष्य-जाति एक है, उसको पृथक्-पृथक् वर्गों या श्रेणियों में बाँटा नहीं जा सकता। फिर भी, जैसा कि पिछले प्रकरण में हम देख चुके हैं, धरातल के भिन्न-भिन्न वातावरण के क्षेत्रों में रहने और पनपने के कारण बृहत् मानव-परिवार की विविध शाखाओं के रंग-रूप और शक्ल-सूरत में काफी विभिन्नताएँ आ गई हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर वैज्ञानिकों द्वारा मोटे तौर पर उनका एक प्रकार का वर्गीकरण करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है।**

विद्वानों ने संसार के मनुष्यों का वर्गीकरण करने की अनेक चेष्टाएँ की हैं, किन्तु विभिन्न देशों के निवासियों को पृथक्-पृथक् श्रेणियों में बाँटकर स्पष्ट रूप से उनकी पारस्परिक भिन्नता बतलाने का प्रयत्न आज तक सफल नहीं हो सका। मानव-सृष्टि के क्षेत्र में विभाजक रेखाएँ खींचकर उसकी विभिन्न क्यारियों की ठीक-ठीक सीमा निर्धारित करना एक प्रकार से असम्भव है। मानव-विज्ञान-विशारदों ने इस विषय पर सैकड़ों ग्रन्थ लिख डाले हैं, जिनकी उपयोगिता या अनुपयोगिता का विवेचन हमारा विषय नहीं है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् श्रीयुत् सी० जी० सेलिग्मान ने मानव-जातियों का जो वर्गीकरण हमारे सामने उपस्थित किया है, वही हमें यथार्थता के अधिक निकट प्रतीत होता है और व्यावहारिक दृष्टि से हम उसी का उल्लेख यहाँ करेंगे। उनके कथनानुसार संसार के मनुष्य छः मूल जातियों में बँटे हुए हैं :—

| | |
|---|---|
| (१) नार्डिक | (४) मंगोल |
| (२) अलपाइन | (५) नीग्रो |
| (३) मेडिटरेनियन | (६) ऑस्ट्रेलियन |

वर्णभेद की दृष्टि से उपर्युक्त नार्डिक, अल्पाइन और मेडिटरेनियन जातियाँ 'काकेशियन' या श्वेत मनुष्यों की कोटि में तथा मंगोल जाति को पीले मनुष्यों के वर्ग में गिना जाता है। इसी तरह काले मनुष्यों में नीग्रो तथा गेहुएँ रंग के या अर्ध-कृष्ण-काय मनुष्यों में ऑस्ट्रेलियन जातियों की गणना होती है। इन सभी जातियों में न्यूनाधिक रूप में आकृति, रंग, केश-रचना, शारीरिक गठन तथा स्वभाव की भिन्नता पाई जाती है।

## गौराङ्ग जातियाँ

सबसे पहले हम 'काकेशियन' या श्वेतांगो की कोटि में आनेवाली जातियों पर दृष्टि डालते हैं। गौराग नार्डिक जाति के अन्तर्गत उत्तरी योरप के निवासी स्कैण्डिनेवियन, फ्लेमिंग्स, डच, बहुतेरे उत्तरी जर्मन, और कुछ रूसी लोग आते हैं। अधिकांश अंग्रेजों और स्कॉटलैंडवासियों की भी इसी में गणना की जा सकती है, यद्यपि ब्रिटिश द्वीपों के प्राचीन निवासी 'मेडिटरेनियन जाति' के वंशज माने जाते हैं। अल्पाइन जाति में योरपीय अल्पाइन और एशियाई-आर्मेनाइड शाखाएँ सम्मिलित हैं। योरपीय अल्पाइन वर्ग में स्विस, दक्षिणी जर्मन, स्लाव, फ्रेन्च और उत्तरी इटैलियन आते हैं। यह शाखा एशिया महाद्वीप तक फैली है और ईरानी-ताजिक तथा पामीर के पहाड़ी लोगों में से एक विशेष वर्ग के मनुष्यों की इस कोटि में गणना होती है, जो अल्पाइन जाति के स्विस प्रतिनिधियों से पूर्ण सादृश्य रखते हैं। आर्मेनाइड या पश्चिमी एशियाई शाखा में प्राचीन हित्ती जाति के लोग भी आते थे। आजकल आर्मीनिया, लेवाण्ट, मेसोपोटामिया और दक्षिणी अरब के निवासियों को इसी शाखा के अन्तर्गत समझा जाता है, जिनकी कुछ विशेषताएँ बहुतेरे यहूदियों तथा अरब लोगों में प्रकट हुई हैं। मेडिटरेनियन जाति में भूमध्यसागर के तट के निवासी, सेमाइट अरब, उत्तरी अफ्रीका के लोग, उत्तरी हैमाइट या लिबियावासी बर्बर, सहारा प्रदेश के तुरेग और फुलानी, जिनमें अधिक नीग्रो रक्त नहीं है, सम्मिलित हैं। दक्षिणी या पूर्वी हैमाइट शाखाओं में मिस्री, बेजा, अर्धबर्बर, और सुलामी तथा गाल्ला जातियाँ आती हैं। दक्षिण भारत के तमिल तथा उनसे मिलते-जुलते वर्णवाले भी मेडीटरेनियन जाति के अन्तर्गत आते हैं या नहीं, इसमें सन्देह है। हाँ, भारतवर्ष की अनेक उच्च वर्ण की जातियों में और विशेषकर काश्मीर, पंजाब, सिंध, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मालवा तथा गुजरात के गौरवर्ण और उन्नत नासिका-वाले मनुष्यों में स्पष्टतया काकेशियन रक्त की प्रधानता है, यद्यपि उनमें अधिकांशतः मिश्रित रक्त भी है।

**जाति-भेदानुसार आकृतियाँ**
(क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर) नार्डिक, मेडिटरेनियन, मंगोल, नीग्रो और ऑस्ट्रेलियन वर्ग।

## पीत वर्ण के लोग

दूसरा नम्बर पीले मनुष्यों का आता है, जो मंगोल जाति के प्रतिनिधि माने जाते हैं। यह जाति एशिया महाद्वीप के पूर्व में पैसिफिक महासागर तक फैली हुई है। यह जाति आदिकाल में काफी पर्यटनशील रही है, इस कारण इसका विस्तार सबसे अधिक पाया जाता है। मंगोलिया, मंचूरिया, पूर्वी साइबेरिया, तुर्किस्तान, तिब्बत, चीन, बर्मा, इंडो-चीन, मलय-प्रदेश तथा पूर्वीय द्वीप-समूहों के निवासी मंगोल जाति के समझे जाते हैं। यद्यपि उनके कतिपय समुदायों में पारस्परिक भिन्नता के चिह्न अधिक स्पष्ट हैं, फिर भी वे सभी एक ही वर्ग के हैं। मंगोलों का रंग हलका पीला या भूरापन लिये हुए पीला होता है। उनकी आँखें छोटी, भूरी या साधारणतया गहरी भूरी, बाल मोटे और खड़े तथा कुछ घुमावदार, दाढ़ी-मूँछ बहुत कम, सिर गोल, जबड़ा चौड़ा, एवं चेहरा चपटा होता है। उनकी लम्बाई का औसत ६४ इंच से लगाकर ७० इंच तक होता है। मंगोल जाति तीन श्रेणियों में विभाजित मानी जाती है--(१) दक्षिणी, (२) उत्तरी तथा (३) समुद्री।

दक्षिणी मंगोलों में तिब्बत, हिमालय के दक्षिणी पठार, चीन और इंडो-चीन से लेकर सुदूर दक्षिण में क्रा के डमरूमध्य तक रहनेवाले लोगों की गणना होती है। इनका कद नाटा होता है। उत्तरी मंगोल विशेषतया साइबेरिया में, जापान से लाप-प्रदेश तक और दक्षिण मे चीन की बडी दीवार तथा उत्तरी तिब्बत तक फैले हुए हैं। इतना ही नही, तुर्की तथा फिनिश जातियों के मनुष्यों में भी मंगोल रक्त का मिश्रण पाया जाता है। ऑस्तिऑक, तोगल और जापानी तथा कोरियावासी भी मंगोल ही है। समुद्री मंगोलो का विस्तार इंडोनेशिया ( जिसमें फिलिपाइन द्वीप-समूह सम्मिलित है ), फार्मोसा, निकोबार, और सुदूर मैडागास्कर द्वीप तक पाया जाता है। मंगोल जातियो में इनका कद सबसे नाटा होता है और प्राय. ये ६० इंच से अधिक लम्बे नही होते। रग भी इनका अन्य मगोलो की अपेक्षा सबसे गहरा होता है और उसे रक्तिम भूरा कह सकते है। समुद्री मंगोलों और असम प्रान्त की कुछ जातियो के मनुष्यो में शारीरिक तथा सास्कृतिक समानता के लक्षण पाये जाते है। अन्त मे हमें स्मरण रखना पडता है कि मंगोलों ने बेयरिंग डमरूमध्य से होकर पार्श्ववर्त्ती द्वीपो को पार करते हुए पैसिफिक महासागर के उस पार अमेरिका में भी अपनी बस्तियाँ बना रक्खी हैं।

## कृष्णकाय जातियाँ

तीसरा नम्बर नीग्रो जाति के काले मनुष्यो का है। नीग्रो जाति की दो बड़ी शाखाएँ हैं—( १ ) अफ्रीकन या नीग्रो तथा ( २ ) समुद्री या मेलानेशियन। इन दोनों मे संबद्ध अनेक छोटे कदवाली अर्ध-नीग्रो जगली जातियाँ है, जिनको शारीरिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पडोस की जातियों से बहुत पिछड़ा हुआ माना जाता है। बौने या 'नीग्रितो', जिनके अफ्रीकन प्रतिनिधि प्राय: 'नीग्रिलो' कहलाते है, इसी कोटि के अन्तर्गत आते है। इसमें सन्देह नही कि सहारा मरुभूमि के दक्षिण का सारा प्रदेश नीग्रो जाति की आवासभूमि है, जिसमे अधिकतर नाइलोत, अर्ध-हैमाइट और बंटू भी ( जो शुद्ध नीग्रो नही कहे जा सकते ) सम्मिलित है। परन्तु सच पूछा जाए तो वास्तविक नीग्रो जाति पश्चिमी अफ्रीका में गिनी समुद्र-तट के आस-पास रहती है।

शुद्ध नीग्रो जाति का मनुष्य प्राय: ६८ इंच लम्बा और ऊन जैसे गुच्छेदार बालोंवाला होता है। उसकी त्वचा का रंग इतना गहरा होता है कि उसे काला माना जा सकता है। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट, टाँगे छोटी, भुजाएँ लम्बी, होठ मोटे और आगे को निकले हुए, माथा आगे उभरा हुआ और नाक मोटी होती है। समुद्री नीग्रो जाति में सबसे शुद्ध रक्तवाले पापुआन, सम्मिलित हैं, जो न्यूगिनी में आजकल निवास करते हैं। पहले जमाने में उन्होने मेलानेशिया और सम्भवत: आस्ट्रेलिया तथा टस्मानिया पर भी अपना पूर्ण आधिपत्य जमा रखा था। 'नीग्रिनो' या अर्ध-नीग्रो प्राय: बौनी जातियो को ही कहा जाता है, जिनमें अडमन द्वीपवासी, मलय प्रायद्वीप के सेमांग, फिलिपाइन द्वीपो के ऐटा और नेदरलैंड्स-न्यूगिनी के अविख्यान टैपिरो जाति के लोग भी गिने जाते है। पश्चिम मे अफ्रीका महाद्वीप के नीग्रितो (नीग्रिलो), जिनमे विषुवत् रेखा के निकट रहनेवाली जगली जातियाँ (अबका, बतवा आदि) सम्मिलित है, कद की दृष्टि से ससार मे सबसे नाटे होते है और शायद ही उनमे कोई ५८ इंच से अधिक लम्बा होता हो। बुशमैन जातिवाले भी सम्भवत: इन बौनो से कुछ सम्बन्ध रखते है। हाटेनटॉट लोग बंटू और हैमिटिक रक्त के मिश्रण से उत्पन्न बुशमैनों का परिष्कृत रूप जान पडते है। बुशमैन और हाटेनटॉट लोगो के कानों में लौरे या लटकनेवाले निचले सिरे होते ही नही।

## अर्द्ध-कृष्णकाय जातियाँ

सबसे अन्त मे चौथे नम्बर मे आस्ट्रेलियन जाति की गणना की जाती है, जो अर्ध-कृष्णकाय या गेहुएँ रंग के मनुष्यों का प्रतीक मानी जाती है। इस जाति के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया के निवासी तथा दक्षिणी भारत और लका की पूर्व-द्रविड़ जातियाँ (वेद्दा आदि), मलय प्रायद्वीप के सकाई लोग, और सम्भवत: सेलीबीज द्वीप-निवासी तोआला आते है, यद्यपि तोआला लोगों में विदेशी रक्त अधिक मिश्रित हो चुका है। इस जाति के सभी मनुष्यों के केश काले, लहरदार, या लगभग घुँघराले होते है। आस्ट्रेलियन औसत दर्जे के कद के (प्राय. ६५॥ इंच लम्बे) होते है। उनकी त्वचा का रंग बैंजनी-भूरा, शरीर पर रोमों का आधिक्य, सिर लम्बा, माथा पीछे को दबा हुआ और चपटा, भ्रू-भाग उभरा हुआ, नाक जड़ में दबी हुई और बहुत चौडी होती है। सकाई नाटे कद के होते है और उनके बाल कुछ लालिमा लिये हुए भूरे, त्वचा पीलापन लिये हुए गहरी भूरी, और नाक ऊँची होती है। दक्षिण भारत की जगली जातियाँ, जिनमे कुरुम्बा, इरुला, पानियान आदि हैं, तथा लंका की लुप्तप्राय वेद्दा जाति के लोग ६० से ६२ इंच तक लम्बे पाये जाते हैं।

यह हुआ संसार के रंगमंच पर आज के दिन पाई जानेवाली मानव-कुटुम्ब की विविध शाखा-प्रशाखाओं का एक खाका, जिसे वैज्ञानिकों ने मोटे तौर पर धरातल के विभिन्न भागों में बसनेवाले भिन्न-भिन्न रंग-रूप के मनुष्यों की विशेषताओं का अध्ययन करके तैयार किया है। परन्तु इस वर्गीकरण के आधार पर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इससे मनुष्य-जाति की मूलभूत एकता में कोई अन्तर पड सकता है, अथवा एक वर्ग को दूसरे वर्ग से ऊँचा या नीचा माना जा सकता है। साथ ही यह भी सोचना गलत होगा कि आज के दिन कोई भी जाति ऊपर उल्लिखित नाम-रूप या वर्ग के अनुसार विशुद्ध रक्त की पाई जाती है। सबमें मिश्रित रक्त मौजूद है।

# सभ्यता से परे की दुनिया

## संसार के सबसे पिछड़े हुए मनुष्य—अफ्रीका के पिगमी

**समाज, राष्ट्र, परिवार-व्यवस्था, आदि के विकास के साथ मनुष्य जाति ने 'सभ्यता' का जो बाना पहना है, उसके कारण उसका स्वरूप आज बिल्कुल बदल गया है। किन्तु सभ्यता की इस परिधि से परे भी संसार के विशाल रंगमंच पर अभी मानव-परिवार की अनेक टुकड़ियाँ यहाँ-वहाँ बिखरी हुई पाई जाती हैं, जिन पर सभ्यता का रंग अभी नहीं चढ़ पाया है तथा जिनके विषय में सभ्य जगत् के प्राणी बहुत कम जानते हैं। आगे के पृष्ठों म ऐसी ही कुछ जातियों का विवरण दिया जा रहा है।**

पिगमियों का संसार सदा से सभ्य जगत् को आश्चर्य में डालता आया है। पशु से मनुष्य की श्रेणी में अभी-अभी आये हुए लोगों मे आज भी उनकी गिनती होती है। पिछले हजारो वर्षों में संसार ने चाहे जितना पलटा खाया हो, पर इनका जीवन रत्ती भर नहीं बदला है।

### ईतूरी-वन

इनका निवास-स्थान आरम्भ से ही मध्य अफ्रीका का ईतूरी-वन रहता चला आया है। यह वन आज भी बेल्जियन कांगो की प्रसिद्ध नदी कांगोकी एक शाखा ईतूरी के दोनो किनारों पर घने जंगल के रूप में वर्तमान है। यहाँ के निवासियों के साथ ही साथ यह वन-प्रदेश भी संसार के आश्चर्यमय भागों में से एक माना जाता है। ईतूरी नदी अपनी अनगिनत शाखा-प्रशाखाओं के साथ इस प्रदेश को सींचती है। इसकी मुख्य धारा सदा विकराल रूप धारण किये गरजती रहती है। इसकी गर्जन बहुत घने जंगल में छिपे रहने पर भी दूर से सुनाई पड़ती है। इसकी गिनती संसार की महाभयंकर नदियों में है। यह नदी आज तक न मालूम कितनी हजार नौकाएँ और मनुष्य निगल चुकी है। इसके किनारे के निवासी नाव पर बैठकर इसे पार करने का साहस नहीं करते। इसके तटवर्ती वन में अनवरत टिप-टिप, कल-कल, हरहर ध्वनि सुनाई देती है। इसका कारण यह है कि यहाँ धाराओ, झरनो और जल-प्रपातों की प्रचुरता है। वर्षा की भी कमी नहीं। जनवरी-फरवरी के महीनों को छोड़कर यहाँ साल भर प्रायः नित्य ही वर्षा होती है। इसीलिए धाराओं और नदियों के कूल सदैव भरे रहते हैं, किनारे हमेशा ही उबलते रहते है, और नदियाँ वृक्षों को बहाये चलती हैं।

**पिगमी पुरुष और स्त्री**

(बाईं ओर) इस पिगमी नौजवान के जंगली जानवर जैसे पैने दाँत प्रकृति की देन नहीं है, वरन् स्वयं इसी के द्वारा नुकीले बनाये गये हैं। ऐसे दाँत पिगमियों में बड़ी शोभा की वस्तु समझे जाते हैं। (दाहिनी ओर) पिगमी स्त्रियाँ प्रायः इसी तरह अपने होठों में हड्डी या हाथी-दाँत की सलाई छेदकर लगाती है।

यह प्रदेश विषुवत्-रेखा के बिलकुल पास है। इसलिए यहाँ धूप भी कटावनी पड़ा करती है। लेकिन घने सायादार सदाबहार वृक्षों की छाया और चारों ओर प्रपात, धारा, नदी आदि के होने के कारण ठंडक बनी रहती है। जमीन अवश्य ही सब जगह नम और कहीं-कहीं दलदल-जैसी भी रहती है। यह हालत हमेशा बनी रहती है, क्योंकि उन घने वृक्षों की छाया को भेदकर पार करना सूर्य की किरणों के लिए कठिन होता है। कई दृष्टियों से यह प्रदेश इतना भयंकर है कि बाहरी संसार के विरले ही लोग यहाँ पाँव रखते हैं। यही कारण है कि इस विशाल वन-प्रदेश की शांति आज तक कोई भी सभ्यता भंग नहीं कर पायी है।

इस प्रदेश को देखते ही अन्दाजा लग जाता है कि यहाँ जो कोई भी बसता होगा, उसे हमेशा अपने चारों तरफ के जंगल से संघर्ष करते रहना पड़ता होगा। वह हमेशा ही भयभीत रहता होगा। उसका रोटी का प्रश्न भी अत्यन्त जटिल होगा, जिसे हल करने के लिए उसे अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ती होगी। इतने पर भी इसमें उसे सफलता मिलती होगी या नहीं, इसमें संदेह ही होगा। वन की वह भयावह विशालता अवश्य ही उस प्राणी को सदैव बौना बनाकर रखती होगी। इस वातावरण के कारण उसका शारीरिक तथा मानसिक विकास दोनों का क्षेत्र बहुत परिमित होगा।

इस प्रदेश में जाने पर ये सभी बातें यथार्थ साबित होती हैं। आगंतुक मनुष्य इस वन-प्रदेश में मीलों निकल जाता है, पर उसे एक भी आदमी दिखाई नहीं देता। फलतः वह इस प्रदेश को निर्जन करार देने लगता है। पर नहीं; कहीं-कहीं आदमियों के छोटे-छोटे पाँव के चिह्न जमीन पर उभड़े दिखाई देते हैं। आम रास्ते से दूर यदि हम इन पद-चिह्नों के पीछे-पीछे चलें तो अत्यन्त ही घने वृक्ष और झाड़ियों के बीच हम जा पहुँचेंगे। वहाँ पर हमारे पाँवों की जरा-सी भी आहट हुई नहीं कि किसी के बिजली की तरह लोप हो जाने की आहट हमें मिलेगी। बड़े परिश्रम के बाद ही हमें यह पता लगेगा कि एकाएक विलुप्त हो जानेवाला यह अद्भुत जीव कौन था। पर जब पहलेपहल हमारी दृष्टि उसके ऊपर पड़ेगी तो हमें अवाक् ही रह जाना पड़ेगा।

**ईतूरी-वन के निवासी**

मानव-विज्ञान के आचार्यों का कथन है कि ये पिगमी आदिम मनुष्यों की एक अत्यंत प्राचीन शाखा के वंशज हैं, जो आज से लाखों वर्ष पूर्व मनुष्य के आदिम पुरखों के मुख्य समुदाय से बिछुड़कर अफ्रीका के घने गर्म जंगलों में आ बसी थी।

## शक्ल-सूरत और कद

बौना या बहुत ही छोटा। कद बदन गठीला। गर्दन छोटी। छोटे पतले पाँवों पर अड़ा हुआ लम्बा मोटा धड़। कंधे चौड़े। बाँहें अनुपात से बहुत अधिक लंबी, लेकिन हथेली और तलवे बौनों के ही उपयुक्त। अंगों का सारा अनुपात ही एक अजीब गोल-माल-सा। दाढ़ी रहने के कारण शक्ल बहुत-कुछ जानवरों-सी। शरीर का रंग पीली मिट्टी के समान। हमारी दृष्टि में कितना अधिक बदसूरत! हम उसे और भी ध्यान से देखने की कोशिश करते हैं, लेकिन उसके नुकीले दाँत देखकर हम सहम जाते हैं। ये दांत काटकर या किसी चीज से घिसकर अत्यन्त ही नुकीले बना लिये गए हैं। उनमें सुई-सी नोक हो गयी है। वह इन्हें हमें अपने अंग के सबसे सुन्दर हिस्से के समान दिखाता है।

## विचित्र वेषभूषा

अब हमारी दृष्टि उसकी वेष-भूषा पर जाती है। पोशाक वृक्षों के खाल की। डोरी के स्थान पर चमड़ा। गहने लकड़ी के। कलाई में साँप की चितकबरी खाल लपेटे। शरीर पर काले कोयले से की गयी मोटी भद्दी चित्रकारी। कहीं-कहीं लाल स्याही के भी चिह्न।

हमें यह अजीब शक्ल देखकर आश्चर्य होता है। इसे हम दुनिया की अपने ढंग की एक ही 'किस्म' मानते हैं। सोचते हैं कि इसकी जाति के और दूसरे जीव शायद ऐसे भयंकर न हों। पर हमारा अनुमान गलत निकलता है। आगे भी जो मिलते हैं, वे भी पहले से बहुत अधिक मिलते-जुलते होते हैं। मोटी-मोटी विशेषताएँ सबमें एक ही होती हैं। उनके पहचानने में भूल की गुंजायश ही नहीं रहती। नापने पर मर्दों की औसत ऊँचाई चार फीट आठ इंच और औरतों की चार फीट चार इंच निकलती है। औरतें तो हमें और भी अधिक हतोत्साहित करती हैं। अपने ऊपरी होंठ में वे एक मोटा छेद किए रहती हैं, जिसमें हाथी-दाँत की बनी छोटी पेन्सिल के आकार की एक लम्बी-सी चीज खुसी रहती है। हम लोगों की दृष्टि में वे बदसूरती की साक्षात् मूर्ति साबित होती हैं।

इन्हें देखकर नीग्रो भी कह उठते हैं—

"ये तो जंगली जन्तु हैं! वनमानुषों की जाति के।"

किन्तु ये नीग्रो भूल जाते हैं कि उन्हें देख कर भी तो बहुत-से लोग, जो अधिक सभ्य होने का दावा करते हैं, ठीक ये ही बातें कहते पाए जाते हैं!

## ये भी मनुष्य ही हैं

यह हम कदापि नहीं कह सकते कि पिगमी 'पशु-मनुष्य' हैं, अर्थात् उनमें पशु-भावनाओं के सिवा और कुछ है ही नहीं। वे अवश्य ही नीग्रो से भिन्न श्रेणी के हैं; सभ्यता के विकास की दौड़ में ये नीग्रो लोगों से भी बहुत पीछे रह गये हैं, पर इसीसे हम उन्हें पशु की श्रेणी में नहीं गिन सकते। सभ्यता की दुनिया से परे होते हुए भी हम इनमें मनुष्य की विशेषताएँ पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। उदाहरणार्थ ये कभी एक दूसरे का खाना नहीं छीनते। आपस में एक दूसरे की मदद करते हैं। कुछ हद तक परस्पर प्रेम और दया का भाव भी रखते हैं। ये गहरे पारिवारिक, यहाँ तक कि एक तरह के संघ के बंधन में बँधे रहते हैं। पिता-माता, भाई-बहन का प्रेम हमारी ही तरह इनमें भी वर्तमान है। ये बातें साबित करती हैं कि हमसे भिन्न होते हुए भी ये हैं मनुष्य ही।

और अधिक खोज करें तो हम पायेंगे कि ये भी कुछ हद तक आदमियों ही की तरह की अक्ल रखते हैं। जंगल की पैदावार को आसानी से और पर्याप्त मात्रा में बटोरने के लिए इन्होंने हथियार बनाये। और इस तरह के शस्त्रों की भी ईजाद की, जिनसे दूर से ही शिकार मारे जा सकते हैं। ये अपने छोटे-छोटे तीरों की नोक पर विष का भी प्रयोग करते हैं, जिनसे बड़े-बड़े जानवर आसानी से मारे जा सकें। इन बातों के सिवा ये आग का भी उपयोग जानते हैं, जिसका इन्हें उचित गर्व है। ये उसकी सहायता से अपना शिकार, फल, सब्जी आदि पकाकर अधिक पाचक और स्वादिष्ट बना लेते हैं। अपनी ये विशेषतायें पिगमी जानते हैं, इसलिए जब उन्हें कोई 'वनमानुष' कह बैठता है तो वे चिढ़ते हैं और यह दलील देते हैं—"वनमानुष तो आग का व्यवहार नहीं जानता, फिर वह हमारी बराबरी कैसे कर सकता है? हम आग का व्यवहार जानते हैं, इसलिए हम उनसे ऊँचे हैं।"

**एक पिगमी युवती**

ये स्त्रियां बदसूरती की साक्षात् मूर्ति होती हैं!

अब यह प्रश्न उठता है कि जब ये मनुष्य हैं, तो फिर आज भी हजारों वर्ष पहले की ही भाँति क्यों हैं? इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें इनके प्रदेश की भौगोलिक परिस्थिति, वहाँ के वातावरण, प्रकृति के विरुद्ध संग्राम करने के इनके ढंग और इन्हें प्राप्य हथियार—एक शब्द में, इनकी वस्तुस्थिति का खयाल रखना पड़ेगा। हम अपने से तुलना करते समय इनमें विशेष अंतर इनके आर्थिक विकास में ही पाते हैं और उसी के पैमाने के आधार पर उन्हें पिछड़ा हुआ कहने का साहस करते हैं। पर हमें यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि सभ्यता से परे आदमियों का आर्थिक विकास, जिस परिस्थिति में वे रहते हैं मुख्यतः उसी पर निर्भर करता है।

आइए, पिगमियों की वस्तुस्थिति पर भी एक दृष्टि डालें। यहाँ हम सबसे पहले यह देखेंगे कि जिस तरह के विरोधी प्राकृतिक वायुमण्डल में उनका जन्म होता है, उसमें जीवित रह पाने की ही समस्या उनके लिए सबसे बड़ी समस्या हो जाती है। उन्हें अपने को जीवित रखने के लिए अनवरत संग्राम करते रहना पड़ता है। हजारों वर्ष से पिगमी खानाबदोश का जीवन व्यतीत करते चले आये हैं। क्षुधा-निवृत्ति के लिए ये परिवार के आकार के छोटे-छोटे दल बाँधकर सदैव अफ्रीका के इन भयावने विशाल जंगलों में भटकते रहे हैं। इनका दल इतना छोटा
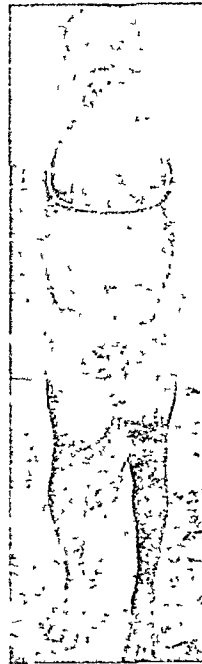
**पिगमी तीरन्दाज**

भारतवर्ष के भीलों की तरह मध्य अफ्रीका के इतूरी-वन के ये बौने भी तीर-कमान धारण करते हैं और अचूक निशाना मारते हैं। ये प्रायः अपने तीरों की नोक को एक प्रकार के विष में बुझा लेते हैं, जिनके कारण शिकार की मृत्यु निश्चित हो जाती है। यह विष एक जंगली पेड़ की छाल से निकाला जाता है। तीर उनके जीवन-संग्राम का प्रधान शस्त्र है. फिर भी ये लोग इतने अधिक पिछड़े हुए हैं कि ये स्वयं उसे नहीं बना पाते। उसके लिए ये अपने पड़ोसी नीग्रो लोगों पर निर्भर करते हैं। ( यह चित्र 'अमेरिकन म्यूजियम ऑफ नेचरल हिस्ट्री' के एक चित्र का फोटो है। )

रहा कि वह अपने पुराने ढंग के हथियारों की सहायता से इस जंगल को काबू में नही ला सका, अतः इन्हें उस वन की विशालता के सामने हमेशा सिर झुकाना पडा। इस विशेष प्रदेश मे भोजन की कमी रहने के कारण इन्हें हमेशा फल, सब्जी, और शिकार की तलाश में भटकते रहना पडा। उसी प्रयास मे उन्हें अपना जीवन बिता देने के लिए बाध्य होना पड़ा। क्षुधा ने इनके जीवन को इस प्रकार अस्थिर बनाये रखा कि इन्हें कभी भी और कामों के लिए फुरसत नही मिली। आज भी हम देखते है कि भोजन या जीवन के उपयोग की अन्य कोई भी वस्तु जमा करके रखने का ढर्रा इनके यहाँ चल नही सकता। यदि एक दिन की मेहनत से लाया गया भोजन दूसरे एक और दिन के लिए चल जाय तो वही बहुत हुआ। इसी से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि इस प्रदेश मे भोजन जुटाना कितना कठिन है, इसके लिए कितना परिश्रम, कितना खतरा उठाते रहने की जरूरत पडती होगी।

इसी भोजन जुटाने के महान् संग्राम ने पिगमियों को एक विशेष प्रकार के साँचे में ढाल दिया है। इसी ने उनके ऊपर ऐसी गहरी छाप लगा दी है कि वे अपने जीवन के परिवर्तन की संभावना की बात सोच ही नही सकते। उनका घुमक्कडपन उनके लिए गत हजारों वर्षो में एक इतना स्वाभाविक, इतना आवश्यक कार्य बन गया है कि अब वे इसके बिना जी ही नहीं सकते। वे स्थिर जीवन बिताने की बात सोच ही नही सकते। इसलिए उनकी जो बस्तियाँ है, उनके नाम तक भी स्थायी नही रहते। बस्तियों का नामकरण वे अपने दल के मुखिया के नाम पर किया करते है। इसी कारण जब वह मुखिया चला जाता है और दूसरा मुखिया उस गाँव में आता है तो साथ ही उस गाँव का नाम भी बदल जाता है।

**दो बूढ़े पिगमी**

अधिक से अधिक साढे चार फीट कद के इन दोनों की भावभङ्गी से बन्दरों-जैसा एक अजीब भय-मिश्रित मसखरेपन का भाव टपकता है। बुढ़ापे में तो इनके चेहरे पर यह भाव और भी स्पष्ट हो जाता है।

बाहर के जितने भी धक्के आये, पिगमियो को परिवर्तित करने मे वे समर्थ नही हुए। ये धक्के विशेषकर नीग्रो लोगो की ओर से आये। वे ही पिछली कई शताब्दियों में ऐसे रहे है, जिन्होंने ईतूरी-वन में इक्के-दुक्के प्रवेश किया है, उसमें वे स्थान-स्थान पर बस गये हैं। कई मामलो में वे पिगमियों से अधिक आगे बढे हुए अवश्य है, फिर भी वे अपने जीवन के ढर्रे पर पिगमियों के जीवन को लाने में समर्थ नहीं हुए है।

## उन्नति करने में असमर्थ

और आदमियों की तरह पिगमियों के लिए भी आग बहुत आवश्यक है। वे इसका व्यवहार भी करते है, पर उसे नये सिरे से जलाना उन्होने अब तक नही सीखा है। इनमें अब भी बहुतेरे ऐसे है, जो अपने घरो में आग कभी बुझने नही देते; क्योंकि बुझ जाने पर उन्हें उसे दूर की बस्ती मे लाने जाना पड़ेगा। नीग्रो लोग पत्थर और काठ घिसकर जिस तरह चिनगारी निकालते है, वह तरीका पिगमियों ने हजारो वर्षो में भी नही सीखा। पिगमियों की इस प्रकार की मानसिक अवस्था का खास कारण यह मालूम होता है कि जिस विशाल जंगल मे ये शुरू से ही घिरे आ रहे है, उसने बहुत हद तक अपने को इनके सामने अजेय साबित कर दिया है। उसी ने इनका स्वभाव बदलकर इस ढंग का बना दिया है कि मनुष्य अपने वायुमडल पर विजय पा सकता है, इस बात पर अब वे विश्वास ही नहीं कर सकते।

दूसरा उदाहरण हम इनके आहार का लें। पिगमियो के भोजन का सिर्फ एक-तिहाई भाग गोश्त रहता है; बाकी दो-तिहाई फल, शाक इत्यादि होता है। चूँकि जड, मूल, खाने योग्य पत्ते तथा जंगली फल वन मे बहुत कम जुटते है, इनसे पेट नही भरा जा सकता, इसीलिए पिगमियो को मनुष्य द्वारा उपजायी गई चीजों की आवश्यकता पड़ती है। वे ताल के फल और ऊख खाते है; पर सबसे अधिक वे केला पसन्द करते है। केला ही एक तरह से उनका सबसे प्यारा आहार गिना जा सकता है। पर इतना होते हुए भी वे इसे उपजा नही पाते।

इस प्रदेश मे खेती करनेवाले सिर्फ नीग्रो ही है। वे ही ऊख और केला आदि उपजाते है। इन चीजों के बल

पर वे पिगमियों को एक तरह से गुलाम बनाकर रखते हैं। नीग्रो इन्हें समय-समय पर खाने के लिए ऊख और केले दिया करते हैं। इसके बदले पिगमी उनके अधीन रहते हैं। नीग्रो उनसे शिकार मरवाया करते हैं और जंगली पदार्थ इकट्ठा कराते हैं। थोड़े-से केले के लिए जत्थे के जत्थे पिगमी जीवन भर नीग्रो मालिक की खिदमत में रहते हैं और उसके मरने पर उसके लड़को की भी गुलामी करते हैं। वे अपना शिकार, अपनी स्वतन्त्रता, अपना सब कुछ केले के बदले दे डालने के लिए तैयार रहते हैं, लेकिन स्वयं कभी भी केला नहीं उपजाते।

पिगमी गुलाम और नीग्रो मालिक

जीवन-निर्वाह के लिए आहार न जुटा पाने के कारण पिगमी इसी प्रदेश में बसनेवाले नीग्रो लोगों की उम्र भर गुलामी करते हैं। उनके लिए स्वतंत्रता से अधिक एक केले का मूल्य है, जिसके लिए वे सब कुछ निछावर कर सकते हैं।

## आखेट का ढंग

शिकार पिगमियों का पेशा-सा है, फिर भी इस मामले में उन्होंने कुछ अधिक तरक्की नहीं की। अब भी इनके आखेट का ढंग हजारों वर्ष पहले से जैसा चला आता है, वही है। इसमें औरत, मर्द, बच्चे सब भाग लेते हैं और जानवर को घेरकर शिकार करते हैं। नीग्रो लोगों के सम्पर्क में आने के बाद वे जाल और तीर-कमान का भी व्यवहार करने लगे हैं, पर अब भी वे लोहे के हथियार स्वयं नहीं बना पाते। इसलिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु—अपने तीर—के लिये भी वे नीग्रो लोगों के ही आश्रित रहते हैं। तीर का चमत्कार देखकर पिगमी आश्चर्य करते हैं। वे उसके उपयोग का भी महत्व समझते हैं; फिर भी वे स्वयं उसे नहीं बनाते!

लोहे के तीर से बड़े शिकार के मारे जाने पर इन्हें आश्चर्य के साथ-साथ बेहद खुशी भी होती है। उस दिन पहले से ही गाँव में खबर पहुँचा दी जाती है और लोग आनन्द से उछलने लगते हैं। शिकार गाँव भर में बाँटा जाता है और उसकी खुशी में खूब गाना और नाच होता है। उनके आनन्द को देखकर पता चलता है कि उस दिन मानों उन्हें कुछ दुर्लभ वस्तु प्राप्त हो गयी है। सदा क्षुधा-पीड़ित लोगों के लिए ऐसा व्यवहार स्वाभाविक ही है।

## भूख के मारे सब-कुछ खाने को तैयार

इस प्रदेश में क्षुधा-ज्वाला का अनुमान केवल इसी एक बात से लगाया जा सकता है कि ये लोग मौके-मौके पर आदमी तक का गोश्त खा लेते हैं। अभी कुछ वर्ष पहले का जिक्र है कि इस इलाके में एक औरत को उसके डायन होने के संदेह पर मार डाला गया। उसे काटने पर देखा गया कि उसके शरीर में 'डायन का विष' नहीं है। ऐसे अच्छे गोश्त का नष्ट होना पिगमी नहीं देख सकते थे। इसलिए उन्होंने उसे और शिकार की ही भाँति बाँटकर खा लिया! जब निरपराध स्त्री के खून का हर्जाना उसके घरवाले माँगने आए तो उन्हें कुछ केले दे दिए गए। वे भी खुशी-खुशी घर लौट गए!

पिगमियों में कहीं-कहीं औरतों और मर्दों तक को लूट लेने और उन्हें मारकर खा डालने का रिवाज था। पर अब यह रिवाज नहीं पाया जाता। भयानक ईतूरी-वन का ध्यान रखते हुए यदि वहाँ आज भी यह प्रथा पाई जाय तो आश्चर्य नहीं होगा। यहाँ सर्वदा ही दुर्भिक्ष रहता है और लोग हमेशा भूख के मारे सब कुछ खा डालने के लिए तैयार रहते हैं। वनमानुष का गोश्त, जिसे नीग्रो घृणा की दृष्टि से देखते हैं, आज भी पिगमी बड़े चाव से खाया करते हैं।

## घोंसलों के निवासी

इन्हीं बातों से अनुमान लगाया जा सकता है कि पिगमियों के रहन-सहन का तरीका कितना प्राचीन होगा। इस ईतूरी-वन में हजारों वर्ष पहले जब इनका आगमन

हुआ, उस समय जो रहने का तरीका उन्होंने अपनाया वह आज भी हूबहू चला आ रहा है। आज भी ये पत्तो से बनाए गए घोंसलों में रहते हैं। इनके घर मे दरवाजे नही होते। घर मे कुछ वैसी सम्पत्ति भी नही होती कि जिसकी हिफाजत के लिए उसे बन्द करने की जरूरत पड़े। वर्षा से बचने के लिए कभी-कभी ये वृक्षों के ऊपर डाल लगा देते है, यही उनके लिए बहुत अक्ल का काम हो जाता है। कम्बल, चटाई आदि के व्यवहार की तो ये कल्पना भी नही कर सकते। लकड़ी के कुन्दो पर ही, आग के पास शरीर गरमाते हुए, ये सो जाते हैं।

इधर हाल मे आकर तो इनकी हालत और भी बदतर होती जा रही है। गोरी चमडीवालो ने जहाँ नीग्रो लोगो को जगलो मे खदेड दिया है, वहाँ स्वय नीग्रो लोगों ने पिगमियो को और भी अधिक सकीर्ण घेरे मे डाल दिया है, जहाँ उनका जीवित रहने का सग्राम और भी अधिक जटिल हो गया है। परिणामस्वरूप पिगमियो की जाति मरणप्राय होती जा रही है। हाल मे लौटे कुछ अन्वेषकों की धारणा है कि अब उनकी सख्या घटकर सिर्फ बीस हजार ही रह गई है।

## राक्षसी गोरों द्वारा पिगमियों का शिकार

अभी कुछ समय पहले तक की बात है कि कुछ गोरे प्रमादवश पिगमियो को पूरी तरह से जानवरों की गिनती मे मानकर उनका शिकार तक खेलने का शौक रखते थे! यहाँ पर यह दोहराने की आवश्यकता नही कि पिगमी है तो आखिर मनुष्य ही। उनके भाव प्रकाश करने का ढंग चाहे हमसे भिन्न हो, फिर भी वे मनुष्य ही की कोटि के है, इसमे सदेह नही किया जा सकता।

पिगमियो के बर्ताव के तरीके हमारी तरह जटिल न होकर अब भी बड़े सीधे-सादे और स्पष्ट हैं। इसका यह मतलब नही कि ये चालाकी जानते ही नहीं। चालाकी से अपने शत्रु को जहर देकर मार डालने की कला ये खूब जानते है; और मौके-मौके पर इसका उपयोग भी करते है, पर आदमी होने के नाते इतना समझते है कि 'जो जहर देकर मारता है, वह खुद भी जहर से ही मरता है।' यह समझ इनके भीतर चाहे जिस प्रकार भी क्यो न घुसी हो, परन्तु इनमें यह विवेक का भाव है अवश्य, और यही विचार जहर देने के रिवाज को इनमे आम तरह से प्रचलित नही होने देता।

पिगमियो के चेहरे पर अतिशय कठोरता और मानव-सुलभ कोमल भाव का अभाव देखकर हम उन्हे अपनी कोटि का होने मे संदेह करते है, पर हमें उनके सग्राम को भी भूलना नही होगा। जीवन धारण किए रहने के निरतर सग्राम ने ही पिगमियों को कठोर बना दिया है। पिगमियों में पुरुष कभी रोते नही देखे गये। तकलीफे बर्दाश्त करने की उनमे अद्भुत क्षमता होती है। लेकिन इसके साथ ही हम यह भी पाते हैं कि शहद की सिर्फ याद भर करा देने से ही वे अँगुली चाटने लगते है, नमक देख भर लेने के लिए उछल पडते है और बड़ा शिकार या महज केला पाकर ही उत्सव मनाने लगते है!

## परिवर्तन इनके लिए घातक

आज हम यदि अपने ढग से उनके जीवन मे परिवर्तन लाना चाहे, तो हमे शायद ही सफलता मिलेगी। हजारो वर्ष से कठोर जीवन व्यतीत करते-करते वे उसके ऐसे आदी हो गये है कि उसके बिना वे अब जी ही नही सकते। इसीलिए किसी पिगमी को यदि किसी बड़े गाँव मे लाकर रखा जाता है, जहाँ उसके आराम की सब चीजे मौजूद मिलती है, तो भी वह वहाँ रहना पसन्द नही करता। पिगमी का उस गाँव मे मानो दम फूलने लगता है और अपने ईतूरी-वन के घोसले मे लौट जाने के लिए वह बेचैन होने लगता है।

पिगमियों का इस प्रकार का स्वभाव देखकर हम मनुष्य के जीवन में वातावरण के महत्व का अन्दाजा लगा सकते है। मनुष्य जैसे प्रदेश में रहता है, जैसी परिस्थिति में रहने के लिए वह बाध्य होता है, अपने निर्वाह के लिए उसे जितना वक्त लगाना और परिश्रम करना पड़ता है, खाद्य-पदार्थो के प्राप्त करने के प्रयत्न में जिन मानसिक और शारीरिक अस्त्रो का वह उपयोग करने लगता है, वे ही सब उसका स्वभाव बनाते है और उन्ही बातों के ऊपर उसका आगे का विकास भी निर्भर करने लगता है।

## मानव-परिवार की एक अत्यंत प्राचीन शाखा

मानव-विज्ञान के आचार्यो का मत है कि पिगमी मानव-जाति की एक बहुत पुरानी उपशाखा के प्रतिनिधि है। कहते है कि आज से कई लाख वर्ष पहले पृथ्वी पर घोर शीत छा गई थी और अधिकाश भागो मे बर्फ-ही-बर्फ फैल गया था। इस तरह के कई हिमयुग पृथ्वी पर आए, जिनके कारण मनुष्य के आदिम पुरखे अलग-अलग समूहो में बँटकर गर्म प्रदेशो मे इधर-उधर बिखर गये। एक शाखा सुदूर आस्ट्रेलिया तक पहुँची, दूसरी उत्तर ही में बनी रही। तीसरी शाखा मध्य अफ्रीका के घने जगलों की ओर बढ़ी, और एक बार उसकी भूलभुलैयाँ मे फँस जाने पर फिर वह वहाँ से बाहर न निकल पाई। इसी शाखा के

बचे बचाए स्मारक आज के अफ्रीका के पिगमी और नीग्रो है। जिस तरह एक ही विशाल वृक्ष की अनेक शाखाओं में कोई एक शाखा निरन्तर फूलती-फलती हुई ऊपर की ओर बढ़ती जाती है, और कुछ शाखाएँ तने से अलग फूटकर कुछ ही दूर फैलने के बाद ठूँठ-सी हो जाती हैं, वही हाल पिगमियों का भी है। मानव-जाति के एक ही विशाल वंश में उत्पन्न होकर भी पिगमी जाति उन्नति की दौड़ में अपनी अन्य सहोदर जातियों का साथ न दे सकी। यही कारण है कि उसकी बाढ़ सदा के लिए रुक गई, और अब तो यह शीघ्रता से लुप्त होती जा रही है।

# न्यू गिनी के पापुआन

**सभ्यता की दृष्टि से वर्त्तमान मनुष्य की विभिन्न जातियों में सबसे निचली श्रेणी के लोग--पिगमियों--से हम आपका परिचय पिछले प्रकरण में करा चुके हैं; आइए, अब अफ्रीका से एकदम सुदूर पूर्व की ओर बढ़कर प्रशान्त महासागर में स्थित न्यू गिनी द्वीप-समूह की सभ्यता से परे की दुनिया का अवलोकन करें। पहले मुख्य द्वीप--न्यू गिनी--के निवासी पापुआन को ही लें।**

विकास की बिलकुल निम्न श्रेणी के मनुष्यों में पिगमियों के बाद न्यू गिनी के पापुआनों की गिनती है। आज भी जंगलीपन में इनका स्थान ठीक पिगमियों की श्रेणी में है। जिस काल में न्यू गिनी द्वीप एशिया महादेश से स्थलभाग द्वारा जुड़ा हुआ था, उसी समय वहाँ पापुआनों का पहले-पहल आगमन हुआ था। पिगमियों के साथ इनके खून का मिश्रण भी कुछ हद तक हुआ है।

पापुआनों की भी कई उप-जातियाँ हैं और वे कई तरह की भाषाएँ बोलते हैं। उनकी कई जबानें तो अब भी ऐसी हैं, जिन्हें सभ्य संसार का कोई भी व्यक्ति नहीं समझ पाता। इनकी एक विशेषता यह भी है कि किसी भी अजनबी को देखते ही ये उसे मार डालने की कोशिश करते हैं; इसलिए इनके इलाके में शायद ही कभी कोई अन्वेषक प्रवेश करने का साहस करता है।

मोटे रूप से हम पापुआनों को दो हिस्सों में बाँट सकते हैं--एक घने जंगलों के, दूसरे समुद्र-किनारे के आस-पास रहनेवाले। इन दोनों में बहुत-सी बातों की समानता है, पर साथ ही उनके विभेद को प्रदर्शित करने वाली विशेषताएँ भी कुछ कम नहीं हैं।

**पापुआन युवक की वीर-परीक्षा**

भिगोकर नरम बनायी हुई बेंत की एक लंबी छड़ी को मुँह की ओर से पेट तक पहुँचाने की क्रिया, पापुआनों में युवक के लिए वीरता का प्रमाण मानी जाती है। घोर आत्मयन्त्रणा स्वीकार करते हुए ये लोग नीचे तक पूरी बेंत को उतारते और फिर उसे खींचकर बाहर निकालते हैं।

## घने जंगलों के निवासी पापुआन

पहले हम घने जंगलों के बीच रहनेवालों को ही लें। न्यू गिनी के उत्तर-पूर्व में पुगरी नदी के किनारे इनकी खासी आबादी है। इनके गाँव पहाड़ियों की चोटियों पर हुआ करते हैं। वहाँ से दर्रे और दूर-दूर के प्रदेश दिखाई देते हैं। प्रत्येक गाँव बड़े पुराने ढंग पर किलाबन्दी किये रहता है। इस काम के लिए सिर्फ काठ के खंभों को एक-एक बालिश्त की दूरी पर गाड़ देना ही पर्याप्त समझा जाता है। पर इस प्रदेश में, जहाँ आज-कल भी पत्थरों के बने हथियार काम में लाये जाते हैं, ये दुर्ग बहुत हद तक अजेय साबित होते हैं।

घरों के आकार गोल होते हैं। वे बहुत नीचे और घास के छप्पर वाले होते हैं। पहाड़ों की चोटियों पर निवास करने के कारण आग की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए प्रायः हर घर में कमरे के बीच में आग जलाई जाती है। पापुआन योद्धा इस आग के सामने पाँव पसारकर उसके चारों तरफ अपनी चटाइयों पर सो जाया करते हैं। घर के एक कोने में सूअरों के निचले जबड़े टँगे होते हैं; यहीं जानवरों की बलि देने का स्थान रहता है।

**इन्हीं बीहड़ पर्वतमालाओं की गोद में पापुआन बसते हैं**

न्यू गिनी के उत्तर-पूर्वीय प्रदेश में पुरारी नदी के पूर्व की ओर फैली हुई इन पर्वतों की शृङ्खलाओं से आप इस प्रदेश के बीहड़पन का कुछ अनुमान कर सकते हैं।

जो कुछ भी उपयोग की चीजें इन्हें मिलती हैं, उन्हें ये हड्डियों के चाकुओं से काटकर व्यवहार में लाते हैं। इनके बड़े हथियार पत्थर के बने रहते हैं, जिन्हें ये साधारण पत्थर पर घिसकर तैयार कर लिया करते हैं। आग जलाने का काम दो लकड़ी के टुकड़ों को रगड़कर उनसे निकली चिनगारी द्वारा होता है। इन्हीं बातों से हम पापुआनों की भौतिक सभ्यता का अन्दाजा लगा सकते हैं।

शायद शुरू-शुरू में सभी मनुष्य इसी भाँति रहते रहे हों, फिर भी पापुआनों की अपनी कुछ खास विशेषताएँ हैं, जो शायद अन्य लोगों में नहीं रही होंगी। इनके समाज में विधवाओं के शोक मनाने की प्रथा अजीब और अपने ढंग की निराली है। विधवा औरतें बाल कटा लेती हैं, अपने सारे शरीर में कीचड़ चुपड़ा करती हैं और एक जाली के भीतर अपने मृत पति की खोपड़ी को लटकाये हमेशा उसे साथ-साथ लिये फिरती हैं।

इनकी दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि इनके युवा सदस्यों को एक विशेष तरीके से अपनी बहादुरी साबित करना पड़ती है। ये अपने गले में लचकदार बेंत के टुकड़े बाँधे चलते हैं। उन टुकड़ों को भिगोकर वे नरम बनाते और तब मुँह की ओर से उन्हें पेट तक पहुँचाते हैं। उन्हें इससे वमन करने की-सी प्रवृत्ति होती है, पर वे जबर्दस्ती अपने को इससे रोक रखते हैं, जिसकी वजह से उनकी आँखें लाल हो उठती हैं। इस प्रकार आत्मयंत्रणा द्वारा वे यह साबित करते हैं कि वे कठिनाइयाँ झेलने में समर्थ हैं और इसी शर्त को पूरा करने पर वे अपने समाज में आदर पाते हैं।

पापुआनों की श्रेणी की संसार की और जातियाँ आने

पापुआन अपना भोजन काठ के बने कठौते-जैसे पात्र में और पानी बाँस के फोंफों में रखते हैं। कभी-कभी वे ही फोंफे गिलास का भी काम देते हैं। इनके व्यवहार में आनेवाले कुल्हाड़े पत्थरों के होते हैं, और चाकू हड्डियों के बनाये जाते हैं।

## आकृति, वेशभूषा, रीति-रिवाज आदि

हम लोगों के पैमाने से इन पापुआनों की शक्ल बदसूरत ही दिखेगी। इनका कद नाटा, चमड़ा गहरे कत्थई रंग का और डीलडौल बड़ा ही बेतुका होता है। ये कमर में पीटकर चपटी बनाई गई खाल डाले रहते हैं—वही इनके वस्त्र का काम देती है। हड्डियों की बनी गोलाकार शक्ल की चीजें ही इनका आभूषण होती हैं। हड्डी के बने बदशक्ल सूओं से ये अपनी चटाइयाँ बुन लिया करते हैं और प्रकृति में

रोगों का आप ही किसी-न-किसी प्रकार इलाज कर लेती हैं, लेकिन ये इतने पिछड़े हुए हैं कि पुराने ढंग की औषधियों का भी व्यवहार नहीं करते। इनके इलाके में प्रायः सब लोगों के दाँत खराब रहते हैं। मुसकुरे की बीमारी प्रत्येक को रहती है। आँखों के रोग, पेट के घाव आदि भी सामान्य होते हैं। पर ये किसी प्रकार का भी उनका उपचार नहीं जानते।

बाहरी संसार से इन्हें कोई वास्ता नहीं। ये खुद अपने इलाके में खेती करते हैं। ये अधिकतर ऊख और पपीते उपजाते और उन्हीं पर अपना निर्वाह करते हैं। इनका प्रत्येक गाँव अपने आप ही अपनी आवश्यकताएं पूरी कर लिया करता है। इसलिए न तो किसी तरह का व्यापार इनके यहाँ चलता है और न किसी प्रकार की आवश्यकताओं की कमी ही ये महसूस करते हैं।

सौदा करने के रिवाज से ये लोग अब तक अपरिचित हैं। इसका अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि ये अपनी कोई वस्तु यदि एक बार विनिमय कर भी लेते हैं तो फिर उस विनिमय को पलटने के लिए दस बार लौट-लौटकर आते हैं। इनके यहाँ यह आम बात है।

अपने जानवरों से इन्हें इतनी अधिक मुहब्बत रहती है कि ये उनकी भी मृत्यु पर शोक मनाते हैं। किसी पालतू सुअर के मरने पर संसार के किसी और भाग की स्त्रियाँ शायद ही कीचड़ चुपड़कर शोक प्रकाश करती होंगी, पर पापुआनों के बीच यह आम रिवाज है! वे घरेलू जानवरों के मरने पर उनके लिए अपने सम्बन्धियों जैसा ही शोक मनाते हैं।

पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि खूंख्वारी में पापुआन किसी कदर कम हैं। लड़ना-भगड़ना या मनुष्यों का खून करना इनके समाज में खाना खाने-जैसी रोजमर्रे की साधारण-सी बात है। इसीलिए ये लड़ते समय अपने साथ दो-तीन बच्चों को भी अपनी पीठ पर बाँधकर ले जाते हैं, जिसमें जन्म से ही वे सख्ती बर्दाश्त कर सकें और आगे चलकर लड़ाई की कला में पूर्णतया प्रवीण साबित हों। लड़ते समय ये इतने खूंख्वार बन जाते हैं कि अपने शत्रु के शरीर में बड़ी निर्दयतापूर्वक पत्थर के हथियार, कुल्हाड़े या तीर से गहरा घाव बना डालने में इन्हें किसी प्रकार की भी हिचक नहीं होती। कभी-कभी तो ये पूरे गाँव-के-गाँव को पूर्ण तरह से जलाकर खाक बना देते हैं। एक गाँव के

**पापुआनों की बस्तियाँ**

यह पुरारी नदी के प्रदेश में पापुआनों के ऊख के खेतों और बस्तियों का दृश्य है।

व्यक्ति का दूसरे गाँव के व्यक्ति से झगड़ा अक्सर ही दोनों पूरे गाँवों के झगड़े का रूप ले लेता है। शत्रु को पराजित कर चुकने के बाद विजयी दल पहरा देता है, और उनकी औरतें विजितों की सम्पत्ति को अपने साथ ले जाने के लिए बटोरती हैं। इनकी लड़ाइयों का ढंग लुक-छिपकर हमला करने और अँधेरे में छापा मारने के तरीके का है।

घने जंगलों के पापुआनों की भाँति इनके यहाँ भी अपने मुर्दों को अपने बगीचों में गाड़ रखने की प्रथा है। उस कब्र की निगरानी के लिए ये उसके चारों तरफ चटाई का एक घेरा डाल देते हैं। इस इलाके की विधवाओं में अपने मृत पति की खोपड़ी ही नहीं, बल्कि उसके बाल और गहनों को भी लिये चलने की प्रथा है। घने जंगलवाली विधवाओं की भाँति ये भी अपने शरीर में कीचड़ चुपड़ती रहती हैं और बाल कटाती हैं।

## समुद्रतट के पापुआन

समुद्र-किनारे के भूप्रदेशों में रहनेवाले पापुआनों की रगों में मिली खून मिश्रित है। उनका कद नाटा, पर चमड़े का रंग कुछ हल्का होता है। इनमें खास बात यह होती है कि इनका पेट बहुत अधिक निकला रहता है। इनके भी लड़ाई आदि के ढंग भीतरी प्रदेशों के पापुआनों के समान ही हैं, पर इनकी विशेषता यह है कि ये भाले का भी व्यवहार करते हैं। इसका व्यवहार समुद्रतट पर रहनेवाले मेलानेशियनों से इन्होंने सीखा है। इनके मकान भी भिन्न प्रकार के होते हैं, क्योंकि इन्हें लकड़ी थोड़ी दूर से ढोकर लाना पड़ता है। इनके बाल रखने का तरीका भी भिन्न है। ये उनमें कोयला, धूल और शहद मलते हैं और फिर उन्हें पगड़ी की तरह बाँध लेते हैं, जिसकी एक दुम कंधे पर झूला करती है। यह शहद जंगली मधु-मक्खियों का होता है, इसलिए इनके सिर से बड़ी बदबू निकलती है।

**योद्धावेश में एक पापुआन सरदार**

न केवल युद्ध के समय ही, प्रत्युत अपने नृत्योत्सवों के समय युद्ध की नकल उतारते समय भी, ये लोग इस प्रकार की विचित्र वेश-भूषा धारण करते हैं।

## रहन-सहन एवं उत्सव-नृत्य, आदि

समुद्री प्रदेश के पास होने पर भी इनका इलाका घने जंगलवालों की अपेक्षा सभ्य संसार से कम दूर नहीं है! इनके यहाँ किसी भाँति की भी सवारी की व्यवस्था नहीं होती। ये भी अजनबी लोगों को देखते ही मार डालते हैं। इस कारण इनके आस-पास की अन्य जातियाँ इनके इलाकों में प्रवेश करने का साहस नहीं करतीं। इनके गाँव बहुत छोटे-छोटे होते हैं। एक गाँव में अधिक से अधिक दो से लेकर छः घर तक होते हैं, जिसके कारण शादी-विवाह आदि के मामलों में बड़ी दिक्कतें आ उपस्थित होती हैं। इनके यहाँ भी बिल्कुल निकट के रिश्तेवालों से शादी न करने की प्रथा है। जिस गाँव में सिर्फ दो या तीन ही घर होते हैं, वहाँ यह कानून दूर तक लागू नहीं किया जाता। ऐसी हालत में उनके अधोगति

की ओर जाने के भी चिह्न मिलने लगते हैं। बौने, लूले, पंगु और मिरगी के रोगी व्यक्तियों की इनमें भरमार होने का यही कारण है।

पापुआन कभी-कभी उत्सव भी मनाते हैं। ऐसे मौकों पर कई गाँव के लोग इकट्ठे होते हैं। औरतें अपने बच्चों के साथ ही, खाने-पीने का सामान भी पीठ पर लटकाकर लाती हैं। मर्द नगाड़े और हथियार लेकर आते हैं। इन मौकों पर अपने को सजाने के लिए ये अपने इलाके में पाये जानेवाले विशेष प्रकार के पक्षियों के पंख व्यवहार में लाते हैं। कभी-कभी कारीगरी की गई लकड़ी और सितुई भी काम में आती है। औरतें अपने सारे शरीर में गोदना गुदायें रहती हैं। इन उत्सवों के मौकों पर सबसे खास बात इनका नाच है। इसमें वे पक्षी और जानवरों की नकल करते हैं। जिन पक्षियों को ये रोज देखते हैं, उनकी नकल उतारने और ठीक उन्हीं के समान व्यवहार दिखाने में ये बड़े निपुण होते हैं। ये कगारू तक की नकल कर लेते हैं। जानवर इनके पड़ोसी या यों ही कहिये कि इनके सहवासी होते हैं। इसलिए उनकी पूरी और सही-सही नकल उतारने में इन्हें विशेष कठिनाई नहीं होती।

अपने नृत्य में ये लड़ाई का भी दृश्य दिखाते हैं। बर्छी उठाकर एक दूसरे को घुड़कने का भी बहुत ही अच्छी तरह से खाका उतारते हैं। इनके बाजे भी इसी प्रकार का भाव प्रकाशित करते हैं। इनके जीवन में लड़ाई एक पेशा-सा रहता है, इसलिए इनके लिए उसका हूबहू खाका उतार लेना कठिन नहीं होता। पर इतना होने पर भी मनुष्य की सभी प्रकार की भाव-भंगियों को वे नृत्य में प्रदर्शित नहीं कर सकते।

**नृत्योत्सव के लिए विशेष वेशभूषा**

नृत्य पापुआन समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इनका प्रदर्शन प्रायः विशेष उत्सवों के अवसर पर होता है। पापुआन अपने नृत्योत्सवों में भाँति-भाँति के खाके उतारते हैं, जिसके लिए शरीर को गेरू आदि से पोतकर वे अपनी वेशभूषा भाँति-भाँति से चित्र-विचित्र बनाते हैं।

पापुआनों में अंधविश्वास भी कम नहीं होता। उनकी किसी वस्तु को, अथवा जिसके पाने के लिए वे लालायित हों उसे यदि कोई आदमी इन्हें दिखाकर आग में जला दे, तो वे उस आदमी की जान के ग्राहक हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि इनके विश्वास के अनुसार आग में जादू रहता है। उस वस्तु के जलाने का इनके लिए अर्थ होता है कि वह आदमी इनकी मृत्यु चाहता है। पर इस अपराध की रोक भी है। यदि वह व्यक्ति इसके बदले इन्हें कुछ भेंट दे दे, और कुछ नहीं तो हर्जाने के रूप में अपने शरीर का बाल ही नोच लेने दे, तो ये संतुष्ट हो जाते हैं।

इनके जीवन का विकास इस हद तक अवश्य हुआ है कि सीमित अर्थ में ये सामाजिक जीव होने का दावा कर सकते हैं। इनमें व्यक्ति की हैसियत समाज से बहुत कम रहती है। 'व्यक्तिगत' जीवन का इनमें इतना अभाव है और एक-दूसरे के मामलों के जानने के ये इतने उत्सुक होते हैं कि नित्यक्रिया तक में भी एकांत के परिपालन की इनके यहाँ प्रथा नहीं है।

व्यक्ति का दूसरे गाँव के व्यक्ति से झगड़ा अक्सर ही दोनों पूरे गाँवों के झगड़े का रूप ले लेता है। शत्रु को पराजित कर चुकने के बाद विजयी दल पहरा देता है, और उनकी औरतें विजितों की सम्पत्ति को अपने साथ ले जाने के लिए बटोरती है। इनकी लड़ाइयों का ढग लुक-छिपकर हमला करने और अँधेरे में छापा मारने के तरीके का है।

## समुद्रतट के पापुआन

समुद्र-किनारे के भूप्रदेशों मे रहनेवाले पापुआनों की रगों में पिगमी खून मिश्रित है। उनका कद नाटा, पर चमड़े का रंग कुछ हल्का होता है। इनमें खास बात यह होती है कि इनका पेट बहुत अधिक निकला रहता है। इनके भी लड़ाई आदि के ढग भीतरी प्रदेशों के पापुआनों के समान ही हैं, पर इनकी विशेषता यह है कि ये भाले का भी व्यवहार करते हैं। इसका व्यवहार समुद्रतट पर रहनेवाले मेलानेशियनों से इन्होंने सीखा है। इनके मकान भी भिन्न प्रकार के होते हैं, क्योंकि इन्हें लकड़ी थोड़ी दूर से ढोकर लाना पड़ता है। इनके बाल रखने का तरीका भी भिन्न है। ये उनमें कोयला, धूल और शहद मलते हैं और फिर उन्हें पगड़ी की तरह बाँध लेते हैं, जिसकी एक दुम कंधे पर झूला करती है। यह शहद जंगली मधु-मक्खियों का होता है, इसलिए इनके सिर से बड़ी बदबू निकलती है।

**योद्धावेश में एक पापुआन सरदार**

न केवल युद्ध के समय ही; प्रत्युत अपने नृत्योत्सवों के समय युद्ध की नकल उतारते समय भी, ये लोग इस प्रकार की विचित्र वेश-भूषा धारण करते हैं।

घने जंगलों के पापुआनों की भाँति इनके यहाँ भी अपने मुर्दों को अपने बगीचों में गाड़ रखने की प्रथा है। उस कब्र की निगरानी के लिए ये उसके चारों तरफ चटाई का एक घेरा डाल देते है। इस इलाके की विधवाओं में अपने मृत पति की खोपड़ी ही नहीं, बल्कि उसके बाल और गहनों को भी लिये चलने की प्रथा है। घने जंगलवाली विधवाओं की भाँति ये भी अपने शरीर में कीचड़ चुपड़ती रहती हैं और बाल कटाती हैं।

## रहन-सहन एवं उत्सव-नृत्य, आदि

समुद्री प्रदेश के पास होने पर भी इनका इलाका घने जंगलवालों की अपेक्षा सभ्य संसार से कम दूर नहीं है! इनके यहाँ किसी भाँति की भी सवारी की व्यवस्था नहीं होती। ये भी अजनबी लोगों को देखते ही मार डालते हैं। इस कारण इनके आस-पास की अन्य जातियाँ इनके इलाकों में प्रवेश करने का साहस नहीं करती। इनके गाँव बहुत छोटे-छोटे होते हैं। एक गाँव मे अधिक से अधिक दो से लेकर छः घर तक होते हैं, जिसके कारण शादी-विवाह आदि के मामलों मे बड़ी दिक्कतें आ उपस्थित होती हैं। इनके यहाँ भी बिल्कुल निकट के रिश्तेवालों से शादी न करने की प्रथा है। जिस गाँव में सिर्फ दो या तीन ही घर होते हैं, वहाँ यह कानून दूर तक लागू नहीं किया जाता। ऐसी हालत में उनके अयोगनि

की ओर जाने के भी चिह्न मिलने लगते है। बौने, लूले, पंगु और मिरगी के रोगी व्यक्तियो की इनमे भरमार होने का यही कारण है।

पापुआन कभी-कभी उत्सव भी मनाते है। ऐसे मौकों पर कई गाँव के लोग इकट्ठे होते हैं। औरते अपने बच्चो के साथ ही, खाने-पीने का सामान भी पीठ पर लटकाकर लाती है। मर्द नगाड़े और हथियार लेकर आते है। इन मौको पर अपने को सजाने के लिए ये अपने इलाके में पाये जानेवाले विशेष प्रकार के पक्षियो के पंख व्यवहार मे लाते है। कभी-कभी कारीगरी की गई लकड़ी और सितुई भी काम में आती है। औरते अपने सारे शरीर में गोदना गुदाये रहती है। इन उत्सवों के मौकों पर सबसे खास बात इनका नाच है। इसमे वे पक्षी और जानवरो की नकल करते है। जिन पक्षियों को ये रोज देखते है, उनकी नकल उतारने और ठीक उन्ही के समान व्यवहार दिखाने में ये बड़े निपुण होते है। ये कंगारू तक की नकल कर लेते है। जानवर इनके पड़ोसी या यों ही कहिये कि इनके सहवासी होते है। इसलिए उनकी पूरी और सही-सही नकल उतारने मे इन्हे विशेप कठिनाई नही होती।

अपने नृत्य में ये लड़ाई का भी दृश्य दिखाते है। बर्छी उठाकर एक दूसरे को घुड़काने का भी बहुत ही अच्छी तरह से खाका उतारते हैं। इनके बाजे भी इसी प्रकार का भाव प्रकाशित करते हैं। इनके जीवन में लड़ाई एक पेशा-सा रहता है, इसलिए इनके लिए उसका हूबहू खाका उतार लेना कठिन नहीं होता। पर इतना होने पर भी मनुष्य की सभी प्रकार की भाव-भंगियो को वे नृत्य मे प्रदर्शित नही कर सकते।

**नृत्योत्सव के लिए विशेष वेशभूषा**

नृत्य पापुआन समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इनका प्रदर्शन प्रायः विशेष उत्सवों के अवसर पर होता है। पापुआन अपने नृत्योत्सवों में भांति-भांति के खाके उतारते है, जिसके लिए शरीर को गेरू आदि से पोतकर वे अपनी वेशभूषा भांति-भांति से चित्र-विचित्र बनाते है।

पापुआनों मे अंधविश्वास भी कम नही होता। उनकी किसी वस्तु को, अथवा जिसके पाने के लिए वे लालायित हो उसे यदि कोई आदमी इन्हे दिखाकर आग मे जला दे, तो वे उस आदमी की जान के ग्राहक हो जाते है। इसका कारण यह है कि इनके विश्वास के अनुसार आग में जादू रहता है। उस वस्तु के जलाने का इनके लिए अर्थ होता है कि वह आदमी इनकी मृत्यु चाहता है। पर इस अपराध की रोक भी है। यदि वह व्यक्ति इसके बदले इन्हे कुछ भेंट दे दे, और कुछ नहीं तो हर्जाने के रूप मे अपने शरीर का बाल ही नोच लेने दे, तो ये संतुष्ट हो जाते है।

इनके जीवन का विकास इस हद तक अवश्य हुआ है कि सीमित अर्थ में ये सामाजिक जीव होने का दावा कर सकते है। इनमें व्यक्ति की हैसियत समाज से बहुत कम रहती है। 'व्यक्तिगत' जीवन का इनमें इतना अभाव है और एक-दूसरे के मामलों के जानने के ये इतने उत्सुक होते हैं कि नित्यक्रिया तक में भी एकांत के परिपालन की इनके यहाँ प्रथा नहीं है।

**एक पापुआन सरदार**

यह न्यू गिनी के एक नर-शीश-सहारी भद्र पुरुष का चित्र है! इसके सिर के अद्भुत मुकुट मे जो चार नुकीले सींग दिखाई दे रहे है, वे इस बात के सूचक है कि यह सूरमा अब तक अपने चार शत्रुओं का हनन कर चुका है! ये नुकीले शोभा के चिह्न हार्नबिल नामक पक्षी की चोंच से बनाये जाते है।

जंगलों का जीवन बहुत ही कठोर होता है। मानसून के दिनों मे यहाँ महीनों तक खूब वर्षा होती रहती है। ऐसे भी मौके होते है, जब हफ्तों झड़ी लगी रहती है। उस समय नदी-नाले विकराल रूप धारण कर लेते है। पेड़ों की जड़े खुली रहती है और वे गिरने लगते है। इस मौके पर जगल का स्वरूप और भी भयानक बन जाता है, साथ ही जीवन-निर्वाह की समस्या भी अधिक विकट बन जाती है। लोगों का स्वभाव भी इसके अनुपात में कटु, रूखा और खूंख्वार बन जाता है। जगल मे उतनी उपज होती नहीं कि लोग कुछ बचाकर आगे के लिए जमा कर रख सकें; इस कारण जीवन की समस्या सदा ही विकट बनी रहती है। वर्षा-ऋतु में जिन वृक्षों की जड़ें मजबूत होती है, वहाँ जंगल के अन्य बहुतेरे जीव अपने बचाव के लिए आ इकट्ठा होते है। उन्हीं जीवो मे से एक ये मनुष्य-देहधारी पापुआन भी होते है!

जिस प्रकार की भौगोलिक परिस्थिति मे मनुष्य रहता है, वह उसे अपने ही जैसा बनने के लिए बाध्य करती है—यह सिद्धांत पापुआनों के उदाहरण में अधिक सही उतरता है। हम इनमे प्रचलित मनुष्य-हत्या का ही उदाहरण लें। ये धर्म के नाम पर मनुष्य का सिर नही काटते, न मृत मनुष्य के जीव को अपने वश में करने के इरादे से, अथवा यह समझकर ही कि मारे गये आदमी की ताकत उसका सिर काटनेवाले के भीतर चली आती है, ये नरहत्या करते है। ये अजनबी को देखते ही उसे केवल इसलिए मार डालते है कि इन्हें खौफ रहता है कि वह उनका भोजन छीनने आया है। और नही तो अजनबी द्वारा अपने भोजन में हिस्सा-बाँट होने का ही उन्हे खौफ रहता है। इसलिए उसके प्रति किसी प्रकार का द्वेष या झगड़ा न होने पर भी वे उसकी जान

## वातावरण का प्रभाव

यदि हम इस प्रश्न पर विचार करे कि पापुआनों का जीवन हमारी तरह न होकर आज भी इस विशेष ढंग का क्यों है, तो सबसे पहले हमे उनके प्रदेश पर ध्यान देना होगा। यहाँ, जहाँ तक दृष्टि दौड़ाई जा सकती है, सिर्फ घने जगल-ही-जंगल दिखाई देते हैं। घना रहने के कारण उनका रंग काला दिखाई देता है। पहली दृष्टि में तो ये वन विकराल दैत्य की तरह दिखाई देते है और शायद ही यह बात कल्पना में आती है कि ऐसे भयावह प्रदेशों में भी निवास करने का कोई आदमी साहस करता होगा। इन भयानक

ले लेते हैं। यह हत्या उनके लिए लड़ाई का एक मामूली दस्तूर है। उनके लिए यह आम बात है। इसका कारण यह है कि लड़ाई ही उनकी आजीविका, उनकी रोटी है। वह उनके जीवित रहने के संग्राम से संबंध रखती है।

## परिवर्तन इन्हें स्वीकार नहीं

बिना किसी परिवर्तन के हजारों वर्षों से ये पापुआन इसी भाँति न्यू गिनी में रहते चले आ रहे थे और आज भी रह रहे हैं। किन्तु इस शताब्दी के आरम्भ में उनके इलाके में कुछ हेर-फेर होना आरंभ हुआ है। इस परिवर्तन का उन पर भी थोड़ा बहुत असर पड़ा है। इस शताब्दी के आरंभ में सभ्य संसार ने देखा कि न्यू गिनी में सुवर्ण का भांडार है, अतएव सभ्य देशों के बहुतेरे जहाज उस टापू के किनारे लगने आरम्भ हुए और साथ ही बहुत-सी बीमारियों का वहाँ प्रवेश हुआ। हैजा, प्लेग, महामारी आदि की तो बुनियाद पड़ी ही, साथ ही और भी कई तरह की नई समस्याएँ वहाँ आ उपस्थित हुई। सोने के लोभ में संसार के 'सभ्य' गिने जानेवाले लोग कालों को जीवित रहने देने के पक्षपाती नहीं थे। पर सोने के भांडार को जमा कर के बोरे में कसने के लिए आदमियों की आवश्यकता थी। आबोहवा अनुकूल न होने के कारण न्यू गिनी में गोरे लोग शारीरिक परिश्रम करने के काबिल साबित नहीं हुए, इसलिए आवश्यकता इस बात की हुई कि उस प्रदेश के काले लोगों से ही यह काम लिया जाय और इसीलिए उन्हें जीवित छोड़ दिया जाय।

अतएव टापुओं के निवासियों का खयाल कर वहाँ कई प्रकार के परिवर्तन किये गये और स्थानों को स्वास्थ्यकर बनाने की चेष्टा की गई। पर इसका नतीजा कुछ दूसरा ही निकला। बजाय इसके कि उसका लाभ उठाकर वहाँ के बाशिन्दों की आयु बढ़ती, वे जल्दी-जल्दी खत्म होने लगे। स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले जितने परिवर्तन हुए, उतनी ही अधिक तादाद में वहाँ के असली बाशिन्दे मरने लगे। जब वैज्ञानिकों ने इसका कारण ढूंढ निकाला तो उन्होंने देखा कि

**अनोखा रिवाज**

पापुआनों में विधवा स्त्रियां इसी तरह अपने मृत पति की खोपड़ी जीवन-पर्यन्त गले में लटकती हुई एक जालीदार थैली में लिये फिरती हैं।

**एक पापुआन सरदार**

यह न्यू गिनी के एक नर-शीश-संहारी भद्र पुरुष का चित्र है! इसके सिर के अद्भुत मुकुट में जो चार नुकीले सींग दिखाई दे रहे हैं, वे इस बात के सूचक हैं कि यह सूरमा अब तक अपने चार शत्रुओं का हनन कर चुका है! ये नुकीले शोभा के चिह्न हार्नबिल नामक पक्षी की चोंच से बनाये जाते हैं।

जंगलों का जीवन बहुत ही कठोर होता है। मानसून के दिनों में यहाँ महीनों तक खूब वर्षा होती रहती है। ऐसे भी मौके होते हैं, जब हफ्तों झड़ी लगी रहती है। उस समय नदी-नाले विकराल रूप धारण कर लेते हैं। पेड़ों की जड़ें खुली रहती हैं और वे गिरने लगते हैं। इस मौके पर जंगल का स्वरूप और भी भयानक बन जाता है; साथ ही जीवन-निर्वाह की समस्या भी अधिक विकट बन जाती है। लोगों का स्वभाव भी इसके अनुपात में कटु, रूखा और खूँख्वार बन जाता है। जंगल में उतनी उपज होती नहीं कि लोग कुछ बचाकर आगे के लिए जमा कर रख सकें; इस कारण जीवन की समस्या सदा ही विकट बनी रहती है। वर्षा-ऋतु में जिन वृक्षों की जड़ें मजबूत होती हैं, वहाँ जंगल के अन्य बहुतेरे जीव अपने बचाव के लिए आ इकट्ठा होते हैं। उन्हीं जीवों में से एक ये मनुष्य-देहधारी पापुआन भी होते हैं!

जिस प्रकार की भौगोलिक परिस्थिति में मनुष्य रहता है, वह उसे अपने ही जैसा बनने के लिए बाध्य करती है—यह सिद्धांत पापुआनों के उदाहरण में अधिक सही उतरता है। हम इनमें प्रचलित मनुष्य-हत्या का ही उदाहरण लें। ये धर्म के नाम पर मनुष्य का सिर नहीं काटते, न मृत मनुष्य के जीव को अपने वश में करने के इरादे से, अथवा यह समझकर ही कि मारे गये आदमी की ताकत उसका सिर काटनेवाले के भीतर चली आती है, ये नरहत्या करते हैं। ये अजनबी को देखते ही उसे केवल इसलिए मार डालते हैं कि इन्हें खौफ रहता है कि वह उनका भोजन छीनने आया है। और नहीं तो अजनबी द्वारा अपने भोजन में हिस्सा-बाँट होने का ही उन्हें खौफ रहता है। इसलिए उसके प्रति किसी प्रकार का द्वेष या झगड़ा न होने पर भी वे उसकी जान

## वातावरण का प्रभाव

यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें कि पापुआनों का जीवन हमारी तरह न होकर आज भी इस विशेष ढंग का क्यों है, तो सबसे पहले हमें उनके प्रदेश पर ध्यान देना होगा। यहाँ, जहाँ तक दृष्टि दौड़ाई जा सकती है, सिर्फ घने जंगल-ही-जंगल दिखाई देते हैं। घना रहने के कारण उनका रंग काला दिखाई देता है। पहली दृष्टि में तो ये वन विकराल दैत्य की तरह दिखाई देते हैं और शायद ही यह बात कल्पना में आती है कि ऐसे भयावह प्रदेशों में भी निवास करने का कोई आदमी साहस करता होगा। इन भयानक

ले लेते हैं। यह हत्या उनके लिए लड़ाई का एक मामूली दस्तूर है। उनके लिए यह आम बात है। इसका कारण यह है कि लड़ाई ही उनकी आजीविका, उनकी रोटी है। वह उनके जीवित रहने के संग्राम से संबंध रखती है।

## परिवर्तन इन्हें स्वीकार नहीं

बिना किसी परिवर्तन के हजारों वर्षों से ये पापुआन इसी भाँति न्यू गिनी में रहते चले आ रहे थे और आज भी रह रहे हैं। किन्तु इस शताब्दी के आरम्भ में उनके इलाके में कुछ हेर-फेर होना आरंभ हुआ है। इस परिवर्तन का उन पर भी थोड़ा बहुत असर पड़ा है। इस शताब्दी के आरंभ में सभ्य संसार ने देखा कि न्यू गिनी में सुवर्ण का भांडार है, अतएव सभ्य देशों के बहुतेरे जहाज उस टापू के किनारे लगने आरम्भ हुए और साथ ही बहुत-सी बीमारियों का वहाँ प्रवेश हुआ। हैजा, प्लेग, महामारी आदि की तो बुनियाद पड़ी ही, साथ ही और भी कई तरह की नई समस्याएँ यहाँ आ उपस्थित हुई। सोने के लोभ से संसार के 'सभ्य' गिने जानेवाले लोग कालों को जीवित रहने देने के पक्षपाती नहीं थे। पर सोने के भांडार को जमा कर के बोरे में कसने के लिए आदमियों की आवश्यकता थी। आबोहवा अनुकूल न होने के कारण न्यू गिनी में गोरे लोग शारीरिक परिश्रम करने के काबिल साबित नहीं हुए, इसलिए आवश्यकता इस बात की हुई कि उस प्रदेश के काले लोगों से ही यह काम लिया जाय और इसीलिए उन्हें जीवित छोड़ दिया जाय।

अतएव टापुओं के निवासियों का खयाल कर वहाँ कई प्रकार के परिवर्तन किये गये और स्थानों को स्वास्थ्यकर बनाने की चेष्टा की गई। पर इसका नतीजा कुछ दूसरा ही निकला। बजाय इसके कि उसका लाभ उठाकर वहाँ के बाशिन्दों की आयु बढ़ती, वे जल्दी-जल्दी खत्म होने लगे। स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले जितने परिवर्तन हुए, उतनी ही अधिक तादाद में वहाँ के असली बाशिन्दे मरने लगे। जब वैज्ञानिकों ने इसका कारण ढूँढ निकाला तो उन्होंने देखा कि

**अनोखा रिवाज**

पापुआनों में विधवा स्त्रियाँ इसी तरह अपने मृत पति की खोपड़ी जीवन-पर्यन्त गले में लटकती हुई एक जालीदार थैली में लिये फिरती हैं।

प्रकृति के उतने निकट और उतने प्राचीन तरीके से वहां रहते-रहते इन लोगों का एक विशेष प्रकार का स्वभाव बन गया है। इससे उनके शरीर के लिए वह वातावरण एक खास तरह की मिफत बन गई है, जिसके आधार पर ही ये लोग जिन्दा रह सकते हैं। अति प्राचीन ढंग से रहते-रहते इनमें अपने को परिवर्तित परिस्थिति में जीवित रख पाने का बूता जाता रहा है। इसमें इनकी प्रगति मे सबसे बड़ी रुकावट आ गई है। पर इसका कोई चारा नहीं है। पापुआनो को जीवित रहने देने के लिए जिस परिस्थिति, वायुमंडल और भौगोलिक परिस्थिति मे वे अब तक रहते चले आये हैं एवं जिसके वे आदी बन चुके हैं, उसी को बनाये रखने की आवश्यकता थी। इस सिद्धांत के आधार पर जब से न्यू गिनी में चेष्टाएँ आरंभ हुई हैं, तब से वहां के पापुआनों की जन-संख्या में कमी होना रुक गया है।

पिछले प्रकरण में दिग्दर्शित पिगमियों की जीवन लीला की भाँति इन पापुआनो के उदाहरण में भी हम यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप में देख रहे हैं कि जिस परिस्थिति विशेष में मनुष्य रहता चला आया है, उसके आधार पर ही उसका जीवन अवलम्बित रहता है और वही उसके जीवन की दिशा तथा उसके विकास का ढर्रा निर्धारित किया करती है।

# मेलानेशियन

**पृथ्वी पर विचरनेवाली वर्तमान मनुष्य-जातियों के अध्ययन में हम सीढ़ी-दर-सीढ़ी क्रमशः जंगली अवस्था से सभ्यता की ओर ऊपर बढ़ रहे हैं। मध्य अफ्रीका के पिगमियों से परिचय पाकर हमने न्यू गिनी के पापुआनों की एक झलक देखी। आइए, अब इन्हीं के पड़ोसी मेलानेशियनो की झाँकी देखें।**

पापुआनो पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए सबसे पहले मेलानेशियन लोग आये। ये लोग उत्तर-पश्चिम की ओर से पूर्वी गिनी और उसके आस-पास के टापुओं में आये थे। इन द्वीपो का एशिया के साथ जमीन द्वारा लगा नाता समुद्र के गर्भ मे चला गया था, उसके बाद नावों द्वारा इनका इस भाग में आगमन हुआ।

आजकल इन मेलानेशियनो के बीच भी कई प्रकार की संस्कृतियाँ पाई जाती हैं। स्वयं यह नाम भी वास्तव मे इन लोगों का अपनाया हुआ नही है, यह एक और कारण से इन्हे प्राप्त हुआ है। 'मेलास' का अर्थ 'काला' होता है। यहाँ के टापुओं के घने जंगल दूर से काले दिखाई देते हैं। इसीलिए इधर आनेवाले सर्वप्रथम आधुनिक नाविकों ने इस प्रदेश को 'मेलानेशिया' नाम दिया। आजकल इन प्रदेशो की विभिन्न संस्कृतियों वाली कई जातियाँ इसी नाम पर मेलानेशियन कही जाती हैं। हम यहाँ पर उनमें के सबसे निम्न कोटिवाले लोगों पर प्रकाश डालने की कोशिश करेंगे।

## सोलोमन द्वीप के निवासी

प्रशांत महासागर में ऑस्ट्रेलिया के उत्तर-पूर्व और न्यू गिनी के पूर्व में सोलोमन-नामक द्वीपपुञ्ज है। इन द्वीपों के बाशिन्दे भी 'मेलानेशियन' ही कहे जाते हैं। इस द्वीपपुञ्ज और यहाँ के निवासी दोनो की ही कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो इधर हाल में ही आकर कुछ विशिष्ट अन्वेषकों द्वारा सभ्य संसार के सामने रखी गई हैं।

सबसे पहले हम पूर्वी द्वीपो पर एक दृष्टि डालें। जहाँ तक दृष्टि दौड़ाई जा सकती है, वहाँ नारियल के ही पेड़ दिखाई देते हैं। इन्ही की हरियाली मे छोटे-छोटे गाँव बसे हैं। वृक्षों से भरे पहाड़ इनकी चौहद्दी बनाये रहते हैं। इन्हे देखकर पहली दृष्टि मे यही भान होता है कि यहाँ के बाशिन्दे उस हरियाली में स्वर्ग के समान खाद्य पदार्थों से सम्पन्न रहते होंगे। पर वास्तव मे बात ऐसी नहीं है।

## प्रकृति के साथ अनवरत संघर्ष

सबसे पहले तो यहाँ के कठोर वायुमण्डल से ही यहाँ के निवासियो को अनवरत संग्राम करते रहना पड़ता है। इस वातावरण में निहित प्रकृति का ध्वंसात्मक स्वरूप यहाँ मनुष्यों की कीर्ति को बार-बार पूर्णतया नष्ट करके उन्हें सर्वदा दरिद्र बनाये रखता है।

यहाँ की जैसी भयानक वर्षा पृथ्वी के अन्य हिस्सों में विरले ही होती है। भूकंप भी यहाँ के जैसे शायद ही किसी अन्य भू-भाग मे होते है। ये बातें यहाँ रोजमर्रे की बात बन गई है। इसलिए यहाँ के निवासी इनमें कुछ विशेषता नही पाते, और न भूकंप के धक्के से उतने जल्दी हैरान ही वे होते हैं।

पर कभी-कभी इन द्वीपो में भूकंप के धक्के ऐसे भयानक होते हैं कि मनुष्य खिलौनो की तरह पृथ्वी पर सरपट गिरने लगते हैं; मकान नष्ट हो जाते है, और उनके साथ ही यहाँ के बाशिन्दों की सारी सम्पत्ति पृथ्वी की दरार मे चली

जाती है। ऐसे मौकों पर इतने जोरों की आवाज होती है कि आदमी चाहे कितना भी चिल्लाये, उसकी बोली अपने पास के आदमियों तक भी नहीं पहुँच पाती। कितने आदमी तो मुँह से एक शब्द निकाल पाने के पहले ही पृथ्वी की कोख मे चले जाते है!

समुद्र भी ऐसे मौकों पर गजब ढहाता है। वह छोटी-छोटी पहाड़ियों के ऊपर चढ़कर लहराने लगता है। पहाड़ियाँ डूबने लगती हैं। कुछ क्षण बीतने पर वही पहाड़ियाँ नग्न होकर फिर से सिर ऊँचा किये उठ आती है। इसी प्रकार के कई दौर होते है। समुद्र की ये लहरें अनेक बार तो तीस-तीस फीट तक ऊँची उठ जाती है। फिर थोडी देर में सब कुछ ज्यों-का-त्यो शात हो जाता है।

पर अनेक मौके ऐसे भी आते हैं, जब यह शाति केवल क्षणिक रहती है और फिर से दुबारा इतने जोरों का धक्का आता है कि पूरा का पूरा टापू टुकड़े-टुकड़े हो गया दिखता है। धीरे-धीरे ये धक्के कम होते है और दस-दस मिनट के अन्तर पर भूमि हिलती दिखाई देती है। यह क्रम एक सप्ताह तक जारी रहता है। इसके बाद कुछ घंटो के अन्तर पर पुन: धक्के लगते है। ये टापू अनेक दिनो तक बिलकुल शात तो आज तक कभी रहे ही नही। भला, ऐसे वातावरण में कौन चैन पा सकता है?

इस प्रकार गाँव-के-गाँव अनेकों बार पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। जहाँ पर झोपड़े खड़े थे, उन स्थानों को पहचानना कठिन हो जाता है। टापू के निवासी इसे प्रलय आ गया समझते हैं। पर अपेक्षाकृत शाति आने पर उनके भी मन शात हो जाते है। बिजली के कड़के और गरजनेवाले काले बादलों के लोप होते ही निवासी फिर से मुसकराने लगते है। पर साथ ही पिछले दिनो की याद कर वे काँप भी जाते है। और यही उनकी मुसीबतो का अन्त नहीं हो जाता। प्रकृति के शात रहने पर भी बीमारियाँ तो लगी ही रहती है। ये बीमारियाँ कभी-कभी बाहरी देशो से आनेवाले व्यापारियो के साथ-साथ भी आती है, जो टापूवालों के लिए बड़ी भयानक साबित होती है। अपने यहाँ की बीमारियों का तो वे किसी कदर इलाज कर भी लेते है, पर बाहर से आई बीमारियो के सामने ये बिलकुल लाचार हो जाते है। इन खाँसी, इन्फ्लूएंजा आदि से ये लोग मरने लगते है। मलेरिया तो यहाँ बारहों महीने लगा रहता है। इसीलिए बच्चों तक के हाथ-पाँव सुतली-जैसे पतले और पेट नगारे-जैसे निकले दिखाई देते है। मलेरिया के मच्छर हर घडी दिक करते रहते हैं। और यदि उनसे बचने के लिए चादर ओढी जाय तो चन्द मिनटों में ही आदमी पसीने से सराबोर हो जाता है।

**अनोखा साज-सिंगार**

सीपी, शख आदि के अलकारों से सुसज्जित और बदन पर विविध रगों से चित्रकारी किए हुए मेलानेशियन जाति की एक स्त्री।

फिर भी इस प्रदेश में मनुष्य निवास करते हैं। ये लोग अपने यहाँ की प्रकृति से घुल-मिल गए हैं, इसीलिए शायद वे जीवित भी रह पाते हैं। हम लोगों की तरह वे अपने को प्रकृति से अलग नहीं मानते। शायद इसीलिए 'प्रकृति' के लिए उनकी भाषा में कोई शब्द नहीं है। उनके लिए सिर्फ पृथ्वी, आकाश, पानी, हवा, आग, पशु और आदमी ही सब कुछ हैं। इन्हीं के बीच वे निरंतर रहते हैं; और अपने को जीवित रखने के लिए उनके साथ अनवरत संग्राम किया करते हैं।

## समुद्र के पुजारी

इन टापुओं के आदमी जानते हैं कि समुद्र विशाल है; वह आदमी से कहीं अधिक ताकतवर, खतरनाक और गहरा है। सिर्फ विश्वास के द्वारा ही उससे काम निकाला जा सकता है। मनुष्यों को वह नष्ट कर दे अथवा बचाए रखे, यह उसी के हाथ में रहता है।

चूँकि अपने पुराने ढंग की छोटी-छोटी नौकाओं में जल-यात्रा करने के लिए वे बाध्य हैं, इसलिए अपनी यात्रा आरंभ करने के पहले समुद्र को दयालु और नम्रहृदय बनाने के लिए वे उसे अपने प्रदेश में पैदा होनेवाले फल आदि अर्पण करते हैं।

आदिम ढंग की अपनी उस नाव को तैयार करने तथा उसकी सब तरह की रस्में अदा करने में उन्हें प्रायः एक साल लग जाता है! वे अपने पुराने ढंग के कुल्हाड़ों से विशाल वृक्षों को खरोंचते हैं। आरे के अभाव में तख्ता तैयार करने में तो अथक परिश्रम उन्हें करना पड़ता है। नारियल के रस्से आदि जुटाने में भी कम श्रम नहीं होता। जब नाव किसी तरह तैयार हो जाती है, तब उसकी पहली यात्रा के उपलक्ष में एक मनुष्य की बलि चढ़ाकर उसे संतुष्ट करना पड़ता है! प्रायः खून का नाव में लगाया जाना आवश्यक नहीं होता; आदमी उसी मौके के लिए मारा गया है, सिर्फ यह काम ही यथेष्ट गिना जाता है!

## भाँति-भाँति की अंधधारणाएँ

भयानक प्राकृतिक परिस्थिति तथा सदा भय की अवस्था में रहने के कारण मेलानेशियन स्वभाव से ही अन्धविश्वासी होते हैं। यदि उनका कोई धर्म कहा जा सकता है तो वह उनका अन्धविश्वास ही हो सकता है। अपने को जीवित रखने के लिए, प्रकृति के साथ संघर्ष में धैर्य के लिए, एवं उसके आक्रमणों को सहन कर सकने के लिए, किसी-न-किसी प्रकार के विश्वास की आवश्यकता पड़ती है। मेलानेशियनों का यह विश्वास बहुत तरह के देवी-देवता और भूत-प्रेतों में निहित है। इन्हीं को वे भूकम्प का असली कारण भी मानते हैं। मेलानेशियन ओझाओं के अनुसार ये टापू एक महान् घड़ियाल की पीठ पर अवस्थित है! जब तक लोग उस घड़ियाल को समुचित मात्रा में भेंट चढ़ाते जाते हैं, तब तब वह चुप रहता है, पर भेंट की मात्रा कम होते ही वह असंतुष्ट हो जाता है, और क्रोध में आकर टापुओं को हिलाने लगता है! इसी भय से उस भयानक घड़ियाल को हमेशा ही सुअर का गोश्त, सुपारी, मितुहे आदि चढ़ाये जाते हैं।

मेलानेशियनों के सभी काम इसी तरह के विश्वास और भेंट चढ़ाने के सिलसिले पर ही होते हैं। उनके इस तरह के विश्वासों को किसी तरह भी दूर नहीं किया जा सकता। देवताओं को भेंट चढ़ाये बिना न वे मछली मार सकते हैं, न शिकार को ही जा सकते हैं, न अपने खेतों में काम कर सकते हैं, और न किसी यात्रा पर में ही जा सकते हैं। इस विश्वास में परिवर्तन आने का अर्थ उनके संपूर्ण जीवन के सिलसिले में ही परिवर्तन लाना होगा। उस परिवर्तन से इनकी सामाजिक व्यवस्था ही नष्ट हो जायगी—वह आघात उनके शरीर और मन दोनों के लिए भयानक साबित होगा। वह धक्का भूकंप से कहीं अधिक भयानक होगा, और उसे मेलानेशियन शायद ही बर्दाश्त कर पाएँगे। प्रकृति के विरुद्ध दैनिक संग्राम में यह विश्वास ही उनके लिए सबसे बड़ा सहारा है।

सिर्फ इतना ही नहीं, इन्हीं विश्वासों के बल पर वे मृत्यु से भी टक्कर लिया करते हैं। इनके लिए मृत्यु में भयानक जैसी कोई बात नहीं है। उनका विश्वास रहता है कि मर जाने पर भी जीवन किसी-न-किसी रूप में कायम रहता है। उनके लिए मृत्यु पवित्र वस्तु है। वे उस अवसर पर उत्सव मनाते हैं। मरने के वक्त वे उत्सव के अवसरों के कपड़े और गहने पहनते हैं, और अपनी सारी संपत्ति से अपने को ढक लेते हैं।

## परलोक में विश्वास

इन लोगों के विश्वास के अनुसार मरने के पाँच दिन बाद वे एक भूत द्वारा नाव पर बैठाकर बहुत दूर के एक टापू—'मलाउ अलाइत' में ले जाये जाते हैं! वहाँ पर 'कफाफारिमुवारिमू' नाम की एक पहरेदार औरत उन्हें मिलती है। वह आदमियों की आत्मा की जाँच करती है। वह यह देखती है कि ठीक कानून के मुताबिक औरतों के गुदने तो गुदे हैं और नाक-कान विधि-अनुसार छेदे तो गये हैं! मर्दों में उनके नेता और 'पंडितों' (ओझाओं) के सिर पर उनके ओहदे के चिह्न तो खुदे हैं या नहीं, इसकी भी

(बाईं ओर) न्यू गिनी के समीप के एक द्वीप की मेलानेशियन बस्ती के मचानदार घर।
( ऊपर ) मेलानेशियन जाति का एक मल्लाह।

और अपने नृत्य द्वारा बाजार करके आनेवालों के लौटने पर प्रसन्नता दिखाती हैं। खूब हँसी-मजाक और धूम-धाम रहती है। इसके बाद लड़कियाँ एक-एक कर अपने प्रिय युवकों के साथ गायब हो जाती हैं।

इस मौके का एक दूसरा नृत्य 'पक्षी-मत्स्य-नृत्य' होता है। ये पक्षी एक विशेष प्रकार के होते हैं और सिर्फ इन्हीं टापुओं में पाये जाते हैं। इन पक्षियों की यह विशेषता होती है कि ये अपने पंख का जोर लगाये बिना उड़ जाते हैं। मछलियों को पकड़नेवाले पक्षियों पर ये एकाएक टूटकर उनका शिकार छीन लेते हैं। नृत्य के समय इन पक्षियों-जैसा ही स्वाँग इन टापुओं के रहनेवाले बनाते हैं। इसके लिए वे पत्तों और डालियों का व्यवहार करते हैं। ठीक इसी तरह अपने पास के समुद्र में पाई जानेवाली बड़ी भयानक मछलियों का भी स्वाँग वे बना लेते हैं। फिर अपने नृत्य द्वारा वे पक्षी और भयानक मछली का संग्राम दिखाते हैं। मछली भागने की हजार कोशिशें करती है, किन्तु पक्षियों के झुंड से वह बच नहीं सकती। ये नृत्य ऐसे अच्छे ढंग से किये जाते हैं कि पहली बार देखनेवाले के लिए विश्वास करना कठिन हो जाता है कि पक्षी और मछलियों के बदले मनुष्य नृत्य कर रहे हैं।

अपने यहाँ के पक्षी या मछली अथवा अन्य जानवरों की भली भाँति नकल कर पाने में मेलानेशियन इस हद तक जो सफल होते हैं, इसका कारण यह है कि बचपन से ही उनका उन जीव-जन्तुओं के साथ एक विशेष शिकार का सहवास रहता है। दोनों ही एक दूसरे के बहुत अधिक निकट रहते हैं और विरोधी प्राकृतिक परिस्थिति में विकास का मार्ग ढूँढ़ते रहते हैं। मेलानेशियन लोगों का जानवरों के प्रति प्रेम देखने ही लायक होता है। उनके प्रति कभी किसी तरह की ज्यादती करते वे नहीं देखे गये।

सिर्फ इतना ही नहीं, जानवरों के जीवन को उतने निकट से निहारते रहने के कारण मेलानेशियन उनसे और भी बहुत-सी बातें सीख जाते हैं, जिन्हें हमारे सभ्य संसार के लोगों के लिए कर पाना कठिन होता है। इन लोगों के शरीर का विकास बिल्कुल प्राकृतिक ढंग पर होता है और चलने, दौड़ने, कूदने, बर्छी फेंकने आदि कार्यों में ये हमारे यहाँ के प्रवीण लोगों से भी अधिक कुशल साबित होते हैं।

## स्त्री-पुरुष के संबंध

इनका जीवन सभ्यता की ओर अधिक विकसित न होने के कारण मेलानेशियन अपने को प्रकृति के हमसे कहीं अधिक निकट पाते हैं। इनके भीतरी भावों और उनके बाह्य प्रकाशन में अधिक अंतर नहीं होता। इसी सिलसिले के अनुसार वे कामभाव को भी बड़े ही सरल और सीधे-सादे रूप में लेते हैं। मैथुन से संबंध रखनेवाली बातें हमारे समाज की तरह न तो उनके लिए कोई भारी समस्या ही रहती हैं और न इनमें कोई अस्वाभाविक ढंग ही होता है। लड़के-लड़कियों का ध्यान बचपन में जानवरों आदि की ओर खिंचता ही रहता है।

थोड़ी उम्र हो जाने पर लड़कियों को एक विशेष प्रकार का गोदना गोदवाने का कष्ट सहना पड़ता है। उनके सारे शरीर में नीले रंग की धारियाँ खींच दी जाती हैं, जिससे वह झिलमिल पतले कपड़े से ढका हुआ-सा दिखने लगता है। कई टापुओं की लड़कियाँ नग्न ही रहती हैं। शायद इसीलिए अपनी छाती और जाँघ के सौंदर्य को बढ़ाने के खयाल से वे गोदना गोदवाती हैं। यह एक प्रकार से उनका धार्मिक कृत्य-सा हो गया है।

इसके बाद लड़कियों के मासिक धर्म आरंभ होने का समय आता है। पर यह उनके लिए कोई खास समस्या नहीं उपस्थित किया करता। उन्हें युवकों के साथ प्रेम करने के काफी मौके मिलते हैं। वे इन मौकों का स्वतंत्रता-पूर्वक उपयोग भी किया करती हैं। पर इतना होने पर भी इनमें शादी की प्रथा पवित्र मानी जाती है और व्यभिचार भयानक अपराध गिना जाता है, जिसके लिए खून-खराबी तक की नौबत आ जाती है।

कामवासना की भूख न रहने के कारण इसके द्वारा पैदा होनेवाली समस्यायें भी इन लोगों के सामने नहीं रहतीं। लड़कियों को 'प्रेम' के क्षेत्र में कभी भूखा रहना ही नहीं पड़ता। इसीलिए उनमें अस्वाभाविक मानसिक या शारीरिक क्रियाओं की गुंजायश ही नहीं रह जाती।

## युवकों की शिक्षा-दीक्षा और खेल-कूद

लड़कों के जीवन का विकास भी बहुत-कुछ इसी ढंग पर होता है। सयाना होने के पहले मछली मारने, शिकार और लड़ाई करने में ही उनका समय बीतता है। वे लड़ाई से संबंध रखते हुए खेल ही खेला करते हैं। इस खेल के समय भी ये जातियों में बँट जाते हैं। लड़ाई के वक्त कैद करने का भी ये खेल करते हैं और कैदियों को सुअरों की तरह टाँगकर ले जाते हैं। कभी-कभी कैदी को कत्ल करने और उसका माँस खा डालने का भी खेल ये अभिनय करके खेलते हैं!

पर इन खेलों में एक विशेषता यह होती है कि इनके यहाँ हम लोगों के खेलों जैसे नायक नहीं हुआ करते।

**एक मेलानेशियन योद्धा (उत्सव के वेश में)**
ललाट पर कौड़ियों की माला है। गले में सीपी और समुद्री मछली के दाँतों के आभूषण हैं। गले के आभूषण तथा भुजबन्द भी सीपी के बने हैं।

**सॉलोमन द्वीपवासी मेलानेशियनों का एक मुखिया**
ललाट पर कौडियों की जो माला आप देख रहे है, वही इसके मुखिया होने का चिह्न है। यह उत्सव का वेश है।

**(ऊपर) मेलानेशियनों का एक वृद्ध ओझा**

इन लोगों में जादू-टोना, मंत्र-तंत्र, दवा-दारू आदि के ये आचार्य माने जाते हैं।

**(दाहिनी ओर) बाजा बजाते और नृत्य करते हुए मेलानेशियन**

ये अपने प्राचीन ढंग के बाजे बजाते हुए, उनकी गत पर पैरों से ताल देते हुए नृत्य करते हैं।
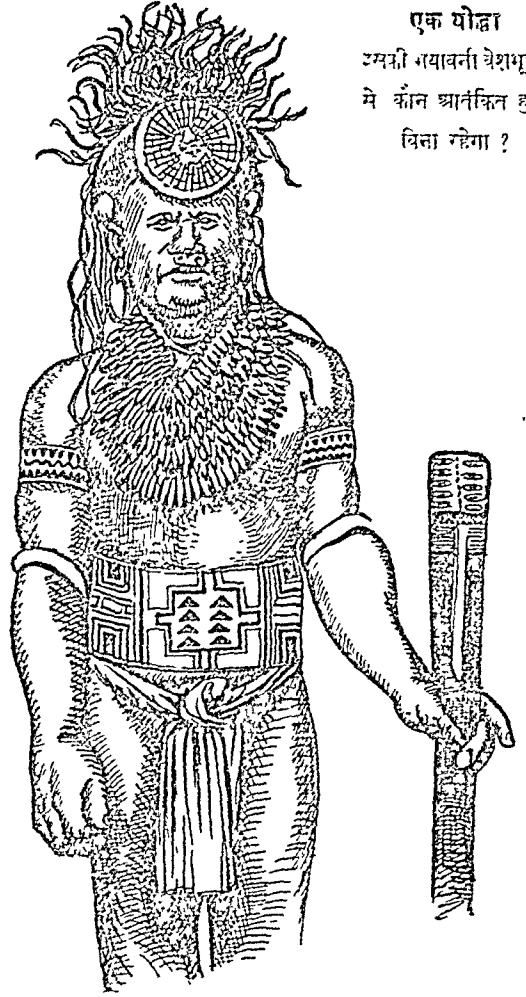
मजबूत आदमी ही नायक होगा, यह बात इनके यहाँ नही पाई जाती। यह यों ही बदलता रहता है और पारी-पारी से प्रत्येक लड़का नायक बन जाता है। इस पद्धति के कारण लडकों मे अपने को नीचा मानने की प्रवृत्ति नही आती। शायद इसीलिए उनका मन साथियो से बदला चुकाने की ओर भी नही जाता। इनका लडकियो के प्रति का व्यवहार भी स्वाभाविक ही रह जाता है। जहाँ तक काम-भाव का सम्बन्ध है, लडको को अपनी कामनाओ को जबर्दस्ती दाबे रहने की आवश्यकता ही नही पडती।

लड़कों को भी अपने शरीर के अंगों पर नक्शे गढवाने पडते है। उन नक्शों के गढने समय उनकी त्वचा से खून के फव्वारे निकलते है। उन पर मक्खियाँ बैठने लगती है। पर यह सब तकलीफ उन्हे वीरतापूर्वक बर्दाश्त करनी पड़ती है; क्योकि इसी परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर वे जाति के योग्य सदस्य गिने जाते है। प्रकृति के साथ उन्हे अपने को जीवित रखने के लिए जीवन भर घोर संग्राम करते रहना पड़ेगा। शायद इसी कारण यहाँ के बाशिन्दे अपने को तरह-तरह के उपायों से कठोरता सहन कर पाने के उपयुक्त बनाने की कोशिश करते है।

## विदेशियों द्वारा शोषण

पता नहीं, कितनी सदियो से मेलानेशियन इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करते चले आये है। आज भी उनका जीवन हजारों वर्ष पहले के ही समान बना हुआ है। कुछ विदेशियों का इनके देश में प्रवेश अवश्य ही हुआ, पर कोई भी उनका जीवन परिवर्तित करने मे समर्थ नही हुआ। सबसे पहले इनके टापुओं में चीनी व्यापारी पहुँचे थे। उन्होंने योरप के बने कांच के टुकड़े, फटे कपडे, तम्बाकू, आदि रद्दी-सद्दी चीजें देकर उनका कीमती नारियल लेना शुरू किया। यह विनिमय कुछ दिनो तक तो बेखटके चला। साथ ही चीनी लोगो का थोडा जुल्म भी बढा। इससे बचने के लिए मेलानेशियनों के अगुवा नेता ओझाओं ने यह फैसला दिया कि जो भी आदमी चीनी लोगो के साथ विनिमय करेगा, वह तुरन्त मर जायगा।

अंधविश्वास के ऊपर ही मेलानेशियनों का जीवन निर्भर करता है। इसलिए यह बात तुरन्त उनके भीतर जम गई। इससे 'बाहरी सभ्यता' का प्रसार होना इन टापुओं मे फौरन रुक गया।

पिछले दिनो कुछ योरपीय कंपनियो ने भी इन टापुओं में बड़े पैमाने पर नारियल रोपवाना शुरू किया था। इसके लिए उन्होंने मेलानेशियनों से बेगार लेना शुरू किया और उन पर तरह-तरह के जुल्म किये, पर यह व्यापार भी अधिक दिनो तक न चल सका। अतः योरपीय लोग भी इन टापुओं का स्वरूप परिवर्तन कर पाने में सफल नही हुए। आगे भी इसकी आशा कम है कि निकट भविष्य में वे यहाँ कुछ-धर कर सकेगे।

इसकी संभावना अधिक है कि मेलानेशियन जिस प्रकार सदियों से इन टापुओं मे प्रकृति के साथ भयानक संघर्ष करते चले आये है और उसी कारण जिस ढग पर उनका जीवन एक विशिष्ट साँचे में ढल गया है, वैसा ही आगे भी बना रहेगा। प्रकृति के विरुद्ध कठोर संग्राम में अपने आप को जीवित रख पानेवालों को 'सभ्य' मनुष्य के साथ के संघर्ष में सफलता मिलते जाने की ही अधिक संभावना दिखाई देती है!

**सालोमन द्वीप का एक योद्धा**

इसकी भयावनी वेशभूषा से कौन आतंकित हुए बिना रहेगा?
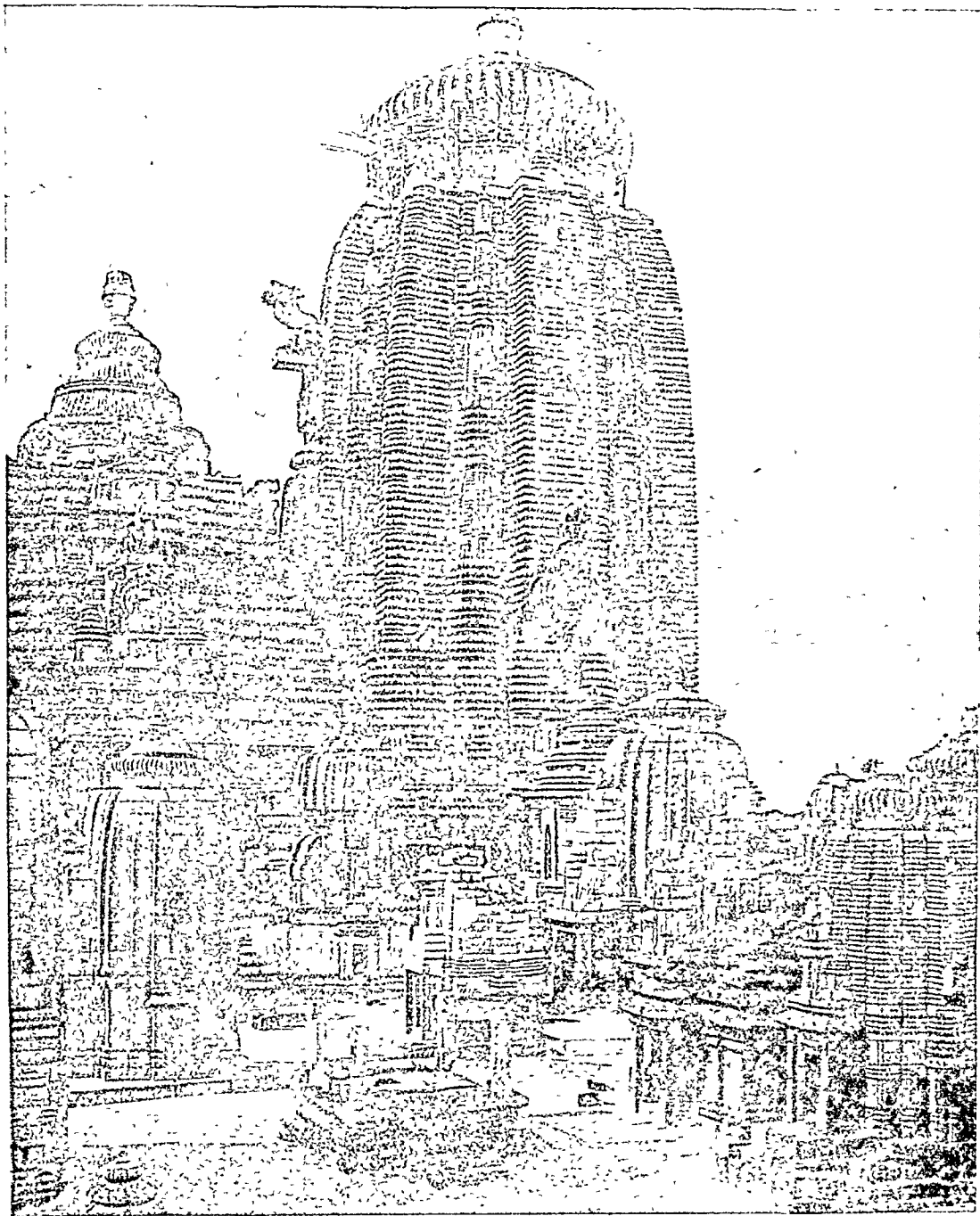
**इतिहास की वेदी पर भारतभूमि का गौरव इस महान् देवालय के उत्तुङ्ग शिखर की ही भांति सदियों से अपना मस्तक ऊँचा उठाये खड़ा है**

पुरातन और जीर्ण-शीर्ण तथापि तप और साधना की एक चिरतन भावना से अभिभूत भुवनेश्वर का यह महान् शिवालय भारत की आत्मा को प्रतीक रूप से अभिव्यक्त करता हुआ सा जान पड़ता है।

# 'सुजलां सुफलां ... शस्य श्यामलां'

**चालीस करोड़ भारतवासियों के भव्य अतीत और आशाभरे वर्तमान की एक झाँकी।**

भारत का नाम सुनते ही हमारे हृदय में कितने विचित्र भाव उठने लगते हैं? मानव-सभ्यता को जन्म देनेवाले संसार के सबसे पुराने देशों में इसका विशिष्ट स्थान है। हजारों वर्ष पहले ही साहित्य, दर्शन, विज्ञान, शिल्प, संगीत, चित्रकला, ज्योतिष, आदि विद्याएँ यहाँ उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी थीं। आज भी देव-भाषा संस्कृत की बची-खुची हजारों पुस्तकें और हमारे प्राचीन मंदिरों के भग्नावशेष इस बात की साक्षी दे रहे हैं। महापुरुषों, ज्ञानियों, महात्माओं, कवियों और कलाकारों की यह जन्मभूमि—सभ्यता और संस्कृति का यह महान् केन्द्र स्थल अपने हजारों वर्षों के विचित्र इतिहास को लिये हुए आज भी किस प्रकार गौरव से अपना मस्तक उठाये ज्यों-का-त्यों अटल खड़ा है!

### भौतिक रूप

न केवल अपनी सांस्कृतिक विरासत में ही बल्कि भौतिक साज-शृंगार में भी हमारी यह मातृ-भूमि कितनी भव्य, कितनी सुंदर है! धरातल के मान बड़े-बड़े जमीन के टुकड़े मान लिये गये हैं, जिन्हें कि महाद्वीप कहते हैं। उनमें भारत सबसे बड़े महाद्वीप एशिया का एक भाग है। भारत एक विचित्र देश है। वह मानो संसार की नुमाइश में भाँति-भाँति के अचरजों का एक अनूठा अजायबघर है। हमारी इस मातृभूमि के सिर पर उधर पश्चिम से पूर्व तक दो हजार मील लम्बा वर्फ की चाँदी से मढ़ा हुआ हिमालय-रूपी मुकुट रखा है। इधर इसकी हरी-भरी छाती पर मोती और नीलम की मालाओं-सी गंगा-यमुना झूल रही हैं और कंधों पर बिखरी हुई केश-राशि के समान ब्रह्मपुत्र, सिंधु, चिनाब, झेलम, सतलज आदि सरिताएँ लहरा रही हैं। इधर कमर पर करधनी के समान विन्ध्य और सतपुड़ा पर्वतों की श्रेणियाँ शोभित हैं, जिनके मध्य-भाग में नर्मदा नदी करधनी की डोर की तरह फैली है। उधर कृष्णा, कावेरी
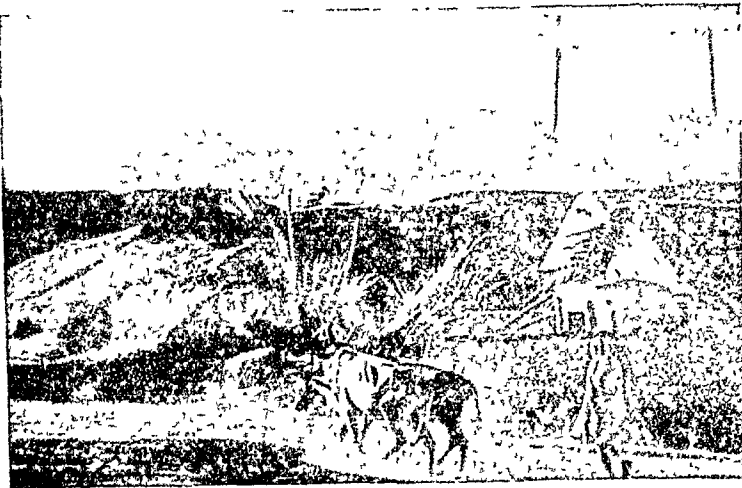
**असली भारत गाँवों में बसता है**

कहने को भारत बंबई-कलकत्ता-दिल्ली-मद्रास जैसे महानगरों, जमशेदपुर-कानपुर-अहमदाबाद जैसे उद्योग-केन्द्रों, एवं एक से एक भव्य इमारतों, बंदरगाहों, कल-कारखानों आदि का एक महान् देश है, तथापि सच बात तो यह है कि वह शहरों में नहीं प्रत्युत देहातों में ही बसता है। इसका कारण यह है कि यह एक कृषिप्रधान देश है।

निचले पल्ले की तरह फहरा रही है और चरणों के पास मानो एक कमल-कली-सी लंका सुशोभित है। हिंद-महासागर इन्हीं चरणों को पखार रहा है। निश्चय ही यह एक बहुत बड़ा देश है। इसकी आबादी चालीस करोड़ के लगभग है, यानी इंगलैंड से करीब ८ गुना अधिक मनुष्य यहाँ बसते हैं। उत्तर में काश्मीर से दक्षिण में कन्या-कुमारी तक आकार में दो हजार मील से भी अधिक लम्बा यह महान् भूखण्ड तीन ओर से समुद्र-जल से घिरा हुआ है। इसके पश्चिम की ओर अरब-सागर, पूर्व की ओर बंगाल की खाड़ी और दक्षिण की ओर हिंद-महासागर है। दक्षिणी भाग एक बड़ा भारी पठार है, जिसके पश्चिम और पूर्व की ओर के उठे हुए भाग पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट कहलाते हैं। पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट पहाड़ों की श्रेणियाँ नहीं हैं, वे केवल पठार के ऊँचे उठे हुए किनारे हैं। यह पठार पश्चिम से पूर्व की ओर ढलुआँ चला गया है। भारतभूमि का लंबा समुद्रतट अधिकतर कटा हुआ नहीं है। फलत. समुद्र का पानी दूर तक जमीन के अन्दर नहीं घुस पाता। इसीलिए यहाँ प्राकृतिक बन्दरगाह अधिक नहीं हैं और यही कारण है कि अधिकतर भारतवासी समुद्र से प्राय हमेशा से ही दूर रहे हैं। उनकी अधिकांश आबादी नाविक नहीं हो पायी और अधिकतर मनुष्यों ने तो समुद्र के कभी दर्शन ही नहीं किये। दूसरे देशों में, जैसे इंगलैंड में, अच्छे-अच्छे प्राकृतिक बन्दरगाह हैं। वहाँ समुद्र का पानी दूर तक अन्दर घुस आया है। उन देशों के बहुत-से नगर समुद्र के ही पास हैं। इसीलिए वहां के लोग स्वभावतः समुद्र-प्रेमी और अच्छे मल्लाह हैं।

**बंबई-बंदरगाह पर निर्मित भारत का प्रवेश-द्वार**

पिछले कुछ सौ वर्षों में समुद्र-यात्रा के विकास के साथ हमारे समुद्रतट पर अनेक बन्दरगाह उठ खड़े हुए हैं। उनमें बंबई सबसे महत्त्वपूर्ण है, जिसे "भारत का प्रवेश द्वार" कहा जा सकता है।

## कृषि और वन्य संपत्ति तथा उद्योग-धन्धे

भारत की जमीन—खासकर गङ्गा और यमुना के बीच की भूमि—बड़ी उपजाऊ है। इस देश में घने जंगल भी हैं। दक्षिण भारत के पाँच हजार फीट से अधिक ऊँचे पहाड़ों पर और हिमालय की तीन हजार फीट से अधिक ऊँचाई पर सदैव हरे रहनेवाले जंगल पाये जाते हैं। हिमालय के ऊँचे भागों में कोई वनस्पति पैदा नहीं होती, क्योंकि वहाँ हरदम बर्फ ही जमी रहती है। गङ्गा के दलदली मुहाने पर "सुन्दर बन" नामक वन है। भारत के जंगलों में अच्छे-अच्छे वृक्ष पाये जाते हैं, जिनकी लकड़ी बहुत उपयोगी होती है। इमारती लकड़ी के वृक्षों में सागौन, शीशम, देवदार आदि उल्लेखनीय हैं। दरख्तों को काट कर उनके बड़े लट्ठे पहाड़ों से नीचे उतरती हुई बड़ी-बड़ी नदियों की धाराओं में डाल दिये जाते हैं। जब बरसात में नदियों में पानी बढ़ जाता है, तब लट्ठों के वे गट्ठे बहकर मैदानों में अपने निश्चित स्थान तक मुफ्त पहुँच जाया करते हैं।

भारत में गेहूँ, ज्वार-बाजरा, दालें, पटसन, कपास, नारियल, चाय, काफी, तमाखू, रबर, चावल आदि चीजों की काफी पैदावार होती है, तथा रुई, पटसन, रेशम, ऊन आदि से बंबई, कलकत्ता, अहमदाबाद, कानपुर आदि की मिलों में उपयोगी वस्तुएं तैयार की जाती हैं। वाराणसी, श्रीनगर, बंगलौर, अमृतसर, अहमदाबाद और सूरत रेशमी वस्त्र-उद्योग के लिए प्रसिद्ध हैं। आज भी भारत के गाँवों में सूती और रेशमी वस्त्र बनानेवाले बड़े होशियार कारीगर पाये जाते हैं। काश्मीर के ऊनी वस्त्र और गलीचे प्रसिद्ध हैं। जमशेदपुर में लोहा एवं उसकी वस्तुएं तैयार करने

का एशिया भर का सबसे बड़ा आधुनिक कारखाना है। वाराणसी, बम्बई, पूना आदि की चाँदी की वस्तुएँ तथा जयपुर और दिल्ली की सोने की बनी चीजे प्रसिद्ध है। पीतल के बर्तन तो हर जगह बनाये जाते है, और गाँवो में मिट्टी के बर्तनों के बारे में तो पूछना ही क्या है--उन्हे तो जगह-जगह कुम्हार आदि बनाते ही है।

भारत की हरी-भरी उर्वरा भूमि पर प्रकृति सदैव लहलहाया करती है। प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से गगनचुम्बी हिमालय की बर्फ से ढकी हुई चोटियाँ संसार भर में बेजोड़ हैं। उसमें भी काश्मीर तो प्राकृतिक सौंदर्य का स्वर्ग ही है। यहाँ तो प्रकृति मानो स्वय अपने हाथो अपना साज-सिंगार किया करती है। तरह-तरह के जीव-जन्तुओं की भी इस देश मे कमी नही है।

## वास्तव में भारत गावों में बसता है

योरपीय देशो के समान न तो भारत मे उतनी अधिक सख्या में बड़े-बड़े नगर है और न अधिक कारखाने ही हैं! आधुनिक भारत पिछले दिनो जब ब्रिटिश साम्राज्य के अधिकार मे आया था, तब यहाँ भी पश्चिमी हवा चल पडी। फलत यहाँ भी बड़े-बड़े नगरो, आलीशान इमारतो, मोटरो, ट्राम-गाडियों आदि की धूम मची। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस महादेश के नगरो की जन-सख्या में और भी वृद्धि हुई और साथ ही उनकी शान-शौकत भी बढ़ी। जमशेदपुर का सुप्रसिद्ध लोहे का कारखाना तो पहले ही बन चुका था, अब ऐसे ही अन्य बड़े कारखाने दुर्गापुर, रूरकेला और भिलाई नामक स्थानो मे भी स्थापित होने जा रहे है। फिर भी सच पूछिए तो भारत के कई लाख गाँवो के बीच मे उसके सौ-पचास बड़े-बड़े नगरो का अस्तित्व नगण्य-सा ही प्रतीत होता है। असली भारत तो गांवो ही में है। इसका कारण यह है कि यहाँ के पचहत्तर या अस्सी प्रतिशत लोग किसान है।

**गगनचुम्बी हिमालय**

जो एक चिरप्रहरी की भाति भारतभूमि की उत्तरी सीमा पर अटल अडिग खड़ा है। यह दार्जिलिंग से दिखाई पड़नेवाले हिमालय के एक महान् शिखर कंचनजंघा का चित्र है।

ये अभी काफी पिछड़े हुए है। इसका कारण यह है कि वही भारत, जिसने कि संस्कृति और ज्ञान के क्षेत्र में कभी आश्चर्यजनक प्रगति की थी, आज शिक्षा में बहुत-कुछ पीछे है। उसकी अधिकाश आबादी निरक्षरता की शिकार है। भारत को इस प्रकार बहुत नीचे गिरा दिया पिछले दिनों की गुलामी ने। फिर भी महात्मा गाधी जैसे महापुरुषों ने उसमें फिर से एक नवजागृति उत्पन्न कर दी है। पिछले स्वतत्रता-आन्दोलन मे सैंकड़ो स्त्री-पुरुषों ने भाग लेकर और देश-प्रेम के लिए अपने प्राणो की बाजी लगाकर यह सिद्ध कर दिया कि यह राष्ट्र अब भी जीवित है।

आइये, अब जरा गाँवो मे चलकर सच्चे भारत के दर्शन करे। आपको यहाँ कही मिट्टी और फूस की बनी हुई साफ सुथरी तो कही टूटी-फूटी गंदी झोपड़ियाँ मिलेगी। इन्हीं में किसान अपने परिवार के साथ रहते है। गाँव के आस-पास ही छोटे-छोटे जमीन के टुकड़े है। उन्ही टुकड़ो पर किसान अपना देशी हल चलाकर खेती करता है। चाहे गर्मी हो, चाहे जाडा, चाहे बरसात, हर हालत मे वह कर्मठ किसान, अपने बैलो को हल में जोतकर, सुबह से शाम तक उन खेतो की छाती पर हल चलाता है। उस मिट्टी मे जो कुछ अन्न पैदा होता है, उसी से उसको साल भर तक अपना और अपने परिवार का पेट पालना पड़ता है। कभी नदियो में बाढ़ आने के कारण सैंकड़ो गाँव जल-मग्न भी हो जाते है, गाय-बैल आदि मवेशी भी पानी मे बह जाते है। कभी अकाल पड़ता है, तो कभी अतिवृष्टि और कभी अनावृष्टि से उसका सामना होता है। परन्तु प्रकृति की सब क्रूरताओं को सहते हुए वह संतोषपूर्वक अपना जीवन-यापन करता है।

**एक ग्रामीण भारतीय**

जिसकी भावभंगी इस बात की साक्षी है कि इसकी नसो में अब भी प्राचीन आर्यो का रक्त सुरक्षित है।

किसी-किसी गाँव में सौ दो सौ या इससे भी ज्यादा घर होते हैं तो किसी-किसी में दो-चार झोपड़ियाँ ही। बंगाल म किसान अधिकतर दो-दो चार-चार झोपड़ियाँ डालकर ही अपने खेतों के पास रहते है।

प्रत्येक गाँव मे एक-न-एक कुआँ अवश्य होता है। इन कुओ पर पानी भरने के लिए किसानों की स्त्रियां, अपने-अपने प्रांत के रसम-रिवाज के अनुसार पोशाक पहने, सुबह-शाम इकट्ठा होती रहती हैं। ये स्त्रियाँ कुएँ के उस पनघट पर एकत्र होकर सुख-दुःख की बातें करती हैं। कभी घर-गृहस्थी से सबध रखनेवाली बातों की चर्चा होती है तो कभी किसी की माँ या बहू आदि की शिकायत या तारीफ भी होती है। सुबह कुएँ से पानी खीचकर घड़े सिर पर रखकर या बगल मे दबाये हुए ये घर की ओर जाती है, चूल्हा जलाती है और अपने परिवार के लिए भोजन तैयार करती है। किसान ज्वार या बाजरा की मोटी-मोटी रोटियाँ प्याज या तरकारी के साथ खाने में ही सुख-संतोष की साँस लेता है और सुबह होते ही फिर खेतों पर हल चलाना शुरू कर देता है।

## संसार का सबसे अधिक धर्मप्राण देश

भारत संसार का सबसे अधिक धर्मप्राण देश है। धर्म की भावना ही ने इस देश को अब तक जीवित रक्खा है। परंतु लोगों की सरल श्रद्धा से यहाँ बहुत-कुछ अनुचित लाभ भी उठाया जाता रहा है और जगह-जगह धर्म के व्यापारी उठ खड़े हुए है। गाँवों मे जाइए, वहाँ किसी चबूतरे पर बैठे कोई साधु महाराज आप अवश्य पायँगे। ये महात्मा गाँजे की दम लगाते हुए लोक-परलोक की लम्बी-चौड़ी डींग हाँकते है! कही पीपल या
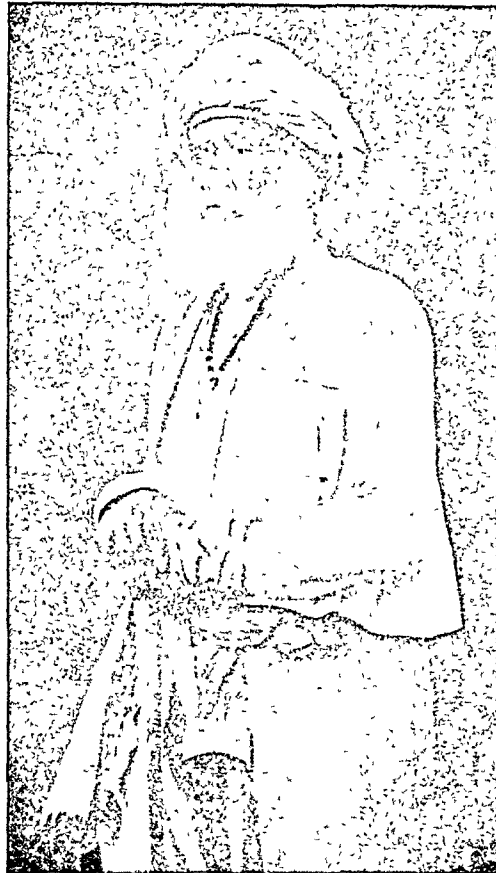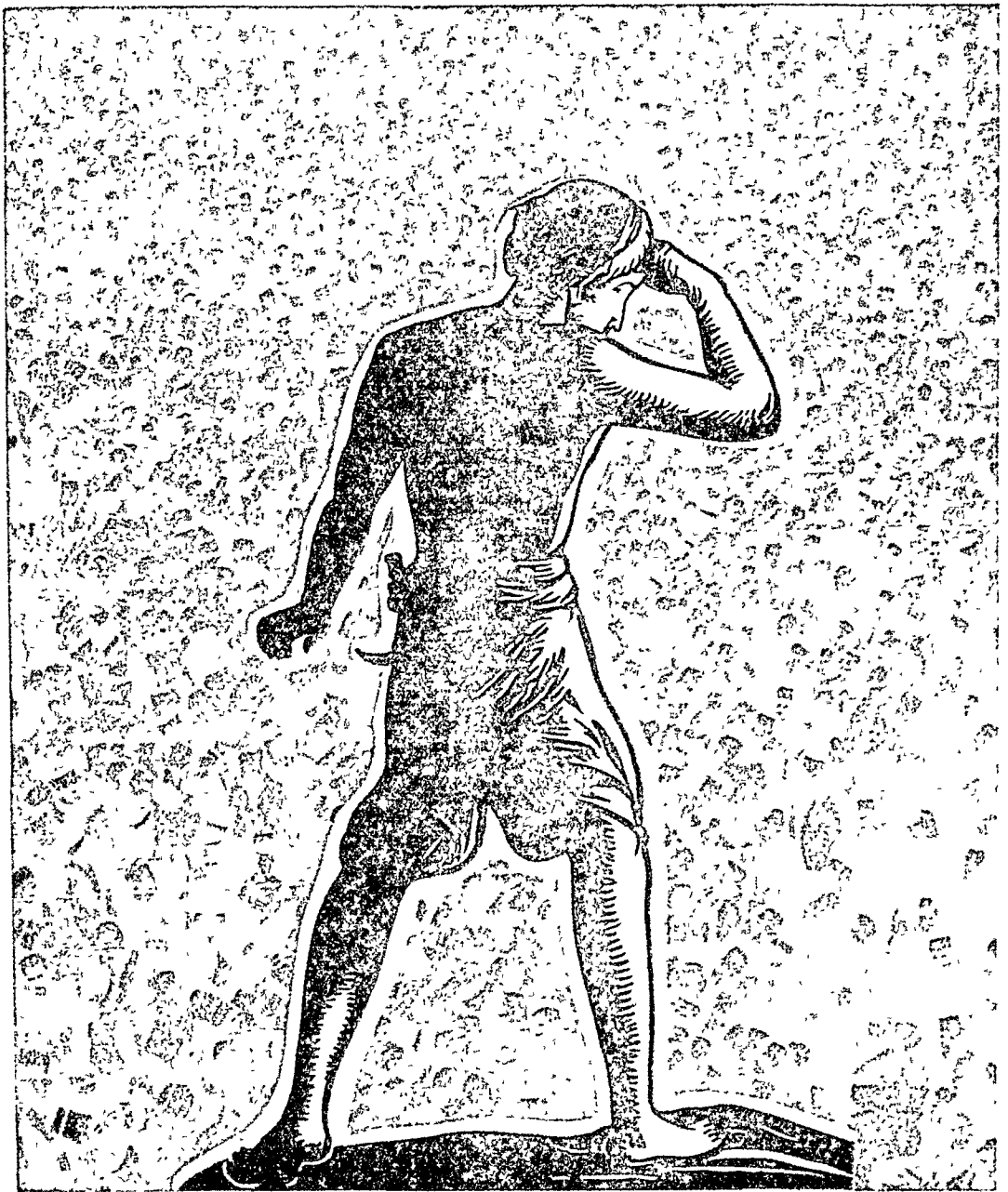
**भारत का पुनरोदय**

पिछले कई सौ वर्षों से अकर्मण्यता और अज्ञान की निद्रा में अचेत-सा भारत इस कालावधि में जकड़ी गई पराधीनता की बेड़ियों को तोड़कर आज मानों नया शरीर धारण कर फिर से उठ खड़ा हुआ है। केवल राजनीतिक दासता ही से छुटकारा पाकर वह संतुष्ट नहीं हो गया है, बल्कि उससे भी अधिक भयंकर आर्थिक शोषण एवं अज्ञानांधता की बेड़ियों से भी मुक्ति पाने की साध अब उसके मन में जग उठी है। इस प्रकार एक नवीन उद्भव हो रहा है। नूतन जागृति की यह लहर अब केवल शहरों या शहरवालों ही तक सीमित नहीं है, प्रत्युत गांवों में भी, जहां कि असली भारत बसता है, वह फैलने लगी है।
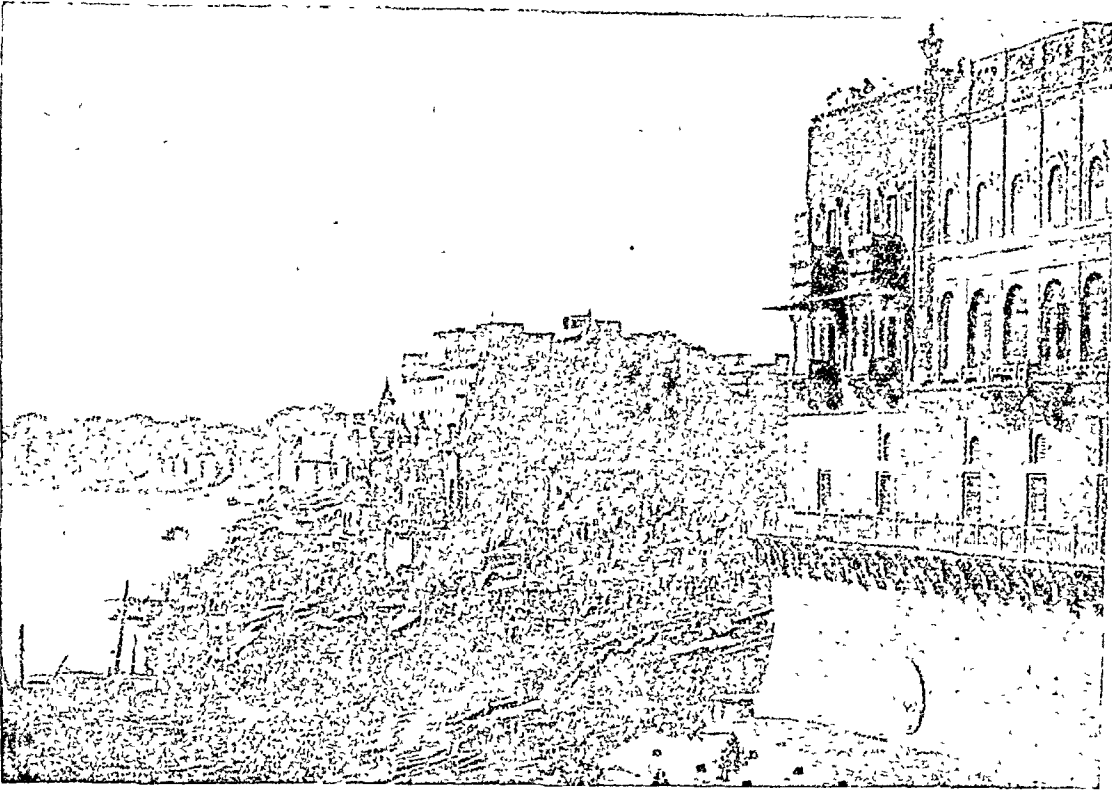
**भारत के गौरवशाली अतीत की साक्षी--गंगा**

जिसके तटों पर भारतीय सभ्यता का जन्म और विकास हुआ और जिसका नाम प्रत्येक भारतवासी के लिए एक पुनीत श्रद्धा की वस्तु है। गंगा इस देशवासियों के लिए एक जड़ वस्तु नहीं, वरन् एक अलौकिक देवी के रूप में विद्यमान है।

बरगद के दरख्तों के नीचे सेंदुर से पुते हुए गोल-गोल पत्थर रखे रहते हैं, जो भाँति-भाँति के देवताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। ग्रामीण स्त्री-पुरुष बड़ी श्रद्धा और विश्वास के साथ उन देवताओं पर जलधारा डालकर पत्र-पुष्प चढाते हैं। यदि कोई बीमार पड़ता है तो लोगों को झट भूत-प्रेत का अन्देशा हो जाता है। तब झाड़-फूंक करनेवाले एवं भूत-प्रेत को शरीर से निकालनेवाले "ओझा" नामक महापुरुषों की बन पटती है। प्रायः किसी भगतजी या औघड़पंथी के शरीर पर किसी देवता या सीतला माई आदि की आत्मा भी बुलाई जाती है। घृत का दीपक रात-भर जलता है। धमाधम ढोल बजते हैं और देवता धोती-मात्र पहने हुए उस भगत के शरीर पर धावा बोलते हैं। फलतः भगतजी का शरीर हिलने-काँपने लगता है। शराब की बोतल खुलती है। देवता बोतल गटागट साफ कर जाते है, फिर भभूत बाँटते हैं तथा बीमार आदमी के भूत-प्रेत को डरा-धमकाकर निकाल बाहर करते हैं। तब काँपते हुए स्वर में भविष्यद्वाणी कर, सरलहृदय ग्रामीणों को चकित और आतङ्कित कर देते हैं!

भारत में भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वास रखनेवाले लोग पाए जाते हैं। जातियाँ भी यहाँ कई हैं। हिन्दुओं में मुख्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं, जो कि बहुत पुराने जमाने से अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। इन जातियों की भी कई शाखाएँ और उपशाखाएँ हो गई हैं, जैसे वृक्ष की डालियाँ और पत्ते। आधुनिकता के प्रसार से या शहरों में पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से जाति-बन्धन ढीले पड़ चले हैं, फिर भी अधिकांश लोग संस्कार, विवाह आदि के मामलों में जात-पाँत के भेद-भाव का पालन करते हैं। अपनी ही जातिवालों में आपस में विवाह-संबंध होते हैं। एक ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र की जाति में शादी नहीं कर सकता और न अन्य जातियाँ ही अपनी सीमा के बाहर जाती हैं। हाँ, आजकल के कुछ नवयुवक अन्तर्जातीय विवाह भी करने लगे हैं। देश के नेता

और सुधारक इन जातियों को एकाकार बनाने में प्रयत्नशील हैं। पर गांवों में यह जाति-प्रथा दृढ़ है। कहा जा चुका है कि भारत की आबादी चालीस करोड़ के लगभग है। इसमें हिन्दू-धर्म के माननेवाले करीब तीन-चौथाई हैं। शेष सिक्ख, जैन, बौद्ध, पारसी, मुसलमान, ईसाई आदि हैं। कुछ जंगली जातियां भी हैं, जो धर्म के नाम पर भूत-प्रेत आदि की पूजा करती हैं।

### सांस्कृतिक विरासत एवं विविधता में एकता का भाव

इतनी सब विभिन्नताएं होते हुए भी, भारत का प्रत्येक भाग एक विशेष संस्कृति में बंधा हुआ है। इसका कारण यह है कि अन्य बातों में विभिन्नता होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से यहां ऐक्य है। हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, काश्मीरी, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, उड़िया, असमी, आदि यहां की मुख्य भाषाएं हैं। इन भाषाओं के भी अनेक भेद हैं। बोल-चाल की भाषा या "बोली" तो प्रत्येक बारह मील पर कुछ-कुछ परिवर्तित-सी दिखाई पड़ती है। इनमें हिन्दी सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली जाती है। इसी से यह भारत की राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन है।

यह भारत नगरों, गांवों, धर्मों, संस्कृतियों, भाषाओं, जातियों, पहाड़ों, नदियों, प्राकृतिक दृश्यों, जीव-जन्तुओं, आदि का विचित्र संग्रहालय है। इन विचित्रताओं के बीच भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ प्रतीक-स्वरूप अनेक कलात्मक प्राचीन स्मारक इस देश के अतीत को वर्तमान से संबंधित कर देते हैं। भुवनेश्वर, कोणार्क और खजुराहो के मंदिर; भरहुत, अजन्ता और सांची के बौद्धकालीन स्मारक, चित्तौड़, ग्वालियर, आदि के किले, मथुरा, वृन्दावन, वाराणसी आदि के मन्दिर, और सदियों से अटल खड़े हुए अन्य सैकड़ों ऐतिहासिक अवशेष आर्य-सभ्यता की पुरातन महिमा का गौरवगान कर रहे हैं। आगरा, फतहपुर सीकरी, दिल्ली, आदि की मुगलकालीन इमारतें, मीनारें और समाधियां मध्यकालीन संस्कृति की रङ्गीन तस्वीरें हमारे आगे खींच देती हैं। विश्व-विख्यात 'ताजमहल' के रूप में सम्राट् शाहजहां के अमर आंसू जमकर मानो काल के कपोल पर लटक गये
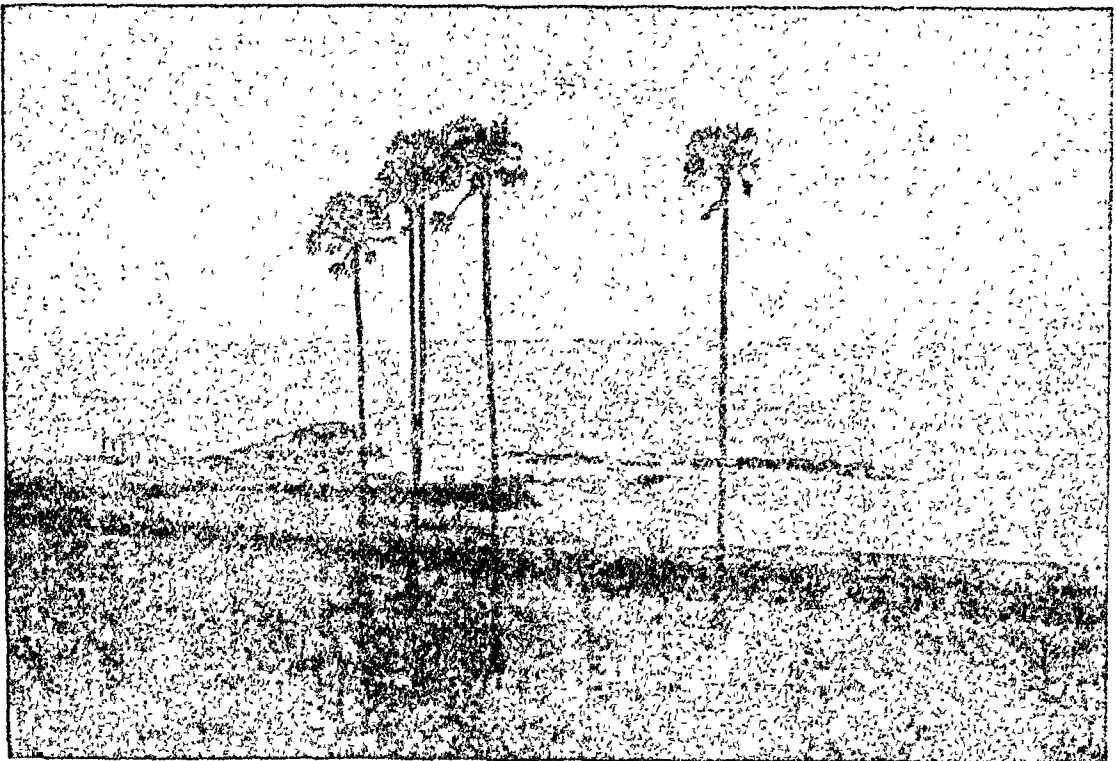
भारत का दक्षिणतम सिरा—कन्याकुमारी

यहां हिन्द-महासागर की लहरें उछल-उछलकर मानों भारतमाता के चरण पखारने के लिए निरंतर [illegible]

है। उधर एलोरा का प्रसिद्ध "कैलाम-मदिर" संसार की भवन-निर्माण-कला का अपने ढंग का एक ही उदाहरण है। अपने देश के इन पुरातन गौरव स्मारकों को देखकर अपने प्राचीन गौरव की याद से हमारा जी भर जाता है और मस्तिष्क श्रद्धा से झुक जाता है।

### नगरों की चमक-दमक

अब पाश्चात्य सभ्यता ने भारत के नगरो को बहुत-कुछ आधुनिक बना दिया है। वहाँ सैकड़ो कल-कारखाने देखने मे आते है और सुबह और शाम काम पर जाते हुए तथा छुट्टी के बाद वापस आते मिल-मजदूरो का झुड दृष्टिगोचर होता है। मोटर, सायकिल, इक्के आदि इधर से उधर भागते हुए दिखलाई पड़ते है। पाश्चात्य रग-ढग के नये-नये बँगले, स्कूल, कालेज, अस्पताल, पार्क, बगीचे, खेल के मैदान आदि देखने को मिलते है। परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, ऐसे बड़े-बड़े शहर, जहाँ कि पाश्चात्य वैज्ञानिक सभ्यता की यह चकाचौंध नजर आती है, भारत मे बहुत कम है। ऐसे नगरों में प्रमुख कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मदरास है, जो भारत के सबसे बड़े शहर है। अन्य बड़े नगर हैदराबाद, कानपुर, अहमदाबाद, लखनऊ, बंगलौर, नागपुर, पटना, इन्दौर, जयपुर, अमृतसर, आगरा, वाराणसी, अजमेर, आदि है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यद्यपि भारत मे आज रेलगाडियाँ रेगनी है, बिजली और भाप के जादू का वैभव देखने में आता है—फिर भी गाँव में बसा हुआ असली भारत अब भी ज्यो-का-त्यों गरीबी की ही दुनिया मे काल-यापन कर रहा है।
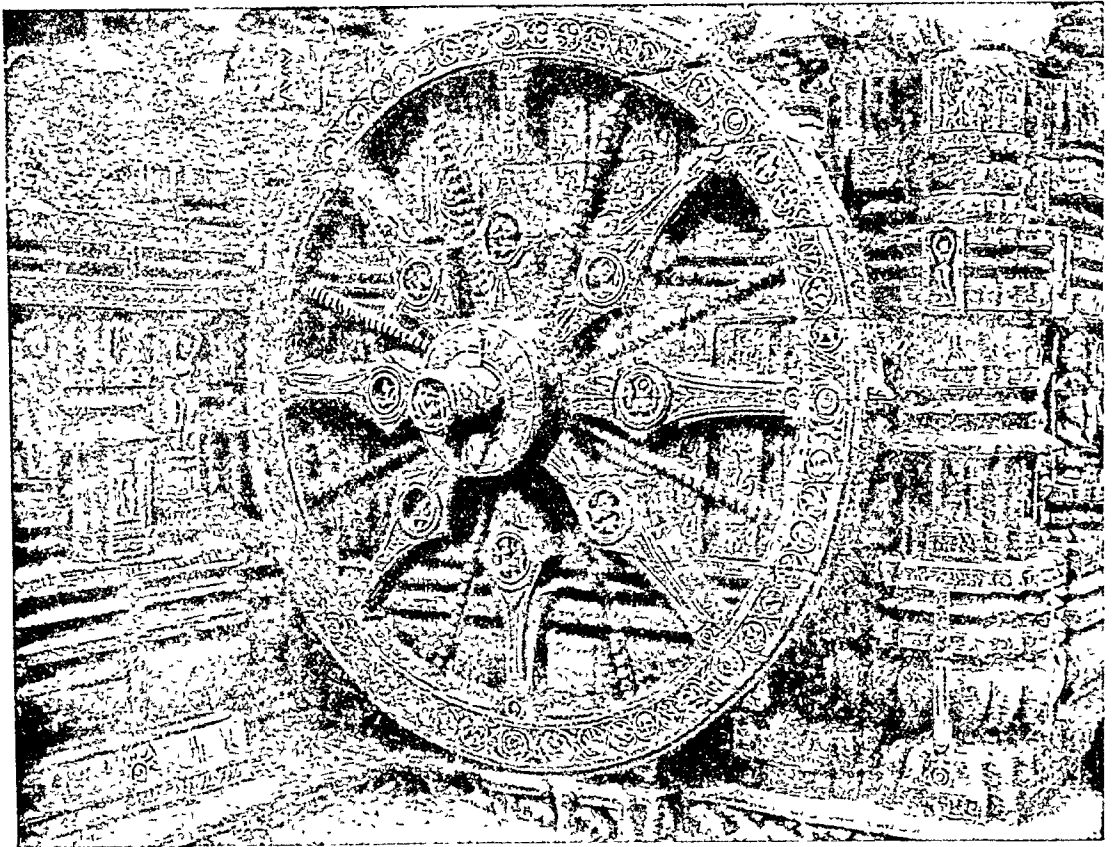
**भारत की आत्मकहानी ऐसे अनेक कला-स्मारकों से गौरवान्वित है**

उडीसा के कोणार्क नामक स्थान में कई शताब्दी पूर्व पाषाण में बने हुए सूर्य के रथ का एक चक्र, जो इस बात को पुकार-पुकार कर कह रहा है कि चिरकाल ही से भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ अपनी आध्यात्मिक भूख मिटाने के के लिए भी भारत सदैव प्रयत्नशील रहा है।

# धरती की खोज

## अज्ञात भूभागों का अन्वेषण करनेवाले वीरों की कहानी

**जिन्होंने अपने प्राण हथेली पर रखकर मानव की क्रीड़ाभूमि का विस्तार करने के हेतु असीम संकटों का सामना किया और अपनी दीर्घकालीन यात्राओं में जो या तो सफल हुए या मर मिटे, संसार के सुदूर अज्ञात भूभागों का अनुसंधान करनेवाले उन पराक्रमी, कर्मशील योद्धाओं की कथा इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। प्रस्तुत अध्याय में सामूहिक रूप से हम उन्हीं की याद दोहराने जा रहे हैं।**

अपने इतिहास के आदिकाल ही से मानव एक प्रगतिशील प्राणी के रूप में आगे बढ़ता रहा है। उसके मन में आरंभ ही से वर्त्तमान के प्रति असंतोष की एक भावना उमड़ती रही है। शुरु से ही वह अपने मन में एक अदम्य जिज्ञासा और विकास की प्रेरणा लेकर सृष्टि पर आधिपत्य जमाने के सपने देखता रहा है। हाँ, अत्यन्त आदिमावस्था में एक सीमित वातावरण में रहते समय अपने आसपास के छोटे-से भूखण्ड में ही वह समस्त विश्व की सीमा का अनुमान किया करता था। आहार की सुलभता के कारण उन दिनों कल की चिन्ता से वह सर्वथा मुक्त था। फलतः तब तक उसने सुदूरव्यापी अज्ञात भूखण्डों, नदियों, पर्वतों और महासागरों की कल्पना तक नहीं की थी। किन्तु कालान्तर में जब एकान्त की अनुभूति ने उसके मन को उद्वेलित करना शुरू किया और उसे अपने चारों ओर का वातावरण अप्रिय तथा अरुचिकर प्रतीत होने लगा, साथ ही जीवन-निर्वाह की वह आरंभिक सुलभता भी जब मिटने लगी, तब विवश हो अपनी आदि आवास-भूमि को सदा के लिए त्यागकर वह नवीन की खोज में निकल पड़ा। इस प्रकार मानवीय प्रगतिशीलता का सर्वप्रथम प्रतिनिधि और मानव-जाति के चिरप्रवास का सर्वप्रथम अग्रणी वह आदि मानव ही था, जिसने क्षुधा-निवृत्ति के हेतु एक मृग का शिकार करने की चेष्टा में अपनी आवास-भूमि को पीछे छोड़कर एक सर्वथा नवीन भूभाग को पहलेपहल खोजकर अपनाया होगा। पर यहीं पर मनुष्य ने विराम नहीं लिया—यह क्रम शताब्दियों तक इसी प्रकार चलता रहा और एक अमिट अतृप्ति की अनुभूतियों द्वारा सकेत पाता हुआ वह निरन्तर साहस के मार्ग पर अग्रसर होता रहा। इस प्रकार उसने सभ्यताओं और संस्कृतियों को जन्म दिया, इतिहास का निर्माण किया और अन्त में एक दिन ऐसा भी आया जब वह इस भूमण्डल का एकछत्र सम्राट् भी बन बैठा।

### धरातल के अन्वेषण में प्राचीन भारत का योगदान

इस शतशतयुगव्यापी मानवीय प्रगति का इतिहास साहस, शौर्य्य, पराक्रम और संघर्ष की अनोखी घटनाओं का इतिवृत्त है। मानव-परिवार के उन अपराजेय, साहसी प्रतिनिधियों की वीरगाथाएँ अमर हैं, जिन्होंने सबसे पहले नए-नए भूभागों को खोज निकालने, गगनचुम्बी पर्वतों का आरोहण करने और सुविस्तृत मैदानों तथा मरु-खण्डों को पैरों से नाप डालने के प्रयास में अपने प्राणों तक की आहुतियाँ चढ़ा दीं। निस्संदेह इस आरंभिक अन्वेषणकार्य में संसार की अन्य प्राचीन जातियों के साथ-साथ भारतवर्ष की प्राचीन आर्य और अनार्य जातियों ने भी किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण भाग न लिया होगा। यह सच है कि उनके उस युग के अनुसंधानकार्य के सम्बन्ध में आज के दिन संसार को बहुत कम बातें ज्ञात हैं, फिर भी जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों तथा कम्बोडिया, इंडो-चीन, बर्मा और मलय आदि देशों में प्रचुरता से पाये जानेवाले भारतीयता के प्राचीन स्मारक-चिन्हों एवं उन देशों के जीवन में भारतीयता

की सुस्पष्ट छाप देखते हुए सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि किसी युग में भारतीयों ने भी दूर-दूर तक पृथ्वी पर अभियान करके अपने उपनिवेश स्थापित किए थे। सुदूर अमेरिका तक में प्राचीन 'मय जाति' की सभ्यता और संस्कृति के अवशिष्ट स्मारकों में भारतीयता की कुछ झलक दिखाई देती है। क्या ताज्जुब है यदि किसी सुदूर प्राचीन युग में हमारे देश के कतिपय साहसी वीरों ने वहाँ तक पहुँचकर अपने पैर जमाये हों! हमारे वे पुरखे कितने कर्मनिष्ठ, साहसी और वीर रहे होंगे, जिन्होंने उस प्राचीन युग में हजारों मील की यात्रा करके उत्तुंग हिमाच्छादित पर्वतमालाओं, द्रुतगामिनी नदियों, तथा असीम सागरों को लाँघकर इस धरातल को पहले-पहल नापा होगा! निस्संदेह यह हमारा दुर्भाग्य है कि आज हमारे सामने उनके उन महान करतबों का आधुनिक ढंग से रचा गया कोई लिखित इतिहास नहीं है और हमारे वेदों और पुराणों के उपाख्यानों में यदि तत्सम्बन्धी इतिवृत्त छिपा भी है तो कोरी दंतकथा समझकर आज के विद्वान् उसे मान्यता नहीं देते। संभव है, आगे चलकर इन्हीं कथाओं में से उस युग का इतिहास खोज निकालकर भविष्य के विद्वान् संसार को नया प्रकाश दें!

**जावा में प्राप्त अगस्त्य की मूर्ति**

हमारे देश के पौराणिक साहित्य में ऋषि अगस्त्य का नाम दक्षिणापथ के भूभाग को खोजकर आर्य प्रभाव में लानेवालों में अग्रणी माना गया है। चूंकि जावा जैसे सुदूर प्रदेश में भी अगस्त्य की मूर्ति मिली है, अतः आश्चर्य नहीं कि यह महापुरुष भारत के तट से परे के प्रदेशों में भी पहुंचे हों।

## प्राचीन युग की एक महान् अन्वेषक जाति—फीनिशियन

तो फिर पूर्व के देशों के आदि अनुसंधानों के संबंध में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में, आइए, पश्चिम की ओर ही बढ़ें, जहाँ इस संबंध में काफी मसाला मिलता है, साथ ही जहाँ इस क्षेत्र में पर्याप्त कार्य भी हुआ है। पश्चिम में लेबनान की गगनचुम्बी पर्वतमाला और सागर के तट के बीच का जो संकुचित भूभाग है, वही पहले फीनीशिया कहलाता था। यह प्राचीनकाल में भूमध्यसागर की समुद्री-शक्ति का आदि केन्द्र था। यहाँ के निवासी आड़ में पर्वतों की दीवाल होने के कारण उस पार के प्रदेशों से पूर्णतया अपरिचित रहे, अतएव आवश्यकतावश उन्होंने समुद्री मार्ग का ही आश्रय लेकर तट के किनारे-किनारे घूमना-फिरना आरम्भ किया। इसके लिए उन्होंने देवदारु के वृक्षों को काटकर छोटी-छोटी नौकाएँ बना ली। क्रमशः उन्होंने बड़े जलयान भी बनाना सीखा लिया, जिससे उनकी समुद्री यात्राओं का क्षेत्र विस्तृत होता चला गया। अब वे महासागर की सैर करते हुए साइप्रस, रोड्स, सिसिली, आदि द्वीपों तक जा पहुँचे, और आधुनिक स्पेन के समुद्री तट तक पहुँचकर, उस स्थान पर जहाँ वर्तमान केडिज शहर बसा हुआ है, उन्होंने एक नगर स्थापित किया। इस प्रदेश में उन्हें इतनी प्रचुरता से चाँदी मिली कि उन्होंने अपने जलयानों के लंगर लोहे के बजाय चाँदी के ही बनवा डाले! स्पेन से वे आधुनिक फ्रान्स और कार्नवाल के समुद्री तट तक जा पहुँचे, जहाँ उन्होंने टीन की खानें देखीं। कालान्तर में उन्होंने अपनी शक्ति बेहद बढ़ा ली और अब वे अपने उपनिवेश भी बसाने लगे। उन्होंने ही अफ्रीका के उत्तरी तट पर कार्थेज नगर की प्रस्थापना की, जो उनके पतन के बाद भी शताब्दियों तक उन्नति करता रहा, यहाँ तक कि एक दिन उसने रोम की बढ़ती हुई शक्ति को भी चुनौती दी।

## कार्थेज का वीर—हन्नो

४५० ई० पू० के लगभग इसी कार्थेज नगर का एक साहसिक नागरिक, जिसका नाम हन्नो था, अपनी अध्यक्षता में ६० जलयानों का एक बेड़ा लेकर अफ्रीका के पश्चिमी सागरतट का अनुसंधान करने तथा वहाँ उपनिवेश बसाने के प्रयोजन से निकल पड़ा। अनेक विपदाओं का सामना करते हुए वह सिनेगाल नदी के मुहाने तक जा पहुँचा, जहाँ उसने बड़े-बड़े दीर्घाकार हाथी तथा अन्य जंगली पशु देखे। अन्त में आधुनिक सियरा लिओन प्रदेश में उसने पदार्पण किया, जहाँ पर कुछ रोएँदार जंगली मानवसम प्राणी उसने देखे, जो वास्तव में गोरिल्ला

**प्राचीन युग के महान् अन्वेषक 'फीनिशियन' और 'स्कैंडिनेविया के वाईकिंग'**

(ऊपर) फीनिशियन नाविक, जो समुद्र पर विजय प्राप्त करनेवाले प्राचीन लोगों में कदाचित् सबसे आगे बढ़े हुए थे, अपने जहाजों का निर्माण कर रहे हैं; (नीचे) कोलंबस से भी पहले अटलांटिक महासागर को पार करनेवाले स्कैंडिनेविया के वाइकिंग लोगों का समुद्री बेड़ा ।

नामक वन-मानुष थे ! बहुत दिनों तक लोग हन्नो की अफ्रीका-यात्रा को कपोल-कल्पित ही समझते रहे और किसी ने भी उस पर विश्वास नहीं किया, किन्तु वास्तव में हन्नो ने यह साहस का कार्य सम्पन्न किया था, इसमें अब संदेह नहीं रहा है।

## यूनान एवं अरब के प्राचीन अन्वेषक

जिस समय कार्थेज के उपर्युक्त साहसी नाविक अफ्रीका के समुद्री तट का अनुसंधान कर रहे थे, उसी समय यूनान की भी शक्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी। पाँचवी शताब्दी मे हमे हेरोडोटस नामक प्रसिद्ध यूनानी लेखक की यात्राओं का परिचय मिलता है। हेरोडोटस ने मिस्र देश की यात्रा की, जहाँ उसने भाँति-भाँति की विचित्र वस्तुएँ और चमत्कार देखे। ई० पू० ४४६ के लगभग उसने नील नदी, लीबिया, सीरिया, एशिया माइनर और सिदिया प्रदेशों की भी यात्रा की, जहाँ उसे अद्भुत दृश्य तथा अनोखे वन्यपशु दिखाई दिए। प्रत्येक देश के निवासियों से वह वहाँ के संबंध मे पूछताछ करता और जो कुछ वे कहते उसे लिखता जाता था। पर उसने अपने लिखे हुए संस्मरणों मे अनेक भौगोलिक गलतियाँ की है। उदाहरणार्थ, डैन्यूब नदी का उद्गम-स्थान वह पिरेनीज पर्वतो में मानता था ! उसके बाद जेनोफन नामक एक उत्साही यूनानी युवक देशाटन करने निकला और उसने असीरिया, आर्मीनिया और एशिया माइनर के संबंध मे अपने मनोरंजक भ्रमण-वृत्तान्त लिखे।

ई० पू० ३३३ में मैस्सीलिया ( वर्तमान मार्सेलीज ) का प्रख्यात गणितज्ञ पीथियस जल-मार्ग से बढ़ता हुआ स्पेन के समुद्री तट से आँग्ल-उपसागर तक जा पहुँचा, जहाँ से वह शेटलैण्ड के टापुओं में घूमता-फिरता हुआ और अधिक उत्तर की ओर बढ़ा। बर्फीले समुद्रों के निकट थूले नामक एक रहस्यमय भूभाग का पता उसने लगाया, जिसे उसने भूमण्डल की सुदूरतम सीमा पर स्थित अनुमान किया। सम्भवत. यह भूभाग आधुनिक आइसलैण्ड रहा होगा। वहाँ से लौटकर पीथियस टेम्स नदी के मुहाने तक आया। फिर उत्तर-सागर को पार करके वह राइन नदी के मुहाने पर पहुँचा, जहाँ से उसने हॉलैण्ड और उत्तरी जर्मनी के समतल मैदानों पर दृष्टि डाली। वहाँ ज्वार-भाटे की असाधारण वेगपूर्ण शक्ति देखकर वह हैरान हो गया, क्योंकि भूमध्यसागर में यह चमत्कार उसने कभी न देखा था ! इसके बाद वह मैस्सीलिया वापस आया, जहाँ उसने अपनी लम्बी यात्राओं और अनुसंधानो के रोमांचकारी वृत्तान्त लोगों को सुनाए। वास्तव में उसने भूगोल के विद्वानों को नए मानचित्र बनाने की पर्याप्त सामग्री प्रदान की, जिससे वे अपने क्षेत्र में आगे बढ़ सके।

चौथी शताब्दी ई० के आरंभ में कास्मस नामक एक व्यापारी ने पश्चिमी भारत अबीसीनिया तथा पैलेस्टाइन तक की दौड लगाई और एक बार तो वह नील नदी के उद्गम-स्थान तक जा पहुँचा। उसने अपनी यात्राओं का विवरण एक पुस्तक में लिखा है, जिसमें पृथ्वी को चपटी मानते हुए आकाश को उसने चार दीवालों की भाँति उसके छोरो मे लगे हुए एक गुम्बज जैसा बतलाया है। उसने सूर्य को पृथ्वी से छोटा माना है और कैस्पियन समुद्र को आर्कटिक महासागर मे गिरता हुआ बतलाया है !

आगामी तीन शताब्दियों तक अरब कई के व्यापारी भारत तथा चीन मे घूमते-फिरते रहे। उनमे से सुलेमान नामक एक सौदागर भी था, जिसने सन् ८५० ई० के लगभग अनेक लम्बी-लम्बी स्थल और जल-यात्राएँ की। अलिफ-लैला में वर्णित "सिंदबाद जहाजी" की यात्राओं का नायक वही माना जाता है।

## स्कैंडिनेविया के वाइकिंग नामक जलदस्यु

इसी युग मे स्कैण्डिनेविया के समुद्री तट की छोटी-छोटी खाड़ियों में कुछ ऐसे व्यक्तियों के समुदाय रहते थे, जिन्हे योरपवाले "समुद्री डाकू" कहते थे। ये लोग बड़े साहसी, वीर, लड़ाके और कष्ट-सहिष्णु होते थे और उनका आतंक दूर-दूर तक छाया हुआ था। उन लम्बी दाढ़ियोंवाले जल-दस्युओं ने ऐसे जहाज बनाए थे, जो पानी की सतह से काफी ऊँचे रहते थे। ये जहाज ७५ फीट लम्बे बनते थे और उनमे १२५ व्यक्तियों के लिए स्थान रहता था। इन्हे ये लोग मोटे-मोटे मजबूत डाँड़ों से खेते थे। उन्हीं जहाजों में बैठकर ये समुद्री डाकू पहले पश्चिम की ओर चले और तब सुदूरवर्ती आइसलैंड तक जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपना एक छोटा-सा उपनिवेश बसा लिया। आइसलैण्ड के प्रवासी जलदस्युओं में से एक, जो "लाल एरिक" के नाम से विख्यात हुआ, धुर पश्चिम की ओर चल पड़ा और अनेक संकटों का सामना करने के बाद अन्त में उसने एक अद्भुत अज्ञात भूभाग का पता लगाया, जिसका नाम उसने "ग्रीनलेण्ड" या "हरा-भरा देश" रखा, यद्यपि इस भूभाग मे एकमात्र हिम ही छाया हुआ था। यह नामकरण उसने इस आशा से किया कि अन्य प्रवासियो के मन में भी वहाँ बसने का आकर्षण उत्पन्न हो। परिणामतः वह द्वीप शीघ्र ही आबाद भी हो गया।
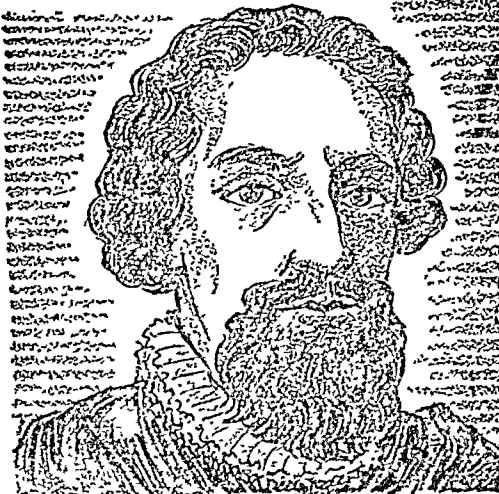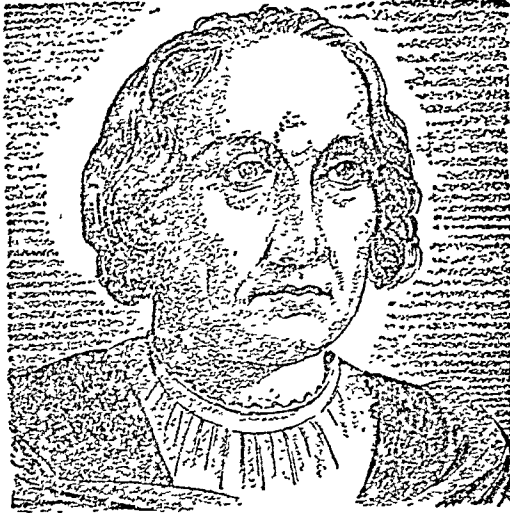
कुछ प्रसिद्ध अन्वेषक—(१)

( बाईं ओर—ऊपर से नीचे को ) १. लीफ एरिक्सन; २. मार्को पोलो; ३. बार्थोलोम्यू डियाज।

( दाहिनी ओर—ऊपर से नीचे को ) १. क्रिस्टाफर कोलम्बस; २. वास्को-डा-गामा; ३. मैगेलन।

कागज की मुद्रा का प्रचलन देखकर आश्चर्यचकित रह गए, क्योंकि उनके लिए वह एक सर्वथा नई बात थी! योरप के देशों में उस समय तक कागजी मुद्रा का प्रचार नहीं हुआ था। कुबलाई खाँ मार्को पोलो के व्यक्तित्व से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उसे अपने दरबार में एक सम्मानित पद देकर रख लिया। पूरे सत्रह वर्ष तक मार्को पोलो कुबलाई खाँ की सेवा में रहा और इस बीच उसने तिब्बत, उत्तरी बर्मा, मंगोलिया और भारत आदि कई देशों में खूब भ्रमण किया।

अंत में सन् १२९५ ई० में जब मार्को पोलो अपने पिता और चाचा के साथ वापस वेनिस लौटा तो उनके मित्र और सगे-सम्बन्धी आदि उन्हें पहचान भी न पाए। युवक मार्को उस समय अधेड़ अवस्था का व्यक्ति हो चुका था। यात्रा के चिन्हों से अलंकृत इन लोगों की फटी-पुरानी तातारी पोशाकें देखकर घरवालों ने भी उन्हें न पहचानकर द्वार बन्द कर लिया! बड़ी कठिनाई से अपना परिचय देकर वे घर के भीतर गए। उसी रात को एक विराट् भोज के अवसर पर इष्ट-मित्रों के सामने उन्होंने अपनी यात्रा की वे पोशाकें मँगवाकर फाड़ डालीं। पर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन पोशाकों में से चमकीले लाल, हीरे, पन्ने, जमुर्रद और पुखराज आदि मणियों और रत्नों के ढेर के ढेर निकल पड़े! फिर क्या था, पोलो-परिवार का सम्मान बेहद बढ गया और लोग उनकी प्रशंसा के गीत गाने लगे। थोड़े ही दिनों बाद वेनिस और जिनोआ में युद्ध छिड़ गया, जिसमें जिनोआ वाले मार्को पोलो को कैद कर ले गए! वहीं कारागार में उसने अपने एक साथी कैदी को अपनी यात्राओं के संस्मरण लिखवाए, जिनमें विशेषतया पूर्व के साम्राज्यों के अतुल वैभव का उल्लेख था। संसार के यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों में मार्को पोलो की यात्रा के ये संस्मरण अत्यन्त महत्वपूर्ण गिने जाते है, क्योंकि उन्हीं के पढ़ने से योरप के लोगों की आँखें खुलीं और भूगोल-शास्त्र की ओर उनकी रुचि बढ़ी। कोलम्बस भी उन्ही संस्मरणों से प्रभावित होकर यात्रा करने निकला था और अंत मे अमेरिका के अनुसंधान करने का श्रेय उसने प्राप्त किया था।

**मार्को पोलो की वापसी**

छब्बीस वर्ष तक विदेशों की खाक छानने के बाद मार्को पोलो, उसके पिता और चाचा वापस स्वदेश लौटे तो उनकी अजीब वेश-भूषा से लोग इतने चौंके कि उनके घरवालों ने उन्हें घर में न घुसने दिया और दरवाजे बन्द कर लिये।

इसके उपरान्त योरप के अनेकों मिशनरी और धार्मिक यात्री पूर्वीय देशों का भ्रमण करने निकले। किसी-किसी ने तो अपनी यात्रा के स्मारक-स्वरूप उन देशों के अनेक स्थानो में गिर्जे और उपासना-गृह भी बनवा डाले। किसी ने विचित्र बातों से भरी हुई झूठ-सच या अतिशयोक्तिपूर्ण पुस्तकें भी लिखी और किसी ने भूमण्डल के अज्ञात भागो के काल्पनिक मानचित्र ही बनाकर महत्व पाने की चेष्टा की।

## इब्नबतूता

१३२४ ई० मे इब्नबतूता नामक एक अरब विद्वान् ने उत्तरी अफ्रीका मे स्थित अपने मातृप्रदेश से मक्का की तीर्थयात्रा की। तदनंतर जलमार्ग द्वारा लालसागर पारकर वह अदन पहुँचा, जहाँ से उसने अरब और ईरान का भ्रमण किया। वहाँ से हिन्दूकुश पर्वत की उपत्यकाओ में होकर सिन्धु नदी के रास्ते से वह दिल्ली तक पहुँचा। तत्कालीन भारत-सम्राट् ने उसका उचित सम्मान किया और उसे अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा। चीन में उसने "शुतुर्मुर्ग के आकार के मुर्ग" देखे और चीनियों की चित्रकला से वह बड़ा प्रभावित हुआ। उसने चीन को "संसार का सबसे मनोहर देश" पाया।

तीस वर्षो के लम्बे प्रवास के बाद वह वापस टैन्जियर आया, जहाँ का कि वह निवासी था। उसने अपनी यात्राओं का सुविस्तृत वर्णन एक पुस्तक के रूप में लिखा है, जिसका संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। भौगोलिक ज्ञान के अतिरिक्त ससामयिक इतिहास की जानकारी बढ़ाने में भी इब्नबतूता के इस ग्रंथ ने काफी महत्वपूर्ण योग दिया है।

जब एरिक बूढ़ा हो चला था, तब उसे कुछ नाविकों ने दक्षिण-पश्चिम दिशा में एक विचित्र देश के अस्तित्व का समाचार दिया। एरिक का नवयुवक पुत्र लीफ भी अनुसंधान के कार्यों और यात्राओं में दिलचस्पी लेता था। उसने यह समाचार पाकर कमर कसी और उस अज्ञात भूमि का अनुसंधान करने के लिए ९९५ ई० में अपने तीस साथियों सहित उसने ग्रीनलैंड से दक्षिण-पश्चिम दिशा में प्रस्थान किया। सागर की हाहाकारमयी प्रचंड लहरों से लड़ते-भिड़ते और बर्फीली चट्टानों से बचते-बचाते, उसका जलयान एक लम्बी यात्रा के पश्चात् अन्त में ऐसी जगह जा पहुँचा, जहाँ से कुछ दूर पर भूमितट दिखलाई देता था। उसी के किनारे-किनारे चलकर अंत में ये लोग एक नदी में जा पहुँचे। वहाँ लीफ और उसके साथी लंगर डालकर किनारे की भूमि पर उतर पड़े। यह नई भूमि अनुमानतः उस भूखण्ड के किनारे थी, जिसे हम आज के दिन अमेरिका के 'न्यू इंगलैंड' प्रदेश के नाम से जानते हैं। इन अनुसंधानकारियों ने नदीतट की झाड़ियों पर फैली हुई अंगूर की बेशुमार बेलें देखीं। उन्हें ज्ञात था कि अंगूरों से मदिरा बनती है, जो बड़ी सुस्वादु होती है, अतएव उनके हर्ष की सीमा न रही और उन्होंने उस भूभाग का नाम ही "वाइनलैंड" या 'अंगूरों का देश' रख दिया। इन नाविक लोगों ने वहाँ अपने झोपड़े बनाए और वहाँ से भीतरी प्रदेश के अनुसंधान की उन्होंने कई बार चेष्टा की। किन्तु इतने में ही ग्रीष्म-ऋतु का आगमन हुआ और वे अपने देश को वापस चल पड़े। बाद में अन्य लोगों ने भी आइसलैंड से कई बार "वाइनलैंड" आकर उसे उपनिवेश बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें सफलता न मिली। इस प्रकार आगे चलकर 'अमेरिका' कहलानेवाली वह भूमि आगामी पाँच सौ वर्षों तक वैसी ही अज्ञात पड़ी रही। स्वदेश लौटने पर इस कार्य के उपलक्ष्य में लीफ को "सौभाग्यशाली लीफ" का नाम पाने का गौरव मिला।

जिन दिनों स्कैण्डिनेविया के उपर्युक्त जलदस्युओं का वह समुदाय इस प्रकार अमेरिका के उत्तर-पूर्वीय कोने के अनुसन्धान में संलग्न था, उसी समय उनके अन्य कुछ समुदाय, जो योरप में बस चुके थे, नई-नई भूमि खोजने और विजय-यात्राएँ करने में लगे हुए थे। इनमें से कुछ ने बाल्टिक समुद्र के तटों पर विचरण करते हुए लॉपलैंड से होकर रूस के भीतरी भागों तक धावे मारे। कुछ लूटमार और अनुसंधान के कार्यों से थककर उत्तर-पूर्वीय इंग्लैंड, आयरलैंड तथा फ्रांस में जा बसे और उन नवीन भूभागों पर उन्होंने अपना सिक्का जमा लिया। उनकी दस्युवृत्ति जाती रही और कालान्तर में उनमें सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ। फिर भी वे बड़े पराक्रमी, भीमकर्मा और दुःसाहसी बने रहे। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में उनके वंशजों ने सिसिली द्वीप तथा दक्षिणी इटली का कुछ भाग जीतकर एक नवीन साम्राज्य की स्थापना की, और सन् १०६६ में उन्होंने इंगलैंड जीत लिया। अटलांटिक महासागर से मध्य योरप तक और हिमाच्छादित उत्तरी सागर से भूमध्य सागर तक इन नार्मन लोगों के जत्थे अनवरत धावे मारते रहे और एक दिन ऐसा आया, जब तत्कालीन सारे योरप पर उनके पैर जम गए।

## निकोलो और मार्को पोलो

आदि-युग से ही 'कैथे' (चीन) का नाम सुनते ही योरप के लोगों की आँखों के सम्मुख सुदूर पूर्व में स्थित एक ऐसे सुन्दर भूभाग का दृश्य खिंच जाता था, जहाँ सोना-चाँदी, मणि-माणिक्य, मसाले और चन्दन की प्रचुरता थी—जहाँ के निवासी बहुमूल्य रेशमी वस्त्र धारण करते, जरी की पोशाकें पहनते, कोमल मखमली गद्दों पर बैठते और षट्-रसयुक्त सुस्वादु व्यंजनों का आस्वादन किया करते थे। योरप के सौदागर इन कथाओं को सुनकर उस सुदूर देश में जाने और व्यापार करने का लोभ संवरण न कर सके और उन्होंने ऊँटों के काफिले लेकर एशिया महाद्वीप की यात्राएँ करना शुरू किया। उन दिनों सुदूर पूर्व का अधिकांश भाग तातारियों की दुर्जय शक्ति के अधीन था और उनके साम्राज्य की सीमा बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। वे केवल अपने 'खान' की सत्ता स्वीकार करते थे, जो राजधानी पेकिंग नगर में रहता था।

सन् १२७१ ई० में निकोलो और माफिओ पोलो नामक दो भाई, जो इटैलियन सौदागर थे, अपने साथ बहुत-से जवाहरात लेकर तातारियों के 'खान' के दरबार में पहुँचने के प्रयोजन से अपने नगर वेनिस से चीन के लिए रवाना हुए। उनके साथ निकोलो का पुत्र मार्को पोलो भी था। पहले ये लोग बगदाद पहुँचे। फिर ईरान होते हुए पामीर के पठारों को उन्होंने पार किया। आगे बढ़ने पर गोबी की सुविस्तृत मरुभूमि की यात्रा में उन्हें असहनीय कष्टों का सामना करना पड़ा, किन्तु वे धीरता से बढ़ते चले गए और सन् १२७५ की ग्रीष्म ऋतु में उन्होंने चीन की भूमि पर पदार्पण किया। उस समय वहाँ सुप्रसिद्ध कुबलाई खाँ का राज्य था। उसने उनका यथोचित सम्मान किया। ये विदेशी सौदागर उसके यहाँ धातु के सिक्कों के बजाय

कागज की मुद्रा का प्रचलन देखकर आश्चर्यचकित रह गए, क्योंकि उनके लिए वह एक सर्वथा नई बात थी ! योरप के देशों में उस समय तक कागजी मुद्रा का प्रचार नहीं हुआ था। कुबलाई खाँ मार्को पोलो के व्यक्तित्व से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उसे अपने दरबार में एक सम्मानित पद देकर रख लिया। पूरे सत्रह वर्ष तक मार्को पोलो कुबलाई खाँ की सेवा में रहा और इस बीच उसने तिब्बत, उत्तरी बर्मा, मंगोलिया और भारत आदि कई देशों में खूब भ्रमण किया।

अंत में सन् १२९५ ई० में जब मार्को पोलो अपने पिता और चाचा के साथ वापस वेनिस लौटा तो उनके मित्र और सगे-सम्बन्धी आदि उन्हें पहचान भी न पाए। युवक मार्को उस समय अधेड़ अवस्था का व्यक्ति हो चुका था। यात्रा के चिन्हों से अलंकृत इन लोगों की फटी-पुरानी तातारी पोशाकें देखकर घरवालों ने भी उन्हे न पहचानकर द्वार बन्द कर लिया ! बड़ी कठिनाई से अपना परिचय देकर वे घर के भीतर गए। उसी रात को एक विराट् भोज के अवसर पर इष्ट-मित्रों के सामने उन्होंने अपनी यात्रा की वे पोशाकें मँगवाकर फाड़ डाली। पर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन पोशाकों में से चमकीले लाल, हीरे, पन्ने, जमुर्रद और पुखराज आदि मणियों और रत्नों के ढेर के ढेर निकल पड़े ! फिर क्या था, पोलो-परिवार का सम्मान बेहद बढ़ गया और लोग उनकी प्रशंसा के गीत गाने लगे। थोड़े ही दिनों बाद वेनिस और जिनोआ में युद्ध छिड़ गया, जिसमें जिनोआ वाले मार्को पोलो को कैद कर ले गए ! वहीं कारागार में उसने अपने एक साथी कैदी को अपनी यात्राओं के संस्मरण लिखवाए, जिनमें विशेषतया पूर्व के साम्राज्यों के अतुल वैभव का उल्लेख था। संसार के यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों में मार्को पोलो की यात्रा के ये संस्मरण अत्यन्त महत्वपूर्ण गिने जाते है, क्योंकि उन्हीं के पढ़ने से योरप के लोगों की आँखें खुलीं और भूगोल-शास्त्र की ओर उनकी रुचि बढ़ी। कोलम्बस भी उन्ही संस्मरणों से प्रभावित होकर यात्रा करने निकला था और अंत में अमेरिका के अनुसंधान करने का श्रेय उसने प्राप्त किया था।

**मार्को पोलो की वापसी**

छब्बीस वर्ष तक विदेशों की खाक छानने के बाद मार्को पोलो, उसके पिता और चाचा वापस स्वदेश लौटे तो उनकी अजीब वेश-भूषा से लोग इतने चौंके कि उनके घरवालों ने उन्हें घर में न घुसने दिया और दरवाजे बन्द कर लिये।

इसके उपरान्त योरप के अनेकों मिशनरी और धार्मिक यात्री पूर्वीय देशों का भ्रमण करने निकले। किसी-किसी ने तो अपनी यात्रा के स्मारक-स्वरूप उन देशों के अनेक स्थानों में गिर्जे और उपासना-गृह भी बनवा डाले। किसी ने विचित्र बातों से भरी हुई झूठ-सच या अतिशयोक्तिपूर्ण पुस्तकें भी लिखी और किसी ने भूमण्डल के अज्ञात भागों के काल्पनिक मानचित्र ही बनाकर महत्व पाने की चेष्टा की।

## इब्नबतूता

१३२४ ई० में इब्नबतूता नामक एक अरब विद्वान् ने उत्तरी अफ्रीका में स्थित अपने मातृप्रदेश से मक्का की तीर्थयात्रा की। तदनंतर जलमार्ग द्वारा लालसागर पारकर वह अदन पहुँचा, जहाँ से उसने अरब और ईरान का भ्रमण किया। वहाँ से हिन्दूकुश पर्वत की उपत्यकाओं में होकर सिन्धु नदी के रास्ते से वह दिल्ली तक पहुँचा। तत्कालीन भारत-सम्राट् ने उसका उचित सम्मान किया और उसे अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा। चीन में उसने "शुतुर्मुर्ग के आकार के मुर्ग" देखे और चीनियों की चित्रकला से वह बड़ा प्रभावित हुआ। उसने चीन को "संसार का सबसे मनोहर देश" पाया।

तीस वर्षों के लम्बे प्रवास के बाद वह वापस टैन्जियर आया, जहाँ का कि वह निवासी था। उसने अपनी यात्राओं का सुविस्तृत वर्णन एक पुस्तक के रूप में लिखा है, जिसका संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। भौगोलिक ज्ञान के अतिरिक्त ससामयिक इतिहास की जानकारी बढ़ाने में भी इब्नबतूता के इस ग्रंथ ने काफी महत्वपूर्ण योग दिया है।

## पुर्तगाली नाविक

सन् १४२० ई० में जोआँओ गोनकॉज्ज जार्को तथा ट्रिस्टाँको वॉज नामक दो व्यक्तियों द्वारा लिस्वन से ५३५ मील दूर मडीरा द्वीप का पता लगने पर पुर्तगालियों के जल-यान प्रायः दक्षिण-पश्चिम की यात्राएँ करने लगे। पुर्तगाल का राजा हेनरी अपने समय के उन इने-गिने मनुष्यों मे से था, जिनकी यह धारणा थी कि यदि कोई अफ्रीका के समुद्री तट के किनारे-किनारे धुर दक्षिण की ओर यात्रा करे तो उसे एक अन्तरीप मिलेगा, जिसकी परिक्रमा करके सीधे जहाज द्वारा हिन्दुस्तान पहुँचा जा सकता है। हेनरी ने प्रति वर्ष अनेक जलयान भेजे, जो क्रमशः अफ्रीका के किनारे-किनारे आगे बढते चले गए। उनके द्वारा पुर्त-गाली नाविक २००० मील तक पहुँचे और अपनी गति के स्मारक-स्वरूप उन्होंने जगह-जगह मीलवाले पत्थर लगा दिए। किन्तु अफ्रीका की भूमि के छोर का फिर भी अंत नहीं आ रहा था। पूर्व के इन रहस्यमय देशों की जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों को हथेली पर जान रख-कर यात्रा करनी पड़ती थी। उन दिनों प्रचलित जल-मार्गो से यात्रा करने में जल-दस्युओं का बड़ा भय रहता था और स्थल-मार्ग से जाने मे भी लुटेरो का डर तथा ऊँचे पर्वतों के आरोहण एवं मरुभूमि के रेतीले मैदान तथा सघन वनों के भीतर हिंस्र पशुओं का आतंक आदि बाधाएँ थीं, जिनसे लोग बेहद घबड़ाते थे। फिर भी सभी के मन मे लगी हुई थी कि पूर्वीय देशों से व्यापार करने का एक नया जल-मार्ग खोज निकाला जाय, जिससे वहाँ की यात्रा सुगम तथा सुरक्षित हो सके।

## बार्थोलोम्यू डिआज

अन्त में सन् १४८६ ई० के अगस्त मास में बार्थोलोम्यू डिआँज नामक एक युवक नाविक ने पूरी तैयारी के साथ इस नवीन मार्ग की खोज करने के निश्चय से प्रस्थान किया। वह नीग्रो अन्तरीप से आगे बढ़कर समुद्री तट के दक्षिण-पूर्व की ओर घूमते हुए आगे बढ़ा और अचानक तेज आँधी मे पड़कर उसके जहाज दक्षिण दिशा में भटक गए, जहाँ पूरे तेरह दिनों तक भूमि का दर्शन दुर्लभ रहा। दिन-रात वह और उसके साथी अज्ञात समुद्रों में भटकते रहे। अन्त में आँधी का वेग कम हुआ और प्रबल शीत का आतंक छा गया। डिआँज ने यह समझकर कि वह अफ्रीका के दक्षिण मे आ गया था, बहुत दूर तक पूर्व की यात्रा की और उसके बाद वह उत्तर दिशा में मुड़ा। अन्त मे उसे अपने जलयान के बाईं ओर भूमि के दर्शन हुए!

अब इस बात में किंचित् भी सन्देह नहीं रहा है कि उसने अनजान मे ही, बिना देखे-भाले, आशा-अन्तरीप की वास्तविक परिक्रमा कर डाली थी! जब उसके नाविकों ने आगे जाने से साफ इन्कार कर दिया तो अनिच्छा से डिआँज वापस लौटने को बाध्य हुआ। लौटते समय वह उसी ऊँचे अन्तरीप के पास से गुजरा, जिसे आँधी और तूफान के कारण आते समय वह न देख सका था। अतः उसने उसका नाम "तूफानी अन्तरीप" रख दिया। किन्तु बेचारे डिआँज का भाग्य अभी उसके अनुकूल न था। स्वदेश लौटने पर जब दूसरी बार पुर्तगाली लोगों ने वैसी ही लम्बी यात्रा का प्रयास किया तो राजाज्ञा से डिआँज को वास्को-दा-गामा नामक एक नाविक के नेतृत्व में जाना पड़ा! इस प्रकार उसके प्रयत्न का सारा श्रेय वास्को-दा-गामा ने हड़प लिया, क्योंकि वही आशा-अन्तरीप का अनुसंधान करनेवाला प्रसिद्ध हुआ। सन् १५०० में वास्को-दा-गामा ने उस स्मरणीय यात्रा से डिआँज को विमुख करके स्वदेश लौटा दिया और रास्ते में ही बेचारे डिआँज का जलयान तूफान में पड़कर डूब गया! इस प्रकार इस अनुपम साहसी नाविक ने दुर्भाग्यवश न तो अपने कार्य में ही यश पाया और न वह जीवित ही रह सका। उसकी कमाई हुई कीर्ति का फल दूसरो को ही मिलना बदा था!

## वास्को-दा-गामा

डिआँज के यश का अपहरण करनेवाला वास्को-दा-गामा एक युवक नाविक था। उसने सन् १४९७ के जुलाई मास मे पुर्तगाल से एक लंबी समुद्री यात्रा के लिए प्रस्थान किया। तत्कालीन पुर्तगाली सम्राट् ने उसे इस कार्य्य के लिए उत्साहित करते हुए एक जहाजी बेड़ा उसके साथ कर दिया था। अफ्रीका के सुप्रसिद्ध वर्डे अन्तरीप के आगे निकलने पर उसका बेड़ा दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर चल पड़ा और दक्षिणी अटलांटिक महासागर के किसी अज्ञात भाग मे जाकर वह अटक गया। वास्को-दा-गामा को उस समय इस बात का अनुमान भी न हो सका था कि वहाँ से अज्ञात दक्षिणी अमेरिका की भूमि केवल ६०० मील ही दूर रह गई थी! वह लगभग ४५०० मील की यात्रा कर चुका था और ९६ दिन बीत गए थे, फिर भी भूमि के दर्शन नहीं हुए थे। सौभाग्यवश उसको अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिमी तट पर एक चौड़ी खाड़ी दिखाई दी, जिसका नाम उसने 'सेंट हेलेना' रख दिया। यह यात्रा विशेष महत्व की थी, क्योंकि कोलम्बस तो केवल २६०० मील की मंजिल तक ही भूमि न देख पाया था, पर वास्को-

दा-गामा ने उससे भी बाजी मार ली! समुद्री तूफानों, आँधियों और यात्रा के दुःसह कष्टों से न घबड़ाता हुआ यह साहसी नाविक मल्लाहों के मना करने पर भी आगे बढ़ता गया और उसने शपथपूर्वक यह संकल्प किया कि भारत की भूमि पर पैर रखे बिना अब वह वापस स्वदेश न लौटेगा। क्रिसमस के दिन उसका जहाजी बेड़ा आशा-अन्तरीप के पास से गुजरा और उसने अफ्रीका के पूर्वी तट का भ्रमण किया। वह पुनः चल पड़ा और भटकता हुआ हिन्द महासागर में जा पहुँचा, जहाँ उसे एक नया नाविक मिला, जो अरब का था। उस नाविक ने मार्गप्रदर्शक का कार्य किया और इस प्रकार अपने देश से निकलने के ११ महीने बाद वास्को-दा-गामा ने भारतवर्ष के तट पर कालीकट के बन्दरगाह में लंगर डाला! कालीकट के हिन्दू राजा जमोरिन ने उसकी अच्छी आवभगत की। तब तक वास्को-दा-गामा के भाई की मृत्यु हो चुकी थी, तथा उसके साथ के १६० जहाजियों में से १०५ व्यक्ति यात्रा के कष्टों से आक्रान्त होकर यमलोक पहुँच चुके थे। लाचार होकर वह वापस अपने देश लौट आया, मगर उसे इस बात का संतोष था कि उसने भारतवर्ष जाने का एक नया जल-मार्ग खोज निकाला था, जिसकी चेष्टा में लोग वर्षों से लगे हुए थे।

## कोलंबस और जान कैबट

इसके उपरान्त पन्द्रहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में स्पेन के एक छोटे-से बंदरगाह से छूटनेवाले 'सान्ता मेरिया', 'पिन्ता' और 'नाइना' नामक तीन छोटे-छोटे जलयानों की वह इतिहासप्रसिद्ध महान् यात्रा संपन्न हुई, जिसने पहले-पहल योरपवालों के लिए अटलांटिक महासागर के उस पार की 'नई दुनिया' का द्वार खोल दिया! इस महत्व-पूर्ण अभियान का नेता था वह अमर अन्वेषक क्रिस्टाफर कोलंबस, जिसके संबंध में इसी ग्रंथ के आगे के एक खंड में अलग से विस्तारपूर्वक लिखा गया है। यद्यपि कोलंबस से पहले ही स्कैंडिनेविया के उन प्राचीन नार्स नाविकों ने अमेरिका महाद्वीपों की भूमि पर पैर रखने में सफलता पाई थी, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, तथापि उनकी खोज का श्रेय पाँच सौ वर्ष बाद कोलम्बस ही को मिला। कोलम्बस की यात्राएं समाप्त होने के चार वर्ष बाद जान कैबट नामक वेनिस-निवासी, जो इंगलैंड के राजा हेनरी सप्तम की जल-सेना में कप्तान के पद पर नियुक्त हो गया था, अपने पुत्र सेबेस्टियन और अन्य सोलह मल्लाहों के साथ 'मैथ्यू' नामक एक छोटे-से जहाज पर सवार होकर ब्रिस्टल के बन्दरगाह से रवाना हुआ। वह पश्चिम दिशा
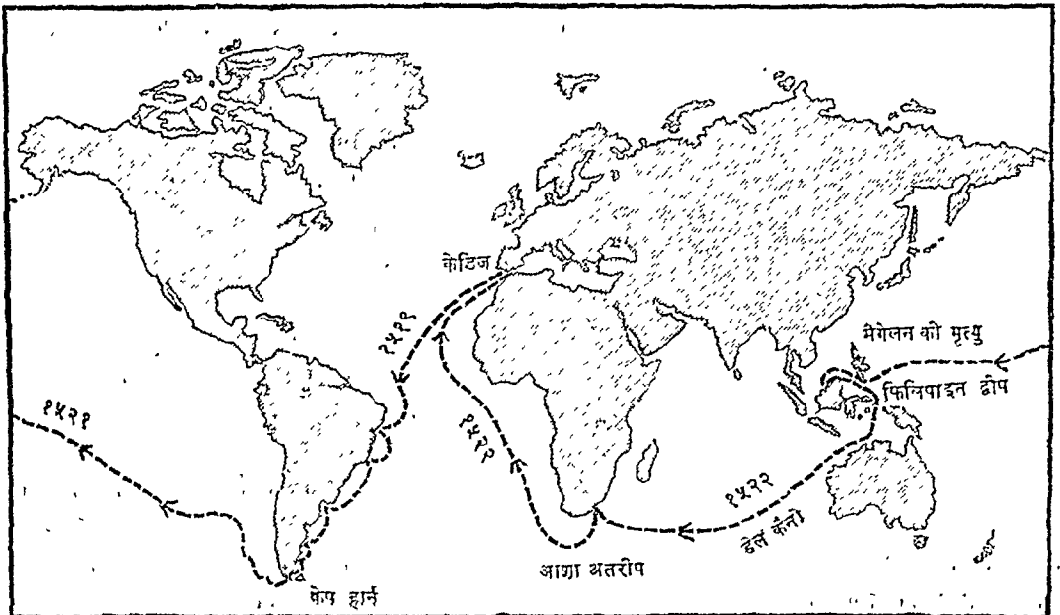
**मेगेलन की भूप्रदक्षिणा का यात्रा-पथ**

साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व संपन्न यह साहसपूर्ण जल-यात्रा धरती की खोज के महानतम अनुष्ठानों में से थी।

में तीन महीने तक संकटपूर्ण जल-यात्रा करने के बाद लैब्रे-डार की ऊसर भूमि पर जा पहुँचा। कैबट ने उस भूभाग को चीन समझा, जहाँ जाने की कामना से वह यात्रा कर रहा था। किन्तु वहाँ बड़े-बड़े वैभवशाली नगर न देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ! समुद्रतट पर वापस आकर वह और आगे रवाना हुआ और १००० मील तक किनारे-किनारे चलता हुआ लगातार भटकता रहा। ६ अगस्त को उसके जहाज ने लौटकर पुनः ब्रिस्टल के बन्दरगाह पर लगर डाला। आगामी मई महीने मे चार नए जहाज देकर राजा ने उसे दुबारा यात्रा करने की आज्ञा दी। इस बार कैबट अपने पुत्र के साथ दक्षिण दिशा मे बढकर उत्तरी अमेरिका के किनारे-किनारे चेजापीक की खाड़ी तक जा पहुँचा। किंतु फिर भी उसे वहाँ पर सोना, मणि-माणिक्य, रेशम और हाँथीदाँत न पाकर बड़ी निराशा हुई। दीर्घकाल के बाद, चारो जहाजो मे से केवल सेबैस्टियन का जहाज ही सहीसलामत इंग्लैंड वापस पहुँचा और अन्य सभी जहाज अपने यात्रियो-सहित रास्ते में ही डूब गए या चट्टानों से टकराकर नष्ट हो गए। इसके बाद फिर किसी ने जॉन कैबट का पता न पाया। इंगलैंडवालों को विश्वास हो गया था कि वह नई भूमि चीन का भूभाग न थी और आगामी सौ वर्षो तक उसके अनुसंधान में किसी ने भी दिलचस्पी न ली। परन्तु कैबट की यात्राओं के आधार पर ही बाद में इंगलैंड उत्तरी अमेरिका पर अपने अधिकार का दावा कर सका।

## पान्से-द-लिओन की अद्भुत कहानी

कुछ वर्षो के उपरान्त पाश्चात्य देशों के निवासियों ने पान्से-द-लिओन नामक एक स्पेनिश सैनिक की आश्चर्य-जनक कहानी सुनी। द-लिओन सुप्रसिद्ध यात्री कोलम्बस के साथ दूसरी यात्रा मे जा चुका था और वेस्ट इंडीज के टापुओं मे बस गया था। सन् १५११ ई० में उसे पोर्टो-रीको का गवर्नर होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह वृद्ध हो चला था और उसके शरीर के घाव पुराने हो जाने पर भी उसे पीड़ा देते थे। उसे उन टापुओ के आदिम निवासियो से यह पता चला कि पास ही किसी द्वीप में एक अद्भुत झरना है, जिसका पानी पीने से मनुष्य की युवावस्था और शारीरिक शक्ति पुनः लौट आती है। वह जमाना ऐसा था कि लोग ऐसी कही-सुनी बातो पर तुरन्त विश्वास कर लेते थे और सदैव आश्चर्यो की खोज में लगे रहते थे। अतएव द-लिओन ने स्पेन-नरेश से इस झरने का अनुसंधान करने और उस अज्ञात द्वीप में उपनिवेश बसाने की आज्ञा प्राप्त कर ली। वह तीन छोटे-छोटे जहाज तथा थोड़े से मल्लाहों को साथ लेकर बहामा-द्वीप-समूह के किनारे-किनारे यात्रा करता हुआ सन् १५१३ मे, ईस्टर रविवार के दिन, एक विचित्र भूमि पर जा पहुँचा, जहाँ फूलो और फर्न की जाति के हरे-भरे पौधों की अधिकता थी। द-लिओन ने इस भूभाग का नाम 'फ्लोरिडा' रखा, जो ईस्टर रविवार का स्पेनिश नाम है। उसने बड़ी सावधानी से वहाँ उस प्रसिद्ध झरने की खोज शुरू की और रास्ते के प्रत्येक प्रपात का जल वह पीता चला गया! फिर भी जिस चमत्कार की उसे आशा थी वह न दिखाई दिया। उसकी दाढ़ी वैसी ही भूरी बनी रही और झुरियो की गहराई मे भी कोई अन्तर न आया! उसके अकड़े हुए बदन के जोड़ों में भी वैसा ही दर्द जारी रहा जैसा कि पहले था! इस पर उसकी निराशा का कोई ठिकाना न रहा, जब उस भूभाग के आदिम निवासी भी उसके शत्रु बन गए। अन्त में उसने पोर्टोरीको वापस लौटने की ठानी। कुछ वर्षो के उपरान्त फ्लोरिडा में उपनिवेश बसाने के इरादे से द-लिओन फिर वहाँ वापस लौटा, पर वहाँ के आदिम निवा-सियो के एक तीर का निशाना बनकर यह निराश और वृद्ध सैनिक मृत्यु के मुख में चला गया। इस प्रकार युवावस्था प्राप्त करने की चेष्टा में उसे मृत्यु मिली!

## जल-मार्ग द्वारा प्रथम भूप्रदक्षिणा का प्रयास करनेवाला अदम्य साहसी मैगेलन

ऐसा ही एक और दुःसाहसी किन्तु चतुर नाविक पुर्तगाल-निवासी फर्डिनैंड मैगेलन हुआ है, जो जलमार्ग से भूप्रद-क्षिणा करने के हेतु स्पेन के राजा की आज्ञा से रवाना हुआ था, परन्तु यात्रा-काल में ही उसकी मृत्यु हो गई थी। सन् १५१९ ई० के सितम्बर मास मे, पाँच पुराने जहाज और २६५ मल्लाहों को साथ लेकर मैगेलन ने पूर्व के बजाय पश्चिमी मार्ग से भारत पहुँचने का निश्चय किया! सबसे आगेवाले जहाज के पिछले छोर पर, जिस पर वह स्वय बैठा था, उसने लकड़ी की एक जलती हुई मशाल बँधवा दी थी, ताकि साथ के अन्य जहाज उसका अनुसरण करते हुए अँधेरे मे भी उसके पीछे-पीछे चलते रहें और भटक न जाएँ। नवम्बर मे वह ब्रैजिल के तट पर पहुँचा और दक्षिण दिशा मे अनुसंधान करता हुआ, क्रिस्मस के समय तक आते-आते, उसने सेंट जुलियन के बन्दरगाह में लंगर डाला। उसी स्थान पर उसने शीतकाल बिताने का निश्चय किया। वही पेटागोनिया के तट पर उसने अपने जहाज़ी बेड़े के तीन कप्तानों के विद्रोह का भी दमन

किया, किन्तु जल-डमरूमध्य में प्रवेश करते समय उसका एक जहाज साथ छोड़कर भाग गया और स्पेन चला गया। उस नए डमरूमध्य में से होकर ३८ दिनों तक ३६० मील का चक्कर उसने लगाया और तब अनेक समुद्री कठिनाइयों का सामना करने के बाद वह प्रशान्त महासागर में जा पहुँचा, जिसको उसने "पैसिफिक" के नाम से सम्बोधित किया। फिर उत्तर-पश्चिम दिशा में मुड़कर ९८ दिनों तक वह अज्ञात समुद्रों में भटकता रहा। उसके मल्लाह बीमार पड़ गए और भूख मिटाने के साधनों का अभाव होने के कारण उनमें असन्तोष फैल गया। उन लोगों ने जहाजों में रहनेवाले चूहों तक को ढूँढ-ढूँढ़कर मार खाया और जहाज में का सूखा चमड़ा तक उन्होंने चबा डाला! यही नहीं, लकड़ी के बुरादे तक को उदरस्थ करके उन्होंने अपनी क्षुधा-निवारण की! अंत में भूख से पीड़ित और यात्रा के कष्टों से थके हुए वे मल्लाह लैड्रोनेज की भूमि पर जा उतरे, जहाँ के आदिम निवासियों से उन्हें प्रचुर परिमाण में फल और तरकारियाँ प्राप्त हुईं। दस दिन बाद उन्होंने पहलेपहल फिलिपाइन द्वीपों का पता लगाकर वहाँ की भूमि पर पैर रखे! इन द्वीपों की जंगली जातियों को उनका आना अच्छा न लगा और उन्होंने तत्काल इन नवागन्तुकों पर आक्रमण कर दिया। उस लड़ाई में मैगेलन की मृत्यु हो गई और उसका केवल एक जहाज, जो बचा था, डेल-कैनो की अध्यक्षता में आशा-अन्तरीप का चक्कर लगाता हुआ १५२२ ई० में स्पेन वापस लौटा। उसके आगमन के बाद ही सर्वप्रथम प्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वी गोल है। मैगेलन के बलिदान को स्पेनवासी कभी न भूल सके और आज भी उसका नाम वे सम्मान से लिया करते हैं।

### मैगेलन का अन्य एक प्रतिस्पर्द्धी—द-वाका

मैगेलन के असाधारण साहसिक कार्यों की समानता करनेवाला केवल एक व्यक्ति ही और हुआ है, जिसका नाम अल्वर-न्यूनेज-कैबेजा-द-वाका था। इस अनोखे अनुसंधान-कारी का जहाज सन् १५२७ ई० में आधुनिक गैलवेस्टन के निकट गल्फकोस्ट की रेतीली भूमि से टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो गया। भूखा-प्यासा, रोगाक्रान्त, तथा नवम्बर की शीत से ठिठुरता हुआ द-वाका अपने साथियों सहित, जिनके पहनने के वस्त्र भी नष्ट हो चुके थे, स्थानीय आदिम निवासियों के यहाँ जाकर शरणागत हुआ। उसके साथियों में से अधिकांश तो प्रबल शीत, भूख और बीमारी के कारण असमय ही चल बसे, और शेष लोगों ने नर-मांस खाकर अपनी प्राण-रक्षा की! जाड़ा समाप्त होने तक कुल ८० व्यक्तियों में से केवल १५ ही बचे और उनकी भी बड़ी दयनीय दशा थी—तन पर वस्त्र नहीं, आहार की सुविधा नहीं, और पास में कोई सामग्री नहीं! जिन लोगों के वे अतिथि थे, उनमें भी अचानक बीमारी का प्रकोप हुआ, जिससे उनके भी आधे से भी अधिक व्यक्ति मर गए! लाचार होकर उन्होंने अपने इन विदेशी अतिथियों से सहायता माँगी। द-वाका चिकित्सा-शास्त्र का थोड़ा-बहुत अध्ययन कर चुका था। उसने उनका अत्यन्त तत्परता से इलाज किया और रोग-मुक्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना भी की। फलत. वे लोग चंगे होने लगे और द-वाका को उन्होंने चिकित्सा-विशेषज्ञ समझकर बड़ा सम्मान दिया। द-वाका को एक दास की भाँति स्थानीय निवासियों में रहते-रहते छः वर्ष के लगभग समय व्यतीत हो गया। उसे पानी के नीचे उगनेवाली जड़ें (जो खाई जा सकती थीं) खोदने और निकालने का काम सौंपा गया था। इस काम को करते-करते उसके हाथों की उँगलियाँ बुरी तरह से सूज गई थीं और उनसे बराबर खून निकलता रहता था। एक दिन अवसर पाकर वह भाग निकला और पैदल ही मैक्सिको की यात्रा करने लगा। रास्ते में उसे अपने साथ के तीन और व्यक्ति मिले, जो दो वर्ष पहले उससे छूटकर भटक गए थे। ये चारों व्यक्ति जंगली और आदिम जातियों की बस्तियों से होते हुए चल पड़े और द-वाका की चिकित्सा-विशेषज्ञ की उपाधि ने प्रत्येक अवसर पर उनके प्राण बचाए। वे भीतरी प्रदेश में बढ़ते चले गए और ऊँचे-ऊँचे पर्वतों, सघन वनों और रेगिस्तानों को पार करके अन्त में स्पेन देश की एक औपनिवेशिक चौकी पर पहुँच गए। इस तरह पूरे महाद्वीप की यात्रा करने में उन्हें आठ वर्ष लगे और अपने भ्रमण-काल में वे उसके सुदूर धुर उत्तर में एल-पासो नामक आधुनिक नगर की सीमा तक जा पहुँचे थे। द-वाका और उसके साथियों के अतिरिक्त इतनी लम्बी पैदल यात्रा करने का साहस पहले किसी ने भी नहीं किया था।

### हम्बोल्ट

दूसरा एक महान् अन्वेषक अलेक्जेंडर वॉन हम्बोल्ट नामक जर्मन वैज्ञानिक हुआ है, जिसने दक्षिणी अमेरिका में तीन वर्ष तक सफलता से अनुसंधान-कार्य किया और जो १८०४ ई० में वहाँ से प्रकृति-विज्ञान सम्बन्धी पर्याप्त अध्ययन-सामग्री लेकर स्वदेश वापस आया सन् १८२९ ई० में रूस के जार निकोलस की संरक्षता में उसने उत्तरी और मध्य एशिया की यात्रा में भी बहुत कुछ अनुसंधान-कार्य किया था। उसकी इन यात्राओं द्वारा वैज्ञानिकों को

अनेक नई बातों का पता चला, जिनके विषय मे अब तक वे पूर्णतया अन्धकार मे ही भटक रहे थे।

### लिविंग्स्टन और स्टैनली

धर्म-प्रचार की प्रेरणा से प्रवास करनेवाले कुछ ईसाई मिशनरी लोगो ने भी महत्वपूर्ण अनुसधान-कार्य किया है, जिसके फलस्वरूप वैज्ञानिको को पृथ्वी के नए-नए भूखण्डो और उनके निवासियो के विषय मे आश्चर्यजनक बातें मालूम हुई है। इनमें डेविड लिविंग्स्टन नामक एक स्कॉटिश मिशनरी ( धर्मप्रचारक ) का नाम सबसे उल्लेखनीय है, जिसने सबसे पहले मध्य अफ्रीका के विषय मे जानकारी प्राप्त की और उसका विवरण ससार के आगे प्रस्तुत किया। सन् १८४१ ई० मे धर्म-प्रचार के कार्य से लिविंग्स्टन दो वर्षो तक दक्षिण अफ्रीका के निवासियो में दौरा करता रहा। घूमते-फिरते उसने नगामी नामक झील का पता लगाया। यही से उसके मन मे भौगोलिक अनुसधान की इच्छा बलवती हुई, जिसमे उसने अपना शेष जीवन लगा दिया। स्वतत्रता से कार्य करने के विचार से उसने अपने परिवार को इगलैड वापस भेज दिया। लिविंग्स्टन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण यात्रा सन् १८५२ ई० में आरम्भ हुई और अनेक संकटो का सामना करने के बाद जब लड़खड़ाता हुआ वह लोआंडा के पश्चिमी तट पर पहुँचा तो उसका शरीर केवल अस्थि-चर्म का एक पंजर-मात्र दिखाई देता था ! वापसी में, भीतरी प्रदेश से आते समय जम्बेसी नदी के आगे उसने विक्टोरिया के सुविस्तृत जल-प्रपातो का पता लगाया। सन् १८५६ ई० में अपनी यात्रा समाप्त कर वह इगलैड वापस लौटा। दो वर्ष बाद पुन: वह जम्बेसी नदी के ऊपरी भाग की यात्रा करने अफ्रीका पहुँच गया। उसी ने न्यासा झील को खोज निकाला। इगलैड से लाये हुए एक छोटे-से स्टीमर में बैठकर उसने अफ्रीका के भीतरी भूभाग मे फैले हुए नदी-नालो और जल-स्रोतो का पता लगाते हुए हजारो मील की परिक्रमा कर डाली। तब दुर्भाग्यवश उसे अपनी इस यात्रा का कार्य लाचारी से स्थगित करना पड़ा। पर सन् १८६५ ई० मे वह फिर अफ्रीका जा पहुँचा। यही उसकी सबसे लम्बी और अन्तिम यात्रा थी। जन्जीबार से रवाना होकर इंगलैड की राजकीय भौगोलिक समिति के आदेशानुसार वह नील नदी के उद्गम-स्थान की खोज में चल पडा। पर तीन वर्ष तक उसका कुछ भी पता न चला। अन्त मे टागानाइका झील के पास यूजिली नामक स्थान पर उद्धार-समिति के एक यात्री स्टैनली ने सौभाग्यवश उसको जा खोजा। दोनो का वहाँ अचानक मिलन हुआ और वह भी उस अन्धकारमयी अफ्रीका की भूमि पर ! इस स्मरणीय घटना की खबर संसार के सभी देशो मे मानो बिजली की तरह फैल गई। लिविंग्स्टन ने स्टैनली के लाख समझाने पर भी स्वदेश लौटने से इन्कार कर दिया और दृढता से उसने अपना वह अनुसधान-कार्य जारी रखा। अन्त मे ज्वर से आक्रात होकर मई, सन् १८७३ ई०, मे उसकी उन्ही जगलो मे मृत्यु हो गई।

### नान्सेन—उत्तरी ध्रुवप्रदेशों का महान् अन्वेषक

नार्वे के प्रोफेसर मोन का एक मित्र था, जिसे वह बहुत मानते थे। दोनो के मन मे सहसा यह विचार उठा कि यदि वे एक ऐसा मजबूत जहाज बना सके, जो आर्कटिक के शीतकाल की हिमवर्षा का आघात सह सके तो सरलता से सागर के बहाव द्वारा ध्रुव के निकट वे पहुँच सकते है। अन्त मे उन्होंने एक ऐसा जहाज बना ही लिया, जिसेवे 'फ्रॉम' कहते थे और सन् १८९३ के जून मास की चौबीसवीं तारीख को अपने साथ पाँच बरस की यात्रा का जरूरी सामान लेकर मोन और उनका वह साहसी मित्र, जिसका नाम फ्रिट्जोफ नान्सेन था, अपने जहाज मे बैठकर नार्वे से रवाना हुए। उनका जहाज योरप के उत्तरी तट का अनुसरण करता हुआ सितम्बर के बाद न्यू साइबेरिया प्रदेश के उत्तर मे बर्फ के सागर मे जा पहुँचा, और वहाँ वह फँस गया। जहाज के चारों ओर शीघ्रता से बर्फ जम गई, जिसके भारी बोझ से उसके दोनो पार्श्व टूट गए। यह बड़ी कठिन परीक्षा का अवसर था। नाविको के प्रयत्न से जहाज ने एक बार जोर भरा और बर्फ से निकलकर वह जल में आ गया। पूरे नौ महीने तक वह जहाज निरुद्देश्य इधर-उधर भटकता रहा। तब अचानक वह किसी बहाव मे पड़ गया और उत्तर दिशा की ओर जाने लगा। दूसरे वर्ष शीत ऋतु में नान्सेन एक साथी के साथ जहाज को छोड़कर केवल स्लेज या बर्फ पर फिसलनेवाली गाड़ी द्वारा उत्तरी ध्रुव की यात्रा के विचार से निकल पड़ा। ये लोग ध्रुव-प्रदेश मे काफी दूर निकल गए थे, जहाँ तक उनसे पहले कोई और न पहुँच सका था, परन्तु अन्त मे उन्होंने हार मानी और उन्हें लौट आना पड़ा। असह्य शीत और मार्ग की दुरूह आपदाओं में पड़कर वे मरते-मरते बचे। कई बार तो वे जीवन की आशा ही छोड़ बैठे, किन्तु अन्ततोगत्वा अगस्त मास मे वे फ्रॉन्ज जोजेफलैंड तक पहुँच गए। जाड़े का मौसम उन्होंने वहीं काटा और मई सन् १८९६ मे पुनः अपनी स्लेज-यात्रा आरम्भ कर दी। सौभाग्यवश रास्ते में जैक्सन नामक एक
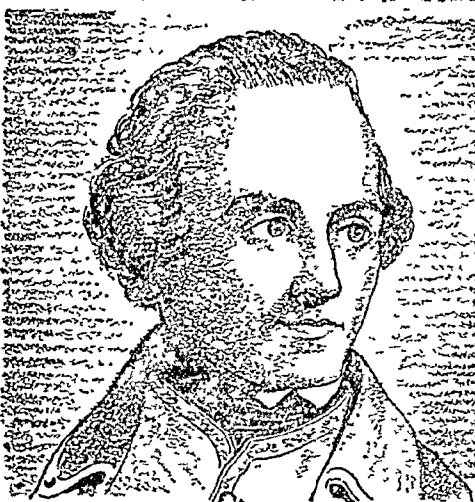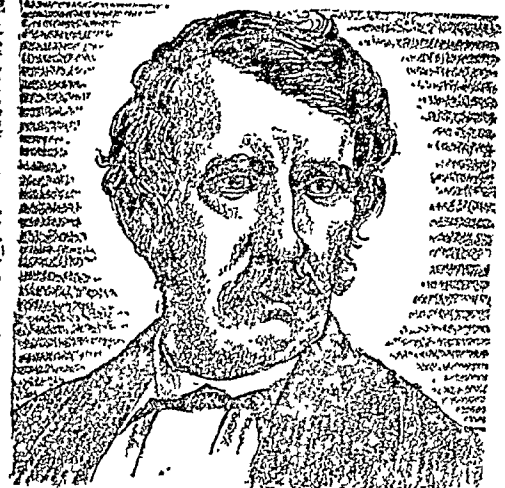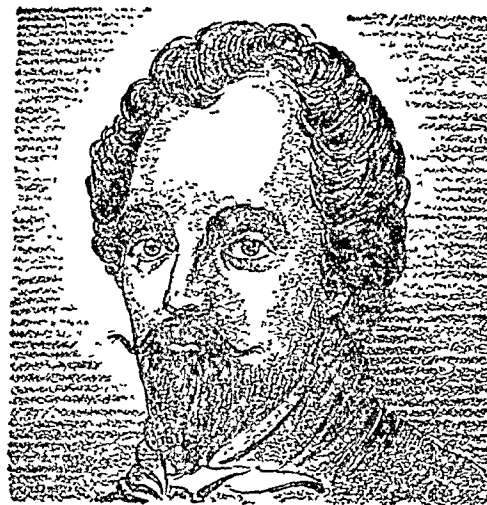
कुछ प्रसिद्ध अन्वेषक—(२)

( बाईं ओर—ऊपर से नीचे को ) १. सर फ्रांसिस ड्रेक; २. जेम्स कुक; ३. वॉन हम्बोल्ट।

( दाहिनी ओर—ऊपर से नीचे को ) १. डेविड लिविंग्स्टन; २. फ्रिट्ज़ोफ नान्सेन; ३. स्वेन हेडिन।

प्रसिद्ध अनुसंधानकर्त्ता से उनकी भेंट हो गई, जिसके साथ वे नार्वे वापस आ गए। इस बीच में उनका जहाज भी, जो सागर के बहाव का अनुसरण करता हुआ चला आ रहा था, नार्वे आ पहुँचा। नान्सेन ने इसी प्रकार और भी कई बार आर्कटिक प्रदेशो की यात्राएँ की। उसकी मृत्यु १९३० ई० मे हुई।

## मध्य एशिया के वीरान प्रदेश के खोजी

कुछ ही वर्ष हुए अमेरिका के ऐंड्रूज नामक विद्वान् को यह सूझा कि मध्य एशिया के भूतत्व-सम्बन्धी अध्ययन के प्रयोजन से यदि व्यवस्थित यात्राएँ की जाएँ तो उनके वैज्ञानिक परिणाम बड़े महत्व के होगे। आखिरकार पचास हजार डालर के खर्चे से दस वर्ष तक अनवरत खोज करने की एक योजना बनी और यात्रा के लिए मोटर-गाड़ियो तथा पेट्रोल और रसद ले जाने के लिए ऊँटों के काफिले की व्यवस्था की गई। इन ऊँटों के काफिलों को कई महीने पहले ही रवाना कर देना निश्चित हुआ, जिसमें वे मरुभूमि मे कलगान नामक चीनी शहर से ६०० मील पर मोटरो से मिल सकें। इसी शहर को यात्रा की मुख्य चौकी करार दिया गया। मार्च १९२२ के शुरू में ऊँटों का वह काफिला मंगोलिया के लिए चला। मरुभूमि तक पहुँचने के लिए कुल पाँच यात्राएँ की गई। वहाँ रेत की भयंकर आँधियाँ चलती और बर्फ के तूफान उठते थे। कई राजनीतिक कठिनाइयाँ भी थीं और खूख्वार लुटेरो के आक्रमण होते थे। मोटरगाड़ियों के पहिए जब बालू में धँस जाते, तब उनको निकालना कठिन हो जाता था। यातायात की सुविधाओं को जुटाने में भी बड़ा समय लगता था। फिर भी इन यात्रियो का साहस और उत्साह लेशमात्र भी कम न होता था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अब तक मगोलिया की भूमि अज्ञात थी, जिसके विषय मे इन लोगों ने अनेक महत्वपूर्ण बातें जान ली। कलगान से रवाना होकर चीन की बड़ी दीवाल के दक्षिण मे लगभग १००० मील आगे मंगोलिया के बीच तक सूक्ष्मता से ठीक-ठीक निरीक्षण और पैमाइश का कार्य उन्होंने सम्पन्न किया। यह प्रदेश संसार का सबसे अधिक मूल्यवान और सबसे प्राचीन क्षेत्र प्रमाणित हुआ, जहाँ पशुओ, वृक्षो और धातुओ के प्रस्तरीभूत अंश भूगर्भ में प्रचुरता से पाये जाते है। अनुसधान में सबसे आश्चर्यजनक "डायनोसार" नामक प्राचीन भीमकाय जंतुओं के ८० अंडे थे, जिनके विषय में लोगो की धारणा थी कि वे चट्टानों पर नौ करोड़ पचास लाख वर्षो तक नीचे दबे पड़े रहे!

## स्वेन हेडिन

जिस प्रकार मंगोलिया की उपर्युक्त यात्राओ का श्रेय विशेषतया ऊपर उल्लिखित ऐन्ड्रूज को प्राप्त हुआ, उसी भाँति स्वीडन के सुप्रसिद्ध अनुसंधानकर्त्ता स्वेन हेडिन को भी अपनी यात्रायों द्वारा एशिया के कई अज्ञात भागों का परिचय देने का श्रेय प्राप्त है। लगभग पचास वर्ष तक उसने बराबर अज्ञात प्रदेशो में भ्रमण किया है। बीस वर्ष की आयु मे ही वह ईरान और मसोपटेमिया घूम आया था। सन् १८९५ में उसने तलका-मकान नामक रेगिस्तान की सैर की, जहाँ जानेवाला वह पहला योरपीय यात्री था। तिब्बत के पठारो को लाँघकर पेकिंग पहुँचने के पूर्व उसने खोतान मे अपनी यात्रा-चौकी स्थापित की थी। सन् १९०१ में जब वह तिब्बत के वीरान इलाको मे विचरण कर रहा था, उस समय यात्रा की कठिनाइयों से पीड़ित होकर उसके काफिले के बहुत से भारवाहक पशु और एक अनुचर कालकवलित हो गए। अन्त मे उसने गोवी की मरुभूमि के कुछ भाग का निरीक्षण और पैमाइश करने मे सफलता पाई। इसके पूर्व किसी अन्य विदेशी ने इस ऐतिहासिक मरुभूमि के दर्शन भी नही किये थे। सन् १९०६ मे वह पुनः ऊँटों का एक बहुत बड़ा काफिला लेकर एशिया आया और पश्चिमी तिब्बत के अज्ञात प्रदेश में अनुसंधान करते हुए उसने अनेक नई पर्वतश्रेणियो, झीलो और नदियो का पता पाया। उसने ब्रह्मपुत्र, सिन्धु और सतलज के उद्गमस्थानो को खोज निकाला। सन् १९०७ ई० में वह पुनः भारत लौटा और उसने हिमालय पर्वत को दूसरी बार पार किया। इस यात्रा में वह कई बार १७००० फीट की ऊँचाई तक पहुँचा। सन् १९२७ ई० मे एक बहुत बड़े यात्री-दल का अध्यक्ष बनकर वह पुन. एशिया-भ्रमण करने चला। उसके साथ तीन सौ ऊँटों और १०० आदमियों की लम्बी जमात थी। पाओटो से रवाना होकर वह उत्तर-पश्चिम दिशा में गोवी की मरुभूमि की ओर चल पड़ा। महीनो तक वह अपने दल-बल सहित उस वीरान शुष्क मरुभूमि मे फिरता रहा। इस यात्रा के फलस्वरूप मंगोलिया के भीतरी प्रदेश का किनारा, जिसकी लम्बाई १००० मील थी, पहली बार नापा-जोखा गया।

स्वेन हेडिन ही अनुसंधानकर्त्ताओ का अन्तिम प्रतिनिधि नही है। अनेकों साहसी व्यक्ति आज भी कितनी ही दुस्तर यात्राओं में लगे हुए है। इनके अतिरिक्त उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव आदि की खोज में अपना जीवन अर्पण करनेवाले वीरों का परिचय आगे के कुछ खंडों में आप पढ़ेंगे।

# महापुरुष श्रीकृष्ण

**आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व, कुरुक्षेत्र के समरांगण में अर्जुन को निमित्त बनाकर, युग-युग के लिए मनुष्य-जाति का पथप्रदर्शन करनेवाले गीता के अमर संदेश के उद्गाता का परिचय।**

भारतवर्ष के जिन महापुरुषों का मानव-जाति के विचारों पर स्थाई प्रभाव पड़ा है, उनमें श्रीकृष्ण का स्थान प्रमुख है। आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व एक ही समय में दो ऐसे व्यक्तियों का जन्म हुआ, जिनके उदात्त मस्तिष्क की छाप हमारे राष्ट्रीय जीवन पर बहुत गहरी पड़ी है। संयोग से उन दोनों का नाम 'कृष्ण' था। समकालीन इतिहास-लेखकों ने दोनो में भेद करने के लिए एक को 'द्वैपायन कृष्ण' कहा है, जिन्हें आज सारा देश महर्षि वेदव्यास के नाम से जानता है, और जिनके मस्तिष्क की अप्रतिहत प्रतिभा से आज तक हमारे धार्मिक जीवन और विश्वासों का प्रत्येक अंग प्रभावित है। दूसरे देवकी-पुत्र वासुदेव कृष्ण थे, जिन्हें हम अब वास्तव में केवल 'कृष्ण' के नाम से पुकारते हैं। कृष्ण की बाल-लीलाओं के मनोरम आख्यान, उनके गीताशास्त्र के महान् उपदेश तथा महाभारत के युद्ध में उनके विविध आर्योचित कर्मो की कथाएँ आज घर-घर में प्रचलित हैं। असंख्य मनुष्यों का जीवन आज कृष्ण के आदर्श से प्रभावित होता है। वस्तुतः हमारे साहित्य का एक बड़ा भाग कृष्णचरित्र से अनुप्राणित हुआ है। कृष्ण के जीवन की घटनाएँ केवल अतीत इतिहास के जिज्ञासुओं के कुतूहल का विषय नहीं हैं, वरन् वे धार्मिक जीवन की गति-विधि को नियंत्रित करने के लिए आज भी भारतीय आकाश में चमकते हुए आकाश-दीप की तरह सुशोभित और जीवित हैं।

### जन्म और बाल-जीवन

अष्टमी, बुधवार, रोहिणी, इस प्रकार के तिथि-वार-नक्षत्र योग में आधी रात के समय अपने मामा औग्रसेनि कंस के बन्दीगृह में कृष्ण का जन्म हुआ। इसी एक बात से उस काल के राजनीतिक चक्र का आभास मिल जाता है। जिस व्यक्ति के जन्म के भय से ही उसके माता-पिता की स्वतन्त्रता छिन गई हो, क्या आश्चर्य है यदि उसके जीवन का अधिकांश समय देश के राजनीतिक वातावरण को अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्त करने मे व्यतीत हुआ हो! उस काल के जो भी उच्छृंखल, लोकपीड़क सत्ताधारी थे, उन सबसे ही एक-एक करके कृष्ण की टक्कर हुई। जिस महापुरुष ने योगसमाधि के आदर्श को लेकर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने का उपदेश दिया हो, जिसका अपना जीवन अविचल ज्ञान-निष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण हो, उसके ही जीवन में कंस-निपात से लेकर यादवों के विनाश तक की कथा एक अत्यन्त करुण कहानी के रूप मे पिरोयी हुई है।

कृष्ण का बालजीवन तो एक काव्य ही है। जन्म से लेकर, अथवा उससे पूर्व ही, उनके सम्बन्ध के अतिमानवी चरित्रों का क्रम आरम्भ हो गया था, और उनके वृन्दावन छोड़कर मथुरा आने के समय तक ये बाललीलाएँ आकाश में एकत्रित होनेवाली सुन्दर सुखद मेघमालाओं की भाँति नाना वर्ण और रूपो मे सचित होती रही। बिना कहे ही उन्हें हम जानते हैं। हमारे देश के बालवर्ग के लिए तो उन कथाओं की रसमय सामग्री एक अत्यन्त प्रिय वस्तु है। यमुना नदी और उसके समीप के पीलू के विटपों पर लहलहाती हुई लताओं के कुञ्जों में कृष्ण के बालचरित्रों की प्रतिध्वनि आज भी जीवित काव्य-कथाएँ है। यहीं पर उन्होंने उस मल्लविद्या का अभ्यास किया, जिसके कारण आगे चलकर मुष्टिक और चाणूर-जैसे पहलवान पछाड़े गए। यमुना के कछारों में ही उस संगीत और नृत्य का जन्म हुआ, जो हमारी संस्कृति की एक प्रिय वस्तु है। यहीं गोवंश की वृद्धि के वे प्रयत्न किए गए, जिनका पुनरुद्धार इस कृषिप्रधान देश के लिए एक प्राप्तव्य आदर्श है।

प्रसिद्ध अनुसंधानकर्त्ता से उनकी भेंट हो गई, जिसके साथ वे नार्वे वापस आ गए। इस बीच में उनका जहाज भी, जो सागर के बहाव का अनुसरण करता हुआ चला आ रहा था, नार्वे आ पहुँचा। नान्सेन ने इसी प्रकार और भी कई बार आर्कटिक प्रदेशों की यात्राएँ की। उसकी मृत्यु १९३० ई० में हुई।

## मध्य एशिया के वीरान प्रदेश के खोजी

कुछ ही वर्ष हुए अमेरिका के ऐंड्रूज नामक विद्वान् को यह सूझा कि मध्य एशिया के भूतत्व-सम्बन्धी अध्ययन के प्रयोजन से यदि व्यवस्थित यात्राएँ की जाएँ तो उनके वैज्ञानिक परिणाम बड़े महत्व के होंगे। आखिरकार पचास हजार डालर के खर्चे से दस वर्ष तक अनवरत खोज करने की एक योजना बनी और यात्रा के लिए मोटर-गाड़ियों तथा पेट्रोल और रसद ले जाने के लिए ऊँटो के काफिले की व्यवस्था की गई। इन ऊँटो के काफिलों को कई महीने पहले ही रवाना कर देना निश्चित हुआ, जिसमें वे मरुभूमि मे कलगान नामक चीनी शहर से ६०० मील पर मोटरों से मिल सकें। इसी शहर को यात्रा की मुख्य चौकी करार दिया गया। मार्च १९२२ के शुरू में ऊँटों का वह काफिला मंगोलिया के लिए चला। मरुभूमि तक पहुँचने के लिए कुल पाँच यात्राएँ की गई। वहाँ रेत की भयकर आँधियाँ चलती और बर्फ के तूफान उठते थे। कई राजनीतिक कठिनाइयाँ भी थीं और खूँख्वार लुटेरों के आक्रमण होते थे। मोटरगाड़ियों के पहिए जब बालू में धँस जाते, तब उनको निकालना कठिन हो जाता था। यातायात की सुविधाओं को जुटाने में भी बड़ा समय लगता था। फिर भी इन यात्रियों का साहस और उत्साह लेशमात्र भी कम न होता था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अब तक मंगोलिया की भूमि अज्ञात थी, जिसके विषय में इन लोगों ने अनेक महत्वपूर्ण बातें जान ली। कलगान से रवाना होकर चीन की बड़ी दीवाल के दक्षिण में लगभग १००० मील आगे मंगोलिया के बीच तक सूक्ष्मता से ठीक-ठीक निरीक्षण और पैमाइश का कार्य उन्होंने सम्पन्न किया। यह प्रदेश संसार का सबसे अधिक मूल्यवान और सबसे प्राचीन क्षेत्र प्रमाणित हुआ, जहाँ पशुओं, वृक्षों और धातुओं के प्रस्तरीभूत अश भूगर्भ में प्रचुरता से पाये जाते है। अनुसंधान में सबसे आश्चर्यजनक "डायनोसार" नामक प्राचीन भीमकाय जंतुओ के ८० अंडे थे, जिनके विषय में लोगो की धारणा थी कि वे चट्टानों पर नौ करोड़ पचास लाख वर्षो तक नीचे दबे पड़े रहे!

## स्वेन हेडिन

जिस प्रकार मंगोलिया की उपर्युक्त यात्राओ का श्रेय विशेषतया ऊपर उल्लिखित ऐन्ड्रूज को प्राप्त हुआ, उसी भाँति स्वीडन के सुप्रसिद्ध अनुसधानकर्त्ता स्वेन हेडिन को भी अपनी यात्रायों द्वारा एशिया के कई अज्ञात भागों का परिचय देने का श्रेय प्राप्त है। लगभग पचास वर्ष तक उसने बराबर अज्ञात प्रदेशो में भ्रमण किया है। बीस वर्ष की आयु मे ही वह ईरान और मसोपटेमिया घूम आया था। सन् १८९५ मे उसने तक्का-मकान नामक रेगिस्तान की सैर की, जहाँ जानेवाला वह पहला योरपीय यात्री था। तिब्बत के पठारो को लाँघकर पेकिंग पहुँचने के पूर्व उसने खोतान में अपनी यात्रा-चौकी स्थापित की थी। सन् १९०१ में जब वह तिब्बत के वीरान इलाकों में विचरण कर रहा था, उस समय यात्रा की कठिनाइयों से पीडित होकर उसके काफिले के बहुत से भारवाहक पशु और एक अनुचर कालकवलित हो गए। अन्त मे उसने गोबी की मरुभूमि के कुछ भाग का निरीक्षण और पैमाइश करने में सफलता पाई। इसके पूर्व किसी अन्य विदेशी ने इस ऐतिहासिक मरुभूमि के दर्शन भी नही किये थे। सन् १९०६ में वह पुनः ऊँटों का एक बहुत बड़ा काफिला लेकर एशिया आया और पश्चिमी तिब्बत के अज्ञात प्रदेश में अनुसंधान करते हुए उसने अनेक नई पर्वतश्रेणियो, झीलो और नदियो का पता पाया। उसने ब्रह्मपुत्र, सिन्धु और सतलज के उद्गमस्थानो को खोज निकाला। सन् १९०७ ई० में वह पुनः भारत लौटा और उसने हिमालय पर्वत को दूसरी बार पार किया। इस यात्रा में वह कई बार १७००० फीट की ऊँचाई तक पहुँचा। सन् १९२७ ई० मे एक बहुत बड़े यात्री-दल का अध्यक्ष बनकर वह पुनः एशिया-भ्रमण करने चला। उसके साथ तीन सौ ऊँटो और १०० आदमियों की लम्बी जमात थी। पाओटो से रवाना होकर वह उत्तर-पश्चिम दिशा मे गोबी की मरुभूमि की ओर चल पड़ा। महीनो तक वह अपने दल-बल सहित उस वीरान शुष्क मरुभूमि में फिरता रहा। इस यात्रा के फलस्वरूप मंगोलिया के भीतरी प्रदेश का किनारा, जिसकी लम्बाई १००० मील थी, पहली बार नापा-जोखा गया।

स्वेन हेडिन ही अनुसंधानकर्त्ताओं का अन्तिम प्रतिनिधि नही है। अनेकों साहसी व्यक्ति आज भी कितनी ही दुस्तर यात्राओं में लगे हुए है। इनके अतिरिक्त उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव आदि की खोज में अपना जीवन अर्पण करनेवाले वीरों का परिचय आगे के कुछ खंडों में आप पढ़ेंगे।

# महापुरुष श्रीकृष्ण

**आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व, कुरुक्षेत्र के समरांगण में अर्जुन को निमित्त बनाकर, युग-युग के लिए मनुष्य-जाति का पथप्रदर्शन करनेवाले गीता के अमर संदेश के उद्गाता का परिचय।**

भारतवर्ष के जिन महापुरुषों का मानव-जाति के विचारों पर स्थाई प्रभाव पड़ा है, उनमें श्रीकृष्ण का स्थान प्रमुख है। आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व एक ही समय में दो ऐसे व्यक्तियों का जन्म हुआ, जिनके उदात्त मस्तिष्क की छाप हमारे राष्ट्रीय जीवन पर बहुत गहरी पड़ी है। संयोग से उन दोनों का नाम 'कृष्ण' था। समकालीन इतिहास-लेखकों ने दोनों में भेद करने के लिए एक को 'द्वैपायन कृष्ण' कहा है, जिन्हें आज सारा देश महर्षि वेदव्यास के नाम से जानता है, और जिनके मस्तिष्क की अप्रतिहत प्रतिभा से आज तक हमारे धार्मिक जीवन और विश्वासों का प्रत्येक अंग प्रभावित है। दूसरे देवकी-पुत्र वासुदेव कृष्ण थे, जिन्हें हम अब वास्तव में केवल 'कृष्ण' के नाम से पुकारते हैं। कृष्ण की बाल-लीलाओं के मनोरम आख्यान, उनके गीताशास्त्र के महान् उपदेश तथा महाभारत के युद्ध में उनके विविध आर्योचित कर्मों की कथाएँ आज घर-घर में प्रचलित हैं। असंख्य मनुष्यों का जीवन आज कृष्ण के आदर्श से प्रभावित होता है। वस्तुतः हमारे साहित्य का एक बड़ा भाग कृष्णचरित्र से अनुप्राणित हुआ है। कृष्ण के जीवन की घटनाएँ केवल अतीत इतिहास के जिज्ञासुओं के कुतूहल का विषय नहीं हैं, वरन् वे धार्मिक जीवन की गति-विधि को नियंत्रित करने के लिए आज भी भारतीय आकाश में चमकते हुए आकाश-दीप की तरह सुशोभित और जीवित हैं।

## जन्म और बाल-जीवन

अष्टमी, बुधवार, रोहिणी, इस प्रकार के तिथि-वार-नक्षत्र योग में आधी रात के समय अपने मामा औग्रसेनि कंस के बन्दीगृह में कृष्ण का जन्म हुआ। इसी एक बात से उस काल के राजनीतिक चक्र का आभास मिल जाता है। जिस व्यक्ति के जन्म के भय से ही उसके माता-पिता की स्वतंत्रता छिन गई हो, क्या आश्चर्य है यदि उसके जीवन का अधिकांश समय देश के राजनीतिक वातावरण को अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्त करने में व्यतीत हुआ हो! उस काल के जो भी उच्छृंखल, लोकपीड़क सत्ताधारी थे, उन सबसे ही एक-एक करके कृष्ण की टक्कर हुई। जिस महापुरुष ने योगसमाधि के आदर्श को लेकर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने का उपदेश दिया हो, जिसका अपना जीवन अविचल ज्ञाननिष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण हो, उसके ही जीवन में कंसनिपात से लेकर यादवों के विनाश तक की कथा एक अत्यन्त करुण कहानी के रूप में पिरोयी हुई है।

कृष्ण का बालजीवन तो एक काव्य ही है। जन्म से लेकर, अथवा उससे पूर्व ही, उनके सम्बन्ध के अतिमानवी चरित्रों का क्रम आरम्भ हो गया था, और उनके वृन्दावन छोड़कर मथुरा आने के समय तक ये बाललीलाएँ आकाश में एकत्रित होनेवाली सुन्दर सुखद मेघमालाओं की भाँति नाना वर्ण और रूपों में संचित होती रहीं। बिना कहे ही उन्हें हम जानते हैं। हमारे देश के बालवर्ग के लिए तो उन कथाओं की रसमय सामग्री एक अत्यन्त प्रिय वस्तु है। यमुना नदी और उसके समीप के पीलू के विटपों पर लहलहाती हुई लताओं के कुञ्जों में कृष्ण के बालचरित्रों की प्रतिध्वनि आज भी जीवित काव्य-कथाएँ हैं। यहीं पर उन्होंने उस मल्लविद्या का अभ्यास किया, जिसके कारण आगे चलकर मुष्टिक और चाणूर-जैसे पहलवान पछाड़े गए। यमुना के कछारों में ही उस संगीत और नृत्य का जन्म हुआ, जो हमारी संस्कृति की एक प्रिय वस्तु है। यहीं गोवंश की वृद्धि के वे प्रयत्न किए गए, जिनका पुनरुद्धार इस कृषिप्रधान देश के लिए एक प्राप्तव्य आदर्श है।

**कौरवों की सभा में राजनीतिज्ञ श्रीकृष्ण**

श्रीकृष्ण ने महाभारत के विनाशकारी युद्ध को रोकने के लिए भरसक प्रयत्न किया था। इसी उद्देश्य से वह पाण्डवों की ओर से दूत के रूप में कौरवों के पास हस्तिनापुर गए थे, ताकि संधि हो जाय और व्यर्थ का रक्तपात न हो। किन्तु स्वेच्छाचारी निरंकुश दुर्योधन ने आज के 'डिक्टेटरों' की तरह उनके शांति के संदेश को ठुकरा दिया। इस चित्र में बाईं ओर सिंहासन पर श्रीकृष्ण विराजमान हैं, दाहिनी ओर नीचा सिर किये अंधे राजा धृतराष्ट्र हैं और उनके पास बैठा हुआ दुर्योधन अपना क्रोध प्रदर्शित कर रहा है।

## राजनीतिक चरित्र

इन रमणीय बालचरित्रों की सुखदायी भूमिका तैयार करने के बाद श्रीकृष्ण ने एक दूसरे ही प्रकार के जगत् में प्रवेश किया। उनका वृन्दावन छोड़कर मथुरा को आना उस जगत् का देहली-द्वार है। यहाँ जीवन के कठोर सत्य उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके द्वारा सबसे पहला परिवर्तन शूरसेन जनपद की राजनीति में हुआ। उग्रसेन के पुत्र लोकपीड़क कंस को राज्यच्युत करके कृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। इस समय वह और उनके बड़े भाई बलराम दोनों किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके थे। यमुना के तट पर प्रकृति के विश्वविद्यालय में स्वच्छन्द वायु और आकाश के साथ मिलकर ग्वालबालों के बीच में उन्होंने जीवन की एक बड़ी तैयारी कर ली थी, परन्तु मस्तिष्क की साधना का अवसर अभी तक उन्हें नहीं मिल सका था। इस कमी को पूरी करने के लिए वे सान्दीपिनि मुनि के गुरुकुल में प्रविष्ट हुए। कुल-पुरोहित गर्गाचार्य और उज्जयिनी के विद्याचार्य सान्दीपिनि इन दो नामों का भगवान् कृष्ण के साथ बड़ा मधुर सम्बन्ध है। अवश्य ही गीता के प्रवक्ता को अपने ज्ञान का प्रथम बीज आर्ष ज्ञान-परम्परा की रक्षा करनेवाले तपस्वी ब्राह्मणों से ही प्राप्त हुआ था।

जैसे ही सान्दीपिनि मुनि ने विद्या समाप्त करके कृष्ण को 'सत्यं वद धर्मं चर' वाला अपना अन्तिम उपदेश देकर विदा किया, वैसे ही परिस्थिति ने उनका सम्बन्ध हस्तिनापुर की राजनीति से मिला दिया। वसुदेव और उग्रसेन कृष्ण-बलदेव को लेकर कुरुक्षेत्र स्नान के लिए गए हुए थे। यहीं कुन्ती भी पाण्डवों के साथ आई थी। बस यहीं कृष्ण और पाण्डवों के बीच उस घनिष्ट सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण आज तक हम योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ इन दोनों का एक साथ स्मरण करते हैं। कंस-वध के समय ही कृष्ण अपनी राजनीतिक प्रवृत्ति का परिचय दे चुके थे। हस्तिनापुर की राजनीति के साथ सम्पर्क होने के बाद उस प्रवृत्ति को और भी उत्तेजना मिली। उन्होंने यह अनुभव किया कि इस समय देश में
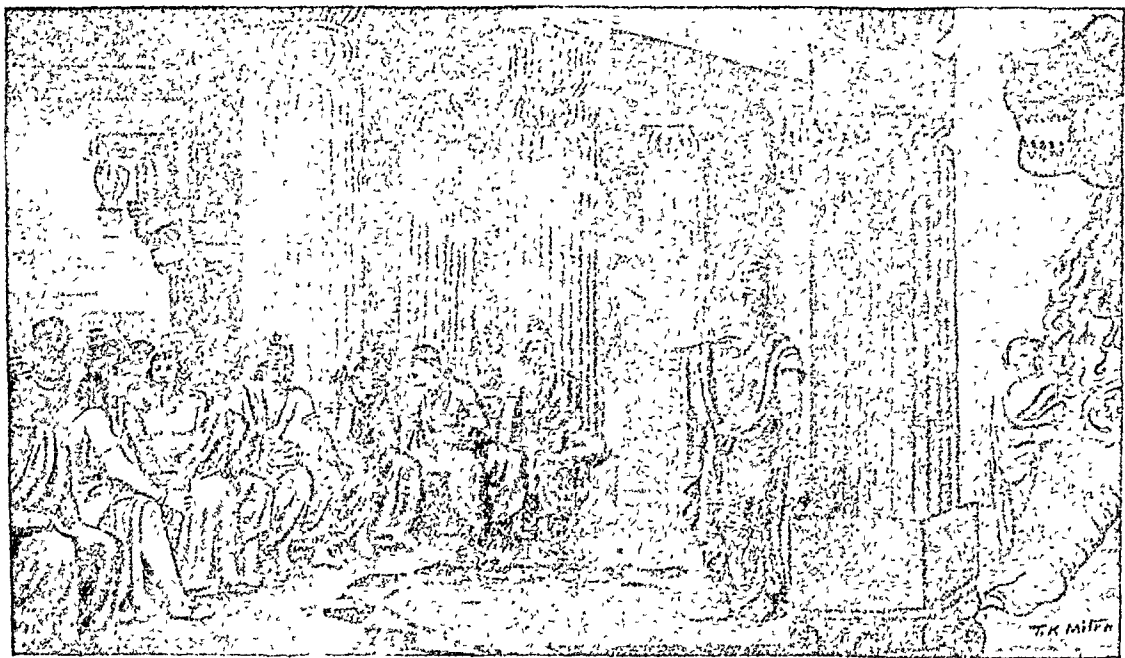
**अंधक-वृष्णि गणराज्य के प्रधान के रूप में श्रीकृष्ण**

महाभारत से हमें ज्ञात होता है कि यादवों की अंधक और वृष्णि शाखाओं का एक सम्मिलित संघराज्य था। इसमें वृष्णियों के दल की ओर से श्रीकृष्ण प्रधान चुने गए थे। इस संघराज्य की प्रधान संघ-सभा या 'पार्लामेंट' में भिन्न-भिन्न दलों की ओर से बड़े प्रभावशाली भाषण और वाद-विवाद होते थे।

एक बड़ा प्रवल संघटन उन राजाओं का है, जो भारतीय राजनीति की प्राचीन लोकपक्षीय परम्पराओं के विरुद्ध निरंकुश होकर राजशक्ति का प्रयोग करते हैं और जिनके कारण प्रजा में क्षोभ और कष्ट है। कृष्ण का बाल-जीवन लोक की गोद में पला था। वह स्वयं यादव जाति की अन्धक-वृष्णि शाखा के, जो एक गणराज्य था, सदस्य थे। इसी कारण उनकी सहानुभूति स्वभावतः लोक के साथ थी। जैसे-जैसे कारण उपस्थित होते गए, एक-एक अत्याचारी शासक से उनका संघर्ष हुआ। मगध की राजधानी गिरिव्रज में वली जरासंध का वध कराकर उन्होंने उसके पुत्र जरासंधि सहदेव का अभिषेक किया। महाभारतकार ने लिखा है कि उस समय पृथ्वी पर जरासंध का आतंक था, केवल अन्धक-वृष्णि और कुरुवंशी क्षत्रियों ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। इन्हीं दोनों घरानों ने मिलकर उसका अन्त किया। चेदि जनपद में शिशुपाल का एकछत्र शासन था। शिशुपाल दुर्योधन की राजनीति का समर्थक था। दुर्योधन की शक्ति को निर्बल वनाने के लिए जरासंध और शिशुपाल का कंटक निकालना आवश्यक था। तदनुसार शिशुपाल का वध करके माहिष्मती की गद्दी पर उसके पुत्र धृष्टकेतु को बैठाया। नग्नजित् के पुत्रों को हराकर गांधार देश को अनुकूल किया। वलिष्ठ पांड्यराज को मल्लयुद्ध में अपने वक्षःस्थल की टक्कर से चूर कर डाला। सौभ नगर में शाल्वराज को वशीभूत किया। सुदूर पूर्व के प्राग्ज्योतिष दुर्ग में भौम नरक का निरंकुश शासन था, जिसने एक सहस्र कन्याओं को अपने वन्दीगृह में डाल रक्खा था। उसकी निर्मोचन नामक राजधानी में सेना सहित मुर और नरक का वध करके कामरूप प्रदेश को स्वतंत्र किया। वाणासुर, कलिंगराज और काशिराज इन सबको कृष्ण से लोहा लेना पड़ा और सब ही उनके वुद्धि-कौशल के आगे परास्त हुए।

कृष्ण की राजनीतिक बुद्धि अद्भुत थी। अर्जुन ने कहा था कि युद्ध न करने पर भी कृष्ण मन से जिसका अभिनन्दन करें वह सब शत्रुओं पर विजयी होगा। 'यदि मुझे वज्रधारी इन्द्र और कृष्ण में से एक को लेना पड़े, तो मैं कृष्ण को लूँगा।' आर्य विष्णुगुप्त चाणक्य को भी अपनी वुद्धि पर ऐसा ही विश्वास था। उनका मंत्र अमोघ था। जहाँ कोई युक्ति न हो, वहाँ कृष्ण की युक्ति काम आती थी। धृतराष्ट्र की धारणा थी कि जब तक एक रथ पर कृष्ण, अर्जुन और अविज्य गाण्डीव धनुष—ये तीन तेज एक साथ हैं, तब तक ग्यारह अक्षौहिणी भारतीय सेना होने पर भी कौरवों की विजय असम्भव है।

महाभारत का युद्ध भारतीय इतिहास की एक बहुत दारुण घटना है। इस प्रलयकारी युद्ध में दुर्योधन की ओर से गान्धार, वाल्हीक, काम्बोज, केकय, सिन्धु, मद्र, त्रिगर्त (काँगड़ा), सारस्वतगण, मालव और अंग आदि देशों के क्षत्रिय प्रवृत्त हुए। युधिष्ठिर की ओर से विराट्, पंचाल, काशि, चेदि, सृञ्जय, वृष्णि आदि वंशों के क्षत्रिय युद्ध के लिए आए। ऐसे भयंकर विनाश को रोकने के लिए कृष्ण से जो प्रयत्न हो सकता था, उन्होंने किया। वे पाण्डवों की ओर से समस्त अधिकारों को लेकर संधि करने के लिए हस्तिनापुर गए।* वहाँ उन्होने धृतराष्ट्र की सभा में जो तेजस्वी भाषण दिया, उसकी प्रतिध्वनि आज भी इतिहास में गुंजायमान है—

**कुरूणां पांडवानां च शमः स्यादिति भारत।**
**अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागतः॥**

अर्थात् कौरवों और पाण्डवों में विना वीरों का नाश हुए ही शान्ति हो जाय, मैं यही प्रार्थना करने आया हूँ।

धृतराष्ट्र ने कहा—हे कृष्ण, मैं सब समझता हूँ, पर तुम दुर्योधन को समझा सको तो प्रयत्न करो।

कृष्ण ने दुर्योधन से कहा—हे तात, शान्ति से ही तुम्हारा और जगत् का कल्याण होगा ('शमे शर्म भवेत्तात' —उद्योगपर्व १२४।१९)।

दुर्योधन ने सब-कुछ सुनकर कहा—

**यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विद्धयेदग्रेण केशव।**
**तावदप्य परित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥**

—उद्योग० १२७।२५

अर्थात् 'हे कृष्ण, सुई की नोक के बराबर भी भूमि पाण्डवों के लिए मैं नहीं छोड़ सकता।' बस यही युद्ध का अपरिहार्य आह्वान था। दैव की इच्छा के सामने भीष्म और द्रोण-जैसे नररत्नों की भी रक्षा न हो सकी।

---

*भारतीय राजनीति की परिभाषा के अनुसार दूत तीन तरह के होते हैं, एक 'निःसृष्टार्थ' जो देशकाल की आवश्यकता के अनुसार अपने उत्तरदायित्व पर राजकार्य को बनाने का सब अधिकार रखते हैं, दूसरे 'संदिष्टार्थ' जो संदेश या उक्त वचन को ले जाकर कहते हैं, और तीसरे 'शासनहर' जो लिखित पत्र या 'शासन' ले जाते हैं। पाण्डवों ने कृष्ण को प्रथम कोटि का अर्थात् निःसृष्टार्थ दूत बना कर भेजा था, जिन्हें उनकी तरफ से अपने ही उत्तरदायित्व पर चाहे जिस प्रकार की संधि या निर्णय करने के सब अधिकार प्राप्त थे।

**गीता के प्रवक्ता श्रीकृष्ण**

महाभारत के युद्धक्षेत्र में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता के रूप में कर्मयोग का जो पाठ पढ़ाया था, वह युग-युग तक मनुष्य मात्र को अपने जीवन-कर्त्तव्य की राह दिखाता रहेगा।

## अन्धक-वृष्णि गणराज्य के प्रधान

महाभारत मे हमें कृष्ण का परिचय एक विशिष्ट रूप में मिलता है। यादव क्षत्रियों की दो प्रधान शाखाएँ अन्धक और वृष्णिसंज्ञक थीं। कृष्ण वृष्णि वंश के थे। अक्रूर अन्धक थे। वृष्णि गणराज्य की ऐतिहासिक सत्ता का प्रमाण कुछ प्राचीन सिक्कों से प्राप्त होता है, जिन पर 'वृष्णि राजन्यगणस्य तात्रारस्य' इस प्रकार का लेख है। इससे ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् के प्रारम्भ तक वृष्णि लोगो का शासन एक गण या सघ के रूप में था। पाणिनि की अष्टाध्यायी और बौद्ध साहित्य मे भी अन्धक-वृष्णियों का उल्लेख है! महाभारत सभापर्व (अ० ८१) से मालूम होता है कि अन्धक और वृष्णियों का एक सम्मिलित संघराज्य था। इसे श्रीयुत जायसवाल ने उनकी 'फेडरल पार्लमिण्ट' के नाम से पुकारा है। इस सम्मिलित संघ में वृष्णियो की ओर से कृष्ण और अन्धको की ओर से वभ्रु उग्रसेन संघ-प्रधान चुने गए थे। इसलिए महाभारत की राजनीतिक परिभाषा में कृष्ण को ऐश्वर्य का अर्धभोक्ता राजन्य कहा गया है। सघसभा मे राजनीति के चक्र भी चलते रहते थे। वृष्णियों की ओर से संघसभा में आहुक और अन्धकों की ओर से अक्रूर सदस्यों का नेतृत्व करते थे। कभी-कभी दोनों पक्षों से बहुत उग्र भाषण दिए जाते थे। पारस्परिक कलह से खिन्न होकर एक बार कृष्ण भीष्म से परामर्श करने हस्तिनापुर पधारे थे। तब भीष्म ने उनसे यही कहा कि "हे कृष्ण, मधुर वचन-रूपी एक 'अनायस' शस्त्र है, तुम उसी के प्रयोग से जातियों को वश मे करो। सम भूमि पर सब चल सकते है, पर विषम भूमि पर बोझा ढोना आसान नही। हे कृष्ण, तुम्हारे जैसे प्रधान को पाकर यह गणराज्य नष्ट न हो जाना चाहिए।" हम जानते हैं कि कृष्ण के प्रयत्न करने पर भी अन्त मे तीक्ष्ण भाषण के कारण ही यादवों का आपस मे लड़कर विनाश हो गया!

## सोलह कला का अवतार

कृष्ण को हमारे देश के जीवन-चरित्र-लेखकों ने 'सोलह कला का अवतार' कहा है। इनका तात्पर्य क्या है? यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को नापने के लिए भिन्न-भिन्न परिमाणों का प्रयोग किया जाता है। दूरी के नापने के लिए और नाप है, काल के लिए और है, तथा बोझे के लिए और है। इसी प्रकार मानवी पूर्णता को प्रकट करने के लिए कला की नाप है। सोलह कलाओ से चन्द्रमा का स्वरूप सम्पूर्ण होता है। मानवी आत्मा का पूर्णतम विकास भी सोलहो कलाओं के द्वारा प्रकट किया जाता है। कृष्ण में सोलह कला की अभिव्यक्ति थी, अर्थात् ... का मस्तिष्क मानवी विकास का जो पूर्णतम आदर्श ... सकता है, वह हमें कृष्ण में मिलता है। नृत्य, गीत, वा... सौन्दर्य, वाग्मि, राजनीति, योग, अध्यात्म, ज्ञान, ... एकत्र समवाय कृष्ण में पाया जाता है। गोदोहन ने ... राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों के चरण धोने तक तथा ... की मैत्री से लेकर युद्धभूमि में गीता के उपदेश तक ... ऊँचाई का एक पैमाना है, जिस पर सूर्य की कि... रंगबिरंगी पेटी की तरह हमें आत्मिक विकास के ... स्वरूप का दर्शन होता है।

## गीता

कृष्ण के उच्च स्वरूप की पराकाष्ठा हमारे लिए ... मे है। 'सब उपनिषद् यदि गौएँ हैं, तो गीता ... है'—इस देश के विद्वान् किसी ग्रन्थ की प्रशंसा में अधिक और क्या कह सकते थे? गीता विश्व का ... है, उसका प्रभाव मानव-जाति के मस्तिष्क पर हमे... रहेगा। संसार में जन्म लेकर हममें से हर एक के ... कर्म का गम्भीर प्रश्न बना ही रहता है। जीवन ... है, संसार कर्मभूमि है। गीता उसी कर्मयोग का प्र... शास्त्र है। कर्म के वैज्ञानिक विवेचन के लिए और ... के साथ उसका अध्यात्म सम्बन्ध क्या है और किस ... उस सम्बन्ध का निपटारा करने से मनुष्य अपने ... ध्येय और शान्ति को प्राप्त कर सकता है, इन प्र... सर्वोत्तम मीमांसा काव्य के ढंग से गीताकार ने ... अतएव यह ग्रन्थ न केवल भारतवर्ष बल्कि विश्व ... की थाती है।

## भारत के शिरोमणि महापुरुष

कृष्ण भारतवर्ष के लिए एक अमूल्य निधि है ... हर एक स्वरूप यहाँ के जीवन को अनुप्राणित ... जिस युग में इन्द्रप्रस्थ और द्वारका के बीच उन... णीय रथ बलाहक, मेघपुष्प, शैब्य और सुग्री... अश्वों के साथ झनझनाता रहता था, न केवल ... ही कृष्ण भारतवर्ष के शिरोमणि महापुरुष थे, व... तक वे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रति... हुए है। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिमी समुद्रों के ... प्रदेश को व्याप्त करके गिरिराज हिमालय पृथ्वी ... दण्ड की तरह स्थित है उसी प्रकार ब्राह्मधर्म और ... इन दो मर्यादाओ के बीच की उच्चता को ... श्रीकृष्ण-चरित्र पूर्ण मानवी विकास के मानदण्ड... स्थित है।